आधुनिक विश्व
(Modern World)

एम.ए. इतिहास (पूर्वार्द्ध)

M.A. History (Previous)

प्रश्न पत्र -3

Paper -3

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक–124 001

Copyright © 2003, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय-सूची

Unit-I

अध्याय 1 वाणिज्यवाद का युग एवं पूँजीवाद का उदय 5

अध्याय 2 पश्चिमी यूरोप में कृषि क्रान्ति 29

अध्याय 3 तकनीकी क्रान्ति तथा कारखाना प्रणाली की स्थापना 35

अध्याय 4 बिट्रेन, फ्राँस जर्मनी तथा जापान में पूँजीवाद का विकास 58

अध्याय 5 उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजवाद का विकास 70

अध्याय 6 फ्राँस की क्रान्ति 85

अध्याय 7 उन्नीसवीं शताब्दी में बिट्रेन में उदारवाद का विकास 97

अध्याय 8 इटली तथा जर्मनी में राष्ट्रवाद का विकास 115

अध्याय 9 नई आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था का उदयः रूसी क्रान्ति 125

Unit-II

अध्याय 10 प्रथम विश्व युद्ध का उदगम एवं स्वरूप 139

अध्याय 11 शान्ति समझौते तथा उनके दीर्घकालीन परिणाम 151

अध्याय 12 पूँजीवाद का संकट एवं आर्थिक मंदी 163

अध्याय 13 नाजीवाद तथा फासीवाद की विचारधाराएँ 172

अध्याय 14 द्वितीय विश्वयुद्धः उदगम स्वरूप तथा परिणाम 206

Unit-III

अध्याय 15 भारत में उपनिवेशवाद की अवस्थाएँ 224

अध्याय 16 अफीम युद्ध और पत्तन संधि प्रणाली विकास 244

अध्याय 17 चीन में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन 249

अध्याय 18 चीन में साम्यवादी क्रान्ति एवं उसके प्रभाव 266

अध्याय 19 उपनिवेशवाद का अंत 275

अध्याय 20 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एवं त तीय विश्व 307

M.A. History (Previous)
MODERN WORLD

PAPER-3 **Max. Marks : 100**

Time : 3 Hours

Note: 10 questions shall be set in the paper spread over the entire syllabus more or less proportionately, out of which the candidates shall be required to attempt five questions selecting at least one question from each unit. All question shall carry equal marks.

Unit-I

Rise of Modern World–Economic Basis:

a. Age of Mecantilism and Beginning of Capitalism.

b. Agricultural Revolution in Western Europe-15th to 18th Centuries.

c. Development of Capitalism in Britain, France, Germany and Japan.

d. Technological Revolution and Industrialisation.

e. Imperialism.

Rise of Modern World–Political Basis:

a. French Revolution–Its Aims and Achievements.

b. Literalism in Britain.

c. Nationalism in Italy and Germany.

Unit-II

Rise of New Economic, Social and Political Order:

Making of the Russian Revolution-Establishment of a Socialist State, Its Economic and Political Aspects; and Reactions in West.

World Order Upto 1919:

a. Origins of the First World War: its Nature.

b. Peace Settlements and its long term consequences.

World between two wars:

a. Crisis in Capitalism and Great Depression.

b. Ideologies of Nazism and Fascism: Germany and Italy.

Second World War:

a. Origins, Nature and Results of War.

Unit-III

Colonialism in India:

a. Mercantile Capital Stage.

b. Free Trade/Industrial Capital Stage.

c. Finance Capital Stage.

China and the Western Domination:

a. Opium Wars and Development of Spheres of Influence.

b. Anti Imperialist Movement in China.

c. Communist Revolution in China and its Impact

d. De-Colonization and After

   i. Ideological Begins of Cold War.

   ii. Non-aligned Movement and Third World.

UNIT-I

अध्याय-1
वाणिज्यवाद का युग एवं पूँजीवाद का उदय

रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् उदित सामन्तवाद के उदय से बर्बर जातियों के आक्रमणों पर नियंत्रण तो स्थापित हो गया था किंतु सामन्तों के पारस्परिक युद्धों के कारण व्यावसायिक पुनरूत्थान की प्रक्रिया तीव्र न हो सकी। धीरे-धीरे स्थिति में परिवर्तन हुआ और यूरोप की अर्थव्यवस्था में ग्यारहवीं शताब्दी से परिवर्तन के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। क षि एवं व्यापार का विस्तार हुआ और यूरोप का पूर्व से व्यापारिक सम्बन्ध बना। इस सबके बावजूद मध्यकालीन व्यापार-वाणिज्य का विस्तार हुआ और यूरोप का पूर्व से व्यापारिक सम्बन्ध बना। इस सबके बावजूद मध्यकालीन व्यापार-वाणिज्य सीमित था। आर्थिक विचारधारा स्वतंत्र रूप से विकसित न हो सकी थी। लोगों के जीवन पर धर्म का जबर्दस्त प्रभाव था। परन्तु मध्ययुग के उत्तरार्द्ध एवं आधुनिक युग के प्रारंभ में धीरे-धीरे परिस्थितियाँ बदलने लगी थीं।

वाणिज्यिक क्रांति

पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप यूरापेवासी पूर्वी देशों के सम्पर्क में आये। भौगोलिक अन्वेषणों के परिणामस्वरूप नये देशों की खोज हुई। अब व्यापार केवल नगरों के बीच का नहीं रहा था। यूरापे अब एशियाई माल के लिए मुस्लिम वणिकों पर अवलम्बित नहीं रहा था। यूरोपीय व्यापार पर इटली के नगर-राज्यों के एकाधिकार के दिन अब बीत चुके थे। पुर्तगाल, स्पेन, हॉलैण्ड, फ्रांस और इंग्लैण्ड के व्यापारियों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। अमेरिका, इण्डोनेशिया, भारत और चीन न तो अब दूर रहे थे और न अनजान। इस प्रकार भौगोलिक खोजों ने व्यापार को तेजी से बढ़ाया, व्यापार से यूरोपियों को अपरीमित लाभ हुआ। एजटक और मय सभ्यताओं के विनाश द्वारा स्पेन को सोना और चाँदी अत्यधिक परिमाण में प्राप्त हुए थे। अमेरिका में इन बहुमूल्य धातुओं की जो अनेक नई खानें ज्ञात हुई थी, उनसे भी सोना-चाँदी बड़ी मात्रा में यूरोप पहुँचने लगा था। राष्ट्रीय राज्यों द्वारा उपनिवेशों की स्थापना ने व्यापारी वर्ग के हितों को और मजबूत कर दिया था। धन की व द्धि से महाजनवर्ग उन्नत हुआ तथा संख्या में बढ़ा। आवश्यक धन की पूर्ति तथा पूँजी निवेश के लिए बैंक खुलने लगे। संयुक्त पूँजी कम्पनियों की स्थापना यूरोप के आर्थिक जीवन के लिए सर्वथा नयी बात थी। अब भारी पूँजी से नई-नई कम्पनियाँ खुलनी शुरू हुई। यद्यपि अभी उत्पादन के तौर-तरीके पुराने ही थे किन्तु व्यापार का क्षेत्र और परिमाण अब पहले की अपेक्षा बहुत विशाल हो गया था। विविध वस्तुएँ एक देश से दूसरे देश ले जाई जाने लगी। इस प्रकार 'व्यापार में हुए परिवर्तन' जो अनुसंधानों और खोजों तथा नई भूमियों के उपनिवेशन के परिणाम थे, इतने बड़े थे कि वे 'व्यापारिक क्रांति' (वाणिज्यिक क्रांति) कहलाते हैं।

वाणिज्यिक क्रांति के अन्तर्गत व्यापार-वाणिज्य में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों में अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन निम्नलिखित थे-

1. **वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था में तीव्रता:**
   - i. सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों में यूरोप में विभिन्न प्रकार के भुगतान में मुद्रा का प्रयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा था। हुंडी, ऋण-पत्र, विनिमय-पत्रों को स्वीकार किया जाने लगा। इस प्रकार मौद्रिक अर्थव्यवस्था का विकास इस युग की विशेषता बन गयी।
   - ii. वितरण-व्यवस्था में मुख्य परिवर्तन यह आया कि व्यापक तथा स्थायी बाजार स्थापित हुए। इनके विकास में मदद की-साप्ताहिक हाटों ने। ये सप्ताह में एक बार निश्चित स्थान पर लगने वाले बाजार थे। एन्टवर्प, पेरिस, लंदन एवं एम्सटरडम में मेलों का स्थान बाजारों ने ले लिया। खुले बाजारों से हटकर व्यापार माल-गोदामों में पहुँच गया।

माल बेचने के लिए नीलामी होने लगी। व्यापार में बिचौलियों की संख्या में तेजी से व द्धि हुई क्योंकि अब थोक व्यापार बढ़ चुका था।

iii. फैलते हुए व्यापार ने संचार साधनों को कारगर बनाने की जरूरत का आभास कराया। डाक-सेवाएँ सुधारी गयी और उन्हें प्रभावी बनाया गया। 1500 ई. तक स्पेन, इंग्लैण्ड और फ्रांस में सरकारी डाक सेवाएँ शुरू हो चुकी थी। सन् 1600 तक यूरोप के सभी प्रमुख नगर डाक-सेवाओं का लाभ उठा रहे थे। फलतः व्यापार एवं वाणिज्य सम्बन्धी समाचार अधिकाधिक मिलने लगे। जहाँ तक परिवहन का सवाल है, स्थलीय परिवहन तो खराब हालत में ही बना रहा, किंतु जल-परिवहन में अनुकूल परिवर्तन आया। नदी एवं समुद्र में चलने वाले जहाजों में गति आयी। पहले हॉलैण्ड वालों ने और फिर अंग्रेजों ने उन्नत किस्मों के जहाज बनाए।

2. **अंतः क्षेत्रीय व्यापार में व द्धि एवं परिवर्तनः**

i. 1500 ई. के आसपास भूमध्यसागरीय क्षेत्र प्रायः आत्मनिर्भर था। इस क्षेत्र में उत्तरी इटली की गणना सबसे व्यस्त और सम द्ध क्षेत्र के रूप में होती थी। वैसे तो दक्षिणी फ्रांस और स्पेन में भी बड़े व्यापारिक नगर थे। सम्पूर्ण भूमध्यसागरी क्षेत्र में खाद्य-पदार्थो का खूब व्यापार होता था। मसाले इस क्षेत्र में एशिया से एलेक्जेंड्रिया और त्रिपोली के रास्ते से आते तथा वहाँ से वेनिस, जेनेवा और पीसा भेजे जाते। बाद में इन स्थानों से स्पेन सहित यूरोप के अन्य स्थानों पर पहुँचते। परंतु शनैः शनैः इस क्षेत्र के व्यापार में अटलांटिक क्षेत्र के नवोदित राष्ट्र (उत्तरी यूरोप) प्रवेश कर गए और अब भूमध्यसागर क्षेत्र आत्मनिर्भर क्षेत्र नहीं रह सका। जीवन निर्वाह के लिए बाहर से आपूर्ति पर अधिकाधिक निर्भर हो गया। वेनिस का महत्त्व जाता रहा। कुछ समय के लिए एन्टवर्प (नीदरलैण्ड का बन्दरगाह) का महत्त्व बढ़ गया। स्पेन, इटली व कुस्तुन्तुनिया के नगरों में सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अकाल और भूखमरी की स्थिति के कारण पश्चिमी भूमध्यसागर में अनाज की सप्लाई अस्त-व्यस्त हो गई। अब अनाज की आपूर्ति उत्तरी यूरोप से की जाने लगी। कालान्तर में उत्तर नीदरलैण्ड्स और इंग्लैण्ड भूमध्यसागर क्षेत्र के कपड़ा बाजार में भी दखल देने लगे।

ii. मध्ययूराप को क्षेत्र, जो अब तक यूरोप के व्यापार का भागीदार न था, सोलहवीं शताब्दी में यूरोप की अर्थव्यवस्था से अधिकाधिक जुड़ता गया। इस क्षेत्र में चाँदी और ताँबे जैसे खनिज पदार्थों की सम द्ध खानें थी। जर्मनी की चाँदी ने इटली की माँग को पूरा किया। किंतु जर्मनी में धार्मिक संघर्ष, अमेरिकी चाँदी के आयात से मध्य यूरोप की चाँदी को आघात आदि ऐसे कारण थे, जिनसे सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस क्षेत्र के व्यापार में गिरावट आई।

iii. सोलहवीं शताब्दी के दौरान अटलांटिक क्षेत्र व्यापार की द ष्टि से भूमध्यसागरीय क्षेत्र तथा पूर्वी क्षेत्र से पूरी तरह जुड़ गया। यह व्यापार मुख्यतः कपड़ा, मछली, शराब, नमक जैसी दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं का था। इस क्षेत्र तथा यूरोप के अन्य व्यापारिक क्षेत्रों के बीच वस्तुओं के विनिमय में सबसे अधिक सक्रिय उत्तरी क्षेत्र के व्यापारी थे। पुर्तगाल, डच और अंग्रेज व्यापारियों ने शीघ्र ही इस क्षेत्र में नहीं सम्पूर्ण यूरोप के व्यापार पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया।

3. **समुद्रपारीय व्यापार में व द्धि एवं परिवर्तनः** सोलहवीं शताब्दी में यूरोप की एशिया और अमेरिका के साथ जिस व्यापार की शुरूआत हुई, वह एक ऐतिहासिक घटना है। भूमध्यसागरीय क्षेत्र के स्पेन व पुर्तगाल ने इन देशों के साथ बढ़-चढ़कर व्यापार किया। अगली शताब्दी में उत्तरी यूरोप के राज्यों, विशेष रूप से इंग्लैण्ड और हॉलैण्ड ने अपनी घुसपैठ कर यूरोप की अर्थव्यवस्था को अधिक जटिल एवं प्रतिस्पर्द्धापूर्ण बना दिया। मूल्यवान धातुओं के दोहन, मसालों की माँग, गुलामों के व्यापार उपनिवेशों की स्थापना आदि के कारण समुद्रपारीय व्यापार में तेजी से आश्चर्यजनक व द्धि हुई जिसके द्वारा एशियाई एवं अमरीकी माल यूरोपीय उच्च वर्ग के ज्यादातर लोगों तक पहुँचने लगा था। समुद्री यातायात के साधनों में भी इसलिए अपूर्व विस्तार हुआ। डचों और अंग्रेजों ने उन्नत किस्म के जहाज बनाये। इंग्लैण्ड और हॉलैण्ड की व्यापारिक कम्पनियों ने एशिया के साथ व्यापार पर शीघ्र ही एकाधिकार कर लिया। इस प्रकार यूरोप के इतिहास में पहली बार महाद्वीपों के बीच नियमित ढंग से व्यापार शुरू हुआ।

4. **संयुक्त पूंजी कम्पनी का चलनः** आधुनिक काल में आरंभ में यूरोप के उद्यमी आम तौर से व्यक्तिगत अथवा अपने ही परिवार की साझेदारी में व्यापार करते थे। इस युग में हमें कई प्रसिद्ध व्यापारी घरानों की जानकारी भी मिलती है। लेकिन सोलहवीं शताब्दी में कई व्यापारिक संगठनों की स्थापना ने व्यापार के स्वरूप में परिवर्तन कर दिया। जहाज

की कीमत और उसकी खेप में कई व्यापारियों की साझेदारी की प्रथा चल पड़ी। यही कारण था कि समुद्र-मार्ग से व्यापार मे छोटे-छोटे व्यापार अधिक संख्या में हिस्सेदारी निभाने लगे। इस तरह की साझेदारी एलिजाबेथ काल में बहुत प्रचलित थी। ऐसे समय में जब खतरे अधिक थे और बीमा-व्यवस्था कमजोर थी, भरे मालवाहक जहाज का अकेला मालिक होने की बजाए कई जहाजों का साझेदार होना अधिक विवेकपूर्ण था। साझेदारी साधारणतः एक बार की यात्रा के लिए होती थी किन्तु धीरे-धीरे स्थायी आर्थिक गतिविधियों में लम्बी साझेदारी भी चल पड़ी। संयुक्त पूँजी कम्पनी जैसे विशाल संगठनों ने व्यापार में भारी परिवर्तन कर दिया। अकेले व्यक्ति की जोखिम उठाने का अंत हो गया। लोग अपनी छोटी रकम भी बिना झमेले के व्यापार में विनियोजित कर सकते थे। इससे बड़े उद्यम स्थापित करना आसान हो गया। संयुक्त पूँजी कम्पनियों ने यूरोप के व्यापार को विश्व व्यापार बनाने में काफी मदद की। इसके अंतर्गत व्यापारियों को कुछ खास क्षेत्रों में व्यापार करने का एकाधिकार भी मिल गया, जैसे ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत के साथ व्यापार का एकाधिकार मिला हुआ था।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि उक्त व्यापारिक परिवर्तनों ने सोलहवीं शताब्दी तथा उसके बाद की शताब्दियों में यूरोपीय व्यापार का स्वरूप और भविष्य निर्धारण में अहम् भूमिका निभाई।

वाणिज्यवाद

वाणिज्यिक क्रांति का विकास एवं प्रगति को जिस नीति के तहत प्रश्रय तथा बढ़ावा मिला, वह नीति ही वाणिज्यवाद कहलाती है। इस प्रकार की नीति का अनुसरण यूरोप में मोटे तौर पर 1500 ई. से 1750 ई. के बीच किया गया। यह स्मरणीय है कि इसी समय यूरोप में शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना की भावना भी जोर पकड़ने लगी। प्रत्येक देश के राजनेता एवं विचारक इस बात से सहमत थे कि बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा एवं शान्ति तभी स्थापित हो सकती है जब राज्य शक्तिशाली हो; और राज्य तभी शक्तिशाली बन सकता है जब उसके पास पर्याप्त धन हो। इसलिए अब यूरोपीय देशों का ध्यान इस ओर केन्द्रित हुआ कि धन कैसे प्राप्त किया जाये? अधिकाधिक धन केवल अनुकुल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था। साथ ही इस विश्वास को भी काफी बल मिलने लगा था कि विश्व व्यापार का एक निश्चित परिमाण है और इस व्यापार में अधिक से अधिक हिस्सा बँटाने के लिए अधिकाधिक सोना-चाँदी के भण्डार आवश्यक हैं। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि धर्म के स्थान पर धन को महत्त्व मिलता। अतः आधुनिक काल के प्रारंभ में राजाओं ने सोना और चाँदी को अपने देश की ओर आक ष्ट करने और अपने देश से उनको बाहर जाने से रोकने के लिए नियम बनाये। इस प्रकार, व्यापार और उद्योग को नियमित करके सोना और चाँदी प्राप्त करने की नीति ही वाणिज्यवाद कहलाती है।

जन्म

वाणिज्यवाद का जन्म कब हुआ? इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। एल.एच. हैने अनुसार सोलहवीं सदी से अठारवीं सदी के मध्य इसका जन्म हुआ, जबकि एक अन्य विद्वान अलेक्जेण्डर ग्रे इसका आरंभ चौदहवीं सदी के अंत में मानते हैं। वस्तुतः यह एक आधुनिक शब्द है।

अर्थ

वाणिज्यवाद, जिसको वणिकवाद अथवा व्यापारवाद भी कहते हैं, शब्द का प्रयोग दीर्घकाल से होता रहा, परंतु तब इसकी परिभाषा किसी के द्वारा नहीं दी गई क्योंकि यह कोई संगठित व सुव्यवस्थित विचारधारा नहीं थी। इसलिए इसको परिभाषित करना सरल नहीं है। वैसे, एडम स्मिथ ने सन् 1776 में प्रकाशित अपनी 'वैल्थ ऑफ नेशंस' में इस शब्द का पहले-पहल प्रयोग किया। यद्यपि उसने वाणिज्यवाद का प्रयोग इसकी निंदा एवं आलोचनात्मक निरूपण के लिए किया। इसके बाद जर्मनी के प्रसिद्ध आर्थिक इतिहासकार गुस्ताव वॉन श्मॉलर ने सन् 1883 में प्रकाशित 'फ्रेडरिक महान् की आर्थिक नीतियों का अध्ययन' नामक अपनी पुस्तक में इस शब्द का प्रयोग किया। उसने इस विचार का प्रशंसात्मक वर्णन किया। इस प्रकार इस शब्द का प्रयोग कई लेखकों ने किया। इस संदर्भ में अलेक्जेडर ग्रे ने लिखा है कि 'प्रायः हम वाणिज्यवादी सिद्धान्त, वाक्यांश का प्रयोग करते हैं किंतु इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि किसी समय पर लेखकों का कोई समूह था जिसने वाणिज्यवादी विचार प्रस्तुत किये।'

वाणिज्यवाद उस आर्थिक विचारधारा का नाम है जो पश्चिमी यूरोप, विशेष रूप से फ्रांस, इंग्लैण्ड तथा जर्मनी में सोलहवीं, सत्रहवीं तथा अठारवीं शताब्दी के प्रथम छः दशकों में विद्यमान थी। वाणिज्यवाद आर्थिक मामलों, विशेष रूप से व्यापार व

उद्योग के क्षेत्र मे राजकीय नियमन एवं नियन्त्रण को दर्शाता है। वस्तुतः वाणिज्यवाद ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग उन नीतियों, सिद्धान्तों एवं व्यवहारों के लिए किया गया जिन्हें राष्ट्रों द्वारा तत्कालीन परिस्थितियों में अपनाया गया था और जिनके आधार पर वे राष्ट्र आर्थिक क्षेत्र में शक्ति, सम्पत्ति एवं सम द्धि प्राप्त कर सके। ऐसा नहीं था कि वाणिज्य, व्यापार व उद्योग पर किसी का नियंत्रण पहले कभी नहीं हुआ हो, सैंकड़ों वर्षो से ऐसा होता आया था। पहले यह नियंत्रण तथ नियमन व्यापार एवं शिल्प से सम्बन्धित शहर की विभिन्न श्रेणियों द्वारा होता था। किंतु सोलहवीं शताब्दी में श्रेणियों से नहीं अपितु राष्ट्रीय शासक द्वारा नियन्त्रित होने लगा। वाणिज्यवादी विचारधारा के अन्तर्गत बहुमूल्य धातुओं के अपने देश में आमन को प्रोत्साहित करने एवं निगर्मन को निरूत्साहित करने, आयातित वस्तुओं की अपेक्षा निर्यातित वस्तुओं के मूल्यों का अधिक निर्धारण, देश के निर्यात में व द्धि के प्रयत्न, आयात पर संरक्षित चुँगियाँ लगाकर देश के उद्योगों की रक्षा, राष्ट्रीय बचत को प्रोत्साहित करने जैसी बातें शामिल थी।

वाणिज्यवाद का सिद्धान्त

सत्रहवीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में इस धारणा में अविश्वास व्यक्त किया जा रहा था कि किसी भी देश के लिए क षि आवश्यक उद्योग है। अब इस धारणा के विरूद्ध इस तथ्य पर बल दिया जा रहा था कि जहाँ राज्य को स्वावलम्बी होना चाहिए, वहीं इसे निजी देशी उद्योगों और निर्यात द्वारा सम्पत्ति इकट्ठी करनी चाहिए। इस मत के अनुसार यह स्वीकार किया जाने लगा कि क षि क्षेत्र की भी एक सीमा है जिसके आगे वहाँ उत्पादन नहीं हो सकता है, जबकि उद्योग में असीमित सम्भावनाएँ हैं। यह सिद्धान्त सर्वप्रथम 1613 ई. में एक इटालियन अर्थशास्त्री एण्टोनियों सिरा ने अपने एक लेख-'उन देशों में जहाँ खानें नहीं हैं सोना और चाँदी लाने की विधियों पर संक्षिप्त लेख' में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया।

वाणिज्यवाद या व्यावसायिकवाद का मौलिक सिद्धान्त यह है कि सम्पत्ति बहुमूल्य धातुओं से अर्जित होती है और चूँकि सोना-चाँदी की निश्चित राशि परिभ्रमण में रहती है इसलिए हर देश के हित में है कि वह इसका अधिकाधिक संग्रह करें। इस तर्क से यह निष्कर्ष निकाला गया कि राष्ट्र विदेशियों के धन से फलता-फूलता है और इस तरह आक्रामक युद्ध को कुछ हद तक न्याय संगत माना गया क्योंकि सदैव यह माना जाता है कि सैनिक विजय शत्रु के मूल्य पर प्रत्यक्ष रूप से देश को लाभ पहुँचाती है। इसलिए इस द ष्टि से वाणिज्यवाद रक्षात्मक था, किंतु यह आक्रामक भी हो सकता था क्योंकि यह राज्यों के आर्थिक सम्बन्धों में केवल अपने स्पर्धात्मक तत्त्वों पर ही बल देता था।

उद्देश्य

वणिकवादी, जिनमें प्रमुख रूप से कुशल व्यापारी, प्रशासक तथा व्यापारी में रूचि रखने वाले राजकुमार तथा राजा सम्मिलित थे, राष्ट्रीय आर्थिक प्रभुत्व को प्राप्त करने के उद्देश्य से वाणिज्य तथा विदेशी व्यापार को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। वणिकवादी स्वर्ण तथा रजत को प्राप्त करने पर बहुत महत्त्व देते थे। फलस्वरूप वणिकवाद ने बहुमूल्य धातुओं को एकत्र करने की एक योजना का रूप धारण कर लिया था। इसी कारण कुछ लेखकों ने वणिकवाद को बहुमूल्य धातुवाद की संज्ञा दी है। वणिकवादियों की विचारधारा के अनुसार अधिक स्वर्ण, अधिक धन तथा अधिक आर्थिक शक्ति का प्रतीक था। 'अधिक स्वर्ण प्राप्त करके अधिक शक्तिशाली बनो, वणिकवादियों का प्रसिद्ध नारा था।'

वणिकवाद के उद्देश्यों को स्पष्ट करने के लिए इस युग में अत्यधिक मात्रा में सोना-चाँदी (बुलियन) की माँग पर थोड़ा और विचार करें:

1. तेजी से बढ़ते हुए समुद्रपारीय तथा अतः प्रादेशिक समुद्रतटीय व्यापार ने सोना-चाँदी की माँग बढ़ाई। उन देशों के लिए इन बहुमूल्य धातुओं की अधिक जरूरत थी, जिनके पास निर्यात-योग्य सामान नहीं था, जैसे इंग्लैण्ड के पास शुरू में ऊनी कपड़े के अतिरिक्त कुछ नहीं था और भारत जैसे गर्म देश को उनकी जरूरत नहीं थी। अंग्रेज व्यापारियों को बाल्टिक क्षेत्र में भी उसी प्रकार सोना-चाँदी अनाप-शनाप खपाना पड़ता था जैसे-एशिया के साथ व्यापार में खपाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त एशियाई संभरक अपने सामान के बदले सोना-चाँदी ही चाहते थे क्योंकि एक तो उन्हें यूरोप के निर्यात योग्य सामान की जरूरत नहीं थी; दूसरा-गैर यूरोपीय राष्ट्रों के साथ व्यापार में इसकी जरूरत थी तथा तीसरा, वे इसे ज्यादा सुरक्षित समझते थे।
2. युद्धों के निरंतर चलते रहने के कारण वाणिज्यिक गतिविधि में अनिश्चय का तत्त्व बढ़ा और इस धारणा को बल मिला कि बुलियन का अनुकूल संतुलन जरूरी है। यह ठीक है कि सत्रहवीं शताब्दी के अंत में अंतःक्षेत्रीय व्यापारिक

हिसात-किताब को निबटाने के लिए विनिमय-पत्रों का व्यापक रूप से प्रयोग होने लगा था और एम्सटरडम बहुपक्षीय आधार पर यूरोपीय व्यापार के लिए महत्त्वूपर्ण शोधन ग ह के रूप में उभर कर सामने आया था। किंतु इस सबके बावजूद युद्धों से व्यापारिक गतिविधि में जो बाधाएँ पड़ती थी, उनसे ऋण-दस्तावेजों में लोगों की आस्था कम हो सकती थी और उनमें बलियन को रोके रखने की प्रव त्ति को प्रोत्साहन मिल सकता था।

3. व्यापार, सही अर्थ में, उन्नत नहीं था। व्यापार आयात एवं पुनर्नियात पर ज्यादा निर्भर था, विविधता पर कम। इस बात को हम उस उदाहरण से समझ सकते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम पच्चीस वर्षो में कहीं जाकर यह संभव हो पाया था कि वेस्टइंडीज, उत्तरी अमेरिका और ब्राजील में दास-मजदूर आधारित बागान बस्तियों ने चीनी, तंबाकू, कॉफी और रूई का यूरोप के लिए निर्यात शुरू किया और वहाँ से इन चीजों का यूरोप के अन्य हिस्सों के लिए पुनर्नियात किया गया। इस प्रकार तत्कालीन समय में विश्व व्यापार की अपनी सीमाएँ थीं और यह व्यापार भी प्रौद्योगिकी पिछड़ेपन की समस्या से ग्रस्त था। अभी भी विभिन्न व्यापारिक समूह अपने देश में बनी निर्यात-योग्य चीजों के लिए दस्तकारी उत्पादन की प्राक्-औद्योगिक घरेलू प्रणाली पर ही निर्भर थे। ऐसी स्थिति में इन कमियों की भरपाई के लिए बुलियन उपयुक्त साधन था।

   फ्रांसिस बेकन नामक अंग्रेज राजनीतिज्ञ एवं दार्शनिक ने अपनी एक पुस्तक में वणिकवाद को शक्तिशाली राज्य प्राप्त करने की नीति बताया। अंग्रेज अर्थशास्त्री विलियम कनिंगहम ने अपनी एक क ति में वणिकवाद को राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु आर्थिक शक्ति का साधन बताया। एडम स्मिथ, जो वणिकवाद का कट्टर आलोचक था, ने वणिकवाद को व्यापार प्रणाली बताया जिसका उद्देश्य संरक्षणवाद को प्रोत्साहन देना था। प्रसिद्ध जर्मन अर्थशास्त्री गुस्ताव वॉन श्मॉलर ने वणिकवादी नीतियों का उद्देश्य समाज तथा राज्य का आर्थिक एकीकरण बताया। इस प्रकार जबकि फ्रांसिस बेकन तथा विलियम कनिंगहम के अनुसार वणिकवाद उस आर्थिक विचारधारा का नाम था जिसका एकमात्र लक्ष्य राष्ट्रीय शक्ति की प्राप्ति था, जबकि श्मॉलर के विचार में वणिकवादी नीतियाँ राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने का साधन थी। यद्यपि इन परिभाषाओं में वणिकवाद के उद्देश्यों को लेकर भिन्नता है परंतु यह उल्लेखनीय है कि बेकर और कनिंगहम की परिभाषाएँ इंग्लैण्ड के संबंध में उपयुक्त हैं जबकि श्मॉलर का विचार जर्मनी तथा स्पेन के संबंध में उपयुक्त है।

वाणिज्यवाद एवं धातुवादी विचारधाराओं में तुलना

दोनों ही वादों के अनुयायी धन का आदर करते थे और देश में धन बढ़ा कर उसे सम्पन्न बनाना चाहते थे। उनका कहना था कि सब प्रकार की सम्पत्ति में द्रव्य ही सबसे सुविधाजनक है क्योंकि इसकी सहायता से कुछ भी खरीदा जा सकता है और यह टिकाऊ भी है। अतः द्रव्य एकत्र करना ही राष्ट्रीय नीति का लक्ष्य समझा जाता था। पहले स्पेन ने सोना-चाँदी एकत्र करके सम्पन्न बनने का प्रयास किया और फिर अन्य देश भी ऐसा करने लगे।

उपर्युक्त समानता के बावजूद वाणिज्यवाद एवं धातुवाद में एक बड़ा अन्तर भी था। धातुवादी विचारधारा के अनुसार मालदार देश बनने के लिए राज्य का चाहिए कि वह देश में सोना-चाँदी के बाहर जाने पर नियंत्रण करे। उसे धातुओं के आयात को प्रोत्साहित और निर्यात को हतोत्साहित करना चाहिए। इंग्लैण्ड आदि देशों ने इसी विचारधारा के प्रभाववश 1381 ई. में कुछ कानून बनाकर सोना-चाँदी के निर्यात पर नियंत्रण लगाया, विलासिताओं का आयात भी बंद कर दिया तथा विनिमय सौदों की देख-रेख के लिए शाही विनिमयशाला की स्थापना की। किंतु धातुवादी विचारधारा अधिक समय तक न चल सकी। इसका प्रमुख कारण था-अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व द्धि। बढ़ते हुए व्यापार की वजह से राज्य को नियंत्रण रखने में कठिनाई हुई। मिसल्डन और मन जैसे वाणिज्यवादी विचारकों की मान्यता थी कि यदि हम विदेशियों को प्रतिवर्ष उससे अधिक माल बेचें जितने का उनसे खरीदें, तो देश में धन की व द्धि होगी चाहे विदेशी व्यापार को बढ़ाने में कुछ सोना-चाँदी खर्च करना पड़े। मन ने कहा कि बैंको आदि की उन्नति के कारण सोना व चाँदी के बिना भी विदेशों से व्यापार हो सकता है। हम अपने देश में सोना रखकर नहीं वरन् विदेशों में अपने माल की माँग उत्पन्न करके अपना व्यापार बढ़ा सकते हैं। देश में अधिक धन रखना अनुचित है क्योंकि इससे सामान के मूल्य में व द्धि होती है और देश को नुकसान उठाना पड़ता है। मन की मान्यता थी कि देश में वही चीजें पैदा की जायें, जो विदेशों में अल्प मात्रा में हों। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जहाँ धातुवादी देश के धन को सोने और चाँदी की मात्रा में व द्धि करके बढ़ाना चाहते थे और इस हेतु धातुओं के निर्यात पर कठोर नियंत्रण लगाने के पक्ष में थे, वहाँ वाणिज्यवादी देश के धन को विदेशी व्यापार द्वारा बढ़ाना चाहते थे और बहुमूल्य धातुओं के निर्यात पर कठोर नियंत्रण

लगाने के पक्ष में न थे। वे केवल यह चाहते थे कि देश का निर्यात अधिक हो और आयात कम, जिससे उनको भी सोना-चाँदी मिल सके तथा राष्ट्र सम्पन्न रहे।

वणिकवाद को जन्म देने वाले कारक

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में समाज के आर्थिक जीवन, विशेष रूप से व्यापार के क्षेत्र में , अचानक भारी परिवर्तन हुआ जिसके फलस्वरूप **समस्त** समाज के आर्थिक जीवन में एक क्रांति उत्पन्न हो गई थी, जिसके कारण थे-

1. **पुनर्जागरणः** पुनर्जागरण ने मनुष्य की बौद्धिक चेतना और चिन्तन शक्ति को जाग त किया। इसका प्रभाव साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में भी परिलक्षित हुआ। छापाखाने सहित अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों ने विचारों के क्षेत्र में क्रांति ला दी। परिणामस्वरूप मनुष्य का जीवन के प्रति द ष्टिकोण में भारी परिवर्तन हुआ। धर्म और मोक्ष के स्थान पर मानव जीवन को और अधिक सुखी एवं सम द्ध बनाने की प्रव त्ति का जन्म हुआ। पारलौकिक जीवन के स्थान पर वर्तमान जीवन को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। यह मानववादी विचारधारा थी जिसका आधार जीवन में भौतिक सुखों की प्राप्ति था। भौतिक सुखों के लिए धन-दौलत का संग्रह अपरिहार्य था। फलतः वणिक प्रव त्ति को प्रोत्साहन मिला।
2. **भौगोलिक अन्वेषणः** कोलम्बस और वास्कोडिगामा के समान साहसी मनुष्यों की लाभ प्राप्त करने की भावना के कारण नवीन मार्ग तथा नये देशों की खोज सम्भव हो पाई। इन खोजों के एक शताब्दी के बाद इंग्लैण्ड, फ्रांस और हॉलैण्ड के उद्यमकर्ताओं ने अपने वाणिज्य का विकास करने हेतु अनेक मुसीबतों को सहन करके भी उत्तर में नये देशों की खोज की। इन खोजों ने एशियाई देशों, अफ्रीका एवं अमेरिका में नये व्यापारिक बाजारों को खोल दिया और इस लाभदायक व्यापार का अधिकाधिक भाग हथियाने के लिए वाणिज्यवादी नीतियों का विभिन्न प्रतिस्पर्धी देशों ने प्रयोग किया। इस तरह व्यापार की लाभदायकता में व द्धि होने के कारण पूँजी का संचय संभव हो पाया।
3. **जनसंख्या में व द्धिः** इस काल में यूरोप की जनसंख्या में तेजी के साथ व द्धि हुई थी। अधिक जनसंख्या दो प्रकार से आर्थिक विकास संभव बनाती है। एक ओर अधिक जनसंख्या द्वारा अधिक श्रम उपलब्ध होने से मजदूरी सस्ती होती है तथा दूसरी ओर वस्तुओं की माँग सदा विद्यमान रहने के कारण इनको ऊँची कीमतों पर बेचा जा सकता है। वस्तुओं की अधिक माँग होने के कारण पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ऊँची रहती है तथा निवेशकर्ता सदा निवेश करने को आतुर रहते हैं। इस प्रकार जनसंख्या में व द्धि होने के कारण उद्योग एवं व्यापार का विकास हुआ तथा व्यापारी वर्ग समाज में शक्तिशाली बन गया।
4. **धर्म सुधारः** धार्मिक क्षेत्र में आये परिवर्तनों से वणिकवाद को नई शक्ति प्राप्त हुई। धर्म सुधार आंदोलन के प्रणेताओं ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर जोर दिया तथा चर्च की प्रधानता की आलोचना की। उन्होंने व्यक्तिगत संपत्ति व संविदा की स्वतंत्रता, जो आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है, का समर्थन किया। धार्मिक सुधारों से उत्साहित होकर लोगों ने धर्म की उपेक्षा करनी शुरू की और व्यक्तिवाद का समर्थन किया। यद्यपि इसके पश्चात् भी दैवीय अधिकारों की चर्चा चलती रही, तथापि लोग आर्थिक मामलों में तर्क से काम लेने लगे। धार्मिक सुधारों के फलस्वरूप अब लोगों का यह विश्वास हिल गया कि इस लोक में कष्ट सहकर वे परलोक में सुखी-सम्पन्न रह सकेंगे। इसने जीवन में भौतिक सुखों के उपभोग पर बल दिया जिससे आर्थिक क्रियाकलाप में व द्धि हुई।
5. **आर्थिक परिवर्तनः** वाणिज्यवाद के उदय में उस समय की आर्थिक परिस्थितियों ने उल्लेखनीय भूमिका निभायी। मध्यकाल में सम्पूर्ण आदान-प्रदान वस्तु विनिमय के माध्यम से होता था। किंतु मुद्रा के प्रचलन से जब यह बाधा दूर हो गई तो व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्र का भी विस्तार हुआ। इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम (1558-1603 ई.) ने सिक्के में सुधार करके बड़े पैमाने पर व्यापार तथा उद्योग प्रणाली को संभव बनाया। इसी युग में बैंको का जन्म हुआ। बैंको ने आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार बढ़ाने तथा पूँजी के निर्माण में अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया। सोलहवीं सदी के अन्त तक यूरोप के अनेक देशों तथा अमेरिका के अनेक भागों में सोना तथा चाँदी के भण्डारों का पता चल चुका था। वाणिज्य-व्यापार के विकास से प्रतियोगिता का युग आरंभ हुआ। इससे कुशल तथा साहसी व्यक्तियों को बड़े पैमाने पर व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र में प्रवेश करने का अवसर प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप वाणिकवाद को एक नई शक्ति प्राप्त हुई।
6. **राजनैतिक विचारों में परिवर्तनः** इस युग में राजनैतिक विचारों में भी बड़े परिवर्तन हुए। मैकियावेली ने अपनी पुस्तक

'द प्रिंस' में लोगों को चर्च की शक्ति न मानकर राज्य की शक्ति मानने का परामर्श दिया। उसने बताया कि लोकप्रिय राजा को अपने कार्यों में नैतिकता की आवश्यकता नहीं है, यदि वह उचित कार्य करना चाहता हो। राज्य के लिए उचित कार्य अपनी शक्ति को बढ़ाना और भौतिक प्रगति करना है। जीन बोदिन ने भी राज्य की सत्ता का समर्थन किया और बताया कि राज्य को सब नागरिकों के ऊपर अधिकार है जो कानून से भी ऊपर है। इस प्रकार के विचारों से राज्य की शक्ति को प्रोत्साहन मिला।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि उस समय के विचारकों ने शक्तिशाली राज्यों के संगठन पर इतना ध्यान क्यों दिया था? इसका प्रमुख कारण उस युग के जमींदारों के आपसी झगड़े तथा विदेशी आक्रमण का भय था। निरंतर होने वाले झगड़ों से राज्य के आर्थिक हितों को नुकसान पहुँचा। ऐसी स्थिति में राजा की शक्ति को बढ़ाने की भावना को बल मिला। इस संबंध में विचारकों की मान्यता थी कि व्यापार के माध्यम से ही राजा के खजाने में धन की व द्धि हो सकती है और धन के बलबूते पर ही राजा अपनी सैनिक शक्ति में व द्धि कर सकता है।

7. **राष्ट्रीय राज्यों का उत्थानः** पंद्रहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में सम्राट हेनरी सप्तम् तथा फ्रांस के शासक लुई ग्यारहवें के तत्वावधान में सर्वप्रथम पश्चिमी यूरोप में दो शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ। तत्पश्चात् सोलहवीं शताब्दी के अंत में पुर्तगाल, स्पेन एवं हॉलैण्ड तथा सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में स्वीडन और सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक प्रशा एवं रूस के राज्यों की स्थापना हुई थी। शक्तिशाली राज्यों की स्थापना से शांति एवं सुरक्षा की स्थापना हुई, जो व्यापार के विकास के लिए आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय राज्यों के भौगोलिक क्षेत्र में व द्धि हुई। परिणामस्वरूप वस्तुओं की माँग पहले की तुलना में अधिक व्यापक हो गई। ऐसी परिस्थितियों में व्यापार का विकास होने लगा। इससे वणिकवाद को नई शक्ति प्राप्त हुई। प्रत्येक राज्य अपनी राजनैतिक शक्ति बढ़ाने के लिए उत्सुक था। व्यापारियों का विदेशों में व्यापार करने के लिए उत्साह प्रदान करना तथा उनको बहुमूल्य धातुएँ देश में आयात करने के लिए प्रेरित करना ही राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाने का एकमात्र सरल उपाय था।

एलेक्जेण्डर ग्रे ने व्यापार को जन्म देने वाली परिस्थितियों का वर्णन करते हुए लिखा है, "मध्ययुग से आधुनिक युग तक के संक्रांतिकाल में अनेक कारणों ने केन्द्रीक त राज्यों के एक परिवार के रूप में यूरोप को पुनर्गठित कर दिया। परिस्थितियों ने सम्पत्ति को एक नया महत्त्व प्रदान किया और अब व्यक्ति लज्जा अनुभव किए बिना सम्पत्ति का अर्जन कर सकता था तथा राज्य ने भी सम्पत्ति में शक्ति का रहस्य पाया। इन्हीं दशाओं ने वणिकवाद को जन्म दिया एवं विकसित किया।"

प्रमुख वाणिज्यवादी विचारक

1. **टॉमस मन** (1571-1641): यह इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध व्यापारी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक निदेशक था। उसने कई पुस्तकें लिखीं। इसे हम आंग्ल वणिकवादियों का प्रतिनिधि मान सकते हैं, जो कि व्यापार का अनुकूल संतुलन प्राप्त करने के लिए अपने देश के विदेशी व्यापार का निर्गमन करना चाहते थे। वह धातुओं के निर्यात पर प्रतिबंध कदापि नहीं लगाना चाहता था परंतु व्यापार का अनुकूल संतुलन प्राप्त करके द्रव्य बढ़ाना चाहते था। उसने खजाने के संग्रह का समर्थन किया जिससे देश की सुरक्षा व्यवस्था सुद ढ़ हो सके। विविध आर्थिक विचारों के उचित समन्वय एवं तर्कशीलता ने टॉमस मन को आंग्ल वणिकवाद का सर्वोत्तम प्रवक्ता बना दिया। मन का यह विचार आज उतना ही सार्थक है कि निर्यातों का मूल्य बढ़ाने के लिए घरेलू वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाना आवश्यक है। इससे न केवल माल का मूल्य वरन् बीमा और जहाजी किराये के रूप में व्यापारिक लाभ भी प्राप्त होंगे।

   मन के आर्थिक कार्यक्रम में फालतू जमीन का क षि कार्यो में प्रयोग, आयातित विदेशी उत्पादों के अत्यधिक उपभोग पर रोक, देशी जहाजों का उपयोग, अधिकाधिक निर्यात, राष्ट्रीय सम्पदा का मितव्ययी प्रयोग, निर्धन एवं बेकारों को काम, तटीय समुद्रों में हॉलैण्ड को मछली पकड़ने देने की जगह इंग्लैण्ड में मछली पकड़ने के व्यवसाय को बढ़ावा, इंग्लैण्ड का एक अन्तर्राष्ट्रीय वितरक केन्द्र के रूप में विकास, दूरस्थ पूर्वी देशों के साथ व्यापार को बढ़ावा, निर्यात हेतु आयात को छूट आदि शामिल थे। इनके उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अनुकूल शेष प्राप्त करना और राज्य के कोष में व द्धि करना था।

2. **अन्तोन द मोन्टेकरिन** (1576-1621): वाणिज्यवाद का यह फ्रांसीसी प्रतिनिधि लोहे के सामान का निर्माता और दुःखान्त कवि था। 1615 ई. में उसकी क ति 'राजनीति अर्थशास्त्र पर एक पुस्तिका' प्रकाशित हुई। क षि को उसने सारी सम्पत्ति

का आधार माना। 'हर व्यक्ति को काम करना चाहिए' इस पर उसने अत्यधिक बल दिया। वह बेकारी और आलस्य का घोर विरोधी था। उसने कहा कि यह राज्य का कर्त्तव्य है कि वह देखे कोई व्यक्ति बेकार न रहे क्योंकि बेकारी और आलस्य पुरूषों का बल और स्त्रियों की शुचिता को भ्रष्ट करता है। उसके लिए फ्रांस ही सब कुछ था। वह विदेशी चीजों के विरूद्ध था। वह विदेशी पुस्तकों के लिए कहता था कि वे लोगों में जहर घोलती हैं और उन्हें अनैतिक बनाती हैं। एक स्थान पर वह कहता है कि वह सोना-चाँदी या हीरे-मोती के विरोध में नहीं है क्योंकि इससे राज्य सम्पन्न होता है, परंतु उसके लिए मानवीय जरूरतें महत्त्वपूर्ण हैं। उसने कहा निर्यात अधिक और आयात कम होने चाहिए। उसने अतिराष्ट्रवादी विचारों को प्रकट किया, जो आगे औपनिवेश्किा प्रतिद्वन्द्विता, कटुता और सत्रहवीं-अठारहवीं, सदी के वाणिज्यिक युद्धों में अधिक प्रखर रूप में प्रकट हुए।

3. **एन्टोनियो सिरा** (1580-1650): इटली के इस वाणिज्यवादी ने बताया कि जिन राज्यों के पास सोने-चाँदी की खानें नहीं हैं वे किस प्रकार इन कीमती धातुओं को अधिकाधिक प्राप्त कर सकते हैं? उसके अनुसार किसी देश में सोने-चाँदी की मात्रा उद्योग का परिणाम, जनसंख्या का स्वभाव, विस्त त व्यापारिक क्रियाएँ आदि द्वारा बढ़ाई जा सकती है। उसका कहना था कि उद्योगों में उत्पत्ति व द्धि नियम लागू होता है और इसी से देश में धन-सम्पत्ति की व द्धि भी होती है। इसके विपरीत क षि में मौसम की अनिश्चितता के कारण लाभ अनिश्चित रहता है। इसके अतिरिक्त क षि जन्य पदार्थो को लम्बे समय तक सुरक्षित भी नहीं रखा जा सकता है और क षि-जन्य पदार्थो का व्यापक एक निश्चित, क्षेत्र तक ही सीमित रहता है। जनसंख्या के बारे में उसने यह कहा कि वह चतुर एवं परिश्रमी होनी चाहिए जिससे वह देश में तथा देश के बाहर व्यापार बढ़ा सके। वह मुद्रा के निर्यात का निषेध करने के विरूद्ध था क्योंकि "यदि मुद्रा किसी उद्देश्य के लिए निर्यात की जाय तो वह निर्यातक देश में लाभ सहित अवश्य लौटेगी।"

4. **जीन बैपटिस्ट काल्बर्ट** (1619-1683): फ्रांस के वित्त मंत्री काल्बर्ट का वाणिज्यवाद को विकसित करने तथा बढ़ाने में महत्त्वूपर्ण योगदान रहा। वह निश्चय ही वाणिज्यवाद के सबसे अगुआ प्रतिपादकों में थे। कालान्तर में वाणिज्यवाद इसी के नाम पर 'काल्बर्टवाद' भी कहा जाने लगा। उसने फ्रांस की आर्थिक नीति का निर्माण किया तथा सभी आर्थिक कार्यकलापों पर पूर्ण सरकारी सत्ता स्थापित करने का प्रतिपादन किया। उसने जो विचार सामने रखे उनका सारांश है -

   i. सड़कों व नहरों का निर्माण करके घरेलू अर्थव्यवस्था को सुद ढ़ बनाना,

   ii. अनाज के निर्यात पर प्रतिबंध लगाना,

   iii. शक्तिशाली व्यापारिक कम्पनियों की स्थापना करना,

   iv. गिल्डों पर सरकारी नियंत्रण स्थापित करना एवं

   v. शक्तिशाली जहाजी बेड़े का निर्माण करना।

   कोल्बर्ट चाहता था कि फ्रांस विदेशी उत्पादकों से पूर्णतः मुक्त रहे। उसने उत्पादकों से उत्पादन बढ़ाने को कहा ताकि आत्मनिर्भरता की स्थिति प्राप्त की जा सके। उसने एक सुद ढ़ नौसेना और व्यापारिक बेड़े का गठन किया, फ्रांसीसी उपनिवेशों का विस्तार किया और सफल व्यापारिक कम्पनियों को हर संभव बढ़ावा दिया। उसका मत था कि उत्पादकों को देश में धन लाना चाहिए, जो कि व्यापार-व्यवसाय का एकमात्र उद्देश्य है और राज्य की शक्ति में विस्तार लाने वाला है। लेकिन उसके सभी उपाय अपना उद्देश्य खो बैठे और अन्ततः राज्य के सर्वोच्च नियंत्रण में अभिव्यक्त हुए।

5. **सर विलियम पैटी** (1623-1687): वह एक गरीब जुलाहा का पुत्र था। उसने जीवन में एक के बाद एक जीविकोपार्जन के साधन बदले। वह फेरी वाले से शरीर विज्ञान का प्रोफेसर बना। उसने कुछ पुस्तकें लिखीं। 'उसे सांख्यिकीय पद्धति' के प्रवर्तक एवं 'राजनीति अर्थशास्त्र' के संस्थापक के रूप में ख्याति मिली। उसका महत्त्व स्मिथ और रिकार्डो का अग्रगामी होने में है। उसने राज्य की आर्थिक आत्मनिर्भरता के अपने प्रगतिशील विचार वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किये। पैटी का राष्ट्रीय सम्पदा का सिद्धान्त करारोपण पर आधारित था और उसका मत था कि कर अपरिहार्य है। उसने जनसंख्या, किराया, धन, पूँजी और उत्पादन जैसे विषयों पर कार्य किया। उसके अनुसार यद्यपि श्रम और भूमि धन का स्त्रोत थे, परंतु उसने श्रम को भूमि की अपेक्षाक त अधिक महत्त्व दिया। उसने श्रम को सम्पत्ति का पिता और भूमि को उसकी माता माना। अन्य वणिकवादी लेखकों के समान वह भी वेतन को जीवन निर्वाह स्तर पर निर्धारित करने के पक्ष में था। वह

ब्याज के विरोध में नहीं था। वह मुद्रा को व्यापार तथा उद्योग को सुविधा प्रदान करने का एक साधन समझता था। उसने निर्यात बढ़ाने के लिए निर्यात शुल्क कम करने का सुझाव दिया तथा मुद्रा के तीव्र संचरण पर अत्यधिक जोर दिया।

6. **चार्ल्स डेवनान्ट** (1656-1714): यह एक अंग्रेजी उदार वणिकवादी था। वह अनेक सरकारी पदों पर नियुक्त रह चुका था। उसको करों, आयातों, निर्यातों आदि विषयों पर पर्याप्त अनुभव था। उसने आयात पर विवेकपूर्ण प्रतिबंध लगाने तथा घरेलू उत्पादों की कीमतों में कमी का समर्थन किया ताकि निर्यात में व द्धि हो सके। उसका यह मत था कि मुद्रा का मूल्य उसकी दुर्लभता में निहित है। सोना-चाँदी का अगर उचित उपयोग नहीं किया गया तो वह अति भोजन की भाँति हानिकारक सिद्ध होगा। उसका विश्वास था कि पर्याप्त पारिश्रमिक पर पूर्ण नियोजित अधिसंख्य जनसंख्या राष्ट्रीय सम्पदा में व द्धि करती है। उसने कई पुस्तकें लिखी। उसकी क तियों में 'पूर्वी भारतीय व्यापार पर निबंध' और 'व्यापार संतुलन में लोगों को लाभार्जिक बनाने वाले सम्भाव्य तरीकों पर निबंध' आदि हैं।

उक्त वाणिज्यवादी विचारकों के अतिरिक्त सर जोशिया चाइल्ड (1630-1699 ई.), रिचार्ड कैन्टिलन (1680-1734 ई.), सर जेम्स स्टीवार्ट (1712-1780 ई.), फिलिप विलियम वोन होर्निक (1638-1712 ई.) आदि अनेक विचारक हुए। जोशिया चाइल्ड ने ब्याज की कम दरों का सुझाव दिया। कैन्टिलन ने दलील दी कि देश को कच्चे माल का आयात और पक्के माल का निर्यात करना चाहिए, जिससे व्यापार का संतुलन अनुकूल रहे।

वाणिज्यवादियों के प्रमुख आर्थिक विचार

लगभग 300 वर्षों तक पश्चिमी यूरोप के देशों में वाणिज्यवादी विचारों का प्रभुत्व बना रहा। इस बीच वाणिज्यवादी विचारों में परिवर्तन होता रहा परंतु वाणिकवादी विचारधारा की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ऐसी थी जिनका समर्थन लगभग सभी वाणिज्यवादी विचारकों द्वारा किया गया। ये थी-

1. **बहुमूल्य धातुओं-स्वर्ण तथा रजत का महत्त्व:** वणिकवादियों द्वारा स्वर्ण तथा रजत के संचय को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया। वास्तव में वाणिज्यवाद काल में अधिक स्वर्ण तथा अधिक धन राष्ट्रीय शक्ति का प्रतीक था। इन धातुओं का विशेष महत्त्व देने का एक कारण यह भी था कि बहुमूल्य धातुओं के रूप में इनका संचय किया जा सकता था। वाणिज्यवादी लेखक विलियम पैटी ने इस संबंध में लिखा है "व्यापार का अंतिम व महान प्रभाव धन की व द्धि करना नहीं है, बल्कि सोना, चाँदी और जवाहरात आदि बहुमूल्य पदार्थों की व द्धि करना है, जो न नाशवान है और न ही परिवर्तनशील है। इनकों प्रत्येक समय और स्थान में प्रयुक्त किया जा सकता है और वे हर समय सम्पत्ति होते हैं।" इंग्लैण्ड के सत्रहवीं शताब्दी के विद्वान सर थॉमस मन ने लिखा है-"जिन राष्ट्रों के पास खानें नहीं हैं उनको स्वर्ण और चाँदी प्राप्त करके धनवान बनना चाहिए।" बहुमूल्य धातुओं के संचय को इतना अधिक महत्त्व देने का मुख्य कारण यह था कि उनके विचारों में इनके द्वारा युद्ध शस्त्रों तथा अन्य युद्ध सामग्री को खरीदा जा सकता था। इस प्रकार स्वर्ण तथा रजत सफलतापूर्वक युद्ध लड़ने का एकमात्र साधन था।

2. **विदेशी व्यापार का महत्त्व:** वाणिज्यवादी इस तथ्य से परिचित थे कि वांछित सोना-चाँदी प्राप्त करने के लिए विदेशों के साथ स्वेदशी के व्यापार को बढ़ाना आवश्यक है। वे विदेशी व्यापार को आत्मनिर्भरता और सम्पन्नता की कुंजी मानते थे। इस सम्बन्ध में सर थॉमस मन ने लिखा है-"अपने धन को बढ़ाने का सबसे अच्छा ढंग विदेशी व्यापार है। इसे प्रोत्साहित करना आवश्यक है क्योंकि राजा को अधिक आय, राज्य का सम्मान, व्यापारियों का व्यवसाय-हमारी भूमि की उन्नति-हमारे युद्धों की विजय सब कुछ विदेशी व्यापार पर निर्भर करते हैं।"

3. **अनुकूल व्यापार संतुलन:** वणिकवादियों के अनुसार कोई देश बहुमूल्य धातुएँ विदेशों को अपने देश में बनी वस्तुओं को बेचकर प्राप्त कर सकता है। परंतु यह उसी समय संभव है जब वह देश, विदेशों को अत्यधिक मात्रा में अपनी वस्तुएँ बेचे तथा विदेशों से न्यूनतम मात्रा में वस्तुएँ खरीदे। इसका अर्थ यह है कि ऐसा करने से देश विशेष को अन्य देशों से वस्तुओं के भुगतान के रूप में बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त होंगी। इस प्रकार के विदेशी व्यापार में अनुकूल व्यापार संतुलन अर्थात् अत्यधिक निर्यात तथा न्यूनतम आयात के द्वारा बहुमूल्य धातुओं को संचित करके एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की जा सकती है। वणिकवादी राज्य की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार तथा अनुकूल व्यापार संतुलन को विशेष महत्त्व दिया जाता था। वाणिज्यवादी विचारकों थॉमस मन, वॉन हार्निक आदि ने अनुकूल व्यापार संतुलन को राज्य में अधिक रोजगार तथा आर्थिक विकास का एकमात्र साधन बताया। इस प्रकार अनुकूल व्यापार संतुलन से एक ओर तो मुद्रा की

मात्रा प्रचलन में अधिक हो जाने से ब्याज की दर में कमी होगी, दूसरी ओर राज्य को अतिरिक्त उत्पादन की हानियों से मुक्त किया जा सकेगा। यह ज्ञातव्य है कि ब्याज की दर में कमी होने से पूँजी-निवेश प्रोत्साहित होता है जिससे देश में रोजगार के आकार में व द्धि होती है।

4. **उपनिवेशों की स्थापना पर बलः** राज्य को विदेशी व्यापार की अनिश्चितता के भय से मुक्त रखने के लिए वणिकवादी लेखक उपनिवेशों को आवश्यक समझते थे। उपनिवेशों का राज्य के लिए दोहरा लाभ था-
   i. उपनिवेशों में राज्य में निर्मित होने वाली वस्तुओं को बेचा जा सकता था।
   ii. उपनिवेशों से आवश्यक कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में सस्ती कीमतों पर खरीदा जा सकता था। कच्चा माल कम कीमत पर प्राप्त होने से वस्तुओं का उत्पादन कम लागत पर किया जा सकता था। फलस्वरूप देश के उद्योग विदेशों में अन्य देशों के उद्योग से प्रतियोगिता कर सकते थे।
5. **औद्योगिक एवं व्यापारिक नियंत्रणः** व्यापार को अपने पक्ष में बनाए रखने हेतु वाणिज्यवादियों ने अनेक प्रकार के औद्योगिक एवं व्यापारिक नियंत्रणों की वकालत की। राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से उन्होंने आयात तथा निर्यात को सरकारी सहयोग से नियंत्रित करना चाहा। इस सम्बन्ध में दो बातों को महत्त्व दिया गया-
   i. आयात को प्रतिबन्धित किया गया तथा कुछ विशेष कम्पनियों को ही आयात करने की सुविधाएँ दी गई।
   ii. निर्यात को बढ़ाने तथा आयात को कम करने के लिए अनेक प्रकार के करों को लागू किया गया।

पश्चिमी यूरोप में वाणिज्यवाद

इंग्लैण्ड

ट्यूडर शासकों (1485-1603 ई.) के नौ-परिवहन अधिनियमों में इंग्लैण्ड की वाणिज्यवाद नीतियों के पूर्व के संकेत मिलते हैं। हेनरी सप्तम् (1485-1509 ई.) ने नाविक कानूनों द्वारा यह निश्चित कर दिया कि विदेशी व्यापार के लिए केवल अंग्रेजी जहाजों का उपयोग किया जा सकेगा। हेनरी ने नवीन उद्योगों को प्रोत्साहन दिया। हेनरी ने रेशम, गर्म वस्त्र, तथा रस्सी उद्योग को विशेषा प्रोत्साहन दिया। हेनरी की व्यापारिक और औद्योगिक नीति का मुख्य आधार यह था कि धन देश के बाहर न जाए। हेनरी के काल में यह व्यवस्था थी कि जो वस्तुएँ इंग्लैण्ड में बन सकती थी, उन्हें बाहर से लाने पर उन पर भारी कर देना पड़ता था जिससे उनका आयात न हो सके। उसने नाविक शक्ति को प्रोत्साहन दिया।

एलिजाबेथ प्रथम के शासनकाल (1558-1603 ई.) के अंतिम वर्षों में वाणिज्यवाद का जन्म हुआ। इस प्रणाली के अन्तर्गत ही व हत् व्यापारिक संस्थानों, जैसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी का उदय हुआ। इन नई कम्पनियों को व्यापारिक अधिकार सरकारी अनुमति पत्र से प्राप्त होते थे जिन्हें चार्टर कहा जाता था और जिसकी एक निश्चित अवधि तथा एक निश्चित कार्य क्षेत्र होता था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना (1600 ई.) के प्रारंभिक वर्षो में इस कम्पनी की तत्कालीन वाणिज्यवादियों ने आलोचना की, जिसका कारणा यह था कि भारत से आने वाले पदार्थों जैसे रेशम, गर्म मसाले, सूती वस्त्रों इत्यादि के बदले चाँदी देनी पड़ती थी। इसकी वजह यह थी कि इंग्लैण्ड की परम्परागत निर्यात वस्तुओं, जैसे ऊन की भारत जैसे गर्म जलवायु वाले देश में कोई आवश्यकता नहीं थी। इन चार्टर कम्पनियों के साथ ही इस काल में कुछ अंग्रेज नाविकों, जैसे हॉकिन्स, फ्रांसिस ड्रेक ने अंग्रेज व्यापार को विश्व के विभिन्न भागों में ले जाने का कार्य किया। वास्तव में ये लोग एक प्रकार के समुद्री लुटेरे थे जो अपनी सरकार की स्वीक ति और प्रोत्साहन पाकर स्पेन के अमेरिका से आने वाले सोने-चाँदी के लदे जहाजों को कई वर्षो तक लूटते रहे। अमेरिका, अफ्रीका तथा अन्य क्षेत्रों में उपनिवेश स्थापित करने की तरफ विशेष ध्यान दिया गया। एलिजाबेथ प्रथम के शासन काल में जहाँ विदेशी व्यापार पर विशेष ध्यान दिया गया वहीं घरेलू उत्पादन को बढ़ाने की भरसक कोशिश की गयी। उत्पादन को बढ़ाने के लिए देश में अनेक स्थानों पर श्रमिकों को प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों व शिविरों का आयोजन किया गया।

1651 ई. के नौ-परिवहन अधिनियम की मुख्य बातें थीं-

1. इंग्लैण्ड में आयातित सामान उस देश से आना था जो उसे पैदा करते थे या पहले-पहल निर्यात करते थे।
2. यह सामान या तो इंग्लैण्ड के जहाजों से लाया जाना था या उस देश के जहाजों से जहाँ से मूलतः यह चला या पहली बार जहाज में भरा गया था।

3. एशिया, अफ्रीका तथा अमेरिका के माल को विदेशी जहाजों द्वारा भेजे जाने पर भी रोक लगा दी।

4. मछलियों का आयात आंग्ल जहाजों के अलावा किसी अन्य जहाज से नहीं किया जा सकता था।

इन अधिनियमों का मुख्य ध्येय हॉलैण्ड के निर्यात एवं पुनःनिर्यात व्यापार को आघात पहुँचाकर स्वयं लाभ प्राप्त करना था। यह ज्ञातव्य है कि हॉलैण्ड पोत-परिवहन में सबसे आगे था। उसने यूरोपीय तथा अन्य निर्यातक देशों के माल को लादकर बहुत धन कमाया था और मछलियों के शिकार का जहाजी बेड़ा विकसित कर लिया था। यह कहा गया है कि यदि किसी एक कानून ने किसी राज्य को महान् बनाया है तो वह 1651 ई. का नौ-परिवहन अधिनियम था।

गणतंत्र शासन (1649-1660 ई.) के दौरान इंग्लैण्ड ने स्वीडन से दो व्यापारिक संधियाँ कीं जिनसे इंग्लैण्ड को बाल्टिक सागर में व्यापार करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इसके अतिरिक्त इस काल में डेनमार्क और पुर्तगाल से भी व्यापारिक संधियाँ कीं। क्रामवेल (1653-58 ई.) के शासनकाल में स्पेन के उपनिवेशों पर आक्रमण करने की नीति को अपनाया गया। 1656 ई. में इंग्लैण्ड-स्पेन युद्ध के दौरान इंग्लैण्ड ने स्पेन के एक जहाजी बेड़े को परास्त कर एक बड़े खजाने को लूट लिया। क्रामवेल के जहाजरानी कानूनों ने अमेरिका स्थित अपनी बस्तियों के व्यापार पर अंग्रेजों का एकाधिकार बना दिया था। वर्जीनिया की तम्बाकू अब केवल अंग्रेजी जहाजों और बन्दरगाहों के रास्ते से ही जा सकती थी। यही स्थिति भारत से आने वाली चाय की थी।

स्टुअर्ट काल (1603-88 ई.) में यह कोशिश की गयी कि व्यापार तथा विदेशों में स्थित उपनिवेशों को ऐसे सिद्धान्तों पर स्थापित किया जाए कि वे इंग्लैण्ड की राष्ट्रीय सम्पदा का आधार बन सके। अत्यधिक पैदावार के वर्षों, जैसे 1672 तथा 1684 ई. में चार्ल्स द्वितीय ने अनाज के निर्यात का भी प्रयास किया और किसानों को निर्यातित अनाज के बदले में सोना दिया। चार्ल्स द्वितीय तथा प्रधानमंत्री वालपोल के काल में यह प्रयास रहा कि कच्चे माल के स्थान पर तैयार माल का निर्यात किया जाए। विलासिता की जो फ्रांसीसी तथा इटावली वस्तुएँ स्थानीय उत्पादनों पर प्रभाव डालती थीं, उनके आयात पर प्रतिबंध लगाया गया। इस प्रकार वाणिज्यवादी विचारों को प्रोत्साहन दिया गया।

विलियम और मेरी के शासनकाल (1688-1714 ई.) में पुर्तगाल से एक संधि 1703 ई० में की गयी जो 'मैथ्यून संधि' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका ध्येय था फ्रांसीसी शराब इंग्लैण्ड न आ सके और उसके स्थान पर पुर्तगाली शराब इंग्लैण्ड पहुँचे। इसी संधि ने पुर्तगाली बस्ती-ब्राजील की मंडियों को अंग्रेजी सामान के लिए खोल दिया। इस संधि के परिणाम लगभग 20 वर्ष के बाद देखने में आये जब ब्राजील से बड़े पैमाने पर अंग्रेजी वस्त्रों के बदले सोना इंग्लैण्ड आना प्रारंभ हुआ।

व्हिग अल्पतंत्र के काल (1714-60 ई.) में लगाए गए नियंत्रणों, जैसे कॉपर स्मेलटिंग ऐक्ट, फर ऐक्ट ने अमेरिकी बस्तियों के स्थानीय उद्योगों को अत्यधिक धक्का लगाया। उपनिवेशवासी अपनी सभी जरूरतों के लिए इंग्लैण्ड पर आश्रित हो गये। परंतु इससे अंग्रेज उद्योग धंधों को प्रोत्साहन मिला।

हेनोवर काल (1714-1789 ई.) में कपड़ा उद्योग को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया गया। कच्ची ऊन के निर्यात को रोका गया। चीनी, रेशमी वस्त्रों तथा भारतीय सूत्री वस्त्रों के आयात पर अंकुश लगाया गया क्योंकि चे चीजें ऊनी वस्त्रों की बिक्री पर हानिकारक प्रभाव डालती थीं। इस युग में मशीनों के निर्यात पर भी रोक लगाई गई तथा विदेशी कुशल शिल्पियों को इंग्लैण्ड आकर बसने को प्रोत्साहित किया गया। इस प्रकार इंग्लैण्ड वाणिज्यवादी नीतियों के तहत फलता-फूलता रहा।

नीदरलैण्ड्स

1581 ई. में नीदरलैण्ड्स के चार प्रोटेस्टेन्ट राज्यों ने स्पेन के राजा के प्रति अपनी निष्ठा को समाप्त कर, एक संघ का निर्माण किया, जिसे 'संयुक्त राज्य नीदरलैण्ड्स' कहा गया। नीदरलैण्ड्स अपनी स्वतंत्रता के साथ ही तेजी से सफलता के सोपान चढ़ता गया। देश में तेजी से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रगति करने लगा। देश में शेयर बाजार स्थापित हुआ। बैंक ऑफ एम्सटरडम ने अपने व्यवसाय का काफी विस्तार किया। देश के स्पेनी हिस्से में एन्टवर्प, जो प्रमुख जल एवं स्थल मार्गों से जुड़ा था, एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के केन्द्र के रूप में उभरा। विभिन्न देशों के व्यापारी यहाँ व्यापार के लिए आते थे। लाइडेन की ख्याति ऊनी-वस्त्रों के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में हुई। भारत के साथ व्यापार में भाग लेने के लिए 1603 ई. में 'डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की स्थापना की गयी। डच लोगों ने जहाजरानी के क्षेत्र में महारत हासिल कर लिया था। उन्होंने अर्द्ध-निर्मित माल को तैयार माल में बदलने की नई तकनीकों का प्रयोग किया। आयातित माल को निर्यात योग्य माल में बदलकर पुनर्निर्यात किया जाने लगा। नीदरलैण्ड्स में आयात, निर्यात एवं पुनर्निर्यात व्यापार का समुचित विस्तार हुआ। बाल्टिक क्षेत्र से डच व्यापारियों के

पुराने संबंध थे, जहाँ से वे अनाज, जहाज निर्माण के लिए लकड़ी और अन्य सामग्री प्राप्त करते थे। यहाँ पर डच मुद्रा स्थानीय मुद्रा की तरह स्वीकार की जाती थी। डच व्यापारी अपने आयातों का भुगतान अमेरीकी चाँदी या अन्य देशों से आयातित माल को परिष्क त कर पुनर्निर्यात द्वारा करते थे। नीदरलैण्ड्स ने अर्द्ध-निर्मित माल को तैयार माल में बदलकर पुनर्निर्यातक देश के रूप में ख्याति अर्जित की। एम्सटरडम में ब्रिटेन के कपड़े को रंगकर एवं सजा-सँवारकर विक्रय योग्य बनाया जाता। जर्मन लिनेन को हारलेन में विरंजित कर तैयार माल में बदला जाता। वेस्टइण्डीज की चीनी को साफ करने एवं इंग्लैण्ड के जौ से बियर बनाने का व्यवसाय नीदरलैण्ड्स में पनपा। इस तरह नीदरलैण्ड्स के शहर शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गये। एम्सटरडम की ख्याति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मुख्य केन्द्र के रूप में फैल गयी। यहाँ बीमा और बैंक व्यवसाय ने खूब प्रगति की। यहाँ के बैंक दुनिया के विभिन्न देशों के मुख्य व्यापारिक नगरों से जारी की गयी हुण्डियों का शोधन करते थे।

उस युग में अन्य पश्चिमी यूरोपीय देशों की भाँति नीदरलैण्ड्स ने भी वाणिज्यवादी नीतियों का अनुसरण किया। डच लोग स्वतंत्र व्यापार एवं सागरों में मुक्त गमन के समर्थन थे और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव पर बल देते थे। नीदरलैण्ड्स ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से काफी सम्पन्नता प्राप्त कर ली थी, इसलिए वह अन्य देशों के टकराव से बचता था। उसकी भौगोलिक स्थिति एवं व्यापार के स्वरूप और राज्य की नीतियों के कारण यह आवश्यक था। अतः डच वाणिज्यवाद में अन्य देशों की नीतियों से कुछ भिन्नताएँ हैं। फिर भी अन्य औपनिवेशिक राज्यों की तरह उसने वाणिज्यवादी नीतियों के तहत अपने उपनिवेशों में अन्य देशों की घुसपैठ रोकने के लिए संरक्षणवादी उपाय करने एवं बल प्रयोग में संकोच नहीं किया।

सत्रहवीं शताब्दी में नीदरलैण्ड्स की गणना प्रमुख समुद्री शक्ति के रूप में होने लगी थी। उसका जहाजी बेड़ा काफी उन्नत था। उसने मछली पकड़ने के उन्नत जहाजों का एक बेड़ा भी तैयार कर लिया था और इंग्लैण्ड जैसे देश को मछलियों का निर्यात करता था। इंग्लैण्ड और नीदरलैण्ड्स वैसे तो धार्मिक रूप से काफी नजदीक थे, लेकिन दोनों के व्यापारिक हित आपस में टकराते थे। नीदरलैण्ड्स का हित इंग्लैण्ड के साथ अधिक व्यापार में था तो इसके विपरीत उससे इंग्लैण्ड को व्यापार घटाने में फायदा था। प्रारंभ में इंग्लैण्ड ने वार्ता को माध्यम बनाया और मैत्री संधि करनी चाही, लेकिन वार्ताएँ असफल हुई। अन्त में इंग्लैण्ड ने अपने आर्थिक हितों की संरक्षा के लिए 1651 ई. का नौ परिवहन अधिनियम पारित कर दिया। यद्यपि इस अधिनियम को पारित करने का तात्कालिक कारण 1649 ई. की मंदी था, परंतु वास्तव में इसके पीछे ब्रिटिश आर्थिक स्वायत्तता की भावना काम कर रही थी। इस अधिनियम में प्रावधान किया गया कि इंग्लैण्ड को होने वाले निर्यात व्यापार के लिए या तो मूल निर्यातक देश के जहाजों या अंग्रेजी जहाजों का ही प्रयोग किया जायेगा। इससे नीदरलैण्ड्स के पुनर्निर्यात व्यापार को भारी धक्का लगा। इस अधिनियम के बाद अब डच व्यापारिक जहाज एशिया, अफ्रीका या अमेरीकी देशों से सामान लादकर ब्रिटेन के बंदरगाहों पर नहीं ले जा सकते थे। एक अन्य प्रावधान के अनुसार इंग्लैण्ड में मछली का आयात अब सिर्फ अंग्रेजी जहाजों के द्वारा ही हो सकता था। परिणामस्वरूप हॉलैण्ड (नीदरलैण्ड्स), जो इंग्लैण्ड का मुख्य मछली निर्यातक था, का मछली पकड़ने का व्यवसाय व जहाजरानी व्यवसाय संकट में फंस गया। इस अधिनियम ने नीदरलैण्ड्स के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को काफी नुकसान पहुँचाया। यद्यपि इंग्लैण्ड के व्यापार में वेस्टइण्डीज एवं अमरीका के साथ व्यापार में व द्धि होने के कारण परिमाणगत एवं मूल्यगत व द्धि हुई, लेकिन हॉलैण्ड के साथ उसके व्यापार के हिस्से में भारी गिरावट आ गई थी। यह था, इंग्लैण्ड द्वारा अपनायी गई वाणिज्यवादी नीतियों का परिणाम।

फ्रांस

फ्रांस के वित्तमंत्री कोल्बर्ट (1661-1683 ई.) ने फ्रांस में वाणिज्यवाद की नीतियों के व्यावहारिक प्रयोग में महत्त्वूपर्ण भूमिका अदा की। फ्रांस में वाणिज्यवाद को उसके नाम के पीछे 'कोल्बर्टवाद' के नाम से पुकारा जाने लगा। फ्रांस में कोल्बर्ट से जुड़ी हुई नीतियों की पहली विशेषता यह थी कि आंग्ल वाणिज्यवादियों की तरह कोल्बर्ट भी यह मानता था कि व्यापार संतुलन अनुकूल रहे, सोने-चाँदी के संग्रह को इस अनुकूलता का संकेतक माना जाय और व्यापारिक प्रतिद्वंद्वियों के खिलाफ शक्ति का इस्तेमाल किया जाए। कोल्बर्ट नीति की दूसरी विशेषता यह थी औद्योगिक उत्पादन का नियमन हो। इस नियमन के पीछे अनेक उद्देश्य थे-जैसे क षि के अलावा अन्य साधनों का विकास करना, विदेशी प्रतिद्वंद्विता को ध्यान में रखते हुए उत्पादित वस्तुओं की गुणवत्ता में सुधार करना, ग्रामीण क्षेत्र के योग्य तथा शारीरिक द ष्टि से समर्थ गरीबों को रोजगार प्रदान करना ताकि वे सामाजिक असंतोष के कारण न बने।

फ्रांस के वाणिज्यवाद के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि लुई चौदहवें के शासन और उसके बाद के काल में आर्थिक नीति निर्धारण का कार्य नौकरशाही ने किया जबकि इंग्लैण्ड में वहाँ के व्यापारी समाज के सदस्यों ने वाणिज्यवादी नीतियों को स्वरूप देने में अहम् भूमिका निभाई। फ्रांस की नौकरशाही में मध्यमवर्गीय बुर्जुआ मूल के थे। यह स्मरणीय है कि इन लोगों ने पद खरीदकर प्राप्त किये थे। अतः इस वर्ग की रूचि उत्पाादक उद्यम को बढ़ावा देने में नही रही। इनका मुख्य कार्य कर-संग्रहकर्त्ताओं, साहूकारों आदि के रूप में रहा। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि अठारहवीं सदी का फ्रांस नवीन आविष्कारों से भरा पड़ा है किंतु उनका विकास एवं व्यावहारिक इस्तेमाल इंग्लैण्ड तथा आविष्कारों से भरा पड़ा है किंतु उनका विकास एवं व्यावहारिक इस्तेमाल इंग्लैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड में किया गया। इसका प्रमुख कारण यह था कि वहाँ सरकारी बाधाएँ अधिक थी। यदि इन आविष्कारों का फ्रांस में उपयोग हुआ होता तो फ्रांस के उद्योगों को त्वरित गति मिलती। फ्रांस को एक सम्पन्न पूँजीवादी राष्ट्र की ओर अग्रसर करने में कोल्बर्ट की नीति सफल नहीं हुई। इसका कारण कुलीन वर्ग द्वारा पोषित राजतंत्र और विभिन्न बुर्जुआजी वर्गों (जिनमें व्यापारिक एवं औद्योगिक उत्पादक वर्ग एवं नवीन आविष्कारकर्त्ता सम्मिलित थे) के बीच मौजूद विरोधाभासों में निहित था। यह कहा जाता है कि लायंस के व्यापारियों और कोल्बर्ट के बीच हुए टकराव के दौरान उसने व्यापारियों से पूछा कि उनके व्यापार को बढ़ावा देने के लिए क्या किया जाये? इस पर व्यापारियों का जवाब था-'हमें अकेले छोड़ दो' (लेसेजनस-फेयर)। फ्रांस ने भी कालांतर में उपनिवेश स्थापित करने तथा एशिया के पिछड़े देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की नीति का अवलम्बन किया जिसके परिणामस्वरूप उसे इंग्लैण्ड से कई बार संघर्ष करना पड़ा।

स्पेन

स्पेन में वाणिज्यवादी नीति पर अधिक बल दिया गया किंतु स्पेन में आंतरिक अर्थव्यवस्था को सुधारने की कोशिश नहीं की गयी। स्पेनवासियों ने सोने-चाँदी के संग्रह को विशेष महत्त्व दिया और इसके लिए उन्होंने उन सभी साधनों का उपयोग किया जिनके द्वारा सोना-चाँदी प्राप्त किया जा सकता था। इसके लिए उन्होंने औपनिवेशिक साम्राज्य का विस्तार किया और उपनिवेशों का अत्यधिक आर्थिक शोषण भी किया। सम्राट चार्ल्स पंचम् (1516-1556 ई.) के काल में अमरीका और वेस्टइण्डीज से अपार धनराशि स्पेन आई। नीदरलैण्ड्स और इटली से भी स्पेन को काफी धन प्राप्त हुआ किन्तु आन्तरिक सम्पन्नता के अभाव के कारण देश में कुछ धन न बच पाता था।

स्पेन का औपनिवेशिक साम्राज्य बहुत विशाल था, पर इन उपनिवेशों के प्रति स्पेन की नीति त्रुटिपूर्ण थी। उपनिवेशों पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगे हुए थे, वे किसी दूसरे देश से व्यापार नहीं कर सकते थे, जबकि स्पेन स्वयं उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता था। ऐसी स्थिति में उपनिवेश अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चोरबाजारी जैसे साधनों का सहारा लेते थे। इससे स्पने को आर्थिक हानि पहुँचती थी। उपनिवेशों से प्राप्त धन का अधिकांश भाग लूटपाट और विदेशी पूँजीपतियों के हाथ में चला जाता था। वैसे भी जब तक देश में ही उत्पादन का आधार मजबूत न हो, बाहर से लाया गया धन केवल विलासिता बढ़ाता है और देश के अर्थ-तंत्र को दूसरों पर निर्भर बनाता है।

वाणिज्यवाद का मूल्यांकन

वाणिज्यवाद आर्थिक विचारधारा के क्षेत्र में एक महान् क्रांति थी जो यूरोप के देशों में लगभग 250 वर्षो तक विद्यमान रही। एक ऐसे समय में जब मध्यकालीन सामन्तवाद तथा चर्च प्रधानतावाद पर जोर था, एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना का विचार इन मध्यकालीन प्रथाओं की समाप्ति के लिए अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने तथा अनुकूल व्यापार संतुलन के विचार को कार्यान्वित करने के लिए देश में व्यापार, उद्योग, वेतन उपभोग इत्यादि का राज्य द्वारा नियमन किया जाना आवश्यक था। अधिक निर्यात करने हेतु विदेशों में उपनिवेशों की स्थापना भी आवश्यक थी। ये सब कार्य राज्य को शक्तिशाली बनाकर ही किये जा सकते थे। इस प्रकार वाणिज्यवाद को आर्थिक क्षेत्र में राज्य निर्माण की विचारधारा तथा नीति कहना गलत न होगा।

इस काल में वर्तमान पूँजीवाद की स्थापना हुई। वाणिज्यवाद के अंतर्गत विदेशी व्यापार पहली बार बड़े स्तर पर होना आरंभ हुआ था तथा यह कहना उपयुक्त होगा कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इतिहास वाणिज्यवाद से ही आरंभ होता है। व्यापार ने अन्य तत्त्वों के साथ मिलकर औपनिवेशिक व्यवस्था को जन्म दिया।

वाणिज्यवाद अथवा वाणिज्यिक क्रांति का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिफल औद्योगिक क्रांति का प्रादुर्भाव था, जो अठारहवीं सदी अन्तिम

चरण में यूरोप में शुरू हुई। अधिक से अधिक माल तैयार करने की प्रव त्ति ने यूरोप के शिल्पियों को इस बात के लिए प्रेरणा दी कि वे उत्पादन के नए तरीकों का विकास व व्यवहार करें। वाणिज्यिक क्रांति के फलस्वरूप मध्यम वर्ग के व्यक्तियों की संख्या और ताकत में काफी व द्धि हुई। उन्हें व्यापार और व्यवसाय द्वारा सम द्ध होने का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ। धर्मसुधार ने भी मध्यम वर्ग की ताकत को बढ़ाया था। इसी वर्ग ने चर्च की भूमि का बहुत बड़ा भाग खरीद कर अपनी स्थिति को मजबूत बना लिया था। इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाने की जरूरत नहीं है कि इस वर्ग में आत्म-सम्मान और अपनी पहचान की जो भावना इस समय प्रादुर्भूत हुई थी, उसने ही फ्रांस की राज्य क्रांति का मार्ग प्रशस्त किया था।

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री कीन्स ने अपनी पुस्तक 'जनरल थ्योरी' में वाणिज्यवादियों की प्रशंसा की है। कीन्स के मतानुसार वाणिज्यवादियों ने, शासन-कला (स्टेटक्राफ्ट), जो समस्त अर्थव्यवस्था की समस्याओं तथा समस्त उत्पादन कारकों के अधिकतम उपयोग से सम्बन्धित है, की नींव डाली थी।

वाणिज्यवाद उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल था। इस सन्दर्भ में प्रोफेसर स्कॉट ने लिखा है: 'वाणिज्यवादियों की आलोचना करना तो आसान है परंतु ऐसा करना बेकार है। जब वाणिज्यवादी युग की परिस्थितियों के संदर्भ में उनका अध्ययन किया जाता है तो इस व्यवस्था के दोष निकालना यद्यपि असम्भव नहीं तो भी कठिन अवश्य ही है।'

वाणिज्यवाद के महत्त्व से इंकार नहीं किया जा सकता है। आयातों पर नियंत्रण लगाने से ही इंग्लैण्ड के उद्योग धन्धों का विकास हुआ जिससे उन्हें काफी लाभ हुआ। वाणिज्यवाद के कारण इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा जर्मनी जैसे महान् राज्यों का निर्माण संभव हो सका तथा यूरोप का विस्तार संभव हो पाया था। वाणिज्यवाद नीति के परिणामस्वरूप वैयक्तिक, स्थानीय, साम्प्रदायिक, वर्गीय तथा क्षेत्रीय हितों के स्थान पर राज्य के हितों को प्राथमिकता मिली। वाणिज्यवादियों ने अपने लेखों द्वारा जिन आर्थिक तत्त्वों का निरूपण किया उससे अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक विकास में काफी सहायता मिली।

इन सबके बावजूद वाणिज्यवाद में कई कमियाँ थी-

1. यह संकुचित राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर आधारित था। इससे एक राष्ट्र को अधिक महत्त्व एवं लाभ प्राप्त था तो दूसरे को महत्त्वहीन एवं अलाभ की स्थिति में पहुँचाना था।
2. वाणिज्यवाद काल में विदेश व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता को स्थापित करने के स्थान पर शत्रुता का प्रतीक बना।
3. वाणिज्यवाद में लोक कल्याण का कोई स्थान नहीं था। वाणिज्यवाद में एक ओर तो शक्तिशाली एवं सम्पन्न राज्य विद्यमान था तथा दूसरी ओर उसी राज्य में अधिकांश व्यक्ति दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते थे।
4. क षि के प्रति उदासीनता की नीति बरती गयी।
5. सोने-चाँदी को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। उसके संग्रह में नैतिक मूल्यों को भी नजरअंदाज कर दिया गया। आगे आने वाले समय ने स्पष्ट कर दिया कि उद्योग धन्धों का विकास सोने चाँदी की अपेक्षा लोहा, इस्पात एवं कोयला से अधिक होता है।
6. आर्थिक क्षेत्र में अत्यधिक हस्तक्षेप के कारण उद्योग धन्धों का समुचित विकास नहीं हो पा रहा था।

वाणिज्यवाद का पतन

अठारहवीं शताब्दी के अंत में वाणिज्यवाद का पतन आरंभ हो चुका था। एडम स्मिथ द्वारा वाणिज्यवादी विचारों की कड़ी आलोचना की गयी और उसकी पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' के 1776 ई. में प्रकाशन ने वाणिज्यवाद को गहरा आघात पहुँचाया। इसके अतिरिक्त, वाणिज्यवाद के पतन के लिए जो कारण जिम्मेदार थे, वे हैं-

1. वाणिज्यवाद द्वारा धन का अत्यधिक महत्त्व देने का परिणाम हुआ कि मनुष्य का ध्यान जीवन के वास्तविक उद्देश्य से हटकर धन को एकत्र करने में लग गया। धन संग्रह करने के लिए वाणिज्यवादी राज्य में, जहाँ श्रमिकों का वेतन केवल जीवन निर्वाह के सिद्धान्त पर आधारित था, श्रमिकों का व्यापारियों द्वारा आर्थिक शोषण एक साधन के रूप में अपनाया गया किन्तु लोक-कल्याण भावना के अभाव में ऐसा राज्य स्थायी नहीं हो सकता था।
2. वाणिज्यवादी राज्य में पूर्ण सत्ता राज्य में निहित थी जिससे राजा की शक्तियों में उत्तरोत्तर व द्धि हुई। दुर्भाग्यवश, राजाओं ने अक्सर अपनी शक्तियों का दुरूपयोग किया। परिणामस्वरूप वाणिज्यवाद व्यवस्था के विरूद्ध असंतोष फैलने लगा। उदारवाद की प्रव त्तियों ने इस असंतोष में व द्धि की।

3. वाणिज्यवाद में व्यापार को प्रथम, उद्योग को द्वितीय एवं क षि को त तीय स्थान दिया गया था। परिणामस्वरूप क षक एवं क षि दोनों की स्थिति शोचनीय बनती चली गई। क षि सुधारों के बारे में राज्य उदासीन हो चुके थे क्योंकि विदेशी व्यापार को ही अधिक महत्त्व दिया जा रहा था। फ्रांस में क षि का हास इसी नीति का परिणाम रहा। ऐसी स्थिति में फ्रांस में राज्य के राजकोष में व द्धि करने के उद्देश्य से लोगों पर भारी मात्रा में करारोपण किया, जिससे जनता में असंतोष पनपा और वे खुलकर वाणिज्यवाद की आलोचना करने लगे।

4. वाणिज्यवादी विचारधारा में स्थिति सापेक्षता का अभाव होने के कारण, समय के साथ बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल सुधार करना संभव नहीं था। गत्यात्मक संसार में स्थिर वणिकवादी विचारधारा का दीर्घकाल तक अस्तित्व में रहना असंभव था। ज्यों-ज्यों उत्पादन के क्षेत्र में नये-नये अनुसंधान होने लगे त्यों-त्यों उत्पादन के क्षेत्र तथा तकनीक में भी विस्तार होता चला गया। परिणामस्वरूप उत्पादन व व्यापार सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्धों का शनैः-शनैः हटाया जाने लगा क्योंकि वे अब अव्यावहारिक हो चुके थे। अब स्वतंत्र व्यापार को अधिक उपयोगी समझा जाने लगा। सरकार द्वारा नियंत्रित कम्पनियों के स्थान पर निजी कम्पनियों की संख्या बढ़ने लगी। इस प्रकार जो नियम वाणिज्यवाद को जीवित रखे हुए थे, वे ही समाप्त होने लगे तो वाणिज्यवाद का पतन स्वाभाविक ही था।

पूँजीवाद का उदय

पूँजीवाद का अर्थ

पूँजीवाद आधुनिक युग की अर्थ-व्यवस्था की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। सोलहवीं शताब्दी में अमेरिका महादेश तथा नये समुद्री मार्गों का पता लगाने के फलस्वरूप विश्व-व्यापी पैमाने पर यूरोपीय प्रसार का जो दौर प्रारंभ हुआ उससे यूरोप में पूँजीवाद के उद्‌भव तथा विकास को जबरदस्त अनुप्रेरणा मिली। पूँजीवाद की परिभाषा अनगिनत हैं। उनमें से अधिकांश सही जान पड़ेंगी लेकिन उपयोगी शायद दो एक ही हों। उदाहरणार्थ, हम यह कह सकते हैं कि पूँजीवाद वह अर्थव्यवस्था है जिसमें पूँजी का उपयोग होता है। एक अन्य परिभाषा के अनुसार इस अर्थव्यवस्था का उद्देश्य मुनाफा कमाना होता है। दोनों ही परिभाषाएँ सही तो हैं, किंतु दुनिया के हर भाग में तथा हर समय में (निश्चय ही बीसवीं सदी की सोवियत व्यवस्था एक अपवाद हो सकती है) जो भी अर्थव्यवस्था रही हो उसमें पूँजी का उपयोग होता रहा है तथा मुनाफा भी अर्जित किया जाता रहा है। फलतः उपर्युक्त परिभाषाएँ गहन अध्ययन के हेतु उतनी उपयोगी नहीं रह जाती। इसी प्रकार किसी समाज को पूँजीवाद केवल इसलिए कहना ठीक नहीं होगा कि उसके कुछ लोक सर्राफा (बैंक) का काम या मुद्रा की लेनदेन करते हैं। वाणिज्य तथा सूद सहित अथवा सूद रहित मुद्रा की लेनदेन मानव-सभ्यता के इतिहास के समान ही पुरानी है। इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं से विभिन्न युगों में या यूरोपीय संगठनों अथवा व्यवस्थाओं के विभिन्न स्वरूप जो विकसित होते रहे हैं, अथवा यूरोपीय आर्थिक पद्धतियाँ गैर यूरोपीय देशों में विकसित आर्थिक पद्धतियों से किन बातों में भिन्न रही, इनको जाँचने-परखने अथवा समझने में सहायता नहीं मिलती। बल्कि इनसे विभिन्न व्यवस्थाओं के बुनियादी फर्क परखने, विभिन्न युगों में या कालावधियों में उन्हें सीमाबद्ध करने तथा गहराई में जाकर विश्लेषण करने में कठिनाई ही होगी।

फलतः पूँजीवाद के अर्थ को मुख्यतः औद्योगिक उत्पादन में जोड़े रखना अर्थात् औद्योगिक उत्पादन की एक विशेष परिपाटी के रूप में इसे देखना समझना अथवा इसका अध्ययन करना ही अधिक उपयोगी होगा। इसी प्रकार की शिल्पी प्रणाली (Draft mode of production) से इस प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन करके पूँजीवाद को परिभाषित करना किंचित सुगम और लाभप्रद हो सकता है। इस आधार पर पूँजीवाद की एक परिभाषा यह दी जा सकती है कि पूँजीवाद वह व्यवस्था है जिससे बड़े पैमाने पर व्यवसाय का गठन किया जाता है; संगठनकर्ता एक ही व्यक्ति हो सकता है अथवा एक से अधिक व्यक्तियों का संस्थान; शर्त यह है कि संगठनकर्ता के पास अर्जित या संचित धनराशि पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए। इससे वह कच्चे माल तथा उपकरणों की व्यवस्था कर सकता था तथा मजदूरों को पारिश्रमिक दे सकता था। ऐसी व्यवस्था का उद्देश्य होगा सम्पत्ति का परिवर्द्धित परिमाण में उत्पादन करना जो-उसका मुनाफा होगा।

आधुनिक पूँजीवाद का महल सामन्तवादी व्यवस्था के कब्र पर खड़ा हुआ। सामन्ती समाज मुख्यतः क षि पर आधारित था इस व्यवस्था में क षकों का जबर्दस्त शोषण किया जाता। मुद्रा का प्रचलन बहुत कम था। 15वीं शताब्दी में वाणिकी पूँजीवाद की नई व्यवस्था उभरकर सामने आई। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जिन औजारों और साधनों से वस्तुओं का उत्पादन होता है, उन

पर उनका व्यक्तिगत स्वामित्व होता है और उत्पादन का उद्देश्य व्यक्तिगत मुनाफा कमाना होता है, पुनः इस व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूरों के पास कुछ नहीं होता है, वे केवल मजदूरी के लिए काम करते हैं। पूँजीवाद के लिए दो चीजें महत्त्वपूर्ण होती हैं-निजी पूँजी तथा निजी मुनाफा। **जॉन लॉक** ने पूँजीवाद को आर्थिक संगठन की एक ऐसी प्रणाली बताया है जिसमें मानव निर्मित तथा प्रक ति प्रदत्त पूँजी पर निजी स्वामित्व होता है, और जिसका निजी लाभ के लिए उपयोग होता है। **एम० गोल्डमैन** के अनुसार, "किसी भी समुदाय को पूँजीवाद कहा जा सकता है, यदि वह परम्परागत क षि, शिकार एवं मछली पालन की अवस्था से ऊपर उठ गया हो और उत्पादन व द्धि के लिए पूँजीगत उपकरणों का प्रयोग कर रहा हो।"

पूँजीवाद और सामन्तवाद में अन्तर

सामन्तवाद पूँजीवाद व्यवस्था से भिन्न था। इसमें पूँजी का उपयोग नहीं के बराबर था। 16वीं शताब्दी के अंत में हुए भौगोलिक खोजों-अमेरिका के दो महाद्वीपों की खोज और पूर्वी देशों के लिए समुद्र मार्ग की खोज ने व्यापार का स्वरूप ही बदल दिया। व्यापार और उद्योगों के विकास के साथ सामन्तवादी व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था की ओर बढ़ी जिसमें धन का निवेश लाभ कमाने के लिए किया जाता है। इससे प्राप्त होने वाले लाभांशों को पुनः निवेशित करके और लाभ कमाया जाता है। इस प्रकार इस निवेशित धन को पूँजी कहा जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था में सामन्ती काल की श्रेणी प्रणाली का भी महत्त्व घट गया। श्रेणी प्रणाली के अंतर्गत एक ही श्रेणी की इकाइयों के बीच अथवा एक ही इकाई के सदस्यों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था तथा प्रतिस्पर्धा करने वालों को श्रेणी कार्य करने की अनुमति नहीं देती थी। प्रतिस्पर्धा के अभाव में कीमतें भी स्थिर रहती थी। किन्तु पूँजीवाद व्यवस्था में ऐसा नहीं रहा। इसमें असमानताओं एवं प्रतिस्पर्धा का प्रवेश हो गया। इस व्यवस्था में पहली बार घरेलू उत्पादन प्रणाली का जन्म हुआ। विदेशी बाजार में बढ़ती माँग को पूरा करने के लिए पूँजीपति व्यापारियों ने घरेलू उत्पादन प्रणाली को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन दिया। पूँजीवाद का विकास उन देशों में पहले शुरू हुआ जो प्रशासनिक द ष्टि से अपेक्षाक त उदार थे।

सामन्ती और पूँजीवादी व्यवस्था में मौलिक अन्तर पाया जाता है। पूँजीपति अपनी सम्पत्ति को केवल जमा करके नहीं रखते या केवल उपभोग को या सिर्फ दिखाने के लिए इस्तेमाल नहीं करते बल्कि मुनाफा कमाने के लिए उसका निवेश करते हैं। वस्तुओं का उत्पादन उन्हें बाजारों में बेच कर मुनाफा कमाने के लिए किया जाता है। इस द ष्टि से यह व्यवस्था सामन्ती व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न है। सामन्ती व्यवस्था में वस्तुओं का उत्पादन स्थानीय इस्तेमाल के लिए होता था। मुनाफा कमाने के लिए सम्पत्ति का निवेश नहीं होता था। इस प्रकार सामन्तवादी व्यवस्था के अंतर्गत आर्थिक जीवन स्थिर था। दूसरी ओर पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था बड़े बाजारों के लिए अधिक-से-अधिक वस्तुएँ उत्पन्न करने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तेजी से आगे बढ़ रही थी, जिससे अधिक मुनाफा कमाया जा सके।

पूँजीवादी व्यवस्था के लक्षण अथवा विशेषताएँ

पूँजीवादी व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधन जैसे, पूँजी, भूमि आदि पर व्यक्तिगत अधिकार होता है। इस अर्थव्यवस्था में सामान्यतः सरकारी निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करती है तथा निजी सम्पत्ति के स्वामी ही इसका उपयोग तय करते हैं। परन्तु सरकारी गैर-कानूनी तरीके से प्राप्त सम्पत्ति पर रोक लगा सकती है। इस व्यवस्था में बचत को बढ़ावा मिलता है।

निजी सम्पत्ति के स्वामी स्वयं अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर सकता है। वस्तुतः निजी सम्पत्ति के अस्तित्व को निरंतर बनाए रखने के लिए उत्तराधिकार की व्यवस्था आवश्यक होती है। इससे पूँजी को स्थायित्व मिलता है।

इस व्यवस्था में व्यक्ति को व्यवसाय चुनने की पूरी स्वतंत्रता होती है। उत्पादन में भाग लेने वाले के रूप में व्यक्ति जिस तरह चाहे, जब चाहे और जहाँ चाहे वह आजीविका चला सकता है। श्रमिक के संदर्भ में उद्यम की स्वतंत्रता का अर्थ है व्यवसाय में काम-धंधा चुनने की स्वतंत्रता।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था लाभ के उद्देश्य से संचालित होता है। प्रत्येक उद्यमी अपने लाभ को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाना चाहता है। लाभ के उद्देश्य के बिना निजी व्यापार नहीं हो सकता और निजी व्यापार के बिना पूँजीवाद का अस्तित्व नहीं हो सकता।

उपभोक्ता की सार्वभौमिकता भी इस व्यवस्था की एक खास विशेषता मानी जाती है। लाभ उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में अधिक मिलता है जिन्हें उपभोक्ता अधिक पसंद करते हैं। इस प्रकार इस व्यवस्था में उपभोक्ता ही राजा की तरह होता है। वह बाजार में किसी वस्तु अथवा उस वस्तु के निर्माता के भाग्य का निर्णय करता है। इस प्रकार पूँजीवाद व्यवस्था में उद्यम की स्वतंत्रता, लाभ की प्रेरणा और उपभोक्ता की सार्वभौमिकता, तीनों परस्पर एक दूसरे से जुड़े रहते हैं।

प्रतिस्पर्धा भी इस व्यवस्था की एक खास विशेषता है। उपभोक्ताओं में स्पर्धा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए होती है; जबकि विक्रेताओं में स्पर्धा ग्राहक पकड़ने के लिए होती है; सारे विक्रेता एवं क्रेता मिलकर साधनों एवं वस्तुओं के भाव निर्धारित करते हैं। अकेला क्रेता और विक्रेता के कार्य कीमतों को प्रभावित नहीं कर सकते हैं। स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप उत्पादन में कार्यकुशलता भी आती है।

पूँजीवाद के विकास का इतिहास

पूँजीवाद के विकास के इतिहास को तीन भागों में बाँट कर देखा जा सकता है: प्रारंभिक पूँजीवाद (1200 ई. से 1750 ई.), पूर्ण पूँजीवाद (1750 से 1914 ई.) और आधुनिक पूँजीवाद जो 1914 में शुरू होता है और अब तक चल रहा है। यहाँ केवल प्रारंभिक वाणिकी पूँजीवाद के इतिहास का विवेचन किया जाएगा।

जैसा कि हम जानते हैं, सामन्ती समाज मुख्यतः क षि पर आधारित था। इस समाज में किसानों से उनके अधिशेष उत्पादन का अंश जबर्दस्ती लिया जाता था। यद्यपि सिक्के थे परंतु उनका प्रचलन सीमित था। किंतु बाद के काल में सिक्कों का प्रचलन बढ़ता गया। अब किसान भी बाजार के लिए उत्पादन करने लगा था। एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि किसानों तथा अन्य उत्पादकों अथवा स्वामियों के साथ उसके जो संबंध थे, वे सामाजिक प्रतिष्ठा या पद के अनुक्रम से नहीं बल्कि संविदा द्वारा निर्धारित होने लगे। फलतः वाणिज्य केन्द्रित व्यापारिक स्वरूप की झलक मिली। इसके अतिरिक्त समाज के एक बड़े वर्ग को अपनी श्रम-शक्ति बेचने के लिए बाध्य होना पड़ा।

सामन्तकाल में धन की कमी नहीं थी। सामन्तों और अमीरों के पास सोना-चाँदी काफी मात्रा में मौजूद था। परंतु उनका यह धन अनुपयोगी था। पर जैसे-जैसे व्यापार और उद्योग की प्रगति होती गयी वैसे-वैसे स्थिति बदलती गयी। इसी परिवर्तन के क्रम में सामन्ती व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था की ओर बढ़ती गई जिसमें धन का निवेश लाभ कमाने के लिए किया जाता है। इससे प्राप्त होने वाले लाभांशों को पुनः निवेशित करके और लाभ कमाया जाता है। इस प्रकार निवेशित किए जाने वाले धन को पूँजी कहा जाता है। पुराने तीनों वर्ग-पादरी, सामन्त तथा क षक एवं कामगारों के अतिरिक्त परवर्ती काल में एक नए मध्यम वर्ग का उदय हुआ। इस वर्ग के उदय का कारण इस काल में व्यापार में तेजी से हुई प्रगति था। जल्द ही सम्पत्तिशाली होने के कारण इस वर्ग का तत्कालीन समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया, यद्यपि इस वर्ग के लोगों की संख्या कम थी।

पन्दरहवीं शताब्दी के अन्त में हुई खोजों ने व्यापार का स्वरूप ही बदल दिया। इन परिवर्तनों के साथ ही वस्तुओं की उत्पादन प्रणाली में भी परिवर्तन आया। मध्य युग के आरंभ में क षक आमतौर पर अपनी आवश्यकताएँ स्थानीय स्तर पर निर्मित वस्तुओं से पूरा कर लेता था। जमींदारों एवं सम्पन्न वर्ग के लोगों की आवश्यकताओं की आपूर्ति विभिन्न शिल्पों में दक्ष क षिदासों द्वारा होती थी। ये शिल्पी संघों या श्रेणियों में संगठित होते थे। प्रत्येक श्रेणी में दक्ष कारीगर अथवा उस्ताद, नौसिखिए और वेतनभोगी कारीगर अथवा मिस्त्री होते थे। किसी भी शिल्प को सीखने के लिए व्यक्ति को उस श्रेणी (शिल्प के) के उस्ताद का चेला बनना पड़ता था। कारीगर सीख लेने के बाद या तो उसी उस्ताद के अधीन मिस्त्री हो जाता था और पारिश्रमिक पर काम करता था अथवा उस शिल्प का अच्छा ज्ञान होने पर स्वयं उस्ताद बन जाता था। परन्तु व्यापार में प्रगति के साथ वस्तुओं की माँग बढ़ गई जिसे अब श्रेणी प्रणाली द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता था। अतः धीरे-धीरे श्रेणी प्रणाली लुप्त होती गयी और उसका स्थान पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था ने ले लिया। हम जानते हैं कि श्रेणी प्रणाली के अन्तर्गत एक ही श्रेणी की इकाइयों के बीच अथवा एक ही इकाई के सदस्यों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता था तथा प्रतिस्पर्धा करने वालों को श्रेणी कार्य करने की अनुमति नहीं देती थी। प्रतिस्पर्धा के अभाव में कीमतें भी स्थिर रहती थी। किन्तु पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में ऐसा नहीं रहा। इस नई अर्थव्यवस्था में असमानताओं एवं प्रतिस्पर्धा का प्रवेश हो गया।

नई अर्थव्यवस्था के प्रारंभिक दौर में उत्पादन के गठन में घरेलू-उत्पादन प्रणाली का जन्म हुआ। इस प्रणाली के अन्तर्गत व्यापारी कारीगरों को कच्चा माल दे आते थे, जो अपने औजारों से घर पर ही उस माल से वस्तुएँ बनाते थे। वस्तुएँ तैयार

हो जाने पर व्यापारी आकर उन्हें ले जाता था। अब पहले की तरह कारीगरों को अपने माल को बेचने की स्वतंत्रता नहीं रह गयी। याद रखने योग्य बात है कि विदेशी बाजार में बढ़ती माँग को पूरा करने के लिए पूँजीपति व्यापारियों ने घरेलू उत्पादन प्रणाली को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन दिया था। शिल्पियों को यह स्पष्ट निर्देश दिए जाते थे कि उन्हें किस प्रकार का माल तैयार करना है। निःसंदेह इस प्रणाली में अनेक दोष थे, फिर भी अल्प-रोजगार वाले श्रमिक या उनके परिवार के सदस्य अपने सारे परिवार के गुजारे के लिए मजबूरी में इस प्रकार के अवसरों को स्वीकार कर लिया करते थे। दूसरी ओर, पूँजीपति व्यापारी की द ष्टि से इस प्रकार के प्रबन्ध में ज्यादा से ज्यादा लाभ था और खतरा कम से कम। बढ़ते हुए बाजार के युग में वह अल्प-रोजगार वाले ग्रामीण श्रमिक से लाभ उठा सकता था। इस प्रकार उक्त सभी तथ्यों ने पुरानी व्यवस्था को हटाने और 'पूँजीवादी दस्ताकारी' (Manufacture) के उदय में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

प्रारम्भिक अथवा वाणिकी पूँजीवाद का विकास उन देशों में पहले शुरू हुआ जो प्रशासनिक द ष्टि से अपेक्षाक त उदार थे। निरंकुश राज्यों से संबंधित छानबीन से यह स्पष्ट हो गया है कि राज्य जितना अधिक निरंकुश हुआ, उतना ही प्रभावशाली वर्गों के हितों का रक्षक बना। जिन देशों ने पूँजीवाद के विकास में नेत त्व प्रदान किया, वहाँ या तो निरंकुश राजतंत्र का विकास ही नहीं हुआ, जैसे, नीदरलैंड में; अथवा वहाँ के राजतंत्र का स्वरूप ऐसा था कि वहाँ यूरोप के अन्य भागों के समान कठोर नौकरशाही एवं सैनिकतंत्र का विकास नहीं हुआ जैसे, इंग्लैण्ड में। इंग्लैण्ड में क षि के क्षेत्र में पूँजीवादी संबंधों का आरंभ 16वीं शताब्दी से हुआ। मठों का विनाश तथा वाणिज्योन्मुख नवीन अभिजात वर्ग के आविर्भाव से इन संबंधों को और द ढ़ता मिली। नीदरलैंड में पूँजीवादी क षि, पट्टेधारी व्यवस्था का परिणाम थी। यहाँ संयुक्त प्रांतों द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने पर सामंती अधिकारों को समाप्त कर दिया गया और छोटी-छोटी जमीनों की संख्या बढ़ गई। इनमें से अधिकांश जमीनें धनाढ्य बुर्जुआ वर्ग के हाथों में आ गयी। वे इन जमीनों को अल्पकालीन पट्टों पर देते थे और इस बात पर भी जोर देते थे कि उनमें खेती करते समय उत्पादन के आधुनिकतम तरीकों का इस्तेमाल किया जाए। डच इंजीनियरों ने सिंचाई की उच्चस्तरीय तकनीकी का विकास किया। परिणामस्वरूप क षि उत्पादन में उल्लेखनीय व द्धि हुई। अधिक उत्पादन के कारण क षि-क्षेत्र का अधिकांश भाग मुद्रा अर्थव्यवस्था की परिधि में आ गया।

सोलहवीं शताब्दी के दौरान हम इंग्लैण्ड में पूँजीवादी बुर्जुआ वर्ग (व्यवसायी, व्यापारी तथा नागरिक कर्मचारी) का उदय पाते हैं। भूमि की बाड़ेबन्दी की प्रथा ने चर्च की सम्पत्ति के अधिग्रहण के साथ मिलकर विशाल जमीन-जायदादों में व द्धि की तथा भूपतियों और किसानों के बीच के संबंधों को ही बदल दिया। ब्रिटेन में ग्रामीण समाज जैसे-जैसे तीन स्तरों-जमींदार, लगान अदा करने वाले किसान तथा भूमिहीन क षक मजदूर में बंटता गया, वैसे-वैसे छोटे किसान खत्म होते गये। किंतु छोटे किसानों के लोप के लिए सिर्फ उनके खेतों की जमींदारों के द्वारा बेदखली को ही जिम्मेदार ठहराना अनुचित होगा। जायदादों के विक्रय ने भी देहाती इंग्लैण्ड में क षि संबंधी और सामाजिक ढांचे के बदलाव में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। धीरे-धीरे भूमि की बेदखली से एक-तिहाई क षक वर्ग का लोप हो गया। इस संदर्भ में भूमि की खरीद का भी ध्यान रखना चाहिए। मूल्यों में व द्धि, बाजार की स्थिति आदि कारणों से कुछ वर्ग के लोग भूमि खरीदने की अपेक्षा बेचने को विवश हुए। फलतः भूमि के अच्छे-खासे हिस्से को प्राप्त करने वाले कुछ किसानों को अस्तित्व के कारण उच्च वर्ग की संख्या में व द्धि हुई। कुल मिलाकर इंग्लैण्ड में पूँजीवाद के उदय में नगरों में मंडियों के विकास, अन्तःक्षेत्रीय और विदेशी व्यापार, मौद्रिक अर्थव्यवस्था का उदय, ऊन उद्योग का विस्तार, विस्त त घरेलू बाजार का विकास आदि के साथ-साथ विकसित एवं गतिशील देहाती समाज ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई।

इस बात को लेकर कि यूरोपीय समाज सामंतवाद से पूँजीवाद की ओर कैसे बढ़ा, आज भी विद्वानों के बीच मतभेद है। इस पर **पाल स्वीजी, ताकाशाही, राडनी हिल्टन, क्रिस्टोफर हिल, पेरी एंडरसन, गाई बुआ, मॉरिस डॉल** आदि विद्वानों ने गहन शोध किए। अनेक आधुनिक अर्थशास्त्री **हेनरी पिरेन** के इस मत को मानने से इन्कार करते हैं कि पूँजीवाद के उदय में व्यापारिक पूँजीपति अथवा मध्यकालीन स्वशासित शहरों ने निर्णायक भूमिका अदा की। उनके अनुसार यह कहना भी अप्रासंगिक है कि सामंती अर्थव्यवस्था में सिक्के का उपयोग न किया गया हो। एक आधुनिक मत यह है कि उत्तर मध्यकालीन व्यापार ने एक सीमा तक ही सामंती उत्पादन पद्धति का विघटन किया। वस्तुतः आन्तरिक सामाजिक परिवर्तन के अभाव में विदेशी व्यापार नई व्यवस्था को जन्म नहीं दे सकता था। हमें ज्ञात है कि इंग्लैण्ड और नीदरलैण्ड जैसे देशों में पूँजीवाद का आरंभ पहले हुआ तो उसका कारण यह था कि वहाँ आन्तरिक सामाजिक परिवर्तनों ने व्यापार और औपनिवेशिक विस्तार की भूमिका को अर्थव्यवस्था में स्वीकार करने के लिए पहले ही प ष्ठभूमि तैयार कर दी थी। इसके विपरीत सामाजिक परिवर्तन के अभाव में

विदेशी व्यापार ने पहले के समान ही परम्परागत उत्पादन संबंधों को द ढ़ किया। इसके चलते स्पेन में आर्थिक सम्पन्नता के बावजूद पूँजीवाद का विकास उस समय न हो पाया।

यूरोप में पूँजीवाद के उदय के कारण

आधुनिक पूँजीवाद मूलतः विभिन्न खनिज एवं क षि उद्योगों पर आधारित है। जिस समय पूँजीवाद व्यवस्था का जन्म हुआ, संभवतः उस समय इसके जन्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण लोहे का अधिक उत्पादन था। ऐसा इसलिए कि लोहा, क षि और उद्योग दोनों के लिए सबसे आवश्यक धातु है। अन्य दूसरे खनिज जैसे सोना, चाँदी, तांबा, जस्ता, टीन आदि का भी उत्पादन बढ़ने लगा और उनकी खुदाई की विधियों में महत्त्वपूर्ण सुधार हुए। अमेरिका की खानों से प्रचुर मात्रा में सोना और चाँदी यूरोप में आया। अधिक मात्रा में इन धातुओं के संग्रह ने सिक्कों के प्रयोग को बढ़ा दिया, जिससे अधिक धन जमा करना आसान हो गया। विनिमय के स्थान पर सिक्कों के प्रयोग को बढ़ावा मिला। इससे अधिक धन जमा करना आसान हो गया। इस धन ने औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित किया। औद्योगिक विकास के लिए अन्य आवश्यक साधनों का होना भी जरूरी होता है केवल धन का नहीं। यही कारण है कि 16वीं शताब्दी में अत्यन्त सम द्ध होने के बावजूद उद्योग के क्षेत्र में स्पेन का विशेष विकास नहीं हुआ।

पूँजीवाद के उदय का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण जल परिवहन में सुधार एवं नए देशों की खोज भी था। कम्पास, पाल और इसी तरह के दूसरे यंत्रों की सहायता से अब नाविकों को दूर-दूर तक सुरक्षित यात्रा करना आसान हो गया। 15वीं एवं 16वीं शताब्दियों में यूरोप के नाविकों ने अनेक नए महादेश, देश तथा एशिया के लिए नए समुद्री मार्ग को खोज निकाला। जल परिवहन में हुए सुधार और नए देशों की खोज के परिणामस्वरूप यूरोप के देशों ने नये-नये उपनिवेश स्थापित किए, जिससे व्यापार का समुचित विकास हुआ और बड़ी मात्रा में पूँजी संचित हुई।

उन्नत उपकरणों के निर्माण ने भी पूँजीवाद को जन्म दिया। जैसे-जैसे शिल्पियों द्वारा उन्नत उपकरण इस्तेमाल में लाए जाने लगे वैसे-वैसे उत्पादन बढ़ा और वस्तुओं का स्तर भी ऊपर उठा। उन्नत उपकरणों के निर्माण में प्रतिद्वंद्विता की भूमिका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। यूरोप में उन्नत उपकरणों के निर्माण में तेजी आयी और यूरोपीय देशों के बीच इसके लिए प्रतिद्वंद्विता शुरू हुई। जो कम लागत पर बेहतर सामान बनाने की कोशिश करता था वही इस प्रतिद्वंद्विता में टिक सकता था। यही कारण है कि पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली हमेशा उत्पादन साधनों में महत्त्वपूर्ण सुधारों और उत्पादन प्रविधियों में व्यापक परिवर्तन के साथ जुड़ी रही है।

सामन्ती यूरोप में उद्योगों के संगठनात्मक स्वरूप ऐसे नहीं थे कि वे आविष्कारों या सुधारों को प्रोत्साहित करते। इस काल में यूरोप में शिल्प संघों अथवा श्रेणियों का बोलबाला था। श्रेणियाँ इस डर से प्रतिनिधियों या श्रम संगठनों के सुधारों में बाधाएँ खड़ी करती थी कि कहीं उनके कारण कोई श्रेणी सदस्य दूसरे से अधिक धनी न हो जाए। किंतु सामन्तवाद के पतन काल में धीरे-धीरे श्रेणी प्रणाली में काफी व द्धि इस बात की सूचक थी कि उत्पादन क्रियाओं का कई अलग-अलग कार्यों अथवा प्रक्रियाओं में विभाजन होने लगा था, जैसे, फ्लोरेंस के वस्त्र-उद्योग में बुनकरों, सूत कातने वाले, रंगसाजों की अलग-अलग श्रेणियाँ कमजोर हुई और अब श्रेणियाँ व्यापारियों पर अधिक निर्भर रहने लगी।

पहले सम द्ध व्यापारी प्रायः एक या अधिक श्रेणियों से थोक में माल खरीदते थे और तब उनको बेचने की व्यवस्था बाजारों में करते थे। किंतु धीरे-धीरे उन्होंने कच्चे माल और फिर श्रम-साधनों के प्रदाय को भी अपने हाथों में लेना शुरू कर दिया। इस प्रकार श्रेणी सदस्य व्यापारियों से अधिकाधिक आक्रांत होते चले गए। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यापारी दस्तकारों को कम पारिश्रमिक देते थे और उन्हें दिया जाने वाला कच्चा माल, औजारों और अन्य सुविधाओं के लिए उनसे भारी ब्याज लेते थे। बाद में उनके द्वारा तैयार की गयी वस्तुओं को अधिक से अधिक कीमत पर बेचते थे। इस प्रकार कारीगरों ने अपने को व्यापारियों पर निर्भर पाया। विशेषकर जब व्यापारियों ने मौके पर ही उत्पादन की देख-रेख करना भी शुरू कर दिया, तब तो वह निर्भरता और बढ़ गई। पूँजीपति द्वारा उत्पादन के अधीक्षण में भाग लेने तथा उत्पादन में निहित सभी कार्यों को अपने प्रत्यक्ष अधीक्षण के नीचे किसी निश्चित स्थान पर केन्द्रित कर लेने के फलस्वरूप विनिर्माणशाला (Manufactory) का उदय हुआ। विनिर्माणशाला पूँजीवादी उत्पादन की एक प्रारंभिक संस्था थी जो 15वीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप में काफी व्यापक और लोकप्रिय हो गयी। इन तमाम बातों ने व्यापारी वर्ग को अधिक शक्तिशाली बनाकर पूँजीवाद की आधारशिला रखी।

पूँजीवाद के जन्म तथा विकास में आधुनिक बैंकिंग-प्रणाली, संयुक्त पूँजी कम्पनी और बीमा-प्रणाली का योगदान भी महत्त्वपूर्ण रहा है। 15वीं-16वीं शताब्दियों में व्यवसाय का परिमाण बढ़ जाने के कारण व्यवसाय पद्धतियों में सुधार आवश्यक था। अतः अधिक संख्या में अच्छे बैंक खोले गए। उन दिनों लेन-देन का अधिकांश भाग न तो सिक्कों द्वारा और न ही कागजी मुद्रा द्वारा बल्कि बैंको के कारण संभव हुआ। यद्यपि बैंकिंग-प्रणाली का जन्म मध्यकाल में ही हो गया था, किंतु पूँजी-तंत्र में बैंक एक बड़ा व्यवसाय बन गया। 15वीं शताब्दी में फ्लोरेंस के मेडिस परिवार ने पहली महान बैंकिंग-प्रणाली की स्थापना की। शीघ्र ही यूरोप के मुख्य व्यावसायिक केन्द्रों में इस बैंक की शाखाएँ खुल गई। 16वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड, हालैंड, स्पेन, आस्ट्रेलिया तथा स्वीडेन में भी बैंकिंग संस्थाएँ स्थापित हो गयी। बैंक अपने पास जमा धन को उन व्यवसायियों को उधार देकर जिन्हें धन की आवश्यकता थी, पूँजीवाद को आगे बढ़ाने में काफी सहायक सिद्ध हुई है। इसके अलावा बैंकों के अधिक व्यापक और विकसित हो जाने के कारण बैंकों ने विदेशों में व्यापारियों के बिलों का भुगतान अच्छे और सुविधाजनक तरीके से करने में सहायता प्रदान की इस तरह संगठित एवं विकसित बैंकिंग-प्रणाली ने पूँजीवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

बैंक की तरह बीमा-प्रणाली ने भी पूँजीवादी व्यवस्था को आगे बढ़ाने में सहयेाग दिया। जोखिम को कम करके बीमा-प्रणाली ने प्रारंभिक पूँजीतंत्र का पोषण किया। पहले यदि किसी व्यवसायी का कोई बड़ा जहाज जिन पर माल लदे होते थे, मार्ग में नष्ट हो जाता था तो इससे उसे भारी क्षति होती थी। किंतु बीमा-योजना के बाद ऐसा होने पर बीमा कम्पनी उसकी क्षतिपूर्ति करती थी। बीमा कराने वाला व्यवसायी बीमा कम्पनी को एक निश्चित राशि प्रीमियम के रूप में देता था। सुरक्षा की इस व्यवस्था ने भी पूँजीवाद को आगे बढ़ाया।

वणिक (प्रारंभिक) पूँजीवादी व्यवस्था में व्यवसायी व्यक्तिगत रूप से व्यवसाय चलाता था। अतः उसे कम लाभ मिलता था। अतः व्यापारी ज्यादा मुनाफा कमाने के तरीके ढूँढ़ने लगे। ऐसा वे तभी कर पाते जब एक साथ मिलकर वे अधिक पूँजी लगाते और इसके लिए संयुक्त पूँजी कम्पनियाँ स्थापित करते। इसलिए उन्होंने संयुक्त पूँजी कम्पनियाँ खोलीं, जिन्होंने उन्हें हजारों लोगों की बचतों को एकत्र करने की क्षमता दे दी। प्रत्येक व्यवसायी को जो ऐसी कम्पनियों में पूँजी लगाता था, उन्हें अपनी पूँजी के अनुरूप शेयर दिए जाते थे और जितने शेयर्स के वे मालिक होते थे, उनकी संख्या के अनुपात में उन्हें लाभांश प्राप्त होता था। शेयर होल्डर्स कम्पनी का प्रबंध थोड़े लोगों के प्रबंध मंडली पर छोड़ देते थे, जिसके सदस्यों का चुनाव वे खुद करते थे। इंग्लैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी इसी प्रकार की एक संयुक्त पूँजी कम्पनी थी, जिसकी स्थापना 1600 ई० में की गई थी। शेयर होल्डर्स अपने शेयरों की खरीद-बिक्री कर सकते थे। संयुक्त पूँजी कम्पनी सबसे पहले 15वीं शताब्दी में जर्मनी और इटली में स्थापित की गई। 16वीं शताब्दी में ऐसी कम्पनियाँ हालैंड और इंग्लैण्ड में काफी लोकप्रिय हो गयी थी। प्रारंभ में इन कम्पनियों का संगठन बहुत अच्छा नहीं था, पर धीरे-धीरे स्थिति में परिवर्तन आया और इनका स्थायित्व, कार्यक्षमता और योग्यता बढ़ती चली गयी। इंग्लैण्ड के शासकों ने ऐसी कम्पनियों को एक निश्चित समय के लिए चार्टर देना शुरू किया। विशेष परिस्थितियों में इन कम्पनियों को अपने व्यापारिक हितों की सुरक्षा के लिए शक्ति प्रयोग की अनुमति भी दी गयी।

संयुक्त पूँजी कम्पनियों का उदय एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसके अन्तर्गत व्यापारियों को कुछ खास क्षेत्रों में व्यापार करने का एकाधिकार दिया जाता था। इससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि उन्होंने बड़ी संख्या में लोगों की बचत का फायदा उठाया और बड़े व्यवसाय की स्थापना ने वणिक पूँजीवाद के विकास का एक सुगम मार्ग तैयार किया।

पूँजीवाद के विकास में नए औद्योगिक पूँजीपति के विभिन्न वर्गों की भूमिका भी काफी महत्त्वपूर्ण थी। औद्योगिक पूँजीपतियों के अनेक वर्ग उभर कर सामने आए थे। इनमें से कुछ पहले के खाते-पीते किसान थे; कुछ खानदानी जमींदार थे; कुछ ने वाणिज्य में धन अर्जित कर लिया था और कुछ ऐसे श्रमिक भी थे जिन्होंने अपनी योग्यता, परिश्रम और तकदीर से काफी पैसा बना लिया था। औद्योगिक पूँजीपतियों के लिए उन वाणिज्यवादी सिद्धान्तों तथा प्रतिबंधों का कोई महत्त्व नहीं था जो 17वीं-18वीं सदी के राजनीतिज्ञों द्वारा मान्य थे। वाणिज्यवादियों ने कानूनों द्वारा व्यापार का प्रतिबंध तथा उद्योगों पर नियंत्रण लगाए थे। उद्योगपति कारोबार में इस प्रकार की दखलअंदाजी को नापसंद करते थे। उनकी मान्यता थी कि सम द्धि को बढ़ावा देने के लिए सरकार को पूँजीपतियों को इच्छानुसार कारोबार करने देना चाहिए और उन्हें विनिर्माण के नए तरीके अपनाने, जहाँ से हो सस्ता माल खरीदने, मजदूरी जुटाने और अधिकतम लाभ के लिए अपनी मर्जी से चाहे जहाँ माल बेचने की छूट देनी चाहिए।

इन नए पूँजीपति वर्गों को राजनैतिक अर्थशास्त्रियों का समर्थन भी मिला जिससे पूँजीवाद को बढ़ावा मिला। फ्रांस के **फिजियोक्रेट्स** (शरीरशास्त्रवादी) इस द ष्टि से बड़े ही महत्त्वपूर्ण थे। लुई पंद्रहवें का दरबारी क्वेस्ने (जो एक चिकित्सक था) ने ऐसी कल्पना की कि मानव शरीर में जिस प्रकार रक्त-संचरण होता है, उसी प्रकार राष्ट्र रूपी शरीर में सम्पदा का संचरण होता है। अतः इसे कुछ प्राक तिक नियमों के अनुसार ही होना चाहिए। इनका अध्ययन ठीक उसी तरह हो सकता है जैसे शरीरशास्त्र और चिकित्सा के नियमों का होता है। निजी सम्पत्ति तथा आर्थिक स्वतंत्रता के अधिकारों में किसी तरह का हस्तक्षेप उन प्राक तिक-नियमों के विपरीत था, जिन्हें खोज लेने का दावा फिजियोक्रेट्स करते थे। यह नया सिद्धान्त इस फ्रांसीसी मुहावरे में सूत्रबद्ध हो गया, 'लेसे पसार एत लेसे पसार'-अर्थात् 'चीजों को होने दो, लोगों को अपनी इच्छा से करने दो'।

इंग्लैण्ड में इस नई विचारधारा को **एडम स्मिथ** ने लाया। फ्रांस के एक दौरे के क्रम में उसका सम्पर्क वहाँ के फिजियोक्रेट्स और उनके विचारों से हुआ था। लौटने के बाद उसने 'राष्ट्रों की सम्पत्ति के स्वरूप तथा कारणों की छानबीन' नामक एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में एडम स्मिथ ने फिजियोक्रेट्स के सिद्धान्तों में कुछ संशोधन किया और कुछ नए सिद्धान्तों को जोड़ा। उसने जोर देकर कहा कि उद्यमियों को स्वतंत्रता देने तथा मुक्त व्यापार की स्थापना के जरिए सम द्धों को ज्यादा से ज्यादा प्रोत्साहन दिया जा सकता है। व्यापार उद्योग पर प्रतिबन्ध लगाने वाले कानून राष्ट्र को सम द्ध बनाने की जगह पर सम्पदा के उत्पादन में रोड़े ही अटकाते हैं। अनाज तथा अन्य खाद्य पदार्थों पर सीमाशुल्क लगाना गलत है। वाणिज्यवाद को समाप्त कर देना चाहिए इत्यादि। बाद में एडम स्मिथ के रास्ते पर चलते हुए माल्थस तथा रिकार्डो आदि ने भी उद्योग-व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप की कटु आलोचना की।

उल्लेखित कारणों से वाणिज्यवाद कमजोर पड़ गया और यूरोप में आर्थिक स्वतंत्रता का नया युग प्रारंभ हुआ। यह नया युग पूँजीवाद का था।

पूँजीवाद के प्रभाव

पूँजीवाद ने न केवल विश्व की अर्थव्यवस्था बल्कि समाज और शासन को भी गहरे रूप से प्रभावित किया। इसके प्रभाव सुविस्त त, व्यापक और स्थायी साबित हुए। संक्षेप में पूँजीवाद के प्रभावों को इस तरह से देखा जा सकता हैः

पूँजीवाद के अभ्युदय का प्रभाव यूरोप के लोगों की परम्परागत सामाजिक व्यवस्थाओं पर अनिवार्य रूप से पड़ा। 1500 ई० से पहले भी मध्यकालीन सामाजिक संरचना में परिवर्तन का दौर शुरू हो चुका था। पर 16वीं सदी के प्रारंभ तक इसकी गति धीमी थी। किंतु इस शताब्दी के अंतिम दशकों में होनेवाले परिवर्तन क्रान्तिकारी कहे जा सकते हैं। लगभग हर राज्य या क्षेत्र में, नगरों में, समाज, उच्च या बुर्जुआ वर्ग तथा निम्न या मेहनतकश वर्ग में खंडित होने लगा था या हो चुका था। घूम-घूम कर काम करने वालों को मध्ययुगों के नगर की प्रशासनिक संस्थाओं में मताधिकार हुआ करता था, प्रशासन-संचालन में उनका कारगर हाथ होता था। अब यह सब उनसे छिन गया। "नये कारपोरेशन" में नवोदित वैभवशाली लोगों के गुट के हाथ सारी सत्ता सिमट गयी थी। श्रमजीवी वर्ग झुग्गी-झोपड़ियों में रहता था। सौदागर तथा वैभवशाली लोगों के भव्य तथा पक्के मकान होते थे। ब्रिटेन में इन्हें "भद्रलोक" कहा जाता था। हालैंड में यही लोग देश का शासन चलाते थे। फ्रांस में ये अपने को भद्रजन (honnetes hommes) कहते थे, उनकी समाधियों पर लिखा होता था-"इन्होंने भव्य जिन्दगी बितायी।"

मध्यकालीन क षि प्रणाली और मेनोरियल व्यवस्था पर भी पूँजीवाद का प्रभाव पड़ा। अपनी जागीरों को अधिक लाभकर बनाने के उद्देश्य से अधिकतर जमींदार नगरों में रहने लगे तथा वाणिज्य-व्यापार आदि या अन्य कार्यों में अपना अधिकांश समय बिताने लगे। अपने रैयतों से उन्हें जो सेवाएँ या सामग्रियाँ आदि मिलती थी उनके बदले नगदी मालगुजारी निर्धारित कर दी गयी। अपनी जागीरों की देखभाल तथा रैयतों से निपटने के लिए वेतनभोगी अधिकारी या कारिन्दे नियुक्त कर दिये गये। इन्हें रैयतों तथा जमींदारों से अधिकाधिक आय संचित करने के आदेश दिये जाते थे। यह व्यवस्था किसानों के लिए प्रायः ही प्रतिकूल होती थी। अनेक क षकों को भूमिहीन खेत मजदूर बनकर मालिकों पर आश्रित रहने को बाध्य होना पड़ता था। जागीरदार स्वयं उनसे दूर शहरों में रहता था। अतः उसके अगले लोगों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं यह देखने का मौका नहीं मिलता था। पूँजीवाद के उदय की एक देन थी खेत खलिहानों की घेराबन्दी। इनका एक मात्र उद्देश्य होता था कारखानों में काम आने वाली वस्तुओं का अधिकाधिक उत्पादन।

उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन के अभ्युदय का एक दूसरा परिणाम था। मध्यकालीन गिल्ड प्रणाली पहले से ही दुर्बल पड़ रही थी। इस नये दानव के संघात ने उसे लगभग समाप्त ही कर दिया। नया दौर था संसार भर में कच्चा माल मुहैय्या करने तथा देश-देशान्तर के बाजार के लिए माल तैयार करने का, जबकि गिल्ड प्रणाली में स्थानीय साज-सामान में स्थानीय लोगों की जरूरतों की आपूर्ति की जाती थी। अतः नयी प्रतियोगिता में उनका पराभव और अवसान अवश्यम्भावी था। गिल्ड-व्यवस्था से अलग उत्पादन और वितरण की एक नयी प्रणाली शुरू हो रही थी। इसमें वैभवशाली विचौलिया कच्चा माल खरीदकर कारीगरों को बाँट देता, अपने-अपने घर में कारीगर सामान तैयार करते, उन्हें मजदूरी चुका कर वह तैयार माल एकत्र कर लेता तथा उसे बाजार में ले जाकर बेचता। इसे घरेलू या कुटीर-उद्योग (Cottage Industry) का नाम दिया गया। इसके अन्तर्गत बिचौलिया (चाहे तो उसे व्यवस्थापक भी कह लीजिए) अपेक्षातर काफी विस्त त क्षेत्र में औद्योगिक माल तैयार करने का काम फैला सकता था। खेत-मजदूरों की पत्नियाँ, पहले के कम्मी मजदूर जिनकी दासता की कड़ियाँ टूटने के साथ-साथ जमीन भी छीन ली गयी थी तथा इसी तरह के दूसरे लोग सस्ती दर पर उसका काम करते थे। एक ही कारखाने में कुशल कारीगरों से काम कराने की बाध्यता उसे नहीं थी। उसके पास काफी पैसे होते थे। इसके बल पर वह अधिक अच्छी शर्तों पर खरीद-बिक्री कर सकता था। इन सबके फलस्वरूप गिल्ड-प्रणाली से उत्पादन करने वाले उसकी प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकते थे। किन्तु यह उत्पादन प्रणाली कार्मिकों के लिए हितकर नहीं था। वैसे उन्हें रोजी तो मिल जाती थी लेकिन अपेक्षातर कम मजदूरी पर। धनी और गरीब-"पूँजीपति और मजदूर" के बीच की दूरी इससे और भी बढ़ती थी। इस प्रणाली में मालिक तथा मजदूरी के बीच गिल्ड-प्रणाली जैसे आत्मीयता का संबंध नहीं रह सकता था। उनका संबंध अब मात्र पैसों का था।

घरेलू या कुटीर उत्पादन प्रणाली पश्चिमी यूरोप के देशों में कपड़ा तथा लोहा उद्योग के क्षेत्रों में काफी अर्से तक कारगर ढंग से चलती रही। अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में कारखानेदारी प्रथा के प्रचलन होने पर इसका अन्त हुआ। उत्पादन की यह प्रणाली साफ तौर से पूँजीवादी कही जा सकती है। इस प्रणाली में कर्मकारों की स्थिति उत्पादन-प्रक्रिया के मात्र एक उपकरण से भिन्न न थी। उन्हें मालिकों के इच्छानुसार तथा उनकी जरूरत के मुताबिक ही काम करना होता था। उन्हें जो काम दिया जाता था उससे ज्यादा कुछ जानने की या सीखने की जरूरत उन्हें नहीं थी। खेती तथा कुटीर उद्योग उनकी रोजी के साधन थे। ऐसे मजदूरों की संख्या में बराबर व द्धि हो रही थी। जहाँ और जब भी मजदूरों की जरूरत होती ये लोग उपलब्ध रहते। वैसे इनकी हालत बहुत संतोषजनक नहीं कही जा सकती। काम मिला तो ठीक अन्यथा उधार भिखमंगी के अलावा कोई चारा शायद ही बचता था। प्रणाली के दूसरे छोर पर वह व्यक्ति होता था जो इस सारी व्यवस्था को संचालित करता था। कर्मकारों के साथ उसका व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं होता था। वह अपने देश या अन्य देशों में कितना माल बेच सकेगा इसका अनुमान करता था। तदन्तर कुछ कर्मकारों को एक काम करने, कुछ को दूसरा काम करने के लिए उन्हें आवश्यक साज सामान देकर काम में लगाता था। उत्पादन के विभिन्न चरणों के लिए अलग-अलग कार्मिक दल नियुक्त करता था। हर कर्मकार या कारीगर को नगद मजदूरी देता था। कर्मकारों को दिये जाने वाले कच्चे माल अथवा साज-सामान, औजार-उपकरण आदि पर उसका स्वत्वाधिकार रहता था। इस सम्पूर्ण व्यवसाय, उत्पादन की सभी प्रक्रियाओं तथा चरणों का संयोजन वह स्वयं करता था। जाहिर है कि परम्परागत गिल्ड-प्रणाली की तुलना में उत्पादन की इस प्रणाली में कहीं ज्यादा बड़े पैमाने पर माल तैयार करने तथा क्रय-विक्रय की सुविधा थी। अक्सर कई गिल्ड मास्टर भी इन व्यवसायियों के अंतर्गत ठेकेदार बन जाते थे। ऐसा होने पर उनकी स्थिति अन्य वेतनभोगी कार्मिकों से अधिक भिन्न नहीं रह जाती थी। इधर इस नयी प्रणाली के व्यावसायिक अपना कारोबार बढ़ाते हुए वाणिज्य जगत में राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति हासिल कर लेते थे।

कुछ नये उद्योग-धंधे भी शुरू हो गये थे। गिल्ड-प्रणाली की क्षमता इतनी सीमित होती थी कि इसमें ये नये उद्योग-धंधे नहीं चलाये जा सकते थे। खनिज-उद्योग, मुद्रण तथा पुस्तक व्यवसाय, जहाजों का निर्माण आदि ऐसे ही उद्योग थे। यूरोप के लोगों में पुस्तकें खरीदने की रूचि थी। पुस्तकों का मुद्रण, प्रकाशन तथा क्रय-विक्रय के लिए बड़ी पूँजी की जरूरत होती थी। गिल्ड या छोटी पूँजीवाला व्यवसायी उतनी पूँजी मुहैय्या नहीं कर सकता था। उन दिनों किताबें अधिकतर लैटिन भाषा में होती थी। उनका बाजार यूरोप के सभी देशों में होता था। छापाखाना के व्यवसाय के लिए टाइप फाउण्डरी, कागज की आपूर्ति तथा अन्य अनेक तरह के उपकरणों की जरूरत होती थी। ये एक जगह या क्षेत्र में मिलती भी नहीं थी। इसके अतिरिक्त मुद्रण के उपरान्त किताबें काफी अरसे तक गोदामों में पड़ी रह सकती थी। इन सब कारणों से छापाखाना तथा प्रकाशन का व्यवसाय आरंभ से ही पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली का मुँहताज रहा।

पश्चिम यूरोप के तटवर्ती इलाकों में छोटे-बड़े जलयान या जहाज का निर्माण बहुत काल से होता आया था। लेकिन महासमुद्रीय मार्गों पर जहाजरानी प्रचलित होने पर इस उद्योग की कायापलट हो गयी। अब यह एक सर्वथा नया उद्योग के रूप में उभर रहा था। बंदूक, तोप एवं उनके उपकरणों का निर्माण एक अन्य नया उद्योग था। इन शास्त्राशस्त्रों की खरीददारी राजाओं द्वारा ही होती थी। नये जमाने के दौर में राष्ट्रीय राज्यों का उद्‌भव हो रहा था। दूरदराज के क्षेत्रों में औपनिवेशिक प्रसार का नया दौर भी शुरू हो गया था। अतः नवीनतम शस्त्राशस्त्रों की माँग में भारी व द्धि हुई। वैसे पूंजीवाद के अभ्युदय में, जिसका एक अनिवार्य प्रतिफल था कच्चा माल, सस्ता श्रम तथा बाजारों के लिए प्राणान्तक होड़ सामरिक शक्ति और क्षमता में व द्धि की होड़ भी अन्तर्निहित थी। सैनिकों के लिए नये शस्त्राशस्त्र, वर्दियाँ तथा सैकड़ों अन्य सामरिक उपादानों की माँग बढ़ रही थी। इनके अतिरिक्त उनके रहने के लिए बैरक तथा किलाबन्दियों के निर्माण का सिलसिला भी शुरू हुआ। इनकी माँग काफी बड़े पैमाने पर हुआ करती थी। बड़े पैमाने पर उत्पादन के अवसर का यह सबसे पहला क्षेत्र था। जिन राज्यों में सरकारें इस उत्पादन के लिए पहल नहीं करती उन राज्यों में एक या अधिक पूँजीपति बिचौलियों के रूप में सामरिक उपकरणों के निर्माण में चले आते।

पूर्वी एशिया को जाने वाले नये समुद्री मार्ग तथा अमेरिकी महादेशों की खोज के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिमाण में भारी व द्धि हुई। ऐश-विलास की सामग्रियों के अतिरिक्त चावल, चीनी, चाय तथा अन्य सामग्रियों के आयात-निर्यात में व द्धि हुई। नये बाजारों के लिए माल मुहैय्या कराने के सिलसिले में परम्परागत व्यापारिकग कार्य-कलापों का स्वरूप बदल दिया। अब स्पेन को खाद्यान्नों की आपूर्ति सिसली से हो रही थी, नीदरलैंड को पोलैंड से, फ्रांस के मदिरा-उत्पादक क्षेत्रों की खाद्यान्न आवश्यकताओं की आपूर्ति उसके उत्तरी क षि क्षेत्रों से होती थी। जहाजरानी तथा उससे सम्बद्ध कार्यकलापों में अच्छी खासी व द्धि हुई थी, अन्तर महादेशीय व्यापार के लिए नये ढंग के जहाजों का निर्माण होने लगा था। इन सबके परिणामस्वरूप लकड़ी, अलकतरा आदि की माँग बढ़ी। इनके असीमित भंडार रूस तथा बाल्टिक तटवर्ती क्षेत्रों में अछूते पड़े हुए थे। अब इन क्षेत्रों से साज-सामानों की आपूर्ति होने लगी। फलतः ये क्षेत्र भी व्यापारिक रंगमंच पर आ गये। पहले दूरदराज से व्यापार कीमती तथा छोटे-मोटे सामग्रियों तक सामान्यतः सीमित रहा करता था। अब यह सिलसिला ही बदल गया था। भारी तथा अधिक जगह घेरने वाले साज-सामानों का आयात-निर्यात तथा परिवहन बढ़ रहा था। यह काम भारी पूँजीवाले लोग ही कर सकते थे।

किंतु, पूँजी केवल न्यस्त (invest) ही नहीं की जाती थी। काफी अल्पकालीन कर्ज के रूप में भी दी जाती थी। इस तरह के कर्ज लेने वालों में, धार्मिक संस्थान, राज्यों-रजवाड़ों के अधिपति, सरदार-सामन्त आदि अधिकतर होते थे। कर्ज लेनेवालों में कुछ व्यापार तथा व्यवसाय में लगे हुए लोग भी होते थे। यद्यपि सोलहवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में इनकी संख्या अधिक नहीं थी। कर्ज देनेवाले चाहे वे पेशेवर महाजन (बैंकर) हो या अन्य लोग, दी हुई धनराशि से अधिक बड़ी राशि अर्थात् ब्याज सहित मूलधन वापसी में चाहते थे। कभी-कभी ब्याज की दर सालाना तीस प्रतिशत तक होती थी। वैसे मध्ययुगों में धार्मिक भावना के कारण सूदखोरी वर्जित थी। लेकिन जमाने की रफ्तार के साथ ब्याज का स्वरूप बदला। इसकी दर में कमी आयी। कर्ज राजाओं, सामन्तों, धर्माधिकारों तथा अन्य लोगों के ऐश-विलास, आपसी झगड़े निपटाने या ऐसे ही काम के लिए कम उत्पादक तथा उपयोगी कार्यों में लगाने के लिए अधिक लिये जाने लगे। फलतः ब्याज पर धन देना, कर्ज या पूँजी लगाने के प्रति सामाजिक दुर्भावना धीरे-धीरे कम हो गयी। ब्याज नवोदित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का एक मान्य तथा स्वीक त उपकरण बन गया। ब्याज केवल कर्ज लेन-देन का ही एक उपादान नहीं था। बैंकों में लोग अपना अतिरिक्त धन केवल सुरक्षा के लिए नहीं, ब्याज अर्जित करने के लिए भी जमा करने लगे। सत्तरहवीं सदी में हालैंड के ऐम्सटर्डम बैंके में काफी कम ब्याज पर यूरोप के प्रायः हर देश के लोग धन जमा करते थे। बैंक इस संचित धनराशि को वैसे ही कम ब्याज दर पर व्यावसायिक कार्यकलापों के लिए वित्त प्रदान करता था।

इन सबके परिणामस्वरूप "उद्योग-धंधों का वाणिज्यीकरण" (Commercialisation of Industry) होता जा रहा था। अब पहले का गिल्ड मास्टर शिल्पी या कारीगर नहीं वरन् सौदागर, उद्योग-धंधों का नियामक बन गया था। औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रियाएँ अभी भी हस्तशिल्प के चरण में ही थी। फलतः क्रेता-विक्रेता उन पर हावी थे। वास्तविक उत्पादक-बुनकर, रंगसाज, लौहार, बढ़ई तथा ऐसे दूसरे कारीगर-शिल्पी-सौदागरों की माँग की आपूर्ति करने के लिए काम करते थे। अक्सर कच्चा माल, औजार तथा अन्य आवश्यक साज-सामान या उन्हें खरीदने के लिए पूँजी भी उन्हें सौदागर ही देते थे। इस प्रकार सामान कहाँ और कैसे बिकेगा यह जानने वाला सामान कैसे बनाया जा सकता है इसकी जानकारी रखने वाले पर हावी हो रहा था। 1800 ई० तक यूरोप में पूँजीवाद का स्वरूप वाणिज्यिक पूँजीवाद (Commercial Capitalism) ही था।

पूँजीवाद के विकास के साथ पूँजी की अधिक आवश्यकता विनियोग के लिए महसूस की जाने लगी। इस आवश्यकता ने क षि को व्यापक रूप से प्रभावित किया। इंग्लैण्ड के बहुत-से भू-स्वामी ने, जो पहले लगान के रूप में क षि की उपज का अंश लेते थे, अब लगान को नकद लेना शुरू किया। अधिकांश पट्टेदार लगान की नकदी भुगतान में असमर्थ थे। इस कारण इनसे वे जमीन छीनने लगे जिन्हें वे ठेके पर जोतते थे। फलस्वरूप बहुत से किसान या तो बेकार हो गए अथवा खेतिहर मजदूर बन गए। इसके चलते धीरे-धीरे जमीन प्रभावशाली जमींदारों के हाथों में पहुँच गयी थी जो मजदूरों की सहायता से खेती करने के लिए पूँजीपति भू-स्वामियों के लगान पर दे देते थे। इस प्रकार क षि में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत बेकार हो गए किसान शहरों का रास्ता पकड़ते थे और वहाँ विनिर्माणशाला (Manufactory) में काम पाने की कोशिश करते थे।

पूँजीवादी व्यवस्था ने उद्योग को भी गहरे रूप से प्रभावित किया। व्यवसायी अधिक लाभ की लालच से कच्चे माल को बड़ी मात्रा में खरीद लेते थे। इस माल को वे उन कारीगरों के घरों में बाँट देते थे जिन्हें पक्का माल तैयार करने के लिए मजदूरी दी जाती थी। जो पूँजीपति इस प्रकार घरों पर काम करने वाले कारीगरों को काम सौंपते थे, वे जोखिम लेते थे और उनका प्रयास यह रहता था कि माल ऊँचे दामों पर बिक जाए। स्पष्ट है कि इस 'घरेलू-पद्धति' ने उत्पादन को बढ़ावा दिया, किंतु इसमें नियोक्ता और श्रमिक के बीच उतना घनिष्ट संबंध नहीं था जितना कि श्रेणी-प्रणाली में रहता था। श्रेणी-प्रणाली में दस्तकार प्रायः अपने उत्पादनों के ग्राहकों से स्वयं मिलते थे, किंतु घंटा पर काम करने वाले कारीगर आमतौर पर ऐसा नहीं करते थे। इस 'घरेलू प्रणाली' ने श्रेणियों को जल्द ही बाजार से बाहर कर दिया जो उत्पादन के तरीकों की माँग के अनुसार बदलने में अक्षम या अनिच्छुक थे। जब पूँजीवाद का और अधिक विकास हुआ तो 'घरेलू-पद्धति' को भी 'कारखाने-पद्धति' ने बाजार से बाहर कर दिया।

पूँजीवादी व्यवस्था के समाजवादी प्रभाव भी उल्लेखनीय हैं। इसके फलस्वरूप समाज की संरचना में परिवर्तन आने लगे। इसने समाज में दो नए वर्गों को जन्म दिया-पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग पूँजीपति वर्ग का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व था। सर्वहारा वर्ग के पास साधन नहीं थे। इसलिए उसे अपनी श्रम-शक्ति को बेचना पड़ता था। कालान्तर में समाजवाद और साम्यवाद ने सर्वहारा वर्ग की सुरक्षा के लिए पूँजीवाद को कड़ी चुनौती दी।

इस संदर्भ में एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह कही जा सकती है कि पूँजीवाद ने दास बनाने की प्रव त्ति को भी प्रोत्साहित किया। इंग्लैण्ड में एडवर्ड अष्टम ने 1547 ई० में एक कानून बनाया, जिसके अनुसार काम से बचने वाले सभी व्यक्तियों को उन लोगों का दास बना दिया जाता था जो ऐसे लोगों की सूचना देते थे। बहुत से लोगों को, विशेषरूप से किसान और मजदूरों को, अवारागर्दी और कंगालों की पंक्ति में खड़ा होने के लिए विवश होना पड़ा क्योंकि प्रारम्भिक (वणिक) पूँजीवाद ने किसानों को बेरोजगार बना दिया था और दस्तकारों को तबाह कर दिया था। कालान्तर में पूँजीवाद के कारण ही यूरोप में दास व्यापार की लोकप्रियता बढ़ती गई जिसके अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए।

वणिक पूँजीवाद ने प्रशासन को भी गहरे रूप से प्रभावित किया। इस काल में राष्ट्रों की मनोव त्ति दूसरे राष्ट्रों को हानि पहुँचाकर खुद को संपन्न बनाने की थी। आज ऐसा नहीं है। उन दिनों शासकों ने इस बात को समझ लिया था कि सम्पन्न व्यवसायी वर्ग शासकों के लिए आवश्यक सेना और नौ सेना के संपोषण के लिए भारी कर देने में सक्षम है। व्यवसायी भी यह समझते थे कि शक्तिशाली सेना और नौसेना के सहयोग से वे दुनिया के व्यापार का बड़ा अंश प्राप्त करने में समर्थ होते। यूरोप के तमाम देश सोना-चाँदी इकट्ठे करने और उन्हें अपने देश से बाहर न जाने देने के लिए प्रयत्नशील थे। उन दिनों यूरोप के देशों के कुछ सिद्धान्त इस प्रकार थे-अधिक निर्यात कम आयात, अधिक आयात कर लगाते हुए आयात को निरूत्साहित करना, स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहित करना आदि। इस प्रकार व्यापार और उद्योग को नियमित करके सोना और चाँदी को प्राप्त करने की योजना वाणिज्यिक कहलाती है। पूँजीपति आधुनिक काल के आरंभ में शासन पर प्रभाव डालने के लिए वाणिज्यवाद का समर्थन करते थे, किंतु शासन पर प्रभाव डालने के लिए उन्होंने कुछ दूसरे रास्ते भी अपनाए जैसे, सामन्तवाद और विदेशी स्वतंत्रता को कुचलने में यूरोप के पूँजीपतियों ने शासकों को अपना समर्थन दिया, पर जब शासकों ने अपनी शक्ति काफी बढ़ा ली और अपनी शक्ति का प्रयोग कर व्यवसाय पर भारी कर लगाना शुरू कर दिया, तब व्यवसायियों ने क्रान्ति का मार्ग भी अपनाया अथवा क्रान्तिकारियों को अपना समर्थन दिया। इस तरह से पूँजीवाद ने आधुनिक लोकतंत्र के विकास में भी सहयोग दिया।

अध्याय-2
पश्चिमी यूरोप में कृषि क्रान्ति

कृषि क्रान्ति के लक्षण

कृषि क्रान्ति के चार मुख्य लक्षण थे-

1. मध्यकालीन खुले और बिखरे खेतों के स्थान पर बड़े पैमाने पर इकट्ठे खेतों पर कृषि का आरम्भ किया जाना,
2. अन्य क्षेत्रों में कृषि का विस्तार एवं बड़े स्तर पर पशुपालन,
3. ग्रामीण समुदाय का आत्मनिर्भर कृषकों से कृषिगत श्रमिकों के समुदाय में परिवर्तन और
4. कृषि में प्रति श्रमिक उत्पादकता में व द्धि।

इनके अलावा भी कुछ अन्य बातों का उल्लेख किया जा सकता है। इस क्रान्ति के प्रारम्भ में मशीनों का प्रयोग, नयी फसलें, बंजर जमीनों को कृषि उपयोगी बनाना, उर्वरकों का प्रयोग तथा पशुधन में सुधार हुआ। साझा-जमीनों की घेराबन्दी तथा बड़े खेतों पर जोर दिया जाने लगा। इन सबका उद्देश्य उत्पादन तथा मुनाफे में व द्धि था। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि सोलहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के दौरान कमेरों की आधी आबादी खेती में लगी हुई थी। पूरी अर्थव्यवस्था का कृषि ही मुख्य आधार था। उन्नीसवीं सदी के पूर्व यूरोप के अधिकांश भागों में खेती अधिकांशतः अनाज की होती थी। सोलहवीं तथा सत्रहवीं सदी में पश्चिमी तथा मध्य यूरोप में गेहूँ की खेती आम थी। दक्षिणी यूरोप में चावल और मक्का का प्रचलन था। इससे बहुतेरे क्षेत्रों में जो एक फसली खेती प्रचलित थी, उसमें अन्तर नहीं आया। परिवर्तन तभी हुआ जब बड़ी मात्रा में आलू की खेती की जाने लगी। इस युग का एक खास लक्षण अनाज के मूल्यों में भारी उतार-चढ़ाव भी था क्योंकि पैदावार की मात्रा हर साल घटती-बढ़ती रहती थी।

भूमि को कृषि योग्य बनाना

पश्चिम यूरोप के कई देशों में पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में जोत का रकवा बढ़ा। 16वीं सदी में कुछ में तो यह विस्तार रुक गया और कुछ में 1860 ई० तक जारी रहा। कृषि-मूल्यों में व द्धि के चलते यह विस्तार हो रहा था। चौदहवीं सदी में यूरोप के देशों की जनसंख्या में गिरावट तथा कृषि में मंदी के कारण जमीन को परती छोड़ दिया जाता था। बाद की सदियों में उन्हें फिर जोत में लाया गया। 17वीं सदी में लगभग सारे यूरोपीय देशों में जोत का रकवा बढ़ाने के प्रयास बन्द हो गए। 1660 के बाद नीदरलैंड्स तथा जर्मनी में यह प्रयास सीमित मात्रा में चलता रहा। आंकड़ों से पता चलता है कि फ्रांस, स्पेन, इटली, यूनान, जर्मनी, इंग्लैंड, पोलैंड आदि देशों में 17वीं सदी में उजड़े गांवों की संख्या उतनी अधिक नहीं थी जितनी कि मध्य काल में। कृषि योग्य जमीन का सिकुड़ना यूरोप में एक आम प्राकृतिक घटना थी और सिर्फ युद्ध तथा प्लेग ही 17वीं सदी में इसके लिए जिम्मेदार नहीं थे। जनसंख्या के घटने से तथा मूल्यों में गिरावट के कारण भी रकवे में गिरावट आई थी। इसके कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। जैसे, तीस वर्षीय युद्ध के क्रम में जर्मनी में खेती तहस-नहस हो गई थी। बाद में 17वीं सदी के अन्तिम वर्षों में इसमें सुधार दिखने लगा। फ्रांस, रूस, आस्ट्रिया, नीदरलैंड्स, इंग्लैंड जैसे अन्य देशों में 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही जोत का रकवा बढ़ने लगा।

16वीं से 18वीं सदी के बीच यूरोप में कृषि का स्तर सभी जगह समान नहीं था। सघन कृषि-क्षेत्र कहीं-कहीं पाए जाते थे। 18वीं सदी तक कृषि के क्षेत्र में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुए थे, कुछ सुधार अवश्य हुए थे और कृषि का रकवा बढ़ा था। वास्तविक विकास तो 19वीं तथा 20वीं सदी में हुआ।

फसल-चक्र

खेतों की उर्वरता को बढ़ाने के लिए पहले तीन मुख्य तरीके अपनाए जाते थे-खाद जमीन को परती रखना और फसलों का अदल-बदल। तीन प्लाट-प्रणाली में फसलों के अदल-बदल के कारण किसान एक-तिहाई जमीन को परती छोड़ देते थे। इस प्रकार यह पद्धति अपव्ययपूर्ण थी। हर साल एक-तिहाई कृषि योग्य भूमि बेकार पड़ी रह जाती थी। 18वीं सदी तक इस दोष को दूर नहीं किया जा सका। हरी फसलों तथा शीतकालीन फसलों के प्रादुर्भाव से परती प्रणाली से किसानों को मुक्ति मिली। इससे कृषि-कला तथा व्यवहार में पूरा परिवर्तन हो गया तथा परोक्ष रूप से किसानों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गए। परम्परा से चली आने वाली तीन प्लाट-प्रणाली के स्थान पर अब चार फसली-चक्र जैसे, गेहूँ, शलजम, जौ और तिनपतिया की शुरूआत हुई।

वैज्ञानिक कृषि

18वीं सदी में कृषि संबंधी औजारों में भी महत्त्वपूर्ण सुधार हुए। हल्के अंग्रेजी हल पर आधारित नए हल कृषि-तकनीक के महत्त्वपूर्ण अंग बन गए। हेंगी में भी सुधार हुआ। **जेट्ब्रो दुल** ने वैज्ञानिक कृषि में अपने सीड ड्रिल से चमत्कार पैदा कर दिया जो बीजों की तरतीबदार बोवाई करता था। उसने घोड़ों पर चलने वाले गहाई यंत्र का इस्तेमाल भी किसानों से शुरू करवाया जो जमीन को नरम करता एवं खर-पतवार उखाड़ता था। साइरस मैककार्मिक की कटाई मशीन भी किसानों के लिए वरदान साबित हुई। जल्द ही **थ्रेशर** और **कल्टिवेटर** मशीनें भी बाजार में आ गईं। ब्रिटिश सरकार ने वैज्ञानिक कृषि को बढ़ावा देने के लिए 1793 में एक कृषि-बोर्ड की स्थापना की। कृषि महाविद्यालय भी खुले।

18 वी सदी में कृषि प्रयोगों द्वारा तथा फसल-चक्र की सहायता से जमीन को उर्वर बनाए रखने का प्रयास किया गया। नाइट्रोजन संचायक फसलों तथा पशुखाद के सघन उपयोग द्वारा भी जमीन की उर्वरता कायम रखी जा सकी। 1840 के आसपास जर्मनी में **वान लेबेग** ने, इंग्लैंड में **लावेस** ने और फ्रांस में **बूसीगाल्ट** ने दिखाया कि रसायनों द्वारा कैसे घटिया जमीन को उर्वर जमीन में बदला जा सकता है। रासायनिक उर्वरकों के नुस्खे भी उन्होंने साथ-साथ खोज निकाले जिनसे आधुनिक उर्वरक उद्योगों की शुरूआत हुई।

इंग्लैंड के अलावा यूरोप के अन्य देशों में भी जल्द ही कृषि-क्रान्ति का विस्तार हुआ। फ्रांस में भौतिक शास्त्रियों ने लोगों का ध्यान खेती के मूल महत्त्व की ओर खींचा। जर्मनी में **जुंकर वर्ग** ने खेती की ओर खास ध्यान दिया। वहाँ आर्थिक नियोजन को बढ़ावा दिया तथा जमीन की घेराबन्दी की गई। 1791 में एकीकरण के बाद जर्मनी ने आश्चर्यजनक प्रगति की। किन्तु स्पेन और इटली इस द ष्टि से पिछड़े रह गए क्योंकि सामंती भू-स्वामित्व तथा पिछड़ी कृषि-पद्धतियों ने उनका रास्ता रोक रखा था।

कृषि-क्रान्ति के कारण

वैसे तो ऊपर कृषि-क्रान्ति के कुछ कारणों का उल्लेख किया जा चुका है किन्तु इनका विस्त त विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है। कृषि-क्रान्ति के पूर्व 17वीं सदी तक कृषि-क्षेत्र में आमतौर पर उन्हीं विधियों तथा उपकरणों का प्रयोग होता रहा जो कई सदियों से प्रयोग में लाए जा रहे थे। कृषि तकनीकी में इस कारण से परिवर्तन नहीं हो रहा था कि कृषि-जन्य वस्तुओं की मांग राज्य की खपत से अधिक नहीं थी। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के बाद जैसे-जैसे कारखाना-प्रणाली का विस्तार हुआ, शहरों की आबादी बढ़ी और लोगों की आत्मनिर्भरता में कमी आयी वैसे-वैसे गाँव के किसानों को शहरी लोगों के लिए अधिक अन्न और कारखानों के लिए अधिक कपास का उत्पादन करना पड़ा। कृषि-जन्य वस्तुओं की मांग बढ़ने से कृषि के क्षेत्र में वैज्ञानिक तरीकों से काम करने और कृषि उपयोगी मशीनों के निर्माण की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।

कृषि-क्रान्ति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि अब तक लोगों ने घरेलू आवश्यकताओं के लिए खेती की थी, किन्तु अब अनेक कारणों से, विशेषरूप से औद्योगिक क्रान्ति के बाद, मुनाफा कमाना कृषकों का मुख्य उद्देश्य हो गया। कृषि उत्पादनों में व द्धि के लिए लोग खेतों में पूँजी लगाने लगे। अब पुराने तरीकों एवं औजारों की जगह पर अधिक वैज्ञानिक तरीकों एवं अधिक उन्नत औजारों का इस्तेमाल होने लगा। इनके लिए नए छान-बीन शुरू किए गए। चूँकि केवल सम्पन्न लोगों के पास ही प्रयोगों एवं परीक्षणों के लिए अतिरिक्त धन एवं समय था; अतः इस क्षेत्र में प्रारम्भिक प्रगति सामान्यतः सम द्ध किसानों के द्वारा ही की गई। इस प्रकार कृषि के क्षेत्र में पूँजी के प्रयोग से कृषि क्रान्ति के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ।

किन्तु कृषि-क्रान्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण निःसंदेह कृषि संबंधी नए औजारों का निर्माण तथा वैज्ञानिक तरीकों का इस्तेमाल था। इस दिशा में पहला निर्माण **वर्कश्यर** ने एक जमींदार **जेथ्रो टल** (1674-1740) के द्वारा किया गया। उसने खेतों में बीज बोने के **लि ड्रिल** नामक एक यंत्र का निर्माण किया। इस यंत्र के द्वारा उचित परिणाम में तथा निश्चित कतारों में बीज बोये जा सकते थे। अब बीज बोने का कार्य अधिक व्यवस्थित एवं सुचारू हो गया। एक अन्य अंग्रेज जमींदार **टाउनशैण्ड** (1674-1738) ने किसानों को फसलों को बदल-बदल कर उगाने के लाभों से परिचित करवाया। उसने गेहूँ, शलजम, जौ और क्लोवर की खेती को बारी-बारी से बोकर खेतों की उर्वरता को बनाए रखने की नई पद्धति निकाली। नई पद्धति के चलते अब तीन प्लाट-प्रणाली (जिसमें प्रत्येक वर्ष जमीन के एक-तिहाई हिस्से को परती छोड़ना पड़ता था) का महत्व जाता रहा और किसान प्रत्येक वर्ष अब अपनी पूरी जमीन में खेती कर सकता था। इस नई प्रणाली को अपनाने से प्रगति एकड़ पैदावार दुगुनी होने लगी और पशुओं के लिए अतिरिक्त चारे भी उपलब्ध होने लगे।

कृषि के अतिरिक्त पशुपालन के व्यवसाय को भी अधिक लाभदायक बनाने का प्रयास किया गया। 1770 के लगभग **राबर्ट बेकवैल** ने भेड़ों और गायों की नस्ल सुधारने के लिए वैज्ञानिक प्रयोग शुरू किए। वैज्ञानिक प्रजनन पद्धति की उसने खोज की। इस नए प्रयोग से बैकवेल पहले की अपेक्षा तिगुनी वजन की भेड़ तैयार करने में सफल रहा। इस प्रकार नई विधि के प्रयोग से पशुपालक मवेशियों को अधिक दुधारू और मांस प्रदान करने वाला और भेड़ों को अधिक ऊन और मांस देने वाला बनाने में सफल हो गए। **बैकवेल** के मार्ग पर चल कर **चार्ल्स कोलिंग** ने भेड़ों की एक नई नस्ल तैयार की।

इंग्लैंड के एक सम्पन्न किसान **आर्थर यंग** (1741-1820) ने 'नई खेती' की विधि का अनुसंधान किया। इसके अन्तर्गत उसने छोटे-छोटे खुले खेतों को मिलाकर बड़े-बड़े कृषि फार्म बनाने पर जोर दिया क्योंकि इससे किसानों को व्यापक लाभ होता। छोटे खेतों में काफी जमीन बेकार चली जाती थी। खुले खेतों में वैज्ञानिक ढंग से खेती करना तथा नए मशीनों का प्रयोग करना कठिन था। अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से आर्थर यंग ने कई लेख एवं पुस्तकें लिखीं। उसने एक पत्रिका भी निकाली जिसका नाम 'एनल्स ऑफ एग्रीकल्चर' था। इंग्लैंड के किसानों तथा सरकार पर आर्थर यंग के विचारों का गहरा असर पड़ा। वैज्ञानिक ढंग से नई प्रणाली के अनुरूप खेती करने के लिए छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर एक बड़ा कृषि फार्म बनाने और उसके चारों और एक बाड़ा (घेरा) लगाने के लिए इंग्लैंड में 1792 से 1815 के बीच 956 बाड़कबंदी अधिनियम (Enclosure Acts) बनाए गए। निसंदेह इससे कृषि उत्पादनों में व्यापक व द्धि हुई किन्तु इसके चलते छोटे किसानों को जमीन छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। ऐसे किसान धीरे-धीरे भूमिहीन मजदूर बन गए। अतः यह विवाद का विषय है कि नई विधि कहाँ तक लाभदायक सिद्ध हुई। निःसंदेह आर्थिक व्यवस्था पर दीर्घकालीन प्रभावों की द ष्टि से यह लाभदायक सिद्ध हुआ। ऐसा इसलिए कि जनसंख्या का एक बड़ा भाग, जो बाड़कबंदी कानूनों के कारण जमीन से बेदखल हुआ, कारखानों में काम करने के लिए मजबूर हुए। दूसरे शब्दों में इससे औद्योगिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ। किन्तु स्वतंत्र किसानों का भूमिहीन मजदूर बन जाना किसी भी द ष्टि से उचित नहीं माना जा सकता है।

कृषि क्षेत्र में अनुसंधान की जो नई प्रक्रिया शुरू हुई वह आज भी जारी है। 18वीं सदी के बाद से अब तक अनेक अनुसंधान हुए। कृषि क्रान्ति को आगे बढ़ाने में इनका व्यापक योगदान रहा है। 1840 में **जस्टन वॉन लीबिग** नामक एक जर्मन रसायनशास्त्री ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि पौधों की आधारभूत खुराक, पोटाश, नाइट्रोजन तथा फास्फोरस है। इन तत्वों को उचित ढंग से मिला देने से मिट्टी की उर्वरता बढ़ जाती है। इसके बाद से ही बड़े पैमाने पर खेतों में उर्वरकों का प्रयोग होने लगा जिससे कृषि उत्पादनों में व्यापक व द्धि हुई।

आधुनिक काल में बहुत-सारे कारणों के चलते कृषि में मशीनरी का प्रयोग करना आवश्यक हो गया। इनमें उल्लेखनीय थे-जनसंख्या में व द्धि, उद्योगों के लिए कृषि-उत्पादनों की व द्धि तथा श्रम बचाने की अवधारणा। 1834 में **साइरस एच० मैककोरमिक** ने फसल काटने वाली मशीन का आविष्कार किया। बाद में **एफ० एप्पलबाइ** ने बटोरने वाले दुहरे वाइडर इसमें जोड़कर इसे और भी उपयोगी बना दिया। इसी समय कुछ अन्य अनुसंधानकर्त्ता घोड़े से खींचा जाने वाला पांचा, लोहे का हल, तवेदार पटरा (हैरो) आदि का निर्माण करने में सफल हो गए। इस प्रकार धीरे-धीरे कृषि में यंत्रीकरण बढ़ता चला गया। बाद में शक्ति से चलने वाली मशीनों के आविष्कार ने कृषि क्रान्ति को और तेजी से आगे बढ़ाया। इन परिवर्तनों के चलते कृषि उत्पादनों में व्यापक व द्धि हुई।

कृषि क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन

घेराबन्दी की प्रथाः अठारहवीं सदी में कृषि के क्षेत्र में क्रान्तिकारी दौर आया। इससे अन्य बातों के अलावा, तीन खेत-प्रणाली की परंपरागत मध्ययुगीन कृषि-पद्धति का खात्मा ही हो गया। कहना नहीं होगा कि उस पद्धति में वैयक्तिक स्तर पर किसी तरह का पहल करने या कोई नई तकनीक की खोज की बिल्कुल ही गुंजाइश नहीं थी। वास्तव में वह पद्धति अपरिवर्तनवादी तथा रूढ़िबद्ध थी। उसमें सबसे कम काम करने वाले की ही गति से काम होता था। खेती की यह जीर्ण पद्धति अठारहवीं सदी के मध्य तक यूरोप में चलती रही, यद्यपि अनेक मामलों में उसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए थे। यह पद्धति कृषि के क्षेत्र में तकनीकी विकास की बाधक है यह सभी समझते थे तथा कृषि में सुधार लाने के आकांक्षी उसके खत्म होने की कामना करते थे। कृषि के तरीकों तथा तकनीक में सुधार का पहला दौर शुरू हुआ इंग्लैंड में। इस देश में मध्य युगों की सामूहिक खेती का सिलसिला खत्म होने के बाद से ही व्यक्तिगत खेती के पक्ष में हवा बह रही थी। मध्य युगों के अन्तिम दशकों से इंग्लैंड में जमीन पर से किसानों का स्वत्वाधिकार दुर्बल होता जा रहा था। काफी पहले ही अंग्रेज भू-स्वामी वाणिज्यवादी विचारों से प्रभावित होकर अपनी जमीन का सर्वाधिक लाभकर उपयोग करने की दिशा में कदम उठाने लगे थे। इस सिलसिले में मध्य युगों की परंपरागत सामाजिक संरचना में तबदीली की गई, काश्त के स्वरूप में परिवर्तन हुए, परंपरागत रैयतों को बेदखल किया गया तथा खेती के क्रम में परिवर्तन किया गया। इन सबके फलस्वरूप जमींदारों को तो लाभ हुआ, पर किसानों की स्थिति खराब हुई। सोलहवीं सदी में घेराबन्दी की प्रथा खेती के क्षेत्र में व्यापारिक संचेतना के प्रवेश का कदाचित् पहला उदाहरण थी। इस समय फसल उगाने की अपेक्षा भेड़ पालन एवं ऊन का उत्पादन अधिक लाभकर था। फलतः अंग्रेज जमींदार अपनी-अपनी जागीरों में खेती करने के बदले भेड़ पालन का व्यवसाय शुरू करने का उपक्रम किया। इन परिवर्तनों में सामाजिक उत्क्रांति अन्तर्निहित थी। इससे इंग्लैंड के अधिकांश भाग में मध्ययुगीन सामुदायिक जीवन विघटित हो गया। काश्तकारों को बेदखल करके उस जमीन को भेड़ पालन के लिए लगा दिया गया। कहीं तो संपूर्ण जिले वीरान हो गए, अनेक गांव बर्बाद हो गए। अंग्रेज काश्तकार को उसकी जमीन उसके खेत से विच्छिन्न करने की दिशा में यह पहला कदम था।

अठारहवीं सदी में इंग्लैंड में घेराबन्दी आन्दोलन का दूसरा दौर आया। इस दौर में सामुदायिक कृषिकर्म के बचे-खुचे अवशेष भी विलीन हो गए। उनका स्थान लिया पूंजीपति काश्तकार द्वारा संचालित विस्त त व्यक्तिगत फार्मों की प्रणाली ने। व्यक्तिगत फार्मों की पद्धति का प्रचलन होने से काश्तकार का जमीन से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। जहाँ कहीं कृषिकर्मी मात्र रैयत थे, वहां तो जमींदार के एक इशारे पर ही परिवर्तन किया जा सकता था। इस स्थिति में खेतों के पुनर्वितरण तथा चकबन्दी कर देने से ही काम चल जाता था। लेकिन जहाँ जमीन पर कृषिकर्मी का स्वत्वाधिकार होता था वहाँ कानूनी कार्रवाई जरूरी हो जाती थी। ऐसे मामलों में संसद में कानून पारित करके घेराबन्दी को वैध बनाया गया। घेराबन्दी में अभिरुचि रखने वाले बहुसंख्यक भू-स्वामी के आग्रह करने पर संसद में घेराबन्दी विधेयक लाया गया तथा उनका बहुमत होने के कारण उसे पारित होने में कोई कठिनाई नहीं हुई। जमीन का पुनर्वितरण तथा चकबन्दी करने के लिए आयुक्त नियुक्त किये गए। इसमें आम उपयोग की जमीन सम्मिलित थी। आयुक्तों को हर जमींदार को उसके बिखरे हुए प्लॉटों की चकबन्दी करने तथा गांव के बंजर, ऊसर जमीन में चारागाह का अधिकार प्रदान करने के आदेश दिये गये थे। इस प्रकार विस्त त व्यक्तिगत फार्मों के निर्माण का द्वार खुला। आम उपयोग की जमीन की समाप्ति होने से छोटे किसानों को अपूरणीय क्षति हुई। बड़े फार्मों की प्रतियोगिता में जीवित रहने की उसकी क्षमतापर यह एक मार्मिक प्रहार था। यूरोप के अन्य देशों के काश्तकारों को खाद्यान्नों के आयात पर भारी चुंगी लगाकर संरक्षण दिया था, पर इंग्लैंड के काश्तकारों की रक्षा इससे भी नहीं हो सकी। **कॉर्न ली**- खाद्यान्नों पर आयात कर लगाने की सांविधि-तो 1846 में उठाये गए, पर अंग्रेज काश्तकार का अस्तित्व तो उसके काफी पहले ही भारी खतरे में पड़ चुका था। 1830 के बाद इस वर्ग का शायद ही कोई नामलेवा भी इंग्लैंड में बचा रहा।

कृषि क्रान्ति का प्रभावः काश्तकारों की समाप्ति का अंग्रेजों के सामाजिक जीवन पर बहुत ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वैसे तकनीकी प्रगति के लिए यह एक अनिवार्य कदम था। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि इंग्लैंड में देहाती सर्वहारा वर्ग की कठिन समस्या बहुत काल तक बनी रही। कृषि कर्म तथा स्वत्वाधिकार के मध्य तीक्ष्ण भेद अंग्रेजों की कृषि व्यवस्था की अपनी खास विशेषता थी। यूरोप के किसी भी अन्य राज्य या क्षेत्र में काश्तकार का जमीन से विच्छेद इतना सिलसिलेवार तथा इतना प्रभावी ढंग से नहीं किया गया था।

महादेशीय यूरोप में कृषि क्रान्ति की प्रमुख विशेषता थी जीर्णशीर्ण सामन्ती बंधनों से कृषि की उन्मुक्ति तथा कृषिकर्मी का स्वतंत्र काश्तकार के रूप रूपान्तर। वहाँ विकास की दिशा तत्कालीन इंग्लैंड में जो कुछ हो रहा था या किया जा रहा था इसके एकदम विपरीत थी। इंग्लैंड ने अधिस्वामी कृषकों को बेदखल कर रहा था, महादेशीय यूरोप में कृषक अधिस्वामियों को बेदखल कर रहे थे। इसका कारण ढूंढने के लिए महादेशीय यूरोप के अभिजात वर्ग की प्रकृति का अध्ययन करना होगा। एकाधिक अपवाद को छोड़कर लोग आरामतलब भूमिपति होते थे। अपनी जमीन रैयतों की देख-रेख में छोड़कर स्वयं राजधानी या अन्य नगरों में रहा करते थे। सामाजिक, राजनीतिक या राजनयिक पद एवं ख्याति हासिल करना उनकी महत्त्वाकांक्षा होती थी। फ्रांस का अभिजात वर्ग ऐसे कुलीन अभिजात वर्ग का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण था। फ्रांसीसी अभिजात्य जमींदार से अधिक दरबारी अभिजात्य में परिणत हो गया था। इसके सदस्य यदाकदा ही अपनी जमींदारी में जाया करते थे। वे राजधानी में पड़े रहते, फ्रांसीसी नरेश के कृपा कटाक्ष के लिए लालायित वहीं उनकी दरबारी दुरभिसंधियाँ चलती रहती। कोई पुरस्कृत होता, कोई अभिशप्त। राज सभा ही उनकी सारी दुनिया थी, राजा-रानी उनके देवता-देवी, शाहखर्च होने के कारण अपनी मिल्कियत बेचने को सदा प्रस्तुत रहते थे। उनकी जमीन का खरीददार अक्सर उनका रैयत काश्तकार ही हुआ करता था। इस प्रकार फ्रांस में जमीन लगातार कृषक काश्तकारों के हाथों में हस्तांतरित हो रही थी। 1789 के फ्रांसीसी क्रान्ति के समय तक कहा जा सकता है कि फ्रांस की लगभग दो तिहाई जमीन कृषक काश्तकारों के हाथ में थी। वैसे कानून की नजर में कृषक काश्तकार जमीन का सच्चे अर्थ में स्वत्वाधिकारी शायद ही हो सकता था। जमींदार को उसे वार्षिक मालगुजारी देनी होती थी, वह अपनी जमीन सहित जमींदार की सामन्ती अमलदारी में रहता था। इसके फलस्वरूप इसे जमींदार के कई तरह के पावने चुकाने होते थे। उसे लाभ इतना ही था कि जमीन से बेदखल नहीं किया जा सकता था, तथा उसकी जमीन पर उसके बाल-बच्चों का भी अधिकार होता था। इसके बावजूद मालगुजारी एवं अन्य सामन्ती करों को मिलाकर काफी बड़ी रकम चुकानी पड़ती थी। उसका असंतोष इसलिए भी बढ़ता था कि उसकी गाढ़ी मेहनत से अर्जित धनराशि एक अवधि निकम्मा वर्ग की आरामतलबी में खर्च होती थी, एक ऐसा वर्ग जिसकी तत्कालीन फ्रांसीसी समाज के लिए कोई सार्थकता नहीं रह गई थी। 1789 की क्रान्ति के अग्निप्रवाह में फ्रांसीसी काश्त व्यवस्था भी आमूल रूप से बदल गई।

अठारहवीं सदी में जर्मन भाषी राज्य कृषि व्यवस्था की द ष्टि से मोटे तौर से दो खडों में विभाजित थे। विभाजन रेखा की एल्ब नदी के प्रत्येक भाग में अपने ढंग की कृषि व्यवस्था थी। पूर्वी भाग की ग्रामीण संरचना में इंग्लैंड से कुछ हद तक समानता थी। इस क्षेत्र में बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ थीं, खेती अधिकतर स्थानीय श्रमिकों के द्वारा निष्पन्न होती थी। दूसरे, अर्थात् पश्चिमी भाग की कृषि व्यवस्था फ्रांस से मिलती-जुलती थी। अधिकतर जमीन कृषकों के हाथों में थी, औसत होल्डिग छोटा हुआ करता था। इस भेद के कारण दोनों भागों के इतिहास में निहित थे। पूर्वी भाग, विशेष कर प्रशा के जर्मन विजेता जाति के थे। स्थानीय स्लावों पर उनकी अमलदारी थी। वहाँ की अनुचरीय कृषि कर्मियों की व्यवस्था का यही पर्याप्त कारण हो सकता था। लेकिन इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था का एक अन्य कारण प्रशियाई जंकर-जमींदार-वर्ग की वर्ग-प्रकृति में भी निहित था। अंग्रेजी जमींदार की तरह जंकर भी उद्यमी तथा महत्त्वाकांक्षी होता था, उसमें व्यावसायिक अन्तद'ष्टि होती थी। अपने अंग्रेजी सहयोगी के समान ही उसने भी कृषकों को बेदखल करने की नीति चलायी थी। सिलसिलेवार खरीदारी तथा बेदखली के द्वारा उसने बड़े-बड़े खुदकाश्त फार्म अपने लिए बना लिये थे। अंग्रेजों से फर्क यह था कि प्रशियाई जंकर ने रैयतों को जमीन नहीं देकर खुद ही अपनी देख-रेख में मजदूरी देकर स्थानीय लोगों से खेती कराने का सिलसिला बनाया। उसकी विशाल जागीरों में खेती तथा अन्य कामकाज के लिए श्रमिक मुहैय्या कराने के हेतु कई तरह के कानून बनाए गए, जिसका प्रशियाई कृषिकर्मी की स्थिति बंधुआ से भी बदतर थी।

एल्ब के पश्चिमी वाले भाग में कृषि व्यवस्था का विकास फ्रांस जैसा ही हुआ था। फलतः अभिजात वर्ग का जमीन पर से नियंत्रण शिथिल होता गया तथा कृषिकर्मियों के हाथ में अधिकाधिक जमीन आती जा रही थी। अधिकतर जमीन पर जाती या मौरूसी स्वत्वाधिकार होता था। मौरूसी स्वत्वाधिकार होने पर कृषक को मालगुजारी देते रहने तक पूरा स्वत्वाधिकार होता था। होल्डिग छोटे-छोटे होते थे। बड़ी-बड़ी मालिकाना जमीनों की पद्धति इस भाग में नहीं के बराबर थीं।

अठारहवीं सदी के पहले यूरोप में तीन-खेत प्रणाली ही सर्वाधिक विकसित कृषि-पद्धति मानी जाती थी। यह एक तरह की सघन खेती की पद्धति थी। किन्तु इस पद्धति में एक तिहाई खेती योग्य जमीन को हर वर्ष परती छोड़ दी जाती थी। फलतः इसे अधिक लाभकर नहीं कहा जा सकता था। अठारहवीं सदी में हरित फसलों तथा जाड़े में उपजने वाले कन्द-मूल आदि की खेती शुरू होने पर परती छोड़ने की प्रथा खत्म हुई। इसके फलस्वरूप खेतीबारी के शिल्प तथा काम में पूरी कृषि क्रान्ति ही हो गई। कृषिकर्मियों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन इसके आनुषांगिक परिणाम थे।

इस क्रांति के चलते नई फसलों का प्रचलन भी शुरू हुआ। इनमें मुख्य थे चुकन्दर, स्वीड्, टर्निप आदि। ये सीधी कतारों में बोये जा सकते थे। इनकी निकौनी हाथ या औजार से भी की जा सकती थी। जमीन परती छोड़ने का एक उद्देश्य होता था बारबार हल चला कर खेत से घास-फूस हटाना। यह काम जाड़े में उगने वाली कन्द-मूल आदि लगे रहने पर भी कतारों के बीच निकौनी करते रहने से भली-भाँति हो जाता था। क्लोकवर, लुर्सन तथा राई ग्रास जैसे हरी फसलें लगाने से यह सुविधा होती थी कि इसके पौधे जमीन से पोषक तत्त्व नहीं लेकर अधिकतर हवा से लेते थे। अतः इन फसलों के उगाने से जमीन के परती रहने का ही प्रभाव होता था। मिट्टी को आराम मिलता था। किन्तु जमीन परती रखने तथा उसे लाभकर उपयोग में लाने में फर्क तो होता ही है।

इन नयी फसलों के प्रचलन से जमीन को परती छोड़ने की जरूरत नहीं रही। पुराने फसलचक्र के अनुसार परती छोड़ने के बदले अब जाड़े के कन्द-मूल या एक तरह की कृत्रिम घास लगायी जाने लगी। इस प्रकार परम्परागत तीन फसल चक्रों की जगह नवीन चार फसल चक्र का प्रचलन हुआ। कहीं-कहीं आठ या नौ फसलों का चक्र तक चलाया जाता। इन सबों का एक ही सिद्धांत था-खाद्यान्न तथा कृत्रिम घास एवं जाड़े के कन्द-मूल को बारी-बारी से लगाना।

नयी कृषि-रीति के विकास के परिणामस्वरूप जानवरों के लिए चारे की आपूर्ति में भारी व द्धि हुई। मध्ययुगों में सूखी तथा हरी घास के अतिरिक्त जानवरों के लिए अन्य कुछ उपलब्ध नहीं रहता था। अब इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के शीतकालीन कन्द-मूल तथा कृत्रिम घासें भी उपलब्ध रहने लगी। जाड़े में जानवरों के लिए चारा की समस्या होने से जाड़ें के मौसम के पूर्व मवेशी मार दिये जाने की जरूरत भी नहीं रही। फलतः जाड़े का मौसम शुरू होते ही फालतू मवेशियों को मार दिये जाने की प्रथा खत्म हुई। **क्रोल्वर** तथा **लुसेरीन** से भरे मैदानों में मवेशी एवं भेड़ मौज से चरते रहते। इससे घरेलू जानवरों की संख्या में भारी व द्धि हुई तथा उनकी हालत भी पहले की अपेक्षा बहुत अच्छी रहने लगी। पशुओं की नस्ल में भी सुधार हुआ। मवेशियों की संख्या में व द्धि होने से खेतों में पटाने के लिए काफी प्राकृतिक खाद उपलब्ध होने लगी, इससे जमीन की उर्वरा शक्ति बढ़ी तथा अधिक अनाज उपजाया जाने लगा। यह भी देखा गया कि अधिक जमीन जानवरों के लिए छोड़ने से ज्यादा लाभ होता है। फलतः कृषक अनाज उपजाने के लिए कम तथा जानवर पालने के लिए ज्यादा जमीन रखने लगे। अधिक प्राकृतिक खाद उपलब्ध होने से पहले की तीन-खेत पद्धति की तुलना में कम जमीन में ही कहीं अधिक खाद्यान्न उपजाये जा रहे थे। अतिरिक्त मांस-आपूर्ति के फलस्वरूप पहले की अपेक्षा लोगों के खाने के लिए ज्यादा सामान उपलब्ध होने लगा। इस प्रकार, हर तरह से पुरानी कृषि-पद्धति की तुलना में नयी पद्धति अधिक लाभकर तथा श्रेष्ठ थी।

कृषि क्रान्ति ने औद्योगिक क्रान्ति को और आगे बढ़ाया। वस्तुतः कृषि उत्पादनों का औद्योगिक विकास से गहरा संबंध होता है। इस समय जनसंख्या का वह भाग जिसका कृषि उत्पादनों से कोई संबंध नहीं था, तेजी से बढ़ रहा था। कृषि उत्पादनों में व द्धि से ऐसे लोगों को भोजन मुहैया कराना आसान हो गया। इसके अतिरिक्त चकबंदी के कारण जो किसान बेदखल हो गए थे उनमें से अनेक कारखानों में मजदूर हो गए। इस प्रकार औद्योगिक प्रतिष्ठानों में श्रमिकों की कमी नहीं रही।

कृषि क्रान्ति से भोजन की मात्रा एवं गुणवत्ता से भी व द्धि हुई। जड़ों वाली सब्जियाँ उगाए जाने से पशुओं को पूरे वर्ष का चारा देना संभव हुआ। इससे लोगों को सालों भर ताजा मांस मिलने लगा। पहले चारे की कमी के कारण सर्दियों के आरम्भ में पशुओं को मारने का प्रचलन था। इसी प्रकार खाद आदि के प्रयोग से सब्जियों का उत्पादन भी अधिक मात्रा में होने लगा। इन बातों का जनता के स्वास्थ्य पर बड़ा अच्छा असर हुआ। मजदूरी की मांग, जल्द विवाह, पौष्टिक भोजन, स्वास्थ्य में प्रगति, चिकित्सा के क्षेत्र में हुई उन्नति, बच्चों की म त्यु दर में कमी, दुर्भिक्ष तथा प्लेग जैसी महामारियों में कमी आदि के चलते जनसंख्या में तेजी से व द्धि हुई। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण वस्तुओं की मांगें बढ़ी और इस कारण से उत्पादन क्षमता बढ़ती गयी।

शुरू-शुरू में यह कृषि क्रान्ति ब्रिटेन तक ही सीमित थी। अंग्रेज कृषकों तथा कृषि शास्त्रियों ने ही पहले-पहले इस क्षेत्र में नये प्रयोग शुरू किये तथा मार्ग-दर्शन का काम किया। महादेशीय यूरोप में नयी कृषि पद्धतियों के लोकप्रिय तथा प्रचलित होने में देर लगी। फ्रांस के छोटे काश्तकार पुराने कृषि तरीकों से ही चिपटे रहे। फ्रांसीसी कृषि इतिहासकार लावर्न ने लिखा कि उन्नीसवीं सदी के मध्य में फ्रांसीसी काश्तकार अपने अंग्रेज सहयोगियों की तुलना में लगभग सत्तर वर्ष पीछे थे। जर्मनी में पूर्वी प्रशा को छोड़कर कृषि-पद्धति और भी अधिक पिछड़ी हुई थी। पूर्वी प्रशा इस बात में एक अपवाद था। यहाँ के जंकर जमींदार अंग्रेज ग्रामीण भद्रलोक की तरह ही अपनी जायदाद के प्रबंध तथा देख-रेख में सक्रिय भाग लेते थे। कृषि में सुधार लाने में उसकी अभिरुचि थी। फलतः खेती के उन्नत तरीकों के प्रचलन में जर्मनी का यह क्षेत्र पीछे नहीं था।

अध्याय-3
तकनीकी क्रान्ति तथा कारखाना प्रणाली की स्थापना

विश्व-इतिहास के प ष्ठ क्रान्तियों से भरे पड़े हैं, किन्तु इनमें से अधिकांश क्रान्तियाँ राजनीतिक परिवेश में हुई है। अतः इन क्रान्तियों का इतिहास रक्तरंजित है। इनसे भिन्न एक और क्रान्ति हुई। इसे हम औद्योगिक क्रान्ति के नाम से जानते हैं। एक कैपसुल मुहावरे के रूप में इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम फ्रांस के समाजवादी नेता **ब्लांकी** ने 1837 में किया था। इसके बाद ही इस शब्द का व्यापक प्रयोग किया जाने लगा। इस क्रान्ति में रक्तपात नहीं हुआ। यह किसी निश्चित तिथि पर अथवा किसी वर्ग-विशेष के कारण घटित नहीं हुई। यह राजनीतिक क्रान्तियों की भाँति आकस्मिक भी नहीं थी। यह तो क्रमिक विकास का प्रतिफल थी। इस द ष्टि से इसे क्रान्ति कहना भी कठिन प्रतीत होता है। किन्तु, यदि क्रान्ति का अर्थ परिवर्तन है तो इस आधार पर औद्योगिक क्रान्ति को पूर्णरूप से क्रान्ति स्वीकार किया जा सकता है। नव-पाषाण काल में मानव ने कृषि की खोज की। इसके बाद अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति हुई, जब मनुष्य ने मशीनों के प्रयोग के द्वारा बड़ी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन और उन्हें विश्व के कोने-कोने में भेजना शुरू किया। विश्व इतिहास में अन्य कोई ऐसा परिवर्तन देखने को नहीं मिलता है जिसने मानव-जीवन को इतना अधिक प्रभावित किया हो। औद्योगिक क्षेत्र में होने वाली यह क्रांति एक ऐसी क्रांति थी जिसने उत्पादन के क्षेत्र में तत्काल परिवर्तन ला दिया और जीवन-यापन एवं रहन-सहन के क्षेत्र में एक सामाजिक उथल-पुथल पैदा कर दी। वस्तुतः इस क्रांन्ति के चलते जितना आमूल परिवर्तन मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में हुआ, उतना किसी भी अन्य क्रान्ति के द्वारा नहीं हुआ। निस्संदेह औद्योगिक क्रान्ति एक महान एवं आदर्श क्रान्ति थी।

औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ

औद्योगिक क्रान्ति का शाब्दिक अर्थ है उद्योग तथा उत्पादन के क्षेत्र में होने वाला परिवर्तन। अठारहवीं सदी के मध्य तक यूरोप में वस्तुओं का उत्पादन कुटीर-उद्योग के द्वारा होता था, किन्तु इस काल में पुनर्जागरण के क्रम में अनेक वैज्ञानिक आविष्कार तथा भौगोलिक खोजें हुईं। इन आविष्कारों के चलते बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियों में भाप की शक्ति की सहायता से बड़ी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। **प्रो० ल्यूकस** का मत है कि उत्पादन के प्राचीन तरीके बदल जाने से मनुष्य के दैनिक जीवन में एक क्रान्ति उत्पन्न होने लगी। इसे ही हम औद्योगिक क्रान्ति के नाम से जानते हैं। **प्रो० डेविस** का मत है कि "औद्योगिक क्रान्ति का अभिप्राय उन परिवर्तनों से है, जिन्होंने यह संभव कर दिया कि मनुष्य उत्पादन के प्राचीन तरीकों को त्याग कर बड़े पैमाने पर विशाल कारखानों में वस्तुओं का उत्पादन कर सके। इस क्रान्ति ने ऐसे यंत्रों, मशीनों और विधियों को जन्म दिया जिनकी सहायता से वस्तुएँ सहज ही थोड़े लोगों की सहायता से अपेक्षाकृत अच्छी और बड़े पैमाने पर तैयार होने लगीं। इसके लिए अनेकानेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए, नये यन्त्रों का निर्माण किया गया और उत्पादन तथा कार्य के नये तरीकें अपनाये गये।" उत्पादन के साधनों में परिवर्तन हो जाना ही औद्योगिक क्रान्ति था।

औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व वस्तुओं का उत्पादन छोटे पैमाने पर ग ह-उद्योग के द्वारा होता था। सामन्तवाद के पतन तथा पुनर्जागरण और वाणिज्य क्रान्ति के कारण नये शहर बसे, वस्तुओं की माँग बढ़ी, उत्पादन को प्रोत्साहन मिला, परन्तु उत्पादन की तकनीक और संगठन में कोई सुधार नहीं होने के चलते वस्तुओं की बढ़ती हुई माँग को पूरा करना कठिन होने लगा। समय की माँग के अनुकूल तथा व्यापार में व द्धि के कारण अब बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन अनिवार्य हो गया। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्पादन की तकनीक और संगठन में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। "इन परिवर्तनों के कारण एक नए प्रकार की अर्थव्यवस्था का विकास हुआ, जिसे औद्योगिक अर्थव्यवस्था कहा जाता है। इन परिवर्तनों को औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं, क्योंकि ये परिवर्तन अत्यन्त तेज रफ्तार से हुए और उनका संसार के इतिहास पर बहुत प्रभाव पड़ा।" एक अन्य विद्वान ने इसकी

व्याख्या करते हुए लिखा है "औद्योगिक क्रान्ति परिवर्तन की उस अवस्था का द्योतक है जिसके कारण प्राचीन काल के सीमित ग ह-उद्योगों के बदले भाप-शक्ति की सहायता से बड़े-बड़े कारखानों में बड़ी मात्रा में उत्पादन होने लगा।" औद्योगिक क्रान्ति ने समय की माँग को पूरा किया। इससे उत्पादन की मात्रा में व द्धि हुई और हाथों के स्थान पर मशीनों से काम लिया जाने लगा। इसके द्वारा औद्योगिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में आमूल परिवर्तन हुए। इस प्रकार स्वरूप तथा परिणामों की द ष्टि से हम इसे एक क्रान्ति के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

औद्योगिक क्रान्ति का जन्म तथा क्रमिक विकास

जैसा कि उल्लेख किया गया है, औद्योगिक क्रान्ति राजनीतिक क्रान्तियों से भिन्न थी। अतः इसकी न तो कोई निश्चित तिथि है और न कोई ऐसे एक विशेष वर्ग का उल्लेख किया जा सकता है जिसने इस क्रान्ति को लाया हो। वस्तुतः इसका जन्म विकास की एक प्रक्रिया के रूप में हुआ। सामान्यतः अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इस क्रान्ति का जन्म माना जाता है। लगभग एक शताब्दी तक यह क्रान्ति तेजी से बढ़ती रही। इसी एक शताब्दी (लगभग 1770 ई० से 1870 ई० तक) को औद्योगिक क्रान्ति का काल माना जाता है।

औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व यूरोप के देश सामन्तवादी व्यवस्था के शिकंजों में जकड़े हुए थे। यह व्यवस्था मूलतः कृषि पर आधारित थी। कृषि के अतिरिक्त कुछ कुटीर-उद्योग भी प्रचलित थे। इनमें दैनिक जीवन में काम आनेवाली वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। जुलाहे, बढ़ई, लुहार, कुम्हार आदि अपने-अपने घरों में ये वस्तु तैयार करते थे। लोगों की आवश्यकताएँ सीमित थीं, अतः थोड़े उत्पादनों में ही लोगों का काम चल जाता था। परन्तु सामन्तवाद के पतन, पुनर्जागरण तथा वाणिज्य-क्रान्ति के कारण अब नये शहर बसने लगे, जनसंख्या में व द्धि हुई और व्यापार की प्रगति होने लगी। परिणामस्वरूप वस्तुओं की माँग बढ़ने लगी। ऐसा होना तब तक असम्भव था, जब तक कि उत्पादन की तकनीक और संगठन में महत्त्वपूर्ण सुधार नहीं लाया जाता।

पन्द्रहवीं शताब्दी में यूरोप में पूँजीवाद का जन्म हुआ। यह व्यवस्था सामन्तवादी व्यवस्था से भिन्न थी। सामन्तवादी व्यवस्था में वस्तुओं का उत्पादन स्थानीय इस्तेमाल के लिए होता था। मुनाफा कमाने के लिए सम्पदा का निवेश (Investment) नहीं होता था। इसके विपरीत पूँजीवाद के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था बड़े बाजारों के लिए अधिक-से-अधिक वस्तुएँ उत्पन्न करने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तेजी से आगे बढ़ रही थी जिससे अधिक मुनाफा कमाया जा सके। पूँजीवादी व्यवस्था ने नये देशों की खोज तथा उपनिवेशों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया। यूरोप के देशों का व्यापार तेजी से बढ़ा और यूरोप वाले मालोमाल हो गये। अधिक मात्रा में और सस्ते मूल्यों पर वस्तुओं का उत्पादन कर अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाने की इच्छा ने पूँजीवाद के साथ-साथ औद्योगिक क्रान्ति का मार्ग तैयार किया।

1750 ई० के आस-पास इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ। अब तक लोग मशीनों के नाम पर हल, पम्प, चरखां, पहिया आदि का प्रयोग कर रहे थे। वस्तुओं का उत्पादन हाथों के द्वारा किया जाता था। फिर भी नयी तकनीक के विकास का प्रयत्न सदियों से हो रहा था, किन्तु 1750 ई० के पूर्व इस दिशा में लोगों को कोई विशेष सफलता नहीं मिल पायी थी, लेकिन इस समय कुछ ऐसे आविष्कार हुए जिन्होंने मनुष्य के जीवन में तेजी से परिवर्तन लाना शुरू कर दिया। आविष्कारों का जो सिलसिला शुरू हुआ वह अब तक बना हुआ है और भविष्य में भी बना रहेगा।

नये आविष्कारों के कारण वस्तुओं का उत्पादन बड़ी मात्रा में हाथों के स्थान पर मशीनों के द्वारा किया जाने लगा। परम्परा से चली आने वाली श्रेणी प्रणाली (Guild System) अब तक बेकार हो गयी, क्योंकि यह वस्तुओं की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में असमर्थ सिद्ध हो रही थी। श्रेणी प्रणाली का स्थान अब घर-उत्पादन पद्धति (Putting out system) अथवा घरेलू पद्धति (Domestic system) ने ले लिया। इस प्रकार उत्पादन में एक नये युग का आरम्भ हुआ। किन्तु ज्यों-ज्यों परिवर्तित परिस्थितियों में वस्तुओं की माँग बढ़ती गयी, घरेलू पद्धति की उपयोगिता भी समाप्त होती गयी। 1750 ई० के पश्चात् इस पद्धति का स्थान एक नयी पद्धति ने ले लिया जिसे हम 'कारखाना पद्धति' (Factory system) के नाम से जानते हैं। वस्तुतः इस पद्धति के अन्तर्गत ही हाथों के स्थान पर मशीनों के द्वारा बड़ी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन शुरू हुआ। बड़े-बड़े पूँजीपति ऐसे कारखानों के मालिक होते थे। मजदूर कारखानों में मशीनों के सहारे वस्तुओं का निर्माण करते थे, किन्तु कारखाना तथा कारखाने की प्रत्येक वस्तु का मालिक पूँजीपति होता था। मजदूरों को केवल अपनी मजदूरी से मतलब था। सारी उत्पादित

वस्तुएँ पूँजीपति की होती थीं। वह उनका व्यापार कर अधिक-से-अधिक लाभ कमाने का प्रयास करता था। वस्तुतः कारखाना पद्धति ने ही औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया। ज्यादा-से-ज्यादा धन कमाने की चाह ने नयी मशीनों के आविष्कारों को प्रोत्साहन दिया और औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण

औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व यूरोप में अनेक ऐसे परिवर्तन हुए थे जिन्होंने लोगों में एक नयी चेतना का संचार किया था। पुनर्जागरण तथा धर्म-सुधार के फलस्वरूप लोगों के मस्तिष्क खुल गये थे। शिक्षा के प्रचार से ज्ञान का विस्तार हुआ और लोग नवीन आविष्कारों की ओर उन्मुख हुए। इस प्रकार अठारहवीं सदी में नयी खोजों और आविष्कारों के युग का प्रारम्भ हुआ जिसने औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया।

औद्योगिक क्रान्ति का प्रस्फुटन कुछ खास कारणों के चलते हुआ। इनमें से निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं:

उपनिवेशों की स्थापना: पुनर्जागरण काल में और उसके बाद यूरोप के नाविकों ने अनेक भौगोलिक अन्वेषण किये। इसके चलते यूरोप के विभिन्न देश-इंग्लैंड, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड आदि को उपनिवेश-स्थापना की प्रेरणा मिली। यूरोप के इन सभी देशों ने अमेरिका, एशिया, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया महादेशों के विभिन्न देशों में अपने-अपने उपनिवेशों की स्थापना की। उनके उपनिवेश काफी दूरी पर बसे हुए थे। इन उपनिवेशों पर देशों का शासन द ढ़ता से स्थापित हो और इनका पूरा लाभ स्वामी देशों को मिले, इसके लिए आवागमन के अच्छे और तेज चलने वाले साधनों की आवश्यकता थी। अतः यूरोप के लोग आवागमन के द्रुतगामी तथा अच्छे साधन ढूँढ़ने के लिए प्रयत्नशील हो उठे। इस प्रकार यातायात के साधनों में क्रान्ति हुई। ये उपनिवेश अच्छे बाजार थे जहाँ ज्यादा-से-ज्यादा कच्चे माल प्राप्त किये जा सकते थे तथा उत्पादित वस्तुओं को ऊँचे मुनाफे पर बेचा जा सकता था।

वस्तुओं की माँग में व द्धि: वाणिज्य क्रान्ति तथा घरेलू पद्धति के कारण यूरोप का व्यापार तेजी से बढ़ रहा था। उपनिवेशों की स्थापना के कारण यूरोपीय देशों के व्यापार में और भी तेजी आ गयी। इससे उनकी वस्तुओं की माँग में भी व द्धि हो गयी। व्यापारीगण भी चाहते थे कि वे ज्यादा-से-ज्यादा सामान बेचकर अपने लाभ में व द्धि करें। किन्तु, पुरानी घरेलू पद्धति से उत्पादन अधिक नहीं हो सकता था। बड़े-पैमाने पर उत्पादन के लिए नयी तकनीक तथा संगठन की आवश्यकता पड़ी। बड़े-बड़े कारखाने में मशीनों से उत्पादन होना आवश्यक था। अतः बड़े कारखानों तथा बड़ी मशीनों की आवश्यकता पड़ी। और इस प्रकार यूरोप में कारखाना-पद्धति का विकास हुआ जिसने औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया।

कृषि के क्षेत्र में क्रान्ति: औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व यूरोप में कृषि के क्षेत्र में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए थे। अनेक कृषि-सुधारकों ने कृषि की नवीन तथा आधुनिक वैज्ञानिक विधियों का सुत्रपात किया। **सर रॉबर्ट बोस्टन** ने बेकार एवं परती भूमि की समस्या और मवेशियों की चारा-सम्बन्धी समस्या को सुलझाने का प्रयास किया। **जेथ्रोटल** ने कृषि-सुधार के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण विधियों पर प्रकाश डाला-**प्रथम,** खेतों को बार-बार जोतकर मिट्टी को जितना ही अधिक बारीक किया जायेगा उतनी ही अधिक उसमें पैदावार होगी। **द्वितीय,** बीज बोने के लिए खेतों में पहले कूँड (groove) बनाना चाहिए और उनमें बीजों को निश्चित दूरी पर डालना चाहिए। इस कार्य के लिए एक वैज्ञानिक मशीन का निर्माण किया गया जिसे ड्रिल कहते हैं। **लार्ड टाउनशेड** ने फसलों के आवर्त्तन (Rotation of crops) पर वैज्ञानिक परीक्षण किया। उसने बताया कि खेतों में बारी-बारी से फसल बदल-बदल कर उगानी चाहिए। इसी प्रकार **राबर्ट बैकवेल** तथा **चार्ल्स कोलिंग** ने परीक्षण करके पशुओं की नस्ल में सुधार किये। परिणामस्वरूप पशु हृष्ट-पुष्ट हो गये, जिससे लोगों को मांस और अन्न का अभाव नहीं रहा। **टामस कोक** ने जमीन को अधिक उपजाऊ बनाने के लिए खाद के प्रयोग पर बल दिया। **सर आर्थर यंग** की कृषि योजनाओं की प्रशंसा करते हुए इतिहासकार **ट्रिवेलियन** ने उसे 'नयी कृषि का मसीहा' कह कर पुकारा है। इन सुधारों के कारण इंग्लैंड और बाद में अन्य यूरोपीय देशों में आधुनिक तरीकों से खेती की जाने लगी। परिणामस्वरूप कृषि-उत्पादनों में व्यापक प्रगति हुई तथा पशुओं की नस्ल सुधारी गयी। कृषि एवं पशु से संबंधित उत्पादनों में व द्धि ने भी औद्योगिक क्रान्ति के जन्म तथा विकास में व्यापक सहयोग दिया।

खनिज की प्रचुरता: नयी मशीनों तथा नये यंत्रो के लिए लोहे की आवश्यकता होती है। मशीनों को चलाने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है, जो उन दिनों कोयले से प्राप्त की जाती थी। यूरोप के देशों में लोहा तथा कोयला जैसे खनिज पदार्थों की प्रचुरता है। अतः यूरोप के देशों में बड़ी संख्या में कल-कारखाने खोले गये।

पूँजी की उपलब्धिः बड़े-बड़े कल-कारखाने के निर्माण में बड़ी पूँजी की आवश्यकता होती है। औद्योगिक क्रान्ति के बहुत पहले ही पूर्वी देशों के साथ व्यापार करके यूरोप के देशों ने काफी पूँजी एकत्र कर ली थी। अन्तर्देशीय तथा विदेशी व्यापार से यूरोप के व्यापारियों के पास बहुत धन हो गया था। इस प्रकार यूरोप में औद्योगिक विकास के लिए पूँजी की कमी नहीं थी। सम्पन्न व्यापारी उद्योगों के विकास तथा आविष्कारों में विशेष रुचि लेने लगे। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ।

सस्ते मजदूरः जैसा कि उल्लेख किया गया है, उद्योग के क्षेत्र में क्रान्ति आने के पूर्व ही यूरोप में कृषि-क्रान्ति हो गयी थी। अब वहाँ वैज्ञानिक ढंग से खेती होने लगी थी। छोटी-मोटी मशीनों के सहारे कृषि-कार्य सम्पन्न किये जाने लगे। खेतों की चकबन्दी, जमींदारों द्वारा जमीन की खरीद और चारागाह की भूमि को खेती के काम में लाने के फलस्वरूप देहातों में बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न हो गयी। नगरों का वैभव देखकर तथा गाँवों में रोजगार के साधन न होने के कारण बड़ी मात्रा में लोग गाँवों को छोड़कर नौकरी की तलाश में शहरों की ओर भागने लगे। रोजगार की खोज में ये लोग कम मजदूरी पर ही काम करने को तैयार हो जाते थे। इस प्रकार पूँजीपतियों को लाभ-ही-लाभ था। कम मजदूरी पर अधिक मजदूर मिल रहे थे। अतः व्यापारी वर्ग एवं उद्योगपतियों ने अपने व्यापार तथा उद्योग का व्यापक विस्तार किया।

राष्ट्रीय राज्यों का उदयः शिक्षा के प्रसार तथा अमेरिका, फ्रांस एवं इंग्लैण्ड में होने वाली क्रान्तियों के कारण सम्पूर्ण यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना का तेजी से प्रसार हुआ। राष्ट्रीयता की भावना के कारण एक ओर शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ तो दूसरी और लोग अपने राष्ट्र की सम द्धि को बढ़ाने के लिए पूरी लगन के साथ जुट गये। शक्तिशाली राज्यों ने बड़ी आसानी से आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था कायम की। औद्योगिक प्रगति तथा नये आविष्कारों के लिए शान्त वातावरण काफी हितकर सिद्ध हुआ।

वैज्ञानिक प्रगतिः औद्योगिक क्रान्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण आविष्कार हुए, जिनके चलते विभिन्न उद्योगों में बिल्कुल उथल-पुथल हो गयी। पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आन्दोलन के कारण यूरोप में बौद्धिक प्रगति का रास्ता साफ हो गया था। साथ ही, विज्ञान के क्षेत्र में यूरोप के लोगों ने यथेष्ट प्रगति की। नये अनुसंधान हुए, नये वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ तथा नये आविष्कार हुए। कई प्रकार के नये यन्त्र बनाये गये। **जेम्स वाट** के भाप के इंजन ने लोगों को भाप की चालक-शक्ति का ज्ञान दिया। इसके द्वारा मशीनों को संचालित किया जाने लगा। भौतिकी एवं रसायन-शास्त्र में नवीन खोजें की गयीं। वैज्ञानिक प्रगति ने यूरोपवासियों के बीच भौतिक उन्नति की आकांक्षाएँ पैदा कीं। अतः वैज्ञानिक खोजों का प्रयोग उद्योगों के लिए किया जाने लगा। इस प्रकार भी औद्योगिक क्रान्ति को सफलता मिली।

स्पष्ट है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप का वातावरण पूर्ण रूप से औद्योगिक क्रान्ति के लिए अनुकूल था। कच्चे माल की प्राप्ति तथा उत्पादित वस्तुओं को बेचने के लिए यूरोप के देशों ने उपनिवेशों की स्थापना के द्वारा बड़े-बड़े बाजार ढूढ़ँ लिये थे। वस्तुओं की माँग बढ़ रही थी। मजदूरों की कोई कमी नहीं थी। खनिज एवं कृषि उत्पादनों में भी व द्धि हो रही थी। यूरोप के पूँजीपतियों के पास नये कल-कारखानों को खोलने के लिए काफी अतिरिक्त पूँजी थी। नये-नये आविष्कार हो रहे थे। इस प्रकार यूरोप में औद्योगिक विकास के लिए एक सुन्दर रंगमंच बनकर तैयार हो गया था।

औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम इंग्लैंड में ही क्यों हुई?

औद्योगिक क्रान्ति पहले-पहले इंग्लैंड में शुरू हुई। इसके क्या कारण थे? ब्रिटिश समाज तथा अर्थव्यवस्था में कौन-सी विशेषताएँ थीं जिससे उसे इन परिवर्तनों का नेत त्व करने का मौका मिला? इन सवालों का कोई एक जवाब नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः इसके कई कारण थे।

क्रान्तिकारी उथल-पुथल की बात इतिहासकार चाहे जो करें आम आदमी आदतन अपरिवर्तनवादी या रूढ़िप्रिय होता है। बिना किसी जबरदस्त प्रलोभन या आकर्षण के श्रमजीवी रहन-सहन के पुराने तरीकों को नहीं छोड़ना चाहते न ही वे अजनबी तथा भीड़-भड़ाके वाले शहरों में ही जाकर बसना चाहते अथवा खाना या कारखानों के सीलन भरे तथा खतरनाक परिवेश में काम करने को तैयार होते हैं। इसी तरह निश्चित आमदनी पर आराम की जिन्दगी बिताने वाले धनी-मानी लोग जब तक कोई बड़ा कारण नहीं होता अपनी सम्पत्ति नवीन तथा पहले से अपरीक्षित व्यवसायों में लगाने का खतरा मोल लेना नहीं चाहते। किसी

देश की अर्थव्यवस्था आधुनिक मशीनी उत्पादन की ओर तभी मोड़ी जा सकती है जब वहाँ के लोगों में गत्यात्मक (mobility) हो तथा वहाँ की राष्ट्रीय सम्पदा भी गत्यात्मक हो। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध के इंग्लैंड में ऐसी गत्यात्मकता थी। यह सुदीर्ध ऐतिहासिक घटनाओं की परिणति थी और यह घटना कृषि क्रान्ति के साथ जुड़ी हुई थी।

इंग्लैंड में अठारहवीं सदी में कृषि तथा पशुपालन के तरीकों में व्यापक परिवर्तन हुए थे। इन्हें कुल मिलाकर कृषि क्रान्ति का नाम दिया गया। औद्योगिक क्रांति उन परिवर्तनों से घनिष्ठ रूप से संबंधित थी। इंग्लैंड के बड़े भूमिपतियों ने सतरहवीं शताब्दी की क्रान्तियों में वहाँ के नरेश पर विजय हासिल की थी एवं नया शासनतंत्र पर हावी हो गये थे। इसका फायदा उठाकर अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए उन्होंने परिवर्तनों का एक नया दौर शुरू किया था। खुले होने के कारण असुरक्षित खेत आम उपयोग की जमीन तथा खेती की अर्द्ध सामुदायिक तरीके के पिछली सदियों से चली आती हुई प्रणाली के कारण खेती तथा पशुपालन के उन्नत तरीकों की खोज तथा उन्हें लागू करने में बाधा उत्पन्न होती थी। इस दिशा में सफलता हासिल करने के लिए उन्हें जमीन के बड़े-बड़े टुकड़ों की जरूरत थी जिनके चारों और घेराबन्दी (enclosure) की गयी हो। इसके लिए भूमिपतियों ने घेराबन्दी कानून पास करवाया। इन सबके परिणामस्वरूप विस्त त क्षेत्रों में खेती और पशुपालन से काफी आमदनी बढ़ गयी, खेती उन्नत तरीकों से की जाने लगी तथा उत्पादन में व द्धि हुई। दूसरी ओर हजारों-हजार कृषक तथा कृषिजीवी परिवार अपनी जमीनों से बेदखल हुए, असंख्य लोग ग ह-विहीन हुए तथा अनेकों की आजीविका के परम्परागत साधन छिन गये। पर घेराबन्दी के कारण खाद्यान्नों के उत्पादन में निश्चित तरक्की हुई। ब्रिटिश फार्मों में पहले की अपेक्षा कहीं कम लोगों से काम कराके इतना उत्पादन किया जा रहा था जिससे काफी बड़ी आबादी को खिलाया जा सकता था। उधर घर-बार से विच्छिन्न अनेक लोगों ने नये कारखानों तथा औद्योगिक केन्द्रों में आजीविका अर्जन के हेतु आश्रय लिया। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के लिए जिस बड़ी संख्या में श्रमजीवियों की जरूरत होती है वह इंग्लैंड में सहज ही उपलब्ध थी। उधर महादेशीय यूरोप में उन्नीसवीं सदी के मध्य तक श्रमिक आपूर्ति का कोई स्रोत नहीं था। मिसाल के तौर पर फ्रांस में छोटे काश्तकारों की पद्धति कायम थी। इससे वहाँ के उद्योग-धन्धों के विकास में बाधा पड़ी।

औद्योगिक क्रान्ति के लिए दो अन्य उत्पादन भी आवश्यक हैं-कारखानों के लिए कच्चा माल का पर्याप्त आपूर्ति स्रोत तथा कारखानों में तैयार सामग्रियों के लिए बाजार। औरों की अपेक्षा ब्रिटेन को इनके लिए भी कई सुविधाएँ थीं। उसके पास मालवाही जहाज बड़ी संख्या में थे तथा औपनिवेशिक साम्राज्य भी। साम्राज्य विस्तार की होड़ में उसे फ्रांस पर फतह हासिल हुई थी। नेपोलियन की पराजय के बाद अमेरिकी महादेश में उसकी सत्ता को चुनौती देने वाला कोई नहीं रह गया था। इंग्लैंड में प्रगतिशील व्यापारी वर्ग था, उसके व्यापारी कच्चा माल तथा औद्योगिक उत्पादन को सुदूर समुद्र पार के देशों से लाने ले जाने को उद्यत रहा करते थे। उसके तैयार माल के लिए बड़ी संख्या में सम्भावित ग्राहक पहले से ही उसके उपनिवेशों तथा शासित क्षेत्रों में मौजूद थे। ब्रिटिश सौदागर को माल कहाँ बेचें इसकी चिन्ता नहीं होती थी। वह जितना भी माल तैयार कर सकता था उसे बेच सकता था। फलतः उसे ग्राहकों की कमी नहीं थी। उसके पास परिवहन के अच्छे साधन थे। इनके अतिरिक्त नये विचारों को कायोन्वित करने के लिए उसके पास पर्याप्त पूँजी थी। अधिकाधिक लाभार्जन की अनुप्रेरणा वह उत्पादन के नये तथा तेज रफ्तार में काम करने वाले साधनों की तलाश में रहता था। ऊनी वस्त्र का उत्पादन इंग्लैंड में बहुत अरसे से होता आ रहा था। जरूरत थी उसका उत्पादन बढ़ाने की जिससे ज्यादा से ज्यादा मात्रा में उसे बेचा जा सके। इसी तरह सूती वस्त्र उद्योग के विस्तार की अपार सम्भावना थी। एशियाई देशों से महीन सूती वस्त्र के आयात के फलस्वरूप यूरोप के वैभवशाली लोगों की रुचि बदल गयी थी। हाथ से कताई-बुनाई करके उनकी आयतें पूरी नहीं की जा सकती थीं। यदि मशीनों के द्वारा कताई-बुनाई तथा रंगाई-छपाई की जा सकती तो फिर क्या कहना था। बाजार की असीम सम्भावनाएं थीं। कताई तथा बुनाई की शक्ति परिचालित संयत्रों की तालाश एवं आविष्कार के मूल में ये अनुप्रेरणाएँ काम कर रही थीं।

संयंत्रों का विकास तथा कारखाना बैठाना व्ययसाध्य होते हैं। इनके लिए बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है। फलतः औद्योगीकरण का एक आवश्यक उत्पादन है पूँजी निर्माण तथा पूँजी की उपलब्धि। इंग्लैंड में काफी पहले से ही बैंकिंग, साख तथा सट्टा की कम्पनियाँ काम कर रही थीं। अतः गत्यात्मक तथा चालू पूंजी का यहाँ कतई अभाव नहीं था। आवश्श्यकतानुसार धनराशियाँ एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय से हस्तान्तरित की जा सकती थीं। अनेक ऐसे भूमिपति थे जो अपनी सम्पदा उद्योग-धन्धों में लगाने को उत्सुक रहते थे। कभी-कभी पूँजी लगाने वालों को नुकसान भी होता था, कोई कम्पनी दीवाला पीट कर बैठ जाती थी। कुछ ऐसे काम होते थे जिनमें धन लगाने वालों को लाभ अर्जित करने के लिए काफी लम्बा प्रतीक्षा

करनी पड़ती थी। फिर भी लगाने के लिए इंग्लैंड में धन का अभाव नहीं होता था। अतः इंग्लैंड जैसा देश जो वाणिज्य-व्यवसाय खेती-बारी तथा पशुपालन से अपार सम्पदा का स्वामी हो चुका था, मशीन युग का अग्रदूत बनने की स्थिति में था। महादेशीय यूरोप के देश अभी इससे काफी पीछे थे।

नये यान्त्रिक आविष्कारः इंग्लैंड में यांत्रिक युग की शुरूआत वस्त्र उद्योग से हुई। 1773 में **जॉन के०** ने फ्लाई शट्ल का आविष्कार किया। इस मशीन से दो बुनकरों द्वारा चलाये जाने वाले लूभ को चलाने के लिए केवल एक ही आदमी की जरूरत होती थी। इससे बुनाई की रफ्तार बढ़ी तो अधिक सूत की मांग होने लगी। इसके पूर्व सातवें दशक में ही स्पिनिंग जेनी नामक कताई का यांत्रिक उपकरण बनाया जा चुका था। कताई तथा बुनाई के दोनों उपकरणों का पहले कतिनों एवं बुनकरों द्वारा घर में ही उपयोग किया जाता था। 1769 में **आर्कराइट** ने कताई का एक नया संयंत्र इजाद किया। इससे अनेक सूत एक ही साथ तैयार होते थे। पहले इसे जल शक्ति के द्वारा चलाया जाता था; नौवीं दशक में वाष्प इंजिन से उसे चलाया जाने लगा। वस्त्र का उत्पादन तथाकथित "मिल" या "फैक्टरी" में होने लगा। अब वस्त्र उत्पादन के ये कारखाने बड़े-बड़े मकानों में होते थे। ये मकान धूप, हवा तथा रोशनी के अपेक्षातर अभाव में अरुचिकर तथा अनाकर्षक होते थे। इनमें अनेक मजदूर काम करते थे। कताई के उपकरण तथा उन्हें चलाने के लिए इंजिन लगे होते थे। मशीनी कताई से सूत का इतना अधिक तथा कम खर्च पर उत्पादन होता था कि हाथ की कताई का उसकी होड़ में टिके रहना असम्भव हो गया। तब पावरलूम का ईजाद हुआ। 1800 के कुछ ही बाद बुनाई तथा कताई दोनों ही कारखाना में की जाने लगी। अब समस्या थी कपास की धुनाई की ताकि कारखानों के संयंत्र बेकार नहीं बैठे रहें। **इली व्हिटनी** ने धुनाई का नया उपकरण बनाकर इस कमी को भी दूर कर दिया। इस उपकरण के द्वारा कपास से बीज निकालने का काम काफी तेजी से होता था। इन संयंत्रों की ईजाद के फलस्वरूप 1820 तक ब्रिटिश सूती वस्त्र उद्योग में काफी व द्धि हुई।

कोयला और लोहाः ब्रिटेन के दो अन्य बुनियादी उद्योग-कोयला निकालने तथा अन्य खनिज पदार्थों के उद्योग में नयी तकनालाजी विकसित हुई। नयी इन्जिनों की ऊर्जा आपूर्ति का आवश्यक उपादान कोयला था। लोहा इन्जिनों को बनाने के लिए आवश्यक था। अतः वस्त्र उद्योग में प्रगति कोयला तथा लोहा के उत्पादन तथा लौह-उद्योग पर निर्भर करती थी। ब्रिटेन में कोयला के प्रचुर भंडार थे। लेकिन जलावन के लिए जब तक लकड़ी उपलब्ध रही, इसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया था। अठारहवीं सदी के आरम्भ तक अधिकांश जंगल कट चुके थे। फलतः जलावन के लिए लकड़ी काफी महँगी हो चुकी थी। अब तक लोहा गलाने के लिए लकड़ी का कोयला इस्तेमाल किया जाता था। लेकिन लकड़ी की कमी से कोयला भी मुश्किल से ही मिल पाता था। फलतः लोहा गलाने की किसी नयी प्रक्रिया की तलाश की जा रही थी। कोयला इन दोनों जरूरतों को पूरा कर सकता था।

1700 तक कोयला निकालने के प्रारम्भिक प्रयास शुरू हो चुके थे। किन्तु जमीन के अन्दर पानी निकल जाने के कारण ज्यादा गहराई तक खोदना सम्भव नहीं था। इस पानी को बाहर निकाल फेंकने का जब तक कोई तरीका नहीं सोचा जाता कोयला का उत्पादन नहीं बढ़ सकता था। वाष्प चालित इन्जिन का निर्माण इसी प्रक्रिया की खोज के क्रम में हुआ। वैसे लगभग एक सौ वर्ष से वाष्प इंजिन के ईजाद के लिए प्रयत्न जारी थे। 1702 के लगभग **टामस न्युकॉम** ने पहला वाष्प इंजिन बनाया। कोयला की खानों में से पानी निकाल फेंकने के काम में इसका व्यापक उपयोग होने लगा। लेकिन इसको चालू रखने में इतना अधिक ईंधन लगता था जिसके कारण इसे कोयले की खान में इस्तेमाल किया जाना काफी महँगा पड़ता था। 1763 में ग्लासगो विश्वविद्यालय का एक तकनीकी सहायक **जेम्सवाट** ने न्यूकॉम द्वारा निर्मित इन्जिन में सुधार करने का काम शुरू किया। **मैथ्यु बोल्टन** के साथ मिलकर उसने इसके लिए एक कम्पनी खोली। वॉट के प्रयोग खर्चीले होते थे। इसके लिए बोल्टन ने धन की व्यवस्था की। सदी के आठवें दशक तक यह कम्पनी अच्छे तथा उपयोगी वाष्प इंजिन बनाने में कामयाब हो गयी। न केवल अपने देश की जरूरतें पूरी करने के लिए बल्कि देशों में निर्यात के लिए काफी इंजनें तैयार होने लगी थीं।

ब्रिटेन की खानों में लोहे की कमी नहीं थी, लेकिन इस्तेमाल करने के पहले उन्हें गलाना होता था। लकड़ी के कोयला पर भरोसा नहीं किया जा सकता था। अतः इसके लिए भी किसी नयी प्रक्रिया की तालाश जारी थी। लोहा गलाने की प्रक्रिया ईजाद करने में **अब्राहम डार्बी** ने पहल किया। 1709 में उसे लकड़ी के कोयला के बदले पथल कोयला से उच्च कोटि का लोहा गलाने में सफलता मिली हालाँकि इस ईजाद से तत्काल लौह उद्योग को बहुत सहायता मिली। कारण यह था कि डार्बी की प्रक्रिया से गलाया गया लोहा शुद्ध नहीं समझा जाता था। 1783-84 में **हेनरी कोर्ट** ने कोक कोयला का इस्तेमाल करके कच्चा लोहा

से सभी अशुद्धियाँ दूर करके उसे फोर्ज में व्यवहार करने के योग्य शुद्ध लोहा निकाला। इसके फलस्वरूप लकड़ी के कोयला पर आश्रित रहने से मुक्ति मिली तथा लोहा-उद्योग के विकास का मार्ग खुल गया।

परिवहन के क्षेत्र में क्रान्तिः लोहा इस प्रकार 1800 तक इंग्लैंड में तकनीकी क्रान्ति की पूरी प ष्ठभूमि बन चुकी थी। ईंधन के लिए कोयला प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। मशीनों तथा अन्य काम के लिए उच्च स्तर का लोहा भी मिल रहा था। वाष्प इंजिन से शक्ति की समस्या हल की जा चुकी थी। केवल एक चीज की कमी रह गयी थी तेज रफ्तार से चलने वाले तथा भरोसा योग्य परिवहन के साधन की। 1769 तथा 1830 के मध्य नहरों का जाल बिछाकर देश के एक छोर से दूसरे छोर तक माल ले जाने, ले आने का काम बहुत सहज तथा कम खर्चीला कर दिया गया था। इससे कोयला जैसे भारी भरकम सामान के परिवहन में भारी सुविधा हुई थी। सदी के चौथे दशक में इंग्लैंड में रेल की पटरियाँ बिछाकर तथा रेलगाड़ी चलाकर यातायात तथा परिवहन के क्षेत्र में क्रान्ति-सी कर दी गयी। कच्चा माल तथा कारखानों में बने सामान तेज रफ्तार की गाड़ियों से लाना पहुँचाना आधुनिक औद्योगिक समाजों का एक प्रमुख लक्षण है। वाष्प इंजिन चलित रेलगाड़ी इसका प्रतीक थी, इसके पूर्व कई दशकों तक कोयला को घोड़ा गाड़ियों से ढोया जाता था। सदी के तीसरे दशक में व्यावसायिक वाष्प इंजिन चालित रेलगाड़ी का निर्माण हुआ। 1829 में जार्ज स्टीफेन्सन ने अपनी स्वतः निर्मित इंजिन से लिवर पुल और मैन्चेस्टर के बीच सोलह मील प्रति घंटा के रफ्तार से रेलगाड़ी चलाकर रेल-परिवहन के युग की शुरूआत की। मार्के की बात थी कि यह भी ब्रिटेन में ही हुई थी। फिर तो दो दशकों के भीतर ही ब्रिटेन में साढ़े छः हजार मील से भी अधिक रेल लाइनें बिछायी जा चुकी थीं। इस नये परिवहन साधन का प्रभाव इंग्लैंड के जीवन के लगभग हर पक्ष पर महसूस किया जाने लगा था।

अपने प्रारम्भिक चरण में ब्रिटेन की तकनीकी क्रान्ति मुख्यतः कपड़ा उद्योग तथा लोहा और कोयला के खनिज उद्योगों से ही सम्बन्धित थी। आरम्भिक कारखाने मुख्यतः कपड़ा उद्योग के कारखाने थे, वस्तुतः सूती कपड़ा उद्योग के। सूती कपड़े का उद्योग यूरोपीय देशों के लिए नया उद्योग था। अतः इसके यंत्रीकरण में किसी ओर से कोई बाधा उपस्थित नहीं की गयी। किन्तु ऊनी वस्त्र उद्योग की जड़ें काफी गहरी थीं। इसमें कारखाने के मालिक तथा उसमें काम करने वाले दोनों ही पुराने तथा प्रचलित तरीकों का परित्याग करने को जल्दी तैयार नहीं हो रहे थे। फलतः इस उद्योग के यन्त्रीकरण की गति काफी धीमी रही। परिवर्तनों की आकस्मिकता का अतिरंजित बखान नहीं होना चाहिए। अक्सर ऐसा भी कहा गया है कि औद्योगिक क्रान्ति वास्तव में क्रान्ति थी ही नहीं। उन्नीसवीं सदी के चौथे दशक तक अंग्रेज मजदूर वर्ग का एक बहुत छोटा हिस्सा नये कारखानों में काम कर रहा था। लेकिन यह तो माना ही जाने लगा था कि भविष्य कारखाना-उत्पादन तथा कारखाना व्यवस्था का ही होने वाला था। यह साफ झलक रहा था कि कारखाना उत्पादन-पद्धति का विकास होना है। कारखाना प्रगति के बढ़ते कदम के जबरदस्त प्रतीक थे।

यह क्रान्ति इंग्लैंड में ही क्यों हुई, इसके लिए कुछ अन्य कारणों की भी चर्चा की जा सकती है-

अंग्रेजों की चारित्रिक विशेषताः किसी भी राष्ट्र की महानता के पीछे उस राष्ट्र के लोगों का चरित्र होता है। निःसंदेह इंग्लैंड उद्योग के क्षेत्र में विश्व का अगुआ बना, इसमें अंग्रेजों के चरित्र का सहयोग मुख्य रूप से था। वे बड़े ही निर्भीक तथा आशावादी होते हैं। छोटी-छोटी नावों पर बैठकर वे नये देश की खोज के लिए भयंकर समुद्र में निर्भीक यात्रा करते थे। इस प्रकार उन्होंने अनेक उपनिवेश बसाये और अपना देश छोड़कर उन्हीं उपनिवेशों में जा बसे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि वे बड़े की चतुर व्यापारी भी थे। उपनिवेशों के साथ उन्होंने अपना निजी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया तथा निजी व्यापारिक कम्पनियों की स्थापना की। इसके लिए वे अपनी सरकार पर आश्रित नहीं रहते थे। ब्रिटेन की सरकार ने तो बाद में जाकर व्यवस्थाओं को अपने हाथों में लिया जैसा कि हम भारत, कनाडा तथा दक्षिण अफ्रीका के संदर्भ में देखते हैं। अंग्रेज बड़े ही दुस्साहसिक तथा योग्य नाविक होते थे। वे द्रुतगामी नावों का स्वयं निर्माण किया करते थे और उनकी सहायता से लगभग सम्पूर्ण विश्व में फैले हुए अपने उपनिवेशों के साथ सम्पर्क बनाये रखते थे। अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि नये अन्वेषणों तथा खोजों में वे गहरी अभिरुचि रखते थे। वे अपनी समस्याओं का निदान स्वयं ढूँढ निकालते थे, चाहे वे कितनी भी विकट क्यों न हों।

राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन में परिवर्तनः इंग्लैंड एक सुसंगठित एवं सम्पन्न राष्ट्र था। पुनर्जागरण तथा धर्म-सुधार आन्दोलन के कारण इंग्लैंड के राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए थे। गुलाबों की लड़ाई में सामन्तवादी व्यवस्था धराशायी हो चुकी थी। इंग्लैंड के लोगों में राष्ट्रीय चेतना तथा राष्ट्रीय गौरव की भावना उद्वेलित होने लगी थी। इंग्लैंड के लोग अपेक्षाकृत अधिक धर्म-सहिष्णु तथा उदार थे। हॉलैंड तथा फ्रांस के अनेक कुशल कारीगरों ने अपने

देश में होने वाले धार्मिक अत्याचार से बचने के लिए इंग्लैंड में जाकर शरण ली। इस प्रकार इंग्लैंड में विशेषज्ञों तथा कुशल कारीगरों की कमी नहीं रह गयी थी।

सस्ते मजदूरों का बाहुल्यः कृषि-क्रान्ति के कारण इंग्लैंड में कृषि-कार्य के लिए मशीनों का प्रयोग होने लगा। अतः बहुत सारे कृषि-मजदूर बेकार हो गये तथा नये रोजगार की तालाश में वे गाँवों से शहरों में आने लगे। कृषि-दासता की समाप्ति के पश्चात् अब लोग पहले की भाँति जमीन से नहीं बँधे थे। अब जहाँ भी रोजगार मिलता वहाँ जाकर वे नौकरी कर सकते थे। इसी प्रकार बड़ा आन्दोलन (Enclosure Movement) से बड़े जमींदारों को भूमि की चकबन्दी करने की छूट मिल गयी। अब उन्होंने छोटे किसानों की जमीन खरीद कर उन्हें जमीन से बेदखल कर दिया। इस प्रकार छोटे किसान बेरोजगार होते चले गये। अतः अब शहरों के कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की कमी नहीं रह गयी। चूँकि गाँवों से शहर में आये लोग नौकरी के लिए उतावले रहते थे, अतः वे कम मजदूरी पर ही काम करने के लिए तैयार हो जाते थे। निस्संदेह सस्ते मजदूरों की अधिकता ने इंग्लैंड क्रान्ति को सफल बनाया।

पूँजी की व द्धिः औद्योगिक विकास के लिए इंग्लैंड के पास पर्याप्त पूँजी थी। दासों के व्यापार तथा अपने विदेशी व्यापार से इंग्लैंड ने भारी मात्रा में मुनाफे जमा कर लिये थे। अमेरिका और वेस्ट इण्डीज के साथ व्यापारिक संबंध के फलस्वरूप इंग्लैंड में दिन-प्रतिदिन पूँजी बढ़ रही थी। 1765 ई० तक भारत के सबसे सम द्ध प्रान्त बंगाल पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया था। अतः विदेशी व्यापार से अंग्रेज मालौमाल हो गये थे। उन दिनों इंग्लैंड को व्यापारिक प्रतियोगिता में चुनौती देने वाला यूरोप का कोई भी देश नहीं था। इंग्लैंड के व्यापारियों की पूँजी बैंकों में जमा रहती थी। विदेशी कम्पनियों को बैंकों से भी पूँजी उधार मिल जाती थी। इंग्लैंड में आर्थिक विकास के कार्यक्रम पर यूरोप के अन्य देशों की तरह कोई प्रतिबन्ध नहीं था। नये यन्त्रों के आविष्कार तथा कारखानों की स्थापना में पूँजी लगाने में इंग्लैंड का धनी-मानी वर्ग हिचकिचाता नहीं था। दूसरे शब्दों में, इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था संगठित हो चुकी थी और उद्योग-धन्धों में अधिक मात्रा में पूँजी लगायी जा रही थी। इस प्रकार की सुविधा यूरोप के किसी भी अन्य देश को प्राप्त नहीं थी।

समुद्र पर आधिपत्य तथा विस्त त बाजारः इस समय तक इंग्लैंड की नौ-शक्ति का काफी विकास हो चुका था। रानी एलिजाबेथ के काल से ही इंग्लैंड की जहाजरानी को चुनौती देने वाला कोई भी देश नहीं रह गया था। समय-समय पर होने वाले जल-युद्धों और विशेष रूप से 'नील के युद्ध' ने सिद्ध कर दिया था कि समुद्रों पर इंग्लैंड की शक्ति का सामना नहीं किया जा सकता था। इंग्लैंड के जहाज-उद्योग का भी काफी विकास हो चुका था। अतः उसे वस्तुओं को लाने-ले जाने की भी पर्याप्त सुविधा थी। ड्रेक, रेले, सिडनी आदि ने समुद्री मार्गों पर इंग्लैंड की धाक जमा दी थी। इससे लाभ उठाकर इंग्लैंड ने व्यापार में क्रमिक विस्तार किया। इस द ष्टिकोण से यूरोप के सभी देश उससे बहुत पीछे रह गये।

नौ-शक्ति की श्रेष्ठता ने इंग्लैंड को उपनिवेशों की स्थापना अथवा साम्राज्य विस्तार के क्षेत्र में भी विश्व का अगुआ बना दिया। ये उपनिवेश उसके लिए बड़े ही अच्छे बाजार सिद्ध हुए। उपनिवेशों से इंग्लैंड को नियमित रूप से कच्चे माल मिल सकते थे तथा उन उपनिवेशों में वह अपने निर्मित मालों की खपत आसानी से कर सकता था। उल्लेखित सुविधाओं ने औद्योगिक क्रान्ति के जन्म में यथेष्ट सहयोग दिया।

अनुकूल राजनीतिक स्थितिः इंग्लैंड में इस काल तक राजनीति के क्षेत्र में पूर्णतः शान्ति आ गयी थी और एक ऐसी स्थायी सरकार स्थापित हो गयी थी जो अब किसी भी प्रकार सामंती वर्ग के प्रभाव में नहीं थी। अब तक व्यापारी वर्ग राजनीति में काफी प्रभावशाली हो गया था। अब इस वर्ग को सरकार के हस्तक्षेप का डर नहीं था। यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा वहाँ अधिक स्वतंत्रता का वातावरण था। सरकार द्वारा उत्पादन की विधियों और वस्तुओं पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था। इस प्रकार के स्वतंत्र वातावरण ने अंग्रेजों को उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में उत्तम और नवीन विधियों की खोज करने की प्रेरणा दी।

पुनः इंग्लैंड के निवासियों को पूर्ण राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त थी। इंग्लैंड की जल-सेना 'समुद्र की स्वामिनी' (Mistress of the Sea) थी। इंग्लैंड आन्तरिक एवं बाह्य द ष्टि से पूर्णतः सुरक्षित था। उसके जहाज संसार के विभिन्न देशों में पूर्ण निर्भयता से आ-जा सकते थे। राजा भी व्यापारियों और उद्योगपतियों को काफी प्रोत्साहन देते थे। इससे इंग्लैंड के व्यापारियों को बहुत बल मिला। व्यापारियों और पूँजीपतियों ने खुल कर उद्योगों में पूँजी लगायी और औद्योगिक क्रान्ति के आगमन का द्वार खोल दिया।

साझेदारी की कम्पनियों की स्थापना: इंग्लैंड में साझेदारी की कम्पनियाँ खोली गयीं। बैंक-प्रथा का भी विकास हुआ। बैंकों के जरिए कम्पनियों को नियंत्रित किया जाने लगा। साझेदारी की कम्पनियाँ खुल जाने से पैसा डूबने का भय कम हो गया। इस प्रकार कम्पनियों की स्थापना से एक ओर पूँजी सुरक्षित हो गयी तो दूसरी ओर लाभ का अंश भी बढ़ गया।

व्यापार का धनफल: आबादी के अनुपात में इंग्लैंड का व्यापारिक धनफल (Volume) अधिक था। जब यूरोप के अन्य देश अपनी आन्तरिक समस्याओं में उलझे हुए थे, तब इंग्लैंड स्वतंत्र रूप से अपने औपनिवेशिक विस्तार में लगा हुआ था। औपनिवेशिक व्यापार के विस्तार के साथ व्यापार का धनफल बढ़ा और श्रम सम्बन्धी बचत के लिए यंत्रों का आविष्कार अनिवार्य हो गया। आवश्यकतानुसार व्यापारिक कारोबार को बढ़ाने के लिए इंग्लैंड में उद्योग-धन्धों का विकास हुआ। इस प्रकार की सुविधा यूरोप के किसी अन्य देश को प्राप्त नहीं थी।

जनसंख्या में व द्धि: जनसंख्या में व द्धि के कारण भी इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति को बल मिला। औषधि-विज्ञान में प्रगति के कारण मध्यम वर्गीय तथा निम्न वर्गीय परिवारों में म त्यु-दर घट गयी। जनसंख्या में व द्धि के कारण अर्थव्यवस्था को संतुलित होने का अवसर मिल गया। सर्वप्रथम कल-कारखानों को चलाने के लिए मजदूर पर्याप्त संख्या में मिलने लगे। देश में बाजार की कमी नहीं रही और शहरों की आबादी बढ़ गयी। व हत् पैमाने पर देश के अन्दर और बाहर बाजारों का विस्तार हो जाने से औद्योगिक विकास का मार्ग सरल हो गया।

इंग्लैंड की भौगोलिक स्थिति: इंग्लैंड की भौगोलिक स्थिति उसकी सुरक्षा तथा व्यापार के द ष्टिकोण से बहुत अच्छी है। साथ ही, उसकी जलवायु विभिन्न उद्योगों की उन्नति के अनुकूल है। समुद्र के मार्ग से इंग्लैंड पर आक्रमण करना सरल नहीं था। इसके अतिरिक्त, उसका समुद्रतट कटा-छँटा है, जिससे वहाँ बन्दरगाह बनाकर जहाजों को माल चढ़ाने और उतारने की सुविधा प्रदान की जा सकती है। फिर, इंग्लैंड का कोई भी मुख्य नगर समुद्रतट से अधिक दूर नहीं है। इस प्रकार कटा-छँटा समुद्री किनारा, बन्दरगाह तथा नदियों का बाहुल्य, जल-शक्ति के स्रोत आदि सभी कुछ औद्योगिक प्रगति के अनुकूल हैं। इंग्लैंड की जलवायु उत्तम है: हवा में नमी होने के कारण सूत के धागे जल्दी नहीं टूटते। इसलिए इंग्लैंड ने वस्त्र-उद्योग में अद्‌भुत प्रगति की। ये सारी सुविधाएँ यूरोप के किसी अन्य देश में नहीं थीं।

उल्लेखित कारणों के चलते ही औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश इंग्लैंड में हुआ। वस्तुत: उस समय किसी भी अन्य देश में इस प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं। कुछ देशों में प्राकृतिक साधन नहीं थे तो कुछ देशों की राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्थिति अनुकूल नहीं थीं। कुछ देशों में आवश्यक पूँजी की कमी थी तो कुछ अपने ग ह-कलह में ही उलझे हुए थे। यूरोप के प्राय: सभी देशों में इस समय भूमि पर आधारित अर्थव्यवस्था थी और उनकी राजनीतिक शासन-पद्धति पिछड़ी हुई थी। उनमें से कुछ देश; जैसे-इटली और जर्मनी तो संगठित भी न थे, और अनेक आर्थिक प्रतिबन्धों के कारण उन्हें बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। इस तरह यूरोप में जितने भी राष्ट्र थे, उनमें इंग्लैंड की स्थिति अधिक सुद ढ़ और औद्योगिक विकास के अनुकूल थी। यूरोप के किसी भी देश में इतनी वैज्ञानिक प्रगति नहीं हो पायी थी जितनी इंग्लैंड में हुई थी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त कारणों के चलते ही सर्वप्रथम इंग्लैंड में ही औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति का स्वरूप

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, औद्योगिक क्रान्ति ने विभिन्न उद्योगों तथा विज्ञान के क्षेत्र में आधारभूत परिवर्तन ला दिये। वस्तुत: औद्योगिक क्रान्ति का दायरा अत्यन्त विस्त त रहा है। यह क्रान्ति विज्ञान, तकनीक, कला, वस्त्र-उद्योग, यातायात, कृषि आदि क्षेत्रों में होने वाली क्रान्तियों का एक सामूहिक रूप है। अत: इस क्रान्ति के स्वरूप को अच्छी तरह से समझने के लिए इनका उल्लेख करना भी आवश्यक हो जाता है। साथ ही, इनके वर्णन से क्रान्ति के विस्तार का अनुमान लगाना भी सहज हो जाता है।

वस्त्र-उद्योग में क्रान्ति

औद्योगिक क्रान्ति की पहली विशेषता यह थी कि कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण आविष्कार हुए, जिनके कारण वस्त्र उद्योग में बिल्कुल उथल-पुथल मच गयी। पहले सूत कातने और कपड़ा बुनने का काम हाथों से होता था। लोग यह काम अपने घरों में करते थे। परिवार के सभी लोग अवकाश के समय इस काम में लग जाते थे। घर पर ही कारखाने और दुकानें थीं। अधिकांश स्त्रियाँ चर्खों पर सूत काता करती थीं। पहले चर्खे हाथों से और बाद में पैरों से चलाये जाते थे। पुरुष उन धागों से वस्त्र बुना करते थे। घरेलू पद्धति के अन्तर्गत व्यापारी लोग जुलाहों को ऊन या रूई तथा कुछ अग्रिम धन-राशि दे जाया करते थे। निर्मित

वस्त्रों के मालिक वे व्यापारी थे जो उन्हें बाजारों में ले जाकर ऊँचे मुनाफे पर बेचा करते थे। जुलाहों के अतिरिक्त अनेक किसान जाड़े की लम्बी और ठण्डी ऋतु में अपने घरों पर कपड़े बुनकर अपनी आय में व द्धि करते थे। चर्खों के अतिरिक्त करघे, तकली आदि छोटे-मोटे हस्तचालित यंत्रों का प्रयोग किया जाता था। स्पष्ट है कि उत्पादन धीरे-धीरे और कम मात्रा में होता था। साथ ही कपड़ा मोटा और घटिया होता था। घरेलू पद्धति की एक कमी यह थी कि इसमें बने माल एक समान अच्छे अर्थात् एक ही स्तर के नहीं होते थे। पुनः आवश्यकता पड़ने पर बड़े पैमाने पर माल तैयार करना भी संभव नहीं था। वस्तुओं के उत्पादन में लागत भी अधिक आती थी। अतः निर्मित वस्तुओं का मूल्य भी बढ़ जाता था। ऐसे वस्त्र कम-से-कम भारतीय वस्त्रों के सामने बाजार प्राप्त नहीं कर सकते थे। वस्तुतः अठारहवीं शताब्दी तक इंग्लैंड में भारतीय वस्त्रों की माँग काफी बढ़ गयी थी। इंग्लैंड में कालीकट के केलिको कपड़े, ढाका की मलमल और कश्मीर के शाल बड़े ही लोकप्रिय हो गये थे। वस्त्रों के आयात से होने वाली हानि को देखकर इंग्लैंड की पार्लियामेंट ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया। अब भारत, अमेरिकी तथा मित्र आदि देशों से इंग्लैंड में रूई का आयात किया जाने लगा और उससे वस्त्र निर्मित किये जाने लगे। जल्द ही बाहर के देशों में इंग्लैंड के वस्त्रों की माँग बढ़ गयी, परन्तु घरेलू पद्धति की त्रुटियों के कारण इंग्लैंड इस बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में असमर्थ सिद्ध हो रहा था। तब कताई और बुनाई तेजी से करने के लिए अनेक आविष्कार किये गये। परिणामस्वरूप कारखाना का जन्म हुआ और मशीनों के प्रयोग ने वस्त्र-उद्योग के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया।

1733 ई० में लंकाशायर के जॉन के (John Key) ने तेज चलने वाले ढरकी (Flying Shuttle) का आविष्कार किया। यह मशीन ऐसी थी जिस पर अधिक लम्बाई और चौड़ाई का कपड़ा बुना जाता था। इस आविष्कार के फलस्वरूप थोड़े समय में एक व्यक्ति अधिक वस्त्र तैयार कर सकता था।

1765 ई० में जेम्स हारग्रीब्ज ने सूत कातने की एक ऐसी मशीन (स्पिनिंग जेनी) का आविष्कार किया जिसमें एक साथ आठ तकलियाँ चलती थीं। इस प्रकार तेजी से सूत कातना सम्भव हो गया। इससे तैयार किया गया सूत बारीक भी होता था।

1769 ई० में रिचार्ड आर्कराइट ने स्पिनिंग जेनी में कुछ ऐसे परिवर्तन किये जिससे इसे पानी की शक्ति से चलाना सम्भव हो गया। इसे 'वाटर-फ्रेम' के नाम से हम जानते हैं। इसमें लगे बेलन छोटे स्थानों में नहीं चल सकते थे। अतः उनके लिए बड़ी इमारतें बनायी गयीं। भविष्य में इन सभी ने फैक्ट्रियों का रूप धारण किया। इस प्रकार कारखाना-पद्धति का आरम्भ करने का श्रेय आर्कराइट को दिया जाता है।

1776 ई० में सैमुअल क्राम्पटन ने 'म्यूल' नामक एक ऐसी मशीन का आविष्कार किया जिसमें स्पिनिंग जेनी तथा वाटर फ्रेम दोनों के गुण शामिल थे।

1785 ई० में एडमण्ड कार्टराइट नामक एक पादरी कवि ने 'पावरलूम' का निर्माण किया। पावरलूम शक्ति से चलने वाला एक करघा था। इस मशीन को चलाने के लिए घोड़े तथा बैलों का प्रयोग किया जाता था। बाद में इसे जलशक्ति के द्वारा संचालित किया जाने लगा। यह मशीन सूत कातने और कपड़ा बुनने-दोनों में काम आती थी। इसमें सूत जल्द, काफी मात्रा में और बहुत मजबूत तैयार होता था।

यद्यपि इन आविष्कारों के कारण सूत कातने तथा कपड़ा बुनने की गति में तेजी आ गयी, परन्तु अभी पर्याप्त मात्रा में साफ की हुई रूई उपलब्ध नहीं हो रही थी। कपास से बिनौला निकालने का काम कठिन था और यह काफी धीरे-धीरे होता था। एक मजदूर हाथ से दिन भर में केवल पाँच-छह पौण्ड कपास साफ कर पाता था। 1793 ई० में अमेरिका के एक स्कूल-अध्यापक एलिव्हिटने ने कपास ओटने की मशीन का आविष्कार किया। यह मशीन हाथ की अपेक्षा तीन सौ गुनी तेजी से कपास ओट कर रूई तैयार करने लगी। बाद में इस मशीन में सुधार कर इसे ऐसा बना दिया गया कि यह एक हजार व्यक्तियों के बराबर काम करने लगा। इस मशीन की सहायता से जब पर्याप्त मात्रा में साफ रूई उपलब्ध होने लगी तो केवल एक आदमी नयी मशीन पर इतना वस्त्र तैयार करने लगा जितना उतने ही समय में पुराने ढंग की मशीन पर दो सौ व्यक्ति बना सकते थे। जेम्स वाट के द्वारा वाष्प-इंजन के आविष्कार और प्रयोग के बाद वस्त्र-उद्योग में और तेजी आ गयी।

उपर्युक्त आविष्कारों के चलते इंग्लैंड में बड़े पैमाने पर वस्त्र का उत्पादन होने लगा। सुधार और आविष्कार का क्रम चलता रहा। 1788 ई० में ऊन की सफाई करने की मशीन का निर्माण हुआ। 1793 ई० में रूई की पूनी बनाने की मशीन का आविष्कार हुआ। 1800 ई० में प्रोटरीलेट नामक व्यक्ति ने कपड़े पर सफेदी चढ़ाने की विधि खोज निकाली। कपड़ों को रैगने के तरीके भी निकाले गये। 1841 ई० में कपड़ा बुनने की स्वचालित मशीन बनायी गयी। 1846 ई० में एलियस हो (Elias Howe) ने सिलाई

मशीन का आविष्कार किया। इन आविष्कारों के चलते वस्त्र-उद्योग में आमूल परिवर्तन हो गये और इस उद्योग का अभूतपूर्व विकास हुआ।

मशीनों को चलाने के लिए वाष्प का प्रयोगः यद्यपि न्यूकॉम पहला वैज्ञानिक था जिसने वाष्प-इंजन का आविष्कार किया, किन्तु 1769 ई० में जेम्स वाट ने उसमें आवश्यक सुधार लाकर इसको काफी उपयोगी बना दिया। वाष्प-इंजन की सहायता से बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन करना सम्भव हो गया। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि इस मशीन ने उत्पादन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। वाष्प-इंजन के प्रयोग के कारण मशीनों की माँग भी बढ़ गयी।

लौह-उद्योग के क्षेत्र में क्रान्तिः प्रारम्भ में लोहे को गलाने के लिए लकड़ी के कोयले का प्रयोग किया जाता था किन्तु यह काफी महँगा पड़ता था और इसमें समय भी अधिक लगता था। 1709 ई० में अब्राह्म डर्वी ने लोहे को पिघलाने की एक नयी विधि का आविष्कार किया। उसने लोहे को पिघलाने के लिए कोक का प्रयोग किया। इससे पहले लकड़ी के कोयले का प्रयोग किया जाता था। जंगलों के कट जाने से लकड़ी का कोयला दुर्लभ तथा महँगा होता जा रहा था, जबकि इंग्लैंड में कोयले की कोई कमी नहीं थी।

इस दिशा में अन्य महत्त्वपूर्ण आविष्कार तथा सुधार किये गये। 1760 ई० में जॉन रोबक ने एक नये ढंग की भट्टी का आविष्कार किया। पीटर ओनियन और हेनरी कोर्ट ने लोहे को गलाकर शुद्ध करने तथा उसकी छड़ एवं चदरा तैयार करने की नवीन विधियों की खोज की। 1856-57 ई० में हेनरी बेस्मर ने एक ऐसी प्रणाली की खोज की जिससे लोहे की अशुद्धता को दूर करके उससे इस्पात बनाया जाने लगा। 'धमन भट्ठी' के आविष्कार और घटिया किस्म के लोहे को इस्पात में बदलने के तरीकों की खोज के कारण इंग्लैंड के उद्योगों में सस्ता इस्पात बनाना संभव हो गया। मशीनों, पुलों तथा जहाजों के निर्माण के लिए लोहे के उत्पादन में काफी उन्नति हुई। वाष्प-इंजन के प्रयोग के साथ लौह-उद्योग का और भी विकास हुआ।

खानों की खुदाई की विधि में क्रान्तिः लोहा और कोयला औद्योगिक प्रगति के आधारभूत खनिज हैं। क्रान्ति के बाद और विशेष रूप से वाष्प-इंजन के आविष्कार के बाद कोयले तथा लोहे की माँग काफी बढ़ गयी। अब तक लोहे तथा कोयले की खानों में पुरानी विधियों से ही कार्य हो रहा था। अतः इनका उत्पादन माँग के अनुपात में नहीं हो पा रहा था। पुनः खानों की खुदाई में कुछ कठिनाइयाँ भी थीं। खानों में खुदाई के साथ पानी का भर जाना तथा प्रकाश के प्रयोग से खानों में आग लग जाना, ये आम बातें थीं। अतः इन कठिनाइयों को दूर करना अनिवार्य हो गया था। 1705 ई० में टॉमस ल्यूकोमैन ने एक ऐसा इंजन बनाया जिससे आसानी से खानों से पानी को बाहर किया जा सकता था। 1815 ई० में हम्फ्री डेवी ने 'सैफ्टी लैम्प' का आविष्कार किया। इससे खानों में रोशनी करना सुरक्षित हो गया क्योंकि अब खानों में आग लगने की संभावना नहीं रह गयी। धीरे-धीरे खानों में नयी विधियों का प्रयोग किया जाने लगा।

विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्तिः औद्योगिक क्रान्ति के क्रम में विज्ञान के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण क्रान्ति हुई। जिस औद्योगिक क्रान्ति की चर्चा करते हुए विद्वान थकते नहीं, यह वास्तव में विज्ञान तथा तकनीक के क्षेत्र में किये गये नवीन आविष्कारों का ही परिणाम थी। सोलहवीं-सतरहवीं शताब्दियों में यूरोप ने विज्ञान में काफी प्रगति कर ली थी। इस काल में कॉपरनिकस, केपलर, गैलिलियों, हार्वे, न्यूटन आदि जैसे महान् वैज्ञानिकों का अवतरण हुआ। इस युग से लेकर उन्नीसवीं सदी के बीच विज्ञान तथा तकनीक के क्षेत्र में जबरदस्त क्रान्ति हुई। नये वैज्ञानिक आविष्कारों तथा तकनीक की नयी विधियों के कारण औद्योगिक उत्पादन की सारी प्रक्रियाएँ बदल गयीं। यातायात, संचार, परिवहन आदि के क्षेत्र में नयी विधियों का प्रयोग होने लगा। वास्तव में नयी दुनिया के निर्माण में विज्ञान एवं तकनीक की प्रगति का सबसे बड़ा सहयोग रहा है।

यातायात के साधनों में सुधारः औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाने में यातायात तथा संचार के साधनों का बड़ा ही महत्व रहा है। इस काल में इन क्षेत्रों में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई।

सड़कें: यातायात के साधनों को विकसित करना औद्योगिक क्रान्ति की सफलता के लिए आवश्यक था। कच्चे माल और औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उत्पादित वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने और ले जाने की आवश्यकता के कारण इंग्लैंड तथा अन्य देशों में अच्छी सड़कों का बनाया जाना अति आवश्यक हो गया था। सड़क बनाने का काम सर्वप्रथम **मेटकाफ** ने शुरू किया। मैकऐडम ने पक्की सड़कें बनाने का तरीका निकाला। टैल्फोर्ड ने भी इस दिशा में प्रशंसनीय प्रयास किये। आज भी हम पक्की सड़कों को मैक्डमाइज्ड' कह कर पुकारते हैं। इस विधि के निकलने के बाद यूरोप के देशों में पक्की सड़कें बनने लगीं। सुन्दर सड़कों का निर्माण हो जाने से देश के अन्दर व्यापार की व्यापक प्रगति हुई।

नहरः वैसे तो यूरोप में नहर-निर्माण का काम सौलहवीं सदी से ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति औद्योगिक क्रान्ति के बाद ही देखने को मिलती है। जल-मार्ग से वस्तुओं को लाना और ले जाना अधिक सुविधाजनक तथा सस्ता होता था। अतः इंग्लैंड, अन्य यूरोपीय देशों और अमेरिका में तेजी से नहरों का निर्माण किया जाने लगा। जब वाष्प-संचालित जहाजों का प्रयोग होने लगा तो नहर-निर्माण की प्रक्रिया और तेज हो गयी। 1760 ई० में इंग्लैंड में ब्रीजवाटर नामक नहर बनी। दूसरे वर्ष मैनचेस्टर से लेकर लिवरपुल तक नहर बनाने के काम में **जेम्स ब्रिडले** ने सहायता दी। धीरे-धीरे नहरों की संख्या बढ़ती गयी और कच्चा माल, अनाज एवं पशुओं को भेजने में अधिक सुविधा हो गयी। थोड़े ही दिनों में लन्दन, ब्रिस्टल लिवरपुल और हल होकर बहुत-सी नहरें बन गयीं। 1830 ई० तक इंग्लैंड में चार हजार मील लम्बे नदियों तथा नहरों के जलमार्ग बनकर तैयार हो गये थे। फ्रांस में तो नहरों की लम्बाई साढ़े सात हजार मील तक पहुँच गयी। अमेरिका की प्रसिद्ध नहर एरिक का निर्माण हुआ। धीरे-धीरे सभी देशों में नहरों का जाल बिछ गया।

रेलः वाष्प शक्ति के सहारे रोटरी मूवमेंट का आविष्कार सर्वप्रथम **जेम्स वाट** ने किया था। उसके बाद विलियम मटडोक के वाष्प के सहारे चलने वाला इंजन तैयार किया। **ट्रैविथिक** नामक एक इंजीनियर ने 1802 ई० में बोझ ढोने का एक इंजन बनाया, किन्तु उसे विशेष सफलता नहीं मिली। अन्त में **जॉन स्टीफेंसन** ने 1814 ई० में लोहे ही पटरियों पर तेजी से चलने वाला एक इंजन तैयार किया। इसे खानों से बन्दरगाहों तक कोयला पहुँचाने के काम में लाया गया। सर्वप्रथम प्रयास करके 1825 ई० में स्टॉक्टन से डार्लिंगटन तक रेल की पटरियाँ बिछायी गयीं। 1830 ई० में लिवरपुल से मैनचेस्टर तक यात्रियों तथा सामानों को ले जाने के लिए पहली रेलगाड़ी चलायी गयी। 1836 ई० में **स्टीफेंसन** ने अपना प्रसिद्ध इंजन 'रॉकेट' बनाया जो पैंतीस मील प्रति घंटे की चाल से कोयला-भरी गाड़ी को खींचता था। भारत में पहली रेल लाइन 1853 ई० में डलहौजी के समय में बिछायी गयी। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक न केवल यूरोप बल्कि समस्त संसार में रेलवे लाइनों का जाल सा बिछ गया। आज रेल यातायात का सबसे सुगम, सरल, सस्ता और सुखद साधन माना जाता है।

समुद्री जहाजः आवागमन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण साधन वाष्प-संचालित जहाज भी है। 1808 ई० में अमेरिका के **रॉबर्ट फुल्टन** ने वाष्प-संचालित जहाज बनाने का सफल प्रयास किया। इंग्लैंड में पहला वाष्प-संचालित जहाज का प्रयोग 1802 ई० में फोर्थ क्लाइड नहर में किया गया। भाप-इंजन से चलने वाला पहला समुद्री जहाज **'फोनिक'** था। इसका प्रदर्शन न्यूयार्क से फिनाडेल्फिया तक यात्रा में किया गया। 1819 ई० में **'सवाना'** नामक जहाज ने पहली बार अटलांटिका महासागर को पार किया। धीरे-धीरे इस दिशा में व्यापक प्रगति हुई।

मोटर गाड़ियाँः पेट्रोल से चलने वाली मोटर गाड़ियों का निर्माण **डेमलर** ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में किया था। बाद में **डीजन** नामक एक जर्मन इंजीनियर ने डीजल से चलने वाली मोटर गाड़ी का आविष्कार किया।

संचार-साधनों की प्रगतिः औद्योगिक क्रांति के काल में संचार के साधनों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। तार द्वारा संकेत भेजने की व्यवस्था का आविष्कार **मोर्स** ने किया। 1835 ई० में सर्वप्रथम इंग्लैंड में इसका प्रयोग किया गया। 1857 ई० में इंग्लैंड और फ्रांस के बीच केबल बिछाये गये। 1866 ई० तक यूरोप और अमेरिका को तार-केबल से जोड़ दिया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक समस्त विश्व में तार का प्रयोग होने लगा।

रॉलैण्ड हिल ने इंग्लैंड की सरकार के सामने सर्वप्रथम पेनी पोस्ट का विचार रखा था। इससे पत्रों के माध्यम से सस्ता तथा जल्द संदेश भेजा जाने लगा। 1840 ई० इंग्लैंड में आधुनिक ढंग की डाक-व्यवस्था का संगठन किया गया। जल्द ही सम्पूर्ण विश्व ने इसे अपना लिया। कुछ वर्षों के बाद अन्तर्राष्ट्रीय डाक संघ की स्थापना की गयी।

1876 ई० में **बेल** ने टेलीफोन का आविष्कार किया। बेतार का तार (Wireless), रेडियो, टेलीविजन आदि आधुनिकतम संचार-साधनों का आविष्कार बीसवीं सदी में हुआ।

प्रकाश की व्यवस्थाः प्रकाश के लिए पहले दीये तथा मशालों का प्रयोग होता था। 1784 ई० में तेल भरकर बत्तियों द्वारा प्रकाश करने की विधि का आविष्कार हुआ। बाद में गैस लैम्प, पेट्रोमेक्स, सेफ्टी लैम्प आदि का प्रयोग होने लगा। 1879 ई० में अमेरिका के **एडिसन** तथा इंग्लैंड के **स्वान** ने बिजली के बल्बों का आविष्कार किया।

कृषि-क्रान्तिः इस बात का विस्त त उल्लेख किया जा चुका है कि औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व इंग्लैंड तथा यूरोप के अन्य देशों में कृषि क्षेत्र में नये आविष्कारों, विधियों तथा नियमों के कारण अभूतपूर्व प्रगति हुई थी। प्रगति का यह क्रम आगे भी चलता

रहा। कृषि-मजदूर गाँव छोड़कर शहरों में जा बसे। मजदूरों की कमी के कारण अन्न की उपज कम हो गयी। माँग बढ़ती गयी। इस कारण कृषि के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए; जैसे-यन्त्रों का प्रयोग, नयी फसलों का प्रचलन, उत्तम प्रकार की रासायनिक खादों का प्रयोग, पशुओं की नस्ल में सुधार आदि। इस संदर्भ में **टाउनशैड, बेकवैल, टुल, आर्थर यंग** आदि के सिद्धान्तों तथा आविष्कारों का विशेष महत्व है। इनके विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। बाद में जोतने, बोने, काटने तथा भूसे को अनाज से अलग करने के लिए अनेक यन्त्रों का आविष्कार किया गया। इन आविष्कारों के चलते कृषि में भी काफी उन्नति हुई।

औद्योगिक क्रान्ति का प्रसार

जैसा कि हमने देखा है, औद्योगिक क्रान्ति का जन्म इंग्लैंड में हुआ। अतः इंग्लैंड में तेजी से औद्योगिक विकास हुआ। इंग्लैंड विश्व का प्रमुख औद्योगिक देश बन गया। उसने वस्त्र उद्योग, लौह-उद्योग तथा खनिज के उत्पादनों में सैकड़ों गुना व द्धि कर ली। उदाहरण के लिए 1813 ई० में इंग्लैंड भारत को पचास हजार किलोग्राम सूती कपड़ा भेजता था जो 1855 ई० में बढ़कर पचीस लाख किलोग्राम हो गया। इन्हीं वर्षों में कोयले का उत्पादन 150 लाख टन से बढ़कर 640 लाख टन हो गया। इसी प्रकार पिग लौह का उत्पादन छह लाख दस हजार से बढ़कर लगभग तीस लाख टन हो गया। इंग्लैंड बड़ी मात्रा में कोयले तथा लोहे का निर्यात करने लगा।

प्रारम्भ में इंग्लैंड को छोड़कर अन्य यूरोपीय देशों में औद्योगिक क्रान्ति की गति धीमी रही। वस्तुतः राजनीतिक द ष्टि से अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशक का काल यूरोप के इतिहास में बड़ी ही उथल-पुथल का काल था। 1789 ई० की महान फ्रांसीसी क्रान्ति और बाद में फ्रांस तथा यूरोप पर नेपोलियन प्रथम के प्रभुत्व की स्थापना के कारण यूरोप में सर्वत्र अशान्ति एवं अव्यवस्था फैल गयी थी। इस अशांत राजनीतिक वातावरण में औद्योगिक क्रान्ति यूरोप के अन्य देशों में तेजी से नहीं फैल सकती थी। 1815 ई० में नेपोलियन की पराजय हो गयी। वियना काँग्रेस तथा यूरोपीय कन्सर्ट के द्वारा सारे यूरोप में शान्ति-सुव्यवस्था की स्थापना की गयी। अतः यूरोपीय महादेश में औद्योगिक क्रान्ति की कुछ प्रगति हुई। जल्द ही फ्रांस, बेल्जियम, जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड आदि देशों में मशीनों के द्वारा वस्तुओं का निर्माण किया जाने लगा, किन्तु इनमें से कुछ देशों में सरकारों की अस्थिरता तथा जन-असंतोष के कारण कुछ समय तक उद्योगों की संतोषजनक प्रगति नहीं हो पायी।

फ्रांसः फ्रांस में 1830 ई० के बाद लुई फिलिप के शासन-काल में सही माने में औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ हुआ। इस कार्य में इंग्लैंड ने फ्रांस की काफी सहायता की। 1850 ई० तक फ्रांस में लोहे का उद्योग विकसित होने लगा, यद्यपि उस समय लोहे तथा कोयले का आयात करता था। फ्रांस में नहरों तथा रेल-मार्ग का निर्माण होने लगा। नये शहर भी बसने लगे।

जर्मनीः फ्रांस में 1830 ई० के बाद लुई फिलिप के शासन-काल में सही माने में औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ हुआ। इस कार्य में इंग्लैंड ने फ्रांस की काफी सहायता की। 1850 ई० तक फ्रांस में लोहे का उद्योग विकसित होने लगा, यद्यपि उस समय लोहे तथा कोयले का आयात करता था। फ्रांस में नहरों तथा रेल-मार्ग का निर्माण होने लगा। नये शहर भी बसने लगे।

जर्मनीः खनिज की द ष्टि से जर्मनी एक सम्पन्न देश था, किन्तु अब तक राष्ट्रीय द ष्टि से वह एक संगठित राष्ट्र नहीं बन पाया था। वहाँ एकीकरण का प्रयास किया जा रहा था। यह ऐतिहासिक कार्य 1870 ई० में जाकर पूरा हुआ। इन परिस्थितियों में जर्मनी उद्योग के क्षेत्र में आशातीत प्रगति नहीं कर सका था। फिर भी 1865 ई० तक जर्मनी में लोहे की वस्तुओं का व्यापक रूप से निर्माण होने लगा था और इस क्षेत्र में इंग्लैंड के बाद जर्मनी का स्थान दूसरा हो गया। 1870 ई० के बाद जब जर्मनी का एकीकरण हो गया तब बिस्मार्क के नेत त्व में जर्मनी ने आश्चर्यजनक रूप से प्रगति की। जल्द ही वह उद्योग के क्षेत्र में इंग्लैंड का शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी बन बैठा।

बेल्जियमः बैल्जियम यूरोप का पहला देश था जिसने शीघ्र और तेजी से औद्योगिक क्रान्ति का अनुसरण किया। यद्यपि फ्रांस की क्रान्ति तथा नेपोलियन के प्रभुत्व-काल में बेल्जियम की औद्योगिक प्रगति सीमित रही, किन्तु जब यूरोप में 1815 ई० के बाद शान्ति की स्थापना ही गयी तो इंग्लैंड की सहायता से बेल्ज्यिम ने उद्योग के क्षेत्र में तेजी से विकास करना शुरू किया। वहाँ इस गति से उद्योगों का मशीनीकरण हुआ कि 1870 ई० तक वह यूरोप का एक अत्यन्त विकसित राष्ट्र बन गया।

रूसः यूरोप की बड़ी शक्तियों में औद्योगिक क्रान्ति की लहर सबसे अन्त में रूस में पहुँची। सत्रहवीं सदी तक रूस बिल्कुल पिछड़ा हुआ देश था। वस्तुतः रूस सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी तक एक कृषि-प्रधान देश ही रहा। रूस के औद्योगिक पिछड़ापन

का सबसे बड़ा कारण वहाँ निरंकुश जारतंत्र तथा सामन्तवाद का बोलबाला था। वैसे रूस में खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे, किन्तु वहाँ औद्योगिक विकास के लिए अनिवार्य पूँजी तथा स्वतंत्र मजदूरों की कमी थी। परन्तु 1861 ई० में रूस में औद्योगिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस वर्ष जार **अलेक्जेण्डर द्वितीय** ने कृषि-दासों को स्वतन्त्र कर दिया और उसे विदेशों से अनिवार्य पूँजी भी मिल गयी। फिर भी, वहाँ 1917 ई० तक औद्योगिक प्रगति मन्द ही रही। 1917 ई० में जब रूस में लेनिन के नेत त्व में बोलशेविक सरकार की स्थापना हुई तभी से वहाँ सच्चे अर्थ में औद्योगिक प्रगति आरम्भ हुई। आज सोवियत रूस विश्व का एक महान औद्योगिक राष्ट्र बन गया है।

यूरोपीय देशों के अतिरिक्त अमेरिका एवं एशिया के देशों में भी औद्योगिक क्रान्ति की व्यापक प्रगति देखने को मिलती है। सबसे बाद में अफ्रीका के देश इस क्रान्ति से प्रभावित हुए।

अमेरिका: अमेरिका में औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश इंग्लैंड से स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ होने के पूर्व ही बहुत से कारखाने बनाये गये। 1860 ई० तक वस्त्र, लौह तथा चर्म-उद्योगों में अमेरिका में व्यापक प्रगति हो गयी थी। सौभाग्य से अमेरिका में प्राकृतिक साधन, पूँजी, श्रम आदि की कोई कमी नहीं थी। 1870 ई० के बाद तो उद्योग के क्षेत्र में अमेरिका ने अभूतपूर्व उन्नति की और जल्द ही वह विश्व का सबसे महान औद्योगिक राष्ट्र बन बैठा।

जापान: एशिया में इस क्रान्ति का प्रभाव सर्वप्रथम जापान पर पड़ा। मध्यकाल में जापान में मुख्य रूप से रेशम, चीनी मिट्टी के बर्तन और खिलौने बनाये जाते थे। मेईजी पुनर्स्थापन के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जापान तेजी से प्रगति के मार्ग पर आगे की ओर बढ़ने लगा। इस शताब्दी के अन्त तक इस्पात, वस्त्र-उद्योग, धातु-उद्योग, रासायनिक पदार्थों के निर्माण आदि के क्षेत्र में जापान ने काफी उन्नति कर ली। वह न केवल एशिया का बल्कि विश्व का एक महान औद्योगिक राष्ट्र बन गया।

भारत: यह ठीक है कि भारत प्राचीन काल से आज तक एक कृषि-प्रधान देश रहा है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यहाँ किसी भी युग में उद्योगों की उपेक्षा की गयी। मध्यकाल में भी भारतीय उद्योग काफी विकसित थे। वस्त्र-उद्योग, धातु-उद्योग, इस्पात-उद्योग आदि की भारत में काफी प्रगति हुई थी। ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना के प्रारम्भिक दशकों में भारतीय वस्त्रों का निर्यात इंग्लैंड में भी किया जाता था, परन्तु अंग्रेज भारत के उद्योग-धन्धों को नष्ट करने पर तुले हुए थे। उन्होंने ऐसी नीति अपनायी जिससे भारतीय उद्योग तहस-नहस हो गये। इससे अंग्रेजों को व्यापक लाभ हुआ, किन्तु भारत की दशा खराब हो गयी।

फिर भी, भारत औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव से बचा नहीं रहा। 1850 ई० के आस-पास भारत में सूती वस्त्र तथा पटसन की कुछ मिलें स्थापित हुई। बीसवीं सदी में और विशेष रूप से प्रथम विश्व-युद्ध के काल (1914-1918) ई० में भारत में वस्त्र-उद्योग, इस्पात-उद्योग तथा पटसन-उद्योग की काफी उन्नति हुई। कारण, अंग्रेजों को इन वस्तुओं की खुद काफी जरूरत थी। बाद में भारत स्वतंत्रता के पूर्व ही वस्त्र-उद्योग, इस्पात-उद्योग, खण्डसारी, कागज आदि उद्योगों से सम्बन्धित कारखानों की स्थापना की गयी और ब्रिटिश सरकार ने इन उद्योगों को संरक्षण भी प्रदान किया। द्वितीय विश्व-युद्ध के काल (1939-1945) ई० में भारतीय उद्योगों का और भी विकास हुआ। फिर भी, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही सही अर्थ में भारत में औद्योगिक प्रगति का स्वर्णिम इतिहास प्रारम्भ होता है।

औद्योगिक क्रांति के प्रभाव

क्रान्तियों ने विश्व-इतिहास में हमेशा एक नया मोड़ उपस्थित किया है। उद्योग क्षेत्र में होने वाली इस क्रान्ति ने भी मानव-सभ्यता-संस्कृति को व्यापक रूप से प्रभावित किया, एक नया द ष्टिकोण दिया और राजनीतिक उथल-पुथल भी ला दी। इसके प्रभाव अत्यन्त व्यापक, सुदूरगामी और स्थायी हुए। क्रान्ति का प्रभाव केवल औद्योगिक और आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा, इसने राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिए। इसने एक नए द ष्टिकोण को जन्म दिया।

आर्थिक प्रभाव

कारखानेदारी प्रथा: उत्पादन-तकनीक में क्रांतिकारी परिवर्तन का सामाजिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। उन लोगों पर जो सीलभरी खानों अथवा मशीनों के शोर के बीच फैक्ट्रियों में काम करते हुए जिन्दगी बिता रहे थे, उनके जीवन पर इन परिवर्तनों का क्या प्रभाव पड़ा? मानव-इतिहास में इससे पहले शायद कभी भी आदमी के काम करने की स्थितियों

तथा उसके परिवेश में इतना व्यापक और आमूल परिवर्तन नहीं हुआ था। एक के बाद दूसरा देश औद्योगीकरण के चपेट में आ रहा था। फलतः वहाँ का आम आदमी जो पहले खेतों की खुली हवा में काम किया करता था, बाल-बच्चों के साथ बस्तियों में रहा करता था, जहाँ उसके अपने मकान होते थे, वह आदमी अब खानों या फैक्ट्रियों में दस-बारह घंटे रोज कमर-तोड़ मेहनत करने और भीड़ भरे शहरों में रहने लगा था। यह परिवर्तन कितना व्यापक और गहरा था इसके अनेक अतिरंजित वर्णन किये गये हैं। परिवर्तनों की गति का भी अतिरंजित वर्णन किया गया है। वस्तुतः ग्रेट ब्रिटेन में जहाँ परिवर्तन काफी तेजी से हुआ था, स्थिति उतनी बुरी नहीं थी, जितना कि अधिकांश विवरणों से मिलता है। यद्यपि अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में देहातों की आम उपयोग की जमीनों की घेराबन्दी में अधिक तेजी आयी तथापि अनेक छोटे काश्तकार गाँव में ही भूमिहीन मजदूर बनकर अपनी कुटियों में कताई-बुनाई करके जीवन-पालन करते रहे। बहुत धीरे-धीरे ही वे कारखानों में काम करने को जाने लगे। आम तौर पर कारखाने नदियों के समीप स्थापित किये जाते थे जिससे पानी आसानी से सुलभ हो सके। शुरू-शुरू में ब्रिटेन के उत्तरवर्ती इलाके में मिल मालिकों को श्रमिक जुटाने में काफी परेशानी होती थी। इसके चलते वे लन्दन या दक्षिणी क्षेत्रों से कंगाल या अनाथ बच्चों को शिक्षार्थी कर्मी (apprentice) के रूप में नियुक्त करते थे। 1800 से कपास उद्योग में वाष्प शक्ति के उपयोग होने के फलस्वरूप फैक्ट्रियाँ कोयला केन्द्रों के समीप या शहरों में खोली जाने लगीं। इससे श्रमिकों की आपूर्ति अधिक सरलता से होने लगी। कई मुख्य औद्योगिक नगरों का विस्मयकारी विकास उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में हुआ। नये औद्योगिक नगर या पुराने नगरों के औद्योगिक मुहल्ले हमेशा धूमिल रहते थे। कोयला युग के उस आरम्भिक चरण में कोयला की धूल और धुआँ कारखानों की दीवारों पर तथा श्रमिकों के आवासों पर मोटी परत बनकर जमी रहती थीं। श्रमिकों के आवासों में खुली हवा या रोशनी जाने का कोई प्रबन्ध नहीं रहता था। कारखानों की भी यही हालत रहती थी। कार्मिकों के लिए जल्दीबाजी में घर बनाये जाते थे। इनकी संख्या बहुत कम होती थी। इन घरों में लोग ठूँसे रहते थे। एक ही कमरे में सारा परिवार रहता था। कभी-कभी दो-तीन परिवार भी एक ही कमरे में गुजर करते थे। मजदूरों में स्त्रियों की संख्या काफी होती थी तथा उन्हें दिनभर कारखानों में काम करना पड़ता था। फलतः पारिवारिक जीवन का बिखराव तथा नैतिक पतन का होना अनिवार्य था। ग्लासगो के एक पुलिस अधिकारी ने कहा था कि नगर में ऐसे समूचे-समूचे मकान थे जिनमें एक हजार फटेहाल बच्चे भरे हुए थे जिनका कोई पारिवारिक नाम नहीं था क्योंकि वे अवैध सन्तान थे।

नये कारखानों में अधिकतर केवल साधारण मजदूरों की जरूरत होती थी, कुशल श्रमिकों या कारीगरों की नहीं। अतः कुशल कर्मियों और कारीगरों की स्थिति दयनीय थी। कताई-बुनाई करने वाले पहले के कारीगरों की रोजी छिन गयी थी। वे घोर गरीबी में दिन काट रहे थे। औद्योगिक क्रान्ति के दिनों इस वर्ग की हालत सबसे खराब थी। इनमें से कुछ किसी कारखाने में काम ढूँढते। उस काल के सामान्य श्रमिक की मजदूरी दर की द ष्टि से कारखानों में अधिक मजदूरी मिलती थी, किन्तु मजदूरी बहुत ही कम होती थी। जो मजदूरी मिलती थी उससे परिवार का खाना-पीना चलाना मुश्किल था। वैसे इंग्लैंड में तथा अन्यत्र औद्योगिक क्रान्ति की पूर्ववर्त्ती व्यवस्था में भी मजदूरी दरें ऐसी ही थीं। कारखानों में इतना यांत्रिक काम होता था कि मालिक महिला तथा बच्चों से काम कराना अधिक पसन्द करता था। छः वर्ष के उम्र के बच्चों को भी कारखानों के काम में लगाया जाता था। ये लोग कम ही मजदूरी लेकर काम किया करते थे तथा वयस्कों की अपेक्षा बाबिन का काम करने में अधिक कुशल होते थे। अधिकतर वयस्क मजदूर इससे चिढ़े रहते थे।

कारखानों में प्रतिदिन चौदह घंटे या उससे भी ज्यादा काम लिया जाता था। छुट्टियाँ नहीं के बराबर या बहुत कम थीं। वैसे बेकारी की स्थिति में, जो अक्सर बनी रहती थी, अनिवार्यतः छुट्टी हो जाया करती थी। औद्योगिक प्रसार के इस चरण में व्यावसायिक उतार-चढ़ाव होते ही रहते थे। इस कारण कब कितने मजदूरों को काम मिलेगा यह नितान्त अनिश्चित रहता था। जिस दिन काम नहीं मिला भूखे रहने या उधार खाने के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं रहता था। इस कारण जिन कारखानों में अपेक्षाकृत अच्छी मजदूरी भी दी जाती थी वहाँ भी कर्मियों की औसत या वास्तविक आय बहुत कम होती थी। कारखानें हों या खान इनके कार्मिक सर्वथा असंगठित होते थे। इन दिनों का मजदूर किसी "वर्ग" का सदस्य नहीं होता था। वे जहाँ-तहाँ से इकट्ठे लोगों का एक ढीला-ढाला समूह-मात्र थे जिसकी कोई परम्परा नहीं बन पायी थी। उनमें आपसी भाईचारा की भावना भी नहीं होती थी। हर आदमी कारखानेदार से व्यक्तिगत तौर पर बातें करता था। कारखानेदार स्वयं प्रायः छोटा व्यवसायी होता था। उसे कठोर प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता था। अक्सर वह कारखाने का साज-सामान खरीदने के लिए कर्ज लिये रहता था या और खरीदने के लिए धन संचय करने के फेरे में रहता था। अतः मजदूर के मद में कम-से-कम व्यय हो इसके लिए हमेशा प्रयास करता रहता था।

नये औद्योगिक नगरों में कारखाना श्रमिकों के रहन-सहन, आर्थिक अवस्था तथा मानसिकता औद्योगिक क्रान्ति के अध्येताओं में एक सर्वाधिक विवाद का विषय रही है। कुछ लोगों का कहना है कि नये उद्योगों में काम करने वालों की दशा गुलाम से थोड़ा ही बेहतर होती थी, उन्हें मालिकों की मर्जी पर आश्रित रहना पड़ता था तथा हर तरह के भौतिक एवम् मानसिक कष्ट सहने होते थे। इस मत को मानने वाले मजदूरों के काम करने की लम्बी अवधि, निम्न मजदूरी दर, तथा दुर्दशापूर्ण आवासीय स्थिति पर बल देते हैं। किन्तु यह आलोचना एकांगी तथा पूर्वाग्रहपूर्ण है एवं उन्नीसवीं सदी के आरंभ में संसदीय आयोगों की रिपोर्टों पर आधारित है। ये आयोग औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम करने वालों की अवस्था की जाँच करने के हेतु नियुक्त किये जाते थे। इनमें अधिकतर सुधारक तरह के लोग सदस्य होते थे। नवीन औद्योगिक व्यवस्था की बुराइयों को प्रकाश में लाना उनका उद्देश्य होता था। औद्योगिक क्रान्ति के प्रारंभिक दिनों में बुराइयाँ थीं। इससे किसी को इनकार नहीं, लेकिन हर जगह स्थिति एक समान बुरी नहीं थी। अक्सर एक ही औद्योगिक संस्थान के सभी कार्मिकों की अवस्था एक ही सी नहीं रहती थी। विभिन्न औद्योगिक केन्द्रों तथा संस्थानों में तो फर्क रहता ही था। इसके अतिरिक्त कार्मिकों की दुरवस्था की सारी जिम्मेवारी औद्योगीकरण पर ही नहीं थोपी जा सकती। अठारहवीं सदी के अन्तिम तथा उन्नीसवीं सदी के प्रथम डेढ़ दशकों में इंग्लैंड लगभग अनवरत युद्धों में उलझा रहा इसके फलस्वरूप आर्थिक मन्दी, उतार-चढ़ाव तथा अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न होती रहती थी। यह भी कारखाना मजदूरों की दुरवस्था के हेतु कुछ हद तक जिम्मेवार था। अठारहवीं सदी में कृषि-कर्मियों तथा काश्तकारों की जिन्दगी काफी कठोर थी। उन्नीसवीं सदी का कारखाना कर्मी का जीवन-स्तर एवम् स्वास्थ्य उनकी अपेक्षा सम्भवतः अच्छा ही था।

औद्योगीकरण के आरंभिक दिनों में कारखानों के भीतर तथा इर्द-गिर्द के माहौल का विस्त त किन्तु बड़ा ही धूमिल चित्रण उपन्यासकार **डिकेन्स** के **हाई टाइम्स** जैसे उपन्यासों में मिलता है। इन पर तथा अन्य स्रोतों से मिले विवरणों पर आधारित परम्परागत धारणा में कुछ परिवर्तन हुआ है। यह शायद जरूरी भी था। लेकिन यदि कुछ देर के लिए मान भी लिया जाए कि शहर के कर्मियों का जीवन स्तर उसके ग्रामीण पूर्वजों की तुलना में थोड़ा ऊँचा ही था तब भी दोनों की स्थिति में कुछ बुनियादी फर्क तो था ही। काम करने की रोजाना की कालावधि भले ही ग्रामीण कृषि कर्मी की कम रही होगी उसकी रहन-सहन मोटी तथा आदिम ढंग की होगी, रोग-व्याधियों का वह कुछ अधिक ही शिकार बनता होगा। किन्तु इन सबके बावजूद पुरानी व्यवस्था में आम आदमी को प्राकृतिक वातावरण उपलब्ध था। उसे कारखाने के सीले तथा धूमिल कमरों में नहीं खुले मैदानों की खुली हवा तथा रोशनी में काम करना होता था। उसके रोजाना के काम भिन्न तरीके के होते थे। मनोरंजन के अधिक साधन तथा अवसर उसे रहते थे। आरंभिक कारखाना कर्मी को सबसे ज्यादा एक ही तरह का जी उबाने वाला काम हमेशा करते रहना तथा कारखाना की जिन्दगी का लौह अनुशासन सबसे ज्यादा अखरता था। अरुचिकर हड़बड़ी में बनाये गए शहरों के आवासों में ठूस-ठुसकर रहना उसके असन्तोष का सबसे बड़ा कारण था। इनके अतिरिक्त खानों तथा कारखानों में दुध-मुँहे बच्चों एवम् स्त्रियों का सूती कारखानों में काम पर लगाया जाना औद्योगीकरण पर लगा ऐसा कलंक है जिसे भुलाया नहीं जाना चाहिए। औद्योगीकरण का यह पक्ष न केवल सुधारकों तथा मानवतावादियों की आत्मा को झकझोरता रहा वरन् कई उद्योगपति भी इससे विचलित हुए। जब उत्तर की सूती मिलों में छह सात वर्ष तक के बच्चों से सप्ताह में छह दिन तथा हर दिन बारह-चौदह घंटे काम कराये जाने की बात प्रकाश में आयी तो अनेक लोगों को एक भारी आघात लगा। इसी की प्रेरणा से 1802 में कारखानों में बच्चों को काम पर लगाने पर रोक लगा दी गई लेकिन कानून को लागू करने में ढ़िलाई रही। इस कारण 1833 तक एक प्रभावी फैक्ट्री एक्ट पारित किया गया। इसके अनुसार सूती मिलों में नौ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को नियुक्त करना वर्जित कर दिया गया तथा नौ से बारह वर्ष तक की आयु के बच्चों से सप्ताह में चालीस घंटे से अधिक काम नहीं कराने का प्रावधान किया गया।

औद्योगिक क्रान्ति के दूरगामी लाभों से इंकार नहीं किया जा सकता। साथ ही उसके प्रारंभिक चरण में मानव को निर्मम तथा प्राणान्तक शोषण के रूप में भारी मूल्य चुकाना पड़ा यह भी स्मरण रखना चाहिए। इंग्लैंड के मेहनतकश लोगों के लिए औद्योगिक क्रान्ति का दौर सचमुच बड़ा ही कठोर एवम् कटु अनुभव लेकर आया था। किन्तु यह भी नहीं भूलना होगा कि शहरों तथा कारखानों में कर्मियों के बड़ी संख्या में एक साथ रहने के फलस्वरूप उनकी स्थिति में सुधार का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। शहर में रहने से उन्हें दुनियाँ देखने का मौका मिला तथा अपनी हीनता एवम् दुर्दशा का बोध हुआ। एक दूसरे से मिलने-जुलने, दुख-सुख में सहभागी होने से भाईचारा की भावना जगी, वर्ग चेतना आयी तथा वर्ग-हितों का ज्ञान हुआ। सभी मेहनतकश लोगों का राजनैतिक लक्ष्य एक ही होना चाहिए-ऐसा महसूस करने का माहौल बना। कालान्तर में कारखाना कर्मी संगठित

हुए, श्रम संघों की स्थापना हुई तथा संघर्ष करके राष्ट्रीय आय का व हदतर हिस्सा हासिल करने की दिशा में प्रगति के चरण उठे।

नगरों का विकासः औद्योगिक क्रान्ति ने नये शहरों को जन्म दिया। गाँवों का महत्व जाता रहा। इस क्रान्ति के पूर्व अधिकांश लोग गाँवों में रहते थे। कृषि उनका मुख्य पेशा था। आर्थिक द ष्टि से गाँव स्वावलम्बी होते थे। शहर थोड़े और छोटे-छोटे थे। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के बाद नक्शा ही बदल गया। कारखानों का निर्माण शहरों में किया गया अथवा जहाँ कारखाने बनाये गये वहीं नये शहर बस गये। इन विशाल नगरों का जीवन गाँवों और कस्बों के सरल जीवन से सर्वथा भिन्न था। नये शहर किसी-न-किसी व्यवसाय के केन्द्र थे। अतः रोजी की तलाश में गाँवों से लोग बड़ी संख्या में शहरों में जाकर बसने लगे, अतः शहरों की आबादी काफी बढ़ गयी। आबादी में व द्धि के कारण आवास, स्वास्थ्य और सफाई की समस्याएँ शहरों में जटिल होती गयीं। यद्यपि गाँवों में भी जीवन-स्तर अच्छा नहीं था, किन्तु अपेक्षाकृत शहरी लोगों का जीवन और भी खराब था। गाँवों से आकर जो लोग शहरों में रहने लगे उनके रहन-सहन तथा सामाजिक जीवन में परिवर्तन हुए। गाँवों के बहुत से सामाजिक बंधन टूट गये। गाँव के सामुदायिक जीवन में अनेक नैतिक नियमों का पालन करना पड़ता था, शहरों में उन सब का पालन करना आवश्यक न रहा। किन्तु शहर में लोगों को गुणों का पूर्ण रूप से विकास करने की स्वतन्त्रता थी। लोगों में शिक्षा भी फैली।

रहन-सहन के स्तर का ऊँचा होनाः मशीनों द्वारा दैनिक उपभोग की वस्तुएँ बड़ी मात्रा में, सस्ती और अच्छा बनने लगीं। यातायात की सुविधा के कारण बाहर के देशों से आवश्यक वस्तुओं तथा अनाज आने की सुविधा हो गयी। इस प्रकार आवश्यक वस्तुएँ सुलभ हो गयीं और अब देश में अकाल का भय समाप्त हो गया। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व वस्तुएँ प्रायः दुर्लभ एवं कीमती थीं और सभी वर्ग के लोगों को नहीं मिल पाती थीं, किन्तु अब वे सर्वसाधारण को भी उपलब्ध थीं। पुनः, लोगों की आय में भी काफी व द्धि हुई। अतः उनकी क्रय-शक्ति बढ़ गयी। नगर गाँवों की अपेक्षा सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण होते थे। इन कारणों से लोगों को रहन-सहन तथा जीवन-स्तर ऊँचा हो गया तथा आनन्द की व द्धि हुई।

कृषि का विकासः क्रान्ति के क्रम में होने वाले आविष्कारों का प्रभाव कृषि पर भी पड़ा। नयी मशीन, औजार, तकनीक, अच्छे बीज तथा खाद के प्रयोग के कारण कृषि-उत्पादनों में व्यापक व द्धि हुई। वस्तुतः कृषि-क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति ने एक दूसरे को बढ़ावा दिया। कारखानों के लिए आवश्यक कृषि-उत्पादनों (रूई, ईख, तम्बाकू, पटसन आदि) की उन्नति हुई और खाद्यान्न भी अधिक उपजाये जाने लगे। अब सभी को पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न उपलब्ध होने लगे।

कृषि के साथ-साथ पशुओं की दशा में भी सुधार हुआ। पशुओं की संख्या बढ़ गयी और उनकी नस्ल में भी सुधार हुआ। पशु स्वस्थ और मोटे-ताजे हो गये। अब पशुओं से अधिक मात्रा में दूध, मांस तथा ऊन प्राप्त होने लगे।

व्यापार का विस्तारः औद्योगिक क्रान्ति के कारण व्यापार का व्यापक विस्तार हुआ। पहले व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताओं को साधारणतः स्वयं ही पूरा कर लेते थे। इस द ष्टिकोण से गाँव प्रायः आत्मनिर्भर थे, पर बड़े-बड़े कल कारखानों की स्थापना के साथ-साथ विभिन्न व्यवसायों के अलग-अलग केन्द्रों का विकास प्रारम्भ हुआ। जब केन्द्र में एक ही व्यवसाय की प्रधानता हो गयी, तब नगरों में पारस्परिक व्यापार में व द्धि होना बिल्कुल स्वाभाविक था। आन्तरिक व्यापार में व्यापक व द्धि हुई। आन्तरिक व्यापार ने विदेशी व्यापार को भी प्रोत्साहन दिया।

बैंकिंग का विकासः अर्थव्यवस्था की जटिलता ने बैंकों की स्थापना को आवश्यक बना दिया। उद्योग एवं व्यापार की व द्धि के कारण संयुक्त कम्पनियों की स्थापना हुई। इन कम्पनियों का लेन-देन बैंकों के द्वारा होने लगा। इसी प्रकार कृषि की बदली हुई दशा में कृषकों को नये ढंग से खेती करने के लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता हुई। उन्होंने बैंकों से रुपये उधार लिये। इस तरह से बैंकिंग का विकास तेजी से होने लगा।

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों की स्थापनाः इस क्रान्ति के कारण राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों की स्थापना हुई। औद्योगिक राष्ट्र अधिक मात्रा में अपने उत्पादनों का निर्यात करने लगे। दूसरी ओर बाहर से आयात की जाने वाली वस्तुओं पर भारी चुंगी लगायी जाने लगी जिससे देशी उत्पादनों की बिक्री बढ़े। पुनः औद्योगिक क्रान्ति के कारण वस्तुओं का निर्माण तेजी से और इतनी अधिक मात्रा में होने लगा कि उन्हें विश्व के कोने-कोने में भेजा जाने लगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों की स्थापना हुई।

राष्ट्रीय आय में व द्धिः औद्योगिक क्रान्ति के चलते औद्योगिक राष्ट्र में वस्तुओं के उत्पादन में अभूतपूर्व व द्धि हुई। अतः उनका अन्तर्देशीय तथा विदेशी व्यापार काफी बढ़ गया। व्यापार की व द्धि के कारण यूरोपीय देशों की राष्ट्रीय आय में काफी व द्धि हुई। ये देश अत्यन्त सम्पन्न और सम द्ध हो गये। उदाहरण के लिए अमेरिका के स्वतन्त्र हो जाने से इंग्लैंड की जो आर्थिक क्षति हुई, वह उसने औद्योगिक क्रान्ति से पूरी कर ली। अपनी सम द्धि के बल पर ही इंग्लैंड ने नेपोलियन के विरुद्ध चार बार संघ बनाये और उन्हें लड़ाई का खर्च स्वयं दिया।

सम्पत्ति का असमान वितरणः यद्यपि औद्योगिक क्रान्ति ने देश की सम द्धि में आश्चर्यजनक व द्धि की, किन्तु इस सम्पत्ति का समान वितरण नहीं हुआ। पूँजीपति वर्ग ने सारी सम्पत्ति हड़प ली। इस वर्ग के लोग दिन-प्रतिदिन सम्पन्न होते चले गये। दूसरी ओर मजदूर दरिद्र बने रहे, क्योंकि उनको कम-से-कम मजदूरी मिलती थी और उत्पादन से होने वाले लाभ में उनका कोई भाग नहीं था। स्पष्ट है कि सम्पत्ति का असमान वितरण था जो देश के लिए कदापि हितकर नहीं था और बाद में इस असमानता के चलते ही अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुईं और अब भी हो रही हैं।

यातायात तथा संचार के साधनों का विकासः उद्योग एवं व्यापार की व द्धि के कारण यातायात तथा संचार के साधनों का व्यापक विकास हुआ। सड़कें, नहरें, रेल तथा वाष्प-चालित जहाजों का निर्माण हुआ। साथ ही, डाक-व्यवस्था का संगठन हुआ और तार, टेलीफोन आदि संचार के आधुनिक साधनों का भी विकास हुआ।

श्रम-विभाजनः मशीनों के प्रयोग के कारण श्रम का स्पष्ट विभाजन हो गया। पहले कारीगर स्वयं ही एक वस्तु को प्रारम्भ से अन्त तक बनाता था। अतः वह उसे बनाने की कला में पूर्ण रूप से दक्ष हो जाता था और अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन भी करता था। श्रम-विभाजन ने उसके इन दोनों गुणों का अन्त कर दिया। इसका कारण यह था कि एक ही वस्तु के विभिन्न भाग में विभिन्न मशीनों को संचालित करना तथा उनकी देखभाल करना रह गया। जो मनुष्य जिस कार्य की देखभाल करता था वह उस कार्य में ही दक्ष होता था। दूसरी मशीन अथवा दूसरे कार्य की उसे जानकारी नहीं हो पाती थी। इस प्रकार श्रम का विभाजन होता चला गया।

सामाजिक प्रभावः औद्योगिक क्रान्ति का व्यापक प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर पड़ा जिससे सामाजिक स्वरूप, ढाँचा एवं प्रकृति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। जहाँ इसने कुछ समस्याओं को दूर किया वहाँ सामाजिक क्षेत्र में अनेक नयी सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न कर दीं।

नवीन सामाजिक वर्गों का उत्थानः औद्योगिक क्रान्ति के कारण छोटे किसानों का अन्त हो गया। अब वे कारखानों में मजदूर बन गये। फैक्ट्री-प्रणाली के अन्तर्गत मजदूरों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अन्त हो गया। अब वे अपनी आजीविका के लिए पूर्ण रूप से अपने मालिकों पर निर्भर थे। इस प्रकार पूँजीपतियों द्वारा मजदूर वर्ग के शोषण की कहानी शुरू हुई।

औद्योगिक क्रान्ति ने दो नवीन सामाजिक वर्गों को जन्म दिया-पूँजीपति तथा मजदूर वर्ग। इस क्रान्ति के कारण आर्थिक शक्ति थोड़े से लोगों के हाथों में केन्द्रित हो गयी। इसी ने औद्योगिक पूँजीवाद को जन्म दिया।

पूँजीपति वर्गः पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों की बन आयी। पूँजीपति अत्यधिक धनी वर्ग के थे। जिनके पास काफी पैसे थे, वे कारखानों तथा मशीनों के स्वामी थे। वे मशीनों को चलाने तथा देखभाल के लिए मजदूरों की बहाली करते थे। इस प्रकार बड़ी-बड़ी कम्पनियों के हजारों लोगों के जीवन पर नियन्त्रण हो गया। इसके कारण दिल दहलाने वाली सामाजिक असमानताएँ उत्पन्न हो गयीं और पूँजीपतियों तथा शेष जनता के बीच खाई बन गयी। ये असमानताएँ इतनी प्रत्यक्ष और अधिक थीं कि उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन के एक प्रधान मन्त्री डिजरेली ने यह कहा कि "इंग्लैंड में दो राष्ट्र हैं, एक धनी और दूसरा निर्धन।"

मजदूर वर्गः दूसरा वर्ग भूमिहीन तथा बिना औजार वाले मजदूरों का था। मजदूर पूर्ण रूप से पूँजीपतियों पर निर्भर थे। सामाजिक द ष्टि से स्वतन्त्र होते हुए भी उनकी स्थिति दासों के समान थी। जितनी भी मजदूरी मालिक देता उन्हें उसे स्वीकार करनी पड़ती थी।

मजदूरों की दयनीय स्थितिः प्रारम्भ में कारखानों तथा खानों में काम करने वाले मजदूरों की दशा अत्यन्त चिन्ताजनक थी। मजदूरों को लगातार पन्द्रह से अठारह घंटे प्रतिदिन काम करना पड़ता था। उन्हें इतनी कम मजदूरी दी जाती थी कि वह उनके दो समय के भोजन के लिए भी पर्याप्त नहीं थी। यदि कोई मालिक किसी कारण से किसी मजदूर से नाराज हो

जाता तो वह उसे नौकरी से निकाल भी सकता था। मजदूरों के सामने कोई विकल्प नहीं था और उन्हें अपने स्वामी की सभी शर्तों को मानना पड़ता था। कारखानों में सफाई, रोशनी, मजदूरों की सुरक्षा तथा चिकित्सा आदि की कोई व्यवस्था नहीं थी।

मजदूरों की स्त्रियों तथा बच्चों का शोषण: अधिक-से-अधिक दाम कमाने के फेरे में कारखानों के मालिक मजदूरों की स्त्रियों तथा बच्चों का भी शोषण करने से बाज नहीं आते थे। उन्हें और भी कम मजदूरी दी जाती थी। उनसे चौदह-चौदह घंटे तक लगातार काम लिया जाता था। इससे उनके स्वास्थ्य पर काफी बुरा प्रभाव पड़ता था।

शिक्षित मध्यम वर्ग: पूँजीपति और मजदूर, इन दो वर्गों के साथ इस क्रान्ति ने एक तीसरे वर्ग को भी जन्म दिया। यह वर्ग शिक्षित मध्यम वर्ग था। इस वर्ग के लोग कारखानों का हिसाब-किताब रखते थे। इसके अतिरिक्त वे बने हुए माल का प्रचार करते और कारखानों से सम्बन्धित अन्य उच्च कार्य करते थे। इस वर्ग के लोग शिक्षित होते थे। इस वर्ग ने धीरे-धीरे अपनी स्थिति में काफी सुधार कर लिया।

वर्ग-संघर्ष का प्रारम्भ: औद्योगिक क्रान्ति ने मजदूर तथा पूँजीपति दो वर्गों को जन्म देकर वर्ग-संघर्ष का प्रारम्भ किया। दोनों वर्ग एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। दोनों की स्थिति तथा शक्ति में महान अन्तर था। पूँजीपति धनवान थे। वे मजदूरों को काम पर रखते थे, उन्हें अपनी इच्छा के वेतन देते थे और अनेक प्रकार से मजदूरों का शोषण करते थे। धीरे-धीरे मजदूरों को अपनी दुर्दशा और वास्तविक स्थिति का ज्ञान हुआ। फलस्वरूप पूँजीपतियों और मजदूरों में संघर्ष प्रारम्भ हो गया।

गन्दे नगर: यद्यपि औद्योगिक क्रान्ति के कारण बड़े-बड़े नगरों की स्थापना हुई, किन्तु नगर योजनाबद्ध नहीं थे। लोग अपनी मर्जी से कारखाना तथा मकान बना लेते थे। उनमें सफाई, रोशनी, शुद्ध वायु इत्यादि का उचित प्रबन्ध नहीं था। मजदूरों की झोपड़ियाँ तो और भी गन्दी होती थीं। कारखानों के आस-पास मजदूरों की गन्दी बस्तियाँ बस जाती थीं। इस प्रकार प्रारम्भ में नगरों में गन्दगी बढ़ती गयी।

बेकारी की समस्या: बाड़ा आन्दोलन तथा कृषि में हुए सुधारों के कारण से बहुत-से छोटे किसान तथा कृषि-मजदूर पहले से ही बेकार हो गये थे। औद्योगिक क्रान्ति ने भी बेरोजगारी की समस्या को जटिल बना दिया। घरेलू पद्धति के अन्तर्गत ग ह-उद्योगों में परिवार के सभी सदस्य लगे रहते थे, परन्तु फैक्ट्री पद्धति में मशीनों का सहारा लिया गया। अब अनेक मजदूरों का काम अकेले एक मशीन करने लगी। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे लोग बेरोजगार तथा बेकार होते चले गये। कुछ समय के बाद यह समस्या अत्यन्त जटिल हो गयी और समाज तथा सरकार के लिए एक प्रमुख समस्या बन गयी।

नैतिक पतन: औद्योगिक क्रान्ति के कारण धन का महत्व और लालच बढ़ गया। लोगों के नैतिक आचरण में गिरावट आ गयी। लोग जुआ, शराब, विषय-वासना आदि दुर्गुणों की ओर उन्मुख हो उठे। कारखानों में काम करने वाले मजदूर गरीब, अज्ञानी और अशिक्षित थे। गन्दी बस्तियों में रहकर और वे क्या सीख सकते थे।

जनसंख्या में व द्धि: औद्योगिक क्रान्ति के चलते विज्ञान के क्षेत्र में भी काफी प्रगति हुई। बीमारियों की रोक-थाम के उपायों, सफाई तथा आय में व द्धि के कारण औद्योगिक राष्ट्रों की जनसंख्या में काफी व द्धि हुई। उदाहरणस्वरूप अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक इंग्लैंड की जनसंख्या सत्तर लाख थी जो अगले साठ वर्षों में बढ़कर एक करोड़ अस्सी लाख से भी अधिक हो गयी।

भोग-विलास में व द्धि: औद्योगिक क्रान्ति के चलते भोग-विलास की वस्तुएँ अधिक मात्रा में बनने लगीं। लोगों की आय भी अब पहले से काफी बढ़ गयी थी। इससे समाज में भोग-विलास में व द्धि हुई। लोग सुन्दर और चमकीले कपड़े, तेल, साबुन, पाउडर आदि विलास-सामग्री तथा प्रसाधनों का प्रयोग करने लगे।

श्रमिकों की दशा में सुधार: जैसा कि उल्लेख किया गया है, प्रारम्भ में मजदूरों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। पूँजीपति वर्ग के लोग उनका ही नहीं बल्कि उनकी स्त्रियों तथा बच्चों का भी शोषण कर रहे थे। इस कारण मजदूर संघों का संगठन हुआ। कुछ सुधारकों और ऐसे जमींदारों ने जो बड़े व्यापारियों से ईर्ष्या करते थे, मजदूरों का साथ दिया। मजदूर संघों पर धीरे-धीरे समाजवाद का प्रभाव बढ़ने लगा था। अतः पूँजीवाद की समर्थक यूरोपीय सरकारों ने देश में समाजवाद के प्रसार की आशंका से न केवल मजदूर संघों को मान्यता प्रदान की बल्कि मजदूरों की दशा में सुधार लाने के लिए कई कानून

भी बनाये। इंग्लैंड में 1802 ई० में पहला कारखाना कानून पास हुआ। अब बच्चों से प्रतिदिन बारह घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। 1819 ई० में एक अन्य कानून पारित किया गया और अब नौ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को कारखानों में नहीं रखा जा सकता था। एक अन्य कानून के द्वारा खानों में स्त्रियों और बालकों को काम पर लगाने पर नियन्त्रण लगा दिया गया।

असंतुष्ट मजदूरों ने इंग्लैंड में एक राजनीतिक संगठन कायम किया और आन्दोलन छेड़ दिया। मजदूर वोट देने के अधिकार की मांग कर रहे थे। इस आन्दोलन को हम **चार्टिष्ट** आन्दोलन कहते हैं। समाजवाद ने मजदूरों की दशा में सुधार की मांग को काफी प्रोत्साहित किया। समाजवादियों का कहना था कि उत्पादन के सभी साधनों पर समाज या सरकार का अधिकार हो तथा इनसे होने वाली आय सारे समाज के कल्याण के लिए खर्च हो। मजदूरों को अच्छे वेतन दिए जाएँ और उनके लिए मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के कल्याणकारी काम किए जाएँ। यद्यपि मजदूरों की कुछ मांगे स्वीकार कर ली जातीं, परन्तु सामान्यतः उनकी उपेक्षा ही होती रही। यूरोप के प्रायः सभी देशों, अमेरिका तथा अन्य पूँजीवादी देशों में पूँजीपतियों के द्वारा मजदूरों का शोषण जारी रहा।

लासेज फेयर सिद्धान्त का उदयः नये मिल-मालिक (इन्हें 'कॉटन लौर्ड्स' कहा जाता था।) वास्तव में पहले औद्योगिक पूँजीपति थे। इन्होंने संपदा, प्रतिष्ठा तथा प्रभाव स्वयं अपनी सूझ-बूझ, दूरदर्शिता एवं अध्यवसाय से अर्जित की थी। ये लोग ज्यादा शान-शौकत या दिखावे में विश्वास नहीं करते थे, लेकिन रहते आराम से थे। उन्हें हर साल जो आमदनी होती उसमें से कुछ बचाकर अपने कारखानों का विस्तार करते तथा मशीनें बढ़ाते अथवा उनमें सुधार करते। ये लोग स्वयं कठोर परिश्रम करने वाले होते थे। इनकी धारणा बन गई थी कि जमींदार-जागीरदार अर्थात् पुराने अभिजात आरामतलब अकर्मण्य होते हैं, तथा कर्मी सर्वहारा आलसी। ये लोग आम तौर पर ईमानदार होते थे, पैसा बनाने में उन्हें साधन के अच्छे-बुरे होने की चिन्ता नहीं रहती थी। वैसे कानून के दायरे का अतिक्रमण वे प्रायः नहीं करते थे। इन्हें कठोर या हृदयहीन नहीं कहा जा सकता था। उनकी यह पक्की धारणा थी कि "गरीब" लोगों को काम देकर तथा उनसे उपयोगी काम कराके वे उन पर अनुग्रह करते थे। अधिकतर उद्योगपति अपने काम कराने पर किसी तरह की पाबन्दी लगाये जाना नापसन्द करते थे। यद्यपि कुछ लोग बच्चों से अतिशय काम लेने जैसे अनुचित या अमानवीय तरीकों का इस्तेमाल करके अनुचित प्रतियोगिता के कारण ऐसी पाबन्दियों का समर्थन भी करते जिनमें सभी औद्योगिक उत्पादक समान ढंग से काम करा सकें। **रॉबर्ट पील** नामक एक कपास उद्योग के मिल-मालिक ने ही 1802 में पहला फैक्ट्री कानून संसद् में पारित कराया था। इस कानून में अनाथ या कंगाल बच्चों के सूती मिलों में काम पर लगाये जाने का नियमन करने का प्रावधान था। किन्तु इसमें कारखाना-अधीक्षकों की पर्याप्त व्यवस्था नहीं होने से शुरू से ही इसका कार्यान्वयन शिथिल अथवा नहीं के बराबर रहा। उन दिनों यूरोप में ब्रिटेन ही एकमात्र ऐसा देश था जहाँ प्रशिक्षित तथा वेतनभोगी प्रशासन अधिकारी नहीं हुआ करते थे। वहाँ स्थानीय स्वशासन तथा स्थानीय लोगों के पहल में आमतौर पर इतना विश्वास किया जाता था कि वेतनभोगी पेशेवर शासन अधिकारियों की जरूरत भी महसूस नहीं की जाती थी। फलतः कारखानों के निजी मामलों के अधीक्षण हेतु सरकारी अधिकारी नियुक्त करना अन्य यूरोपीय देशों में प्रचलित व्यवस्था का अनुकरण करने वाला अनावश्यक प्रशासनिक हस्तक्षेप माना जाता। आर्थिक नियम के परम्परागत तरीके, नये औद्योगिक दौर में प्रभावहीन हो रहे थे। इस आधार पर लोग नियमन की प्रणाली को ही बेकार समझने लगे थे। नवीन उद्योगपति अपने काम-धाम में पूर्ण अहस्तक्षेप पसन्द करता था। उनकी सूझ-बुझ या फैसलों में हस्तक्षेप हो इसके वे सर्वथा विरुद्ध थे। वे यह मानते थे कि यदि उन्हें अपने तरीके से, बिना किसी हस्तक्षेप के काम करने दिया जाय तो इससे देश का अधिक हित होगा।

उन दिनों इंग्लैंड में इस धारणा को पुष्ट करने वाले राजनीतिक चिन्तन की हवा भी बहनी शुरू हुई थी। 1776 में **एडम स्मिथ** की "वेल्थ ऑफ नेशन्स" नामक युगान्तरकारी पुस्तक प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में वाणिज्यवाद की नियामक तथा एकाधिकारपरक अवधारणाओं की आलोचना की गई थी तथा उन्हें तत्कालीन आर्थिक माहौल के लिए अप्रासंगिक बताया गया था। अपनी पुस्तक में एडम स्मिथ ने इस बात पर बल दिया था कि उत्पादन तथा विनिमय के कुछ "प्राकृतिक विज्ञान" होते हैं। इन्हें अपना कार्य करने देना चाहिए। एडम स्मिथ के उपरान्त **टॉमस माल्थस, डेविड रिकार्डो,** एवम् कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों (इन्हें तथाकथित मैन्चेस्टर स्कूल के चिन्तक कहा जाता था) की पुस्तकें अथवा लेख प्रकाशित हुए। इनकी अर्थशास्त्रीय स्थापनाओं को मोटे तौर से शास्त्रीय (Classical) अर्थशास्त्र कहा गया है। इन सिद्धान्तों को इनके विरोधी 'लासेज फेयर' (Laissez Faire)

हैं। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की बुनियादी स्थापना के अनुसार आर्थिक संबंधों तथा क्रियाकलापों की शासनवत् एवं राजनीति से प थक् अपनी अलग दुनियाँ होती है। आर्थिक संबंधों की वह दुनियाँ कतिपय बुनियादी प्राकृतिक विधानों से नियमित होती है। मिसाल के तौर पर मांग एवम् पूर्ति के नियम का उल्लेख किया जा सकता है। इन्होंने अन्य कई स्थापनाएँ प्रतिपादित की यथा, हर आदमी को अपने स्वहित के अनुसार काम करना चाहिए क्योंकि आदमी अपना हित खुद ही जितना जान सकता है, दूसरा नहीं। हर व्यक्ति के कल्याण का कुल जमा ही आम लोगों का कल्याण तथा आजादी होगा। आर्थिक क्षेत्र में सरकार की भूमिका यथासंभव कम-से-कम होनी चाहिए। शासनतंत्र का दायरा जान और माल की सुरक्षा, कानून, व्यवस्था, न्यायालय आदि तक ही सीमित रहना चाहिए, जिसमें निजी संविदाएँ, वित्तीय लेनदेन आदि की शर्तें, कानूनी जिम्मेवारियो आदि पूरी करने में किसी की ओर से व्यवधान नहीं हो। केवल व्यवसाय ही नहीं, शिक्षा, स्वास्थ्य, तथा अन्य व्यक्तिगत मामलों में शासनतंत्र को दखल देने की कोई जरूरत नहीं। इन मामलों में निजी पहल ही ज्यादा कारगर होती हैं।

शास्त्रीय अर्थशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संदर्भ में चुंगी तथा संरक्षण के अथवा किसी तरह की सरकारी दखलन्दाजी का विरोध करते थे। वे उन्मुक्त व्यापार के कट्टर समर्थक थे। वे कहते थेः आर्थिक कारोबार सारी दुनियाँ में चलते रहते हैं तथा घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होते हैं। राष्ट्रों या राज्यों के मतभेद, या राजनैतिक सीमांकनों से आर्थिक शक्तियाँ खंडित नहीं होतीं।

शास्त्रीय अर्थशास्त्र मेहनतकश कर्मियों के लिए सबसे अधिक कठोर था। शास्त्रीय अर्थशास्त्र यह उद्घोषित करते थे कि श्रमजीवियों को उतनी ही मजदूरी दी जानी चाहिए जितने में वे निम्नतम व्यय पर जीवन यापन कर सकें। इस सन्दर्भ में उनकी अवधारणा को "पारिश्रमिक का लौह कानून" (आइरन लॉ ऑफ वेजेज) का नाम दिया गया। इस अवधारणा के अनुसार मेहनतकश लोगों को मात्र जीवन-यापन के लिए पारिश्रमिक मिले, इसमें व द्धि होने से वे ज्यादा बच्चे पैदा करते हैं, जिससे वे पहले जैसे ही गरीब बने रहते हैं। मेहनतकश वर्ग को अपनी अवस्था से असन्तुष्ट होकर अर्थव्यवस्था को बदलने की बात नहीं सोचनी चाहिए क्योंकि यह (व्यवस्था) प्रकृति का विधान है दूसरी कोई व्यवस्था नहीं हो सकती है।

औद्योगिक क्रान्ति के चरण पूरी गति के साथ बढ़ते जा रहे थे। ब्रिटेन उन दिनों मशीनी औद्योगिक दुनियाँ का केन्द्र था। वाटरलू के बाद वह दुनियाँ का कर्मशाला कारखाना बन गया। वाष्प शक्ति का उपयोग करने वाली फैक्ट्रियाँ फ्रांस, बेल्जियम, अमेरिका तथा अन्यत्र खुल रही थीं। किन्तु 1860 के पहले तक औद्योगिक उत्पादन में ब्रिटेन का कोई मुकाबला नहीं था। वस्त्र उद्योग तथा मशीनी पुर्जों के उत्पादन में उसका एकाधिकार-सा बना रहा। इंग्लैंड के मध्यवर्ती जिलों तथा स्कॉटलैण्ड के औद्योगिक केन्द्रों में से सूती वस्त्र, वाष्प चालित इंजन आदि सारी दुनिया में निर्यातित होते थे। ब्रिटिश पूँजी देश-देशान्तर में पहुँच रही थी, नये-नये व्यवसाय खोलने में पहल कर रही थी। लंदन दुनिया का वित्तीय केन्द्र बन गया था। अपने-अपने देश को आगे बढ़ाने के हामी लोग ब्रिटेन की ओर आदर्श के लिए देखते। ब्रिटेन के औद्योगिक तरीके तथा संसदीय व्यवस्था दुनियाँ भर के अनुकरण के हेतु नमूना बन रही थी।

राजनीतिक प्रभाव

यद्यपि औद्योगिक क्रान्ति का मूल सम्बन्ध आर्थिक व्यवस्था से था, किन्तु जैसा कि उल्लेख किया गया है, इसने मानव जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित किया। राजनीति भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं रही। औद्योगिक क्रान्ति के कारण विश्व-राजनीति में अनेक उथल-पुथल हुए और अनेक राजनीतिक विचारधाराओं अथवा दर्शनों का जन्म हुआ।

पूँजीवाद का आरम्भः औद्योगिक क्रान्ति ने तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था को गहरे रूप से प्रभावित किया। इस क्रान्ति के कारण आर्थिक शक्ति का सकेन्द्रण कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में हो गया। इसी से औद्योगिक पूँजीवाद का जन्म हुआ। पूँजीवादी व्यवस्था में धन के समस्त साधन- मानव-क्षण, यंत्र, कच्चा माल आदि का एकमात्र अधिकारी पूँजीपति वर्ग हो गया। इस प्रकार इस व्यवस्था में धन का स्त्रोत पूँजीपतियों के हाथों में आ गया। वे अपनी पूँजी को बढ़ाने के लिए जी-जान लगाकर परिश्रम करने लगे। पूँजी बढ़ाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिला। शासन का केन्द्रीयकरण एवं राष्ट्रीयता की भावना का विकास पूँजीवाद की देन मानी जाती है।

परन्तु इस व्यवस्था के अनेक बुरे परिणाम भी देखने को मिलते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में प्रत्येक का मूल्य धन के रूप में आँका जाने लगा। इस व्यवस्था में उत्पादन का मूल लाभ होता है। उत्पादन का उद्देश्य सामाजिक कल्याण नहीं होता है। उत्पादन

में लाभांश की कमी होने पर उद्योगपति कल-कारखानों को बन्द कर देते हैं और मजदूर बेकार हो जाते हैं। सम्पत्ति का विभाजन विषम रूप से होता है। सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। इसके कारण दिल दहलाने वाली सामाजिक असमानताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। पूँजीपतियों तथा जनता के बीच खाई बन जाती है। मजदूरों का शोषण होता है और गरीबी के चलते उनका नैतिक पतन होता है। अशान्ति और अव्यवस्था फैलती है। सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए पूँजीपति शस्त्रों की व द्धि करने लगते हैं। राष्ट्रों के बीच द्वेष बढ़ने लगता है और संसार में अशान्ति एवं युद्ध का खतरा पैदा हो जाता है।

साम्राज्यवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय विद्वेष का विकास-पूँजीवाद के विकास से उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद का जन्म हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के चलते जब कल-कारखानों में माल काफी मात्रा में बनने लगे तो इस माल को बेचने की समस्या आयी। पुनः कल-कारखानों में उत्पादन के लिए कच्चे माल की प्राप्ति की समस्या भी गम्भीर हो गयी। औद्योगिक राष्ट्रों को नये बाजारों की खोज थी। सबसे पहले उद्योगों का विकास इंग्लैंड में हुआ। अतः उसने समस्त विश्व के बाजारों पर अधिकार कर लिया। किन्तु जल्द ही अन्य यूरोपीय राष्ट्र इस क्षेत्र में इंग्लैंड के प्रतिद्वन्द्वी बन गये। पश्चिमी देशों ने एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका में कच्चे माल के लिए नये स्त्रोतों और बाजारों की खोज शुरू कर दी। उन्हीं दिनों एशिया में जापान भी औद्योगिक क्षेत्र में तेजी से विकास कर रहा था। अतः जापान और अमेरिका भी इस दौड़ में शामिल हो गये। इस होड़ में उन देशों ने जिनका उद्योगीकरण हो चुका था, लगभग उन सारे देशों को, जिनका उद्योगीकरण नहीं हुआ था, अपने उपनिवेशों, प्रभाव क्षेत्रों या आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व के प्रदेशों में बदल दिया। इस प्रकार साम्राज्यवाद का उदय हुआ।

उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के विकास के कारण पश्चिमी देशों में भीषण प्रतियोगिता आरम्भ हुई। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय विद्वेष की भावना का जन्म हुआ, जिसके चलते भविष्य में प्रलयंकारी अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष हुए।

व्यक्तिवाद का उदयः औद्योगिक क्रान्ति ने कुलीनता और आभिजात्य के गौरव को समाप्त कर दिया। श्रमजीवी जमींदारों के शोषण से मुक्त हो गये। नवीन उद्योग-केन्द्रों में श्रमजीवियों की स्थिति पहले से कुछ अच्छी थी। उनकी आय बढ़ गयी थी। शहरों में ऊँच-नीच का विशेष भेद-भाव नहीं था। वे अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा दिलवा सकते थे। अपने परिश्रम से वे खुद छोटे-मोटे पूँजीपति बन सकते थे। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के बाद व्यक्ति का महत्व बढ़ गया और लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी बढ़ी।

जनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का विकासः औद्योगिक क्रान्ति ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से यूरोप में जनतांत्रिक शासन-प्रणाली के विकास में भी यथेष्ट योगदान दिया। मजदूरों की दशा में सुधार लाने के लिए अनेक कानून बनाये गये। नये नगरों की स्थापना, जनसंख्या में व द्धि तथा आबादी की अदल-बदल आदि के कारण इंग्लैंड में संसदीय सुधारों की माँग बढ़ने लगी। मजदूरों के असंतोष ने इंग्लैंड में चार्टिस्ट आन्दोलन को जन्म दिया। मजदूर भी संसद में अपना प्रतिनिधित्व तथा मताधिकार की माँग करने लगे। इन माँगों के सामने धीरे-धीरे सरकार को झुकना पड़ा। इंग्लैंड में 1832, 1867 और 1884-85 ई० में संसदीय सुधार अधिनियम पारित किये गये। प्रधानमन्त्री ग्लैडस्टन ने शिक्षा को अनिवार्य बनाया। 1872 ई० में गुप्त मतदान-प्रणाली शुरू की गयी। 1918 और 1929 ई० के कानूनों के अन्तर्गत इंग्लैंड के सभी नागरिकों को मताधिकार मिल गया। इंग्लैंड के अतिरिक्त विश्व के अनेक देशों में बाद में चलकर इसी तरह के सुधार लाये गये। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

अहस्तक्षेप का सिद्धान्त (Laissez Faire): अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का प्रतिपादन 1770 ई० में एडम स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'दि वेल्थ ऑफ नेशन्स' में की थी। इस नीति का सार यह था कि सरकार को व्यापार अथवा उद्योग में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यापारी को अपने हितों की देखभाल करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, "पूँजीपतियों को अपने उद्योग के विस्तार की पूरी छूट होनी चाहिए चाहे इसके लिए वे मजदूरों का कितना भी अहित क्यों न करें। उनपर मजदूरों के स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास, मनोरंजन आदि का कोई भार अथवा उत्तरदायित्व नहीं होना चाहिए। सारे पूँजीपति इस सिद्धान्त का आदर धर्म की भाँति करते थे। निस्सन्देह यह नीति दोषपूर्ण थी और कालान्तर में राजनीति, समाज, संस्कृति तथा अर्थव्यवस्था पर इसके अहितकर प्रभाव पड़े। धीरे-धीरे अधिकांश देशों ने इस नीति का त्याग कर दिया और व्यवस्थाओं में सुधार लाने के उद्देश्य से सरकार हस्तक्षेप करने लगी।

नयी राजनीतिक विचारधाराओं का जन्मः विभिन्न देशों में बढ़ती हुई निर्धनता, वर्ग-संघर्ष तथा पूँजीपूतियों द्वारा मजदूरों का शोषण होना ऐसी समस्याएँ थीं जिनका हल सोचने के लिए अनेक विद्वानों ने अपने-अपने सिद्धान्त पेश किये। इस तरह विश्व में समाजवाद तथा साम्यवाद जैसी महत्त्वपूर्ण विचारधाराओं का जन्म हुआ।

समाजवाद

अहस्तक्षेप के सिद्धान्त तथा पूँजीवाद को प्रारम्भ में सबसे बड़ी चुनौती समाजवाद के सिद्धान्त ने दी। वस्तुतः समाजवाद का प्रारम्भ ही पूँजीवाद की बुराइयों की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। समाजवादी राष्ट्र के समस्त आर्थिक साधनों पर राष्ट्र अथवा सरकार के स्वामित्व के समर्थक थे। उनका विश्वास था कि इसी दशा में समस्त समाज अथवा जनता उत्पादन के लाभ का पूरा उपयोग कर सकते थे। वे पूँजीवादी व्यवस्थाओं को अनुचित समझते थे तथा सहकारी संस्थाओं की स्थापना करके धीरे-धीरे सुधार करना चाहते थे। समाजवादी क्रान्तिकारी परिवर्तनों के पक्ष में नहीं थे। समाजवाद का क्रियात्मक रूप इंग्लैंड के **राबर्ट ओवेन** नामक एक मिल-मालिक ने प्रस्तुत की। उसने कारखाने से प्राप्त लाभांश का उचित बँटवारा मजदूरों के साथ करके एक मिसाल कायम किया। मजदूरों के हित के लिए उसने अनेक अन्य कार्य किये; जैसे-काम के घंटे कम कर दिये, बच्चों को मजदूरी पर नहीं लगाया आदि। इस विचारधारा के अन्य दार्शनिकों में उल्लेखनीय थे- **सैंट सीमा, फोरियर प्रोधों** आदि। यूरोप, अमेरिका तथा एशिया के अनेक देशों में इस विचारधारा का प्रचार हुआ।

साम्यवाद

आगे चलकर **कार्ल मार्क्स** ने वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसकी रूपरेखा 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' तथा 'दास कैपिटल' में है। इनके माध्यम से मार्क्स ने संसार के मजदूरों को संगठित होने का संदेश दिया। वर्ग-संघर्ष को ऐतिहासिक तथ्य मानकर पूँजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए उसने मजदूरों को प्रेरित किया। उसका विचार था कि संघर्ष के द्वारा ही सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व स्थापित हो सकता है और वर्गहीन समाज की स्थापना हो सकती है। मार्क्स के साम्यवाद ने रूस, चीन, पूर्वी यूरोप के देशों तथा आंशिक रूप में सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया।

सांस्कृतिक प्रभाव

औद्योगिक क्रान्ति के सांस्कृतिक प्रभाव भी महत्व के थे। आधुनिक युग की सारी सुख-सुविधाओं का आधार औद्योगिक क्रान्ति है। शिक्षा साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, मनोरंजन, रहन-सहन, खान-पान, पोशाक आदि सभी पर इस क्रान्ति का व्यापक प्रभाव पड़ा। स्कूल-कॉलेज खोले गये तथा ज्ञान की व द्धि हुई। अनेक नये अन्वेषण हुए। इससे कवियों और लेखकों को नयी प्रेरणा मिली, अतः साहित्य में भी विशेष उन्नति हुई। स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला तथा अन्य ललितकलाओं पर भी औद्योगिक क्रान्ति के असर द ष्टिगोचर होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास एवं सहयोग को भी इसने बढ़ावा दिया।

स्पष्ट है कि औद्योगिक क्रान्ति एक ऐसी घटना थी जिसने मानव-जीवन से संबंधित सभी व्यवस्थाओं में आमूल परिवर्तन लाया। इसके बहुत-सारे परिणाम मानव जाति के लिए अत्यन्त हितकर सिद्ध हुए। किन्तु कुछ बुरे परिणाम भी हुए। इनकी चर्चा हमने ऊपर की है। इस क्रान्ति ने कुछ ऐसी समस्याएँ पैदा कीं जिनका निदान अब तक नहीं हो पाया है। फिर भी यह एक अभूतपूर्व एवं युग-प्रवर्तक घटना थी।

अध्याय-4
ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी तथा जापान में पूँजीवाद का विकास

पूँजीवाद आधुनिक अर्थव्यवस्था की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता मानी जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी के छट्ठे दशक से ही पूँजीवाद चर्चा का विषय बना हुआ है। मूलतः पूँजीवाद औद्योगिक क्रान्ति की उपज है। इस व्यवस्था में व्यक्ति का दर्जा मुख्यतः उसकी सम्पत्ति से तय होता है और लाभ पूँजीवाद का मूल उद्देश्य है। माल तथा सेवाओं का मूल्यांकन उनकी मौलिक उपयोगिता की अपेक्षा मांग तथा आपूर्ति पर आधारित होता है। इस व्यवस्था में सम्पत्ति थोड़े से लोगों के हाथों में केन्द्रित रहती है और इसका इस्तेमाल बड़े उद्योगों की स्थापना के लिए किया जाता है।

पूँजीवाद की विशेषताएँ

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आज तक विश्व इतिहास की गतिविधियों को समझने के लिए पूँजीवाद के विकास पर उसकी विशेषताओं को समझना अनिवार्य प्रतीत होता है। इसकी मुख्य विशेषताओं निम्नलिखित है-

वाणिज्यिक क्रान्ति के साथ कारोबारी प्रक्रिया में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। व्यापार-धंधा अब पूर्णतया व्यक्तिगत नहीं रह गया। एक कारोबारी इकाई की पूँजी तथा एसेट्स और एक व्यक्तिगत उद्यमी की पूँजी तथा एसेट्स, दोनो अलग-अलग चीजें थी। इस व्यवस्था में मजदूरों का अस्तित्व एक बड़ी मशीन के एक छोटे से पुर्जे की तरह हो गया। मजदूरों को केवल अपने वेतन और काम के घंटों से मतलब रह गया। दूसरी ओर पूँजीपति जो कारखाना लगाता, मशीनें और कच्चा माल मंगवाता तथा सारे कारोबार की देखभाल करता, इस व्यवस्था में उसकी अहमियत और ताकत सबसे अधिक हो गई। चूँकि वेतन, काम के घंटे आदि पर पूँजीपतियों का निर्णय अन्तिम होता था, अतः उन्होंने अपनी शक्ति का दुरूपयोग शुरू कर दिया। मजदूरों ने भूखों मरने की अपेक्षा ऐसी स्थिति में काम करना मजबूरी में स्वीकार कर लिया, जो न केवल उनके लिए वरन सारे समाज के लिए बड़ा ही हानिकारक साबित हुआ।

इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा बेल्जियम में 1830-32 की कालावधि में कई क्रांतिकारी आन्दोलन हुए। इसके फलस्वरूप नव सम्पदा प्राप्त बुर्जुआ लोगों की विजय हुई। यह इन्हीं नव-सम्पन्नों का युग था। यूरोपीय समाज के अनेक पक्षों पर उसकी गहरी छाप पड़ी। पश्चिमी यूरोपीय देशों में पूँजी का संचलन होता रहा, उनके औद्योगिक संस्थानों में बढ़ोत्तरी होती रही। राष्ट्रीय आय में लगातार व द्धि हो रही थी। इसका अधिकतर अंश पूँजीपतियों की जेब में पहुँच रहा था, श्रमिकों को उसका बहुत छोटा अंश ही मिल पाता था। इसके परिणामस्वरूप उपभोग के मुद्दों (जैसे खाना, कपड़ों, आवास, मनोरंजन के साधन आदि) पर बहुत कम खर्च होता जबकि पुनर्न्यस्त (re-investment) करने को काफी बड़ी धनराशि उपलब्ध रहती थी। नयी पूँजी कम्पनियाँ बराबर खुल रही थी। नये क्षेत्रों में संयुक्त पूँजी कम्पनियाँ खोली जा सकें इसके लिए निगम संबंधी कानून में परिवर्तन किये गये। कारखानेदारी प्रथा ब्रिटेन से होती हुई अब यूरोप के कई देशों में पहुँच चुकी थी। स्वयं ब्रिटेन में अब सूती वस्त्र उद्योग तक ही सीमित नहीं थी। औद्योगीकरण के इस चरण में लोहे के उत्पादन का परिणाम किसी देश की आर्थिक प्रगति की अच्छी कसौटी थी। ब्रिटेन का लोहा उत्पादन केवल अठारह वर्षों में तिगुना बढ़ गया। रेल लाइन बिछाने का काम भी बड़े पैमाने पर शुरू हुआ। अतलान्तिक पार की यात्रा के लिए 1840 में जहाजरानी सेवा शुरू हुई।

आयात-निर्यात की पूँजीवादी व्यवस्थाः यूरोप से बड़े पैमाने पर पूँजी का निर्यात भी हो रहा था। 1840 में इंग्लैण्ड की लगभग 2,00,000 पौंड की पूँजी अमेरिकी कम्पनियों में लगी हुई थी। एक विश्व आर्थिक व्यवस्था कायम हो रही थी। तकनीकी क्षेत्र

में उत्तरोत्तर प्रगति हो रही थी। इसके फलस्वरूप सारी दुनिया में पूँजीवाद की जड़ जमती जा रही थी। सदी के अन्तिम दशकों में ऊर्जा के नये स्त्रोतों का पता लगाने, यंत्रीकरण उद्योग में विस्मयकारी प्रसार तथा नये-नये उद्योग की स्थापना में निरन्तर प्रगति हो रही थी। कच्चे लोहे को गलाने तथा शुद्ध करने की अत्यधिक उन्नत तथा कम खर्चीली प्रक्रियाएँ इस्तेमाल की जाने लगी थी। फलतः इस्पात के उत्पादन का जर्बदस्त प्रसार हुआ। अल्मूनियम तथा अन्य कई धातुओं को मिलाकर विभिन्न मिश्र धातुएँ बनने लगी थीं। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अन्त तक औद्योगिक दुनिया की तस्वीर ही बदल चुकी थी। औद्योगिक प्रसार की प्रगति का यह चरण **ब्रिटेन** से यूरोप के लगभग सभी देशों में पहुँच रहा था। जापान में भी इसका अभूतपूर्व दौर शुरू हो गया था। संयुक्त राज्य अमेरिका भी इस दिशा में काफी आगे बढ़ रहा था।

औद्योगिक प्रसार के इस युग में उन्नीसवीं सदी के मध्य तक पूँजीवाद ने एक नये युग में प्रवेश किया। इस माहौल में यूरोपीय देशों के उद्योग-धंधों तथा अन्य आवश्यकताओं के लिए भारी मात्रा में माल आयातित किया जाता तथा उसका मूल्य चुकाने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। रूस, आस्ट्रिया, हंगीर तथा बाल्कन राज्यों को छोड़कर अन्य सभी यूरोपीय देशों में निर्यात की तुलना में आयात कहीं अधिक मात्रा में हुआ करता था। ब्रिटेन इनमें सबसे आगे था। अठारहवीं सदी के अन्त में से ही ब्रिटेन का आयात उसके निर्यात से ज्यादा होने लगा था। इसका तात्पर्य यह था कि ब्रिटेन में सूती वस्त्र उद्योग तथा अन्य उद्योग धन्धों के उत्पादन के बढ़ते हुए निर्यात के बावजूद उपभोग की सामग्रियों तथा कच्चे माल का आयात कहीं ज्यादा होता था। 1800 तथा 1900 के बीच के ब्रिटिश निर्यातों के मूल्य में आठ गुना व द्धि हुई, किंतु इसी कालावधि में आयातों के मूल्य में दस गुना व द्धि हुई। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व के दशक में ब्रिटेन में निर्यात की अपेक्षा तीन चौथाई से अधिक मूल्य का साज-सामान आयात किया जा रहा था। बीसवीं सदी के प्रारंभ में ब्रिटेन और दूसरी यूरोपीय औद्योगिक देशों के निर्यात की तुलना में प्रति वर्ष दो मिलियन डालर मूल्य से अधिक के आयात किये जा रहे थे। यूरोपीय देशों में आयातित वस्तुओं में अधिकतर कच्चा माल तथा खाद्य सामग्रियाँ हुआ करती थी।

इस अतिरिक्त आयात का मूल्य कैसे चुकाया जाता था? प्रतिकूल व्यापार-संतुलन के माहौल में अनुकूल भुगतान-संतुलन कैसे रहा करता था? पूँजीवादी व्यवस्था ने इसका भी रास्ता खोज निकाला था। वैभवशाली औद्योगिक देशों के आयात-निर्यात व्यापार उनके अपने विशाल जलपोतों पर हुआ करते थे, माल का बीमा उनकी अपनी बीमा कम्पनियों द्वारा किया जाता था। विदेशों में न्यस्त धनराशियाँ तथा विदेशी सरकारों को दिये गये ऋणों की रकम पर सूद से काफी बड़ी आय होती थी। अनेक देशों में उन्नत अर्थव्यवस्था वाले देशों के नागरिक विभिन्न प्रकार के निर्माणात्मक, प्रशासनिक या परामर्शदात्री कार्यों में लगे रहते थे। इनको पारिश्रमिक, भत्ता आदि के रूप में अच्छी-खासी रकमें मिला करती थीं। इन सबों से काफी आय अर्जित होती थी। इनके लिए देश से कुछ निर्यात नहीं करना होता था। इस कारण इसे "अद श्य आय" (Invisible Income) कहा जाता था। इनके अतिरिक्त आयात के मूल्य भुगतान के ये सुनिश्चित तथा अक्षय स्त्रोत हुआ करते थे। एक उदाहरण के द्वारा इसे भलीभांति समझा जा सकता है। अर्जेण्टाइन की राजधानी वयोनस एयर्स का एक सौदागर कच्चा चमड़ा जर्मनी भेजता है। इसके लिए वह एक ब्रिटेश जलपोत की व्यवस्था करता है तथा भाड़े का भुगतान पोत के मालिक को अपने देश की मुद्रा में करता है। पोत का मालिक अर्जेण्टाइन की मुद्रा में मिली धनराशि को ब्रिटेन या किसी अन्य यूरोपीय देश के आयातक के हाथ बेच देता है। यह आयातक अर्जेण्टाइन से मंगाये नये माल का मूल्य उस देश की मुद्रा में मिली धनराशि में चुका देता है। इस प्रकार ब्रिटेन के मालवाही जहाजों के विशाल बेड़े द्वारा अर्जित विभिन्न देशों की मुद्रा में प्राप्त धनराशियों से खाद्य पदार्थ तथा कच्चा माल आदि के मूल्य भुगतान किये जाते थे। आयात-निर्यात के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के खतरों के लिए बीमा कराने के लिए देश-देशान्तर के व्यापारी इंग्लैण्ड की लॉयड्स कम्पनी के पास पहुँचते थे। इस मद से भी ब्रिटेन को भारी मात्रा में विदेशी मुद्रा हासिल होती थी। इसका उपयोग आयातों के मूल्य भुगतानों के लिए किया जा सकता था। अनेक विदेशी सरकारें, व्यापारिक कम्पनियाँ तथा व्यवसायी ब्रिटिश बैंकों से अल्पकालीन या दीर्घकालीन ऋण लिया करते थे। इन पर अर्जित सूद अद श्य आय" का एक अन्य कभी नहीं सूखने वाला स्त्रोत था। विदेशों में धन न्यस्त करना वस्तुतः पूँजी-न्यास का दूसरा नाम है, आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग।

पूँजी का निर्यात

उन्नीसवीं सदी में लाखों-लाख यूरोपीय अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका आदि महादेशों में तथा कुछ अन्यत्र भी अपनी बड़ी-छोटी बस्तियाँ (उपनिवेश) बसाते रहे। ये बस्तियाँ अनिवार्यतः उन यूरोपीय देशों के छोटे-मोटे प्रतिरूप की तरह हुआ

करती थी, जहाँ से ये प्रवासी आये होते थे। अपनी जरूरतों के लिए ये लोग यूरोप से साज-सामान मंगवाया करते थे तथा यूरोपीय बाजारों के लिए खाद्यान्न, ऊन, कपास तथा खनिज आदि का उत्पादन किया करते थे। अतः यह स्पष्ट है कि यूरोपीय देशों से अप्रवासी ही नहीं आते थे, बड़ी मात्रा में पूँजी न्यास भी हो रहा था। इस पूँजी न्यास की बदौलत विभिन्न महादेशों में अप्रवासी बस्तियाँ शीघ्र ही सम द्ध समाज बन जाती थी तथा सम्पत्ति उत्पादन के संख्यातीत नये केन्द्रों का उद्‌भव होता रहता था।

पूँजी-निर्यात का एक अन्य पहलू भी था। पूँजी-निर्यात करने वाला देश यदि चाहता तो अपनी सारी राष्ट्रीय अर्जना अपने लोगों के जीवन-स्तर के उन्नयन करने में अथवा अपने कल-कारखाने, उद्योग-धन्धों, व्यवसायों आदि के प्रसार-सुधार में लगा सकता था। इसके बदले उसका कुछ अंश अपने लिए नहीं उपयोग करके सुदूरवर्ती देशों, उपनिवेशों अथवा लोगों के जीवन-स्तर को उठाने, अनेक कल-कारखाने लगाने आदि तथा उनमें सुधार-प्रसार करने में लगाया करता था। उसका अर्थ यह था कि ब्रिटिश, फ्रांसीसी, बेल्जियाई, डच, स्विट्जरलैंडवासी तथा अन्त में जर्मन पूँजी न्यास करने वाले (धन लगाने वाले) अपनी आमदनी बढ़ाने के उद्देश्य से विदेशी व्यावसायिक संस्थानों के स्टॉक (शेयरों) तथा विदेशी सरकारों एवं विदेशी कम्पनियों के बाँड या ऋणपत्र खरीदा करते थे। अथवा, सब देशों में काम करने के लिए अपनी कम्पनियाँ स्थापित किया करते थे। या फिर उनके बैंक विदेशी बैंकों को ऋण दिया करते थे तथा ऋण प्राप्त करने वाले बैंक लोगों को यह रकम अग्रसारित कर देते थे। यूरोप में पूँजी-संचयन कुछ हद तक थोड़ी आमदनी वाले लोगों की बचत से शुरू हुआ था किंतु उसका अधिकांश वैभवशाली लोगों की बचत के एकत्र होने का परिणाम था। मिसाल के तौर पर व्यावसायिक संस्थान के मालिक संस्थान की बढ़ी हुई आय को ऊँची दर पर मजदूरी देने में खर्च करते थे; उसका कुछ अंश मुनाफा या लाभांश देयक के रूप में ग्रहण करते और उसे भी संपूर्णतः अपने लिए खर्च नहीं करके उसका कुछ अंश देशी या विदेशी व्यवसायों में पुनर्न्यस्त (Reinvestment) कर देते। फिर भी, यूरोपीय देशों की पूँजी को आम आदमी अपने लिए कल्याण कार्यों में और अधिक खर्च की मांग नहीं करके पूँजी के निर्यात का मार्ग तो प्रशस्त करता ही था; इससे संसार के अन्य क्षेत्रों में निर्माण कार्यों के लिए वित्त जुटाना भी संभव होता था।

ब्रिटेन से सर्वाधिक पूँजी निर्यात होती थी। इसके बाद स्थान था फ्रांस का तथा उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में जर्मनी इसमें अग्रणी होने लगा था। उन्नीसवीं सदी के पाँचवे दशक में ही ब्रिटेन की वार्षिक आमदनी का लगभग आधा विदेशों में न्यस्त हो रहा था। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व तक ब्रिटेन की बीस अरब डालर की पूँजी विदेशों में न्यस्त थी। इसी प्रकार फ्रांस की 8,70,00,000 डालर एवं जर्मनी की छः अरब डालर की पूँजी विदेशों में न्यस्त थी। स्पष्टतः यह वित्तीय पूँजी का युग था; पूँजीवाद के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण बात।

प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व लगभग एक सौ वर्ष तक पश्चिमी यूरोपीय देशों से ये विशाल धनराशियाँ पहले पहल मुख्यतः उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिकी महादेशों तथा यूरोप के कम विकसित क्षेत्रों में न्यस्त होती रहीं। ब्रिटेन को छोड़कर ऐसा एक भी देश नहीं था जहाँ रेल लाइनें बिछाने का काम उसके अपने संस्थानों से ही निस्पन्न हुआ हो। संयुक्त राज्य अमेरिका में रेल की लाइनें बिछाने का अधिकतर काम ब्रिटेन की पूँजी से सम्पन्न हुआ था। मध्य तथा पूर्वी यूरोप में आम तौर पर ब्रिटेन की कम्पनियाँ पहले-पहल रेलगाड़ी चलाने की सारी व्यवस्था करती थीं; तदुपरान्त स्थानीय कम्पनियों या सरकारों के हाथों बेच देतीं, तब से उसका संचालन ये लोग करते थे; तदुपरान्त स्थानीय कम्पनियों या सरकारों के हाथों बेच देतीं, तब से उसका संचालन ये लोग करते थे। अर्जेण्टाइना में अंग्रेजी पूँजी से तथा उन्हीं के द्वारा रेलवे का निर्माण हुआ तथा वे ही उसके स्वात्त्वाधिकारी बने रहे तथा उसे संचालित करते रहे। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन से हर वर्ष 7,50,00,000 टन कोयला इस रेल व्यवस्था को चलाये रखने के लिए वहाँ निर्यात किया जाता रहा। उसके लिए अन्य आवश्यक साज-सामान भी ब्रिटेन को ही भेजना पड़ता था। बन्दरगाह, जेट्टी, गोदाम आदि के निर्माण, खनिज-उद्योग तथा अन्य अनेक तरह के कल-कारखाने में दुनिया के अनेक देशों तथा क्षेत्रों में यूरोपीय पूँजी लगी थी। यूरोपीय पूँजी अनेक देशों तथा क्षेत्रों में अप्रवासियों को आराम के साथ रहना सुलभ कराती थी। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में राज्य तथा स्थानीय सरकारें आमतौर पर यूरोप में ऋण पत्र जारी किया करती थीं। इनसे प्राप्त धन से पश्चिमी क्षेत्रों में नव-अप्रवासियों के लिए स्कूल, अस्पताल, सड़कें आदि बनायी जाती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मानः अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था लगभग सारी दुनिया द्वारा स्वीक त स्वर्ण मान (Gold Standard) पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-व्यवस्था के सहारे चल रही थी। ब्रिटेन में 1816 में वहाँ की मुद्रा पाउण्ड स्टर्लिंग को 193 ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर घोषित करके स्वर्णमान लागू किया गया था। पश्चिमी यूरोपीय देश तथा संयुक्त राज्य अमेरिका ने उन्नीसवीं सदी

के आठवें दशक में निखालिस स्वर्णमान लागू किया। इसके फलस्वरूप फ्रैंक, पाउण्डस, डालर, मार्क आदि किसी मुद्रा को निर्धारित मूल्यों पर स्वर्ण में बदला जा सकता था। इसी प्रकार स्वर्ण को इन मुद्राओं के रूप में बदलना संभव था। फलतः इन देशों की चालू मुद्रा एक ही भाव व्यक्त करने वाली भिन्न-भिन्न भाषाओं की तरह थी। बुनियादी तौर पर इनकी कीमत एक ही थी। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व तक इन देशों की चालू मुद्रा की विनिमय दरों से अत्यधिक स्थायित्व बना रहता था। सभी महत्त्वपूर्ण मुद्रा पूर्णतया विनिमय साध्य थी। उदाहरणार्थ, कोई फ्रांसीसी जर्मनी में रेशम बेचता तथा जर्मन मार्क में उसके मूल्य का भुगतान पाता। उन्हें वह अपने देश की मुद्रा फ्रैंक में आसानी से बदल सकता था। चाहता तो उन्हें वह पाउण्ड स्टर्लिंग या डालर में भी बदल सकता था। तात्पर्य यह कि उसे जर्मन मार्क खर्च करने के लिए जर्मनी में ही कुछ खरीदने या वही उसे खर्च कर देने की विवशता नहीं थी। वह भुगतान में मिले जर्मन मार्क से फ्रांसीसी, ब्रिटिश या अमेरिकी माल अथवा सेवाएँ अपनी इच्छानुसार खरीद सकता था। व्यापार बहुपक्षीय होता था। किसी अन्य महत्त्वपूर्ण देश से आयात करने के लिए उसी देश में उसे अपना माल बेचने की विवशता नहीं थी। वह अन्यत्र भी अपना माल बेचकर अपनी आवश्यकतानुसार माल मंगा सकता था। इस प्रकार जब कालांतर में यूरोपीय देशों से संयुक्त राज्य अमेरिका में अपेक्षातर कम निर्यात होने लगा तब भी उन देशों के व्यापारी अमेरिका से भारी मात्रा में माल मंगाते थे तथा उसका मूल्य भुगतान ब्राजील या डच पूर्वी हिन्द द्वीप समूह में अपने यहाँ से निर्यात करके करते थे। दूसरी ओर अमेरिकी व्यापारी ब्राजील से कॉफी अथवा पूर्वी हिन्द द्वीप समूह से रबड़ खरीदकर इनका मूल्य भुगतान यूरोपीय देशों को अपना माल निर्यात करके कर सकता था।

बैंकिग व्यवस्था

यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा वित्तीय व्यवस्था सुसंगठित बैंकिंग व्यवस्था के बल पर चलती थी। इस व्यवस्था का केन्द्र लंदन था। बैंकिंग के केन्द्र के रूप में लंदन का अभ्युदय अठारहवीं सदी के अन्तिम तथा उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में हुआ था। इसके पूर्व एम्सटर्डम संसार का बैंकिंग केन्द्र था। किंतु उपर्युक्त कालावधि में अनवरत युद्धों के फलस्वरूप ऐम्सटर्डम सहित पूरे हालैंड का वाणिज्य-व्यापार पूरी तरह नष्ट हो गया। ध्यातव्य है कि नेपोलियन को हराने वाले वाटरलू के विजेता राष्ट्रों ने फ्रांस पर 70,00,00,000 फ्रैंक की हरजाने वाली राशि थोप दी थी। 1818 में निजी बैंकों के संयुक्त प्रयास ने इसकी भुगतान की व्यवस्था कराने का भार अपने ऊपर लिया। इस सिलसिले में इन बैंकों के संबंधसूत्र अनेक राज्यों के सरकारी खजाने के साथ जुड़े। 1854-56 के क्रीमिया युद्ध के दरम्यान जब इंग्लैण्ड रूस के विरूद्ध युद्ध लड़ रहा था, लंदन के बैंकों ने रूसी सरकार के पक्ष में ऋण जुटाने के काम में योगदान दिया। व्यवसाय तथा राजनीति के एक-दूसरे से असम्बद्ध होने का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा? ब्रिटेन द्वारा बहुत पहले ही स्वर्णमान स्वीक त किये जाने का एक परिणाम यह भी हुआ कि ब्रिटेन एवं अन्य देशों के अनेक पूँजीपति अथवा धनीमानी लोग लंदन के बैंकों में अपना धन जमा रखते थे। अतः लंदन के बैंकों में उपलब्ध पूँजी की राशि में उत्तरोत्तर व द्धि होती रही।

आधुनिक पूँजीवाद को सुद ढ़ करने में बैंकिंग व्यवस्था ने बड़ी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। ब्रिटेन के निर्यात में व द्धि औद्योगिक क्रान्ति का एक मुख्य परिणाम था। निर्यात के वित्तीय पक्ष को सम्हालने के क्रम में ही आधुनिक बैंको का अभ्युदय हुआ। यह किस तरह हुआ इसको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। लंकाशायर स्थित किसी छोटे कारखाने को ट्रियस्टे स्थित व्यापारी को एक हजारी कैंची आपूर्ति करने का आदेश मिलता है। इसका भुगतान प्राप्त करने के लिए वह ट्रियस्टे स्थित उस व्यापारी के नाम दर्शनी हुण्डी जारी करता है तथा उसे अपने देश के एक वित्तीय संस्थान (Acceptance House) में पेश करता है। इस संस्थान को संसार भर के व्यापारिक तथा व्यावसायिक फर्मों की पूरी जानकारी होती थी। फलतः संस्थान लंकाशायर के कारखाने द्वारा प्रस्तुत हुण्डी में लिखित रकम का भुगतान अपना कमीशन काटकर तत्काल कर देता तथा विदेशी व्यावसायिक फर्म या फर्मों को ब्रिटिश साज-सामान खरीदने के लिए अल्पकालीन साख (short term credit) जारी करता था। अनेक ऐक्सेप्टेन्स हाउस बाद में दीर्घकालीन विदेशी ऋण की व्यवस्था करने का व्यवसाय भी करने लगे। इस प्रकार लंदन उस आर्थिक और वित्तीय व्यवस्था के सर्वोच्च शिखर पर आसीन था जिसकी शाखाएँ विश्व भर के देशों में फैली हुई थी। दुनिया भर के देशों के मुद्रा के विनिमय का केन्द्र यही था, उनके ऋणों की भुगतान की प्रक्रिया यहीं सम्पादित होती थी। यहाँ वह अक्षय कोष संचित तथा उपलब्ध रहता था जिससे सारा संसार साख या ऋण लिया करता था। लंदन के अनेक बैंकों के बैंक थे। इनके अतिरिक्त बीमा कराने के लिए बीमा कम्पनियों के एजेंट लन्दन से आया करते थे। दुनिया का सबसे बड़ा जहाजरानी केन्द्र यहीं था तथा यही अनेक अन्तर्राष्ट्रीय निगमों के मुख्यालय भी थे।

इस व्यवसाय में फ्रांस भी पीछे नहीं रहा। वहाँ इन्वेस्टमेंट बैंकिंग या धन न्यस्त करने वाली बैंकिंग प्रणाली विकसित हुई। इस प्रणाली के द्वारा फ्रांस के लोग वित्तीय साधनों के केन्द्रीकरण के द्वारा आर्थिक प्रगति का दिशा-निर्देश करते रहने की अपेक्षा रखते थे। फ्रांस में एक "क्रेडिट माबिलायर" नामक बैंकिंग संस्थान की स्थापना की गयी। यह संस्थान अपने शेयर बेचकर पूँजी एकत्र करता तथा नये औद्योगिक संस्थानों का स्टॉक या शेयर खरीदकर उन्हें कार्यकारी पूँजी प्रदान करता था। विशेष बात यह थी कि यह संस्थान उन्हीं औद्योगिक संस्थानों को मदद करता जिन्हें यह विकसित होते देखना चाहता था। इसी तरह फ्रांस में भूमि विकास बैंक (क्रेडिट फांसियर) की भी स्थापना की गयी। इसका उद्देश्य था क षि विकास के लिए क षि कर्मियों को ऋण मुहैया कराना।

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में ब्रिटेन और फ्रांस के पदचिन्हों पर चलता हुआ जर्मनी भी इस क्षेत्र में सक्रिय हुआ। जर्मनी के पूँजीपति पूँजी न्यास तथा व्यवसाय के लिए जर्मन पूँजी तथा साख का संगठन करने में गहरी अभिरूचि ले रहे थे। अपने देश में उद्योग-धंधों तथा व्यापार की उन्नति के लिए तथा विदेशों में असंख्य व्यावसायिक उद्योगों को वित्त प्रदान करने के लिए पूँजी तथा साख प्रस्तुत कर रहे थे। जर्मनी के राष्ट्रीय बैंक-ड्यूस बैंक की स्थापना 1870 में हुई। यह बैंक विदेशी उद्योगों में विशेष अभिरूचि ले रहा था। प्रख्यात बर्लिन बगदार रेलवे के निर्माण में इसने सक्रिय भाग लिया था।

विश्व-व्यापी मंडी

इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अंत तक सच्चे अर्थों में सारा संसार एक मंडी के रूप में परिणत हो गया था। माल, सेवाएँ, पूँजी, वित्त तथा व्यक्ति एक जगह से दूसरी जगह उन्मुक्त रूप से आते-जाते रहते थे तथा राज्य, राष्ट्र, देश या क्षेत्र के राजनीतिक सीमान्त इसमें बाधक नहीं होते थे। अधिक वणिज सामग्रियों के विश्व-व्यापी बाजार मूल्य हुआ करते थे। देश-देशान्तर की मंडियों में ये मूल्य एक से होते थे। उदाहरणार्थ, गेहूँ के व्यापारी मिनियापोलिस, लिवरपूल स्योनेस एयर्स या दांत्सिंग में समान मूल्य पर लेन-देन करते थे। इसकी सूचना उन्हें तार या टेलीफोन द्वारा प्रतिदिन कहीं प्रतिघंटे मिलती रहती थी। जहाँ सबसे कम दर रहती थी वहाँ से खरीदते तथा जहाँ सबसे अधिक मूल्य रहते वहाँ वे बेचते थे। फलतः संसार भर में गेहूँ की आपूर्ति मोटे तौर पर उसकी आवश्यकता या मूल्य भुगतान करने की क्षमता के अनुसार होती थी। कल्पना कीजिए कि इटली में किसी वर्ष गेहूँ की फसल अच्छी नहीं हुई तो इटली के लोगों की गेहूँ की आवश्यकता किसी अन्य देश से आयात करके पूरी की जाएगी। पर इसका एक अन्य पक्ष यह भी था कि उस वर्ष इटालवी गेहूँ उत्पादक को मनमाना वसूलने की छूट नहीं होती थी। उसे अन्य देशों के गेहूँ उत्पादकों की प्रतियोगिता में खड़ा होना पड़ता था। सारे संसार के एक मंडी में परिणत होने से एकरूप आर्थिक प्रणाली तो बनती है; साथ ही दुनिया के सुदूरवर्ती क्षेत्र प्रतियोगिता की दौड़ में आमने-सामने होते हैं। इस माहौल में उत्पादक चाहे वह व्यवसायी हो, कारखाने में काम करने वाला कर्मी हो, किसान या कॉफी बगान का मालिक हो, उसके उत्पादित माल के पहले जैसा सुनिश्चित निर्गम-बिंदु या बाजार नहीं हुआ करता था। अब उसे अपने पड़ोस तथा देश के ही नहीं, वरन् देशान्तर के प्रतियोगियों से भी होड़ लेनी पड़ती थी। यह आधुनिक पूँजीवाद की एक मुख्य विशेषता थी।

उन्नीसवीं सदी के अनियमित या उन्मुक्त पूँजीवाद की कुछ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ थीं। इनमें यूरोप के बाहर अन्य महादेशों में नये देश बसाना तथा उनका सर्वतोन्मुखी विकास करके उन्हें आधुनिक समुन्नत देश बनाना, इसके लिए वित्त प्रदान करना तथा इनके साथ-साथ यूरोप की बढ़ती हुई आबादी की उपभोग आवश्यकताओं को पूरी करते रहना विशेष उल्लेखनीय थे। यह व्यवस्था बड़ी ही पेचीदी थी। हजारों-लाखों लोग तथा व्यावसायिक संस्थान एक दूसरे की आवश्यकताओं की आपूर्ति करते रहते थे, वह भी बिना किसी केन्द्रीय संयोजन के। यह सब था, किंतु यह सारी व्यवस्था थी बड़ी ही नाजुक तथा अनेक लोगों की स्थिति इसमें सर्वथा असुरक्षित रहा करती थी। एक आदमी को दूसरे आदमी से, एक क्षेत्र की दूसरे क्षेत्र से प्राणान्तक प्रतियोगिता अनवरत चलती रहती थी। उदाहरणार्थ, अमेरिकी मध्य-पश्चिमी क्षेत्र में गेहूँ के भाव में यदि मंदी आती थी तो उससे केवल कुछ सट्टेबाजों की ही हानि नहीं होती थी। सुदूर अर्जेण्टीना अथवा प्रशा के गेहूँ उत्पादक को भी ऐसे मूल्य पर गेहूँ बेचना पड़ता था जो उत्पादन लागत से भी कम हो। किसी वस्तु के उत्पादन में नयी प्रक्रिया का इजाद होने अथवा उत्पादन-लागत किसी कारणवश कम हो जाने के फलस्वरूप उसके उत्पादन में लगे कितने ही कारखानेदार या व्यवसायीयों का दीवाला पिट जाता था।

उत्पादन में लगे सामान्य कर्मियों की दशा और भी नाजुक रहा करती थी। मंदी आते ही उसे बर्खास्त कर दिया जाता था, उत्पादन-प्रक्रिया में कोई परिवर्तन हुआ तो उसकी रोजी हमेशा के लिए खत्म हो जाती थी। इस प्रणाली में तेजी और मंदी

के चरण अनिवार्यतः आते-जाते रहते थे। प्रसार तथा साख इसके आधार थे। किंतु कभी लोग ऋण नहीं चुका पाते थे तो साख खत्म हो जाती थी और कभी प्रसार आशानुकूल नहीं हो पाता था तो अनुमानित मुनाफा भारी नुकसान में बदल जाता था। निजी पूँजीवाद में अनिवार्यतः अन्तर्निहित अनिश्चितता एवं असुरक्षितता की स्थितियों से निपटने के लिए अनेक उपाय काम में लाये जाते थे। इसके लिए सरकारें संरक्षणात्मक की स्थितियों से निपटने के लिए अनेक उपाय काम में लाये जाते थे। इसके लिए सरकारें संरक्षाणात्मक चुंगी लगा देती, अनेक तरह के कल्याण और सामाजिक बीमा योजनाएँ कार्यान्वित करती, कई व्यवसाय संस्थान एक साथ मिलकर एक नये संस्थान में परिणत हो जाते तथा कर्मियों के हितों की रक्षा के लिए श्रमिक तथा समाजवादी आन्दोलन चलाये जाते थे। ये सब उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों में अनियमित यथावत् स्थितिवादी पूँजीवाद के ह्रास के चरण की शुरूआत की सूचक थी।

विशालकाय आर्थिक संगठनों का उदय

1880 और 1890 के दशकों में पूँजीवाद में ही बहुत बड़ा परिवर्तन का दौर आया। पहले जहाँ व्यक्तियों, कुछेक भागीदारों या छोटी कम्पनियों द्वारा संचालित अनेक छोटे संस्थान हुआ करते थे, अब उनकी जगह विशाल एवं निवैयक्तिक निगम (corporation) लेने लगे थे। सीमित दायित्व (Limited Liability) निगमों का व्यावसायिक संगठन के एक स्वरूप तथा पूँजी न्यास के साधन के रूप में अनेक देशों में उदय हुआ। इनकी स्थापना किसी कंपनी के शेयर होल्डरों का देय दायित्व सीमित करने के उद्देश्य से पारित कानून के आधार पर हुई। यह कानून किसी कंपनी के दीवालिया हो जाने पर उसमें पूँजी न्यास करनेवालों का देय दायित्व उसके द्वारा लगायी गयी पूँजी या खरीदे गये शेयरों के अनुपात में सीमित करके उसके हितों की रक्षा के उद्देश्य से बनाया गया था। बड़े-बड़े निगम पहले-पहल रेलवे तथा बैंकिंग संस्थानों में स्थापित किये गये। फ्रांस में 1863 में कानून बनाकर "सीमित दायित्व" की व्यवस्था की गयी। इसके मूल में यह तर्क काम कर रहा था कि कम्पनी का संचालन किस प्रकार किया जा रहा है उससे सामान्य शेयर होल्डर जानकार नहीं रहता था। इस कानून के फलस्वरूप व्यावसायिक उद्योगों में धन न्यस्त करने में किसी कारणवश यदि उद्योग दिवालिया हो जाय तो सारी सम्पत्ति की क्षति होने का खतरा नहीं रहा। इससे छोटी बचत करनेवालों को विशेष रूप से उद्योग-धंधों के लिए धन न्यस्त करने का प्रोत्साहन मिला तथा देश के संचित धन को अधिक प्रभावी ढंग से उपयोगी व्यावसायिक उद्योगों में लगाने का रास्ता खुला। अब पहले की तुलना में अधिक संख्या में तथा विभिन्न प्रकार के स्टॉक तथा शेयर जारी किये जाने लगे। उद्योग-धंधों का व्यापार के क्षेत्र में आम तौर पर निगमों की स्थापना होने लगी। मशीनी संयत्र दिन-प्रतिदिन अधिक पेचीदे होते जा रहे थे। उनका उपयोग काफी बड़ी पूँजी वाले संस्थानों में ही किया जा सकता था। इसके लिए बहुत बड़ी संख्या में पूँजी न्यास करने वालों द्वारा धन लगाये जाने की जरूरत होती थी। फलतः निगमों की संख्या तथा आकार-प्रकार में व द्धि हुई। उसके साथ बैंकिंग तथा वित्तीय संस्थानों का प्रभाव भी बढ़ा। वित्त-संचालक (Financier) अपनी निजी सम्पदा उतना नहीं लगाया करते थे, किंतु दूसरे हजारों-लाखों की बचत के पैसे से लेन-देन करके आर्थिक एवं औद्योगिक जगत में असीमित प्रभावशाली हो जाते थे। विभिन्न क्षेत्रों में संयुक्त पूँजी संस्थानो की स्थापना कराने, उनको खत्म करवा देने, हतोत्साह आगे बढ़ाने या कई कम्पनियों को मिलाकर एक करा देने की अद्‌भुत क्षमता इनके हाथों में आ गयी थी। औद्योगिक पूँजीवाद के साथ वित्तीय पूँजीवाद भी आया। सट्टा बाजार में तेजी आयी। वित्तसंचालक का काम था धन, साख तथा ऋणपत्रों का व्यवसाय करना। पूँजीवाद के इस नये चरण में इनका एक नया तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया। अनेक लोग बहुत धनी हो गये; इतना धन शायद पहले कुछेक नरेशों को छोड़कर अन्य किसी के पास नहीं था। औद्योगिक उत्कर्ष के साथ नैतिक मान्यताओं की उपेक्षा की भावना बढ़ रही थी। अच्छे-बुरे किसी भी तरीके से धन-संचयन की होड़, सट्टेबाजी का नशा, वैभव के कुरूचिपूर्ण प्रदर्शन की तीव्र कामना नव-वैभवशाली लोगों में भर रही थी। इनकी एक चरम परिणति बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका के अरब-खरबपतियों में प्रस्तुत होने वाली थी।

इस विकसित औद्योगिक देश में कई तरह के परिवर्तन हुए। इन सबों का एक ही मकसद था-उत्पादन वितरण तथा वित्तीय संस्थानों की व हत्तम इकाइयों का अभ्युदय। शायद उद्योग-धंधों के केन्द्रीकरण के फलस्वरूप उत्पादन की व हत्तर इकाइयों का उद्‌भव था। पहले से काम करने वाले बड़ी संख्या में छोटे व्यावसायिक संस्थानों तथा कारखानों के विलयन और विलीनीकरण इसका एक अनिवार्य परिणाम था। कुछ औद्योगिक क्षेत्रों में, यथा, इस्पात उद्योग के क्षेत्र में, खान से लोहा निकालने से शुरू करके इस्पात के उत्पादन तक के सारे कार्य, एक ही विशाल औद्योगिक संस्थान के अंतर्गत किये जाने लगे। कुछ अन्य खनिज धातु उद्योगों में भी यह प्रक्रिया कार्यशील थी। इसे किसी उद्योग के विभिन्न चरणों में विभिन्न काम करने वाली फर्मों

का सीधा विलयन कह सकते हैं। विभिन्न फर्मों तथा व्यावसायिक संस्थानों का क्षैतिज संयुक्तीकरण भी होता रहा। अमेरिकी ट्रस्टों (Trusts) को यूरोपीय देशों में कारटेल (Cartel) कहा गया। इस व्यवस्था में एक क्षेत्र में काम करने वाले विभिन्न संस्थान आपसी प्रतियोगिता से उत्पन्न हानियों से बचने के लिए गठबन्धन करते हैं तथा उत्पादन की मात्रा और मूल्य का निर्धारण करते हैं। पेट्रोलियम उत्पादक देशों का आधुनिक संघ ओपेक इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। ऐसे गठबंधनों में अक्सर देश-देशान्तर की फर्में तथा संस्थान सहभागी होते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व तक यूरोपीय देशों में हर तरह के केन्द्रीकरण, गठबन्धन, कारटेल, विभिन्न दर्जे के संधीकरण के उदाहरण मिलते हैं। डायनामाइट के स्वेडी आविष्कर्ता अलफ्रेड नोबुल के डायनामाइट ट्रस्ट (स्थापित 1886) ने विस्फोटक पदार्थों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अपार सम्पदा अर्जित की थी। इन्हीं दशकों में संयुक्त राज्य अमेरिका में कारनेगी राकफेलर तथा फोर्ड जैसे उद्योगपति हुए।

जर्मनी लोहा, इस्पात, बिजली तथा रासायनिक उद्योग विस्तार तथा प्रसार के लिए उल्लेखनीय है। यूरोपीय औद्योगिक रंगमंच पर जर्मनी फर्मों तथा कारटेलों के अतिशय केन्द्रीकरण तथा विश्व-व्यापक संगठन में अग्रणी था। वैसे ब्रिटेन, बेल्जियम तथा फ्रांस भी पीछे नहीं थे। ब्रिटेन में प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व जे० पी० काट्स का शक्तिशाली व्यवसाय संस्थान इसका उदाहरण था। 1890 तक ही इसके निर्माण में ब्रिटेन का लगभग दो-तिहाई सूती उद्योग आ गया।

पश्चिमी यूरोपीय देशों में भारी उद्योगों ने विलयन तथा एकीकरण की प्रक्रिया शुरू की, यह स्वाभाविक ही था। फ्रांस में खनिज उद्योगों का विराट ट्रस्ट था कामिते दे फोर्जे इसकी स्थापना 1864 में हुई थी। 1914 तक फ्रांस का लगभग हर लोहा-इस्पात उद्योग इसकी छत्रछाया में आ गया था। लगभग आधा दर्जन बड़े फर्मों के हाथ में इसका संचालन केन्द्रित था। इनमें ला क्रुसोत के श्नीन्दर तथा लोटेन के बेण्डेल सर्वप्रमुख थे। जर्मनी के दो सर्वशक्तिशाली कारटेल थे। स्टीलवर्क्स यूनियन तथा राइन लैंड-वेस्टफेलिया का कोल सिण्डीकेट। 1904 में कुछेक अत्यन्त परिशुद्ध इस्पात बनाने वाली फर्मों को छोड़कर देश के लगभग सभी इस्पात औद्योगिक संस्थान इसमे सम्मिलित थे। 1800 के उपरांत रूस में भी, खासकर भारी उद्योगों के क्षेत्र में, ऐसे ही सिण्डीकेट स्थापित होने लगे थे। प्रोदामेपेट नामक सिण्डीकेट (स्था० 1909) के नियंत्रण में रूस के लगभग अस्सी प्रतिशत खनिज उद्योग का संचालन होता था। लेकिन नव-विशालकाय औद्योगिक संगठनों का सबसे बड़ा जमाव संयुक्त राज्य अमेरिका था। औद्योगिक एवं वित्तीय जगत के भगीरथों के सहयोग से विशालकाय व्यावसायिक संगठनों की संरचना में यहाँ नये कीर्तिमान स्थापित किये गये। कारनेगी अकेले इतना इस्पात उत्पादित करता था जो परिमाण में समस्त ब्रिटिश इस्पात उत्पादन से भी अधिक था। 1901 में उसने अपने विशालकाय संगठन को और भी बड़े संगठन युनाइटेड स्टेट कोरपोरेशन के हाथ बेच दिया। यह संगठन वित्त जगत के सम्राट जे.पी. मार्गन द्वारा स्थापित किया गया था।

संयुक्त राज्य अमेरिका में ही विशालकाय उद्योग-धंधों तथा उद्योगपतियों के एकाधिकार एवं हानिकर प्रभाव की ओर लोगों का ध्यान पहले-पहल गया। इन पर कुछ अंकुश लगाने के प्रबंध किये गये और ट्रस्ट विरोधी कानून बनाये गये। ऐसा पहला कानून शर्मन एक्ट 1890 में ही पारित हुआ था। लेकिन इन कानूनों से कोई लाभ हुआ हो ऐसा कहना कठिन है।

विशालकाय आर्थिक संगठनों का प्रभाव राजनीति पर पड़ना अनिवार्य था। 1871 तथा 1914 के बीच राजनीति तथा अर्थ-नीति के अन्तरसंबंध और भी गहरे हुए। औद्योगिक केन्द्रीकरण से सत्ता तथा शक्ति का केन्द्रीकरण होना ही था। इतने शक्तिशाली संगठनों की उपेक्षा या अनदेखा करना किसी भी शासनतंत्र के लिए संभव नहीं था। श्रमजीवियों के हितों की देखरेख, सामाजिक सुरक्षा तथा राष्ट्र की शक्ति का ध्यान रखनेवाली सरकारों के लिए यह और भी असंभव होता। अक्सर ये संगठन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दीर्घकालीन व्यवसाय किया करते थे। इस सिलसिले में अनेक देशों की सरकारों के साथ उनके सम्पर्क होते थे तथा वे कई अवसरों पर सरकारी नीतियों को निर्णायक रूप से प्रभावित करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय वैमनस्य या प्रतियोगिता बढ़ाने में शस्त्राशस्त्र उत्पादन करने वाले उद्योगपतियों या औद्योगिक संस्थानों के सक्रिय भाग लेने का अक्सर अतिरंजित उल्लेख किया गया है। लेकिन यह कहना गलत नहीं होगा कि कोयला और इस्पात के तथा रासायनिक उद्योगों के संचालक संघ अपने-अपने व्यवसायों के हित में सरकारों को ऐसी नीतियाँ निर्धारित करने पर या उन पर जोरदार ढंग से अमल करने को अनुप्रेरित करते रहते थे। 1911 में स्थापित फ्रांस का यूनियन ऑफ इकानोमिक इण्टरेस्ट तथा कामते द फार्जेल का लोकमत निर्माण करने में या सरकार पर भी गहरा प्रभाव था। प्रथम विश्वयुद्धोत्तर फ्रांस में इन्होंने सरकारी नियंत्रण, सरकारी एकाधिकार तथा करारोपण के मामलों में सरकार पर दबाव डाला। रूढ़िवादी राष्ट्रवादियों, राइनलैंड स्थित इस्पात उद्योग चालकों तथा उत्तरी जहाजरानी हितों ने मिलकर जर्मनी में 1892 में जर्मन नेवी (नौ-सेना) लीग की स्थापना की थी। कई लोगों ने इस घटना को

व्यापारिक हितों तथा वित्त प्रबंधकों एवं भारी उद्योगों के संचालकों के नौ-सेना के पक्षधरों की कतार में प्रवेश की संज्ञा दी। इन्हीं इस्पात तथा जहाजरानी उद्योगों के अधिस्वामियों का कई समाचारपत्रों पर भी आधिपत्य था। इनके माध्यम से लीग ने ब्रिटेन की प्रतियोगिता में नौ-सेना के सम्वर्द्धन के पक्ष में जोरदार आन्दोलन चलाया। इन लोगों ने अपने विशेष हितों के संवर्द्धन के लिए अपने साधनों का उपयोग किया। आम उपभोक्ता जिस तरह कारटेलों तथा बड़ा व्यावसायिकों के गठबंधनों के द्वारा मूल्य-निर्धारणों का शिकार होता रहता था, उसी तरह सामान्य नागरिक को प्रभावित करने के लिए बड़े उद्योगपतियों द्वारा अनुप्रेरित धुआँधार प्रचार होता रहता था।

सामाजिक ध्रुवीकरण

कारटेलों तथा ट्रस्टों जैसे नये आर्थिक व्यावसायिक संगठनों की व्यवसाय के उतार चढ़ावों को कम आकस्मिक बनाने तथा इसके फलस्वरूप अधिक स्थायी तथा अनवरत रोजी मुहैय्या कराने में कुछ हद तक लाभकर भूमिका रही है। इनके कार्यकलापों से उत्पादन लागत में कमी होती थी, किंतु इसके फलस्वरूप होनेवाली बचत उच्चतर मुनाफा, उच्चतर मजदूरी या निम्नतर मूल्यों में लगायी जाती थी, यह अनेक बातों पर निर्भर करता था। कुछ ट्रस्ट अधिक अर्थलोलुप होते थे, अथवा उन्हें दुर्बल श्रमिक संगठनों या असंगठित श्रम का सामना करना होता था। किसी भी हालत में फैसला करना फर्म के व्यवस्थापकों तथा वित्त-संचालकों के ही हाथों में होता था चाहे वे अच्छा-बुरा जो भी निर्णय करे। एक नये प्रकार की निजी सत्ता या शक्ति का उदय हुआ था, इसके आलोचक इसे "सामन्ती" कहना पसंद करते थे। इसके पहले कभी भी आर्थिक पद्धति इतनी अति केन्द्रित नहीं हुई थी। वस्तुतः कभी भी इतने कम लोगों ने इतनी अधिक आर्थिक क्षमता का इतने अधिक लोगों पर उपयोग नहीं किया था। पूँजीवाद ने सत्ता सम्पदा प्राप्त वर्गों से सर्वहारा वर्ग की दूरी को सब की आँखों के सामने कर दिया था। उन्नीसवीं सदी के अंत में अनेक लोग यह मानने लगे थे कि भविष्य में लोग लगातार अधिकाधिक विपन्न एवं पराश्रित होते जायेंगे। समाज में अवश्यम्भावी विखंडन-एक ओर चन्द वैभवशाली लोग तथा दूसरी ओर संख्यातीत शोषित, पीड़ित मानव समूह की कल्पना समाजवादी सिद्धान्त का आधारभूत सूत्र था।

छोटे-मोटे स्वतंत्र व्यवसायी अपना कारोबार चलाने में अधिकाधिक कठिनाइयां महसूस करते थे, पर मध्यवित्त वर्ग के लोग व्यवसायों में या अन्यत्र प्रशासनिक अधिकारी या कर्मचारी का काम करके काफी संतोषजनक ढंग से जीवनयापन कर लेते थे। वैभवशाली सुविधाभागी वर्गों तथा मध्यवित्त वर्गों के बीच की विभाजन-रेखा अमिट नहीं होती थी, किंतु इन वर्गों और तेजी से बढ़ते हुए औद्योगिक सर्वहारा के बीच की खाई काफी चौड़ी थी तथा वह पाटने योग्य भी नहीं थी। विशालकाय निगमों के उद्‌भव के समय से मध्यवित्त वर्ग वेतनभोगी कर्मियों का वर्ग होता था। वेतनभोगी कर्मी एक ही कम्पनी में काम करते हुए निष्ठा का अनुभव कर सकता था। समान्ती युगों में कुलीनों के रैयत अथवा सेवक उसके प्रति इसी प्रकार निष्ठावान हुआ करते थे। श्रमजीवी वर्ग ऐसे किसी भावात्मक बंधन से बँधा नहीं होता था। ये लोग विशालकाय संस्थानों से निपटने में समर्थ श्रमिक संघ गठित करते थे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों में यह वर्ग समुन्नत पूँजीवाद राज्यों की राजनीति में निर्णायक भाग लेने लगा था।

वास्तव में श्रमजीवी वर्गों के लिए पूँजीवाद का अनुभव अभिशाप बनकर आया। ये लोग उन्मुक्त निजी उद्योग-व्यवसाय, उन्मुक्त प्रतियोगिता, मांग तथा पूर्ति के नियम, माल एवं श्रम के लिए उन्मुक्त बाजार राज्यों तथा शासनतंत्रों से निरपेक्ष अर्थव्यवस्था की धारणा को शंका की द ष्टि से देखते आये थे। इनकी नजर में ये सब बुर्जुआ वर्ग के उदारपंथियों की खामख्यालियाँ थी, परिवर्तनवादी लोकतंत्रियों की नहीं। फ्रांस की क्रांति (1793) के दरम्यान भी लोकप्रिय नेताओं ने इनका विरोध किया था। इंग्लैण्ड के चार्टिस्ट आन्दोलनकर्ता पूँजीवाद का खुलेआम विरोध करते थे। महादेश के अन्य देशों में समाजवादी आदर्शवाद का संदेश फैला रहे थे। कर्मी वर्गों में अनियन्त्रित पूँजीवाद के विरूद्ध व्यापक तथा गहरी भावना थी। 1848 में श्रमिक वर्गों में सामाजिक गणतंत्र के पक्ष में जबरदस्त आन्दोलन चला था। यद्यपि 1848 की सामाजिक क्रांति सफल नहीं हो सकी थी, उसकी भयानकता से सत्तासम्पदा प्राप्त सुविधा भोगी वर्ग आतंकित हो उठा था। कार्ल मार्क्स के दर्शन को रूपायित करने में उससे बहुत बल मिला था। मताधिकार तथा निर्वाचन का युग आया, श्रमजीवियों ने सामाजिक विधि-निर्माण के लिए जद्‌दोजहद शुरू की तथा इस अस्त्र का प्रयोग करके कुछ हद तक सामाजिक जनतंत्र हासिल करने में कामयाबी पायी।

मताधिकार प्राप्त करने के पूर्व तथा बाद में भी श्रमजीवी लोग अपनी अवस्था सुधारने के लिए अन्य तरीकों का भी उपयोग करते रहते थे। पूँजीपति वर्ग उन्हें रोजी देता था। उसके खिलाफ उनके संघर्ष के दो मार्ग थे : पूँजीवाद को खत्म करना तथा उसके

साथ सौदेबाजी करना। इनमें पहला रास्ता समाजवाद था और दूसरा श्रमिक संघों का। तर्क के लिए समाजवाद का अर्थ होता था निजी व्यवस्था की समाप्ति। दूसरी ओर श्रमिक संघ का रास्ता था पूँजीपतियों से सौदेबाजी कर श्रमिक के लिए अधिक सुविधा प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने का। पूँजीवादी दुनिया के इतिहास में ये दोनों ही शक्तिशाली उपादान बन गये।

विभिन्न देशों में पूँजीवाद की प्रगति

ऊपर पूँजीवाद की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी तथा जापान में पूँजीवाद की प्रगति एवं स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः इन देशों में और संयुक्त राज्य अमेरिका में पूँजीवाद तेजी से फैला था। इंग्लैण्ड 19वीं शताब्दी से प्रथम विश्वयुद्ध के काल तक पूँजीवादी देशों का अगुआ बना रहा। 1760 से 1860 ई० के बीच उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर हम इंग्लैण्ड की पूँजी-निवेश, उसका देश-विदेश में स्थायी एसेट्स तथा संयंत्र कितने थे तथा उसके पूँजी-भण्डारण का विकास कहाँ तक हुआ था; इन बातों का पता लगा सकते हैं।

1965 में सिडने पोलार्ड का एक प्रबंध प्रकाशित हुआ, जिसमें उसने 1770 से 1835 के बीच इंग्लैण्ड की निवेशित पूँजी का अनुमान लगाया था। 1770 में यह राशि 2 करोड़ 50 लाख पौंड थी जो 1835 में बढ़कर 3 करोड़ 10 लाख पौंड हो गई थी। इंग्लैण्ड का पूँजी भण्डारण इसी अवधि में 15 लाख पौंड से बढ़कर 25 लाख पौंड हो गया था। इसके साथ-साथ विदेशी निवेश में भी व द्धि हुई थी। इस अवधि में इंग्लैण्ड का बुलियन (स्वर्णमुद्रा) सात लाख से 65 लाख तक पहुँच गई। इसी तरह से घरेलू पुनरूत्पादक (रिप्रोरेडुसिब्ल) स्थायी पूँजी का कुल भण्डार भी बढ़ा था। यह 1760 में तीन करोड़ साठ लाख पौंड मूल्य का था जो 1830 में बढ़कर तेरह करोड़ नौ लाख तथा 1860 में 50.4 करोड़ पौंड मूल्य का हो गया। इस आंकड़े से प्रमाणित होता है कि इंग्लैण्ड के घरेलू पुनरूत्पादक स्थिर पूँजी का कुल भण्डार निरंतर बढ़ता रहा।

इंग्लैण्ड ने इस अवधि में अपना पूँजी निवेश मुख्यतः क षि और उद्योग के क्षेत्रों में किया। 1860 तक क षि क्षेत्र में इंग्लैण्ड का पूँजी निवेश बढ़कर लगभग 43 करोड़ पौंड हो गया था। इस राशि में वे सारे धन शामिल हैं जिन्हें भू-स्वामियों ने इमारतों, घेराबंदियों, क षि योग्य नई जमीनों के निर्माण, सिंचाई तथा अन्य भूमि सुधारों, फार्म-सड़कों, मशीनरियों, गाड़ियों आदि पर लगाया था। कारखानों में (कपड़ा उद्योग को छोड़कर) अनुमानतः नौ करोड़ अस्सी लाख पौंड की पूँजी लगी थी, जबकि कुल पूँजी निवेश पन्द्रह करोड़ आठ लाख पौंड के लगभग था।

1700 ई० में इंग्लैण्ड का चल पूँजी-भण्डार, विदेशी एसेट्स, मुद्रा तथा स्वर्ण बुलियन 96 करोड़ पौंड मूल्य के थे जो 1800 ई० में बढ़कर 104 करोड़ पौंड, 1830 ई० में 118 करोड़ पौंड तथा 1860 ई० में 142 करोड़ पौंड मूल्य के हो गए थे। इंग्लैण्ड के संदर्भ में जो ये सारे आंकड़े प्रस्तुत किए गये हैं वे उस समय के है जबकि वहाँ क षि एवं औद्योगिक क्रांति का दौर चल रहा था। इन आंकड़ों से पता चलता है कि इस अवधि में इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था का काफी विकास हुआ था और इसके चलते वहाँ एक औद्योगीक त तथा शहरी समाज 1860 तक अस्तित्व में आ गया था। क षि, उद्योग तथा व्यापार में चालू पूँजी धीमी गति से बढ़ी। स्थिर पूँजी तथा विदेशी एसेट्स को ज्यादा महत्त्व मिला। 1860 तक स्थिर पूँजी तीस प्रतिशत से बढ़कर पचास प्रतिशत और विदेशी एसेट्स शून्य के दस प्रतिशत तक बढ़ी।

पूँजीवाद के विकास के इस दौर में मजदूरों की दशा सामान्यतः असंतोषजनक बनी रही। इन वर्षों में कुछ ऐसे कानून बने जिसके चलते मजदूरों की सौदेबाजी की क्षमता कमजोर हुई। इनमें उल्लेखनीय थे-1799-1800 का कम्बिनेशन एक्ट, 1813 का न्यायाधिशों का वेतन-निर्धारण के अधिकार वापिस लेने वाला एक्ट, 1814 के एक्ट की प्रिंटिस धाराएँ तथा 1834 का गरीब कानून संशोधन एक्ट। यद्यपि कॉम्बिनेशन एक्ट को 1825 में वापिस ले लिया गया किंतु नए 'गरीब कानून' (Poor Law) ने पूँजीपतियों के हाथ में एक तानाशाही अधिकार दे दिया। इस कानून ने कर्मचारियों पर अनेक प्रतिबंध लाद दिए। जैसे, अब वे अपने श्रम की सौदेबाजी नहीं कर सकते थे और न ही कोई शर्त रख सकते थे। वेतन और काम के घंटे स्वयं मालिक (पूँजीपति) तय कर सकता था निःसंदेह मजदूरों और दूसरे कर्मचारियों ने जमकर इस कानून का विरोध किया। अन्ततः 1825 में संगठन कानून तथा 1833 में कारखाना कानून रद्द कर दिए गए। इनके रद्द किए जाने के बाद मजदूरों की सौदेबाजी की हैसियत बढ़ी। अब मजदूर श्रम संगठनों के माध्यम से स्वयं को नई स्थितियों के अनुरूप ढालने लगे। सामूहिक सौदेबाजी को अब वैध माना जाने लगा। 1871 और 1875 में मजदूरों के ऊपर से कई अन्य प्रतिबंध भी हटा लिए गए।

फ्रांस में स्थिति इंग्लैण्ड से भिन्न थी। वहाँ 19वीं सदी के तीसरे चौथाई में पूँजी निर्माण का स्तर घटा। ड्यूपियर की छानबीन के अनुसार 1878-1903 में फ्रांस में पूँजी निवेश की दर सालाना 0.91 प्रतिशत थी जबकि पिछली चौथाइयों में यही क्रमशः 1.71 तथा 1.34 प्रतिशत थी। इससे पूँजी निवेश में स्पष्ट रूप से अवरोध झलकता है। बचत 1853-1878 में सलाना 220 करोड़ फ्रैंक तथा 1878-1903 में 2.040 करोड़ फ्रैंक पर रूकी हुई थी। इससे अर्थव्यवस्था की उन्नति बाधित हो गई थी। इस कम राष्ट्रीय बचत का निवेश में ठीक से वितरण भी नहीं होता था। इस प्रकार फ्रांस में 19वीं सदी के अधिकांश काल में आन्तरिक निवेश स्थिर बना रहा। 1880 के बाद मुख्यतः एक भारी मंदी के चलते अर्थव्यवस्था जर्जर हो गयी। एसेट्स की सालाना व द्धि दर 1820-1874 में बीस प्रतिशत थी जो 1874-1938 के बीच बारह प्रतिशत रह गयी।

फ्रांस का औद्योगीकरण क षि की सम द्धि तथा क षि क्षेत्र में निवेश पर आधारित था। औद्योगिक क्षेत्र में पूँजी निवेश क षि क्षेत्र से हमेशा कम रही। 19वीं सदी के अन्तिम वर्षों तथा 20वीं सदी के पहले दशक में क षि क्षेत्र में आई मंदी औद्योगिक क्षेत्र में निवेश के कारण दूर हुई।

फ्रांस में श्रमिक संगठन भी काफी धीमी गति से बने। फ्रांस के श्रमिक संगठन इंग्लैण्ड तथा जर्मनी की तुलना में अनियमित से थे। नेपालियन ने श्रम संगठनों की स्थापना पर प्रतिबंध लगा दिया था। वहाँ 1864 तक श्रमिकों के संगठन वैध नहीं हो पाए। सर्वप्रथम 1895 में फ्रांस में लिमोजेस में जनरल कंफेडरेशन ऑफ लेबर की स्थापना की गई। आज यह संगठन विश्व के सर्वाधिक प्रभावशाली संगठनों में एक है। इसने राजनीति से स्वयं को दूर रखा और इसका मुख्य उद्देश्य मजदूरों की एकता स्थापित करना तथा उनका मुक्ति-संघर्ष चलाना था।

फ्रांस की अपेक्षा जर्मनी में पूँजीवाद का तेजी से विकास हुआ। 19वीं सदी का जर्मनी पूँजी निर्माण में काफी आगे था। रोस्टोव ने जर्मनी के इस विकास को तीन काल खण्डों में बाँटा है-

1. 1800 से 1850 का काल जब जर्मनी में आवश्यक भूमि तैयार हुई;
2. 1850 से 1873 का काल जब वह उड़ान भरने की अवस्था में पहुँच गया; और
3. 1873 से 1913 का काल जब जर्मनी की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में विकास हुआ।

1820 ई० तक जर्मनी मुख्यतः क षि प्रधान देश था और कुल आबादी की 70 प्रतिशत जनसंख्या क षि पर निर्भर थी। 1913 में क षि क्षेत्र में पूँजी निवेश सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का पांचवां हिस्सा था। क षि अब भी काफी लाभदायक थी। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में क षि विकास दर के साथ निवेश व द्धि दर बराबर रही। फिरी इसमें चढ़ाव-उतराव होने लगा क्योंकि पूँजी निवेश तथा तकनीकी प्रगति के बावजूद फसलें अनिश्चित होती थीं। 1900 के लगभग तक यंत्रों में इमारतों तथा पशुधन की अपेक्षा कम निवेश किया जाता था। सम्पूर्ण 19वीं सदी में जर्मनी में पूँजी निर्माण में इमारतों का हिस्सा सबसे अधिक रहा। नर बोचार्ट के शब्दों में "शहरी इमारतें जर्मनी के औद्योगीकरण का एक अग्रणी क्षेत्रक था। इससे न केवल इमारती उद्योग का बढ़ावा मिला, वरन् भवन-निर्माण सामग्री, कांच, लकड़ी, गैस, जल प्रदाय आदि उद्योग भी पनपे। 1880 के बाद बिजली, तथा शहरी ट्रामवे इनमें जुड़ गये। शहरी निर्माणों के बिना कोयला तथा भाप पर आधारित आधुनिक उद्योग विकसित नहीं हो सकते थे।"

जर्मनी में औद्योगिक पूँजी भण्डार की भी व द्धि हुई। हाफमैन के अनुसार कारोबारी निवेश सालाना बारह-तेरह करोड़ मार्क की दर से 1850 के दशक में बढ़ा। 1900 ई० में यह दो बिलियन मार्क तक पहुँच गया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 1850 से 1900 के काल खण्ड में निवेश केन्द्रीकरण उद्योगों की ओर मुड़ गया था।

19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में औद्योगिक निवेश अपेक्षाक त धीमी गति से बढ़ा। 1840 के दशक में शुद्ध औद्योगिक पूँजी निर्माण सम्पूर्ण पूँजी निर्माण के पाँच प्रतिशत से भी कम था। किंतु 1850 के बाद यह स्थिति बदल गई। व द्धि दर कुल औसत से काफी ऊँची दर से बढ़ी।

जर्मनी में 1869 में श्रम संगठनों को कानूनी स्वीकार किया गया। इसके बाद देश में अनेक राष्ट्रीय श्रम संगठन कायम किए गए। 1900 ई० तक इनमें सदस्यों की संख्या दस लाख तक पहुँच गयी। 1914 में तीस लाख तथा 1922 में 92 लाख सदस्य दर्ज थे। जर्मनी के श्रम संगठनों ने सामूहिक सौदेबाजी के सिद्धांत की पैरवी की। यह विशाल संगठनों का राष्ट्रव्यापी परिणाम था। फिर भी मजदूरों को शत्रुतापूर्ण सरकार और पूँजीपतियों का सामना करना पड़ा। समाजवाद विरोधी कानून 1890 तक

विधि-संहिता में बने रहे। बाद में मजदूरी संगठनों ने काम के घंटों तथा कार्य-स्थितियों में सुविधाएँ प्राप्त करने में काफी सफलता प्राप्त की। मजदूर हड़तालें भी बड़ी संख्या में हुई।

एशिया के देशों में केवल जापान ही एक ऐसा देश था जहाँ 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पूँजीवाद का तेजी से विकास हुआ। सच तो यह है कि किसी अन्य देश में इतनी तेजी से विश्व इतिहास में अंतर्राष्ट्रीय प्रमुखता प्राप्त नहीं हुई जैसा कि जापान को। विकास का यह काल 1860 से 1905 तक चलता रहा। जापानी अर्थव्यवस्था इसी युग में विकसित होने लगी। निःसंदेह जापान का आर्थिक रूपांतर आधुनिक काल का एक आश्चर्यजनक एवं गौरवशाली घटना है।

जैसा कि हम जानते हैं, 17वीं और 18वीं सदी में जापान एक पिछड़ा देश था और उसकी अर्थव्यवस्था भी काफी पिछड़ी हुई थी। यह स्थिति 19वीं सदी में भी ज्यादा काल तक बनी रही। जापान मूलतः एक क षि प्रधान देश था जहाँ की बहुसंख्यक आबादी क षि से जुड़ी हुई थी। परंतु क षि के तरीके परम्परागत पुराने तथा घिसे-पिटे थे। उत्पादन का स्तर काफी नीचा था। क षि में पूँजी निवेश की दर भी काफी कम थी। किसानों पर करों का भी भारी बोझ था। जापान की प्रति व्यक्त आय काफी कम थी। गैर-क षि क्षेत्र में भी जापानी अर्थव्यवस्था की स्थिति लगभग इसी तरह की थी। मशीनों का उपयोग नहीं के बराबर किया जाता था। उत्पादकता शिल्पियों की व्यक्तिगत कुशलता पर आश्रित थी। उत्पादन कार्य में स्थिर पूँजी का अंश गौण था।

जापान की पिछड़ी अर्थव्यवस्था मूलतः देश की सरकार के चलते था। तोगोगाबा शासन काल में जापान ने लगभग दो सदियों तक 'अलिप्तता' या 'बंद दरवाजे' की नीति को अपनाकर रखा। अन्ततः 1860 ई० में अमेरिका और यूरोपीय देशों के प्रयासों के बाद जापान ने अपनी अलिप्तता की नीति का त्याग किया। इस नीति के चलते जापान की प्रगति रूक-सी गई थी। किन्तु जापान के लोगों में उत्साह, महत्त्वाकांक्षा, आत्मविश्वास, साहस, योग्यता आदि चारित्रिक गुणों की कोई कमी नहीं थी। यही कारण है कि कालान्तर में जापान में प्रगति काफी तेजी से हुई।

मेइजी पुनर्स्थापन (1868) आधुनिक जापान के इतिहास में एक विभाजक रेखा की तरह है। इसने जापानी जन-जीवन के सभी पक्षों-राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्क तिक-में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाया। जापान ने सभी क्षेत्रों में विकास किया। जापानी प्रगति के इस युग को दो काल खण्डों में बाँटा जा सकता है-

1. 1868 से 1885 का काल, जो संक्रमण का काल था; और
2. 1885 से 1900 तक का काल, जो आधुनिक आर्थिक विकास का काल था।

संक्रमण काल में जापानी अर्थव्यवस्था में बहुतेरे उतार-चढ़ाव हुए। 1876 ई० तक स्थिति सामान्यतः शान्त थी। इसके बाद 1881 तक तीव्र मुद्रा-स्फीति का दौर चला। फिर गंभीर मुद्रा-संकुचन आया जो 1885 तक रहा। यद्यपि सामान्य लोगों को मुद्रा-संकुचन से नुकसान ही हुआ किंतु किसानों को इससे अवश्य लाभ हुआ। उन्होंने नए राजनीतिक नेत त्व की जड़ को हिलाकर रख दिया। वित्तमंत्री **भात्सुकाता** को जापानी अर्थव्यवस्था को पुनः ट्रैक पर लाने के लिए बाध्य होना पड़ा और इसके लिए काफी मेहनत करनी पड़ी। 1885 के बाद जापान की आर्थिक प्रगति का काल शुरू होता है। 1901 तक कारखानों का उत्पादन निबल राष्ट्रीय उत्पादन में दस प्रतिशत था तथा सम्पूर्ण घरेलू पूँजी निर्माण सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन के दस प्रतिशत था।

जापान में औद्योगीकरण का दौर मेइजी पुनर्स्थापन की घटना के बाद शुरू हुआ। प्रारंभ में सीमित औद्योगिकरण पूँजी-निर्माण के विशेष ढाँचे पर आधारित था जैसे, सार्वजनिक निवेश निजी उत्पादक निवेश से सामान्यतः अधिक था; निर्माणों पर निवेश उत्पादक के टिकाऊ उपकरणों की अपेक्षा ज्यादा था; तथा निवेश में पारम्परिक तरीके ही दिखते थे, न कि नियमित तथा आयातित प्रौद्योगिक प्रगति। मेइजी काल की निवेश की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी-पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन परम्परागत पद्धतियों के साथ ही आधुनिक तरीकों से किया जाना। आधी पूँजीगत वस्तुओं (कैपिटल गुड्स) का निर्माण पारम्परिक पद्धतियों से होता था। वस्तुतः यह प्रारंभिक जापानी औद्योगीकरण की खास विशेषता थी। शुरू में जापान का आधुनिक आर्थिक विकास इसी परम्परागत अर्थव्यवस्था की उपलब्धियों पर आधारित था। 1870 के दशक के बाद जापान में पूँजी निर्माण का ढाँचा उल्लेखनीय रूप से स्थिर बना रहा। विकास की गति कभी तेज और कभी मंद देखने को मिली। शुरू में पूँजी निवेश की व द्धि निजी उद्योगों जैसे, परिवहन, संचार तथा सार्वजनिक उपयोगिता सेवाओं में देखने को मिली। आधुनिक

सदी के प्रारंभ में कुल गैर-क षि निजी पूँजी-निर्माण, चालू कीमतों में वार्षिक 20 करोड़ येन था। प्रथम विश्वयुद्ध के अंत में यह 60 करोड़ येन तक पहुँच गया। निवेश-स्तर 40 करोड़ येन तक पहुँचा। तीस के दशक तक पूँजी निर्माण 180 करोड़ येन तक बढ़ गया। यह विनिर्माण एवं उपभोक्ता उपयोगों से उत्पन्न हुआ था।

मेइजी पुनर्स्थापन से 1880 तक जापान के आधुनिक विकास की तैयारी का युग था। जापानी उद्योगपतियों की पूँजी सीमित थी किंतु उनके संकल्प द ढ़ थे। इससे तीव्र विकास की नींव पड़ी। निर्माण के इस काल में जापान में चीनी, कपड़ा तथा कागज की मीलें खुलीं तथा टोकियो इलेक्ट्रिक लाइट कम्पनी की स्थापना की गई। 1876 में **मित्सुबिशी** घराने का बैंक अस्तित्व में आया और 1882 में बैंक ऑफ जापान की स्थापना हुई। 1885 से 1914 के काल में जापान के बड़े व्यापारी घरानाओं ने विशाल औद्योगिक साम्राज्य कायम किए जो औद्योगिक संयंत्रों तथा खानों का नियंत्रण करते थे।

उल्लेखित तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि निजी निवेश तथा अधिकांशतः नयी आयातित प्रौद्योगिकी मुख्यतः जापान के आर्थिक आधुनिकीकरण के लिए जिम्मेदार थी। कालान्तर में भरपूर मुनाफे के कारण जापान में निजी निवेश बढ़ता ही चला गया।

अध्याय-5
उन्नीसवीं शताब्दी में साम्राज्यवाद का विकास

यूरोप के देश आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही प्रसारोन्मुखी तथा विस्तारवादी थे। 15वीं-16वीं सदियों में भौगोलिक अनुसंधानों के चलते अनेक देशों तथा महादेशों की खोजें हुई। इन नई खोजों ने औपनिवेशिक साम्राज्यों के युग को जन्म दिया। सतरहवीं एवं अठारहवीं शताब्दियों में उपनिवेशों की स्थापना की होड़ के चलते यूरोप का वातावरण काफी अशान्त रहा। सम्पूर्ण अमेरिकी गोलार्द्ध पर यूरोप के देशों ने कब्जा कर लिया। नेपोलियन की पराजय के बाद औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की दौड़ में इंग्लैंड सबसे आगे हो गया था और उसकी शक्ति को चुनौती देने वाला कोई देश बचा नहीं था। अतः इस काल में यूरोपीय देशों के बीच औपनिवेशिक प्रतिद्वंद्विता देखने को नहीं मिलती है। चूँकि इस काल में "स्वतंत्र व्यापार का सिद्धान्त" प्रचलित था, अतः जहाँ व्यापार किया जा सकता था वहाँ राजनीतिक प्रभुत्व की जरूरत नहीं समझी जाती थी। यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी देखने को मिलते हैं जैसे, इन्हीं दिनों फ्रांस ने अलजीरिया पर अपना नियंत्रण स्थापित किया तथा अंग्रेजों ने भारत पर कब्जा कर लिया। इसके बावजूद इस युग में प्रकट रूप से यूरोपीय देशों के बीच कहीं कोई प्रभावशाली टकराव अथवा प्रतिद्वंद्विता नहीं हुई।

यूरोप में नवीन साम्राज्यवाद का युग 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुआ। 1870 के बाद और अस्सी के दशक में औपनिवेशिक समस्याएँ एक बार फिर से उभरीं। इस शताब्दी के अन्त तक यूरोप के देशों ने लगभग सारे विश्व का आपस में बंटवारा कर लिया।

इस नवीन साम्राज्यवाद का स्वरूप मुख्यतः राष्ट्रीय तथा आर्थिक था। राष्ट्रीयता की जो नई भावना यूरोपीय राज्यों में जगी थी, उसका स्वरूप अब काफी प्रबल हो गया था। यह नया साम्राज्यवाद पहले के उपनिवेशवाद से आर्थिक तथा राजनीतिक द ष्टि से भिन्न था। पुराने उपनिवेशवाद का मुख्य आधार वाणिज्यवाद था।

साम्राज्यवाद शब्द की व्याख्या अलग-अलग तरीके से की गई है। किन्तु आम तौर पर भिन्न प्रजाति वाले देश पर किसी दूसरे देश के राजनीतिक आधिपत्य की व्यवस्था को हम साम्राज्यवाद कहते हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, साम्राज्यवाद को हम दो वर्गों में बांट सकते हैं-पुराना साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद तथा नया साम्राज्यवाद। पुराना साम्राज्यवाद का संक्षिप्त वर्णन किया जा चुका है। नए साम्राज्यवाद का उदय 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। इस समय तक औद्योगिक क्रान्ति के चलते आर्थिक क्षेत्र में नई विचारधाराओं का जन्म हुआ था। एडम स्मिथ तथा तुर्गो ने 'स्वतंत्र व्यापार' अथवा 'मुक्त व्यापार' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। मुक्त व्यापार की नीति के चलते पुरानी वाणिज्यवादी पद्धति का ह्रास होने लगा। इसके अलावा यूरोपीय राज्यों के बहुत-से उपनिवेश स्वतंत्र होने लगे जैसे इंग्लैंड के हाथों से अमेरिका निकल गया। फ्रांस, स्पेन तथा हालैंड के बहुत-से उपनिवेश भी स्वतंत्र हो गए। इन कारणों से यूरोप के देशों में 19वीं सदी के प्रथम चरण में औपनिवेशिक उदासीनता देखने को मिली। किन्तु जैसाकि उल्लेख किया गया है, 1870 के बाद यूरोपीय देशों के बीच साम्राज्यवाद की भावना प्रबल हो गई।

साम्राज्यवाद के इस नये दौर में यूरोपीय व्यापारी स्थानीय तरीकों से उत्पादित माल स्थानीय सौदागरों से खरीद-फरोख्त करने मात्र से सन्तुष्ट न थे। वे एक विशेष प्रकार का या ऐसे परिमाण में सामान चाहते थे जिसकी आपूर्ति कर पाना स्थानीय कारीगरों के लिए मुश्किल था। अब वे पूरी तरह सुनियोजित ढंग से पिछड़े इलाकों में प्रवेश कर उन पर हावी होने लगे थे। इन क्षेत्रों में उन्होंने पूँजी लगायी, बड़े पैमाने पर खेती शुरू की, बगान लगाये, खनिज तथा अन्य उद्योग स्थापित किये, गोदाम, कारखाने, रेलवे आदि का निर्माण किया। गर्म जलवायु में यूरोपीय लोगों के रहने योग्य घर बनवाये गये, बैंक, कार्यालय होटल, क्लब आदि खोले गये। पहाड़ की शीतल ऊँचाइयों पर कस्बे बसाकर यूरोपीय लोगों के आराम से रहने की व्यवस्था की गयी। अपने

प्रशासित इलाकों की परम्परागत अर्थव्यवस्था तथा उत्पादन व्यवस्था को विनष्ट करके नवीन शासकों ने बहुसंख्यक स्थानीय लोगों को विदेशी मालिकों पर रोजी-रोटी के लिए आश्रित बना दिया। इस प्रकार उन देशों में भी यूरोपीय देशों जैसा वर्ग-भेद उत्पन्न हो गया। जाति, उपजाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि के आधार पर पहले से ही विखंडित समाज के कारण और भी विखंडन हुआ। विदेशी आगन्तुकों ने राजा-महाराजाओं शाह-सुल्तानों को बड़ी धनराशियाँ देकर तथा अनेक स्थानों पर उनकी सुरक्षा का भार अपने हाथ में लेकर जीर्ण-शीर्ण राज्य-व्यवस्था को बनाये रखने में योगदान किया। ऐश-विलास में डूबे दुनिया की हलचलों से बेखबर इन राजा-महाराजाओं को गद्दी पर बनाये रखने से यूरोपीय लोगों का अपना मतलब सिद्ध होता था। उनसे वे बड़ी-बड़ी सुविधाएँ हासिल करने तथा उनकी छाया में अपनी शोषण व्यवस्था को मजबूत बनाते। इस प्रकार यूरोपीय लोग पश्चिमी सभ्यता के क्षेत्र से बाहर शासनतंत्र एवं व्यवसायों में भारी आर्थिक स्वार्थ विकसित कर रहे थे।

अपने इन स्वार्थों को सुरक्षित रखने तथा कुछ अन्य कारणों से यूरोपीय लोगों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ तथा राज्य हासिल करने की लिप्सा जगी। देश-देशान्तर में अपने उपनिवेश, शासित क्षेत्र, संरक्षित क्षेत्र तथा प्रभाव-क्षेत्र आदि स्थापित करने का एक दौर शुरू हुआ। इसमें कुछ इलाके सीधे उपनिवेश बना लिए गये। इन पर किसी यूरोपीय देश का प्रत्यक्ष शासन होता था। कुछ इलाके संरक्षित राज्य (Protectorate) बन गये। इन इलाकों के स्थानीय शासक की गद्दी बनी रही लेकिन सुरक्षा और वैदेशिक मामलों में वे संप्रभु अधिपति के मातहत हो गये। विदेशी रेजिडेंट या कमिश्नर उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप और कहीं निर्देश देता रहता था। चीन या फारस जैसे देशों में साम्राज्यवादी शक्तियों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण देश को विभिन्न प्रभाव क्षेत्रों (Spheres of influence) में बाँटकर अपने हितों का संरक्षण-सम्वर्द्धन किया जाता था। इनमें यूरोपीय शक्ति को स्थानीय शासन को परामर्श देने का अधिकार, पूँजी न्यास तथा व्यापार करने का एकाधिकार होता था। कहने को तो प्रभाव-क्षेत्र वाले देश स्वतंत्र होते थे, किन्तु उनके गले में साम्राज्यवादियों के शिकंजे पड़े रहते थे तथा शोषण का चक्र चलता रहता था।

1875 के लगभग यूरोपीय राष्ट्रों तथा गैर-यूरोपीय राज्यों के बीच भारी फर्क हो गया था। रानी एलिजाबेथ ने मुगल सम्राट अकबर के दरबार में आदर सहित अपना दूत भेजा था। नेपोलियन ने भी फारस के साथ बराबरी के दर्जे से बातें करने का दिखावा किया था। इसके बाद आया जमाना औद्योगिक क्रान्ति का, बड़े-बड़े युद्धपोतों का, नौसैनिक तोपों का तथा अचूक मार करने वाली बन्दूकों का। फिर राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत, लोकतांत्रिक चेतना से अनुप्रेरित कई यूरोपीय देशों के लोग अपनी सरकारों की सेवा में एकजुट होकर काम करने तथा विदेशों में अपने राष्ट्र तथा झंडे की शान पर जान देने वाले लोगों का समूह आया। गैर यूरोपीय पिछड़े लोगों में न तो यह चेतना थी और न उनके पास उतने विध्वंसक अस्त्र-शस्त्र। नवोदित यूरोपीय राष्ट्रों के पास संपदा के लगभग अक्षय स्रोत थे, आधुनिक प्रशासनतंत्र था, वे कर लगाकर या ऋण लेकर लगभग असीमित व्यय कर सकने की स्थिति में थे। इतनी संख्या में इतने साधन-सम्पन्न तथा सैनिक-शक्ति से लैस राज्य शायद पहली बार विश्व इतिहास के रंगमंच पर उपस्थित हुए थे। इसके साथ ही नियति का अभिलेख कुछ ऐसा था कि इस कालावधि में गैर-यूरोपीय संसार के साम्राज्यों, राज्यों, राजा-महाराजाओं, शेख-सुल्तानों के सितारे डूबने-डूबने पर थे। उन्हें अपनी प्रजा से अल्पतम समर्थन मिलता था। अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के बिखराव से भारत में अंग्रेजों को आधिपत्य जमाने में मदद मिली थी। उन्नीसवीं सदी में तुर्की सुल्तान, जंजीबार के सुल्तान, फारस के शाह, चीन के सम्राट तथा जापान के शोगुन शासकों की दयनीय स्थिति के फलस्वरूप यूरोपीय राष्ट्रों का हस्तक्षेप सुगम हो गया था। इनमें एकमात्र जापान नवसंगठित होकर साम्राज्यवादी दुर्गम संधियों का शिकार बनने से अपनी रक्षा कर सका। वैसे उसको भी पहले की संधियों के कारण 1900 के बाद ही अपने देश की चुंगी निर्धारित करने की आजादी मिली।

सैनिक शक्ति के उपकरणों में इतना अन्तर था कि अक्सर यूरोपीय लोग शक्ति का मात्र दिखावा करके अपनी बात मनवा लेते थे। केवल पचहत्तर हजार गोरे सैनिकों के बल पर भारत में लम्बे अरसे तक अंग्रेजी राज कायम रहा। अफगान-युद्ध, बर्मा-युद्ध, जुलू-युद्ध आदि अनेकानेक छोटे-मोटे युद्ध होते ही रहते थे। 1898 का स्पेनी-अमेरिकी युद्ध तथा 1899 का बोअर युद्ध भी एक तरह के औपनिवेशिक युद्ध ही थे। ये सभी युद्ध सर्वथा असमान पक्षों के मध्य लड़े गये थे। अक्सर नौ-सैनिक शक्ति का प्रदर्शन ही काफी होता था। दंड देने या सबक सिखाने के लिए बमबाजी करने का युग था। 1856 में कैण्टन स्थित ब्रिटेन के कान्सल ने यूरोपीय लोगों के प्रति हिंसात्मक कार्रवाइयों की सजा देने के उद्देश्य से ब्रिटेन के स्थानीय नौ-सैनिक अधिकारी को उस नगर पर बमबारी करने का आदेश दिया था। 1863 में अंग्रेजों ने सतसुमा पर तथा 1864 में मिलीजुली यूरोपीय टुकड़ी

ने चोशू पर बमबाजी की थी। इसी प्रकार 1882 में एलेक्जेन्ड्रिया तथा 1896 में जंजीबार पर बमबाजी की गयी। इन सबका आम तौर पर एक ही परिणाम होता था-स्थानीय शासक सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर कर देता था, अपनी सरकार का नये सिरे से गठन करता था अथवा यूरोपीय सलाहकार नियुक्त करता था।

नवीन साम्राज्यवाद के विकास के कारण

नवीन साम्राज्यवाद के मूल में कौन से तत्व काम कर रहे थे तथा नवीन साम्राज्यवाद का महल किन सिद्धांतों पर खड़ा किया गया-ये प्रश्न बड़े ही महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। आम तौर पर हम इसके विकास के कारणों को तीन बड़े वर्गों में बांटकर देख सकते हैं-राजनीतिक, आर्थिक तथा भौगोलिक।

राजनीतिक कारण

यूरोप के प्रशासकों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा एवं जनता की इच्छा संभवतः नवीन साम्राज्यवाद के विकास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण थी। फ्रांस की महान क्रान्ति के बाद यूरोप के देशों में राष्ट्रीयता की भावना काफी बलवती होने लगी थी। इसके चलते ही यूरोप के विभिन्न देश तमाम दुनिया में अपनी शक्ति के विस्तार के लिए आतुर हो उठे थे। ब्रिटेन ने अपने उपनिवेशों में अपनी शक्ति और प्रभाव का व्यापक विस्तार कर लिया था और वह ज्यादा से ज्यादा अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। प्रशिया के हाथों पराजित फ्रांस अपने गौरव को फिर से पाने के लिए अपने उपनिवेशों की व द्धि करना चाहता था। इटली और जर्मनी के नए संगठित राष्ट्र औद्योगिकीकरण करके पुराने साम्राज्यवादी राष्ट्रों की तरह अपने साम्राज्यों की स्थापना तथा शक्ति एवं प्रभावों में व द्धि का सपना देख रहे थे। अनेक राष्ट्रवादी उपनिवेशों को सैनिक और सामुद्रिक अड्डों के रूप में रखना चाहते थे। अतः यूरोप के देश इस प्रयास में लगे हुए थे कि समुद्री किनारों और मार्ग में पड़ने वाले द्वीपों को जीतकर वहाँ अपना साम्राज्य स्थापित कर लें। यूरोप के लोगों को अपने देश के साम्राज्य विस्तार से काफी प्रसन्नता होती थी।

यूरोप में साम्राज्यवाद की भावना को सबल बनाने में कुछ लेखकों, विचारकों तथा राजनीतिज्ञों की भूमिका भी बड़ी ही महत्त्वपूर्ण साबित हुई। उनकी राष्ट्रवादी भावना से साम्राज्यवाद को व्यापक प्रोत्साहन मिला। इटली ने राष्ट्रीय गौरव की भावना के कारण ही लीबिया में अपना उपनिवेश स्थापित किया था। निस्संदेह इस तरह के लोग अपने स्वार्थ के चलते साम्राज्यवाद का समर्थन करते थे। प्रायः यूरोप के सभी देशों में इस तरह के लोगों का एक वर्ग बन गया था जिन्हें साम्राज्यवाद के निहित (vested interests of Imperialism) का वर्ग कहा जा सकता है।

यूरोपीय देशों के कुछ सैनिक अधिकारी भी साम्राज्यवादी नीति के पोषक थे। ऐसा इसलिए कि साम्राज्यवादी युद्ध उन्हें यश प्राप्ति का अवसर प्रदान करते थे। युद्धों के चलते सैनिकों की संख्या में व द्धि होती और इसके चलते उच्च पदों में भी व द्धि होती जिससे उनके पदोन्नति का अधिक मौका मिलता।

यूरोप के देशों में औद्योगिक क्रान्ति के बाद एक सुसंगठित, महत्त्वाकांक्षी एवं प्रभावशाली व्यापारिक वर्ग का जन्म हुआ था। यह व्यापारिक वर्ग साम्राज्यवाद का कट्टर समर्थक था क्योंकि साम्राज्य विस्तार से उन्हें नए बाजार मिलते। अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद तैयार करने वाली कम्पनियों के व्यावसायी भी साम्राज्यवाद के कट्टर समर्थक थे क्योंकि साम्राज्यवादी युद्धों के चलते उनके व्यवसाय की तरक्की होती। इसी तरह से बड़े-बड़े जहाज कम्पनियों के मालिक, बैंक अधिकारी आदि भी अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए साम्राज्यवाद का समर्थन करते थे।

यूरोपीय साम्राज्यवाद के प्रसार में ईसाई मिशनरियों का योगदान भी काफी महत्त्वपूर्ण था। ईसाई पादरी नव-विजित उपनिवेशों में जाकर अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करना चाहते थे। कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट मिशनों के द्वारा दूर-दूर के देशों में धर्मप्रचारकों की टोलियां भेजी जाती थीं। ये धर्मप्रचारक अक्सर ज्यादतियां करते थे स्थानीय लोगों से उनकी झड़पें होती थीं और कभी-कभी उनकी हत्या कर दी जाती थी। इन हालातों में उनके देश की सरकार पादरियों के अपमान का बदला लेने के बहाने उन देशों पर आक्रमण कर देती थी या उनके आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करती थी।

ईसाई मिशनरियों ने प्रत्यक्ष रूप से भी साम्राज्यवाद को बढ़ावा दिया। इंग्लैंड के डाक्टर **डेविड लिविंगस्टोन** ने लगभग 20 वर्ष तक अफ्रीका के अन्तः प्रदेश में **जेम्बिसी** और **कांगो** नदियों के क्षेत्रों की खोज की। 1873 में अपनी म त्यु के पूर्व उसने अपने देशवासियों को यह संदेश भेजा कि अफ्रीका की भूमि उनके व्यापार और ईसाई धर्म के प्रचार के लिए उपयुक्त है। इसी तरह

से फ्रांस के **कार्डिनल लेवीगेरी** ने अल्जिरीया में अफ्रीका के "मिशनरियों की समिति" स्थापित की और उसके माध्यम से ट्यूनिस में अपना धार्मिक प्रभाव स्थापित किया। इससे फ्रांस को ट्यूनिस पर अधिकार करने में सहायता मिली। बेल्जियम के पादरियों ने भी इसी प्रकार कांगो के क्षेत्र में अपने देश का प्रभाव स्थापित करने में सहयोग दिया।

यूरोप के कुछ लोग वैज्ञानिक खोजों के सिलसिले में वैज्ञानिक टोलियों के सदस्य बनकर या उनके सहायक के रूप में जाया करते थे। इनमें भौगोलिक खोज, जीव-विज्ञान, प्रकृति विज्ञान, ज्योतिष, खनिजों की खोज आदि के लिए अभियान दल हुआ करते थे। सम्पन्न लोग कभी-कभी पर्यटन या जंगली जानवरों के शिकार तथा प्राकृतिक द श्यों की आनन्द प्राप्ति के उद्देश्यों से भी संसार के दुर्गम स्थानों के लिए निकल पड़ते थे। इन साहसिक व्यक्तियों ने भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित किया।

अपनी सभ्यता को पिछड़े क्षेत्रों में फैलाने के 'दिव्य धार्मिक कार्य' के बहाने भी यूरोप के लोगों ने साम्राज्य का प्रसार किया। वे केवल अपने को ही सभ्य मानते थे और उनकी द ष्टि में अन्य सारे लोग-पीले, भूरे, काले रंग के स्थानीय लोग-असभ्य और बहशी थे। निस्संदेह यूरोप के लोग अधिक सभ्य और विकसित थे और हम ईसाई मिशनरियों की मानवतावादी सेवाओं को नकार नहीं सकते हैं, किन्तु अविकसित लोगों का उद्दार करने की आड़ में या परोपकारी तथा मानवतावादी प्रयत्नों की आड़ में यूरोप के देशों ने अपना साम्राज्य विस्तार किया। फ्रांस ने अपनी औपनिवेशिक विस्तार की नीति को "सभ्यता के विस्तार का कार्य" कहा, इटली ने इसे "पुनित कर्त्तव्य" बतलाया और इंग्लैंड ने इसे "श्वेत जाति का भार" घोषित किया।

आर्थिक कारण

औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक संगठन में बड़े परिवर्तन कर दिए थे। इस क्रान्ति के पूर्व उत्पादन छोटे पैमाने पर होता था जिसकी खपत आमतौर पर उसी देश में हो जाती थी। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए माल तैयार नहीं किए जा सकते थे। साथ ही उसे एक देश से दूसरे देश में ले जाने के लिए साधनों की भी नितांत कमी थी। किन्तु 1870 के बाद औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोप के देशों में औद्योगिक उत्पादनों में काफी व द्धि हुई। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में बड़े पैमाने पर औद्योगिक उत्पादन होने लगा। उनकी मात्रा देश में खपत से ज्यादा थी। अतः इन देशों को अपने तैयार माल को बेचने की चिन्ता होने लगी। उन दिनों यूरोपीय देशों में संरक्षणवादी नीति का प्रचलन था। अतः विदेशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं पर भारी चुँगी लगाए जाते थे। इस कारण औद्योगिक देशों को अपना अतिरिक्त माल बेचने के लिए नए बाजार ढूँढ़ने की आवश्यकता पड़ी।

यूरोपीय लोगों की आम जरूरतों की चीजों की आपूर्ति गैर-यूरोपीय देशों से ही की जा सकती थी। श्रमजीवी वर्ग के लोग भी चाय या काफी पीने के आदी हो गये थे। अमेरिकी ग ह-युद्ध के दिनों से यूरोप में कपास की अधिकाधिक आपूर्ति अफ्रीका तथा पूरब से होने लगी थी। रबर तथा पेट्रोलियम आम जरूरत की चीजें थीं। पटसन की भारी खपत यूरोपीय देशों में होती थी। इससे रस्सी, दरियां, बोरे आदि बनाये जाते थे। व्यापारिक कार्यों के लिए इनकी बहुत बड़ी संख्या में जरूरत होती थी। पटसन का आपूर्ति स्त्रोत केवल भारत था। नारियल के पेड़ से अनेक काम की चीजें बनती या मिलती थीं। डच पूर्वी हिन्द द्वीप समूह में यह पेड़ बहुतायत से लगाया जाता था। नारियल के पेड़ तथा फल के असंख्य उपयोग होते थे। उसके रेशों से ब्रश, केबुल, रस्सा, पाँवपोश आदि बनाये जाते थे। उसका फल खाये जाने के अलावा तेल, मोमबत्ती, साबुन, मार्गरीन, कोकोआ, चौकलेट आदि अनेक उपयोगों में आता था।

औद्योगिक देशों के अपने कल-कारखानों में बनाये हुए माल की बिक्री के लिए विश्व-व्यापक बाजार भी जरूरी था। साम्राज्यवाद के हिमायती नये बाजारों की खोज की आवश्यकता पर विशेष बल देते थे। 1870 के उपरान्त जर्मनी, जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देश औद्योगिक निर्माण की दौड़ में शरीक हो गये थे। इन्हें अपने यहाँ बने सामानों के लिए बाजार की तालाश थी। इनकी आपसी तथा पहले से औद्योगीकृत ब्रिटेन, फ्रांस, हालैंड और बेल्जियम से अन्ध प्रतियोगिता तथा अन्य कई कारणों से सामानों के मूल्य में कमी हो रही थी। अनेक देशों ने चुँगी की दीवारें खड़ी करके अपने मालों के विक्रय के लिए बाजार सुनिश्चित किया। बाजारों के लिए होड़ के कारण अपने लिए सुरक्षित बाजार की तलाश की बात उठी। यहाँ से औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने की आवश्यकता बतायी जाने लगी और इसी आधार पर उसका औचित्य साबित किया जाने लगा। कहा जाने लगा कि बड़े पैमाने पर औद्योगिक उत्पादन करने वाले राज्यों का अपना औपनिवेशिक साम्राज्य होना चाहिए, जहाँ मनमाने ढंग से एकाधिकार की-सी स्थिति में अपना माल बेच सकें तथा अपने कल-कारखानों के लिए कच्चे माल

का सुरक्षित भंडार हासिल कर सकें। ब्रिटेन में जोरशोर से इस तर्क को उछालने वाले अनेक लोग थे। यह भी कहा जाता था कि साम्राज्य विभिन्न जलवायु वाले तथा विभिन्न प्रकार के माल का उत्पादन करने वाले इलाकों में फैला हुआ हो। सुनियोजित चुंगी लाकर आयात-निर्यात को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाय जिसमें शासक देश सहित साम्राज्य स्वतः संपूर्ण आर्थिक इकाई हो। साम्राज्यवाद की यह मूल स्थापना थी कि इकाइयां कुल मिलाकर शासक देश के लिए चिरकाल तक सम्पदा और वैभव का अक्षय स्त्रोत बनी रहें। साम्राज्यवाद के इस चरण को अक्सर नव-वाणिज्यवाद (new-mercantilism) कहा जाता है क्योंकि अठारहवीं सदी और उसके भी पहले के वाणिज्यवाद की अनेक बातें फिर से लागू हो रही थीं या की जा रही थीं।

औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप यातायात एवं संचार साधनों का अभूतपूर्व विकास हुआ। भाप की शक्ति से चलने वाले जहाजों के बन जाने से दूर के देशों के साथ व्यापार करना अब काफी आसान हो गया। रेलवे, डाक, तार, टेलीफोन आदि के आविष्कार से समय और दूरी पर मनुष्य ने विजय प्राप्त कर ली। इन तत्वों का भी साम्राज्यवाद के विकास में काफी महत्व रहा है।

यूरोप की बढ़ती हुई जनसंख्या ने भी साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन दिया। 19वीं सदी में यूरोप की जनसंख्या तेजी से बढ़ी। 19वीं सदी के आरम्भ में ब्रिटेन की आबादी एक करोड़ साठ लाख थी जो 20वीं सदी के प्रारम्भ में बढ़कर चार करोड़ दस लाख हो गई। इसी प्रकार जर्मनी की आबादी दो करोड़ तीस लाख से बढ़कर चार करोड़ हो गई। इस बढ़ती जनसंख्या को रोजगार देने तथा उन्हें बसाने की समस्या दिन प्रतिदिन गम्भीर होती गयी। अतिरिक्त आबादी को दूसरे देशों में बसा कर इस समस्या को सुलझाया जा सकता था। एशिया और अफ्रीका में ऐसे बहुत से देश मौजूद थे। इस आधार पर भी यूरोप के देशों ने उपनिवेशों की स्थापना की। इन उपनिवेशों में यूरोप के देशों से बहुत से लोग सैनिकों तथा शासनाधिकारियों के रूप में जाकर रहने लगे। कुछ लोग व्यवसायियों के रूप में भी उन देशों में बस गए। इससे यूरोप के देशों में आबादी का दबाव कम हुआ तथा साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन मिला।

साम्राज्यवाद के इस नये दौर के कुछ विशुद्ध वित्तीय पक्ष भी थे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशकों से विकसित देशों में पूँजी निवेश (Investment of Capital) के अवसर कम होने लगे थे तथा उससे आय भी कम होने लगी थी। इसकी तुलना में पिछड़े इलाकों या क्षेत्रों में पूँजी न्यस्त के लगभग असीमित अवसर थे उस पर मनमानी शर्तं लादकर कहीं अधिक आय की जा सकती थी। इसके और भी कई कारण थे, यथा, गैर-यूरोपीय इलाकों में उपलब्ध कहीं कम मजदूरी पर काम करने वाला असंख्य श्रमजीवी, गैर-यूरोपीय क्षेत्रों में वस्तुओं या माल की भारी संख्या में मांग आदि। पिछड़े इलाकों में लगायी गयी पूँजी के लिए अधिक ऊँची सूद दर का एक कारण यह भी बताया जाता था कि कई कारणों से उन इलाकों में पूँजी डूबने का खतरा अधिक रहता था।

उन्नीसवीं सदी के अन्त तक पश्चिमी यूरोपीय देश तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तरी-पूर्वी भाग सघन औद्योगीकरण के क्षेत्र बन चुके थे। रेल लाइनों का जाल बिछाया जा चुका था, कल-कारखाने भी लगाये जा चुके थे। इन क्षेत्रों में पूँजी निवेश के अवसर सीमित हो चुके थे। इन देशों में स्वयं ही पूँजी संचयन हो रहा था। उसे न्यस्त करने के लिए अवसर तथा क्षेत्रों की उन्हें तालाश थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य में निर्यात होने वाली सर्वाधिक पूँजी ब्रिटेन की होती थी। सदी के अन्त में फ्रांस, जर्मनी, स्वीडेन, हालैंड, बेल्जियम तथा संयुक्त राज्य अमेरिका से भी काफी पूँजी अन्य देशों को निर्यातित की जा रही थी। 1850 में सर्वाधिक निर्यातित पूँजी यूरोपीय देश, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, अर्जेण्टीना आदि के नव-निर्माण में लग रही थी। सदी के अन्त में अधिकांश निर्यातित पूँजी पिछड़े इलाकों में जाने लगी थी। यह पूँजी सामान्य लोगों की अथवा बड़े-बड़े बैंकिंग निगमों की सम्पदा थी। पूँजी निवेश करने वाले एशिया, अफ्रीका या लैटिन अमेरिका के इलाकों पर राजनीतिक नियन्त्रण की मांग करते थे, क्योंकि इन इलाकों में उनके रेलवे, खानें, विस्त त कृषि क्षेत्र, सरकार को दिये गये कर्ज थे तथा कई अन्य मदों में भी उन्होंने धन लगा रखा था। निष्कर्ष यह कि मुनाफा कमाने अथवा अतिरिक्त (Surplus capital) को न्यस्त करने की प्रव ति साम्राज्यवाद की एक अनुप्रेरणा थी।

उपर्युक्त विश्लेषण अंग्रेज समाजवादी लेखक **जे० ए० हाबसन** (J.A. Hobson) ने 1903 में प्रकाशित अपनी पुस्तक (Imperialism: A Study) में प्रस्तुत किया था। लेनिन ने 1916 में प्रकाशित अपनी पुस्तक (Imperialism the Highest Stage of World Capitalism) में ऐसे ही विचार व्यक्त किये थे। इन लेखकों और चिन्तकों ने अतिरिक्त पूँजी संचयन को साम्राज्यवाद के उद्‌भव के लिए जिम्मेवाद माना है तथा समाजवादी आधार पर तथा तर्कों से उसकी आलोचना की है। हाबसन का तर्क

इस प्रकार है: यदि राष्ट्रीय आय का और अधिक भाग श्रमिकों को मजदूरी के रूप में दिया जाता, पूँजीपतियों को सूद तथा लाभांश के रूप में कम मिलता या यदि धनी लोगों पर भारी कर लगाया जाता तथा इससे प्राप्त धन को जन-कल्याण के कार्यों में लगाया जाता तो अतिरिक्त पूँजी संचयन की समस्या नहीं होती और न ही वास्तविक साम्राज्यवाद होता।

अन्य लेखकों ने साम्राज्यवाद के उद्‌भव में अतिरिक्त पूँजी के सिद्धान्त की आलोचना की है। इसमें सन्देह नहीं कि पूँजी नयस्त करने वाले तथा निर्यातक साम्राज्यवाद के वाहक थे। किन्तु विदेशों में पूँजी नयस्त करने के लिए पूँजीवादी दबाव के फलस्वरूप अनिवार्यतः साम्राज्यवाद का उदय हुआ। इस सिद्धांत में उन्हें सन्देह है। उनकी द ष्टि में यूरोप के लिए आयातों की आवश्यकता ज्यादा बुनियादी कारण था। हमने देखा है कि यूरोपीय देशों की धनी आबादी, बहुमुखी औद्योगिक विकास तथा उच्च जीवन स्तर भारी मात्रा में आयातित माल एवं साज-सामान पर टिके रह सकते थे। उपनिवेशों से कपास, पटसन, काफी, कोकोआ, ताम्बा या नारियल जैसे सामानों की भारी मांग के कारण ही दूर-दराज के इलाकों में पूँजी निवेश लाभकर हुआ करता था। इसके अतिरिक्त पिछड़े देशों के शासक खुद ही अक्सर यूरोपीय पूँजी निवेश आमंत्रित करते थे तथा यूरोपीय पूँजीपति ऊँचे सूद पर या अधिक मुनाफे के लालच में पूँजी लगाने के लिए तैयार ही बैठे रहते थे। यद्यपि पिछड़े इलाकों की यूरोपीय पूँजी की जरूरत उनकी बुनियादी जरूरत थी, लेकिन उन्नीसवीं सदी के अन्त तक अधिकतर होता यह था कि कोई शाह या सुल्तान अपने लिए नया महल बनाना चाहता था और इसके लिए किसी यूरोपीय देश से बड़ी रकम का ऋण लेता था। इन लोगों का एक तर्क यह भी था कि रूस और इटली जैसे देशों के पास कम पूँजी थी तथा मुट्‌ठी भर आधुनिक ढंग के पूँजीपति। अतः इन देशों की साम्राज्यवादी नीतियों के मूल में विदेशों में अति लाभकर पूँजी निवेश नहीं हो सकता था। इन आलोचकों की निश्चित अवधारणा है कि लेनिन ने महाशक्तियों के विदेश मंत्रालयों के विशालकाय कम्पनियों के उपकरण के रूप में संचालित-परिचालित होने की जो बात कही है, वह निश्चय ही अतिरंजित है। लेनिन ने सभी उदाहरण जर्मनी के इतिहास से दिये हैं। अतः जर्मनी के सन्दर्भ में उसका विश्लेषण कुछ हद तक सही भी हो सकता है।

इन सारी आलोचनाओं के बावजूद अतिरिक्त पूँजी को नयस्त करने की समस्या साम्राज्यवाद का प्रेरक तत्त्व रही, इसको मानने से इनकार करना कठिन है। खासकर अंग्रेजों के लिए पूँजीवादी अनुप्रेरणा बड़े महत्त्व की थी। प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने तक अंग्रेजों की 20,00,00,00,000 डालर के मूल्य की पूँजी अन्य देशों, क्षेत्रों तथा इलाकों में लगी हुई थी। यह विशाल धनराशि ब्रिटेन की कुल सम्पदा का एक चौथाई थी। फ्रांस के विदेशों में पूँजी निवेश का केवल दसवाँ हिस्सा उसके उपनिवेशों में नयस्त था। इसके अलावा उसकी काफी पूँजी मिस्त्र, स्वेज नहर, दक्षिणी अफ्रीका तथा एशिया में भी लगी हुई थी। दोनों को मिलाकर फ्रांस की कुल पूँजी न्यास का लगभग पाँचवां भाग औपनिवेशिक दुनिया में लगा था। इसी तरह प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक जर्मनी के पूँजी निवेश का एक छोटा हिस्सा ही उसके उपनिवेशों में लगा था। किन्तु पिछड़े देशों जैसे, ऑटोमन साम्राज्य, एशिया तथा अफ्रीका के क्षेत्रों में लगी हुई पूँजी जर्मनी के कुल वैदेशिक पूँजी निवेश का पाँचवां हिस्सा थी। इन विशाल धनराशियों को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यूरोपीय देशों की सरकारों पर अफ्रीका, टर्की, चीन या अन्यत्र राजनीतिक हस्तक्षेप करने के लिए कितना दबाव डाला जाता होगा।

एक ओर पूँजीवादी देशों की विदेश नीति उद्योगपतियों एवं महाजनों द्वारा प्रभावित तथा अनुप्रेरित होती थी, दूसरी ओर कोई सरकार उद्योगपतियों को किसी क्षेत्र में धन लगाने का संकेत भी करती थी ताकि विदेशी इलाकों में उसे राजनीतिक हस्तक्षेप करने का अवसर प्राप्त हो। इसके अलावे सामान्य धारणा के विपरीत साम्राज्यवाद का परिणाम सदा ही औपनिवेशीकरण के द्वारा दूर-दाज के देशों में साम्राज्य की स्थापना ही हुआ करता था। अनेक यूरोपीय देशों का आर्थिक कारोबार सारे विश्व में फैला हुआ था, किन्तु उनका राजनीतिक नियंत्रण उसके छोटे हिस्से पर ही स्थापित हो सका था। लेटिन अमेरिका में ब्रिटेन और जर्मनी के पूँजी-निवेश बड़े स्तर पर हुए थे, किन्तु दोनों ही देशों ने कभी उस क्षेत्र में अपना राजनीतिक नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश नहीं की यद्यपि आर्थिक परिणति कभी-कभी उन देशों की राजनीतिक परवशता में हो जाया करती थी। टर्की हमेशा ही प्रभुतासम्पन्न राज्य बना रहा और कभी-कभी उसे महाशक्ति का दर्जा भी दिया जाता था। किन्तु बड़े परिमाप में जर्मनी द्वारा पूँजी निवेश के फलस्वरूप प्रथम विश्व युद्ध तक जर्मनी का काफी राजनीतिक प्रभाव रहा।

भौगोलिक कारण

पुनर्जागरण काल से यूरोप में भौगोलिक खोजों की जो प्रव त्ति शुरू हुई थी वह 19वीं शताब्दी के अन्त तक बनी रही। कुछ साहसिक लोगों ने नए उपनिवेशों की खोज की जिससे साम्राज्य विस्तार में काफी सहायता मिली। ऐसे लोगों में उल्लेखनीय

थे- **बेकर, डा० डेविड लिर्विंग्स्टोन, गुस्टाव नैकटिगाल, बर्टन, हैनरी मार्टन स्टेनली, स्पेक, ग्राण्ट** इत्यादि। इनमें से तो कुछ ने प्रत्यक्ष रूप से यूरोपीय साम्राज्य विस्तार में सहयोग दिया जैसे, **केमरून** और **टोगोलैंड** को जर्मन उपनिवेश बनाने का श्रेय **गुस्टाव नैकटिगाल** को दिया जाता है। इन साहसिक खोजकर्त्ताओं ने अफ्रीका की चार प्रमुख नदियों- नील, नाइजर, कांगो तथा जाम्बेजी के मार्गों की खोज की।

उल्लेखित कारणों के अतिरिक्त यूरोप के साम्राज्यवादी देशों ने कुछ गैर-कानूनी एवं अनैतिक साधनों का इस्तेमाल भी अपने साम्राज्यों की स्थापना के सिलसिले में किया। उन्होंने अपनी ताकत तथा गोले-बारूदों का इस्तेमाल करके विश्व के अविकसित क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया। कुछ ने उपनिवेशों की जनता को शराब, अफीम और कोकीन की आदत लगाकर उन्हें अपने नियंत्रण में कर लिया, जैसे कि चीन में अंग्रेजों ने। कभी-कभी नासमझी से सरदारों ने छोटे-मोटे उपहारों के बदले उन्हें विशाल प्रदेशों को सौंप दिया। 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का भी खुलकर प्रयोग किया गया। अविकसित क्षेत्रों पर अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए साम्राज्यवादी देशों ने महत्त्वपूर्ण जल मार्गों पर अपना नियंत्रण बनाए रखने की कोशिश की। जैसे, ब्रिटेन द्वारा स्वेज नहर पर नियंत्रण से न केवल भारत के लिए मार्ग सुरक्षित हो गया, बल्कि इससे पूर्वी भूमध्यसागर पर भी ब्रिटेन का प्रभाव बढ़ गया। समान कारणों से रूस डार्डेनल्स पर अधिकार करके भूमध्यसागर में प्रवेश करने का प्रयास कर रहा था। पनामा नहर पर अमेरिका के स्वामित्व के चलते कैरेबियन सागर का अस्तित्व एक अमेरिकी झील की तरह हो गया था। कभी-कभी साम्राज्यवादी देशों ने उदार नीति का पालन करके भी अपनी शक्ति एवं प्रभावों को उपनिवेशों में सुद ढ़ किया, जैसे ब्रिटेन द्वारा कनाडा को स्वशासन दिए जाने से कनाडा के लोग ब्रिटिश साम्राज्य के और भक्त बन गए। कभी-कभी साम्राज्यवादी शक्तियों ने देशी शासक को कठपुतली बनाकर रखा और उससे अपनी मनमानी करवाया। इस तरह का साम्राज्यवादी नियंत्रण 'संरक्षित शासन' कहलाता है। एक अन्य तरीका यह भी था कि वहाँ की स्थानीय सरकार विदेशी पूँजीपतियों को रेल मार्ग बनाने, खानों की खुदाई करने या खेती करने तथा इसी प्रकार की अन्य सुविधाएँ प्रदान कर देती थी। इस प्रकार साम्राज्यवादियों को अपनी शक्ति एवं प्रभाव बढ़ाने का मौका मिल जाता था। उदाहरणस्वरूप हम चीन में होने वाले "सुविधाओं की लड़ाई" (Battle of Concessions) की चर्चा कर सकते हैं।

साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ

अन्तिम विश्लेषण में यह कहा जा सकता है कि किसी देश के साम्राज्यवादी बनने के लिए आर्थिक हितों को राजनीतिक लक्ष्यों के साथ सहअस्तित्व का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता था। हालाँकि इटली या रूस जैसे कुछ देशों में राजनीतिक उद्देश्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण होते थे। जब तक किसी देश के अत्यन्त सक्रिय तथा प्रभावी राजनीतिक नेता उपनिवेश हासिल करने को व्यग्र नहीं होते थे तब तक शायद ही उस दिशा में वह देश सक्रिय रूप से अग्रसर होता था। साम्राज्यवाद के कुछ सीधे राजनीतिक उद्देश्य भी होते थे, यथा साइप्रस या केप जैसे सामरिक महत्त्व के नौसैनिक अड्डों का निर्माण करके राष्ट्रीय सुरक्षा का सुद ढ़ीकरण या श्रमिकों के अतिरिक्त स्रोत को सुरक्षित करना (फ्रांसीसियों की उत्तरी-पश्चिमी अफ्रीकी नीति इसी उद्देश्य से प्रेरित थी) या फिर राष्ट्रीय सम्मान प्रवर्धन के लिए इटालवियों का लीबिया-अभियान या 1935 का एथियोपिया-अभियान इसके उदाहरण है। इसके अतिरिक्त भी अनेक दूसरी बातें थीं जो कुछ स्वतंत्र रूस तथा कुछ मिलजुल करके आश्रित या प्रशासित इलाकों की तालाश करते रहने को प्रेरित करती थीं। उदाहरणार्थ, खोज करने वालों तथा दुस्साहसिकों के क्रियाकलाप एक महत्त्वपूर्ण अनुप्रेरक थे। मध्य अफ्रीका में फ्रांसीसी डी चायलू तथा डी ब्राज, कांगों की तलहटी में अंग्रेज हेनरी स्टैनली, पूर्वी अफ्रीका में जर्मनी का कार्ल पीटर्स इनके उदाहरण थे। इनमें कुछ विशुद्ध वैज्ञानिक जिज्ञासा से अनुप्रेरित थे, कुछ दुस्साहसिकता से ओत-प्रोत तथा कुछ (जैसे सेसिल रहोड्स) धन और सत्ता के भूखे भी होते थे। वैसे ये सभी कल्पनाशील, उत्साही तथा कर्मठ लोग थे। साम्राज्यों के निर्माण की कहानी में इनका महत्त्वपूर्ण भाग रहा है।

साम्राज्यवाद के उत्कर्ष में महत्त्वपूर्ण भाग प्रशासक तथा सैनिक का भी रहा है। अक्सर ऐसा कोई व्यक्ति जो कुशल प्रशासक होता था, या सामरिक कौशल में दक्ष सैनिक, गड़बड़ी होने पर तत्क्षण हस्तक्षेप करता था। ये लोग स्वभाव और प्रशिक्षण से व्यवस्था पसन्द होते थे। जहाँ कहीं अवसर मिलता ये स्थानीय शासकों के हाथों से सत्ता की बागडोर छीनकर अपने देश की अमलदारी स्थापित करने को उद्यत रहते थे। उनका द ढ़ विश्वास था कि आम आदमी के लिए न्याय और व्यवस्थित शासन मुहैय्या करा सकना गैर-यूरोपीय स्थानीय शासकों के बूते की बात नहीं है; वह तो गोरे लोगों का ही एकाधिकार है। ऐसे लोगों

में कुछ महत्त्वपूर्ण नाम ये हैं- लार्ड क्रोमर (मिस्त्र), लार्ड लुगाई (नाइजेरिया), लार्ड मिलनर (केप), मार्शल लायते (मोरक्को) कार्ल पीटर्स (जर्मन, पूर्वी अफ्रीका), अफ्रीकी देशों के विभिन्न भागों में यूरोपीय राष्ट्रों का आधिपत्य स्थापित करने में इनकी प्रमुख भूमिका थी।

आबादी और शक्ति संतुलन की समस्या: साम्राज्यवादी प्रसार के पक्षधर यह तर्क भी दिया करते थे कि यूरोपीय देशों की बढ़ती हुई आबादी के लिए बसने का नया वास स्थान चाहिए। वास भूमि की मांग यूरोप के बाहर, विशेषकर अफ्रीका में उपनिवेश हासिल करने का औचित्य सिद्ध करने को की जाती थी, हालाँकि इस तर्क में कोई बल नहीं था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम तीन दशकों में या उसके बाद एक भी यूरोपीय देश में ऐसा कोई इलाका हासिल नहीं किया जहाँ उसके नागरिक जाकर हमेशा के लिए बस गये हों। उत्तरी या मध्य अफ्रीका, दक्षिणी या पूर्वी एशिया में कभी भी मुट्ठी भर से ज्यादा यूरोपीय नहीं रहे। इनमें से अधिकतर प्रशासनिक कार्यों में सैनिकों के रूप में अथवा व्यापारिक कारोबार के सिलसिले में ही आया करते थे। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व तक लाखों यूरोपीय अपना-अपना देश छोड़कर अप्रवासी बने, लेकिन ये अमेरिकी महाद्वीपों में ही बसते रहे और वहाँ उपनिवेश या प्रशासित इलाका कायम करने का जमाना बहुत पहले ही खत्म हो चुका था।

यूरोप की महाशक्तियों में अनेक मुद्दों पर आपसी प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती थी। इससे कई तरह की राजनीतिक शक्तियाँ क्रियाशील रहती थीं अथवा राजनीतिक तत्त्व जुड़ते रहते थे। ऐतिहासिक कारणों से ये देश अपनी सुरक्षा के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध चौकसी करते रहते थे। यूरोप में हो या संसार के किसी भाग में, एक तरह का शक्ति संतुलन बनाये रखना इनका एक प्रमुख उद्देश्य होता था। इसलिए भी, प्रमुख शक्तिशाली राष्ट्र संसार ने उन क्षेत्रों में जहाँ इनके कदम पहले-पहले पड़ते थे, जल्दी-जल्दी इलाकों को हड़पने, उन्हें अपने अधिकार के अन्तर्गत ले लेने की फिक्र में रहते थे। अफ्रीकी महादेश उनके इस प्रतिद्वन्द्विताजन्य साम्राज्य निर्माण का विशेष रूप से शिकार रहा।

प्रतिष्ठा प्राप्ति तथा "परोपकारिता" की कामना: उपनिवेश या प्रशासित क्षेत्रों का विस्तार शक्तिशाली औद्योगिक राष्ट्रों की प्रतिष्ठा का प्रतीक-सा बन गया था। संसार में विस्त त भूभाग का अधिपति होना महत्ता की निशानी अथवा महाशक्ति होने का प्रमाण समझा जाने लगा था। ब्रिटेन तथा फ्रांस सदियों से उपनिवेश अथवा कई छोटे-बड़े इलाकों के मालिक थे। इस कारण उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक में बड़ी शक्तियों के रूप में उदित होने वाले राष्ट्र-जर्मनी, इटली, जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका संसार के बचे हुए इलाकों पर अपनी अमलदारी कायम करने को बेचैन थे। इसके बिना महाशक्ति में उनका जैसे शुमार नहीं हो सकता था।

इस प्रकार साम्राज्यवाद का उद्भव व्यापारिक, औद्योगिक, वित्तीय, वैज्ञानिक, राजनीतिक, पत्रकारिताजन्य, बौद्धिक, धार्मिक तथा मानवतावादी अनुप्रेरणाओं का सम्मिलित परिणाम था। इस प्रकार से यह समस्त पश्चिम यूरोपीय सभ्यता का व्यक्त रूप था। उस जमाने में यूरोपीय देशों में अनेक लोग पूरी ईमानदारी के साथ यह सोचते थे कि सुदूर इलाकों में जहाँ उनके चरण नहीं पड़े थे, जाकर उन्हें सभ्यता तथा संस्कृति की रोशनी फैलानी है। इससे अन्धकार में डूबे हुए लोगों को सभ्यता तथा प्रबुद्ध जिन्दगी जीने का अवसर मिलेगा। साम्राज्यवादी प्रसार का यह नारा था। आधुनिक सभ्यता में आस्था उस काल का युगधर्म था तथा साम्राज्यवादी अभियान उसका जेहाद। स्कूल में अंग्रेज बच्चों को ह्वाइट मैन्स बर्डेन (White Mans' Burden)-गोरे लोगों के दायित्व का पाठ पढ़ाया जाता था। फ्रांस में मिशन सिविलाईजेशन-सभ्यता-प्रसार का अभियान की बातें की जाती थीं तथा जर्मनी में कल्चर (संस्कृति) फैलाने पर बल दिया जाता था। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा आँग्ल-सैक्सन छत्रछाया में सुरक्षित रहने के लाभ का प्रलोभन दिया जाता था। सामाजिक विकासवाद तथा मानव शरीर रचना विज्ञान के कई विशेषज्ञ कहा करते थे कि गोरी चमड़ी वाले लोग भूरी, पीली या काली चमड़ी वालों की तुलना में अधिक समर्थ तथा प्रतिभाशाली होते हैं। कुछ दूसरे लोग बहुत काल तक गोरों के द्वारा अन्य प्रजातियों के लोगों पर अभिभावकत्व करने की जरूरत तथा सम्भावना की बात करते थे। इन तर्कों से प्रभावित या दिग्भ्रमित होकर यूरोपीय देशों के कुछ कुलीन परिवारों के नौजवान गर्म तथा दुर्गम जंगली इलाकों में आदिम जिन्दगी बिताने वाली जनजातियों या ऐसे ही अन्य लोगों के बीच एकाकीपन तथा तकलीफों की जिन्दगी बिताने को निकल पड़ते थे। वे इस भावना से प्रेरित रहते थे कि वे मानवता के उद्धार का काम करने जा रहे हैं। आदिम लोगों में न्याय की नवयुगीन भावना का संचार करना, गुलाम बनाने के लिए जानवरों की तरह हब्सियों को पकड़ने के अभियान से संघर्ष करना, (हालांकि गुलामों की तिजारत गोरे लोग ही करते थे) अकाल तथा महामारी से ग्रस्त इलाकों में सेवा-सहायता कार्य चलाना, अंधविश्वास दूर करना, गन्दगी, बुरे रहन-सहन अथवा पोषक पदार्थों के अभाव से उत्पन्न बीमारियों की रोकथाम

का आयोजन करना-ये सारे निस्सन्देह अच्छे काम थे। लेकिन इन कार्यों में भाग लेने वाले सभी लोग केवल मानवता के निःस्वार्थ सेवक ही नहीं होते थे। अनेक लोग जातीय या व्यक्तिगत स्वार्थ से भी अनुप्रेरित होते थे।

साम्राज्यवाद को कई स्रोतों से अनुप्रेरणा मिल रही थी। उसका स्वरूप भी हर जगह एक ही समान नहीं था। विभिन्न देशों में इनमें फर्क होता था। संसार के ऐसे इलाके जहाँ यूरोपीयनों के चरण नहीं पड़े थे अथवा उनके पाँव नहीं जमे थे, वे अक्षय प्राकृतिक सम्पदा और विशेष सम्भावनाओं से भरे पड़े थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भीषण प्रतियोगिता के जमाने में उन्हें अधिकृत करके अपने लिए आरक्षित कर लेने का लोभ संवरण करना शक्ति एवं सम्पदा लोलुप यूरोपियनों के लिए कठिन ही नहीं असम्भव भी था। फलतः जिसे जहाँ मौका मिला, जो जितने क्षेत्रों पर पाँव जमा सका, उन्हें अधिकृत किया। 1875 में अफ्रीका महादेश का दसवें से भी कम भाग यूरोपीय देशों के अधिकार में था, किन्तु केवल बीस वर्षों में, 1895 तक केवल दसवाँ भाग ही उनके शिकंजों से बाहर था। 1871 से 1890 तक के बीच अंग्रेजी साम्राज्य में साढ़े बयालीस लाख वर्गमील क्षेत्रफल के इलाके मिलाये गये। फ्रांसीसी साम्राज्य में पैंतीस लाख वर्गमील की व द्धि हुई। रूस ने एशिया में अपनी सीमाओं से बढ़ते हुए लगभग पाँच लाख वर्गमील का क्षेत्र हासिल किया। जर्मनी को दस लाख वर्गमील, इटली को एक लाख पचासी हजार वर्गमील तथा बेल्जियम को नौ लाख वर्गमील हाथ लगे। पुर्तगाल और हालैंड के साम्राज्य ज्यों-के-त्यों बने हुए थे। संसार के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ था कि प थ्वी के अधिकांश हिस्सों पर चन्द यूरोपीय देशों की संप्रभुता स्थापित हो। नव-साम्राज्यवाद के इस चरण में पाश्चात्य शक्तियों की साम्राज्यवादी महत्त्वाकाँक्षा का शिकार अफ्रीका, पूर्वी एशिया तथा लेटिन अमेरिका हुए।

अफ्रीका का बँटवारा

भूमध्यसागर के दक्षिण में स्थित अफ्रीकी महादेश अंध महादेश के नाम से जाना जाता था। इसके निवासी काले रंग वाले हब्सी (निग्रो) लोग थे और सारा महादेश जंगलों और पहाड़ों से भरा पड़ा था। यूरोपीय नाविक इसके पश्चिम किनारे से होते हुए सुदूर दक्षिण तक जाते, किन्तु तटवर्ती क्षेत्र को छोड़कर भीतर जाने का साहस बिरलों को ही होता था। फलतः इसके कुछ तटवर्ती क्षेत्रों के नाम गोल्ड कोस्ट, आइवरी कोस्ट या स्लेव कोस्ट उन्होंने रख छोड़े थे। इसके अतिरिक्त हब्सी अफ्रीका की जानकारी उन्हें नहीं थी। इन तटवर्ती क्षेत्रों से हजारों की संख्या में हब्सी नौजवान स्त्री-पुरुषों को पकड़-पकड़ कर अमेरिकी महादेशों में जानवरों की तरह बेच दिये जाने को भेजा जाता था। इसके उत्तरी तथा कुछ दक्षिण तक पूर्वी किनारे पर अरब लोगों के छोटे-छोटे राज्य थे। सुदूर दक्षिण में दस लाख के लगभग यूरोपीय लोग भी रहा करते थे।

अफ्रीका में पहुँचने वाले पहले यूरोपियनों में धर्म-प्रचारक थे, नये देश की खोज करने वाले थे तथा कुछ दुस्साहसिक व्यक्ति थे। अफ्रीका के घने जंगलों, दुर्गम पहाड़ों, तेज धारवाली नदियों से भरे भीतरी भागों में पहले पहुँचने वालों में **डेविड लिविंगस्टोन** तथा **हेनरी स्टैनली** की गाथा बहुत ही रोचक है। लिविंगस्टोन धर्म-प्रचारक वैद्य था। स्काटलैंड का रहने वाला 1841 में वह अफ्रीका के दक्षिणी-पूर्वी भाग में पहुँचा। लिविंगस्टोन ने मानव की सेवा तथा धर्म-प्रचार के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया था। पर्यटन तथा नये क्षेत्रों की जानकारी हासिल करने में उसकी अभिरूचि थी। ऐसा नहीं जान पड़ता कि उसके किसी तरह के राजनीतिक या आर्थिक लक्ष्य थे। जम्बेसी नदी के किनारे-किनारे जाते हुए वह विक्टोरिया जल-प्रपात तक पहुँचने वाला पहला यूरोपीय था। अफ्रीका के भीतरी खंड़ों से उसके भूगोल, वनस्पति या जलवायु से उसका काफी व्यापक परिचय था। वहाँ के लोगों के साथ वह काफी घुल-मिल गया था। वह कई दशकों तक अफ्रीकी आदिवासियों के बीच सेवा-कार्य में लगा रहा तथा बाहरी दुनिया को लगभग भूल-सा गया। किन्तु बाहरी दुनिया को उसकी चिन्ता थी। उसका पता लगाने के लिए स्टैनली नामक पत्रकार अफ्रीका गया। स्टैनली 1871 में उस जगह पहुँच गया जहाँ लिविंगस्टोन उन दिनों रहता था। कुछ ही दिनों बाद लिविंगस्टोन की म त्यु हो गयी।

हेनरी स्टैनली एक अनुभवी व्यक्ति था। वह शीघ्र ही अफ्रीकी महादेश की अपार सम्भावनाओं को समझ गया। वह यूरोप लौटकर ऐसे लोगों की तालाश करने लगा जो उसकी योजनाओं में रुचि लें। 1878 में बेल्जियम के नरेश **लियोपोल्ड द्वितीय** से उसकी मुलाकात हुई। लियोपोल्ड एक व्यवसायी प्रव त्ति का व्यक्ति था। उसने मध्य अफ्रीका के कांगो नदी के अंचल को विकसित करने का संकल्प किया। स्टैनली और लियोपोल्ड ने मिलकर इण्टरनेशनल कांगो एशोसियेशन नामक एक संस्था की स्थापना की। यह एक निजी कम्पनी थी जिसका बेल्जियम के लोगों या उसकी सरकार से कोई सम्बन्ध नहीं था। उस जमाने में अफ्रीका का सारा इलाका किसी का राज्य या शासित प्रदेश नहीं माना जाता था। जो यूरोपीय पहले वहाँ पहुँचता उसके लिए मैदान

साफ था। स्टैनली फिर कांगो अंचल में 1882 में पहुँचा तथा एक-दो वर्ष के भीतर पाँच सौ से अधिक स्थानीय सरदारों से तरह-तरह के कागजातों पर उनके राजकीय निशानों के मुहर लगवा लिये। सरदार लोगों ने एशोसियेशन का झंडा लगाना भी शुरू किया।

अफ्रीका में राज्य या राज्यों के सीमान्त नहीं हुआ करते थे। सभी साम्राज्यवादी ताकतों के सामने मैदान खुला हुआ था; जहाँ तक चाहें, जितना चाहें अफ्रीकी क्षेत्रों पर अपना दावा स्थापित कर ले सकते थे। अंगोला और मोजम्बीक में पुर्तगाल के दो उपनिवेश बहुत दिनों से कायम थे। वे इनके मध्यवर्ती क्षेत्र पर आधिपत्य कर अपना विशाल साम्राज्य कायम करना चाहते थे। इंग्लैंड इसका समर्थन करता था। यूरोपीय राज्यों की सरकारें अफ्रीका के दलदल में फँसना नहीं चाहती थी, किन्तु हर देश में साम्राज्य-निर्माण के उत्साही समर्थक हुआ करते थे। संख्या तो उनकी कम होती थी लेकिन वे बड़े ही प्रभावी होते थे और अपनी-अपनी सरकारों को इसके लिए मजबूर करते रहते थे।

नवीन जर्मनी का निर्माता बिस्मार्क अफ्रीका में उपनिवेश स्थापना को मूर्खतापूर्ण कार्य मानता था। पर उपनिवेश उत्साहियों का दबाव उस पर भी पड़ा। उसने 1885 में बर्लिन में अफ्रीकी समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विमर्श तथा सहमति से हमेशा के लिए सुलझाने के लिए एक सम्मेलन आयोजित किया। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूरोप के कई राज्यों ने भाग लिया। सम्मेलन में दो प्रमुख नीतियाँ निर्धारित करने की कोशिश की गयी-

1. कांगो एशोसियेशन के अधिकृत इलाकों को अन्तर्राष्ट्रीय तत्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय राज्य बनाया जाय तथा
2. एक अन्तर्राष्ट्रीय संहिता बनायी जाय तथा इसके अनुसार ही यूरोपीय शक्तियाँ अफ्रीका में इलाके हासिल करें।

कांगों राज्य का निर्माणः 1885 में कांगो फ्री स्टेट की स्थापना हुई। इसने इण्टरनेशनल कांगो एसोसिएशन का स्थान ग्रहण किया। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संरचना थी तथा इसमें वे बुनियादी सिद्धान्त निहित थे जिनके आधार पर बीसवीं सदी के मध्य में पिछड़े लोगों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टीशिप की व्यवस्था की जाने वाली थी। बर्लिन सम्मेलन ने यह निर्णय किया कि नव-स्थापित राज्य का बेल्जियम सहित किसी भी राज्य सरकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होगा। सम्मेलन ने इसका शासनतन्त्र चलाने का भार लियोपोल्ड को सौंप दिया। सम्मेलन द्वारा नये राज्य के सीमान्त निर्धारित किये गये तथा कुछ अन्य व्यवस्थाएँ भी की गयीं। 1889 में लियोपोल्ड ने हस्ताक्षरकर्त्ता राज्यों का दूसरा सम्मेलन ब्रुसेल्स में बुलाया। इसमें कई अन्य बातों पर निर्णय लिये गये। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण का यह प्रयत्न कामयाब नहीं हो सका। लियोपोल्ड कांगो राज्य को भारी मुनाफा अर्जित करने वाले व्यवसाय का स्त्रोत बनाना चाहता था। फलतः कांगो की प्राकृतिक सम्पदा तथा वहाँ के अभागे आदिवासियों का प्राणान्तक शोषण करता रहा। यूरोप तथा अमेरिका में रबड़ की बहुत मांग थी। कांगो में रबड़ उत्पादन की अशेष संभावनाएँ थी। लियोपोल्ड ने कांगो को दुनिया का सबसे बड़ा रबड़ का उत्पादक बना दिया। किन्तु इसके लिए कांगो के आदिवासियों पर अमानवीय अत्याचार किये गये। कांगो के ये आदिवासी अत्यन्त पिछड़े हुए थे। यहाँ कई तरह की बीमारियों का प्रकोप बराबर बना रहता था जिनके कारण वे अत्यन्त दुर्बल होते थे। ऐसे लोगों से कठोर परिश्रम कराया गया। धन अर्जित करने की धुन में लियोपोल्ड ने कांगो की प्राकृतिक सम्पदा की मनमानी लूट की तथा वहाँ के आदिवासियों को लगभग गुलामों की जिन्दगी बिताने पर मजबूर कर दिया। अपने लिए उसने कल्पनातीत धनराशियाँ अर्जित की। इतना सब करने के बावजूद लियोपोल्ड इस व्यवस्था को स्वतः सम्पूर्ण नहीं बना सका। व्यवसाय पर भारी कर्ज का बोझ चढ़ा हुआ था। इस कारण लियोपोल्ड ने बेल्जियम राज्य से 2,50,00,000 फ्रैंक की रकम कर्ज ली। शर्त यह थी कि यदि यह कर्ज चुकाया नहीं जा सका तो उसके मरणोपरान्त कांगो बेल्जियम की जायदाद हो जायेगा। 1909 में लियोपोल्ड की म त्यु होने पर कांगो पर बेल्जियम राज्य का आधिपत्य हो गया और अब यह बेल्जियाई कांगो बन गया।

अफ्रीका की लूट-खसोटः 1885 के बर्लिन सम्मेलन में अफ्रीका में साम्राज्यवादी प्रसार के सन्दर्भ में कुछ निदेश रेखाएँ निर्धारित की गयी थीं। जिस यूरोपीय देश के अधिकार में अफ्रीका का कोई तटवर्ती क्षेत्र होगा उस क्षेत्र के भीतरी इलाकों को अधिकृत करने में प्राथमिकता मिलेगी। अधिकृत क्षेत्र केवल कागज पर ही नहीं हो, नक्शे पर रेखाएँ खींचकर ही नहीं, उस क्षेत्र में शासक देश के प्रशासक या सैनिक होने चाहिए। प्रत्येक देश अन्य देशों को अधिसूचित कर दे कि किन इलाकों को वह अपना अधिकृत क्षेत्र मानता है। इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि वास्तविक अधिकृति के लिए अन्ध दौड़ शुरू हुई। मात्र पन्द्रह वर्षों में सारे महादेश का कुछेक अपवादों को छोड़कर यूरोपीय साम्राज्यवादी राष्ट्रों के मध्य बँटवारा हो गया। एकमात्र अपवाद

एथियोपिया रह गया तथा कुछ हद तक साइबेरिया। साइबेरिया की स्थापना 1882 में मुक्त किये गये गुलामों को बसाने के लिए की गयी थी। यह राज्य वस्तुतः संयुक्त राज्य अमेरिका के संरक्षण में था।

हर जगह एक ही प्रक्रिया कुछ रूपों में दुहराई जाती रही। पहले घने जंगलों में या किसी वीरान बंजर में कुछ गोरे दीख पड़ते, उनके हाथों में संधिपत्रों के मुद्रित फार्म होते। मनमाने अधिकार हासिल करने के लिए ये लोग आदिवासी मुखिया को शासक मान लेते, उसे वैसे अधिकार होने की कल्पना कर लेते जो कबिलाई प्रथानुसार उसे नहीं होते थे। मिसाल के तौर पर कबिलाई मुखिया को संप्रभुता हस्तांतरित करने का, जमीन बेचने या खनिज निकालने का एकाधिकार प्रदान करने का अधिकार नहीं होता था। बेचारा सीधा-सादा कबिलाई मुखिया शुरू में ही यूरोपीय कानूनों की पेचीदगियों में उलझा दिया जाता था। तदुपरान्त यूरोपीय आगन्तुक मुखिया की स्थिति बनाये रखते क्योंकि स्थानीय लोगों पर उसका कोई प्रभाव तो होता नहीं था। इस कारण अप्रत्यक्ष शासन का सिलसिला चलने लगा। गोरे कबीलों के मुखिया के माध्यम से काम करते थे। उनके अनेक काम मुखिया के जरिये ही हो सकते थे। भीतरी इलाकों में जाने वाले इक्के-दुक्के गोरे की सुरक्षा, कुली का प्रबन्ध, सड़क तथा रेलवे के निर्माण के लिए मजदूरों का प्रबन्ध आदि के लिए उन्हें मुखिया की मदद लेनी ही पड़ती थी।

अफ्रीका में मजदूरों का प्रबन्ध एक बड़ी समस्या थी। गुलामी प्रथा को यूरोपीय फिर से लागू करना चाहते थे। आम अफ्रीकी मजदूरी लेकर नियमित रूप से काम करने की प्रथा से एकदम अनभिज्ञ होता था। उसे व्यक्तिगत लाभ की चेतना नहीं थी, मुद्रा की जरूरत उसे नहीं के बराबर थी। आमतौर पर वह कड़ी मेहनत करने का आदी नहीं होता था। अधिकतर अफ्रीकी समाजों में कठिन या अनवरत काम करना स्त्रियों के जिम्मे होता था। परिणाम यह होता था कि लगभग समस्त अफ्रीका में यूरोपीय आगन्तुक जबरदस्ती काम कराया करते थे। सड़क निर्माण के लिए स्थानीय मुखिया को निर्धारित अवधि के लिए हट्टे-कट्टे नौजवानों का प्रबन्ध करने को कहा जाता था। मुखिया बड़ी खुशी से यह कर दिया करता था क्योंकि गोरों की नजरों में उसका स्थान जो बढ़ता। कुछ अप्रत्यक्ष तरीकों का भी इस्तेमाल किया जाता था। औपनिवेशिक प्रशासन झोपड़ी कर या हर व्यक्ति पर कुछ अनिवार्य कर लगा देता था। इसे नकद चुकाना होता था। फलतः आदिवासी काम करने को राजी हो जाता था। एक दूसरा तरीका भी इस्तेमाल में लाया जाता था। यूरोपियनों को अधिकांश खेती योग्य जमीन दे दी जाती थी। स्थानीय लोगों के लिए शेष जमीन अपर्याप्त पड़ती थी। इसमें जिन्दगी बसर करना सम्भव नहीं था। इस स्थिति में स्त्रियाँ खेती-बाड़ी करतीं और पुरुष वर्ग गोरों की मजदूरी, जिसके लिए उन्हें नाममात्र की मजदूरी दी जाती थी। अपने परिवार और कबिलाई माहौल से दूर "अहाते" में जो आदिवासी रखे जाते उनका नैतिक पतन ही नहीं होता, शारीरिक और मानसिक ह्रास भी होता था। इन स्थितियों में आदिवासियों को अपने तौर-तरीकों, प्रथा-परम्पराओं, अपनी संस्कृति से विच्छिन्न करके उन्हें अधर में लटके हुए छोड़ देने के हर तरह के काम होते। उन्हें यूरोपीय सभ्यता-संस्कृति में दीक्षित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता था। फल यह होता कि समग्र कबीलाई या ग्रामीण समाज टूटता जाता और उसके स्थान पर कोई दूसरी व्यवस्था हो, इसके लिए कोई यत्न नहीं होता था।

इस बीच, 1885 से 1900 की कालावधि में यूरोपीय राष्ट्रों में अफ्रीका में ही हाथापाई करने की नौबत आ पहुँची। पुर्तगालियों ने अंगोला तथा मोजम्बीक के काफी समीपवर्ती क्षेत्र हथिया लिये। इटली को दो वीरान इलाकों-इटालवी सोमालीलैंड तथा इरिट्रिया से ही सन्तोष करना पड़ा। इसके बाद वे भीतरी इलाके की ओर बढ़े, इथियोपिया तथा नील नदी के ऊपरी क्षेत्रों को अधिकृत करके एक विस्त त साम्राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से। किन्तु इथियोपिया के सैनिकों ने उनका तगड़ा प्रतिरोध किया और 1896 के अडोपा के युद्ध में इटालवी बुरी तरह पराजित हुए। यह पहला अवसर था जब स्थानीय लोगों ने किसी यूरोपीय देश की सेना को हराया था। इटली, पुर्तगाल या स्पेन मुख्य साम्राज्यवादी राष्ट्रों के आपसी शंका-सन्देह तथा ईर्ष्या के कारण ही अफ्रीका में अपना पाँव जमाये रख सकें। उस समय ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी मुख्य साम्राज्यवादी राष्ट्र थे। अपने किसी बड़े प्रतिद्वन्द्वी के हाथ में कोई इलाका चला जाय, इसकी अपेक्षा उस पर किसी कम शक्तिशाली देश का आधिपत्य हो उन्हें अधिक मंजूर होता।

जर्मनी उपनिवेशों की होड़ में देर से आया था। उन दिनों जर्मनी का नीति निर्धारक **बिस्मार्क** इसके लिए विशेष रूप से उत्सुक भी नहीं था। उन्नीसवीं सदी के नौवें दशक में साम्राज्यवादी प्रसारवाद के पक्ष में जितने भी तर्क दिये जाते थे जर्मनी में भी जोर-शोर से प्रचारित किये जा रहे थे। पर इनमें अधिकांश अफ्रीकी महादेश के बारे में लागू नहीं होते थे। फिर भी जर्मनी के उपनिवेश उत्साहियों ने जर्मन ईस्ट अफ्रीका, टोगो, कैमरून्स तथा जर्मन दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका में अपने उपनिवेश स्थापित

किए। जर्मनी के साम्राज्यवादी स्वप्नद्रष्टा यह भी कल्पना कर रहे थे कि कभी आगे चलकर कांगो तथा पुर्तगाली उपनिवेश जर्मनी शासित क्षेत्र में मिल सकते थे। तब अफ्रीका के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग में जर्मनी का एक विशाल साम्राज्य बन जाएगा। अधिकांश पश्चिमी अफ्रीका क्षेत्र-उत्तर में अलजीरिया से लेकर पूर्व में सूडान तक तथा वहाँ से गिनी तट के कई क्षेत्रों में फ्रांसीसी आधिपत्य स्थापित हो चुका था। फ्रांसीसियों ने लालसागर के तटवर्ती ओबोफ पर अधिकार कर लिया था तथा 1896 में इटली इथियोपिया के हाथों पराजित होने के बाद से वहाँ भी उसका प्रभाव बढ़ता जा रहा था। फलतः फ्रांसीसी साम्राज्य-निर्माता पश्चिम में डकार से पूरब में ऐडेन की खाड़ी तक विस्त त फ्रांसीसी अफ्रीका का सपना साकार होते देख रहे थे। 1898 में फ्रांसीसी सरकार की ओर से कैप्टेन मार्शा को एक अभियान दल के साथ चाँद झील से पूर्व की ओर भेजा गया। इस अभियान का उद्देश्य नील नदी के ऊपरी क्षेत्र में पहुँचकर सूडान के दक्षिणी भाग में फ्रांसीसी आधिपत्य की उद्घोषणा करना था। उस समय तक सूडान पर किसी यूरोपीय देश का आधिपत्य नहीं था।

इस प्रकार अफ्रीका के पश्चिमी तट से पूर्वी तट तक फ्रांस तथा जर्मनी के क्रमशः उत्तर और दक्षिण में समानान्तर पट्टियों के रूप में औपनिवेशिक क्षेत्रों के सिलसिले स्थापित करने की योजनाएँ बन रही थीं। ब्रिटेन के साम्राज्यवादी इनसे भी अधिक महत्त्वाकांक्षी योजना बना रहे थे। यह योजना थी दक्षिण में केप ऑफ गुड होप से उत्तर में काहिरा तक लगातार फैले हुए ब्रिटिश अफ्रीकी साम्राज्य की परिकल्पना। अफ्रीका के तत्कालीन नक्शे पर यह इस तरह होता-केप ऑफ गुड होप से उत्तर की ओर बढ़ते हुए सेसिल रहोड्स ने रोडेशिया की स्थापना की। उससे लगे हुए मध्य अफ्रीका में केनिया तथा युगान्डा नामक ब्रिटिश उपनिवेश थे। उत्तर में मिस्त्र 1882 में ब्रिटिश संरक्षण में आ चुका था। ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि नील नदी के ऊपरी क्षेत्र पर मिस्त्र के पुराने दावे का समर्थन कर रहे थे। इसके लिए किया गया पहला अभियान असफल रहा। इसमें एक ब्रिटिश अधिकारी क्रुद्ध मुस्लिम निवासियों के हाथों खारतून में मारा गया। इस पर जनरल किचनर को भेजा गया। उसके अभियान दल ने दक्षिण की ओर बढ़ते हुए ओमडारमैन के युद्ध में स्थानीय निवासियों को पराजित किया। वहाँ से नील नदी के ऊपरी क्षेत्र में बढ़ते हुए शोपा तक गया। यहाँ मार्शा के नेत त्व में फ्रांसीसी अभियान दल भी तब तक पहुँच गया था।

दोनों अभियान दलों की टकराहट होते-होते बची। बाद में जो कुछ हुआ उसे फसोदा संकट कहा जाता है। नील नदी की तलहटी का यह क्षेत्र दोनों देशों के साम्राज्यवादी प्रसार की अपनी-अपनी योजना के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। शुरू में कोई भी वापस लौटने को तैयार नहीं था। यह दो महाशक्तियों की प्रतिष्ठा तथा शक्ति परीक्षण का सवाल भी बन गया था। कुछ काल के लिए ब्रिटेन और फ्रांस युद्ध के कगार पर पहुँच गये थे। लेकिन फ्रांस ने इस अवसर पर संयम से काम लिया। मार्शा को लौट जाने का आदेश मिला।

अफ्रीका में सुदूर दक्षिण में ब्रिटेन को एक और समस्या से उलझना पड़ा। 1890 में सेसिल रहोडस केप कोलनी के प्रधानमंत्री पद पर आसीन हुआ। केप से काहिरा तक ब्रिटिश अफ्रीका के सपने को साकार करने को कृतसंकल्प लोगों में रहोडस प्रमुख था। लेकिन इसके पहले ही कदम पर ट्रांसवाल तथा औरेन्ज फ्री स्टेट दो छोटे यूरोपीय उपनिवेशों को ब्रिटिश आधिपत्य में लाना था। ये दो उपनिवेश डच अप्रवासियों के थे। इनके पूर्वज सतरहवीं सदी में केप में जाकर बसे थे। 1815 में जब केप आफ गुड होप पर अंग्रेजों का शासन कायम हो गया तो वहाँ के डच मूलक निवासी अन्यत्र चले गये। अंग्रेज लोग इन्हें बोअर कहते थे। ये लोग सरल, जिद्दी तथा रूढ़ीवादी प्रकृति के होते थे।

इस बीच ट्रांसवाल में हीरे तथा सोने की खानों का पता चला। ब्रिटिश पूँजी का वहाँ तांता लग गया। पर ट्रांसवाल की सरकार कई तरह की बाधा उपस्थित कर रही थी। अतः 1895 में वहाँ आन्तरिक विद्रोह भड़काने के उद्देश्य से डा० जेमसन के नेत त्व में एक ब्रिटिश अभियान दल भेजा गया। अभियान विफल रहा, पर यूरोप के विभिन्न देशों में इस घटना पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। जर्मनी के सम्राट **कैजर विलियम द्वितीय** ने ट्रांसवाल के राष्ट्रपति पाल क्रुगर के नाम तार भेजकर उसे मुबारकबाद दी। तीन वर्ष बाद ब्रिटेन की ओर से ट्रांसवाल तथा औरेन्ज फ्री स्टेट के विरुद्ध विधिवत युद्ध छेड़ दिया गया। बोअर लोगों ने फौलादी संकल्प के साथ आक्रमणों का सामना किया। अंग्रेजों को अपनी काफी सामरिक शक्ति लगाने के बावजूद उन पर फतह हासिल करने में कई वर्ष लग गये। 1910 में इन दोनों राज्यों को नेटाल तथा केप कोलनी के साथ मिलाकर यूनियन ऑफ साउथ अफ्रीका नाम से एक राज्य की स्थापना की गयी। नया राज्य ब्रिटिश संप्रभुता के अन्तर्गत एक स्वशासी डोमिनियन बन गया।

इस प्रकार बीसवीं सदी के आरम्भ तक कुछेक छोटे-मोटे क्षेत्रों को छोड़कर लगभग समस्त अफ्रीकी महादेश किसी-न-किसी यूरोपीय देश के प्रत्यक्ष शासन या संरक्षण में आ चुका था। सहारा मरूभूमि से दक्षिण के विशाल भूखंड पर साइबेरिया तथा

इथियोपिया को छोड़कर सभी अफ्रीकी क्षेत्र यूरोपियनों के उपनिवेश बन गये थे। उत्तर अफ्रीकी तटभूमि पर पश्चिम में मोरक्को, मध्यवर्ती भाग में लीबीया तथा पूर्व में मिश्र महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा बने रहते थे। यहाँ महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण माहौल तैयार हो रहा था जिससे प्रथम विश्वयुद्ध की आग भड़कने वाली थी। मोरक्को को लेकर 1905 में फ्रांस और जर्मनी आमने-सामने की स्थिति में आये। 1911 में इटली ने लीबिया पर अधिकार कर लिया। अन्यत्र बोअर युद्ध के बाद से कोई परिवर्तन नहीं होने वाला था।

पूर्वी एशिया में साम्राज्यवादः पूर्वी एशिया में साम्राज्यवादी प्रसार मुख्यतः दो क्षेत्रों में हुआ। ये क्षेत्र थे दक्षिण प्रशान्त महासागर का द्वीप तथा चीन। 1874 में ब्रिटिश सरकार ने फीजी द्वीप समूह पर अधिकार कर लिया। इस घटाना से प्रेरणा लेकर फ्रांस, हालैंड तथा बाद में जर्मनी की सरकारें भी इस क्षेत्र की ओर आकृष्ट हुई। ब्रिटेन तब तक आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में अपने उपनिवेश बना चुका था। इस कारण किसी अन्य महाशक्ति के उस क्षेत्र में या उसके समीप पाँव जमाने का विरोध करता था। फ्रांसीसी तथा डच भी दक्षिणी प्रशान्त क्षेत्र में अपना साम्राज्य-प्रसार करने की महत्त्वकांक्षा रखते थे। संयुक्त राज्य अमेरिका की नजर एशियाई महादेश के लिए जलमार्ग सुरक्षित तथा खुला रखने की द ष्टि से प्रशान्त महासागरीय द्वीपों के सामरिक महत्त्व को देखते हुए इस ओर लगी रहती थी। जर्मनी साम्राज्यवादी बन्दर-बाँट में काफी देर से पहुँचा था। अतः जो भी मिल जाय उसे हड़पने के लिए वह तैयार रहता था। इतनी महाशक्तियों के हितों के टकराव के फलस्वरूप प्रत्येक देश धीरे-धीरे तथा सतर्कता के साथ ही कोई कदम उठाता था।

पूर्वी हिन्द द्वीप समूह के समीपवर्ती न्युगिनी पर अधिकार जमाने को जर्मनी तथा आस्ट्रेलिया में प्रतिद्वन्द्विता थी। अन्ततः जर्मनी, इंग्लैंड तथा ब्रिटेन की सरकारों ने इसके तीन टुकड़े करके एक-एक टुकड़े पर अधिकार किया। तदुपरान्त मार्शल तथा सोलोमन द्वीपों पर जर्मनी ने अपना झंडा गाड़ा तथा गिलबर्ट और एलिस द्वीपों पर अंग्रेजों ने। न्यू हेब्राइडीज अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के हाथ लगा। इन्हीं दिनों स्पेनी साम्राज्य बिखर रहा था। 1899 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने युद्ध करके स्पेन की रही-सही शक्ति को भी समाप्त कर दिया। अमेरिका को विजय के पुरस्कार के रूप में फिलीपिन्स द्वीप समूह मिले। स्पेनी अधिकार वाले छोटे-छोटे द्वीपों के विषय में छीना-झपटी कुछ काल तक चलती रही। अन्ततः प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों ने इसका भी आपस में बँटवारा करके झगड़ा समाप्त किया। फलतः बेक द्वीप में संयुक्त राज्य अमेरिका का कब्जा स्वीकृत किया गया, सामास द्वीप अमेरिकियों तथा जर्मनी के बीच बँट गया। मेरियाना एवं कैरोलाइन्स द्वीप समूहों पर जर्मनी का अधिकार कायम हुआ।

जिन दिनों यूरोपीय साम्राज्यवाद के अग्रदूत प्रशान्त महासागर के पूर्वी तटवर्ती क्षेत्रों में उतर रहे थे उन दिनों चीन का विशाल साम्राज्य विघटन के कगार पर असुरक्षित-सा खड़ा था। उसकी शासन पद्धति हजारों वर्ष पुरानी थी, उसकी सामरिक शक्ति क्षीण हो चुकी थी। साम्राज्यवादी प्रसार के दो प्रलोभन-कच्चे माल की प्रचुरता तथा तैयार माल के लिए असीमित बाजार-की सम्भावनाएँ वहाँ थीं ही। यूरोपीय साम्राज्यवादी प्रसार के लिए यह विशाल देश अत्यन्त उपयुक्त था।

चीन के साथ अपने कूटनीतिक आचरण में यूरोपीय राष्ट्रों ने अदूरदर्शिता, विश्वासघात तथा पाश्विकता का परिचय दिया। उसके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक देश की ओर से यही कहा जाता था कि चीन की अखंडता कायम रखना तथा हर राज्य को उसके साथ व्यापार का अवसर उपलब्ध कराना उसका उद्देश्य था। लेकिन यह स्वांग था। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपने-अपने लिए चीन के विभिन्न भागों में एकाधिकारवादी 'रियायतों' के लिए पेकिंग सरकार पर दबाव डालना शुरू किया। इसके अलावा जब भी मौका मिलता तो ये राष्ट्र चीनी बन्दरगाह-नगरों में अपना अड्डा जमाने की कोशिश अवश्य करते। चीन के निवासी इन साम्राज्यवादी साजिशों से तंग थे और इसके विरुद्ध 1900 में उनका विदेशी-विरोधी **बाक्सर विद्रोह** हुआ। विदेशियों ने इस विद्रोह को कुचल दिया।

चीन में अपना प्रभाव-क्षेत्र कायम करने के लिए बड़े राष्ट्रों के आपसी संघर्ष की अपनी विशेषताएँ थी। रूसी सरकार चीन पर विशेष ध्यान देती थी। उसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान भी उसकी और ललचायी निगाहों से देख रहे थे। 1894 में जापान ने चीन पर आक्रमण करके उस पर शिमानास्की की संधि थोप दी और महत्त्वपूर्ण रियायतें हासिल की। फिर उसका रूस के साथ टकराव हुआ और रूस-जापान युद्ध में रूस को पराजित होना पड़ा।

संयुक्त राज्य अमेरिका का साम्राज्यवाद

उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में अमेरिकी महादेश का स्पेनी साम्राज्य बिखर गया था। इसके फलस्वरूप एक विशाल भूखंड में अनिश्चितता की स्थिति पैदा हो गयी थी। स्पेनी नियन्त्रण समाप्त होने पर उसके पूर्व-प्रशासित इलाकों के

सीमान्त के झगड़े चलते रहते थे। इन नवोदित गणतन्त्रों के भाग्य से दो-एक दशकों तक यूरोपीय देश अपने ही झगड़ों में फँसे रहे तथा साम्राज्यवाद के पंजे कुछ काल तक कमजोर पड़े हुए थे। वेरोना कांग्रेस में जब वह पुनः सक्रिय होता दीख पड़ा तो उसी समय संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति **मुनरो** ने एक घोषणा (Monroe Doctrine) करके यूरोपियनों के लिए पश्चिमी गोलार्द्ध में साम्राज्य स्थापना पर रोक लगा दी। वैसे इन मुद्दे पर यूरोपीय राष्ट्रों में खुद भी विवाद था। स्पेन के नव आजाद उपनिवेशों के साथ ब्रिटेन के घनिष्ठ व्यापारिक संबंध थे। अतः वह नहीं चाहता था कि स्पेन उन पर फिर अपनी अमलदारी कायम करे।

लेकिन नवोदित गणतन्त्रों को स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका से ही खतरा उत्पन्न होने वाला था। इसका पहला शिकार मेक्सिको हुआ। वहाँ काफी जमीन होने के कारण शीघ्र ही अमेरिकी नागरिकों का तांता लग गया। ये लोग हब्सी गुलाम अपने साथ लाते थे तथा वहाँ कपास की खेती कराना चाहते थे। मेक्सिको गणतन्त्र गुलामी-प्रथा के विरुद्ध था। अतः गुलाम लाने या उससे काम कराने की इजाजत नहीं देता था। इस पर नवागन्तुकों ने एक नये गणतन्त्र की घोषणा कर दी। उसका नाम रखा गया टेक्सास तथा उसे संयुक्त राज्य अमेरिका में मिला लेने के लिए आन्दोलन शुरू हुआ। मेक्सिको के विरोध के बावजूद 1845 में संयुक्त राज्य में उसे मिला लिया गया। मेक्सिको ने युद्ध की घोषणा कर दी। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका विजयी हुआ और टेक्सास सहित कैलिफोर्निया तटवर्ती प्रदेश तक का इलाका संयुक्त राज्य अमेरिका का अंग हो गया। फलस्वरूप मेक्सिको गणतन्त्र का क्षेत्रफल घट कर आधा रह गया।

मेक्सिको पर दूसरा संकट फ्रांस की ओर से उपस्थित हुआ। तत्कालीन फ्रांसीसी सम्राट् नेपोलियन त तीय मेक्सिको को संरक्षित राज्य बनाना चाहता था। संयुक्त राज्य अमेरिका के विरोध के कारण यह प्रयास विफल हो गया। 1870 के पूर्व संयुक्त राज्य अमेरिका की चौकसी के फलस्वरूप लैटिन अमेरिका का समीपवर्ती भाग यूरोपीय साम्राज्यवाद के चंगुल में फँसने से बच गया था। संयुक्त राज्य अमेरिका के एक महाशक्ति के रूप में अभ्युदय होने से पश्चिमी गोलार्द्ध में यूरोपीय राष्ट्रों की प्रसारवादी महत्त्वाकांक्षाओं पर प्रभावी रोक लगी रही। फलतः लैटिन अमेरिका साम्राज्यवाद के चरणों के नीचे नहीं रौंदा गया हालाँकि संयुक्त राज्य अमेरिका स्वयं साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में उदित हुआ तथा उसके दक्षिण के सीमान्त से परे जितने भी राज्य थे उससे डरते थे। यह यांकी (yankee) खतरा था, उत्तर के दैत्य का।

उन्नीसवीं सदी का अन्तिम दशक यूरोप तथा अमेरिका में साम्राज्यवाद के चरमोत्कर्ष का युग था। 1895 में मुनरो सिद्धांत की पुनर्घोषणा करते हुए राष्ट्रपति **क्लीवलैण्ड** ने वेनेजुएला को ब्रिटिश गुइयाना से सीमा-विवाद के सन्दर्भ में सीधी बातचीत करने से रोक दिया। ब्रिटेन की सरकार को बाध्य होकर अन्तर्राष्ट्रीय पंच फैसले के लिए मामले को सुपुर्द करने को तैयार होना पड़ा। कोलम्बिया के पनामा जलडमरूमध्य में विद्रोह होने पर संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने बिना किसी से परामर्श किये पनामा गणतंत्र को मान्यता दे दी।

इस समय तक कभी के विस्त त स्पेनी साम्राज्य के मात्र दो अवशेष बचे रह गये थे-क्यूबा और प्यूर्टोरिको। इन प्रदेशों में भी स्वतंत्रता की मांग की जा रही थी तथा जब-तब विद्रोह भड़क उठा करते थे। संयुक्त राज्य अमेरिका में विद्रोहियों के प्रति सहानुभूति थी। नव साम्राज्यवाद की सभी विशेषताएँ वहाँ स्पष्ट दीख पड़ती थीं। क्यूबा में अमेरिका की 5,00,00,000 डालर मूल्य की पूँजी लगी हुई थी। अमेरिकियों ने एक क्यूबाई विद्रोही द्वारा जारी किये गये ऋणपत्र बड़ी संख्या में खरीदे। क्यूबा में बहुत बड़ी मात्रा में चीनी का उत्पादन होता था और अमेरिका क्यूबाई चीनी का सबसे बड़ा खरीददार था। राजनीतिक गड़बड़ी के कारण चीनी के उत्पादन में बाधा पड़ती रहती थी। क्यूबा में स्थायी तथा अमेरिकी समर्थक सरकार का होना अमेरिका के लिए सामरिक द ष्टि से भी आवश्यक था। अमेरिका शीघ्र ही पनामा में अटलांटिक को प्रशान्त महासागर से जोड़ने वाली नहर का निर्माण करने वाला था। अमेरिकी अखबारों में इन सब बातों को खूब उछाला गया तथा जन-आक्रोश को भड़काने की पूरी कोशिश की गयी। इसी बीच हवाना के बन्दरगाह में एक अमेरिकी युद्धपोत रहस्यमय स्थितियों में डूब गया। अमेरिका जनमत का रोष अब चरम बिन्दु पर पहुँच गया था। इसके कारण अमेरिकी-स्पेन युद्ध 1899 में छिड़ गया। प्यूर्टोरिको अमेरिकी संयुक्त राज्य का उपनिवेश बना लिया गया। इसी तरह प्रशान्त महासागर के फिलीपीन्स द्वीप समूहों पर भी अमेरिका ने अधिकार जमा लिया। क्यूबा को स्वतंत्र गणराज्य की मान्यता मिली किन्तु उस पर अमेरिका द्वारा कई तरह के शिकंजे लगा दिये गये। अब क्यूबा की स्थिति एक संरक्षित राज्य जैसी हो गयी। आन्तरिक हस्तक्षेप के अधिकार का कई बार प्रयोग किया गया। क्यूबा कुल मिलाकर संयुक्त राज्य अमेरिका का उपनिवेश बन गया।

राष्ट्रपति **थ्योडेर रूजवेल्ट** के कार्यकाल में संयुक्त राज्य अमेरिका की साम्राज्यवादी महत्ता का सबसे अधिक डंका पीटा गया। 1904 में राष्ट्रपति ने एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य में कहा, "ऐसी दुर्बलता और दुर्नीति की स्थिति में, जिससे सभ्य समाज के संबंधों में शिथिलता आती जान पड़े-किसी समय राष्ट्र द्वारा हस्तक्षेप किया जाना जरूरी होता है।" उसने यह भी चेतावनी दी कि मुनरो सिद्धांत के कार्यान्वयन के लिए कभी-कभी संयुक्त राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस का काम भी करना पड़ सकता है। अगले ही वर्ष सांतो डार्मिगों में ऐसी वित्तीय अव्यवस्था हो गयी जिससे उसके यूरोपीय महाजनों को भारी चिन्ता होने लगी। चूँकि इसमें कई यूरोपीय महाशक्तियों के स्वार्थ निहित थे, इसलिए उनके हस्तक्षेप का खतरा उत्पन्न हुआ। इस हस्तक्षेप को रोकने के उद्देश्य से संयुक्त राज्य अमेरिका ने वहाँ एक वित्तीय प्रशासक नियुक्त किया, उसकी अर्थव्यवस्था का पुनर्गठन किया तथा उसके कर्जों के भुगतान के लिए उसकी चुँगी आय को जब्त कर लिया। रूजवेल्ट ने यह सब इस घोषणा के साथ किया कि संयुक्त राज्य अमेरिका पश्चिमी गोलार्द्ध में किसी यूरोपीय राष्ट्र को हस्तक्षेप करने का मौका देना नहीं चाहता। यूरोपीय राष्ट्रों के न्यस्त धन को सुरक्षित रखने के लिए उसे हस्तक्षेप करना जरूरी हो गया था। अगले पच्चीस वर्षों तक "डालर राजनय" का युग चलता रहा। इस काल में संयुक्त राज्य अमेरिका कैरीबियन सागर-क्षेत्र तथा मेक्सिको में आवश्यकतानुसार सैनिक या अन्य साधनों से हस्तक्षेप करता रहा।

हवाई द्वीप समूह की कहानी भी नव-साम्राज्यवाद के इतिहास का एक अध्याय प्रस्तुत करती है। मध्य प्रशान्त में स्थित इसका पुराना नाम सैण्डविच द्वीप समूह था। शेष संसार से अलग-थलग होने के फलस्वरूप यहाँ के लोग शान्त और निर्द्वन्द्व जीवन बिताया करते थे। उन्नीसवीं सदी में नाविक तथा व्यापारी, धर्म प्रचारक तथा ह्वेल के शिकारी यहाँ पहुँचने लगे। 1840 तक राजधानी होनोलुलू के बाजार मदिरा तथा कपड़े से पट गये। इन सबों से घबराकर वहाँ के स्थानीय शासक ने पहले ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार करने की सहमति व्यक्त की तथा 1875 में अमेरिकी संरक्षण स्वीकार करके अपने देश को वस्तुतः संरक्षित राज्य बना दिया। संघ शर्तों के अनुसार हवाई को स्वतन्त्रता की गारंटी दी गयी लेकिन इसके बदले संयुक्त राज्य ने व्यापारिक सुविधाएँ तथा नौसेनिक अड्डा बनाने का अधिकार हासिल किया। बाद में अमेरिका के विशाल नौसैनिक अड्डे पर्ल हारबर का निर्माण यहीं किया गया। भारी मात्रा में अमेरिकी पूँजी-निवेश यहाँ होता रहा। अमेरिकी पूँजी तथा प्रबन्ध से चीनी तथा अनानास उद्योग का यह बहुत बड़ा केन्द्र बन गया। यहाँ का सारा उत्पादित माल संयुक्त राज्य अमेरिका निर्यातित होता था तथा उनमें लगी हुई सारी पूँजी अमेरिका की थी। हवाई के कभी के सरल आदिवासी अमेरिकी रंग में तेजी से रंगते जा रहे थे। यही नहीं कालान्तर में हवाई द्वीपसमूह जुआ, मद्यपान तथा रंगरेलियों की दुनिया में सबसे कुख्यात अड्डों में शुमार होने लगा। 1891 में यहाँ की रानी लिलिपुकलानी ने अपने देशवासियों की इस अमेरिकीकरण की प्रव त्ति को रोकना चाहा। अमेरिकी हितों के लिए खतरा उत्पन्न होते देखकर रानी को गद्दी से उतरवा दिया गया। 1898 में हवाई द्वीप समूह को संयुक्त राज्य अमेरिका में मिला लिया गया।

साम्राज्यवाद का संक्षिप्त मूल्यांकनः नव-साम्राज्यवाद अहितकर और हितकर-दोनों साबित हुआ। साम्राज्यवादी शक्तियों ने अधिनस्थ उपनिवेशों का राजनीतिक एवं आर्थिक शोषण अवश्य किया किन्तु साम्राज्यवाद के कारण अविकसित उपनिवेशों में क्रान्तिकारी परिवर्तन भी हुए। इन देशों में साम्राज्यवादियों ने शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात एवं संचार साधनों, कृषि एवं उद्योग आदि क्षेत्रों में आवश्यक सुधार एवं वैज्ञानिक तरीकों का इस्तेमाल करके उन्हें प्रगतिशील एवं समुन्नत बनाया। उपनिवेश के लोगों का सम्पर्क पश्चिम की समुन्नत सभ्यता एवं आधुनिक विचारधाराओं से हुआ और उन्होंने पश्चिमी संस्कृति की कला, शिक्षा, साहित्य, मनोरंजन, पोशाक, खान-पान, धर्म, प्रशासन आदि के प्रगतिशील तत्वों को अपना लिया। उपनिवेशों में व्याप्त सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक बुराईयों को भी कुछ साम्राज्यवादी प्रशासकों ने दूर करने का प्रयास किया। जैसे, भारत में अंग्रेज हुकुमरानों ने सती, बाल-विवाह, नर-बली, बाल-हत्या आदि बुराईयों को हटाने की कोशिश की। अफ्रीका में नर-मांस भक्षण और दास प्रथा जैसी बुराईयों को दूर करने का प्रयास किया। दूसरी ओर उपनिवेशों की सभ्यता-संस्कृति से पश्चिम के लोग भी प्रभावित हुए। पश्चिम के अनेक कलाकारों एवं साहित्यकारों ने उपनिवेशों के विभिन्न कलाओं एवं साहित्यों से प्रेरणा प्राप्त की। इतना ही नहीं ज्ञान-विज्ञान-दर्शन, भू-विज्ञान, रसायन शास्त्र, गणित, ज्योतिष, प्राणीशास्त्र, चिकित्सा विज्ञान आदि का ज्ञान भी प्राप्त किया। साम्राज्यवाद ने उपनिवेशों में राष्ट्रीयता, स्वतंत्रता एवं स्वशासन की भावना भी पैदा की जिसके चलते कालान्तर में वहाँ स्वतंत्रता-संग्राम शुरू हुए। एक अन्य द ष्टि से भी साम्राज्यवाद अहितकर साबित हुआ। साम्राज्यवादी लिप्सा ने विश्वशान्ति भंग की और लोगों को दो विश्व युद्धों का ताण्डव देखना पड़ा।

अध्याय-6
फ्रांस की क्रान्ति

सामाजिक कारणों पर चर्चा

1. फ्रांस की क्रांति में सामाजिक कारण महत्त्वपूर्ण थे। संपूर्ण समाज शोषक और शोषित दो वर्गों में विभक्त था तथा समाज का आधार धर्म, न्याय और समानता के स्थान पर अधर्म, अन्याय और असमानता था।
2. फ्रांस की महान् क्रांति फ्रांसीसी समाज की असमानता के विरूद्ध एक संघर्ष थी। फ्रांस का सम्पूर्ण समाज ऊंच और निम्न दो वर्गों में बँटा हुआ था। उच्च वर्ग में सामंत व पादरी आते थे जो कर व कर्त्तव्यों दोनों से मुक्त थे। दूसरा वर्ग जनसाधारण का था जिनके पास अधिकार तो कोई न था परन्तु करों का संपूर्ण बोझ इन्हीं पर था।
3. फ्रांस के उच्च वर्ग के पास फ्रांस की लगभग आधी भूमि थी और राज्य के प्रमुख महत्त्वपूर्ण पदों पर इनका अधिकार था। इसके विपरित जनसाधारण समस्त प्रकार के शोषण का शिकार बनता था और अपनी आय का अधिकांश भाग करों के रूप में अदा करना पड़ता था। इस प्रकार फ्रांस के समाज में भारी असमानता व्याप्त थी एवं निम्न वर्ग उच्च वर्ग को घ णा से देखता था और इनके अत्याचारों से क्षुब्ध था।
4. फ्रांस के क षकों की दशा बड़ी ही शोचनीय थी। यद्यपि क षक वर्ग फ्रांस का सबसे बड़ा वर्ग था परंतु उनका जीवन सर्वाधिक दयनीय था। उनमें से बहुतों की दशाएँ अर्धदासों जैसी थी। यह राजा, सामंतों व पादरियों को कर देते थे। राज्य कर की दर अनिश्चित होने के कारण राजकीय कर्मचारी इन पर तरह-तरह के अत्याचार करते थे। इसके अतिरिक्त क षकों को नजराना, भेंट व टोलटैक्स भी देना पड़ता था। इनके पास न तो रहने के लिए मकान था, न खाने के लिए अन्न और न ही पहनने के लिए वस्त्र।
5. शिल्पी भी जनसाधारण वर्ग में ही आते थे तथा इनकी भी दशा अत्यधिक दयनीय थी। यह लोग पूंजीपतियों की दया पर निर्भर करते थे। नगरों में शिल्पी-श्रेणियों के कारण परेशान थे। पूंजीपति वर्ग अपनी-अपनी श्रेणियों व निगमों के द्वारा व्यापार पर पूर्ण नियंत्रण रखता था। इन श्रेणियों के नियम बहुत कठोर थे और एक व्यवसाय करने वाला व्यक्ति दूसरा व्यवसाय नहीं कर सकता था जिसके कारण शिल्पियों और शिल्पों की अवनति प्रारंभ हो गई।
6. फ्रांसीसी समाज के उच्च वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण अंग था पादरी वर्ग। फ्रांसीसी चर्च का राज्य की भूमि के लगभग पांचवें भाग पर अधिकार था जिससे इसे बहुत आय होती थी। इसके अतिरिक्त चर्च बहुत से कर भी वसूल करता था, परंतु चर्च के उच्च पादरी अब धार्मिक कार्यों से विमुख होकर विलासी जीवन व्यतीत करने लगे थे। जनता के प्रति कर्त्तव्यों को पूरा करने अथवा जन कल्याणों में इनकी कोई अभिरूचि न बची थी। इसी कारण यह कर्त्तव्य विहीन चर्च जनता में अप्रिय होता जा रहा था और जनता में इनके प्रति असंतोष बढ़ता जा रहा था। वाल्टेयर जैसे विचारों ने इसी चर्च को अपनी आलोचना केन्द्र बनाया।
7. फ्रांस में प्रचलित सामंत प्रथा यूरोप के अन्य देशों से भिन्न थी। दूसरे देशों की भांति फ्रांस में सामंत अपनी जागीरों में नहीं रहते थे। इस प्रकार फ्रांस के सामंत आयरलैंड के समान अनुपस्थित भू-स्वामी थे जिन्हें अपने पर निर्भर किसानों की दशा की कोई चिंता न थी। जहाँ यूरोप के अन्य देशों में सामंत वर्ग सामाजिक और राजनैतिक द ष्टि से अत्याचारी था वहाँ इस वर्ग ने फ्रांस की 1789 की क्रांति को फ्रांसीसी समाज की असमानता के विरूद्ध एक संघर्ष कहा है।

आर्थिक कारणों पर चर्चा

1. 18वीं शताब्दी में फ्रांस की आर्थिक स्थिति अत्यंत शोचनीय हो गई थी। लुई चौदहवें की युद्ध प्रियता ने राजकोष को पूरी तरह खाली कर दिया था। उसके बाद लुई पन्द्रहवें की अयोग्यता के कारण फ्रांस का राष्ट्रीय ऋण भी बहुत बढ़ गया था। इसी समय फ्रांस ने अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम में भाग लिया जिससे यह ऋण बहुत बढ़ गया। लुई पन्द्रहवें के पश्चात् लुई सोलहवां फ्रांस का राजा बना। वह भी अपने पूर्वजों की भांति अपव्ययी था।
2. राज्य की आय की अपेक्षा व्यय कहीं अधिक थी। फलतः राष्ट्रीय ऋण की मात्रा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। बजट में प्रतिवर्ष करोड़ों रूपये का घाटा हो रहा था। लुई सोलहवें के शासन के प्रारम्भिक 12 वर्षों (1776-1778 ई०) में राष्ट्रीय ऋण में 60 करोड़ डालर की व द्धि हुई। इस घाटे को पूरा करने के लिए सरकार के पास कर लगाने के अतिरिक्त और कोई उपाय न था। जनता करों के बोझ से दबी जा रही थी तथा जनता का जो वर्ग अब तक ऋण देता आया था वह भी अब ऋण देने की स्थिति में नहीं था। इस स्थिति में निपटने के लिए एक तरीका हो सकता था और वह था फ्रांस की सम्पूर्ण जनता पर एक सामान्य कर। परंतु कुलीन अथवा सामंत वर्ग, जो कर देने की स्थिति में था, अपने भोग विलास में लिप्त था और स्थिति की गंभीरता को समझने व कर देने के लिए बिल्कुल ही तैयार न था।
3. फ्रांस की तत्कालीन कर प्रणाली भी दोषपूर्ण थी। पहली बात तो यह है कि समस्त करों का बोझ निम्न वर्ग के ऊपर था और उच्च वर्ग इनसे मुक्त था। दूसरी बात यह है कि विभिन्न प्रकार के कर थे जिनके बोझ से जनता दबी जा रही थी। फ्रांस में इस समय दो प्रकार के कर थे-प्रत्यक्ष कर एवं अप्रत्यक्ष कर। प्रत्यक्ष कर जागीर, व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं आय पर लगाये जाते थे।
4. यह कर प्रमुखतः समाज के धनी वर्ग पर थे, परंतु ये लोग इस कर से बच जाते थे एवं कुछ ही ऐसे थे जो इसको अदा करते थे। परिणामस्वरूप इस कर का बोझ भी निम्न वर्ग पर ही पड़ता था। अप्रत्यक्ष कर मुख्यतः शराब, तम्बाकू एवं नमक पर लिये जाने वाले कर थे।
5. कम्पनियाँ इन करों को वसूल करने का आश्वासन देती थी, परिणामस्वरूप यह कम्पनियों अमानवीय तरीके से कर वसूल करती थी। इन करों के अतिरिक्त निम्न वर्ग को सड़कों व पुलों के इस्तेमाल के लिए भी कर देना पड़ता था। इन्हें कई-कई सप्ताह तक इनके निर्माण के लिए श्रम सेवा भी करनी होती थी। इन्हें चर्च को धार्मिक कर भी देना होता था। इतना ही काफी नहीं था। क षकों को अपने जागीरदार को भूमि के किराये के अतिरिक्त अनाज, फल, सब्जियाँ, मुर्गी और अण्डे आदि तो देने ही होते थे परंतु साथ ही अनेक कार्य बेगार के रूप में करने होते थे। विभिन्न विवरणों से पता चलता है कि क षकों का सारा दिन तो इन्हीं कार्यों में बीत जाता था और अपने खेतों में कार्य करने के लिए उन्हें केवल रात्रि का थोड़ा सा ही समय मिल पाता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि फ्रांस के सामाजिक ढाँचे के समान कर व्यवस्था में भी सर्वत्र असमानता विद्यमान थी।
6. फ्रांस का व्यापार व वाणिज्य भी पतन की ओर जा रहा था। फ्रांस में व्यापार के भिन्न-भिन्न नियम प्रचलित थे। मापतौल के साधनों में भी पर्याप्त भिन्नता थी एवं सिक्के भी विभिन्न प्रकार के चलते थे। एक स्थान का सिक्का दूसरे स्थान पर चलाया नहीं जा सकता था। जिससे व्यापार में काफी रूकावट आती थी। विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार की चुंगियाँ तथा टोलटैक्स देना पड़ता था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल ले जाने के लिए कई स्थानों पर चुंगी देनी पड़ती थी।
7. कारीगरों के संघ स्थापित थे। इन संघों द्वारा मजदूरों का बुरी तरह शोषण किया जाता था। मजदूरों को इतना कम वेतन प्राप्त होता था कि वे अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण भी नहीं कर सकते थे। उन्हें उन संघों को छोड़ने का अधिकार नहीं था और न ही वे अधिक वेतन की माँग ही कर सकते थे। फ्रांस की व्यापारिक स्थिति अत्यधिक शोचनीय हो चुकी थी। उत्पादन छोटे पैमाने पर किया जाता था जिससे राज्य को बहुत कम आय होती थी।
8. लुई 16वें के समय में आर्थिक संकट इतना गंभीर हो गया था कि उसने उसको सुलझाने के लिए कुछ प्रयत्न किये उसने स्थिति को नियंत्रण में रखने के लिए योग्य अर्थ-मंत्रियों की नियुक्ति की। उसने सर्वप्रथम तुर्गो को प्रधानमंत्री नियुक्त किया। तुर्गी एक योग्य व अनुभवी व्यक्ति था एवं एक अच्छा अर्थशास्त्री था। उसने कई योजनाएं बनाई जिनके माध्यम से वह फ्रांस की बिगड़ती हुई आर्थिक दशा पर काबू करना चाहता था। उसके अनुसार फ्रांस की वित्तीय दशा सुधारने का सर्वोत्तम उपाय मितव्ययता था।

9. उसकी अर्थनीति उद्योग के लिए अधिकाधिक स्वतंत्रता तथा प्रतिबंधों एवं नियंत्रणों के अंत कर देने पर आधारित थी। अपनी नीति को कार्यान्वित करने के लिए उसने सर्वप्रथम राजदरबार के खर्चों में कटौती करना आरंभ किया। कुछ निरर्थक व्यक्तियों की पेंशन समाप्त कर दी गई और कुछ की राशि बहुत घटा दी गई। राज्य अर्थ भार को कम करने के लिए उसने एक कर लगाया, जिसको सब भूस्वामी समान रूप से अदा करेंगे। उसके लिए इस प्रस्ताव से कुलीन वर्ग रूष्ट हुआ और उसने रानी के माध्यम से राजा पर तुर्गों को पद से हटाने के लिए दबाव डाला। फलतः रानी और सामंतों के प्रभाव से लुई सोलहवें ने तुर्गों को पदच्युत कर दिया, यद्यपि वह मन से यह महसूस करता था कि जो कुछ भी तुर्गों कर रहा है। वह अनुचित नहीं है।

10. तुर्गों के पश्चात् नेकर को अर्थमंत्री के पद पर नियुक्त किया गया। उसने भी तुर्गों की ही नीति को अपनाते हुए राज्य के अनावश्यक खर्चों को कम करने और मितव्ययता का प्रस्ताव रखा। उसने एक रिपोर्ट भी प्रकाशित कराई जिसमें उन समस्त पदों का उल्लेख किया जिनमें राज्य का धन अपव्यय होता था। फलस्वरूप उसे भी तुर्गों के समान सामंतों के दबाव के सामने झुककर नेकर को उसके पद से हटाने के लिए बाध्य होना पड़ा।

11. इसके पश्चात् कैलोन नामक व्यक्ति को वित्तमंत्री के पद पर नियुक्त किया गया। वह कुलीन वर्ग की विचारधारा का ही प्रतिनिधित्व करता था और इसलिए उसने सबको प्रसन्न करने की नीति का पालन किया। उसने अधिकाधिक ऋण लेने की नीति का पालन किया और प्राप्त धन को पानी की तरह बहाया। परिणामस्वरूप फ्रांस के ऊपर 3 वर्ष के अल्प समय में ही 30 करोड़ डालर का ऋण हो गया। परंतु अगस्त 1786 ई० में उसे यह पता चला कि ऐसा कोई मूर्ख नहीं बचा जो ऋण देऽसके तथा राजकोष रिक्त हैं। तब उसने भी एक समानरूप में कर लगाने का प्रस्ताव रखा। परिणामस्वरूप उसे भी अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा।

12. एक के बाद एक अर्थमंत्री बुलाए जाते रहे और सभी को इस कारण अपने पद से त्याग पत्र देना पड़ा क्योंकि सभी फ्रांस के तत्कालीन आर्थिक संकट के समाधान के लिए एक समान कर लगाये जाने को आवश्यक समझते थे। परंतु विशेषाधिकार युक्त वर्ग परिस्थितियों की गंभीरता को समझ नहीं पा रहा था और स्वयं कोई भी कर देने के लिए तैयार नहीं था। पेरिस की संसद द्वारा भी नए करों का विरोध किए जाने पर राजा के सामने स्टेट्स जनरल का अधिवेशन बुलाए जाने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं बचा। 7 मई 1789 में स्टेट्स जनरल का अधिवेशन बुलाया जाना ही क्रांति के विस्फोट का प्रमुख कारण सिद्ध हुआ।

13. इस प्रकार फ्रांस की राज्य क्रांति का प्रमुख कारण आर्थिक ही था। यदि आर्थिक क्षेत्र में फ्रांस के द्वारा स्थिर व स्थाई नीति अपनाई गई होती तो फ्रांस की आर्थिक स्थिति इतनी खराब नहीं होती। न तो क षि और उद्योग के संबंध में और न ही नियति के संबंध में दूरदर्शिता के आधार पर नीतियाँ बनाई गई, जिसके कारण फ्रांस में आर्थिक स्थिति इतनी खराब नहीं थी। परन्तु पहली बात तो यह थी कि जितना उत्पादन हो सकता था उतना नहीं होता था। दूसरी बात यह है कि उद्योग अधिकतर धार्मिक वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित थे तथा तीसरी बात जिसने की आर्थिक संकट की स्थिति पैदा कर दी थी, वह यह थी कि राज्य की जितनी आय था, खर्च उससे कहीं अधिक थे। इन सब बातों ने मिलकर फ्रांस को आर्थिक रूप से दिवालिया कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप फ्रांस में राज्य क्रांति हुई।

फ्रांस की क्रान्ति : लुई 16वें का उत्तरदायित्व

1. **निरंकुशता व स्वेच्छाचारिता:** इस काल में यूरोप के सभी राज्यों में निरंकुशता व स्वेच्छाचारिता से युक्त शासन था। प्रायः सभी सम्राट स्वयं को प थ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे और अपनी इच्छा को ही सर्वोपरि समझकर निरंकुशतापूर्वक जनता की भावनाओं को कुचल देते थे। लुई 16वें भी यूरोप के अपने अन्य समकालीन शासकों के ही समान निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी था। परंतु वह साथ ही साथ अयोग्य भी था तथा शासकोचित्त गुणों का उसमें सर्वथा अभाव था। यदि वह योग्यतापूर्वक जनता के लाभ में शासन करता तो सम्भवतः जनता उसकी निरंकुशता व स्वेच्छाचारिता को बर्दाश्त कर लेती। परंतु उसने समय-समय पर अपने विभिन्न मूर्खतापूर्ण कार्यों के द्वारा यह भली-भांति स्पष्ट कर दिया था कि न तो उसमें एक योग्य शासक के गुण विद्यमान थे और न ही वह जनकल्याण के प्रति समर्पित था।

2. **दोषपूर्ण शासन प्रबंध:** लुई 16वें में प्रशासनिक योग्यता का सर्वथा अभाव था। वह एक अदूरदर्शी, अविवेकी और दुर्बल-बुद्धि व्यक्ति था। उसमे तत्कालीन, फ्रांस में व्याप्त अराजकता एवं प्रशासनिक कुव्यवस्था को दूर कर पाने की

क्षमता नहीं थी। सामंतों और पादरियों के हाथों की कठपुतली होने के कारण उसने प्रशासनिक व्यवस्था की ओर कभी कोई ध्यान नहीं दिया जिसके कारण फ्रांस की शासन व्यवस्था निरंतर शिथिल होती गई। उच्च पदाधिकारी अपने उत्तरदायित्व को भूलकर भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने लगे। चारों ओर घूसखोरी और भ्रष्टाचार फैल गया तथा नैतिकता का सर्वथा अंत हो गया। साधारण जनता भीषण कष्टों के कारण राज्य विरोधी हो गई और विद्रोही होकर उसने एक दिन फ्रांस में क्रान्ति का विस्फोट कर दिया।

3. **राजवंश का अपव्ययता:** राजा और रानी दोनों ही बड़े अपव्ययी थे। जिस समय भीषण अकाल के कारण फ्रांस की जनता भूखों मर रही थी उस समय राजा अपने दरबारियों के साथ बर्साय में भोग-विलास का जीवन व्यतीत कर रहा था। राजा सदैव भोग-विलास व आमोद-प्रमोद में ही लीन रहता था और उसे इस बात की तनिक भी चिंता नहीं थी कि उसके राज्य में क्या हो रहा है, प्रजा की हालत कैसी है और उसके अधिकारी क्या कर रहे हैं? जिस समय जनता दो वक्त की रोटी के लिए भी तरस रही थी। उस वक्त राजमहल में होने वाली दावतों और प्रीतिभोज को जनता ने अपने भूखे पेटों का अपमान समझा और राजमहल में होने वाले अपव्यय के कारण जनता उसे राष्ट्र की कब्र मानती थी।

4. **लुई 16वें सुधारों की असफलता:** लुई 16वें फ्रांस की दशा में सुधार करना चाहता था परंतु रानी के प्रभाव के कारण कुछ न कर सका। फिर भी उसने फ्रांस की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए कुछ प्रयत्न अवश्य किये। उसने तुर्गो व नेकर जैसे योग्य मंत्रियों को अर्थविभाग में नियुक्त किया जिससे वे फ्रांस की आर्थिक स्थिति को सुधारने के संबंध में अपने सुझाव दे सके। तुर्गो ने मितव्ययता, राज्य के अनावश्यक करों को समाप्त करने तथा सामंतों पर भी कर लगाने संबंधी प्रस्ताव रखा। यद्यपि लुई 16वां व्यक्तिगत रूप से यह अनुभव करता था कि तत्कालीन परिस्थितियों में उसके यह प्रस्ताव उपयोगी हैं, परंतु सामंतों के विरोध व रानी के प्रभाव के कारण उसने तुर्गो को पदच्युत कर दिया। इसी प्रकार नेरक जैसे दूरदर्शी एवं अनुभवी व्यक्ति को भी वित्तमंत्री के पद से हटा दिया गया। संभावना इस बात की है कि अगर लुई 16वें ने अपनी द ढ़ इच्छाशक्ति का परिचय देते हुए द ढ़तापूर्वक इन सुधारों को लागू करने का प्रयास किया होता तो फ्रांस में क्रान्ति का विस्फोट न होता।

5. **लुई 16वें में द ढ़ इच्छा शक्ति का अभाव:** लुई 16वें की सबसे बड़ी कमजोरी थी उसमें द ढ़ इच्छा शक्ति का अभाव। उसकी यह कमजोरी उसके लिए तो घातक सिद्ध हुई ही साथ ही फ्रांस के लिए भी घातक सिद्ध हुई। अपनी इसी कमजोरी के कारण उसने समय-समय पर बहुत सारे ऐसे कार्य किए जिसके कारण उसने जनता के मन में संदेह के बीज बो दिए। समय-समय पर वह ऐसे आदेश देता था जो जनता के हित में होते थे, परंतु जब कभी वह अपने आदेशों में परिवर्तन करता था या व्यवस्थापिका के निर्णय को अपने निषेधाधिकार के द्वारा रद्द करता था तो वह जनता के संदेह के दायरे में आ जाता था।

फ्रांस की क्रान्ति : बौद्धिक प ष्ठभूमि

फ्रांस की क्रान्ति से पूर्व का साहित्य असंतोष, क्रोध और आकांक्षाओं की व्यापक अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ सुधारों का उग्र एवं भावुक समर्थक था। फ्रांस के अनेक विचारकों ने तत्कालीन फ्रांसीसी समाज, राजनीति व राष्ट्रीय वित्त की दूषित अवस्था पर उपयुक्त परंतु कटु आलोचनात्मक लेख लिखे। इन्होंने पुरातन विश्वासों एवं विचारों के ऊपर प्रश्नचिन्ह लगाये और जिन म तप्राय एवं जर्जर सिद्धान्तों पर फ्रांस का ढांचा खड़ा हुआ था उनका खण्डन भी किया और उपहास भी उड़ाया। उन्होंने समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रात त्व का संदेश जनता तक पहुँचाया और उनमें नया विश्वास, नई स्फूर्ति और चेतना जाग्रत की।

वास्तविक क्रान्ति से पहले फ्रांस में एक बौद्धिक क्रान्ति हो चुकी थी। फ्रांस की स्थितियों का विश्लेषण करके, कुछ संस्थाओं की निरर्थकता दिखाकर उन पर व्यंग्य करने वाले लोग फ्रांस में पैदा हो रहे थे। भयास्थिति से असंतोष बढ़ गया था। अब परिवर्तन की बात सोची जाने लगी थी। उस परिवर्तन की रूपरेखाा स्पष्ट नहीं थी, न ही उसे करने का कोई निश्चित कार्यक्रम था। लेकिन यह अवश्यक हुआ कि कुछ लेखकों ने मिलकर ऐसी मानसिकता तो बना ही दी कि फ्रांस में जो वह अपर्याप्त या त्रुटिपूर्ण है। उसमें सुधार होना चाहिए और वह हो सकता है। ऐसा वातावरण तैयार करने का श्रेय कुछ व्यक्तियों को है जिन्हें दार्शनिक कहकर पुकारा जाता है।

इस युग के क्रान्तिकारी विचारकों में मांटेस्क्यू का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उसे पहला राजनीतिशास्त्री कहा जाता है। उसने पहली बार राज्य तथा राजा एवं व्यक्ति के संबंधों का विश्लेषण किया। उसकी विशेषता यह थी कि उसने तत्कालीन व्यवस्था की कमियों की आलोचना ही नहीं की वरन् विकल्प भी सुझाये।

धर्म से कैथोलिक, सैद्धान्तिक रूप से राजतंत्रवादी व विचारों से उदारवादी था। वह उग्र क्रान्तिकारी विचारों का समर्थक न था। वह इंग्लैण्ड की शासन पद्धति को उच्च समझता था। वहाँ की शासन प्रणाली का समर्थन करते हुए उसने कहा कि वहाँ के शासन में नागरिकों की स्वतंत्रता सुरक्षित है। उसकी सबसे पहली पुस्तक यात्रियों के पत्र के नाम से छपी जिसमें उसने तत्कालीन समाज की आलोचना की और दरबार में व्याप्त भ्रष्टाचार और सामंतों की घोर निंदा की। इसके पश्चात् उसकी प्रसिद्ध पुस्तक कानून की आत्मा प्रकाशित हुई जिसमें उसने राज्य की सत्ता को समझाया। इसकी पुस्तक में उसने सत्ता के तीन कार्य निर्धारित किये हैं-कानून बनाना (व्यवस्थापिका), कानून लागू करना (कार्यपालिका) और कानून की परिभाषा करना (न्यायपालिका)। यही विभाजन उसके शक्ति विभाजन सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। जिसमें उसने यह विचार व्यक्त किया है कि जब तक यह तीनों कार्य एक व्यक्ति या संस्था द्वारा सम्पन्न किये जायेंगे, समाज में न्याय नहीं होगा।

मांटेस्क्यू ने न तो क्रान्ति की ही बात की और न ही फ्रांस के शासन की स्पष्ट शब्दों में आलोचना ही की, परंतु उसका शक्ति प थक्करण सिद्धान्त फ्रांस के शासन की परोक्ष आलोचना करता है। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि उसकी आलोचना फ्रांसीसी शासन व्यवस्था पर प्रहार थी। मांटेस्क्यू के सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव फ्रांस की 1791 की राष्ट्रीय सभा पर पड़ा जबकि उसमें नए विधान में इन तीनों विभागो को अलग-अलग रखा। उसके विचारों ने फ्रांस के साथ-साथ अन्यत्र स्थानों पर भी जागरूकता उत्पन्न की और शिक्षित जनसमुदाय की राजनीति व शासन प्रणाली से नीरस विषयों में अभिरूचि उत्पन्न की।

वाल्टेयर फ्रांस के बौद्धिक आंदोलन का युग निर्माता था और इसी कारण वह जनसाधारण में राजा वाल्टेयर के नाम से प्रसिद्ध था। इतिहासकार होने के साथ-साथ वह एक अच्छा साहित्यकार भी था। उसने अपने गद्य, पद्य, इतिहास, नाटक और उपन्यास के माध्यम से तत्कालीन भ्रष्ट तंत्र पर कटु प्रहार किया तथा अपनी व जनसाधारण की भाषा में दार्शनिक आंदोलन को जनसाधारण तक पहुँचाया। वह स्वयं भी अपने समय की अन्यायी असमानता का शिकार बनकर कई बार कारागार में दण्ड भोग चुका था। अपने कटु व्यंग्य एवं अपने युग अत्याचारी व धर्मान्धता पर भीषण प्रहार करने के कारण अधिकारी वर्ग उसका कट्टर विरोधी हो गया था।

वाल्टेयर ने यद्यपि सामन्त, दरबार, चर्च आदि किसी को भी नहीं बक्शा, परंतु अंधविश्वास व चर्च की भ्रष्टता उसकी आलोचना का सर्वप्रमुख शिकार था। चर्च को वह पशुता का प्रतीक मानता था। उसे वह बदनाम वस्तु कहकर पुकारता था। उसने पादरियों के भ्रष्ट जीवन, ढोंग व अंधविश्वासों का खुलकर विरोध किया उसकी यह मान्यता थी कि चर्च अंधविश्वासों का गढ़ व विचारों की स्वतंत्रता का दुश्मन है तथा अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए जनता को तरह-तरह के भ्रम में डाले हुए हैं।

चर्च के दोनों ही अंगों कैथोलिक व प्रोटेस्टेंट से उसे समान घ णा थी और वह कहा करता था कि अब तो कोई ईसाई बचा ही नहीं क्योंकि एक ही ईसाई था और उसे सलीब पर चढ़ा दिया गया है। वाल्टेयर के इन विचारों के आधार पर यह समझ लेना कि उसकी ईश्वर में कोई आस्था न थी, भूल होगी। उसने ईश्वर की सत्ता में पूर्ण विश्वास रखते हुए चर्च पर प्रहार किया क्योंकि वह यह कहा करता था कि, "यदि ईश्वर विद्यमान नहीं है तो हमें उसका आविष्कार करना होगा।"

वह फ्रांस के संवैधानिक राजतंत्र से बहुत प्रभावित था और फ्रांस को उसके अनुकूल ले चलने की सलाह देता था। राजनीति के क्षेत्र में वह लोकतांत्रिक प्रणाली का समर्थक नहीं था क्योंकि वह कहा करता था कि मैं सौ चूहों के स्थान पर एक सिंह का शासन अधिक पसंद करता हूँ। उसके विचारों से ऐसा लगता है कि वह संस्था के रूप में राजतंत्र से सतुष्ट था। वह प्रगतिशील राजतंत्र का पक्षपाती था।

वाल्टेयर ने तो कोई राजनीतिक विचारक था, न ही उसने क्रान्ति की ही बात की और न ही कोई विकल्प सुझाया। उसने तो तत्कालीन प्रशासन व व्यवस्था में व्याप्त बुराईयों पर तीखा प्रहार करके जनता के विवेक को उकसाया। उसने तर्क की उपयोगिता बताई और पुरातन व्यवस्था के सबसे शक्तिशाली आधारों पर भी प्रहार करके लोगों की तटस्थता और निर्लिप्तता तोड़ दी। वाल्टेयर ने स्वतंत्रता को सर्वाधिक महत्त्व दिया। विचार स्वतंत्रता के लिए जो उस समय के फ्रांस में संभव ही नहीं था, प ष्ठभूमि बनाई। स्थिति अपरिवर्तनीय है, यह भ्रम उसने तोड़ दिया।

इस युग के दार्शनिकों में फ्रांस की जनता पर रूसों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था। रूसों के विषय में नेपोलियन बोनापार्ट ने एक बार कहा था कि यदि फ्रांस में रूसों का जन्म न हुआ होता तो फ्रांस में क्रान्ति न होती। रूस को फ्रांस की क्रान्ति का जनक कहा जाता है। फ्रांस के दार्शनिकों में उसका प्रमुख स्थान था। रूसो के विचार से उस समय के प्रचलित तर्कवादी सिद्धान्त के विरूद्ध थे। इसी कारण वह दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हो सका। वाल्टेयर व मांटेस्क्यू वर्तमान व्यवस्था में सुधार करना चाहते थे, जबकि रूसो इनके विपरीत भविष्यद्रष्टा था। वह समाज को नये आधार एवं नयी मान्यताओं पर पुनर्गठन करना चाहता था। इसका कारण यह था कि वह यह मानता था कि इस व्यवस्था में कितने ही पाबंद लगाये जाए यह अधिक समय तक नहीं चल सकेगी, क्योंकि इसमें मनुष्य के स्वतंत्र होने की संभावनायें नहीं है।

रूसो ने कई पुस्तकें लिखी जिसमें एक थी एमिली जिसमें उसने प्रक ति व व्यक्ति की नैसर्गिक अच्छाइयों को सराहा। रूसो का यह विचार था कि मूलतः तो मासून व गुणवान था परंतु ज्यों-ज्यों सम्पत्ति और संस्थाओं के बंधन में बंधता गया। त्यों-त्यों कुटिल होता गया। इसीलिए उसका विचार था कि मनुष्य को अपने नैसर्गिक विकास का अवसर मिलना चाहिए।

रूसोनी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी। इसमें उसने लिखा है कि प्रक ति ने मनुष्य को स्वभाव से भला, न्यायशील और सुखी बनाया है। प्रारंभिक मनुष्य प्रक ति की अवस्था में रहता था, परंतु जिसे हम सभ्यता कहते हैं उसने उसे भ्रष्ट और पतित कर दिया। एक समझौते के द्वारा राज्य का जन्म हुआ ताकि धनिकों की सम्पत्ति की रक्षा हो सके। उसने उस परम्परागत समझौते में परिवर्तन करने की बात कही। रूसों को परम्पराओं से कोई लगाव न था। वह यह मानता था कि जनसामान्य की इच्छा सार्वभौम होती है। परंतु यह भी मानना था कि ऐसा हो नहीं पाता क्योंकि व्यक्ति पैदा होता है, लेकिन सर्वत्र जंजीरों में बंधा होता है।

उसने इन बंधनों से मुक्ति का तरीका भी सुझाया। उसने प्रक ति की ओर वापस लौट जाने और नये समझौते की बात कही। उसका विचार था कि पुनः प्राक तिक दशा में लौट जाना ही मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है।

रूसो न तो क्रान्तिकारी था और न ही उसने क्रान्ति की बात की। उसने सभी व्यक्तियों को स्वतंत्र और समान माना और मानव स्वतंत्रता में आस्था प्रकट की। फ्रांसीसी क्रान्ति के समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रात त्व के नारे उसी के विचारों से प्रभावित दिखाई पड़ता है। उसने अपने तेजस्वी विचारों से फ्रांस के जनमानस के हृदय में आत्मविश्वास के भाव जाग त किए और उसे महानिद्रा से जगाया।

फ्रांस के इन तीन महान दार्शनिकों के अतिरिक्त भी फ्रांस के विचारकों का एक ऐसा समूह था जिन्होंने अपने मौलिक विचारों से शिक्षित समुदाय के विचारों को पराजित किया। इन विचारकों को दो वर्गों में बाँटा जाता है-

1. इन विचारकों का एक ऐसा वर्ग था जिसने राजनीति समाज आदि विषयों पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये। इन विचारकों में प्रमुख था दिदरो, जिसने अपने प्रमुख सहयोगी दालाबर की मदद से एक विश्व को संकलित किया। इन्होंने विभिन्न विषयों का अधिकाधिक वर्णन और आलोचना प्रस्तुत की। इन्होंने अपने लेखों में तत्कालीन समस्याओं को स्वीकारा तो, परन्तु ज्यों का त्यों नहीं। इन्होंने नयी परिभाषाओं और नये विश्लेषण करके रूढ़िवादी विश्वासों पर प्रहार किया। इनके विचारों से फ्रांस तथा संपूर्ण यूरोप प्रभावित हुआ। 17 भाग में प्रकाशित इस कोष पर फ्रांस की सरकार ने अनेक प्रतिबंध लगाये, परंतु इसका निरंतर प्रकाशन होता रहा और यूरोप की सभी भाषाओं में इनका अनुवाद भी हुआ।
2. विचारकों का दूसरा वर्ग एक ऐसा वर्ग था जिसने अपना ध्यान फ्रांस में व्याप्त आर्थिक अव्यवस्था और उसके विश्लेषण पर केन्द्रित किया। इन्होंने आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन किया और ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो इनके विचार में आर्थिक क्षेत्र में क्रान्ति ला सकते थे। इन्होंने विशेषाधिकारों और प्रतिबंधों दोनों को ही हटाकर उन्मुक्त विचारों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन्होंने उद्योग एवं व्यवसाय को महत्त्व न देते हुए भूमि को एक मात्र उत्पादक तत्व बताया।

धरती से संबंधित क षि, जंगल और खनिज पदार्थों को ही उत्पादन का साधन और धन का स्त्रोत माना। इन्होंने भी राज्य की अवरोधी पकड़ की निंदा की। इस प्रकार अब तक जो निंदा राजनैतिक और सामाजिक अव्यवस्था के साथ हो रही थी वही आर्थिक क्षेत्र में भी होने लगी और ऐसा लगने लगा कि मध्यम वर्ग अपने अधिकारों के लिए प्रत्यक्ष क्षेत्र में लड़ रहा था। इन

विचारकों में तुर्गों (क) और क्वेसने (ख) प्रमुख थे, जो प्रतिबंधों की समाप्ति और कर व्यवस्था का सरलीकरण राज्य के महत्त्वपूर्ण दायित्व मानते थे।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति पर दार्शनिकों के प्रभाव के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि क्रान्ति को इन दार्शनिकों की कोई महत्त्वपूर्ण देन नहीं थी। जबकि कुछ अन्य यह मानते हैं कि उनके बिना फ्रांस में क्रान्ति संभव नहीं थी। वास्तविकता इन दोनों मतों के बीच है। क्रान्ति का कारण दार्शनिक नहीं थे वरन् राष्ट्रीय जीवन की बुराइयां तथा परिस्थितियां एवं सरकार की गल्तियां थी। वे क्रान्ति को लाये नहीं परंतु उन्होंने कमियों को उजागर किया, उन पर लोगों का ध्यान केन्द्रित किया और जनभावनाओं को उद्वेलित किया। "इन तीन प्रतिभाशाली व्यक्तियों (मांटेस्क्यू, वाल्टेयर, रूसो) द्वारा बोये गये बीज उर्वरक भूमि पर गिरे। फ्रांस की क्रान्ति के अरूणोदय पर जो व्यवस्था थी वह यद्यपि स्पष्ट नहीं थी परंतु घोर असंतोष का द्योतक तो अवश्य थी। मानव की जन्मजात महानता और तत्कालीन समाज के प्रति घोर घ णा उस युग के विचारों में ओत प्रोत थी। लगभग सारे यूरोप में सूक्ष्मदर्शियों ने भावी परिवर्तन के लक्षण देखे।

दार्शनिकों के क्रान्ति पर प्रभाव को सही प्रकार समझने के लिए हमें अच्छी प्रकार समझा लेना चाहिए कि इनमें से किसी दार्शनिक ने न तो क्रान्ति की कोई बात की और न ही क्रान्तिकारी कार्यक्रम की रूपरेखा ही बनायी।

इन दार्शनिकों ने पुरातन व्यवस्था एवं अंधविश्वासों का उपहास उड़ाया और जनता को नई दिशा में सोचने को बाध्य किया। इन्होंने क्रान्तिकारी कार्यक्रम की रूपरेखा नहीं रखी परंतु क्रान्ति की प ष्ठभूमि अवश्य तैयार की। इन दार्शनिकों का क्रान्तिकाल पूर्व प्रमुख नेताओं जैसे राब्सपियर, मारा, दाता आदि पर विशेष प्रभाव था जो समय-समय पर अपने भाषणों में इनके विचारों को व्यक्त करते थे। इन दार्शनिकों का महत्त्व इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि क्रान्ति के बाद जो भी संवैधानिक परिवर्तन फ्रांस में किए गये उनमें इन दार्शनिकों के विचार और योजनाएं स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

फ्रांस की क्रान्ति की प्रक ति

कुलीन वर्ग लुई की निरंकुशता को समाप्त कर अपनी प्रभुता को स्थापित करना चाहता था। एस्टेट्स जनरल का अधिवेशन कुलीनवर्गीय क्रान्ति का सूचक था और कुलीन वर्ग न किंचित् उदारता का परिचय देते हुए जागरूक मध्यम वर्ग के साथ समझौता करने की कोशिश की होती तो सम्भवतः उनकी सफलता स्थायी हो सकती थी।

लेकिन ऐसा न करके उन्होंने राजतंत्र के साथ मिलकर मध्यम वर्ग को कुचलना चाहा और इस चेष्टा ने क्रान्ति के दूसरे चरण के मध्यमवर्गीय क्रान्ति को आरंभ किया। कुलीन वर्ग के विरूद्ध मध्यम वर्ग की सफलता का रहस्य इस बात में निहित है कि जब भी उनकी स्थिति नाजुक व संकटमय होती, पेरिस की साधारण शहरी जनता, जो उग्र क्रान्तिकारी थी आर्थिक कारणों से उत्तेजित होकर उनकी तरफ से राजनीति में हस्तक्षेप करके पासा पलट देती थी। जुलाई-अक्टूबर 1789 में उसने ऐसी ही किया। ऐसा करते समय उसका उद्देश्य एक पूर्ण एवं वास्तविक क्रान्ति लाना था। जब मध्यमवर्गीय नेत त्व इस कार्य के करने में असमर्थ सिद्ध होने लगा तो सारी जनता ने उग्र मध्यमवर्गीय तत्त्वों के साथ मिलकर क्रान्ति का तीसरा दौर आरंभ किया-आतंक व हिंसा का दौर।

लेकिन फ्रांस की जनता एवं मध्यम वर्ग का बहुमत दीर्घकाल तक इस आतंक को सहन करने के लिए तैयार न था और एक बार पुनः क्रान्ति मध्यम वर्ग के नेत त्व में चली गई। इस प्रकार अपने दस वर्ष के इतिहास में फ्रेंच क्रान्ति की प्रक ति चंचल रही और उसने अनेक रूप धारण किये।

फ्रांस में ही क्रान्ति क्यों

कारण

फ्रांसीसी किसान जर्मन व रूस के किसान की अपेक्षा अधिक स्वाधीन, सम्पत्तिशाली, एवं शिक्षित था। अतः उन्होंने जागीरदारों के विशेषाधिकारों की आलोचना की।

फ्रांस का मध्यम वर्ग बुद्धिजीवी था। अतः वह राज्य द्वारा थोपी गई असमानता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। फ्रांस के इस जाग त मध्यम वर्ग ने क्रान्ति के आरंभिक काल में श्रमजीवियों एवं क षकों को नेत त्व प्रदान किया।

फ्रांसीसी जनता अन्य देशों की तुलना में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिक आस्वादन कर चुकी थी तथा राजनैतिक स्वतंत्रता एवं सामाजिक समानता के लिए संघर्ष करने को तैयार थी।

फ्रांस के शासक राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे; किंतु वे अत्यधिक अयोग्य थे। वस्तुतः फ्रांस का राजतंत्रवाद यूरोप में अयोग्यतम था।

इंग्लैण्ड व अमेरिका की क्रान्तियों से फ्रांस सबसे अधिक प्रभावित था।

फ्रांस में सामाजिक वर्ग का विभाजन अन्य देशों की तुलना में अधिक कठोर था।

फ्रांस की शक्तियों का पूर्ण केन्द्रीयकरण था। अतः जब क्रान्तिकारी सेनाओं ने पेरिस पर अधिकार कर लिया तो शासन पूर्णतः उनके हाथ में आ गया, अन्य देशों में प्रशासकीय केन्द्रीयकरण फ्रांस की तुलना में कम था।

विश्लेषण

फ्रांस अन्य देशों की अपेक्षा काफी अच्छी स्थिति में था। मुख्यतः फ्रांस के सामाजिक जीवन की अनेकपक्षीय दशाओं के कारण ही यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा फ्रांस में क्रान्ति फैली।

फ्रांस के मध्यम वर्ग अन्य यूरोपीय राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक धनी व अधिक शिक्षित व समाज के उच्च वर्गों से अधिक शिक्षित व समाज के उच्च वर्गों से अधिक निकट संपर्क युक्त तथा अपनी जीवन शैली में सामंत वर्ग के बहुत कम भिन्न एवं उन से बड़ी तीव्रता से परिचित थे जिनके कारण वे राजनैतिक प्रभावों व सम्मानों से वंचित थे।

इसके अतिरिक्त अन्य देशों में जैसे रूस, जर्मनी, डेन्मार्क, हंगरी, जहाँ क षकों को सामंती दासताओं ने बुरी तरह दबा रखा था, ये समानता और स्वतंत्रता के विचारों को ग्रहण करने में बहुत पीछे थे। इसके विपरीत फ्रांस में प्रत्येक भूमिधारी क षक स्वयं को भूमि का स्वामी समझता था जिसे वह अपने माथे का पसीना गिराकर प्राप्त करता था।

इसके अतिरिक्त फ्रांस में अज्ञानी व धर्मसत्ताधारी सामंत प्रांतों की ओर जितना उपेक्षापूर्ण व्यवहार करते थे, उतना अन्यत्र कहीं नहीं था।

क्रान्ति के स्थायीकरण तो राज्यशासन की वे त्रुटियां और शासन व्यवस्था की कठिनाइयाँ थी जो लुई चतुर्दश के समय से जनसाधारण में असंतोष व विरोध की भावना उत्पन्न कर रही थी। फ्रांस की बढ़ती हुई वित्तीय अव्यवस्था ने इस असंतोष की आग को उत्तेजित करने में घी का काम किया और शासन में सुधार और परिवर्तन को अनिवार्य कर दिया।

वस्तुतः क्रान्ति के वास्तविक स्थाई कारण तो शासन और सामाजिक व्यवस्था के दोष थे, परंतु इसके फलस्वरूप असंतोष की जो आग फैली उसको प्रज्जवलित करने में "फिलासाफ" साहित्य का काफी हाथ था। फ्रांस के समालोचक वर्ग ने जनसाधारण के असंतोष की प्रमाणिक व्याख्या, सतर्क विवेचना और दार्शनिक प्रतिपादन किया। जो सबके मन में था, पर कोई साफ-साफ व ठीक ढंग से कह न सकता था, उसे उन्होंने तर्क और सिद्धान्त का रूप देकर देश के सामने रखा। यही नहीं वरन् उन्होंने उसकी वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारधारा के आधार पर विवेचना करके यह भी बतलाया कि नए युग के विधान की रचना किन नियमों पर आधारित होनी चाहिए। उन्होंने तर्क और युक्ति से जनसाधारण को ही नहीं वरन् कुलीनों, दरबारियों और पादरियों को भी, बहुत परिवर्तन को समर्थक बना दिया।

इस विचार के विकास में इंग्लैण्ड का बहुत बड़ा हाथ था। विज्ञान में न्यूटन राजनीति में हाब्स तथा लश्क और सामान्य चिंतन में वहाँ के परिमित शासन विधान के प्रति श्रद्धा व वहाँ के सहिष्णु स्वतंत्र वातावरण का आदर इस नवीन फ्रेंच साहित्य के विकास में प्रबल सहायक सिद्ध हुए।

इसी प्रकार अमेरिका के स्वातंत्र्य युद्ध का प्रभाव भी क्रान्ति की भावना को पुष्ट करने में सहायक सिद्ध हुआ। इस युद्ध के कारण फ्रांस की वित्तीय व्यवस्था और अधिक बिगड़ गई और जो फ्रेंच सिपाही और अफसर सहायतार्थ अमेरिका गए थे, इस प्रकार फ्रेंच क्रान्ति की प ष्ठभूमि की रचना हुई।

फ्रांस की क्रान्ति की अनिवार्यता

फ्रांस के तत्कालीन इतिहास के अध्ययन से यही ज्ञात होता है कि वस्तुतः 1779 में फ्रांस क्रान्ति का होना अनिवार्य हो गया था। लुई 16वें के अधिकार असीमित थे। निस्संदेह वह हृदय से देश और प्रजा का भला चाहता था तथा मितव्ययी, प्रिय तथा सहृदय था, परंतु यह भी सत्य है कि उसके चरित्र में निश्चय, द ढ़ता, दूरदर्शिता की कमियां थी जिससे वह एक निरकुंश शासक और संकट के देश का नेता होने के सर्वथा अयोग्य था। वह राज्य की परम्परा का शिकार बना हुआ था और उसमें वह

चरित्रबल और बुद्धिमत्ता न थी जो उसे क्रान्ति के उमड़ते हुए संकटों से बचा सकती। उसमें शिक्षा और अनुभव की कमी थी। उसके सलाहकार भी योग्य न थे। उसकी रानी, उसके भाई तथा उसके मंत्री सभी उसकी लोकप्रियता में रोड़े थे। अतः इसमें कोई संदेह नहीं था कि वह क्रान्ति पर नियंत्रण स्थापित करने के योग्य नहीं था।

फ्रांस में न तो शांतिपूर्ण साधनों द्वारा राजनीतिक परिवर्तन के कोई साधनों से सुधार करने की कोई परम्परा ही संवद्धित हो पाई थी। निरंकुश राजतंत्र को नियंत्रित करने के लिए वहाँ कोई जन परिषद न थी और वहाँ का चर्च और कुलीन, जनसाधारण को क्रान्ति के अतिरिक्त कोई ऐसे साधन उपलब्ध न थे जिनके द्वारा समाज व शासन में सुधार कर सकते।

जब तक वे इस जोर से निराश और उदासीन रहे, उस समय तक सारे कार्य साधारण रीति से चलते रहे। किंतु जब समकालीन बौद्धिक आंदोलन के कारण, उनके विचार उत्तेजित हो गये और सुधार की आकांक्षाएँ प्रबल हो गई तो क्रान्ति का होना अनिवार्य हो गया। जनमत एक ऐसी प्रबल शक्ति है कि कभी न कभी यह फलीभूत हुए बिना नहीं रह सकती।

तत्कालीन परिस्थितियाँ भी क्रान्ति के अनुकूल थी। अमेरिका की स्वतंत्रता, इंग्लैण्ड के उदारशासन के प्रति फ्रेंच नागरिकों की श्रद्धा, प्रबुद्ध राजत्व और सर्वोपरि आर्थिक संकट द्वारा प्रदर्शित फ्रेंच राजत्व की निष्फलता ऐसी बात थी जिनके कारण फ्रांस में तत्काल सुधार और परिवर्तन की आकांक्षाएं उग्र हो गई थी।

संविधान परिषद के कार्यों की समीक्षा

इसमें संदेह नहीं कि संविधान परिषद् के कार्यों ने फ्रांस की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्थितियों में सुधार लाकर अराजक परिस्थिति को दूर करने का प्रयास किया पर उसके सारे कार्य अच्छे नहीं माने जा सकते। राष्ट्रीयता तथा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बहुत सी समस्याएं बिना सुलझाए छोड़ दी गई। उसने प्रशासन की सारी व्यवस्था नष्ट कर दी थी तथा भीड़शाही के लिए रास्ता खोल दिया था। इसके कारण लोगों ने धर्म में आस्था रखना छोड़ दिया। परिषद ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की भी अवहेलना की।

संविधान परिषद ने सामंतवाद का अंत कर क षकों को राहत देने का प्रयास किया था पर उसके बुरे परिणाम निकले। क षकों के उपद्रव होने पर सामंतवादी पद्धति का उन्मूलन हुआ था। सामंतवादी की परिसमाप्ति के बाद उनके उपद्रव घटने की अपेक्षा और भी बढ़ गए। क षकों ने यह सोचना प्रारंभ किया कि उन पर नियंत्रण रखने वाला अब कोई नहीं है। ऐसी स्थिति में फ्रांस में अराजकता का दौर चलता रहा।

समीक्षकों का कहना है कि मानव अधिकारों की घोषणा करके संविधान परिषद ने फ्रांस के नागरिकों को ठगा। स्वयं मिराबो ने मानव अधिकार की घोषणा को नापसंद किया था और यह कहा था कि अच्छा यह होता है कि लोगों को अधिकारों की जगह नागरिक कर्त्तव्यों की याद दिलाई जाती। उस घोषणापत्र में मत, संपत्ति आदि के अधिकार देकर मध्यमवर्ग के लोगों को प्रसन्न किया गया। लेकिन जीने का अधिकार मांगने वाली सर्वसाधारण जनता भूखी और नंगी रह गई। सामाजिक सुरक्षा के प्रश्न को इस घोषणापत्र में बिल्कुल स्थान नहीं दिया गया।

अधिकारों की घोषणा से जनता आशान्वित अवश्य हुई, किंतु उसकी कमी फली नहीं। परिषद ने सम्पत्ति रखने वालों को ही मतदान का अधिकार दिया, अतः समानता का सिद्धान्त महज कोरा सिद्धान्त बनकर रह गया। एक तरफ लोगों को अधिकारों का सब्जबाग दिखाया गया, पर संविधान बनाकर दूसरी तरफ से उन पर नियंत्रण कायम कर दिया गया। संविधान परिषद ने एक असंभव स्वतंत्रता पर पड़े परदे को एक बार उठाकर फिर संविधान के द्वारा गिरा दिया।

संविधान परिषद द्वारा बनाए गए संविधान की भी आलोचना की गई है। नए संविधान के अनुसार न्यायधीशों की नियुक्ति का अधिकार सक्रिय नागरिकों को दिया गया था। न्यायाधीशों की नियुक्ति में निर्वाचन है। इसके अतिरिक्त संपूर्ण संविधान में मध्यमवर्ग के लोगों की प्रधानता कायम रही। राजा को वीटो का अधिकार न देकर मध्यमवर्ग के लोगों को मनमानी करने की छूट दे दी गई। एक सदन वाली सभा बनकर मध्यम वर्ग को सदैव बहुमत में रखने का प्रश्न हल कर लिया गया।

इसके अतिरिक्त शासन को विकेन्द्रित कर केन्द्रीय शक्ति को कमजोर बनाकर भी संविधान परिषद ने महान गलती की। स्थानीय संस्थाओं के कारण जनता को पुनः कष्टों एवं अत्याचारों का सामना करना पड़ा और भविष्य में ये संस्थाएं और भी आततायी हो गई। केन्द्रीय सत्ता के विकेन्द्रित रूप के तीन परिणाम हुए। पहला यह कि कम्यूनों एवं राष्ट्रीय रक्षा दल के अत्याचार बढ़ गए, दूसरा यह कि 1793 ई० में आतंक का राज्य कायम हुआ और तीसरा यह कि नेपोलियन बोनापार्ट की अधिनायकता का पथ प्रशस्त हो गया।

संविधान परिषद ने चर्च की संपत्ति का भी राष्ट्रीयकरण किया था। मूलतः यह गलत काम था। संविधान में घोषणा की गई थी कि सरकार संपत्ति को मान्यता देगी। अतः चर्च की सम्पत्ति को जब्त कर लेना मानव अधिकारों की घोषणा के विपरीत कार्य था।

संविधान परिषद ने स्वयं ही नियम बनाया व स्वयं ही उसका अतिक्रमण किया। इसी तरह एस्सईनेट का परिचलन भी बुरा रहा। इन कागजी नोटों का मूल्य शीघ्र ही गिरने लगा और कुछ दिनों के उपरांत उनका सारा महत्त्व जाता रहा।

अधिकांश पादरी सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण से सरकार व क्रान्ति के विरूद्ध हो गए। अधिकतर फ्रांसीसी कैथोलिक थे, जो राज्य के हस्तक्षेप को चर्च में देखना पसंद नहीं करते थे। अतः फ्रांस में फूट पैदा करना पादरियों का प्रधान काम हो गया। पादरियों से संबद्ध विधान ने अंतर्राष्ट्रीय जटिलता को भी जन्म दिया। सारे यूरोप के कैथोलिक फ्रांस के कैथोलिक का पक्ष लेने लगे और फ्रांस की सरकार के विरोधी हो गए। पोप ने इसकी निंदा की। अतः अनेक विदेशी राज्य फ्रांस के शत्रु बन गए।

इन त्रुटियों के बावजुद संविधान परिषद की सेवाएँ महत्त्वपूर्ण थी। इसने लिखित संविधान बनाकर यूरोप के अन्य देशों को लिखित संविधान बनाने की प्रेरणा दी। सामंतों के विशेषाधिकारों को समाप्त कर जनता को तत्काल कष्टों से उबारा। समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर उसे व्यापक रूप प्रदान किया। परिषद ने फ्रांस में एकता कायम की थी और नए राजनीतिक संगठन में लोकतंत्र के लिए स्मारक खड़ा कर दिया था।

उसी के कारण फ्रांस की जनता में नवजागरण आया था और वास्तविक लाभ न मिलने पर भी यह अपनी स्थिति को समझने लगी थी, राज्य व सरकार के कर्त्तव्यों को जानने लगी थी। समस्त देश में कानून की एकरूपता कायम कर संविधान परिषद ने शासन को सरलता प्रदान की। उसी के चलते जनता संप्रभु बनकर राजा की निरंकुशता से मुक्त हुई थी और जनसाधारण का वैयिक्त महत्त्व कायम हो गया था।

राष्ट्रीय कन्वेंशन के कार्यों की समीक्षा

फ्रांस के इतिहास में कन्वेंशन का एक साधारण इतिहास है। अपने तीन साल के अस्तित्व में उसने अनेक दिशाओं अनेक विलक्षण कार्य किए। आंतरिक कलह और विदेशी आक्रमणों से प्रादुर्भूत राष्ट्रीय कठिनाइयों पर उसने विजय पाई। एक साथ उसे फ्रांस के साठ विभागों और इंग्लैण्ड, प्रशा, आस्ट्रिया, हालैंड, स्पेन इत्यादि विदेशी शक्तियों के विस्मयकारी संघ के आक्रमण का सामना करना पड़ा। इन समस्त शक्तियों का दमन कर उन कठिनाइयों के बीच से इसने अपना मार्ग निकाला। इसने फ्रांस की रक्षा की।

अपने शासनकाल में कन्वेंशन ने गणतंत्र की स्थापना की। सदियों से फ्रांस राजतंत्रीय देश था और यहाँ एकाएक गणतंत्र कायम कर अपने विलक्षण कामों में एक काम और जोड़ दिया। उसने दो-दो संविधानों की रचना की, राज्य और चर्च का प थक्करण किया, राजा की जीवनलीला समाप्त की, आतंक के राज्य का संगठन किया और अनेक राजनेताओं को पैदा कर फ्रांस को गौरवशाली बनाया।

फ्रांस में शांति-संस्थापन की दिशा में भी कन्वेंशन के कार्य सराहनीय हैं। दशमलव प्रणाली का आविष्कार, विधि-संग्रह, राष्ट्रीय सैनिक शिक्षा, धर्मनिरपेक्ष शिक्षा इत्यादि कन्वेंशन द्वारा संपादित कुछ ऐसे कार्य हैं जिनके लिए कन्वेंशन को भूलाया नहीं जा सकता। कन्वेंशन ने संस्थान के रूप में अमूल्य क तियां भी दी, जिनमें दीक्षा-विद्यालय, बहुकौशल-शिक्षणालय पेरिस के कानून एवं चिकित्सा विद्यालय, कला-कौशल संस्थान, राष्ट्रीय अभिलेखागार, लूब्रे का संग्रहालय, राष्ट्रीय पुस्तकालय और संस्थान आदि प्रमुख हैं।

स्पष्टतः यह सही है कि जिस कन्वेंशन ने अपने आतंक के राज्य के लिए इतनी बदनामी मोल ली, उसी ने सभ्यता की ये अमर सेवाएं भी की। गणराज्य के अनेक विजयोपहार इतने शानदान और उसकी सफलताओं का लेखा इतना आदरणीय था कि कालांतर में भी पीढ़ियों ने उनसे प्रेरणा और शिक्षा ग्रहण की।

कन्वेंशन की सबसे बड़ी उपलब्धि बुर्जुआ गणतंत्र की स्थापना है जिस प्रकार प्रथम संविधान ने बुर्जुआ राजतंत्र की स्थापना की थी, उसी प्रकार कन्वेंशन ने बुर्जुआ गणतंत्र की स्थापना की। मध्यमवर्गीय हितों की प्रधानता समाप्त होने की जगह बनी रही। कन्वेंशन काल में व्याप्त अराजकता का भी यही कारण था कि सत्ता के संघर्ष ने उग्र रूप ले लिया था। समाज के विभिन्न तत्व अपनी-अपनी शक्ति तौल रहे थे।

अंततोगत्वा उसी तत्व की विजय हुई जो समाज की स्थितियों में उसी हद तक परिवर्तन चाहता था कि मध्यमवर्गीय हित सुरक्षित रह सके और पूँजीवादी विकास की संभावना के लिए अनुकूल स्थिति बनी रहे। इसीलिए क्रान्ति के ऐसे परिवर्तन स्वीकार कर लिए गए जिन्होंने सामंती और एकतंत्रीय जकड़ समाप्त कर मध्यमवर्ग को अवसर दिया, सामंतों को संपत्ति उनके हाथों में आने दी, उन्हें सत्ता का सहभागी बनाया और समाज में ऐसे मूल्य स्थापित किए जिनमें उनकी प्रतिष्ठा बढ़ सके।

ये सब परिवर्तन स्वीकार्य थे जिससे व्यवसाय के राज्य का नियंत्रण समाप्त हो और उसके निबधि विकास का अवसर मिले तथा निर्यात की सुविधाएँ मिले। लेकिन जहाँ आंदोलन के विस्तार की संभावना थी वहीं अंकुश लगा दिया क्योंकि इससे मजदूरों व अन्य श्रमजीवी लोगों में चेतना का विस्तार होने की संभावना थी। संपत्ति सामन्तों के हाथों से निकलकर भी किसानों के हाथ नहीं, बल्कि धनिकों के पास चली गई। अधिकार तो दिए गए लेकिन मजदूरों को संगठित होने को अधिकार नहीं दिए गए। समानता की घोषणा के बावजूद मत देने का अधिकार उसी को था जो प्रत्यक्ष कर देता था और प्रत्यक्ष कर समाज का संपन्न वर्ग ही देता है। मतदान करने का अधिकार तो और भी अधिक संपन्न लोगों को था। इस प्रकार कन्वेंशन ने अपने कार्य से ऐसी व्यवस्था का सूत्रपात किया जो निर्णायक तौर पर पुरातन व्यवस्था की पराजय और नई मध्यमवर्गीय व्यवस्था को स्थापित करती है।

फ्रांस की क्रान्ति के प्रभाव

1789 में 1815 तक का समय यूरोपीय इतिहास में फ्रांस की 'राज्य क्रान्ति का काल' के नाम से प्रसिद्ध है। इस क्रान्ति ने सम्पूर्ण यूरोप को व्यापक रूप से प्रभावित किया। आज भी फ्रांस की अपूर्व शक्तियाँ अपना प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से समस्त संसार पर डालकर उसका भाग्य निर्माण कर रही है।

स्वतंत्रता इस क्रान्ति का प्रथम सिद्धांत था तथा सभी यूरोपीय राज्य की जनता ने स्वतंत्रता की भावना का हृदय से स्वागत किया। फ्रांस में क्रान्तिकारियों ने मानव अधिकारों की घोषणा के द्वारा सभी मनुष्यों को अनेक अधिकारों का बोध कराया तथा वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के महत्त्व को समझने लगे। स्वतंत्रता की भावना ने फ्रांस से अर्द्धदास सामंती प्रथा का अंत करके क षकों को सामंतों के चंगुल से मुक्त कराया। इस दूषित प्रथा का अन्य राज्यों में भी अंत कर दिया गया। सर्वसाधारण को मताधिकार प्राप्त हो गया, जिससे वे अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचन करके व्यवस्थापिका सभा में भेजने लगे।

नेपोलियन के विधान से सभी लोगों को अल्प समय तथा अल्प-व्यय में न्याय प्राप्त होने लगा। कानून की द ष्टि में सभी लोग समान समझे जाने लगे। फ्रांस के इन सुधारों का अन्य देशों पर स्थाई प्रभाव पड़ा। शासकों के दैवी अधिकारों का अंत हो गया।

समानता की भावना का प्रसार क्रान्ति का महत्त्वपूर्ण परिणाम था। क्रान्ति के पूर्व उच्चवर्गीय मनुष्य चाहे वह दुराचारी, कर्त्तव्यहीन अथवा अशिक्षित कैसे भी हों, समाज में सम्मान के पात्र थे। इसके विपरीत निम्न वर्गीय व्यक्ति को चाहे वह कितना ही शिक्षित, योग्य क्यों न हो उसको बेगार, नजराने, परहार आदि देने पड़ते थे।

राज्य क्रान्ति के प्रभाव से इन सभी विषमताओं का विनाश होने लगा। जहाँ कुलीनों ने अपने विशेषाधिकार का समर्थन किया उन्हें बलपूर्वक दबा दिया गया। क्रान्ति के फलस्वरूप आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समानता हुई थी। कुलीन वर्ग का प्रभाव घटने लगा और सर्वसाधारण जनता के प्रभाव में व द्धि होने लगी। इस प्रकार राज्य क्रान्ति से समानता का प्रचार हुआ।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति के पूर्व यूरोप में स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासक होते थे। उनके दैवी अधिकारों का अंत करके वहाँ वैधानिक राजतंत्र की स्थापना हुई परंतु लुई 16वें की कुछ भूलों के कारण गणतंत्र हुई थी। यद्यपि नेपोलियन ने गणतंत्र का अंत करके सम्राट की पदवी धारण कर ली थी परंतु फिर भी यह कार्य जनता के द्वारा ही हुआ था। इस प्रकार फ्रांस में लोकतंत्र शासन का प्रारंभ हुआ। नेपोलियन की अनेक विजयों के फलस्वरूप इटली, जर्मनी, इंगलैण्ड, स्विटजरलैंड, स्पेन आदि देशों में लोकतंत्रवाद का प्रसार हुआ तथा कुछ समय उपरांत इन देशों में भी लोकतंत्र शासन की स्थापना हुई।

क्रान्ति के पूर्व शिक्षा का कार्य चर्च के हाथों में था। बर्लिन, लंदन, न्यूयार्क आदि बड़े-बड़े नगरों में पेरिस की भांति विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में यूरोप में काफी उन्नति हुई।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के फलस्वरूप राष्ट्रीय भावनाओं का उदय हुआ।

सभी फ्रांसीसी सोचने लगे-हम सभी फ्रांस में उत्पन्न हुए हैं। अतः आपस में भाई-भाई हैं। हमारे स्वार्थ एक समान हैं। इसलिए हमें मिल-जुलकर काम करना और संगठित रूप में पूर्ण शक्ति के साथ शत्रु का सामना करना चाहिए।

फ्रांसीसियों की इस राष्ट्रीयता की भावना का प्रभाव स्पेन, इटली, जर्मनी, प्रशा आदि देशों पर भी पड़ा। राष्ट्रीय भावनाओं के कारण ही पुर्तगालियों तथा स्पेनवासियों ने नेपोलियन की सेनाओं को अपने देश से बाहर निकालने में असफलता प्राप्त की। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रशा निवासियों ने नेपोलियन के दासत्व को अपने कंधों से उतार फेंका। राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत स्पेनवासियों ने सिद्ध कर दिया कि राष्ट्रीय भावनाओं से मुक्त जनता आधुनिक हथियारों से सुसज्जित एवं सुव्यवस्थित सेना से अधिक शक्तिशाली होती है।

इसी भावना से युक्त फ्रांसीसियों के नेशनल कन्वेंशन के कारण जर्मनी, इटली आदि देशों में एकीकरण के आंदोलन प्रबल हुए और वहाँ शक्तिशाली राष्ट्रों का उदय हुआ। 19वीं शताब्दी के यूरोप का इतिहास इसी भावना की प्रगति एवं विभिन्न देशों के राष्ट्रीय आंदोलनों का इतिहास है।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने राष्ट्रीयता का प्रसार किया। बहुत से राज्यों में समाजवाद को राजनैतिक योजनाओं में स्थान दिया जाने लगा। स्वतंत्र भारत के नवीन संविधान पर भी समाजवाद के रूप में फ्रांसीसी राज्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से अंकित है। भारत में जमींदारी उन्मूलन का कार्य इसी क्रान्ति के अमिट प्रभाव का स्पष्ट संकेत है।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने लोक कल्याणकारी भावनाओं का प्रसार किया। विश्वभर में क्रान्ति के प्रभाव से दास प्रथा का अंत हुआ। बंदी ग हों की अमानुषिक यंत्रणाओं और वहाँ के अस्वस्थ वातावरण को दूर करने के लिए सर्वत्र प्रयत्न किए गए। विश्व के सभी देशों में सर्वसाधारण के कल्याणार्थ अनेक नियम वहाँ की व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा बनाए गए।

अध्याय-7
उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन में उदारवाद का विकास

उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप के इतिहास में निर्माण एवं प्रगति का काल माना जाता है। पूर्व की शताब्दी के अन्तिम वर्षों में फ्रांस की राज्य क्रान्ति तथा फ्रांस में नेपोलियन के उत्कर्ष ने समस्त यूरोप को झकझोर डाला था और यूरोप में स्थापित व्यवस्थाएँ नष्ट होती जा रही थीं। किन्तु नेपोलियन की पराजय के बाद वियेना कांग्रेस में एकत्र राजनीतिज्ञों ने अपनी समझ और अनुभव के आधार पर यूरोप का पुनर्निर्माण पुरातन व्यवस्था को प्रतिष्ठित कर दिया। परन्तु वे भूल गए कि उस समय यूरोप में राष्ट्रवाद, उदारवाद और लोकतंत्रवाद की जो आँधी बह रही थी उससे वियेना-व्यवस्था का अस्त-व्यस्त होना स्वाभाविक था। यही कारण है कि जिन व्यवस्थाओं को स्थापित करने की कोशिश वियेना कांग्रेस द्वारा की गई थी, कालान्तर में वे ध्वस होती रहीं। फ्रांस की क्रान्ति ने उदारवाद के आदर्शों का जो बीजारोपण किया था, 19वीं सदी में वे बीज तेजी से अंकुरित होने लगे थे। वस्तुतः 1815 के बाद की पीढ़ी में उदारवाद तथा राष्ट्रवाद, दोनों आन्दोलन बड़े जोरदार ढंग से यूरोप के शहरों में जहाँ औद्योगिक क्रान्ति ने वाणिज्यिक, औद्योगिक तथा पेशेवर के विकास को बढ़ावा दिया था, बढ़े। शहरी मध्यम वर्गों ने उदारवादी कार्यक्रमों के लिए नेता तथा बुनियादी समर्थन पैदा किया।

नेपोलियन की पराजय और वियेना व्यवस्था के बाद के काल में फ्रांसीसी क्रान्ति तथा पुरातन व्यवस्था के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का संघर्ष चलता रहा। एक ओर उदारवाद, प्रजातंत्र, राष्ट्रवाद तथा क्रान्ति की प्रगतिशील ताकतें कार्यरत थीं तो दूसरी ओर निरंकुशता जैसी प्रतिक्रियावादी ताकतें उनका दमन करने का प्रयास कर रही थीं। 19वीं सदी के यूरोप का इतिहास वस्तुतः इसी संघर्ष का इतिहास रहा है। यूरोप के तमाम देशों में यह संघर्ष किसी-न-किसी रूप में द ष्टिगोचर होता है। फ्रांस, ब्रिटेन तथा स्पेन जैसे देशों में, जहाँ राष्ट्रीय एकता पहले से मौजूद थी, वहाँ की जनता निरंकुश शासन का अन्त कर अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए प्रयास में लगी हुई थी। दूसरे शब्दों में इन देशों में उदारवादी और जनतंत्रवादी आन्दोलन हो रहे थे। जर्मनी, इटली, पोलैंड, आयरलैंड जैसे देशों में एकीकरण एवं विदेशी शासन से मुक्ति के लिए प्रयास किए जा रहे थे। राष्ट्रवादी उदारवादियों के समर्थक थे, किन्तु वे अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए अधिक चिंतित थे। स्वराज पर उनका ज्यादा जोर था, बनिस्पत राज्य प्रणाली के। यूरोप के शासक वर्ग के लोगों ने उदारवाद और राष्ट्रवाद को खतरनाक समझा और उनके विरुद्ध जेहाद बोल दिया। उदारवाद विरोधी रवैया उन देशों में सर्वाधिक प्रबल था जहाँ मध्यम वर्ग कमजोर था और उद्योग एवं व्यापार पिछड़े हुए थे। जिन लोगों ने वियेना समझौते का दस्तावेज तैयार किया था, उन्होंने राष्ट्रवादी भावनाओं को लगभग नजरअंदाज कर दिया था। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तथा यूरोप में प्रतिक्रियावादी ताकतें शक्तिशाली बनी रहीं, परन्तु बाद में राष्ट्रवाद, उदारवाद और लोकतंत्र की शक्तियाँ बलवती होती गयीं।

उदारवाद का अर्थ एवं विशेषताएँ: उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में स्थापित व्यवस्था के विरोधियों को उदारवादी और प्रचलित उदारवाद को सामान्यतः शास्त्रीय उदारवाद (Classical Liberalism) कहा जाता था। यद्यपि यूरोप के विभिन्न देशों में उदारवाद का स्वरूप भिन्न-भिन्न था, परन्तु सामान्य तौर पर इनमें अनेक मौलिक समानताएँ थीं। उदारवादी आमतौर पर पेशेवर लोग होते थे। वे आधुनिक, प्रबुद्ध एवं न्यायसंगत बातों में विश्वास करते थे।

1. मनुष्य के आत्म-संयम तथा स्वशासन की क्षमता में उन्हें पूरा विश्वास था। उदारवादी लोकतंत्र के कट्टर समर्थक थे और लोकतंत्रीय शासन एवं प्रतिनिधि (संसदीय) सरकार को आवश्यक मानते थे। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के वे पोषक थे तथा अखबारों की तथा सभा आदि करने की स्वतंत्रता पर जोर देते थे। इन्हें केवल संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था। ब्रिटेन के उदारवाद पर **जेरेमी बेंथम** के **'सर्वाधिक लोगों का सर्वाधिक हित'** के सिद्धान्त का गहरा प्रभाव था। ब्रिटिश उदारवाद की यह विशेषता आर्थिक क्षेत्र में उनमुक्त व्यापार की नीति (Laissez Faire) के साथ मिलकर उसे यूरोप के अन्य देशों के उदारवादी चिंतन से थोड़ा अलग कर देती थी।

उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप में उदारवाद के चरमोत्कर्ष का काल था। उदारवाद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतंत्रता का सिद्धान्त था। उदारवादी मनुष्य को वर्ग, जाति, प्रजाति, धर्म, राज्य या राष्ट्र में बंटा नहीं देखते थे। वस्तुतः मनुष्य अपने स्वभाव, योग्यता, नैतिकता आदि के लिए इनमें से किसी पर निर्भर नहीं करता है। हर मनुष्य में विवेक-बुद्धि होता है। मनुष्य आपस में मिलजुल कर बातचीत द्वारा शान्तिपूर्ण तरीके से अपने मतभेदों एवं समस्याओं का हल कर सकते हैं। शिक्षा को उदारवादी जरूरी मानते थे।

2. उदारवाद धार्मिक स्वतंत्रता एवं धर्मनिरपेक्षता का कट्टर समर्थक था। धर्म के संदर्भ में उदारवादियों की मान्यता थी कि व्यक्ति अपनी रूचि के अनुसार कोई भी धर्म स्वीकार कर सकता था या किसी भी धर्म का अनुयायी नहीं हो सकता था। वे धर्म या धर्माध्यक्षों के सार्वजनिक कार्यों में भाग नहीं लेने का समर्थन करते थे। उदारवादी प्रजातंत्रवादियों की तरह धर्मनिरपेक्षता के आदर्श में गहरी आस्था रखते थे। फ्रांस की क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोप में धर्मनिरपेक्ष राज्यों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ। वैसे **हॉलिआक** को पश्चिमी यूरोप में धर्मनिरपेक्षता का जनक माना जाता है। उसने धर्मनिरपेक्षता का अपना अभियान 1846 के आस-पास शुरू किया था। उसने **प्रिंसिपल ऑफ सेक्यूलरिज्म** एवं **ओरिजिन एण्ड दि नेचर ऑफ सेक्यूलरिज्म** नामक पुस्तकों में अपने विचार व्यक्त किए थे। उसने लिखा है, 'धर्मनिरपेक्षता वह सिद्धान्त है जो जीवन के तत्काल कर्त्तव्य के रूप में सम्भावित उच्चतम बिन्दु तक मानव के नैतिक और बौद्धिक स्वभाव के विकास की खोज करता है।" धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के प्रचार के चलते यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना शक्तिशाली हुई और राष्ट्रीयता की भावना ने परम्परागत रूढ़िवादी ताकतों को चुनौती देकर उदारवादी प्रव त्तियों को प्रोत्साहित किया।

   राजनीति के क्षेत्र में उदारवादियों का मुख्य लक्ष्य निर्वाचित विधानमंडलों वाली संवैधानिक सरकारों का निर्माण था। वे अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा व्यक्तियों के स्वशासन की व्यवस्था चाहते थे। वे वयस्क मताधिकार के समर्थक थे, किन्तु स्त्रियों को मताधिकार देने के पक्ष में नहीं थे। वे व्यक्तिगत स्वतंत्रताएँ जैसे, भाषण, लेखन, सभा-संगठन आदि की सुरक्षा को सुनिश्चित करना चाहते थे। वे चाहते थे कि सभी लोगों को कानून के आगे बराबर माना जाए।

3. आर्थिक क्षेत्र में उदारवादी उन्मुक्त व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय निर्पेक्ष अर्थव्यवस्था के समर्थक थे। ब्रिटेन को छोड़कर अन्य यूरोपीय देशों के उदारवादी सम्पत्ति और उसकी सुरक्षा के अधिकार पर बहुत जोर देते थे। व्यापार के क्षेत्र में वे सरकार के अहस्तक्षेप का अनुमोदन एवं स्वर्णमान (gold standard) को समाप्त करने के पक्षधर थे। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वे व्यापार करने की स्वतंत्रता पर जोर देते थे। इसके लिए वे चुंगी की दर कम किए जाने या उसे पूरी तरह से समाप्त करने की मांग करते थे जिससे कि हर देश अपना-अपना उत्पादन एक-दूसरे को उसकी जरूरत के अनुसार बेच-खरीद सके। ऐसा होने पर हर देश अपनी क्षमता और सुविधा के अनुसार उत्पादन करता। इससे उसकी सम्पदा में व द्धि होती तथा वहाँ के लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा होता।

   यूरोप में मध्यम वर्ग के उत्थान के साथ उदारवादी सिद्धान्तों का जन्म हुआ। सैद्धान्तिक रूप से उदारवाद 18वीं सदी के बौद्धिक आन्दोलन से अनुप्राणित था जिसने असमानता और निरंकुश शक्ति की कड़ी आलोचना की। उदारवादियों के प्रयासों के चलते 19वीं शताब्दी में वोट देने के अधिकार का व्यापक विस्तार हुआ। प्रजातंत्रीय संस्थाओं के प्रभाव में, मताधिकार के आधार में तथा सरकार पर नियंत्रण करने की समर्थता में काफी अन्तर होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी यूरोप में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण यूरोप में इस सदी में प्रजातंत्रीय संस्थाएँ पनपने लगीं। 19वीं शताब्दी में यूरोप के उदारवादी देशों में ब्रिटेन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था और यूरोपीय देशों के उदारवादी ब्रिटेन के।

ब्रिटेन में उदारवाद का विकास

1800 ई० में अन्य देशों की तुलना में ब्रिटेन अधिक लोकतांत्रिक था। इस समय तक ब्रिटेन में आधुनिक मंत्रीमंडल-प्रणाली की स्थापना हो गई थी। गौरवपूर्ण क्रान्ति के बाद निर्णायक रूप से संसद की श्रेष्ठता एवं अधिकार बढ़ते गए और राजा की शक्ति क्षीण होती गयी। पिछले वर्षों के दौरान कर लगाने, संसदीय कानूनों को निलम्बित या रद्द करने, न्यायाधीशों को हटाने तथा बिना मुकद्दमा चलाए लोगों को जेल में रखने के अधिकारों से राजा वंचित हो गए थे। ब्रिटेन के लोगों को भाषण तथा प्रेस की काफी स्वतंत्रता थी। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वहाँ जनता का राज्य या लोकतंत्र स्थापित हो गया था। राजा की निरंकुश शक्ति अवश्य समाप्त हो गई थी और संसद सर्वशक्तिशाली बन गयी थी, परन्तु संसद जनता का सही अर्थ में प्रतिनिधि सभा नहीं थी। उस पर भूस्वामियों का नियंत्रण था। कहा जाता है कि यद्यपि ब्रिटेन में हाउस ऑफ लार्ड्स का प्रभाव कम

हो गया था, किन्तु सामन्तों (Lords) का प्रभाव बढ़ गया था। हाउस ऑफ लार्ड्स पूर्णतः भूपतियों एवं चर्च के अधिकारियों का सदन था। उसके सदस्य वंशानुगत होते थे। न तो जनता उनको निर्वाचित करती थी और न ही जनता के हितों से उन्हें कोई सहानुभूति थी। हाउस ऑफ कामंस जनता का सदन था परन्तु वास्तव में इस सदन का प्रतिनिधित्व भी उच्च वर्ग के लोग अथवा उनके एजेंट करते थे। निर्वाचन क्षेत्र तथा मताधिकार प्रणाली बेतुके एवं दोषपूर्ण थे। औद्योगिक क्रान्ति ने अनेक ऐसे परिवर्तन ला दिए थे जिससे संसद तथा मताधिकार प्रणाली में सुधार करने और उसे लोकतांत्रिक स्वरूप प्रदान करने की अनिवार्य आवश्यकता थी। इस क्रान्ति से पूर्व इंग्लैंड की बहुसंख्यक प्रजा गांवों में रहती थी। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के चलते बहुत-सारे गांव उजड़ गए और नगरों की आबादी बढ़ गयी थी। मैनचेस्टर, लिवरपुल, बर्मिंघम, लीड्स, शेफील्ड आदि महत्त्वपूर्ण नगर बस गए थे। ऐसे नये बसे शहरों का संसद में कोई प्रतिनिधि नहीं था जबकि उजड़े हुए गांवों, जंगलों और दलदल क्षेत्रों से पुरानी व्यवस्था के अनुरूप संसद में दो-दो प्रतिनिधि भेजे जाते थे। निर्वाचन क्षेत्र के मतदाताओं की एक-सी योग्यताएँ नहीं थीं। कहीं स्वतंत्र भूपतियों को मताधिकार प्राप्त था तो कहीं अन्य योग्यता रखने वाले व्यक्तियों को। धनी व्यापारी और उद्योगपति मताधिकार से वंचित थे। मतदाता वोट देने के लिए स्वतंत्र नहीं थे। गुप्त मतदान की प्रणाली नहीं थी और वोट खुलेआम दिए जाते थे। अतः भूपति अपने गुमाश्तों के द्वारा मतदाताओं को डराते-धमकाते, उन्हें रिश्वत तथा लालच देकर अपनी इच्छानुसार वोट डलवा लेते थे। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप उद्योगपतियों तथा मजदूरों के दो नए वर्ग उत्पन्न हुए थे जिन्हें मताधिकार प्राप्त नहीं था। संसद में उनके कोई प्रतिनिधि नहीं थे। इस प्रकार संसद जनता का प्रतिनिधि सभा कहलाने का हकदार नहीं थी। अतः इन दोषों को दूर करना एवं व्यवस्थाओं में आमूल परिवर्तन लाना अनिवार्य हो गया था। उदारवादियों ने संसदीय प्रणाली में सुधार लाने और उसे लोकतांत्रिक बनाने का प्रयास किया।

19वीं शताब्दी के पूर्व भी ब्रिटेन में सुधारों के प्रयास किए गए थे। **छोटा पिट** सुधारों का महान पक्षपाति था। **कीथ फीलिंग** भी सुधारों का समर्थन करता था। **लार्ड चैथम** ने 1766 और 1770 में तत्कालिक व्यवस्थाओं की कटु आलोचना की। 1776 में जॉन विल्किंस ने एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसमें विद्यमान प्रणाली में सुधारों की मांग की गयी थी। **छोटे पिट** ने भी 1782 तथा 1783 में सुधार संबंधी विधेयक पेश किए थे। परन्तु फ्रांसीसी क्रान्ति के विस्फोट ने पिट को संसदीय सुधार की अपनी योजनाएँ छोड़ देने के लिए विवश कर दिया। बाद में नेपोलियन के युद्धों से इंग्लैंड इतना भयभीत हो गया कि उस अवधि में वहाँ के लोग सुधारों की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। नेपोलियन की पराजय के बाद 1815 में सुधारों की मांग ने फिर जोर पकड़ा। 1825 में टोरियों ने एक कानून पास किया जिसके द्वारा श्रमिक संगठनों को इस दोष से मुक्त कर दिया गया कि वे सरकार के खिलाफ साजिश करते हैं। 1829 तक पदाधिकारियों के लिए धार्मिक अयोग्यताएँ रोमन कैथेलिकों तथा असंतुष्टों के हक में खत्म कर दी गयीं। इसके बाद सुधारों का यह सिलसिला जारी रहा और ब्रिटेन में 19वीं शताब्दी में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार लाए गये तथा अनेक सुधार अधिनियम पास किए गए जिससे ब्रिटेन धीरे-धीरे लोकतांत्रिक राज्य बन गया। 19वीं शताब्दी में उदारवादियों ने इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था में भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाया तथा मजदूरों की दशा में सुधार लाने का भी प्रयास किया।

1832 ई० का प्रथम सुधार-नियम

इंग्लैंड में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में प्रजातंत्र की प्रगति (Progress of democracy) हुई। इसे ही मताधिकार का विस्तार (Extension of franchise) और कॉमन-सभा का प्रजातंत्रीकरण (Democratisation of the House of Commons) भी कहते हैं। इस सम्बन्ध में 1832, 1867, 1884-85, 1918 और 1928 ई० बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ द ष्टियों से 1872, 1911 और 1949 का भी महत्त्व है।

ऐसे तो 1822 ई० में ही प्रतिक्रिया की दीवार में दरार फट गयी और 1830 ई० तक कई सुधार भी हुए। इस तरह सुधार-युग का श्रीगणेश तो हो ही चुका था किन्तु वास्तव में 1830 ई० से 1841 ई० की अवधि को सुधार का युग कहना अधिक उपयुक्त है। इसका कारण यह है कि इस अवधि में सुधार के लिए बहुत ही अनुकूल वातावरण पैदा हो गया था। फ्रांस की जुलाई क्रान्ति (1830 ई०) से इंग्लैंड भी प्रभावित हुआ था। उस समय इंग्लैंड के सम्राट विलियम चतुर्थ (1830-37 ई०), प्रधानमंत्री लॉर्ड ग्रे (1830-34) तथा लॉर्ड मेलबोर्न (1834-41 ई०) और इनके ह्विग् मंत्रिमंडल सभी सुधारों के प्रबल समर्थक थे, अतः इस अवधि (1830-41) में सुधारों का ताँता बँध गया। इन सुधारों में संसदीय सुधार का प्रमुख स्थान है।

संसदीय प्रणाली की त्रुटियाँ: हम देख चुके हैं कि 1688 ई० की गौरवपूर्ण क्रान्ति ने इंग्लैंड में संसद की प्रभुता स्थापित कर

दी लेकिन संसद की प्रभुता स्थापित होने से सर्वसाधारण की प्रभुता नहीं स्थापित हुई। दूसरे शब्दों में, संसद अभी वास्तविक अर्थ में जनता की प्रतिनिधि-संस्था नहीं थी। इसमें भयंकर त्रुटियाँ थीं। ये त्रुटियाँ मुख्यतः दो प्रकार की थीं- 1. प्रतिनिधित्व-सम्बन्धी और 2. मताधिकार-सम्बन्धी। इंग्लैंड और वेल्स में जो प्रतिनिधित्व एवं मताधिकार प्रणाली प्रचलित थी वह लगभग 350 वर्ष पूर्व ट्यूडर-काल से ही बिना किसी परिवर्तन या नाममात्र परिवर्तन के साथ चली आ रही थी। कॉमनवेल्थ (1649-60 ई०) के समय कुछ सुधार हुए भी थे किन्तु वे राज्य-पुनर्स्थापन के साथ ही रद्द भी हो गये।

प्रतिनिधित्व के क्षेत्र में पहले तो स्थानों का वितरण अनुचित एवं अन्यायपूर्ण था। क्षेत्रफल एवं जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व-प्रणाली कायम नहीं थी। प्रत्येक बौरो और प्रत्येक काउन्टी से दो-दो प्रतिनिधि भेजे जाते थे। बौरो या काउन्टी के क्षेत्र या आबादी का कोई ख्याल नहीं किया जाता था। जो बौरो निर्जन था या जो समुद्र में बहकर चला गया था वहाँ से भी लोकसभा में दो सदस्य आते थे। ओल्डसारम जो केवल घास तथा वनस्पतियों से भरा हुआ एक टीला या मैदान था, दो प्रतिनिधियों को भेजता था। समुद्र के गर्भ में लोप हो जाने वाला डन्विच का भी कॉमन्स सभा में प्रतिनिधित्व था। इससे मालूम पड़ता था कि मनुष्य कॉमन्स सभा में हरे मैदान और पानी का भी प्रतिनिधित्व करते थे। ग्रेटन के निर्वाचन-क्षेत्र में पाँच ही मतदाता थे किन्तु उसका भी लोकसभा में प्रतिनिधित्व होता था। ऐसे कई अन्य बौरो भी थे जहाँ मतदाताओं की संख्या बहुत ही कम थी किन्तु उनके प्रतिनिधि लोकसभा में बैठते थे। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ जॉन लॉक ने सतरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में लिखा था कि जो बस्ती केवल ध्वंसावशेष है, जहाँ बड़ी कठिनाई से एक गड़ेरिया रह सकता है, जहाँ एक भेड़ के लिए बाड़ा तक नहीं है, वह भी केवल नाम के आधार पर पार्लियामेंट में उतने ही प्रतिनिधि भेजती है जितने कि समस्त काउन्टी से आते हैं।

दूसरी ओर औद्योगिक क्रान्ति के कारण कई नये-नये और बड़े-बड़े नगर बस गये थे जिनकी जनसंख्या हजारों तथा लाखों में गिनायी जा सकती थी, जैसे-मैन्चेस्टर की आबादी 1,33,000 थी, बर्मिंघम में 85000 और लीड्स में 83000 लोग थे किन्तु इन नगरों का लोकसभा में बिल्कुल ही प्रतिनिधित्व नहीं था। यह विषमता का कैसा नमूना है?

दूसरे, लोकसभा में काउन्टी की तुलना में बौरो के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक थी। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में लोकसभा में कुल 650 सदस्य थे। इनमें 513 इंग्लैंड और वेल्स के, 100 आयरलैंड के और 45 स्कॉटलैंड के प्रतिनिधि थे। इनमें 479 सदस्य बौरो (नगरों) का, 174 सदस्य काउन्टियों का और पाँच सदस्य विश्वविद्यालयों का प्रतिनिधित्व करते थे। किसी प्रश्न पर काउन्टी और बौरो के सदस्यों के मतभेद होने पर बौरो के सदस्यों की ही जीत निश्चित रहती थी। काउन्टी के सदस्य मुँह ताकते रह जाते थे। बौरो के सदस्यों की ही कॉमन्स सभा में तूती बोल रही थी।

तीसरे, बौरो में भी कुरीतियों एवं भ्रष्टाचार का प्रचार था। तीन प्रकार के बौरो थेः

1. **स्वतन्त्र बौरोः** स्वतन्त्र बौरो में मतदाता स्वतन्त्रतापूर्वक अपना मत प्रदान कर सकते थे किन्तु ऐसे बौरो की संख्या कम ही थी और निर्वाचन-क्षेत्र भी बहुत ही छोटे होते थे। इन मतदाताओं के द्वारा निर्वाचित लगभग दो सौ सदस्य होते थे जो लोकसभा के कुल सदस्यों के 1/3 से भी कम थे।
2. **पॉकेट या नॉमिनेशन बौरोः** एक-एक जमींदार या भूमिपति के अधीन कई बौरो होते थे। वह अपने अधीनस्थ बौरो के मतों का अपने इच्छानुसार उपयोग कर सकता था जैसा कि कोई अपने जेब में रखे हुए पैसे का व्यवहार अपने इच्छानुसार कर सकता है। इन बौरो के सदस्य बौरो के स्वामी के मनोनीत प्रतिनिधि के रूप में होते थे।
3. **रॉटेन बौरोः** इन बौरो में घूस का खुलेआम प्रचार था। मतदाताओं की संख्या कम ही थी, अतः सभी मत कम खर्च में ही प्राप्त हो जाते थे। सभी दलों द्वारा विशाल पैमाने पर मतों को खरीदने की प्रथा थी। इस तरह पॉकेट तथा रॉटेन बौरो भूमिपतियों के नियन्त्रण में थे।

चौथे, सर्वत्र धनीमानी, कुलीन भूमिपतियों का ही बोलबाला था। लॉर्ड सभा तो उनकी अपनी ही सभा थी। लोकसभा में भी दूषित संसदीय प्रणाली के कारण उन्हीं की तूती बोल रही थी। एक-एक सामन्त कई सदस्य लोकसभा में भेजते थे एक समय नॉस्फॉक के ड्यूक ने ग्यारह और स्टलैंड के ड्यूक ने छः सदस्यों को मनोनीत किया था। अठारहवीं सदी में पार्लियामेंट के लगभग पचास सदस्य ड्यूक ऑफ न्यूकैसल के प्रभाव में थे। एक समय लगभग डेढ़ सौ सामंत तीन सौ सदस्यों को नियंत्रित करते थे। इस तरह संसद में सर्वसाधारण के बदले कुलीन धनीमानी भूमिपतियों का ही प्रतिनिधित्व था, अतः **मैरियट** का कथन सत्य ही है कि "1688 और 1832 ई० के बीच यद्यपि लॉर्डसभा प्रधान नहीं थी, लॉर्ड लोग प्रधान थे।"

यह भी स्मरणीय है कि आजकल की तरह लोकसभा का एक सदस्य कई व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं करता था, बल्कि कई सदस्य एक ही व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे। इसी दूषित प्रथा के चलते पार्लियामेंट के अनेक सदस्य राजा और कैबिनेट के प्रमुख मंत्रियों के प्रभाव और नियन्त्रण में थे। 1742 ई० में दो सौ सदस्य (प्लेस मेन) सरकार के प्रभाव में थे। 1780 ई० में 192 सदस्य सरकारी कर्मचारी थे। अनुमान है कि उस समय कॉमन्स सभा के अधिकांश सदस्य छः हजार की मतदाताओं के द्वारा चुने गये थे। **एडम्स** के मतानुसार 658 में 487 सदस्य मनोनीत ही जैसे थे। कॉमन्स सभा के अधिकांश सदस्य व्यक्तिगत स्वार्थों का ही प्रतिनिधित्व करते थे, लोक-स्वार्थों का नहीं। दल एवं दलीय नीति की अपेक्षा सदस्य के व्यक्तिगत एवं प्रभाव का ही अधिक महत्त्व था।

मताधिकार के क्षेत्र में भी बहुत गड़बड़ी थी। पहले तो मत देने की योग्यता साधारण नहीं थी। धनी लोग ही मतदाता थे, अतः मतदाताओं की संख्या जनसंख्या के अनुपात में बहुत ही कम थी। 1832 ई० के सुधार से पहले इंग्लैंड की आबादी लगभग एक करोड़ चालीस लाख थी किन्तु उसमें 30,000 व्यक्ति ही मतदाता थे। दूसरे, इस क्षेत्र में भी एकरूपता का अभाव था। मताधिकार स्थानीय प्रथाओं पर आधारित था। काउन्टी तथा बौरो में मताधिकार प्रणाली एक समान नहीं थी। अनेक बौरो में भी भिन्न-भिन्न प्रणाली प्रचलित थी।

काउन्टियों में मताधिकार प्रणाली एक ही प्रकार की थी। प्रत्येक काउन्टी में उन उन्मुक्त भू-स्वामियों (फ्री होल्डर) को मताधिकार प्राप्त था जो 40 शीलिंग सालाना लगान वाली जमीन (फ्री होल्ड) पर पूर्ण अधिकार रखते थे लेकिन कुछ प्रसिद्ध श्रेणियों के लोग मताधिकार से वंचित ही थे। कॉपी होल्डरों दीर्घ पट्टेदारों और साधारण काश्तकारों को-यद्यपि ये संख्या एवं धन में तुच्छ नहीं थे-मताधिकार प्राप्त नहीं था।

बौरो की मताधिकार-प्रणाली में तो बड़ी विषमता थी। कुछ बौरो में स्कॉट एवं लॉट नामक कर देने वालों को मताधिकार प्राप्त था कुछ बौरो में स्वतन्त्र नागरिक (बर्जेस) तो कुछ निगम (कारपोरेशन) के सदस्य या खास-खास मकान मालिक ही मतदाता थे। तीसरे, काउन्टी तथा बौरो-सभी क्षेत्रों में जमींदारों की धाक थी। वे विविध उपायों से मतदाताओं को प्रभावित करते थे।

स्कॉटलैंड का आयरलैंड में भी वही दोषपूर्ण पद्धति प्रचलित थी। यद्यपि इसका प्रचलन 1707 ई० और 1800 ई० के सयोग कानूनों के बाद ही हुआ था, फिर भी, इन देशों ने पुरानी संसदीय प्रणाली की सभी बुराइयों को अपना लिया। निर्वाचन पर जमींदारों का ही नियन्त्रण था। सभी आयरिश सदस्य पचास जमींदारों के प्रभाव से निर्वाचित होते थे। स्कॉटलैंड में भी कुल चार हजार मतदाताओं के मत एक सौ पचास भू-स्वामियों की मुट्ठी में रहते थे। ये मत किसी भी निर्वाचन-क्षेत्र में व्यवहार किये जा सकते थे। स्कॉटलैंड की आबादी भी बीस लाख की थी और उसमें चार हजार ही मतदाता थे। **ट्रेवेलियन** के शब्दों में, राजनीतिक द ष्टि से स्कॉटलैंड एक विशाल भ्रष्ट (रॉटेन) बौरो था। **हेनरी डंडास** के मतानुसार कोई भी सरकार स्कॉटलैंड को एक विशाल पौकेटबरो के रूप में कभी बदल सकती थी।

1830 में वयस्कों की दस मिलियन आबादी में संयुक्त राज्य (United Kingdom) में मतदाताओं की कुल संख्या पचास हजार ही थी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम सुधार नियम (1832 ई०) के पहले तक कॉमन्स सभा जनता की नहीं, बल्कि कुलीनों एवं श्रीमन्तों की प्रतिनिधि संस्था थी। **पिट** ने भी एक बार कहा था कि अठारहवीं शताब्दी में कॉमन्स सभा में सर्वसाधारण के बदले नाममात्र के या उजाड़ एवं नष्ट-भ्रष्ट नगरों, धनीमानी लोगों, कुलीन परिवारों और विदेश से धनी होकर लौटे हुए अधिकारियों का ही प्रतिनिधित्व था।

हम प्रतिनिधित्व तथा मताधिकार सम्बन्धी त्रुटियों का उल्लेख कर चुके। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य बुराइयाँ भी थीं:

1. मत की खरीद-बिक्री तो होती ही थी, साथ ही सदस्यता की भी खरीद-बिक्री हुआ करती थी। इस सम्बन्ध में कितने दलाल भी काम करते थे। अधिक-से-अधिक कीमत चुकाने वालों के हाथ सदस्यता बेची जाती थी। इसके लिए विज्ञापन भी होता था। घूस का भी बाजार खूब ही गर्म था। सदस्यों को प्रभावित करने के लिए भी धन पानी की तरह बहाया जाता था। 1763 ई० में पेरिस की सन्धि को स्वीकृत कराने के लिए दिल खोल कर राजा की ओर से सिक्के लुटाये गये। चन्द घण्टों में हजारों पौंड सदस्यों के बीच वितरित किये गये।

2. गुप्त मतदान की प्रथा नहीं थी, अतः जमींदार अपने अधीनस्थ मतदाताओं को उनकी इच्छा के विरुद्ध मत देने पर डराया-धमकाया या तंग किया करते थे। इससे स्वतन्त्र मतदान के लिए अनुकूल वातावरण का अभाव रहता था।
3. संसद के सदस्यों को वेतन भी नहीं मिलता था, अतः साधारण लोग उसमें नहीं जा सकते थे।
4. चुनाव में भी उम्मीदवारों को बहुत अधिक खर्च करना पड़ता था। निर्वाचन-क्षेत्र विशाल और अधूरे थे। चुनाव में समय भी बहुत लगता था, अतः बहुत खर्च हो जाया करता था।
5. पार्लियामेंट का सदस्य होना लाभदायक समझा जाता था। राजा और उसके मन्त्री सदस्यों को पद, पेंशन तथा प्रतिष्ठा के द्वारा प्रभावित करने के लिए प्रयत्न करते रहते थे। कई व्यक्तियों को ऐसी नौकरियाँ दी जाती थीं जहाँ काम नहीं या नाममात्र के थे और वेतन पर्याप्त थे। 1689 और 1832 ई० के बीच भ्रष्ट उपायों एवं संकुचित साधनों का खूब ही सहारा लिया गया। विलियम और एन ने स्वयं ही परमाधिकार के आधार पर इनका उपयोग किया। किन्तु हैनोवर वंश के प्रथम और द्वितीय राजा के समय में ह्विग् मन्त्रियों ने ही इनका उपयोग किया। फिर, जॉर्ज त तीय ने स्वयं ही इन साधनों को अपनाकर अपना स्वार्थ पूरा किया।
6. लोकसभा की अवधि भी सात वर्ष की होती थी, अतः निर्वाचकों तथा प्रतिनिधियों के बीच दीर्घकाल तक सम्पर्क का मौका नहीं मिलता था।
7. लॉर्ड सभा और कॉमन्स सभा दोनों के सभी अधिकार भी बराबर थे।

1830 ई० के पूर्व संसदीय सुधार के लिए प्रयत्नः संसद-सम्बन्धी विविध त्रुटियों पर हम प्रकाश डाल चुके। ये त्रुटियाँ दीर्घ काल से कायम थीं। अतः इनके निवारण के लिए 1830 ई० के पहले भी प्रयत्न हुए थे-सर्वप्रथम जॉन लॉक तथा बोलिंग ब्रुक का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ था। बड़े पिट तथा विलक्स ने भी संसदीय बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। टॉमस हार्डी, हार्न टूक, विलियम जोन्स, जॉन कार्टराइट, चार्ल्स फॉक्स तथा चार्ल्स (अर्ल) ग्रे आदि नेताओं ने अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में संसदीय सुधारों के प्रश्न में रुचि दिखलायी। सुधारों को प्रोत्साहित करने के लिए हार्डी ने लंदन कॉरेसपौंडिंग संघ और फॉक्स तथा ग्रे ने लोक मित्रसंघ स्थापित किया था।

संसदीय सुधार के समर्थकों में छोटे पिट का भी नाम उललेखनीय है। 1793 ई० तक वह सुधार का प्रबल समर्थक था। 1782 और 1785 ई० में दो बार उसने इस सम्बन्ध में बिल भी पेश किया था किन्तु दोनों ही बार बिल पास न हो सका। 1785 ई० में तो वह स्वयं प्रधानमंत्री ही था, फिर भी, न तो बिल ही पास हुआ और न उसने पद-त्याग ही किया। 1793 ई० से 1802 ई० तक भी शासन-सूत्र उसी के हाथ में रहा किन्तु इस अवधि में क्रांतिकारी फ्रांस तथा नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध के कारण वह सुधार का घोर विरोधी बन गया। वह अब सुधार आन्दोलनों को दबाने में ही रुचि लेने लगा। 1815 ई० तक यही स्थिति बनी रही लेकिन सुधार आन्दोलनों में शिथिलता आयी, वे निर्मूल नहीं किये जा सके।

1815 ई० में नेपोलियन का पतन हो गया और इसके बाद सुधार-आन्दोलनों में फिर जान आने लगी किन्तु 1830 ई० तक संसदीय सुधार में कोई प्रगति नहीं हो सकी। राजा या मन्त्रिमण्डल-कोई भी इस सुधार का पक्षपाती नहीं था। 1830 ई० में जैसा कि हम देख चुके हैं, फ्रांस की जुलाई-क्रान्ति, इंग्लैंड में जॉर्ज चतुर्थ की म त्यु एवं विलियम चतुर्थ के राज्याभिषेक और वेलिंगटन के पतन तथा ग्रे के प्रधान-मंत्रित्व में ह्विग मंत्रिमंडल के निर्माण के कारण संसदीय सुधार के लिए बहुत ही अनुकूल वातावरण पैदा हो गया। इस वातावरण के पैदा होने में उपयोगितावादी जेरेमी बेन्थम ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया था।

डरहम समिति की नियुक्तिः 1830 ई० में लॉर्ड डरहम के नेत त्व में एक जाँच-समिति नियुक्त की गयी और ह्विग सरकार ने इसकी रिपोर्ट को अपनाया। इसमें तीन बातों की सिफारिश की गयी थीं-

1. अवनत नगरों से मताधिकार को कम कर देना,
2. नये-नये और बड़े नगरों में जहाँ से अभी प्रतिनिधि नहीं आते थे, मताधिकार देना और
3. सभी बौरो में मताधिकार की एक-सी प्रणाली का प्रचलन करना।

सुधार बिल पर संघर्षः डरहम समिति की रिपोर्ट और उसकी सिफारिशों के आधार पर मार्च 1831 ई० को लॉर्ड जॉन रसल ने सर्वप्रथम एक सुधार बिल कॉमन्स सभा में पेश किया। यह द्वितीय वाचन में केवल एक ही मत से पास हुआ। यह शुभ लक्षण

नहीं था। द्वितीय वाचन में पर्याप्त बहुमत मिलने पर अनुमान किया जाता है कि आगे भी बिल के पक्ष में अधिकांश सदस्यों का समर्थन प्राप्त होगा किन्तु ऐसा नहीं हुआ। यद्यपि इसके द्वितीय वाचन के बाद बिल के पक्ष में एक व्यक्ति का बहुमत था, कॉमन्स-सभा की समिति के विरोध के कारण यह पास नहीं हो सका। इसके पश्चात् राजा ने लॉर्ड ग्रे के अनुरोध पर इस पार्लियामेंट को भंग कर दिया। आम चुनाव में ह्विगों को एक सौ सदस्यों का बहुमत प्राप्त हुआ जो सुधार के पक्षपाती थे।

जून 1831 ई० में सुधार बिल द्वितीय बार पेश किया गया और कॉमन्स सभा में एक सौ बहुमत के द्वारा पास भी हो गया लेकिन लॉर्ड सभा में इकतालीस व्यक्तियों के बहुमत से विरोध के कारण बिल अस्वीकृत हो गया। संशोधनों के द्वारा विधेयक के रूप को ही बदल देने के लिए प्रयास होने लगे। लॉर्ड सभा में बिल के पराजित होने से मंत्रिमण्डल ने पदत्याग नहीं किया। कॉमन्स सभा में उसका बहुमत था, अतः अभी पार्लियामेंट स्थगित कर दी गयी। इस पर पूरे देश में तहलका मच गया और देश के विभिन्न हिस्सों में दंगे हो गये। जहाँ-तहाँ अनेक सभाएँ होने लगीं। सम्पूर्ण बिल के सिवा अन्य कुछ भी नहीं-यही सभी लोगों की पुकार थीं। इससे पुनः लोकमत का पूरा पता लग गया।

दिसम्बर महीने में त तीय बार सुधार बिल पेश किया गया और कॉमन्स सभा में पास भी हो गया। मार्च (1832 ई०) में विधेयक को लॉर्ड सभा में भेज दिया गया। लार्डों की एक समिति ने बिल में बहुत सुधार करने के लिए आवाज उठायी। ग्रे ने राजा से अपील की कि पर्याप्त संख्या में ह्विग पीयर बना दिये जाएँ लेकिन राजा ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। तब ग्रे ने त्याग-पत्र दे दिया। राजा ने टोरी दल के नेता बेलिंगटन को मंत्रिमण्डल बनाने के लिए निमंत्रित किया लेकिन बेलिंगटन के किये कुछ न हो सका। कॉमन्स सभा में उसका बहुमत नहीं था, अतः उसे कॉमन्स सभा का सहयोग नहीं मिलता। तब राजा को पुनः ग्रे को ही आमंत्रित करना पड़ा। इस बार उसने ग्रे को एक लिखित आज्ञापत्र दिया कि 'इतनी संख्या में ह्विग पीयर बना दिये जाएँ जिससे सुधार बिल पास हो जायँ।' ऐसा करने में सभी पीयरों के बड़े लड़कों को ही पहले बुलाया गया। इस पर टोरी लोगों ने देखा कि अब उनकी दाल नहीं गल सकती। उन्होंने इस कदम के परिणाम के विषय में भी सोचा। प्रगतिशील लॉर्डों की संख्या बढ़ाने से लॉर्ड सभा में अनुदार लॉर्डों की संख्या घट जाती। राजा ने निजी सचिव के द्वारा बेलिंगटन और अन्य टोरी विरोधियों को यह सुझाव भी दे दिया था कि यदि मतदान के समय वे सभा भवन में उपस्थित न रहें तो विधेयक भी पास हो जायगा और प्रगतिशील लॉर्डों को नियुक्त भी नहीं करना पड़ेगा। अनुदार टोरियों को यह सुझाव पसन्द आ गया। अतः उन लोगों ने अपना विरोध हटा लिया और वे बिल के अन्तिम पाठ के समय सभा-भवन छोड़कर चले गये। जून, 1832 ई० में बिल पास होकर कानून बन गया। यह लॉर्ड ग्रे की एक महान् उपलब्धि है।

1832 ई० का प्रथम सुधार बिल

शर्तें:

1. **प्रतिनिधित्व प्रणाली:** इस बिल के द्वारा जगहों के वितरण में परिवर्तन तो किया गया लेकिन उनकी कुल संख्या में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनकी संख्या अब भी 658 रही। जिन नगरों तथा काउन्टियों की आबादी दो हजार से कम थी उन्हें एक भी सदस्य भेजने का अधिकार नहीं मिला। दो हजार से चार हजार आबादी तक के काउन्टियों या नगरों को एक-एक सदस्य भेजने का अधिकार मिला। इस प्रकार छप्पन बौरो ऐसे निकले जो कॉमन्स-सभा में प्रतिनिधि भेजने के अधिकार से वंचित कर दिये गये। इनमें से पचपन बौरो से दो सदस्य प्रति बौरो के हिसाब से भेजे जाते और एक बौरो से सिर्फ एक ही सदस्य। इनके अलावा बत्तीस ऐसे बौरो थे जो दो सदस्य प्रति बौरो के हिसाब से भेजते थे। इनकी जनसंख्या चार हजार से कम थी, अतः अब इन्हें एक ही सदस्य भेजने का अधिकार मिला। इस प्रकार एक सौ तैंतालीस सदस्यों की जगह रिक्त हुई जिनका फिर से वितरण किया गया। इनमें एक सौ तीस इंग्लैंड और वेल्स की काउन्टियों तथा छोटे एवं बड़े नगरों का आठ स्कॉटलैंड को और पाँच आयरलैंड को दिये गये।
2. **मताधिकार:** बौरो में मताधिकार प्रणाली में जो विषमता थी वह दूर कर दी गयी और एकरूपता का सिद्धान्त अपनाया गया। उन सभी ग ह-स्वामियों या किरायेदारों को जो दस पौंड सालाना लगान या किराया देते थे, मताधिकार दे दिया गया। काउन्टियों में प्राचीन दो पौंड वार्षिक लगान देने वाले स्वतन्त्र भू-स्वामियों के अलावा दस पौंड वार्षिक लगान देने वाले कॉपी होल्डरों और दीर्घकालीन पट्टेदारों को मताधिकार मिला। पचास पौंड प्रति वर्ष लगान देने वाले साधारण काश्तकारों को भी मताधिकार दे दिया गया। यह भी निश्चित हुआ कि प्रत्येक साधारण चुनाव के पूर्व मतदाताओं की एक सूची तैयार की जाय और जिस व्यक्ति का नाम उस सूची में नहीं पाया जाय वह मताधिकार से वंचित रहे।

प्रथम सुधार नियम के पास होने से इंग्लैंड के निर्वाचकों की संख्या में पहले से तिगुनी से भी अधिक व द्धि हो गयी। अब करीब पाँच लाख नये निर्वाचक हुए, अतः इंग्लैंड की जनसंख्या में चौबीस व्यक्तियों में अब एक व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त हो गया। वह व्यक्ति धनी ही था लेकिन जिन कुलीनों और भूमिपतियों के अधिकार छीन लिये गये थे उन्हें कोई मुआवजा नहीं दिया गया था।

प्रथम सुधार नियम के परिणाम तथा महत्त्व

1688 ई० की क्रान्ति से तुलनाः हम देख चुके हैं कि प्रथम सुधार नियम के द्वारा ग्रेट ब्रिटेन की प्रतिनिधित्व और मताधिकार प्रणाली में महान परिवर्तन हुआ। इंग्लैंड के वैधानिक इतिहास में 1832 ई० का सुधार नियम 1688 ई० की महान क्रान्ति की ही तरह युगान्तरकारी है। इस क्रान्ति के फलस्वरूप राजनीतिक सत्ता राजा के हाथों में सीमित न रह कर भू-स्वामियों के हाथ में चली आयी। अब 1688 ई० से 1832 ई० तक देश के शासन में इन्हीं भू-स्वामियों का बोलबाला रहा। इन्हीं को शक्ति का एकाधिकार प्राप्त हो गया था। सर्वत्र इन्हीं की तूती बोल रही थी, अतः इस काल में यद्यपि लॉर्ड सभा परम शक्तिशाली नहीं थी, फिर भी, धनी-मानी सरदारों का तो प्रभुत्व अवश्य ही स्थापित था। इसी तरह 1832 ई० के सुधार नियम ने महान परिवर्तन किया। टोरियों के शब्दों में यह नियम 'क्रान्तिकारी' ही था। उन्होंने इसे 'एक नवीन संविधान' की ही संज्ञा दी थी। उनके मतानुसार इसके द्वारा नये सामाजिक वर्ग और नये क्षेत्रों को राजनैतिक शक्ति प्राप्त हुई, जो दरवाजा बन्द था वह अब खुल गया। इसने प्राचीन परम्परा के दुर्ग की नींव हिला दी और राजनैतिक आकर्षण केन्द्र को बदल दिया। सुप्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार **ट्रेवेलियन** ने इसे 'आधुनिक महाधिकार-पत्र' (मैग्नाकार्टा) कह कर सम्बोधित किया। कई द ष्टियों से यह सुधार नियम महत्त्वपूर्ण है। इसमें कुल बयासी धाराएँ थीं।

भू-स्वामियों की शक्ति का ह्रासः इस सुधार नियम के कारण राजनीतिक सत्ता भू-स्वामियों के हाथ में न रही। यह मध्यम वर्ग के लोगों को हस्तांतरित हो गयी। अब भू-स्वामियों की शक्ति के एकाधिकार का अन्त हो गया। मध्यमवर्गीय लोगों को देश की राजनीति को प्रभावित करने का सुअवसर मिला। भू-स्वामियों के अधिकार का तत्काल ही अन्त तो नहीं हो गया किन्तु राजनीतिक शक्ति के उपयोग में वे मध्यम वर्ग वालों के साथ साझीदार हो गये। राजनीतिक क्षेत्र में अब उनका प्रभाव-मात्र ही रह गया। अपने प्रभुत्व को कायम रखने के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे निर्वाचकों के मत का अध्ययन करें तथा उसे स्वीकार कराने के लिए क्षमता रखें।

परिवर्तन के सिद्धान्त की स्वीकृतिः समय की प्रगति के साथ भू-स्वामियों का प्रभाव भी जाता रहा। 1832 ई० के सुधार नियम से परिवर्तन के सिद्धान्त को मान लिया गया। जो दरवाजा दीर्घकाल से बिल्कुल बन्द रखा गया उसे खोल दिया गया। अब आगे सुधारों के लिए रास्ता सुगम और साफ हो गया। काल-क्रम से सुधारों की प्रगति और मताधिकार के विस्तार के साथ जनता के हाथ में शक्ति सीमित होने लगी। इस तरह 1832 ई० के सुधार नियम के द्वारा ही इंग्लैंड में प्रजातंत्र का बीजारोपण हुआ जिसका क्रमशः विकास होता गया, अतः इसी प्रथम सुधार नियम ने कुलीनों के राजनीतिक जीवन का अन्त निश्चित कर दिया। **एडम्स** ने बहुत ठीक ही कहा है कि 1832 के सुधार नियम का स्थायी महत्त्व इसके द्वारा किये गये तात्कालिक परिवर्तन की अपेक्षा आगे होने वाले सुधार की सम्भावना में निहित है।

अंग्रेजी ढंग की क्रान्तिः इस तरह प्रथम सुधार नियम ने इंग्लैंड के इतिहास में एक क्रान्ति ही उपस्थित कर दी, फिर भी, यह अंग्रेजी ढंग की ही क्रान्ति थी। अंग्रेज लोग अपने स्वभाव से अनुदार होते हैं और वे अचानक अधिक नये परिवर्तनों को नहीं चाहते हैं। 1688 ई० की क्रान्ति की ही तरह 1832 ई० के सुधार नियम की प्रकृति अनुदार थी। इसके सिवा सुधार नियम के लिए जो आन्दोलन हुआ था उसमें सर्वसाधारण का नहीं बल्कि व्यवसायियों तथा पूँजीपतियों का ही विशेष हाथ था, अतः सुधार नियम के द्वारा दरवाजा तो खुला किन्तु पूर्णरूप से नहीं। इसकी धाराएँ उग्र नहीं बल्कि पूर्णतः नरम थीं। इससे राजनीतिक क्षेत्र में उच्च मध्यवर्ग का ही प्रवेश हो सका, जनता का नहीं।

अतः पहले की अपेक्षा कॉमन्स सभा में प्रतिनिधित्व का तो विस्तार हुआ किन्तु इससे वह अधिक प्रजातान्त्रिक नहीं बन सकी। इस सुधार नियम से जनतन्त्र के सिद्धान्त का प्रचलन नहीं हुआ। यह तो बीच-बचाव का एक मार्ग था जो सिद्धान्त की द ष्टि में नहीं, उपयोगिता की ही द ष्टि से अपनाया गया था, अतः **एडम्स** के शब्दों में, "1832 के सुधार नियम के परिणामों ने इसके समर्थकों और विरोधियों दोनों को ही निराश कर दिया।" समर्थकों की द ष्टि में सुधार पर्याप्त नहीं हुआ-बहुत परिवर्तन नहीं

हुए। विरोधियों की द ष्टि में सुधार पर्याप्त हो गया, बहुत परिवर्तन हो गये, अतः सुधार नियम से दोनों ही असन्तुष्ट रहे। उदारवादियों की आशाएँ पूरी नहीं हुई। और अनुदारवादियों के भय निराधार सिद्ध हुए।

सम्राट् और लार्ड सभा की कमजोरी- कॉमन्स सभा की महत्ता: 1832 ई० के प्रथम सुधार बिल के कारण राजा, मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट), लॉर्ड सभा और कॉमन्स सभा की वास्तविक स्थिति के बारे में जानकारी प्राप्त हो गयी। यह पता चल गया कि सरकारी नीति के निर्धारण में राजा, मन्त्रिमण्डल, लॉर्ड सभा और कॉमन्स सभा का क्या स्थान है।

राजा विलियम चौथा भी विधेयक की कुछ बातों को पसन्द नहीं करता था। लॉर्ड सभा और अनुदार टोरियों के साथ उसकी सहानुभूति थी, अतः उसने तुरंत अर्ल ग्रे के त्याग-पत्र को स्वीकार कर लिया और वेलिंगटन को सरकार बनाने के लिए निमन्त्रण दे दिया। किन्तु कॉमन्स सभा में बहुमत के अभाव में वेलिंगटन को सफलता नहीं मिली। अब राजा को प्रधानमन्त्री तथा कॉमन्स सभा के सामने झुकना पड़ा। स्पष्ट हो गया कि राजा के हाथ में प्रभाव है, शक्ति नहीं। कॉमन्स सभा में बहुमत के रहते राजा प्रधानमन्त्री के अनुरोध को कभी ठुकरा नहीं सकता, अतः राजा ने ग्रे को आवश्यकतानुसार नये उदार लार्डों को नियुक्त करने के लिए सम्मति दे दी। इतना ही नहीं, उसने विधेयक को पास कराने के लिए टोरियों को सुझाव देकर कैबिनेट की मदद की।

लॉर्ड सभा ने पहली बार विधेयक को अस्वीकार कर लोकमत जानने के लिए स्थिति उत्पन्न कर दी। निर्वाचन के द्वारा लोकमत की जानकारी हुई। फिर, लॉर्ड सभा ने दूसरी बार लोकमत की उपेक्षा की। तब पुनः प्रदर्शन एवं सभा आदि के द्वारा लोकमत की अभिव्यक्ति हुई। कॉमन्स सभा ने लोकमत का ख्याल कर वेलिंगटन के साथ सहयोग नहीं किया। ग्रे को कॉमन्स सभा में बहुमत था। तभी राजा और लॉर्ड सभा को भी झुकना पड़ा।

1832 ई० तक दोनों सभाओं के अधिकार बराबर थे और दोनों में एकता बनी हुई थी। अब कॉमेन्स सभा के निर्माण का अधिकार प्रजातन्त्रात्मक हो गया। यह अब लोकमत का प्रतिनिधित्व करने का दावा करने लगी। इसमें मध्यम वर्ग को स्थान मिल गया लेकिन लॉर्ड सभा का निर्माण प्राचीन पैत क अधिकार के ही आधार पर होता रहा। इसमें अब भी भूमिपति बने रहे। अब दोनों में संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। 1911 ई० तक यह संघर्ष चरम सीमा तक पहुँच गया। 1832 ई० में लॉर्ड सभा के विरोध के बावजूद प्रथम सुधार बिल पास हो गया। अगले संघर्ष में भी लॉर्ड सभा की पराजय निश्चित थी, अतः 1911 ई० का पार्लियामेंट-अधिनियम 1832 ई० के प्रथम सुधार अधिनियम का ही आवश्यक परिणाम था। 1911 ई० में लॉर्ड सभा शक्तिहीन कर दी गयी।

कैबिनेट के विकास का द्योतक: 1832 ई० तक कैबिनेट का पूरा विकास हो चुका था। वह अंग्रेजी संविधान का आवश्यक अंग बन चुका था। प्रथम सुधार विधेयक सरकार की ओर से प्रस्तुत किया गया था। जब कॉमन्स सभा में इसे बहुमत का समर्थन नहीं मिला तो सरकार ने लोकमत जानने के लिए जनता से अपील की। जनता ने सरकार का समर्थन किया। सुधार के समर्थक बहुमत में निर्वाचित हुए। यदि चुनाव में बहुमत नहीं प्राप्त होता तो मन्त्रिमंडल को पदत्याग कर देना पड़ता। देश और कॉमन्स सभा में बहुमत के रहते हुए मन्त्रिमण्डल शक्तिशाली हो गया।

व्यावसायिक क्षेत्रों का महत्त्व: इंग्लैंड का दक्षिण-पूर्वी भाग कृषि प्रधान था। इसी भाग की अधिकांश जगहों से मताधिकार छीन लिया गया किन्तु उत्तर-पश्चिमी भाग में ही व्यावसायिक केन्द्र स्थित थे जिन्हें अब प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया गया, अतः अब इसी भाग का महत्त्व विशेष बढ़ गया।

दलीय परिवर्तन: अब पुराने ह्विग तथा टोरी दलों के स्वरूप में बहुत परिवर्तन हो गया। अब ह्विग दल में प्राचीन कुलीन धनी-मानी व्यक्ति ही नहीं थे बल्कि कितने ऐसे लोग इसमें सम्मिलित हो गये जो सुधारों के हिमायती थे, अतः अब यह दल उदारवादी या लिबरल कहलाता था। इसी प्रकार टोरी दल में भी अब कुछ ऐसे लोग शामिल हो गए थे जिनका द ष्टिकोण पहले के टोरियों से कुछ अधिक व्यापक था। ये लोग सुधारों के कट्टर विरोधी नहीं थे और उपयोगी सुधारों के प्रति सहानुभूति रखते थे। यह दल रूढ़िवादी या कन्जर्वेटिव कहलाया।

1832 के सुधार अधिनियम के बाद भी वही संसद दो वर्षों तक बनी रही। इतने कम समय में ही इसने आश्चर्यजनक सुधार किए। ग्रे सरकार ने एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति की थी। इसी की रिपोर्ट के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों में सुधार किए गए। नयी संसद ने भी सुधारों में अपनी अभिरुचि का प्रदर्शन किया।

दूसरा सुधार अधिनियम (1865-1868)

हम देख चुके हैं कि 1832 ई० का सुधार नियम अपूर्ण था। इसने उच्च मध्यम वर्ग को मताधिकार दिया, निम्न मध्यम वर्ग और

साधारण वर्ग के लोगों को मताधिकार नहीं दिया। अब भी चौबीस व्यक्तियों में तेईस व्यक्ति मताधिकार से वंचित थे। अभी कुछ छोटे-छोटे बौरो थे जो कुछ परिवारों के ही अधिकार में थे। इस तरह 1832 के सुधार नियम से असंतुष्ट हो कुछ लोगों ने राजनैतिक सुधारों के लिए एक आन्दोलन चलाया। इसे चार्टिस्ट आन्दोलन (1838-48) कहते हैं। इनकी छः माँगे थीं जो राजनैतिक ढंग की थीं। किन्तु 1866 ई० तक राजनैतिक सुधार के क्षेत्र में प्रगति नहीं हुई। पामर्स्टन सुधार के मार्ग में बहुत बड़ा बाधक था।

1. **रसल का द्वितीय मन्त्रिमण्डल (1865-66):** लॉर्ड पामर्स्टन की म त्यु के बाद रसल का दूसरा मन्त्रिमण्डल कायम हुआ। पामर्स्टन के अधिनायकत्व काल में किसी भी तरह के सुधार नहीं हुए और सुधारवादी चुपचाप मुँह लटकाये रहे, अतः अब उसके निधन के पश्चात् इसमें फिर जाग ति आयी। रसल स्वयं बहुत बड़ा सुधारवादी था। प्रथम सुधार बिल उसी का पेश किया हुआ था। उसके बाद भी 1852, 1854 और 1860 ई० में उसने सुधार बिल पेश किये थे, पर असफलता मिली थी। अब इस बार जबकि सुधार आन्दोलन नये सिरे से संगठित हो रहा था और रास्ते की बहुत-सी रूकावटें समाप्त हो गयी थीं, रसल के लिए चुप बैठना अस्वाभाविक-सा था, अतः उसकी सम्मति से 1866 ई० में ग्लैडस्टोन ने मताधिकार बढ़ाने के लिए एक बिल उपस्थित किया पर यह बिल बहुत नरम था और इससे किसी बड़े परिवर्तन की गुंजाइश नहीं थी। अनुदारवादियों के साथ-साथ रॉबर्ट लॉक के नेत त्व में बहुत-से उदारवादियों ने भी इसका विरोध किया और यह स्वीकृत न हो सका। इस पर जून 1866 ई० में रसल की सरकार ने पदत्याग दिया। इस समय से रसल ने राजनीति में सक्रिय भाग लेना छोड़ दिया और एक तरह से उसके राजनीतिक जीवन का अन्त हो गया।

2. **डर्बी का त तीय मन्त्रिमण्डल (1866-68):** रसल के बाद डर्बी तीसरी बार प्रधानमन्त्री हुआ। इस बार डिसरैली उसका प्रमुख सहयोगी था। इस सरकार ने 1867 ई० में एक कानून के द्वारा कनाडा का डोमीनियन स्थापित किया। सुधार बिल के लिए आन्दोलन तो चल ही रहा था और अब वह उग्र रूप पकड़ता जा रहा था। डिसरैली भी अब यह समझ गया था कि सुधार आवश्यक है और इसकी माँग टालना राष्ट्र के साथ विश्वासघात करना होगा, अतः उसने 1867 ई० में एक सुधार बिल उपस्थित किया। 1866 ई० के सुधार बिल से यह अधिक उपयोगी बनाया गया था। डिसरैली ने डर्बी, सैलिसबरी आदि अपने अनुदार सहयोगियों को भी समझा-बुझाकर इसके पक्ष में कर लिया। उदारवादी तो इसके पक्ष में थे ही, अतः यह बिल ग्लैडस्टोन के कुछ संशोधनों के साथ पास हो गया। इस मन्त्रिमण्डल का यह महत्त्वपूर्ण कार्य था जिससे अंग्रेजी प्रतिनिधित्व प्रणाली तथा मताधिकार में बहुत परिवर्तन हो गये।

सुधार बिल की शर्तें:

1. **प्रतिनिधित्व प्रणाली:** इस बिल के द्वारा छोटे-छोटे बौरो से प्रतिनिधि भेजने का अधिकार छीन लिया गया। पैंतीस ऐसे बौरो को जिनकी आबादी दस हजार से कम थी-एक से अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार नहीं मिला। इन परिवर्तनों के द्वारा बावन स्थान रिक्त हुए थे। उन्हें बड़ी-बड़ी काउन्टियों तथा नये बौरो में बाँट दिया गया। बारह नये बौर बनाये गये। बरर्मिंघम, मैन्चेस्टर, ग्लास्गो, लीड्स, लीवरपूल-जैसे पाँच बड़े-बड़े शहरों को तीन-तीन प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिला। लंदन तथा स्कॉटलैंड की यूनिवर्सिटियों को भी प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया।

   इन परिवर्तनों के बावजूद कॉमन्स सभा के सदस्यों की कुल संख्या पूर्ववत् 658 ही कायम रही।

2. **मताधिकार:** बहुत पहले से ही काउन्टियों में दो पौंड लगा देने वाले स्वतन्त्र भू-स्वामियों को मताधिकार प्राप्त था। उसे ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया गया लेकिन कापी होल्डरों और पट्टेदारों के मताधिकार की योग्यता आधी कर दी गयी। बारह पौंड वार्षिक लगान देने वाले किसानों को भी मताधिकार दे दिया गया। ये किसान भूमि के मालिक नहीं बल्कि केवल जोतने वाले थे। बौरो में सभी मकान-मालिकों और दस पौंड वार्षिक किराया देने वाले सभी व्यक्तियों को मताधिकार मिल गया और अब दस पौंड वार्षिक लगान देने की योग्यता समाप्त कर दी गयी। आयरलैंड वालों के लिए कम-से-कम चार पौंड कर देने वालों को मताधिकार मिला और स्कॉटलैंड में सभी कर देने वालों को मताधिकार मिल गया, पर उसकी कोई रकम नहीं निश्चित की गयी। तीन सदस्य भेजने वाले क्षेत्र में प्रत्येक मतदाता को केवल दो ही मत देने के लिए अधिकार दिया गया।

सुधार बिल का प्रभाव

इससे इंग्लैंड में प्रचलित मताधिकार प्रणाली में महान परिवर्तन हुए और अब इंग्लैंड में यह प्रणाली बहुत अंश तक प्रजातान्त्रिक हो गयी। मतदाताओं की संख्या में दस लाख की व द्धि हुईं और इस तरह विशाल जनसमूह को मताधिकार प्राप्त हो गया। अब बारह व्यक्तियों में एक व्यक्ति मत देने का अधिकारी हो गया। शासन से अब जमींदारों और पूँजीपतियों का प्रभुत्व समाप्त हो गया। प्रथम सुधार बिल से मध्य वर्ग को मताधिकार प्राप्त हो तो गया था लेकिन शासन में उनका अभी कोई महत्त्व न था और उच्च वर्ग वाले ही अब भी शक्तिशाली थे पर अब उनके दिन लद चुके थे और शासन में मध्य वर्ग का ही प्रभुत्व कायम हुआ। अब काउन्टियों के लगभग सभी ग हस्थों को मताधिकार मिल गया तथा नगरों में बहुत-से कारीगरों तथा व्यवसायियों को यह अधिकार प्राप्त हो गया। अब शासन का आधार कोई वर्ग-विशेष न होकर जनहित रहा और सभी राजनैतिक दलों को अपनी नीति इसी के मुताबिक बदलनी पड़ी।

अब विभिन्न दलों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने-अपने उम्मीदवारों के लिए निर्वाचकों के विशाल समुदाय को प्रभावित करें। इसके लिए उन दलों के नेता अखबारों और सभाओं के जरिये अपने पक्ष में लोकमत के निर्माण के लिए चेष्टा करने लगे। नये निर्वाचक तो किसी दल विशेष से सम्बन्धित नहीं थे, अतः जिस दल का विशेष प्रचार होता था, उसी दल के पक्ष में बहुमत प्राप्त होता था। जहाँ पहले खासकर 1846 ई० के बाद सरकार को बहुमत प्राप्त होता था वहाँ अब 1868 ई० के बाद अपार बहुमत प्राप्त होने लगा, अतः यह नियम बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ।

लेकिन, इसमें त्रुटि यही थीं कि खेतिहर मजदूर तथा छोटे-छोटे नगरों के श्रमिक मताधिकार से वंचित रखे गये। कई नेताओं ने इस सुधार नियम को नापसन्द किया। **सेलिसबरी** के शब्दों में यह एक राजनीतिक विश्वासघात था जिसकी समता ब्रिटिश इतिहास में नहीं पायी जाती। **कालीदास** के शब्दों में यह 'शूटिंग नियाग्रा' के समान था। **लॉर्ड डर्बी** स्वयं इस बिल के पक्ष में नहीं था; क्योंकि वह इसे उपयोगी नहीं समझता था लेकिन डिसरैली के कहने पर उसने इसका समर्थन किया था पर बिल स्वीकृत हो जाने के बाद उसने 1868 ई० में पद-त्याग कर दिया और डिसरैली प्रधानमन्त्री बना। उसने इस नियम को 'अन्धेरे में कूदना' कहा था।

उदारवादियों ने भी डिसरैली की कटु आलोचना की। **ग्लैडस्टोन** के शब्दों में यह डिसरैली की 'शैतान चालाकी' थी। पहले उसने इसका विरोध किया था किन्तु बाद में उसी के प्रयास से यह पास हुआ, अतः कहा जाता है कि उदारवादी जब तक स्नान करने लगे तब तक उसने उनके कपड़ों को ले लिया।

जो भी आलोचना की जाय डिसरैली ने समय की माँगों को पूरा किया। उसका यह कार्य प्रजातन्त्र के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कदम सिद्ध हुआ। यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि '1867 ई० का सुधार विधेयक 1832 ई० के सुधार विधेयक से अधिक क्रान्तिकारी था। इसके फलस्वरूप ग्रेट ब्रिटेन सभी व्यावहारिक द ष्टियों से एक राजनैतिक प्रजातंत्र बन गया।' 1868 ई० में ही संसदीय क्षेत्र में एक और मुख्य सुधार हुआ। पहले एक व्यक्ति के स्थान पर दूसरा व्यक्ति भी मतदान कर देता था। इसे प्रतिनिधित्व (प्रौक्सी) द्वारा मतदान की प्रथा कहते थे। 1868 ई० में यह प्रथा भी उठा दी गयी।

अन्य सुधार अधिनियम

ग्लैडस्टोन उदारवादियों के प्रसिद्ध नेता थे। वे राजनीतिक सुधार एवं प्रजातन्त्र के पक्षपाती थे। उन्होंने अपने प्रथम मंत्रिमण्डल (1868-74) में 1872 ई० में एक नियम पास कर गुप्त मतदान की प्रथा चलायी। उन्होंने अपने मन्त्रिमण्डल (1880-85) में मताधिकार के विस्तार और स्थानों के पुनर्वितरण की व्यवस्था की। चुनाव क्षेत्र में भ्रष्टाचार को रोकने के लिए भी प्रयत्न किया गया और इस सम्बन्ध में भी एक नियम पास हुआ।

भ्रष्टाचार निवारण नियमः 1883 ई० में भ्रष्ट एवं अवैध प्रथा निवारण नियम (Corrupt and Illegal Practices Act) पास हुआ। इसके द्वारा प्रचलित भ्रष्टाचार को रोकने की कोशिश की गयी। पार्लियामेंट के किसी उम्मीदवार को चुनाव के समय खर्च करने की रकम सीमित कर दी गयी। होता यह था कि काफी धन खर्च कर घूस आदि के द्वारा अयोग्य व्यक्ति भी सदस्य निर्वाचित हो जाते थे पर अब खर्च को सीमित कर इसे रोकने का प्रयास हुआ।

मताधिकार नियम (1884) तथा स्थानों का पुनर्वितरण नियम (1885): हम देख चुके हैं कि 1867 ई० में दूसरा सुधार नियम पास होने से इंग्लैंड की जनसंख्या में बारह व्यक्तियों में एक व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त हुआ किन्तु अभी भी

ग्यारह आदमी के हिसाब से लोगों को मताधिकार नहीं मिला था, अतः 1884 ई० में ग्लैडस्टोन ने काउन्टियों में मताधिकार का विस्तार करने के लिए तीसरा सुधार नियम उपस्थित किया लेकिन स्थानों के पुनर्वितरण के सम्बन्ध में कोई बात न देखकर लॉर्ड सभा ने इसका बड़ा ही विरोध किया। ग्लैडस्टोन सीटों के वितरण के सम्बन्ध में दूसरा ही बिल अलग से उपस्थित करना चाहता था, जिसे उसने प्रकट नहीं किया था। लॉर्डों ने पार्लियामेंट को भंग करने की माँग पेश की किन्तु ग्लैडस्टोन ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया। अन्त में महारानी के प्रयत्न से समझौता हो गया। ग्लैडस्टोन ने पुनर्वितरण के प्रस्तावों के सिद्धान्त को प्रकट किया। तब 1884 ई० में मताधिकार नियम और 1885 ई० में स्थानों का पुनर्वितरण नियम पास किये गये।

परिवर्तनः पहले नियम के अनुसार मताधिकार प्रणाली में परिवर्तन किया गया। अब बौरो और काउन्टी में मताधिकार को एक समान कर दिया गया। बौरो की तरह काउन्टी में भी मकान-मालिकों और दस पौंड वार्षिक किराया देने वालों को मताधिकार दे दिया गया।

द्वितीय नियम के द्वारा प्रतिनिधित्व प्रणाली में परिवर्तन हुआ। जिन बौरो की जनसंख्या 15,000 से कम थी, उनसे प्रतिनिधित्व का अधिकार छीन लिया गया। 50,000 तक की जनसंख्या वाले बौरो को एक ही प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिला। इस तरह 50,000 और 1,65,000 के बीच की जनसंख्या वाले बौरो दो प्रतिनिधि भेज सकते थे। 1,65,000 से अधिक जनसंख्या वाले बौरो के प्रति 50,000 पर एक अतिरिक्त प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिला। निर्वाचन-क्षेत्रों के निर्माण करने में जनसंख्या का ख्याल रखा गया और साधारणतः एक सदस्य के आधार पर उनका विभाजन कर दिया गया। इस तरह एक सौ साठ स्थान रिक्त हुए और बारह नयी सीटें बढ़ायी गयीं। इन सभी सीटों का पुनर्विभाजन किया गया। अब बड़े-बड़े शहरों के प्रतिनिधियों की संख्या में और भी व द्धि कर दी गयी। अब लन्दन के प्रतिनिधियों की संख्या बाईस से बासठ हो गयी। कुछ दूसरे शहरों के प्रतिनिधियों की संख्या तीन से नौ तक बढ़ा दी गयी। बारह नयी सीटों के निर्माण होने से कॉमन्स सभा के कुल सदस्यों की संख्या छः सौ अठावन से छः सौ सत्तर हो गयी। इनमें चार सौ पैंसठ सदस्य इंग्लैंड का, तीस वेल्स का, एक सौ तीन आयरैंड का और बहत्तर स्कॉटलैंड का प्रतिनिधित्व करते थे।

परिणामः इन नियमों के पास हो जाने से कृषक मजदूरों और शहरों के लगभग सभी नागरिकों को मताधिकार प्राप्त हो गया। अब वहाँ की जनसंख्या में सात व्यक्तियों में एक व्यक्ति मतदाता बन गया। अब मतदाताओं की संख्या 20,00,000 से लगभग 50,00,000 हो गयी और इंग्लैंड पूर्ण जनतान्त्रिक राज्य के बहुत ही निकट पहुँच गया।

देहाती मजदूरों के हाथ में मताधिकार आने से स्थानीय शासन के क्षेत्र में भी प्रगति हुई। 1888 ई० में निर्वाचित काउन्टी कौंसिलों की स्थापना हुई। छः वर्षों के बाद शहरी एवं देहाती जिला कौंसिलों तथा पेरिस कौंसिलों का निर्माण हुआ। इस तरह अब शान्ति न्यायाधिकारी के हाथ से शासन सम्बन्धी कामों को ले लिया गया। अब उसके हाथ में न्याय सम्बन्धी काम रहा।

1911 ई० का पार्लियामेंट अधिनियमः 1832 और 1910 के बीच मताधिकार का विस्तार हुआ और लोक-प्रतिनिधि कॉमन्स सभा में आने लगे। कॉमन्स सभा के प्रजातंत्रीकरण के साथ लॉर्ड सभा की अप्रियता बढ़ने लगी। अब तक दोनों सभाओं के अधिकार बराबर थे किन्तु 1911 ई० में पार्लियामेंट एक्ट पास कर लॉर्ड सभा को शक्तिहीन बना दिया गया। लॉर्ड सभा के पंख कट गये और वह पंगु बन गयी। अब कॉमन्स सभा की तुलना में वह गौण संस्था हो गयी। अब वह अर्थ विधेयक को एक महीना और अन्य विधेयक को दो साल तक पास होने से रोक सकती थी। पार्लियामेंट के सदस्यों के लिए चार सौ पौंड वेतन भी निश्चित कर दिया गया।

यद्यपि 1914 तक ब्रिटेन में उदारवादी युग का अन्त हो गया किन्तु युग की विशेषताएँ बनी रहीं। उदारवादी युग में कार्रवाई की जो आदतें पड़ीं, न्यायालयों और संसदों में जो व्यवस्थाएँ कायम हुईं, वे बाद में भी बनी रहीं। मतदान से संबंधित सारे भ्रष्टाचार हमेशा के लिए समाप्त हो गए। सरकार संसदीय समय-सारिणी पर नियंत्रण रखती है लेकिन अल्पमत की आवाज को दबा नहीं सकती। प्रेस, रेडियो, टेलीविजन आदि पर अनेक नियंत्रणों के बावजूद सरकार की आलोचना उन माध्यमों से होती है। सम्भवतः ब्रिटेन की उदारवादी ढंग से लोकतंत्र को चलाने की क्षमता देश की संस्थाओं की निरंतरता, राष्ट्रीय चरित्र, कार्यवाही प्रक्रिया के प्रति आदर की भावना, इत्यादि कारणों के चलते है।

उदारवाद एवं अर्थव्यवस्था

राजनीति के अतिरिक्त 19वीं शताब्दी की उदारवादी विचारधारा का असर ब्रिटेन एवं पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों की अर्थव्यवस्था पर भी देखने को मिला। आर्थिक उदारवाद उन्मुक्त व्यापार (Laissez faire) का समर्थक था जिसमें राज्य का हस्तक्षेप नहीं होता। यह विचारधारा मूलतः औद्योगिक क्रान्ति की उपज थी। अठारहवीं सदी तक आर्थिक क्षेत्र पर वाणिज्यवाद (mercantilism) का असर था। परन्तु सदी के अन्तिम वर्षों में वातावरण इसके विरुद्ध बनने लगा। **एडम स्मिथ** जैसे अर्थशास्त्री व्यापारिक प्रतिबन्धों तथा वाणिज्यवाद की आलोचना करने लगे थे। इनके अनुसार शासनतंत्र को देश की अर्थव्यवस्था का नियमन करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। ब्रिटेन में प्रतिबंधात्मक वाणिज्य नीतियों का सबसे अधिक विरोध औद्योगिक उत्पादकों के द्वारा किया जा रहा था। वस्तुतः प्रतिबंधों से ब्रिटेन के व्यापार में रुकावट होती थी। इसी कारण ब्रिटेन के उद्योगपति इसका विरोध करते थे। वस्तुतः 19वीं सदी के दूसरे दशक के अंत तक ब्रिटेन औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में अन्य यूरोपीय देशों से बहुत आगे हो गया था। यह आशा की जाती थी कि यदि ब्रिटेन में चुँगी की दरें घटा दी जायें तो दूसरे देश भी ब्रिटिश सामानों के आयात पर चुँगी कम कर देंगे। नेपोलियन के युद्धों के समाप्त होने पर इंग्लैंड को भी भारी मंदी का सामना करना पड़ा। इसलिए ब्रिटिश उद्योगपति अपने गोदामों में अनबिके माल का अम्बार देखते हुए आयात पर चुँगी दर कम करने की माँग करने लगे। वे अधिक संरक्षण की माँग भी कर रहे थे।

ब्रिटेन में संसदीय सुधारों के फलस्वरूप उन्मुक्त व्यापार-नीति के प्रतिपादकों का विधि-निर्माण में अधिक हाथ रहने लगा। इसके फलस्वरूप देश में आर्थिक उदारवाद का मार्ग प्रशस्त हुआ। 1815 में अनाज कानून (Corn Law) भू-पतियों के दबाव के चलते पास हुआ। इस कानून के अनुसार जब तक ब्रिटेन में अनाज का भाव एक विहित स्तर नहीं पहुँच जाता, उसका आयात विदेशों से लगभग बन्द करने की व्यवस्था थी। उन्मुक्त व्यापार के पक्ष में कारखानेदारों के द्वारा डाले जाने का प्रभाव 1823-1825 के बीच प्रकट हुआ। टोरी मंत्रीमण्डल में विलियम हस्किंसन कुछ वस्तुओं के आयात पर से चुँगी दर कम कराने में सफल रहा। 1828 में कार्न ला में संशोधन करके अनाज के आयात में कुछ छूटें दी गयीं। किन्तु तब तक संसद पर भूपतियों का प्रभाव बना रहता कारखानेदार उन्मुक्त व्यापार का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकते थे। अतः कारखानेदारों ने अब संसद के लिए चुनाव प्रणाली में परिवर्तन करने के लिए आन्दोलन शुरू किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने 1838 में 'एंटी कार्न ला लीग' की स्थापना भी की। 1846 में टोरी मंत्री **सर राबर्ट पील** ने कार्न ला को समाप्त कर दिया। ब्रिटेन में उन्मुक्त व्यापार के युग की शुरूआत का यह पहला किन्तु बड़ा कदम था। प्रथम विश्व युद्ध के काल तक ब्रिटेन उन्मुक्त व्यापार में अग्रणी रहा। इसके बाद लगभग सभी वस्तुओं पर चुँगी हटा दी गयी या उसकी दर कम कर दी गयी।

ब्रिटेन में 19वीं सदी में अहस्तक्षेपवादी प्रव त्ति अधिकाधिक प्रभावी हो रही थी। परन्तु आंकड़ों से ज्ञात होता है कि उन्मुक्त व्यापार की नीति के प्रसार के वर्षों में मजदूर वर्ग के हित में उद्योग-धंधों में अधिकाधिक सरकारी हस्तक्षेप तथा नियमन की परम्परा भी विकसित हो रही थी। मजदूर वर्ग का लासेज फेयर से स्वाभाविक विरोध था। मजदूर अपने वेतन, काम के घंटों, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि में सुधारों की माँग करने लगे जिनकी पूर्ति सरकारी हस्तक्षेप से ही हो सकती थी। 1833 में संसद ने पहला फैक्टरी ऐक्ट पास करके सूती मिलों में बच्चों से काम लेने के घंटों में कमी की और उनके इलाज आदि के कुछ अन्य प्रावधान किए। अगले दशक में मजदूरों के हित में और भी कानून बनाए गये। खानों में स्त्रियों और बच्चों से काम कराने पर कुछ रोक लगायी गयी। खानों में काम करने वालों की सुरक्षा व्यवस्था को अधिक कारगर बनाने तथा कारखानों में सफाई की व्यवस्था रखने के प्रावधान किए गए। 1847 के फैक्टरी ऐक्ट में 10 घंटा काम करने का प्रावधान केवल स्त्रियों और बच्चों के लिए था, परन्तु व्यवहार में यह वयस्क पुरुषों के लिए भी कारगर हो गया था। ये कानून सरकारी हस्तक्षेप के फलस्वरूप ही बन रहे थे। इस क्रम में चार्टिस्ट आन्दोलन का उल्लेख करना जरूरी हो जाता है।

चार्टिस्ट आन्दोलन (1838-1848)

कारणः हम देख चुके हैं कि 1815 और 1820 ई० के बीच का काल भीषण संकट, असीम दुःख और भयंकर निर्धनता का काल था। 1840 ई० तक जनसंख्या में निरन्तर परिवर्तन होता रहा। इंग्लैंड का राष्ट्रीय जीवन अब शहरों में ही सीमित रहने लगा, अतः उसकी समस्या भी अब शहर के निवासियों और मजदूरों की समस्या हो गयी। मध्य वर्ग की स्थिति दिनों-दिन अच्छी होती जा रही थी और वे धनी होते जा रहे थे लेकिन श्रमिक वर्ग की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं था। धन पैदा तो वे ही करते थे। इस आर्थिक असमानता के सिवा धनी और गरीबों के बीच सामाजिक खाई भी दिनों-दिन गहरी होती जा रही थी। 1832

ई० में सुधार कानून भी पास हुआ था लेकिन उससे सिर्फ उच्च मध्य वर्ग को ही लाभ पहुँचा। इससे मजदूर वर्ग में बड़ा असंतोष फैला; क्योंकि उन लोगों ने भी सुधारों के लिए आन्दोलन किया था और उन्हें ही कोई सुविधा नहीं मिली। उत्तर के औद्योगिक केन्द्र में लोग भूख से पीड़ित थे और विद्रोह करने के लिए प्रेरित हो रहे थे, अतः अब सरकारी प्रयत्नों में बहुत-से लोगों का विश्वास उठ गया और वे इसे बदल डालने के लिए उत्सुक हो रहे थे। इन सब कारणों से विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ।

इनमें एक समाजवाद था जो मुख्यतः आर्थिक आन्दोलन था और व्यावसायिक स्थिति में परिवर्तन लाना इसका ध्येय था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ से ही इसका विकास हो रहा था। इसका प्रमुख प्रवर्तक **रॉबर्ट ओवेन** था। प्रारम्भ में लोग सुधार बिल की माँग पर अधिक आकृष्ट थे और समाजवाद की तरफ से लोगों का ध्यान अलग रहा लेकिन सुधार बिल पास होने पर भी सब को निराश होना पड़ा और लोग इधर आकृष्ट हुए। 1832 ई० के बाद प्रचलित समस्याओं के समाधान के लिए राष्ट्रीय हड़तालें हुईं। 1834 ई० में ओवेन ने सभी मजदूरों को संगठित करने के लिए एक व हद् राष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना की लेकिन इसकी संतोषजनक प्रगति नहीं हुई और यह असफल हो गया। इसी बीच सरकार ने छः मजदूरों को 1797 ई० के कानून के अनुसार राजद्रोही साबित किया और सात वर्ष के लिए उन्हें देश-निर्वासन की सजा मिली। वे आस्ट्रेलिया भेज दिये गये। वैसे तो वर्षों के बाद सरकार ने उन्हें क्षमा कर दी लेकिन इस घटना से ह्विग् सरकार के खिलाफ श्रमिक वर्ग बौखला उठा। इसी समय नवीन दरिद्र नियम लागू किया गया जिससे प्रारम्भ में मजदूरों को असुविधा ही हुई, अतः अब उन्हें विश्वास हो गया कि इन 'नीच, खूनी और बर्बर' ह्विगों ने धोखा दिया है। उनकी समझ में अब अधिक परिवर्तन की आवश्यकता दीख पड़ने लगी। इस कारण चार्टिस्टों का प्रादुर्भाव हुआ।

सन् 1838 ई० में मजदूर वर्ग की तरफ से एक चार्टर या प्रपत्र तैयार किया गया जिसे लोक-प्रपत्र (पीपुल्स चार्टर) कहा जाने लगा। चार्टर के समर्थक ही चार्टिस्ट कहलाये। बहुत अधिक संख्या में मजदूरों ने इसका समर्थन किया। इनके दो प्रमुख नेता थे। इनमें एक था **फीयर्गस ओकोनर** नामक आयरिश जिसने उत्तर के चार्टिस्टों का नेत त्व किया। उनका पत्र 'नॉदर्न-स्टार' इस आन्दोलन का प्रमुख पत्र था। दूसरा था लन्दन निवासी विलियम लॉवेट जिसने लन्दन के चार्टिस्टों का नेत त्व किया। 1836 ई० में लन्दन में एक श्रमिक संघ की स्थापना हुई थी जिसका वह एक प्रमुख और सक्रिय सदस्य था।

चार्टिस्टों की माँगें: चार्टिस्टों की छः प्रमुख माँगें थीं-पार्लियामेंट का वार्षिक निर्वाचन, पार्लियामेंट के सदस्यों को वेतन, पार्लियामेंट की सदस्यता के लिए साम्पत्तिक योग्यता का न रहना, समान निर्वाचन क्षेत्र, बालिग पुरुषों को मताधिकार और गुप्त मतदान की प्रथा। चार्टिस्ट की ये ही माँगें थीं जिनका प्रचार समाचारपत्रों तथा भाषणों के द्वारा किया जाने लगा।

चार्टिस्ट आन्दोलन का स्वरूप: चार्टिस्टों की माँगों की सूची देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी सारी माँगें राजनीतिक ढंग की थीं। वे पूर्ण प्रजातंत्र के सिद्धान्त को मानते थे और पूँजीपतियों तथा श्रमिकों के बीच राजनैतिक समानता स्थापित करना चाहते थे। चार्टरवाद का उद्देश्य था कि श्रमिक वर्ग के लिए राजनीतिक सत्ता प्राप्त की जाय। इस तरह चार्टिस्ट आन्दोलन मुख्यतः राजनीतिक आन्दोलन था किन्तु इसका स्वरूप सामाजिक भी था। आन्दोलन का वास्तविक उद्देश्य था राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण सुधारों को करना ताकि मजदूरों की दशा सुधरे और उनका जीवन-स्तर ऊपर उठे। मजदूरों को ऐसा विश्वास हो गया था कि उनके हाथ में सत्ता एवं शक्ति आये बिना उनके हित में कोई सुधार नहीं हो सकता, अतः प्रपत्रवाद (चार्टरवाद) वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति में एक साधन मात्र था।

चार्टिस्ट आन्दोलन का इतिहास: चार्टिस्ट आन्दोलन के मूल में ही दुर्बलता एवं असफलता के बीज छिपे हुए थे। नेताओं के बीच प्रारम्भ से ही साधनों के सम्बन्ध में गहरा मतभेद था। ओकोनर क्रान्तिकारी तथा हिंसात्मक साधनों का समर्थक था, अतः उसके दल का नाम 'भौतिक शक्ति दल' (फिजिकल फोर्स पार्टी) पड़ा किन्तु इस दल वाले अल्पमत में थे। विलियम लॉवेट एक सुसंस्कृत व्यक्ति था और वैधानिक साधनों का समर्थक था, अतः उसका दल 'नैतिक शक्ति दल' (मॉरल फोर्स पार्टी) कहलाया। यह दल वाले बहुमत में थे।

जहाँ-तहाँ सार्वजनिक सभाएँ होती थीं और उनमें प्रपत्र की माँगों का प्रचार किया जाता था। इस बात पर भी जोर दिया जाता था कि इन माँगों को स्वीकृत कराने के लिए सरकार को प्रभावित किया जाय-उस पर दबाव डाला जाय। यद्यपि चार्टिस्ट की माँगें बहुत ही प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी थीं, सरकार ने प्रारम्भ में उनकी उपेक्षा ही की। सरकार चार्टिस्टों के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं करती थी और सभा तथा प्रचार करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

प्रथम आवेदन-पत्र और दंगे-फसाद: 1839 ई० में संसद् (पार्लियामेंट) के पास एक आवेदन-पत्र भेजने का निश्चय हुआ। इस पर लगभग दस लाख लोगों के हस्ताक्षर कराये गये किन्तु संसद ने उसे ठुकरा दिया। अब नैतिक शक्ति दल की प्रतिष्ठा में इससे बड़ा आघात पहुँचा और इसके विरुद्ध प्रचार के लिए भौतिक शक्ति दल को मौका मिला। इस दल के सदस्यों का प्रभाव बढ़ने लगा। ये जहाँ-तहाँ सभाओं में क्रान्तिकारी भाषण देने लगे। इससे दंगे-फसाद को प्रोत्साहन मिला।

उत्तर के कई व्यावसायिक क्षेत्रों में दंगे-फसाद होने लगे। मन्मथशायर के कुलियों ने जॉन फ्रॉस्ट के नेत त्व में एक बड़ा ही भयंकर विद्रोह कर डाला। न्यूपोर्ट के जेल पर हमला करने की चेष्टा की गयी; क्योंकि उसी जेल में हेनरी विन्सेन्ट आदि जैसे कुछ प्रमुख चार्टिस्ट बंद किये गये थे। अब सरकार ने भी दमनकारी कार्यवाही शुरू की। सैनिक बुलाये गये जिनसे विद्रोहियों की मुठभेड़ हो गयी और अब इनकी खूब खबर ली जाने लगी। तीस चार्टिस्ट मारे गये और बहुत से घायल हुए। सर्वत्र दंगे दबा दिये गये और प्रमुख नेता कैद कर लिये गये। फ्रॉस्ट को देश से निर्वासित कर दिया गया। भौतिक शक्ति दल भंग कर दिया गया। कुछ समय के बाद नेताओं को छोड़ दिया गया किन्तु कारावास के दंड से कितनों के स्वास्थ्य बिगड़ गये। जेल से मुक्त होने के बाद लॉवेट तो राजनीति से विरक्त ही हो गया। उसके द्वारा स्थापित श्रमिक संघ भी क्रमशः विलीन हो गया।

दूसरा आवेदन-पत्र: दमन के बावजूद चार्टिस्टों ने हिम्मत नहीं हारी और अपना प्रयत्न जारी रखा। 1840 ई० में ही एक राष्ट्रीय चार्टर संघ की स्थापना हुई। नैतिक शक्ति दल अन्न-कानून विरोधी संघ का समर्थन करने लगा। 1842 ई० में एक दूसरा बड़ा आवेदन-पत्र तैयार किया गया जिस पर तीस लाख व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराये गये। यह संसद में पेश किया गया किन्तु यह फिर अस्वीकृत हो गया। अब चार्टिस्ट जहाँ-तहाँ हड़ताल कराने लगे और उसमें सक्रिय भाग लेने लगे लेकिन मेलबोर्न सरकार की भाँति ही पील सरकार ने भी चार्टिस्टों को कैद कर जेल में भर दिया। कुछ तो देश-निर्वासित कर दिये गये और बाकी सभी दबा दिये गये।

तीसरा आवेदन-पत्र: लगभग छः वर्ष चार्टिस्ट शान्त रहे किन्तु 1848 ई० में वे फिर सक्रिय हो उठे। 1848 ई० यूरोप के इतिहास में क्रान्तियों का साल था। इस वर्ष सर्वत्र लुप्तप्राय दीपशिखा की अन्तिम ज्वाला भी प्रज्वलित हो उठी। यूरोप के सभी उदारवादी और प्रजातांत्रिक संस्थाओं ने विद्रोह का झंडा ऊँचा किया और क्रान्तिकारी सुधारों की माँग की। इससे ओकोनर भी अपनी शक्ति की आखिरी आजमाइश करने को प्रोत्साहित हुआ। उसने वेस्टमिनस्टर में प्रदर्शन के लिए बहुत बड़ी संख्या में चार्टिस्टों को संगठित किया। वहीं वह त तीय आवेदन-पत्र उपस्थित करने वाला था जिसमें पचास या साठ लाख व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे लेकिन अधिकारियों ने कॉमन्स सभा के नजदीक प्रदर्शन करने से मनाही कर दी। प्रधान सेनापति वेलिंगटन का ड्यूक हजारों सैनिकों और उच्च तथा मध्य वर्ग के लोगों से निर्मित एक लाख सात हजार स्पेशल कान्सटेबुलों के साथ किसी भी अशांति का सामना करने के लिए डटा हुआ था। प्रदर्शन के साथ ओकोनर वेस्टमिन्स्टर ब्रिज से आगे नहीं बढ़ सका और पानी बरसने और मौसम की खराबी के कारण उसके समर्थक यत्र-तत्र भाग चले, फिर भी, आवेदन-पत्र एक गाड़ी द्वारा कॉमन्स सभा में लाया गया तथा उसकी जाँच की गयी। आवेदन-पत्र के बहुत-से हस्ताक्षर यहाँ तक कि रानी तथा वेलिंगटन के ड्यूक तक के हस्ताक्षर जाली निकले तथा एक ही हस्ताक्षर को बार-बार दुहराया हुआ पाया गया। बहुत से ऐसे व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे जिन नामों के व्यक्ति इंग्लैंड में थे ही नहीं। इस पर कॉमन्स सभा में बड़ा कौतूहल हुआ। अब चार्टिस्ट लोग मजाक और विनोद के विषय बन गये और उन्हें दबाने की भी आवश्यकता नहीं हुई। थोड़े ही समय में उनकी स्थिति ही विलीन हो गयी।

आन्दोलन की असफलता के कारण: इस प्रकार चार्टिस्ट आन्दोलन बुरी तरह असफल रहा। इसकी असफलता के कई कारण थे। पहले तो 'प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः' वाली कहावत चरितार्थ हुई। प्रारम्भ से ही नेताओं के बीच मतभेद पैदा हो गया था। चार्टिस्ट दो नेताओं के पथ-प्रदर्शन में दो भागों में विभक्त थे-उग्रपन्थी जो अल्पमत में थे और नरमपन्थी जो बहुमत में थे। इस तरह दो दलों में विभक्त होने से उनकी शक्ति कमजोर हो गयी। प्रारंभ से ही शक्तिशाली एवं प्रभावशाली केन्द्रीय पथ-प्रदर्शन एवं नेत त्व की कमी हो गयी।

दूसरे, चार्टिस्टों ने जालफरेब आदि कुछ ऐसे उपायों का अवलम्बन लिया जिससे उनकी हँसी उड़ायी जाने लगी और वे लोगों की द ष्टि में हेय और उपेक्षित हो गये। उनका कोई महत्त्व ही नहीं रह गया। इतना ही नहीं, बीमारी थी कुछ और इलाज हो रहा था कुछ। सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में बीमारियाँ थीं जिनके कारण सर्वसाधारण को कष्ट एवं कठिनाइयों का कटू अनुभव हो रहा था। उन बीमारियों को दूर करने के लिए राजनैतिक सुधारों के लिए प्रयत्न हो रहे थे। यह विचित्र बात बहुत लोगों की समझ में नहीं आ रही थी।

तीसरे, सरकार भी सुधारों में दिलचस्पी लेने लगी, अतः श्रमिकों का असंतोष भी क्रमशः कम ही होता गया। देश की स्थिति में सुधार होने लगा था। कृषि और व्यवसाय में उन्नति होने लगी। अनाज विधान उठा दिया गया, खाद्यान्न सस्ते होने लगे और मजदूरी में व द्धि होने लगी थी। नरमपन्थी सुधारों की क्रमिक प्रगति से सन्तुष्ट होने लगे और राजनीतिक आन्दोलनों में उनकी कोई दिलचस्पी न रही; क्योंकि उनमें इनकी शक्ति के दुरूपयोग ही होने की विशेष सम्भावना थी।

चौथे, चार्टिस्टों ने श्रमिकों के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं किया। अन्य वर्गों की शक्ति व्यवसाय संघ और सहयोग समितियों के संगठन में लगी हुई थी।

पाँचवें, उनके विचार समय से बहुत आगे थे जिन्हें मानने के लिए उस समय की सरकार तथा जनता कोई भी तैयार नहीं थी।

छठे, चार्टिस्टों में सुयोग्य, व्यावहारिक एवं निपुण नेताओं का भी अभाव था।

सातवें, इंग्लैंड की तत्कालीन सरकार स्वेच्छाचारी नहीं थी। वहाँ लोकप्रिय शासन कायम था, अतः चार्टिस्टों को विस्त त पैमाने पर राष्ट्रीय सहानुभूति नहीं प्राप्त हो सकी; क्योंकि उनके साथ लोकमत नहीं था।

आठवें, यूरोप की अन्य क्रान्तियों की तुलना में चार्टिस्ट आन्दोलन नगण्य एवं साधारण था।

नवें, इंग्लैंड में शान्ति तथा अनुशासन की भावना सुद ढ़ थी और अंग्रेज कोई क्रान्तिकारी कदम उठाने की अपेक्षा क्रमिक प्रगति पर ही विशेष जोर देते थे।

दसवें, प्रारम्भ में चार्टिस्टों को मध्य वर्ग का भी सहयोग या नेत त्व नहीं मिला था। इस वर्ग के लोग अन्न कानून के रद्द कराने में अधिक अभिरुचि रखते थे।

चार्टिस्ट आन्दोलन का परिणामः यों तो 1848 ई० के बाद चार्टिस्टों का अन्त हो गया और उनके आन्दोलन का कोई प्रत्यक्ष और तात्कालिक परिणाम भी नहीं हुआ पर उनके उद्देश्य जीवित रहे। **कार्लाइल** ने लिखा है कि चार्टिस्टों के सिद्धान्त मौलिक, गहरे और व्यापक थे। उनमें ऐसी बातें नहीं थीं जो कल ही प्रारम्भ हुई हों और आज या कल समाप्त हो जायँ। आन्दोलन के रूप में तो वह समाप्त हो गया परन्तु इसकी भावना जारी रही।

इस तरह उनके आन्दोलन का कोई तात्कालिक परिणाम न होने पर भी भविष्य में बहुत-से अप्रत्यक्ष परिणाम हुएः

1. इंग्लैंड के आधुनिक इतिहास में श्रमिकों का यह प्रथम संगठित आन्दोलन था। उस समय असफल हो जाने पर भी इसने मजदूरों में सहयोग एवं एकता की भावना का संचार किया।
2. इसने सभी वर्गों का ध्यान देश में प्रचलित दोषों की ओर आकृष्ट किया उनके निराकरण के लिए सुधारों की आवश्यकता को महसूस कराया। कुछ सुधारों पर चार्टिस्ट आन्दोलन का प्रभाव भी पड़ा। कारखाना नियम, खान नियम (माइन्स एक्ट) और सार्वजनिक स्वास्थ्य नियम (1848) चार्टिस्ट आन्दोलन के ही अप्रत्यक्ष प्रभाव से पास हुए थे। अन्न कानून की समाप्ति पर भी इसका प्रभाव पड़ा था, अतः प्रसिद्ध इतिहासकार **ट्रेवेलियन** का मत है कि इस प्रकार चार्टरवाद ने अप्रत्यक्ष रूप से श्रमिक वर्ग की दशा को उन्नत किया और इस तरह इसके वास्तविक उद्देश्य ही कुछ पूर्ति हुई।
3. उस समय के साहित्य पर इसका असर पड़ा। चार्टिस्ट हलचल ने विक्टोरिया-युगीन आत्म-संतोष की भावना को कसकर झकझोर दिया। अब साहित्य में सामाजिक बुराइयों की चर्चा की जाने लगी और सुधारों पर जोर दिया जाने लगा। इस तरह सामाजिक साहित्य का स जन होने लगा। **कार्लाइल** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (चार्टिज्म पास्ट एंड प्रेजेंट) में चार्टरवाद की भावना का समर्थन किया। **श्रीमती ब्राउनिंग** के 'क्राई ऑफ दि चिल्ड्रेन' और **हूड** के 'साँग ऑफ दि शर्ट' आन्दोलन द्वारा उत्पन्न असंतोष का आभास मिलता है। कुछ अन्य लेखकों की कृतियों पर भी आन्दोलन का प्रभाव द ष्टिगोचर होता है। प्रसिद्ध विचारक जे० एस० मिल पर भी चार्टिस्ट आन्दोलन का प्रभाव पड़ा था।
4. चार्टिस्टों की माँगें भविष्य में लोकप्रिय होती गयीं और धीरे-धीरे उनकी पूर्ति का प्रयास किया गया। एक के सिवा उनकी पाँच माँगें पूरी हो चुकी थीं। तीन कानून (1867, 1884 और 1918) के द्वारा वयस्क पुरुषों को मताधिकार मिल गया। 1867 में नगरों के सभी मकान मालिकों को 1884 में गांवों के भी सभी मकान मालिकों तथा 1918 में 21 वर्ष तक की उम्र के सभी पुरुषों को मत देने का अधिकार प्राप्त हो गया। गुप्त मतदान भी ग्लैडस्टोन के 1872 ई० के बैलट ऐक्ट के द्वारा मिल गया। 1885 में संसद के सदस्यों के लिए निर्धारित सम्पत्ति की योग्यता समाप्त कर दी गयी और सभी निर्वाचन क्षेत्र समान कर दिए गए। 1911 के ऐक्ट के द्वारा सांसदों के वेतन की व्यवस्था की गई।

5. डिजरैली चार्टिस्ट आन्दोलन से बहुत प्रभावित हुआ। इसके प्रभाव में उसने दो उपन्यासों-सिविल और कोनिंग्स्बी की रचनाएँ की। उसने अपने अनुदार दल के सिद्धान्तों को कठोर बनाया और 'युवा इंग्लैंड' नामक उग्रटोरी आन्दोलन चलाया। उसने नवीन व्यापारी एवं मध्यम वर्ग के विरुद्ध मजदूरों तथा कुलीनों के बीच सहयोग का समर्थन किया। वह आर्थिक असमानता तथा मध्यम वर्ग की प्रभुता का अन्त चाहता था।
6. प्रसिद्ध व्यक्तिवादी **जे० एस० मिल** भी औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न असमानता का विरोधी था। उसने अपनी पुस्तक **'पालिटिकल इकोनामी'** में धन के उचित वितरण पर जोर दिया और इसके लिए सरकार के हस्तक्षेप का समर्थन किया।
7. चार्टिस्ट आन्दोलन ने ऐंग्लिकन चर्च को भी प्रभावित किया। कुछ ईसाई समाजवादियों का उदय हुआ जिनके प्रयासों से चर्च में नई स्फूर्ति एवं उत्साह का संचार हुआ। इससे ऑक्सफोर्ड आन्दोलन को भी प्रेरणा मिली।

उदारवाद का विकासः सम्पूर्ण 19वीं सदी में तथा प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक यूरोप में उदारवाद का प्रभाव बना रहा। परन्तु 19वीं सदी के आठवीं दशक से ही इसके ह्रास के लक्षण प्रकट होने लगे थे। इस काल में ऐसी चिन्तनधाराओं की भरमार हो गई थी जिनमें संघर्ष को गरिमापूर्ण बताया जाता था। 19वीं सदी के पाँचवें दशक से ही मार्क्सवादी चिन्तन इस पर बल दे रहा था कि प्रत्यक्ष संघर्ष ही इतिहास की अनुप्रेरक शक्ति है। **शॉपनहावर, नीत्तेश, जार्जेस, सोएल** जैसे चिन्तकों ने भी पराक्रम को अन्य मानवीय गुणों से ऊँचा स्थान दिया। **सिण्डीकलिज्म** का मसीहा **जार्जेस सोएल** ने अपनी पुस्तक **'रिफ्लेक्शन ऑन वायोर्लेस'** में लिखा कि हिंसा प्रशंसनीय है चाहे उससे जो भी लक्ष्य प्राप्त होता हो तथा मजदूर वर्ग को हमेशा वर्ग-संघर्ष के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसे विचारक केवल इस बात पर जोर नहीं देते थे कि संघर्ष हो, बल्कि इस पर भी जोर देते थे कि संघर्ष से निश्चित रूप से कल्याण होता है तथा संघर्ष से ही प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है। 1848 की क्रान्तियाँ, जर्मनी और इटली का एकीकरण या इतिहास की अन्य घटनाएँ संघर्ष के उदाहरण थीं। 1871 के बाद यूरोप के देशों में सैन्यवाद का विस्तार हुआ। संघर्ष के इस वातावरण में धीरे-धीरे यूरोपीय राजनीति में उदारवाद का ह्रास होने लगा था और 1914 तक इसने लगभग दम तोड़ दिया।

उदारवादी काल में जिस तेजी से सुधारों की योजनाएँ अपनाई जा रही थीं उनकी गति मंद पड़ गई। राजनीतिक पार्टियों ने अनुशासन संबंधी कठोर नियम अपनाए। प्रतिपक्ष के रवैये में कठोरता आई। सदस्यों के स्वतंत्रतापूर्वक पक्ष-परिवर्तन करने पर प्रतिबन्ध लगा और संसदीय बहसों का महत्त्व कम हो गया। आयरलैंड के राष्ट्रवादियों ने गैर-संसदीय तरीकों का इस्तेमाल शुरू किया। नारी मताधिकार के लिए आन्दोलन करने वाली महिलाओं ने खुले संघर्ष एवं स्वयं पर कठोर यातनाओं का रास्ता अपनाया। उनकी हरकतों को इंग्लैंड के माहौल के अनुकूल नहीं कहा जा सकता था। जैसे, वे सार्वजनिक इमारतों में स्वयं को जंजीरों से बाँध देती थीं, डाक बक्सों में एसिड डाल देतीं या तोड़-फोड़ करतीं; गिरफ्तार किए जाने पर भूख हड़ताल कर देतीं, इत्यादि। ये तमाम बातें इस तथ्य की सूचक थीं कि उदारवाद के दिन अब लद गए थे।

डारविन का विकासवाद का सिद्धान्त और मनोविज्ञान की नई विचारधाराओं के विकास के कारण भी यूरोप में उदारवाद को गहरा धक्का लगा। विकासवाद के सिद्धान्त से यह संकेत मिला कि मनुष्य एक अतिविकसित प्राणी है तथा उसकी क्षमताएँ परिवेश के साथ अनुकूलन का परिणाम हैं। मनोविज्ञान से यह सबक मिला कि विवेक वह भौतिक आवश्यकताओं का औचित्य सिद्ध करने के लिए कोई कथित कारण ढूँढ़ने का प्रयत्न है। मनोविज्ञान ने यह भी बताया कि व्यक्त चिंतन मानव-आचरण के एक छोटे हिस्से पर ही हावी रहता है। विचार अनुकूलन (adaption) की संतान है। इन विचारधाराओं का असर राजनीति के क्षेत्र में उदारवादी प्रव त्तियों के प्रतिकूल हुआ। प्रतिपक्षी के तर्कों को नजरअंदाज कर देना अब आम बात हो गई। आपसी बातचीत के द्वारा समस्याओं के निदान का महत्त्व जाता रहा। अब समझा-बुझाकर किसी समस्या को सुलझाने की आशा नहीं की जा सकती थी।

आर्थिक क्षेत्र में भी उदारवादी प्रव त्तियों का ह्रास होने लगा था। उन्मुक्त अर्थव्यवस्था से लोगों को कठिनाइयाँ होने लगी थीं। श्रमजीवी और उत्पादक दोनों ही एक साथ खुली प्रतियोगिता के विरुद्ध संरक्षण की माँग करने लगे थ। 1873 के भयानक आर्थिक मंदी की चोट से मूल्यों तथा मजदूरी दरों में भारी गिरावट आई। कृषि उत्पादनों को संरक्षण देने के लिए चुँगी व्यवस्था के फिर से शुरू किए जाने से यूरोप में 1880 के लगभग उन्मुक्त व्यापार का ह्रास आरम्भ हुआ। कुछ ही समय बाद उद्योगपतियों ने भी संरक्षण की माँग शुरू कर दी। 19वीं सदी के नौवें दशक में औद्योगिक तथा कृषि उत्पादकों की मदद के लिए ऊँची चुँगी दरों की दीवारें खड़ी कर दी गयीं। इस समय तक यूरोप के सभी देशों, अमेरिका और जापान में औद्योगिक क्रान्ति परिपक्व

हो गई थी। अतः इन देशों के बीच निर्यात के लिए दुनिया भर में बाजार की प्रतियोगिता शुरू हो गई। इस माहौल में उदारवादियों का राजनीति और अर्थनीति को प थक रखने का सिद्धान्त घूमिल पड़ने लगा। इस प्रकार आर्थिक राष्ट्रवाद (economic nationalism) के आसार 1900 के आस-पास प्रकट होने लगे। प्रथम विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में तो समस्त विश्व में बड़ी उग्रता के साथ इसका प्रचलन हो गया। दुनिया के तमाम विकसित देशों ने, बिना यह सोचे हुए कि उनकी नीतियों का दूसरे देशों पर क्या असर होगा, चुँगी की दीवारें खड़ी कर दीं और व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता तथा आन्तरिक नियमन की नीतियों का पालन करना शुरू कर दिया। इसी समय तेजी से मजदूर संघों की स्थापना भी की गयी। इसी तरह अनियंत्रित बाजारों की अनिश्चितताओं से अपनी रक्षा के लिए उद्योगपति और व्यवसायी एक साथ मिलकर ट्रस्ट, कारटेल, कारपोरेशन आदि बनाने लगे। उदारवाद व्यक्तिगत प्रतियोगिता के सिद्धान्त तथा व्यवहार का पोषक था। विशालकाय व्यावसायिक संस्थान तथा सुसंगठित मजदूर दोनों ही इसकी जड़ पर कुठाराघात करते थे। कारखाना कानून पहले से ही जटिल हो गए थे। सामाजिक बीमा भी प्रचलित हो गई जिसकी शुरूआत बिस्मार्क ने की थी। अब राज्य की अवधारणा भी बदल गई। कल्याणकारी राज्य की अवधारणा लोकप्रिय हो रही थी। ऐसा राज्य अपने नागरिकों के सामाजिक एवं आर्थिक कल्याण के लिए जिम्मेदार होता है। कल्याणकारी राज्य पुराने उदारवादी सिद्धान्तों से मेल नहीं खाते थे। राज्य की बढ़ती हुई शक्ति तथा केंद्रीय सत्ता के प्रति उदारवादी शंकालु हो रहे थे। उन्हें इस बात की भी चिन्ता सता रही थी कि नए वातावरण में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का क्या होगा? उदारवाद की जन्मभूमि ब्रिटेन में भी आर्थिक और सामाजिक मामलों में इस बात के अनेक संकेत मिल रहे थे कि वहाँ भी उदारवाद घूमिल पड़ रहा था। **चैम्बरलेन** चुँगी संरक्षण के पक्ष में था और उसने एक आन्दोलन भी चलाया। यद्यपि उस समय इसे सफलता नहीं मिली, किन्तु बाद की घटनाओं में इसके प्रभाव अवश्य पड़े। 1906 के बाद मजदूरों के कल्याण के लिए विधि-निर्माण की पहल करके लिबरल पार्टी ने लासेज फेयर की नीति का परित्याग कर दिया।

अध्याय-8

इटली तथा जर्मनी में राष्ट्रवाद का विकास

1858 तक जैसा कि मैटरनिख ने कहा था इटली एक भौगोलिक अभिव्यक्ति थी राजनैतिक रूप से कोई इटली नहीं थी यह विभिन्न प थक राज्यों में विभाजित थी राजनैतिक रूप से कोई इटली नहीं थी दक्षिण बोरबन शासकों के अंतर्गत नेपल्स व सिसली थे। सागर तक Papal States फैले हुए थे। इन राज्यों में विभिन्न राजाओं का शासन था। उत्तर के राज्य लोम्बार्डी तथा वेनेशिया आस्ट्रिया के अधीन थे। मध्य इटली के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पोप का राज्य था। केवल पीडमोन्ट और सार्डीनिया ही इटेलियन राज्य थे। इस तरह इटली में अनेक राज्य थे। इटली के देशभक्त इन सभी राज्यों को एक सूत्र में बांधना चाहते थे। उन्होंने एकीकरण के अनेक प्रयास किए। उनके आरम्भिक प्रयास असफल रहे परंतु 1859 ई० के बाद स्वाधीनता संघर्ष तथा एकता आंदोलन का ऐसा चक्र चला जिसने बारह ही वर्षों में स्वतंत्र इटली को एकीकरण के सूत्र में बां ध दिया। 1870 ई० में इटली के देशभक्तों का स्वप्न साकार हुआ। सैकड़ों वर्षों की दासता तथा आपसी प थकता से इटलीवासियों में राजनीतिक एकता का अभाव था तथा वे सामाजिक और सांस्क तिक रूप से भी विभिन्न विचारधाराओं का अनुसरण करते थे। अतः इटली के एकीकरण में अनेक कठिनाइयां थी।

इटली के एकीकरण में बाधाएँ

1. इटली में प्रतिक्रियावादी विदेशी प्रभुत्व का होना मुख्य बाधा थी। ज्यादातर इटली पर आस्ट्रिया का प्राधान्य था।
2. इटली की भौगोलिक स्थिति भी मुख्य बाधा थी। यह तीन राजनैतिक इकाइयों में विभक्त था।
3. पोप अपने राज्य रोम पर अपनी सत्ता बनाए रखना चाहता था इसके अतिरिक्त कैथोलिक यूरोप पोप के अस्तित्व को कभी नष्ट नहीं होने देना चाहता था।
4. इटली का एकीकरण किस विचारधारा के अंतर्गत किया जाए इस बारे में राजनीतिज्ञ एकमत नहीं थे।
5. इटली का सामन्तवादी एवं कुलीन वर्ग नैपालियन के पतन के पश्चात् पुनः सामन्तवादी तथा जागीरदारी प्रथा स्थापित करना चाहता था।

इटली के एकीकरण में विभिन्न विकट बाधाओं के बावजूद वहाँ स्वतंत्रता, समानता तथा देश प्रेम की भावनाएँ अधिक समय तक दबी नही रह सकी। इटली के कुछ देशभक्तों तथा समर्थकों ने मिलकर इटली के एकीकरण के लिए संघर्ष करने का निर्णय लिया। इटली की एकता के लिए जो भी प्रयत्न 1830 ई० तक हुए वे सब असफल रहे। इसी समय इटली में एक महान विभूति का प्रादुर्भाव हुआ जिसने इटली के राष्ट्रीय जीवन में नई चेतना जाग्रत की। उसका नाम ज्यूसप मैजिनी था। मैजिनी ने युवा इटली नामक एक संस्था की स्थापना की जिसने इटली के राष्ट्रीय आंदोलन में शीघ्र ही कार्बोनरी का स्थान ले लिया।

A. **Young Italy Movement:** युवा इटली नामक संस्था की स्थापना मैजिनी ने की थी। इसके उद्देश्यों के विषय में मैजिनी ने कहा 'यंग इटली' इटलीवासियों में भाईचारा उत्पन्न करने वाली ऐसी संस्था है जो प्रगति और कर्त्तव्यपरायणता के सिद्धान्तों में विश्वास रखती है और इस बात से पूर्णतया सहमत है कि इटली शीघ्र ही एक सुसंगठित राष्ट्र बनेगा। मैजिनी का विश्वास था कि इस उत्क ष्ट स्वप्न को तत्कालीन व्यवस्था के विरूद्ध लोकतांत्रिक क्रान्ति द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। यंग इटली आंदोलन के दर्शन ने इटली के बुद्धिजीवी और अनुभवहीन युवाओं पर बड़ा गहरा प्रभाव छोड़ा। जैसे-जैसे समय बीतता गया इस आन्दोलन की शक्ति भी हीन होती चली गई।

इटली में मैजिनी Risorgimento आन्दोलन का सबसे एवं प्रखर पैगम्बर था आने वाली पीढ़ियाँ जो इटली को एक सूत्र में बांधने में सफल हुई। वे अपनी युवावस्था में किसी न किसी रूप में मैजिनी के लेखों, घोषणाओं तथा पुस्तिकाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी थीं। इटली के एकीकरण में इसलिए मैजिनी को मुख्य श्रेय दिया जाना चाहिए। यह बात दूसरी है कि 1871 में जब उनकी म त्यु हुई तब वे सबसे अधिक निराश व्यक्ति थे क्योंकि नए इटली राष्ट्र को वे उनके गणतंत्र व मानवतावादी राष्ट्रवाद के सिद्धान्तों के साथ विश्वासघात के रूप में देखते थे।

B. **The Neo-Guelf Movement:** इटली के एकीकरण से सम्बन्धित दूसरी विचारधारा Neo Guelf आंदोलन की थी। पोप पायस नवम इस आंदोलन का नेता था यह आंदोलन धर्म पर आधारित था और इनका विश्वास था कि धर्म के आधार पर इटली को एकीक त किया जा सकता है। इटली के बहुत से लोग पोप वायस 9th की नीतियों से उत्साहित हुए जो कि एकता के प्रति समर्पित थे। यह आन्दोलन अति उदारवादी तथा नरमपंथी था। अतः ये इटली के युवाओं तथा नए विचारों वाले व्यक्तियों को प्रभावित नहीं कर सका।

C. **The Roman Republic and Garibaldi:** रोम की सुरक्षा की व्यवस्था गिसीपी Garibaldi (1870-82) ने की थी। इनका जन्म Nice में हुआ था और अपना प्रारंभिक जीवन इन्होंने एक नाविक के रूप में बिताया। वहाँ पर इन्होंने अपने मालिक से अपनी योग्यता का प्रमाण पत्र 1832 में प्राप्त किया। ये 1833 में मैजिनी से मिले और यंग इटली के सदस्य बन गए तथा इन्होंने अन्याय, शोषण तथा अत्याचार के विरूद्ध लड़ने और इटली को एकीक त राष्ट्र बनाने की शपथ ली। जिसके प्रति वे अपने जीवन में सदैव समर्पित रहे। 1834 में इनको सार्डीनिया राज्य से निष्कासित कर दिया गया क्योंकि वहाँ क्रान्तिकारी गतिविधियों में सक्रिय थे और इनके बाद अगले तेरह वर्ष ये एक निष्कासित के रूप में अमेरिका में रहे।

Piedmont and the Policy of Cavour: 1850 में Count Camillo di Cavour (1810-1861) Piedmont की मंत्रिपरिषद के सदस्य बने इनका एक सैनिक, किसान, उद्योगपति तथा बैंकर के रूप में लम्बा अनुभव था इन्होंने अपने मंत्रिपरिषद क षि, उद्योग तथा वाणिज्य मंत्री के रूप में शुरू करके जल्दी ही नौ सेना मामलों का विभाग भी संभाल लिया और 1855 में शुरू हुए क्रिमिया के युद्ध के समय ये मंत्रिपरिषद में सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति बन चुके थे।

राष्ट्रीय आंदोलन में पीडमान्ट की प्रभुता बनाए रखने के लिए कैबूर ने जान-बूझकर उत्तेजित करने वाली नीतियां अपनाई यह उत्तेजना उनके भाषणों में आस्ट्रिया के विरूद्ध बोलने में स्पष्ट होती थी। इसके साथ-साथ उन्होंने इटली के एकीकरण के उद्देश्य को लेकर 1856 में स्थापित एक संगठन National Society को समर्थन भी इस संगठन की स्थापना डेनियल मैनिन, जियोरजियो पैलाविसिनों तथा सिसली के ला पैरिना ने की थी। कैबूर इस Society के उद्देश्यों विरोधी प्रचार का एक लाभदायक साधन समझता था। विदेशी समर्थकों के लिए उसने अपना ध्यान पेरिस की ओर दिया।

The First Steps towards Unity

Plombiers Agreement: इटली के एकीकरण में इस समझौते की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। 20 July 1858 को कैबूर और फ्रांस के नेपोलियन IIIrd इस बात के लिए सहमत हो गये कि यदि Piedmont आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध में उलझता है तो उसे फ्रांस का समर्थन मिलेगा और यदि इस युद्ध में विजय Piedmont और फ्रांस की होगी तो Piedmont का लोम्बार्डी वैनिशिया, पारमा, मोडेना तथा पपाल राज्यों के कुछ हिस्से मिलाने की आज्ञा होगी और फ्रांस को नाईस तथा सेवॉय अपने राज्य में मिलाने दिये जायेगें। इस समझौते को पक्का करने के लिए Piedmont के राजा विकटर इमैनुअल की 15 वर्षीय पुत्री (Clobilde) का विवाह नेपोलियन त तीय के चचेरे भाई जैरोम के साथ कर दिया जो कि Clotilde से उम्र में काफी बड़े और बुरी आदतों के शिकार थे। 19वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के इतिहास में यह समझौता एक नए दुःख का प्रतिनिधि था। इसका स्वरूप आक्रामक था। अब प्रश्न यह उठता है कि कैबूर और नेपोलियन को ऐसा समझौता करने के लिए किस चीज ने उकसाया कैबूर इस बात के लिए पूर्ण रूप से निर्णय कर चुका था कि इटली का पुराना नारा Italy will go it alone को बदलना होगा क्योंकि यह उसके अनुसार गलत था। इटली के एकीकरण के लिए आस्ट्रिया का इटली से निष्कासन जरूरी था और आस्ट्रिया 1856 की Congress को Paris में यह स्पष्ट कर चुका था कि उसे इटली से बलपूर्वक ही निकाला जा सकता था और Piedmont उसे अकेले हराने की नहीं सोच सकता था क्योंकि Custozza No Vara के युद्ध पहले ही ये सिद्ध कर चुके थे। अतः एक मित्र राष्ट्र की जरूरत थी। ऐसा मित्र राष्ट्र Britain भी हो सकता था क्योंकि वह भी इटली के एकीकरण का समर्थक था। क्योकि ब्रिटेन की सरकार यह स्पष्ट कर चुकी थी कि वह सैनिक समर्थन नहीं दे सकती यह ब्रिटेन के विदेशमंत्री टोर्ड पेामस्टन की विदेश

नीति का हिस्सा था कि आस्ट्रिया का साम्राज्य यूरोप में शक्ति संतुलन के लिए आवश्यक था। इस प्रकार कैबूर के सामने अब एक ही विकल्प था कि वह फ्रांस की ओर जाता क्योंकि वह भी इटली के एकीकरण का समर्थक था और वह युद्ध के लिए तैयार था। Nepoleon की तत्परता इसलिए भी थी कि उसे 1856 के क्रीमिया युद्ध में सफलता मिल चुकी थी।

1858 के प्रारंभ में फ्रांस और पीडमोन्ट के संबंध थोड़े से बिगड़ गए थे क्योंकि इटली के नागरिक ओरसिनी के नेत त्व में नेपोलियन पर बम फेंका गया था। नेपोलियन इस दुर्घटना में बच गया और ओरसिनी ने जेल से ही नेपोलियन को लिखा कि इटली को आजाद कर दे परंतु अंत तक सब सामान्य हो गया और कैबूर तथा नेपोलियन की कूटनीति ने आस्ट्रिया को युद्ध के लिए उकसा दिया। कैबूर की Defensive Provocation की नीति की बड़ी भारी जीत हुई और युद्ध आस्ट्रिया को आक्रामक ठहराते हुए आरंभ हो गया। अतः फ्रांस के साथ हुआ यह समझौता Piedmont के लिए बड़ा लाभप्रद था।

Treaty of Villafrance 1859: 6 सप्ताह के युद्ध के बाद फ्रांस और पीडमोन्ट की सेनाओं ने Magneta तथा Solferino की दो लड़ाईयाँ जीती और आस्ट्रिया को लोम्बार्डी से बाहर कर दिया ये विजयें बड़ी निर्णायक सिद्ध हुई। इसी बीच प्रशिया ने अपनी सैनिक गतिविधियाँ आरंभ कर दी जो फ्रांस और आस्ट्रिया को आशान्वित नहीं थी। प्रशा की इन गतिविधियों ने फ्रांस और आस्ट्रिया की सरकारों को जल्दी ही संधि करने के लिए बाध्य कर दिया। 11 July का आस्ट्रिया के फ्रैंसिस जोसफ तथा नेपोलियन मिले और इस बात पर सहमत हुए कि केवल लोम्बार्डी ही इटली को दे दी जाएगी और पोप की अध्यक्षता में एक इटली संघ बनाया जाएगा इस संधि को विलाफ्रैंका की संधि कहा जाता है यह कैबूर की सरकार के रूप में सदस्य रह गया था। उसने अपना त्यागपत्र दे दिया और इस संधि को सारे यूरोप में भी नेपोलियन द्वारा किया गया विश्वासघात माना गया।

विलाफ्रैंका की संधि ने इटली की राष्ट्रवादी शक्तियों को निराशा कर दिया। अगस्त में पारमा मोडेना, टरकनी तथा रोमैना की संविधान सभाएं हुई जिनमें एक संयुक्त सैनिक संघ बनाने का निर्णय लिया गया। उन्होंने Piedmont के राजा विक्टर इमैनुअल को अपना राजा स्वीकार कर लिया और दिसम्बर तक नेपोलियन भी अपनी परिस्थितियों से विवश होकर इटली के राष्ट्रवादियों को समर्थन देने के लिए तैयार हो गया। जनवरी 1860 में कैबूर ने अपना पद पुनः संभाल लिया और उसने नई परिस्थितियों के मध्य इटली को एकीक त करने के रूप में लाभ उठाने की सोची। मार्च में इटली के केन्द्रीय राज्य एकमत से अपने आप को पीडमान्ट के साथ मिलाने के लिए सहमत हो गए और 1860 तक लगभग सारा मध्य इटली Piedmont के नेत त्व में एक हो गया था।

Role of Garibaldi: मार्च और दिसम्बर 1860 के बीच जो मध्य इटली की एकता संभव हो पायी उसमें गैरीबाल्डी के प्रयासों को भी श्रेय जाता है उसने दक्षिण से अपने प्रयास आरंभ कर दिए। उसने सर्वप्रथम अपना ध्यान सिसली पर केन्द्रित किया क्योंकि यहाँ उसे कुछ प्राक तिक फायदे थे वह अमेरिका से Marasala नामक द्वीपों पर आया और अपने आप को वहाँ का तानाशाह घोषित कर दिया उसने सिसली के नागरिकों की सहायता से नेपल्स के फ्रांसिस द्वितीय की सेना को हराकर फ्रांसिस को भगाने के लिए विवश कर दिया गैरीबाल्डी की इस विजय के सार्थक परिणाम निकले और इटली के लोगों का हार्दिक समर्थन उसके साथ हो गया उसकी यह योजना भी थी कि वह रोम को अपने नियंत्रण में ले और सारे दक्षिण इटली को एकता के सूत्र में बांधकर Piedmont के राजा विक्टर इमैनुअल को सौंप दे।

परंतु यह सफलताएं और विजय कैबूर की योजनाओं से मेल नहीं खाती थी क्योंकि रोम पर आक्रमण का अर्थ था फ्रांस और सारे कैथोलिक यूरोप को अपना दुश्मन बना लेना चाहते थे तथा इससे आस्ट्रिया को साथ एक और युद्ध की भी आशंका थी इससे यह आशंका भी थी कि गैरीबोल्ड के अनुयायियों में मैजिनी की विचारधारा रखने वाले इटलीवासियों की संख्या बढ़ने के परिणामस्वरूप पीडमोन्ट के नेत त्व को चुनौती मिल सकती थी तथा पूरा इटली राष्ट्र एक राजतंत्र से गणतंत्र में परिवर्तित हो सकता है। अतः कैबूर ने अपनी सेनाएँ फ्रांस की सहायता लेकर नेपल्स भेज दी ताकि वह गैरीबाल्डी की गतिविधियों पर रोक लगा सके और नवम्बर 1860 तक विक्टर इमैनुअल और कैबूर नेपल्स पहुंच गए इन परिस्थितियों को देखकर गैरीबाल्डी को अत्यधिक निराशा हुई और वह बिना किसी सफलता का श्रेय लिए अपनी ग हद्वीप कैपरेरा में चला गया। जनवरी 1861 में पहली अखिल इटली संसद की सभा हुई जो Piedmont की राजधानी Turin में सम्पन्न हुई इसमें वैनेशिया और रोम सम्मिलित नहीं थे अब पूर्ण इटली एकीकरण के लिए इन दोनों का जीतना और विलय आवश्यक था। 6 जून 1861 को कैबूर की म त्यु हो गई ठीक उसी समय इटली को उसकी अत्यधिक आवश्यकता थी।

The Completion of Italian Unity 1860-71

वैनेशिया और रोमः उपरोक्त नए एकीक त इटली का उद्देश्य अब वैनेशिया और रोम का इटली का इटली में विलय करना रह गया। दुनिया की कोई भी कुशल-से-कुशल कूटनीति आस्ट्रिया को स्वयं ही इटली से निकालने के लिए राजी नहीं कर सकती थी। अतः इटली सरकार ने प्रशा और आस्ट्रिया के बीच बढ़ते हुए तनाव का फायदा उठाया उसने अपनी सेवाएं इस तनाव में प्रशा को दे दी जर्मनी के 1866 के युद्ध में भाग लेकर इटली ने अपनी प्रतिष्ठा को खोया क्योंकि उसकी सेनाओं की पूरी तरह से हार हुई परंतु जर्मनी की जीत की वजह से इटली को वैनेशिया अवश्य प्राप्त हो गया।

रोम की समस्या और भी अधिक कठिन थी। पोप पायस 9th यह किसी भी सूरत में स्वीकार नहीं कर रहा था कि वह नए इटली के साथ मिले और फ्रांस के संरक्षण में था। परंतु अन्ततः रोम को इटली की शाही सेनाओं ने अपने नियंत्रण में ले लिया क्योंकि फ्रांस प्रशा के साथ युद्ध में उलझा हुआ था। इटली की नई शाही सरकार ने शीघ्र ही अपनी राजधानी रोम में बदल ली और पोप को (वैटिकन सिटी) की चार दीवारी तक ही सीमित रहना पड़ा और वह पहले की तरह ही नई इटली की व्यवस्था का विरोधी बना रहा।

जर्मनी का एकीकरण

जर्मनी की प्रारंभिक स्थिति

1. फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति (1789 ई०) से पूर्व जर्मनी यूरोपीय देशों में राजनैतिक द ष्टि से सर्वाधिक विभक्त देश था। जिसमें लगभग 300 राज्य थे। इन राज्यों में कुछ राजनैतिक तथा कुछ धार्मिक इकाइयाँ होती थी। कुछ नाइटस तथा कुछ मार्गेवस होते थे तथा कुछ स्वतंत्र राज्य भी होते थे। 8 राज्यों के शासक जो आस्ट्रिया के पवित्र रोमन सम्राट को चुनते थे, इलेक्टर कहलाते थे।
2. जर्मनी के राज्य भौगोलिक विस्तार की द ष्टि से भिन्न आकार के थे। व्यवहारिक द ष्टि से हम इन राज्यों को तीन समूहों में बाँट सकते थे-(i) उत्तर, (ii) मध्य, (iii) दक्षिण। जर्मनी के उत्तरी भाग के कुछ राज्य थे-परशा, शैक्षणी, हैनोवर, फ्रैंकफर्ट आदि। जर्मनी के मध्य भाग में मुख्य राज्य थे-राइनलैंड। दक्षिणी जर्मनी में कई राज्य मुख्य थे जैसे-वुर्टेम्बर्ग, बवेरिया, वादेन, पैलेटिननेट आदि।
3. जर्मनी के राज्य सम्पत्ति, सामरिक तथा प्रशासकीय व्यवस्था में भी एक-दूसरे से भिन्न थे। इन्हें चार भागों में विभाजित किया जा सकता है-
    i. कुछ अभिप्तात के राज्य थे। वे छोटे राज्य थे जिनके शासकों की सम्राट से सीधे नहीं मिलती थी।
    ii. स्वतंत्र राज्य इनमें मुख्य राज्य थे-लुबेक, उलम, हैनोवर, सुर्टेमबर्ग।
    iii. धार्मिक इकाइयों में जर्मनी की लोन के मतदाता, मध्यम वर्ग के प्रधान धर्माध्यक्ष और वैम्बर्ग मुन्स्ट के धर्माध्यक्ष आदि इस तरह में आते थे।
    iv. गैर धार्मिक राजनैतिक इकाइयाँ प्रशासनिक में शैक्षणी हैनोवर, पैलेटीननेट जवेरिया।
4. जर्मनी के सभी राज्यों को दो समूहों में बाँटा जा सकता है। उत्तरी राज्य तथा दक्षिणी राज्य। उत्तरी राज्यों का प्रशासनिक द ष्टिकोण सा व रूढ़िवादी था जबकि दक्षिण में बवेरिया व वुटैम्बर्ग (अथवा वादेन) की शासन में उदारता थी।
5. फ्रांसीसी क्रान्ति से पूर्व जर्मनी की बौद्धिक विचारधारा का देश में कोई विशेष प्रभाव नहीं था। उस समय जर्मनी में सामंती व्यवस्था मौजूद थी। ग्रामीण व शहरी दोनों प्रकार की जीवन पद्धतियाँ प्रचलित थी। राइन भूमि क्षेत्र में दास प्रथा मौजूद थी। अभी तक जर्मनी के आर्थिक जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। किसी को कोई विशेष सुविधाएँ प्राप्त नहीं थी क्योंकि संस्कार उन्हें एक अधीन वर्ग के रूप में रखना चाहती। क षि दासों की स्थिति अधिक स्थानों पर दयनीय थी लेकिन जर्मनी में कई निर्यात उद्योग स्थापित हो चुके थे, जैसे सूती वस्त्र उद्योग, कोयला व लौह-इस्पात उद्योग। लेकिन ये उद्योग एकाधिकार युक्त श्रेणियों के अधीन थे। इनकी कार्य पद्धति व चिंतन आधुनिक नहीं था।

फ्रांसीसी क्रान्ति व नेपोलियन का जर्मनी के एकीकरण पर प्रभाव

1. सन् 1789 ई० की फ्रांसीसी क्रान्ति के प्रभाव से जर्मनी एक सक्रान्ति में पहुँचा। फ्रांस के सम्पर्क तथा नेपोलियन बोनापार्ट के आक्रमण व शासन के परिणामस्वरूप जर्मनी में आधुनिक युग का उदय हुआ। नेपोलियन बोनापार्ट ने

1805 ई० में आस्ट्रिया का ओस्टरलिरज के युद्ध में बुरी तरह पराजित किया। उसे प्रैसबर्ग की संधि करने के लिए विवश किया इस संधि के अनुरूप जर्मनी में पवित्र सम्राट का प्रभुत्व समाप्त हुआ। इससे समाज की प्राचीन धार्मिक रूढ़ियाँ क्षीण होती गई। साथ ही परिवर्तन के फलस्वरूप जर्मन लोगों में अपनी संस्क ति के प्रति चेतना भी बढ़ती गई।

2. तत्पश्चात् नेपोलियन में छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर 39 राज्यों की स्थापना करके उनका एक संघ बनाया जो इतिहास में राइन संघ के नाम से विख्यात है। ऐसा करके नेपोलियन बोनापार्ट ने जर्मनी में एकीकरण की प्रव त्ति तथा राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन दिया।

3. जर्मनी की राइन भूमि पर फ्रांस के आक्रमण (1789-1810 ई०) से जर्मनी के जीवन में विशेष रूप से उथल-पुथल हुई। इससे दो परस्परविरोधी स्रोतों का प्रवाह जर्मनी में आया। एक ओर उदारवाद (संवैधानिक व राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में) और दूसरी ओर रूढ़िवाद अथवा प्राचीन विचारधारा यथापूर्व रखने की चेष्टा।

4. जर्मनी राजवंश द्वारा फ्रांसीसी प्रवासी अभिजातों को आश्रय देने से और उन प्रवासी अभिजातों द्वारा फ्रांसीसी क्रान्ति विरोधी प्रचार से जर्मनी में फ्रांस विरोधी भावना का उदय हुआ। इसके अतिरिक्त कुछ जर्मन राजाओं को फ्रांसीसी क्रान्ति के कारण अपने कुछ सामंती अधिकारों से हाथ धोना पड़ा और इसलिए वे क्रान्ति विरोधी हो गए।

5. ऐसी स्थिति से प्रेरित होकर फ्रांस ने जर्मनी पर आक्रमण कर दिया जिससे राइन भूमि का पश्चिमी भाग फ्रांस के अधीन हो गया। जर्मन राइन नदी को हमेशा से अपनी पित भूमि का स्वाभावित प्राक तिक सीमा समझते थे। इसलिए राइन भूमि पर फ्रांसीसी अधिकार से वे (जर्मन) बहुत असंतोष थे। यही असंतोष आगे चलकर राष्ट्रीय भावना की जाग ति का कारण बना।

6. 1818 ई० तक जर्मन के कुछ हिस्सों को नेपोलियन के अभियानों तथा शासन का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला। जर्मनी में कुछ नकारात्मक व कुछ सकारात्मक प्रभावों से जर्मनी को जो जनहानि व आर्थिक हानि उठानी पड़ी वह सर्वाधि ाक महत्त्वपूर्ण थी। जर्मन संघ को फ्रांस के साथ आक्रामक तथा प्रतिरक्षात्मक समझौते करने पड़े। परशा व सैक्सनी को पराजित कर दिया गया।

7. कुछ इकाइयों को अपनी प्रतिष्ठाओं से वंचित कर नेपोलियन ने महाद्वीप व्यवस्था (Continenta system) ने जर्मन उद्योग को बड़ी हानि पहुँचाई। निर्यात उद्योग में गिरावट और कीमतों में व द्धि के कारण जर्मन की अर्थव्यवस्था में सुधार की बहुत जरूरत थी। इसलिए कुछ जर्मन सुधारकों ने प्रशासकीय परिवर्तनों की आवश्यकता को महसूस किया।

8. जर्मनी में भविष्य में प्रगतिशील परिवर्तन लाने में नेपोलियन के हमलों तथा शासन में सकारात्मक भूमिका निभाई। जर्मनी एकीकरण की चेष्टा और उदारवाद की जाग ति इसी के परिणाम थे। नेपोलियन की शासन व्यवस्था से जर्मनी में कुछ प्रशासकीय, सामाजिक तथा आर्थिक सुधार भी हुए। उदाहरणार्थ-

   i. गिल्ड प्रथा का अंत तथा मुक्त वाणिज्य नीति का प्रचार, फ्रांसीसी शासन के परिणाम थे।

   ii. नेपोलियन की शासन व्यवस्था से जर्मन संघ के राज्यों की संख्या 300 से घटकर 100 रह गई थी। जिससे विभक्त जर्मनी स्वाभाविक रूप से कुछ हद तक संगठित हो गया।

जर्मनी का एकीकरण

1. विएना कांग्रेस और उसके बाद मेटरनिख के प्रभाव ने जर्मन देशभक्तों की आशाओं को धूमिल कर दिया। 1815 ई० में मेटरनिख की पराजय (वाटरलू में) के बाद हुई विएना कांग्रेस में नेपोलियन द्वारा स्थापित संघ को समाप्त कर दिया। जर्मनी पराजय के बाद उनको एकजुट कर उनका एक ढीलाढाला संघ बनाकर आस्ट्रिया को उस संघ का अध्यक्ष बना दिया गया।

2. जर्मनी में स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन को पुनः समाप्त कर दिया गया तथा उच्च वर्ग के विशेषाधिकारों को उन्हें लौटा दिया गया। जर्मनी में एक संघीय सभा की स्थापना की गई परन्तु इसके अधिकार नाममात्र के थे।

3. विएना कांग्रेस के प्रतिक्रियावादी फैसलों के बावजूद भी दक्षिणी जर्मनी के कुछ राज्यों के (वादेन, बवेरिया, वुटैमबर्ग, डेस-डर्मेस्टाट आदि) शासकों ने नेपोलियन की संघीय कानून की धारा 13 के अन्तर्गत कुछ सुधार किए। कुछ राज्यों

के शासकों ने विश्वविद्यालयों तथा प्रेस को कुछ चेतावनी दी जिससे मेटरनिख की शंका में व द्धि हुई। 1810 ई० में जर्मन विकार्वी कार्ल्सवार ने जब एक प्रतिक्रियावादी लेखक (कॉलविन) की हत्या की, तब उदारवाद से डरकर मेटरनिख ने 1819 में कार्ल्सवार के कानून पास करवाए गए। इन्होंने प्रेस और प्रकाशन पर कठोर नियंत्रण रखा था। विश्वविद्यालयों में पर्यवेक्षण नियुक्त किए गए कक्षाओं तथा चर्चों के लिए नियुक्त किए गए।

4. इस तरह मेटरनिख ने शिक्षा, पाठ्यक्रमों और धार्मिक संस्थाओं के ऊपर नियंत्रण रख कर जर्मनी की उदारवादी विचारधारा व आन्दोलन को रोकना चाहा। इसके साथ-साथ उदारवादी भावनाओं को दबाने के लिए कट्टर रूढ़िवादी पादरियों को शिक्षा संस्थाओं में नियुक्त किया गया। गुप्त समितियों को अवैध घोषित किया गया, विद्यार्थियों को संघ बनाने की आज्ञा न दी गई। सभी राज्यों के शासकों के उदारवादी आंदोलन के दमन का आदेश दिया गया। क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को कुचलने के लिए पुलिस को विशेषाधिकार दिए गए। 1820 ई० में उसने डाइट द्वारा विचारणीय विषयों पर प्रतिबन्ध लगाया। इसके अतिरिक्त उसने यह निरूत्तर चेष्टा की प्रशा को सुधारों से दूर रखा जाए।

5. परन्तु मेटरनिख ने प्रशा को सुधारों से दूर रखकर भूल की। सैन्य शक्ति सम्पन्न और निरंकुश प्रशासनिक व्यवस्था वाले देश के रूप में प्रशा प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो सकता था। हाँ यह ठीक है कि कुछ समय के लिए मेटरनिख की प्रतिक्रियावादी नीति (प्रशा में) सफल रही। वह जर्मनी के एकीकरण में बाधा साबित हुआ। क्योंकि उसकी प्रतिक्रियावादी नीति के कारण कुछ कार्यों के लिए लोगों में उदारता तथा राष्ट्रीयता की भावना कमजोर पड़ गई। उसने क्षेत्रविवाद को बढ़ावा दिया। इन्हीं कारणों से जर्मनी में जन आन्दोलन देर से शुरू हुआ।

जर्मनी के एकीकरण में जॉलवोरिन की भूमिका

1. आर्थिक क्षेत्र में प्रशा नए नेत त्व की ओर अग्रसर हुआ इसके परिणामस्वरूप 'जॉलवेरिन' नामक शुल्क संघ की स्थापना हुई जिसके अनुसार जर्मनी के राज्यों में बिना चुंगी करों के माल आने-जाने लगा। ऐसा करने से इनके आपसी व्यापार और आयात-निर्यात को आवश्यक बल मिला।

2. इन क्षेत्रों की आर्थिक एकता की यह शुरुआत थी। इससे यह भी स्पष्ट हो गया था कि इस कार्य में प्रशा को पहल करनी पड़ेगी और आस्ट्रिया इसका विरोध करेगा। वह इस संगठन में था भी नहीं। सन् 1834 ई० तक जर्मनी के सभी प्रमुख राज्य जॉलवेरिन के सदस्य बन गए। प्रशा के लिए आर्थिक पुनर्गठन की आवश्यकता भी थी क्योंकि फ्रांसीसी युद्धों ओर नेपोलियन के अभियानों के कारण प्रशा को बहुत क्षतिपूर्ति देनी पड़ी थी और उसके कारण प्रशा के ऊपर पर्याप्त भार आ पड़ा था।

3. ब्रिटेन की औद्योगिक प्रगति की तुलना में जर्मनी के वस्त्र तथा लोहे उद्योग बहुत पिछड़े हुए थे। नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था के कारण जर्मनी की जो औद्योगिक हानि हुई भी उसे शीघ्र उन्नत करना प्रशा के लिए कठिन था क्योंकि जर्मनी राज्य के शुल्क प्रणाली इससे एक भारी बाधा थी। इस कारण उद्योग और शिल्प वाणिज्य में प्रबन्ध नीति का अनुसरण नहीं हो सकता था। प्रत्येक प्रांत में प्रवेश करने के समय जो शुल्क और चुंगिया देनी पड़ती थी उनसे वस्तुओं की कीमतों में बहुत व द्धि हो जाती थी। प्राक तिक कठिनाइयों के कारण क षि में भी पिछड़ापन था। उत्तम रेलमार्ग न होने के कारण सार रूर और सैक्सनी के कोयला का न तो विकास हो सका और न ही इसका सही उपयोग हो पाया।

जर्मनी के एकीकरण में बिस्मार्क की भूमिका

1. बिस्मार्क की सबसे बड़ी सफलता जर्मनी के एकीकरण को पूरा करना था। इस द ष्टि से वह आधुनिक जर्मनी का जनक था। उसने अपनी सैन्यकरण 'रक्त और लोहे की नीति' तथा युद्ध करने की नीतियों द्वारा जर्मनी को एक संगठित तथा शक्तिशाली राष्ट्र बनाया।

2. जर्मनी के सम्राट विलियम प्रथम की भाँति बिस्मार्क भी रक्त व लोहे की नीति का समर्थक था। संसदीय प्रणाली में उसे तनिक भी विश्वास नहीं था और यही कारण है कि उसने सदैव संसद के अस्तित्व तथा उसके विरोध की अवहेलना की थी। वह जर्मनी के एकीकरण के लिए युद्ध को अनिवार्य मानता था तथा इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए प्रशा की सैनिक शक्ति में व द्धि करना चाहता था।

3. चान्सलर का पद ग्रहण करने के बाद बिस्मार्क ने प्रशा की सैनिक शक्ति का विस्तार किया तथा अपनी योजना को पूरा करने के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। चूँकि सम्राट विलियम प्रथम तथा चांसलर बिस्मार्क के राजनीतिक

विचारों में समानता थी। अतः बिस्मार्क को जर्मनी के एकीकरण के अभियान में अपने सम्राट का पूरा सहयोग व सर्मथन प्राप्त हुआ था।

4. बिस्मार्क ने जर्मनी के एकीकरण के लिए अनेक कूटनीतिज्ञ चालें चली, विदेशों से समझौते किए, युद्ध लड़े तथा निम्न सदन की आलोचना सही। 1864 से 1870 ई० तक के 6 वर्ष के अल्पकाल में डेनमार्क, आस्ट्रिया तथा फ्रांस को पराजित करने करने में सफलता प्राप्त की तथा युद्धों द्वारा जर्मनी का एकीकरण किया।

बिस्मार्क के नेत त्व में जर्मनी के एकीकरण के विभिन्न चरण

1. **डेनमार्क के साथ युद्धः** श्लेसविया तथा हाल्सटाइन के प्रदेश डेनमार्क के अधीन थे, किन्तु डेनमार्क के राजा को इन प्रदेशों को अपने राज्य में विलीन करने का अधिकार नहीं था। हाल्सटाइन की सम्पूर्ण जनता जर्मन थी, जबकि श्लेसविक में जर्मन व डेन दोनों जातियों के लोग निवास करते थे। इस प्रकार डेनमार्क के राजा के संरक्षण में इन प्रदेशों का प्रथम अस्तित्व स्वीकार किया गया था। सन् 1863 ई० में डेनमार्क के राजा क्रिसचियन ने उपर्युक्त व्यवस्था का उल्लंघन करके श्वेसविग को डेनमार्क में विलीन करने की घोषणा कर दी। उपर्युक्त दोनों प्रांतों की जनता ने डेनमार्क के राजा के इस कार्य का विरोध किया तथा आन्दोलन की तैयार प्रारम्भ कर दी। श्लेसविग हाल्सटाइन समस्या ने बिस्मार्क की इच्छा के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी। उसने अवसर का पूरा लाभ उठाने में निश्चय किया। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ एक सन्धि करके इस समस्या को हल करने में उसके सहयोग का आश्वासन प्राप्त कर लिया। आस्ट्रिया व प्रशा ने संयुक्त रूप से डेनमार्क के राजा को 48 घंटे का अल्टीमेटम देकर उपर्युक्त घोषणा को वापस लेने की मांग की। डेनमार्क द्वारा उपर्युक्त माँग को ठुकरा दिया गया। फलस्वरूप फरवरी 1864 ई० में आस्ट्रिया व प्रशा ने मिलकर डेनमार्क पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में डेनमार्क की पराजय हुई तथा उपर्युक्त दोनों प्रदेश उसकी अधीनता से मुक्त हो गए।

   किन्तु इन प्रदेशों की भावी व्यवस्था के प्रश्न पर प्रशा और आस्ट्रिया में मतभेद उत्पन्न हो गया। बिस्मार्क आस्ट्रिया की इच्छा के विरुद्ध इन प्रदेशों की प्रशा से मिलाना चाहता था। वास्तविकता यह थी कि बिस्मार्क आस्ट्रिया से भी युद्ध लड़ना चाहता था। क्योंकि वह भलीभांति जानता था कि आस्ट्रिया को पराजित किए बिना जर्मनी का एकीकरण पूरा नहीं हो सकता था। अपनी योजना को सफल बनाने के उद्देश्य से बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ गेस्टीन की संधि की। जिसके अनुसार हाल्सटाइन का प्रदेश आस्ट्रिया को दे दिया गया तथा लेसविंग के प्रदेश पर प्रशा का अधिकार हो गया। यह सन्धि बिस्मार्क की कूटनीतिक योग्यता का प्रमाण सिद्ध हुई। चूँकि हाल्सटाइन का प्रदेश प्रशा की सीमाओं से घिरा हुआ था। अतः वह प्रदेश आस्ट्रिया के लिए गले की हड्डी बन गया। दूसरी तरफ बिस्मार्क आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध लड़ने के लिए सैनिक तैयारी करने लगा।

2. **आस्ट्रिया का एकीकरणः** आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध में सफलता प्राप्त करने के लिए बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को यूरोप में मित्रहीन बनाने का निश्चय किया। इसके लिए उसने रूस, फ्रांस व पीडमाण्ट-सार्डीनिया से प थक् संधियाँ करके युद्ध में तटस्थ रहने का वचन प्राप्त कर लिया। सन् 1863 ई० में बिस्मार्क ने पोलैण्ड के विद्रोह का दमन करने में रूस की सहानुभूति तथा आस्ट्रिया प्रशा युद्ध में तटस्थ रहने का आश्वासन प्राप्त कर किया। इसी प्रकार बिस्मार्क ने फ्रांस के सम्राट ने पोलियन त तीय से सन् 1865 ई० में एक संधि करके उसे तटस्थ रहने के लिए सहमत कर लिया। इसके बदले में उसने फ्रांस को जर्मनी के कुछ पश्चिमी जिले देने का वचन दे दिया। नेपोलियन ने यह सोचकर बिस्मार्क के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया कि युद्ध में आस्ट्रिया व प्रशा की शक्ति क्षीण होगी तथा फ्रांस को अपनी सीमाएँ बढ़ाने का अवसर मिलेगा। उस समय इटली के देशभक्त भी एकीकरण के लिए प्रयास कर रहे थे। इटली का वेनेशिया प्रदेश आस्ट्रिया के अधीन था। अतः उचित अवसर देखकर बिस्मार्क ने पीडमाण्ट-सार्डीनिया या राज्य से एक सैनिक सन्धि की जिसमें प्रशा पीडमाण्ट-सार्डीनिया दोनों ने अपने समान शत्रु आस्ट्रिया के विरुद्ध संयुक्त रूप से युद्ध लड़ने की प्रतिज्ञा की।

3. **आस्ट्रिया-प्रशा युद्धः** अन्ततः जून 1866 ई० में आस्ट्रिया तथा प्रशा के मध्य युद्ध आरम्भ हो गया। बिस्मार्क की कूटनीति के फलस्वरूप आस्ट्रिया को यूरोप के किसी अन्य देश से सहायता प्राप्त नहीं हो सकी। यह युद्ध केवल सात सप्ताह तक चला था, इसलिए इसे सात सप्ताह का युद्ध भी कहा जाता है। आस्ट्रिया की सैनिक शक्ति अत्यन्त कमजोर थी। इसके अतिरिक्त उसे प्रशा तथा पीडमाण्ट-सार्डीनिया की सेनाओं से प्रथम मोर्चों पर लड़ना पड़ा। अन्तिम तथा निर्णायक

युद्ध सेजेवा के मैदान पर लड़ा गया था जिसमें 3 जुलाई 1866 ई० की आस्ट्रिया की भीषण पराजय हुई। युद्ध के बाद 23 अगस्त 1866 ई० को पक्षों में प्रेग की संधि हुई। इस संधि के अनुसार जर्मनी के पुराने संघ को स्थापित करके प्रशा के नेत त्व में जर्मनी के राज्यों का एक नवीन संघ संगठित किया गया। जर्मनी के समस्त उत्तरी राज्य जिनकी संख्या 21 थी, आस्ट्रिया की अधीनता से मुक्त कर दिए गए। बेनेशिया का प्रदेश इटली को प्राप्त हुआ। इस प्रकार उत्तर जर्मनी राज्य संघ का निर्माण हुआ तथा प्रशा के सम्राट को संघ का अध्यक्ष बनाया गया।

4. **फ्रांस-प्रशा का युद्धः** सेडोवा के युद्ध में आस्ट्रिया की पराजय सम्पूर्ण यूरोप के इतिहास की एक विस्मयकारी एवं निर्णायक घटना थी। महाद्वीप के राजनीतिक संतुलन पर इस घटना का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। युद्ध में प्रशा की विजय के फलस्वरूप उसने यूरोपीय शक्ति को आश्चर्यचकित कर दिया। इसके विपरीत नेपोलियन त तीय के सम्मान व प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचा था। उसकी कमजोर अवसरवादी, स्वार्थी एवं अदुरदर्शितापूर्ण नीति के कारण फ्रांस के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान को ठेस लगी थी। वास्तव में यह बिस्मार्क की कूटनीतिक विजय थी। फ्रांस में नेपोलियन के विरूद्ध सर्वत्र विद्रोह का वातावरण पैदा हो गया। इसलिए यह कहा जाता है कि सेजेवा के युद्ध में आस्ट्रिया नहीं बल्कि फ्रांस पराजित हुआ। फ्रांस की जनता सेगेवा की घटना का बदला लेने के लिए नेपोलियन से प्रशा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की माँग करने लगी। नेपोलियन के समक्ष भी फ्रांस के सम्मान को पुनः अर्जित करने तथा जनता के असंतोष को शांत करने के लिए प्रशा के विरुद्ध युद्ध लड़ने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था।

   दूसरी तरफ बिस्मार्क भी फ्रांस के विरुद्ध युद्ध को अनिवार्य समझता था। जर्मनी के दक्षिणी राज्य फ्रांस के अधीन थे। इन राज्यों को जर्मन संघ में सम्मिलित किए बिना जर्मनी का एकीकरण पूरा नहीं हो सकता था। इस प्रकार फ्रांस व प्रशा दोनों युद्ध चाहते थे। सौभाग्यवश स्पेन के राजसिंहासन के प्रश्न ने दोनों शक्तियों के मध्य युद्ध प्राम्भ कराने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था।

   सन् 1868 ई० में स्पेन की जनता ने महारानी इसाबेला के निरंकुश शासन के विरुद्ध विद्रोह करके उसे हटा दिया तथा होहेनजोर्लन वंश के राजकुमार से स्पेन की राजपदवी पर आसीन होने की प्रार्थना की। नेपोलियन त तीय ने इस प्रस्ताव कर कड़ा विरोध किया और यह स्पष्ट घोषणा कर दी कि फ्रांस भविष्य में भी स्पेन की गद्दी पर होहेनजोर्लन वंश के अधिकार को कभी सहन नहीं करेगा। इतना ही नहीं नेपोलियन त तीय ने यह भी माँग की कि समस्त फ्रांस को यह वचन दे कि भविष्य में स्पेन की गद्दी पर होहेनजोर्लन वंश के अधिकार का दावा नहीं किया जाएगा। इस संदर्भ में प्रशा के सम्राट तथा फ्रांस के राजदूत की वार्ता एम्स नामक नगर में सम्पन्न हुई। सम्राट विलियम प्रथम ने इस वार्ता का संक्षिप्त विवरण इस तार द्वारा अपने चांसलर बिस्मार्क के पास भेजा। अवसर का लाभ उठाकर बिस्मार्क ने तार की भाषा को समाचार पत्रों में इस ढंग से प्रकाशित किया कि उससे दोनों देशों की जनता में एक-दूसरे के विरुद्ध उत्तेजना फैल गई। दोनों देशों की जनता में यह अफवाह फैल गई कि फ्रांस के राजदूत प्रशा के सम्राट का एक-दूसरे द्वारा अपमान किया गया था। विवश होकर 15 जुलाई, 1870 ई० की फ्रांस ने प्रशा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

   फ्रांस की सेना का नेत त्व स्वयं नेपोलियन त तीय ने किया। उसने प्रशा की सैनिक शक्ति को अत्यधिक कमजोर समझकर एक बार पुनः गलती की। वास्तविकता यह थी कि प्रशा के मुकाबले फ्रांस की सेना अत्यन्त निम्न स्तर की थी। 11 सितम्बर, 1870 की सेजेवा के युद्ध में फ्रांस की सेना की भीषण व निर्णायक पराजय हुई। नेपोलियन त तीय ने प्रशा की सेना के समक्ष समर्पण कर दिया।

5. **फ्रैंकफर्ट की सन्धिः** 10 मई 1870 को फ्रांस व प्रशा के मध्य फ्रैंकफर्ट की सन्धि सम्पन्न हुई। इसकी शर्तों के अनुसार अल्सास एवं लारॅने प्रदेशों से फ्रांस को अपना अधिकार छोड़ना पड़ा। क्षतिपूर्ति के रूप में पाँच सौ करोड़ फ्रेंक की धनराशि ने जर्मनी को देने का वचन दिया। इस धनराशि के भुगतान की अधिकतम अवधि तीन वर्ष निश्चित की गयी। यह भी निश्चित किया गया कि इस अवधि में जर्मनी की एक सैनिक टुकड़ी फ्रांस में रहेगी तथा उसका संपूर्ण व्यय फ्रांस की सरकार वहन करेगी।

6. **जर्मन साम्राज्य की घोषणाः** सेडान के युद्ध में फ्रांस की पराजय के पश्चात् जर्मनी के दक्षिणी राज्यों को फ्रांस की अधीनता से मुक्त होने की घोषणा की गई तथा इन राज्यों को जर्मन संघ में सम्मिलित कर लिया गया। इसके साथ ही जर्मनी का एकीकरण पूरा हो गया। जर्मनी के लिए एक संघीय संविधान की रचना की गई। इस संविधान के अनुसार प्रशा के सम्राट विलियम प्रथम को जर्मन साम्राज्य का सम्राट घोषित किया गया 18 जलाई 1871 को हुआ।

जर्मनी व इटली के एकीकरण की तुलना

समानतायें:

1. दोनों देशों का एकीकरण 19वीं शताब्दी में लगभग एक साथ (1870 तथा 1871 ई० में) हुआ।
2. दोनों देश एकीकरण से पूर्व अनेके छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित थे तथा पारस्परिक संघर्षों ने बहुत ही निर्बल कर दिया था।
3. दोनों देशों की अधिकांश जनता अपने-अपने देशों में राष्ट्रीय एकीकरण के लिए उत्सुक थी।
4. फ्रांस की राज्य क्रान्ति (1789 ई०) का दोनों पर प्रभाव पड़ा। नेपोलियन बोनापार्ट की विजय उसका साम्राज्य विस्तार द्वारा दोनों देशों में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। उसने दोनों देशों के अपने साम्राज्य में एक सी शासन पद्धति का निर्माण किया और असमानता को समाप्त करके एकीकरण का मार्ग प्रशस्त किया।
5. विएना कांग्रेस (1845 ई०) ने दोनों देशों को पुनः छिन्न भिन्न कर दिया था। दोनों देशों में उदारता के विचार बड़ी तेजी से फैल रहे थे। दोनों देशों में उदारवाद तथा राष्ट्रीय एकीकरण की भावनाओं का आस्ट्रिया ने हनन किया। दोनों देश आस्ट्रिया को अपनी राष्ट्रीय एकता में सबसे बड़ी बाधा समझते थे। दोनों देशों ने आस्ट्रिया को पराजित करके स्वायत्तता के आधार पर एकीकरण का कार्य सम्पन्न किया।
6. जर्मनी के देशों में फ्रांस की 1836 तथा 1848 ई० की क्रान्तियों ने प्रभाव डाला। इन क्रान्तियों से प्रभावित होकर दोनों देशो के राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा एकता के लिए प्रयास किए लेकिन उनकी विशेष सफलता नहीं देखी।
7. दोनों देशो में राष्ट्रीय एकीकरण का महान कार्य नेपोलियन त तीय के पतन के बाद ही पूर्ण हो सका था।

असमानताएँ

1. इटली के एकीकरण कार्य जर्मनी की तुलना में अधिक कठिन था। क्योंकि इटली जर्मनी की तुलना में अधिक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, इनमें बिलकुल संगठन नहीं था। इनमें से अनेक राज्यों पर विदेशी शासन कर रहे थे।
2. इटली में एक धार्मिक शक्ति के रूप में पोप मौजूद था। पोप का इटली के एक बहुत बड़े भाग पर अधिकार था। यूरोप की कैथोलि के प्रति सहानुभूति रखने वालो यूरोपीय राज्यों पर उसका (पोप का) विशेष प्रभाव था। वह अपनी सत्ता को प थक रूप से बनाए रखने का इच्छुक था। वह भी इटली के एकीकरण में एक बड़ी तथा सशक्त बाधा थी।
3. नेपोलियन बोनापार्ट राइन संघ की स्थापना 1 अगस्त 1806 ई० में जर्मनी के एकीकरण की नींव रख दी थी। 1815 ई० ये मेटरनिरव ने जर्मनी राज्यों की संख्या बढ़ाकर 39 कर दी थी लेकिन उन्हें भी एक ढीले-ढाले संघ को बांधकर स्वयं (आस्ट्रिया) को उसका अध्यक्ष बना दिया था। 1834 ई० में प्रशासन की अध्यक्षता में कुछ जर्मनी राज्यों ने जोल्बरीन चुंगियों के संघ द्वारा आर्थिक एकता की स्थापना की थी। अतः स्पष्ट है कि जर्मनी के एकीकरण की भावना पहले ही से विद्यमान थी।
4. इटली के एकीकरण के कार्य का नेत त्त्व पीडमांड ने किया जो एक कमजोर राज्य था जबकि जर्मनी में यह कार्य प्रशा के हाथों में था। प्रशा का राज्य एक शक्तिशाली राज्य था। अतः उसके एकीकरण के लिए अन्य देशों की सहायता की आवश्यकता नहीं थी। उसे केवल इतनी बात की जरूरत थी कि विदेशी शक्तियाँ एकीकरण के कार्य को सम्पन्न करने में बाधक न बने।
5. इटली में पीडमाड को छोडकर अधिकांश भाग पर आस्ट्रिया को अधिपत्य था जबकि जर्मनी में आस्ट्रिया जर्मन संघ का औपचारिक अध्यक्ष था। ऐसी स्थिति मे इटली आस्ट्रिया के विरुद्ध अधिक सर्घष करना पड़ा।
6. कैबूर का द ष्टिकोण विस्मार्क की तुलना की अधिक विस्त त था। वह सव्यं को पहले इटली का निवासी तथा बाद में पीडमाड या सार्डीनिया का निवास मानता था जबकि विस्मार्क स्वयं को पहले प्रशा का निवासी तथा बाद में जर्मनी का निवासी मानता था कैबूर ने इटली के एकीकरण में पीडमाड के अस्तित्व की अधिक चिन्ता नहीं की थी और एकीकरण के कार्य को पूरा करने के लिए सार्डीनिया को इटली में शामिल कर दिया जबकि विस्मार्क ने प्रशा को शेष जर्मनी से अधिक महत्त्व दिया। उसने जर्मनी के अन्य राज्यों को प्रशा में मिलाकर एकीकरण का कार्य पूरा किया।

7. कैबूर को शक्ति सेना या तलवार की अपेक्षा राष्ट्रीयता या उदारवाद पर अधिक विश्वास था जबकि विस्मार्क जनता था कि जर्मनी का एकीकरण केवल रक्त तथा तलवार की नीतियों द्वारा ही सम्भव है। इसलिए उसने रक्त तथा लोहे की नीति का अनुसरण किया विस्मार्क को एकीकरण का कार्य सम्पन्न करने का भी सहयोग नहीं मिला। उसने कई मामलों में मंशा को ससंद के निम्न सदन की कोई प्रवाह नहीं की। इसके विपरीत कैबुर ने अधिक राज्यों में जनमत कराके विलय की सहमति प्राप्त की तथा विभिन्न इटली के राष्ट्र भक्तों से सम्पर्क बनाया गया। उनसे विचार विमर्श किया गया।

8. जर्मनी मे विस्मार्क की स्थिति एक द ष्टि से अधिक जटिल थी। वह यह कि कैबूर की इटली के एकीकरण के लिए दो महान देश भक्तों का मिलकर सहयोग मिला। प्रशा मैजिनी ने अपने लेखों तथा रचनाओं से इटली के लोगों को देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता की भावनाये कूट-कूटकर भरी। वहाँ गुप्त संस्थाएँ एकीकरण के लिए सहयोग देती रही। गैरीबाल्डी ने अपनी तलवार के बल पर सिसली तथा नेपल्स को जीतकर पीडमांड के राज्य को दे दिया। मध्य इटली को कई रियासतों में जनमत द्वारा अपनी सहमति देकर एकीकरण की प्रक्रिया को सुद ढ़ किया और कैबूर के मरने के बाद विक्टर इआबुअल द्वितीय ने रोम तथा पोप के अन्य राज्यों को जीतकर इटली का एकीकरण सम्पन्न किया जबकि विस्मार्क को इस प्रकार का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। उसे अनेक रियासतों के विलय और विद्रोह का दमन करना पड़ा और अपनी इच्छा उन पर बलपूर्वक थोपनी पड़ी।

9. बिस्मार्क उदारवादी नहीं था। वह जर्मनी में वैद्य शासन प्रणाली का समर्थक नहीं था जबकि कैबूर अधिक उदारवादी विचारधारा रखता था तथा वह वैद्य शासन प्रणाली का समर्थक था। उसने (बिस्मार्क) जनता तथा लोकसभा की भावनाओं की तनिक भी परवाह नहीं की। वह सैन्यशक्ति तथा शक्तिशाली राजतन्त्र का समर्थक था।

अध्याय-9
नई आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था का उदय : रूसी क्रान्ति

क्रान्ति से पूर्व रूस की स्थिति एवं क्रान्ति के कारण

1. **जार का निरंकुश, स्वेच्छाचारी तथा अयोग्य शासनः** उन्नीसवीं शताब्दी में प्रायः समस्त यूरोप में महत्त्वपूर्ण राजनैतिक परिवर्तन हो रहे थे। यूरोप में अब अधिकतर देश फ्रांस की तरह गणतंत्र थे या इंग्लैण्ड की भांति संवैधानिक राजतंत्र। किंतु रूस में अब भी जारों का स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन जारी रहा। निकोलस द्वितीय जिसके शासनकाल में क्रान्ति हुई, राज्य के दैवी अधिकारों में विश्वास रखता था। निरंकुशता को बनाए रखना वह अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता था। उसने प्रगति शब्द के प्रयोग पर भी प्रतिबंध लगा रखा था। उसका शासन अपने अधिकांश पूर्वजों की भांति विधि पर आधारित नहीं था। व्यावसायिक तथा शिक्षित व्यक्तियों की दशा शोचनीय थी। आधुनिक विचार वाले तथा बौद्धिक स्वतंत्रता वाले व्यक्तियों के लिए यह राजनैतिक वातावरण एकदम गला घोंटने वाला था। उसे केवल अभिजात वर्ग तथा उच्च पादरियों का ही समर्थन प्राप्त था। विशाल रूसी साम्राज्य की शेष जनसंख्या उनके विरूद्ध थी। जारों ने जो अफसरशाही बनायी थी यह अस्थिर, जड़ और अकुशल थी। उसके सदस्य किसी योग्यता के आधार पर नहीं अपितु विशेष सुविधाभोगी वर्गों से चुने जाते थे।
2. **कृषकों की हीनदशाः** रूस में जनसंख्या का बहुसंख्यक भाग कृषक ही थे। लेकिन उनकी तथा उच्च वर्ग की स्थिति में बड़ा अंतर था। उच्च वर्ग तथा पादरियों को विशेषाधिकार प्राप्त थे जबकि जनसाधारण को उनके उचित अधिकारों से भी वंचित किया जा रहा था। तत्कालीन भू-व्यवस्था में क षि दासती की समस्या बहुत विशाल थी। यद्यपि सन् 1861 में क षिदासों की मुक्ति की राजघोषणा प्रकाशित की गयी तथा क षि दासत्व को समाप्त कर दिया गया। भूमि का बंटवारा दो भागों में कर दिया गया-एक भूस्वामी के पास तथा दूसरा ग्राम समुदाय को। क षकों की हीन दशा को देखकर भुगतान किश्तों में करने की व्यवस्था भी की गयी और मीर को उस भूमि का पूर्ण स्वामी बना दिया। किंतु नयी भूमि व्यवस्था से किसानों की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ था। उसके खेत अब भी बहुत छोटे-छोटे थे और उनमें भी सुधार के लिए पूंजी का अभाव था। इस व्यवस्था से क षकों को महान निराशा हुई तथा भूमि की समस्या का समाधान नहीं हुआ। जिन छोटे खेतों के वे स्वामी बने थे उसके लिए भी उन्हें कई दशकों तक विमोचन शुल्क देने थे। रूस में जमीन के लिए किसानों की भूख एक प्रबल सामाजिक कारक थी।
3. **मजदूरों की हीनदशाः** मध्यम वर्ग के न होने के कारण रूस में औद्योगिक युग काफी देर से यानी उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तरार्द्ध में प्रारंभ हुआ। उसके बाद इसका विकास काफी तेज गति से हुआ किंतु निवेश के लिए आधी से अधिक पूंजी विदेशों से आयी। विदेशी निवेशकर्त्ताओं की दिलचस्पी जल्द से जल्द अधिकाधिक मुनाफा कमाने में थी इसलिए मजदूरों की दशा की तरफ उन्होंने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। रूसी पूंजीपति अपनी अपर्याप्त पूंजी के साथ विदेशी निवेशकर्त्ताओं से मजदूरी कम करने की होड़ ले रहे थे। इसीलिए कारखाने मालिक चाहे विदेशी हो या रूसी, काम करने वालों की हालत बहुत भयावह थी। मजदूरों को कोई राजनीतिक अधिकार नहीं थे और छोटे-मोटे सुधार करवाने के भी कोई साधन नहीं थे। मार्क्स के ये शब्द की मजदूरों के पास सिवाय अपनी बेड़ियों के खाने के लिए कुछ भी नहीं है, उनकी दशा का अक्षरशः सही अवस्था को प्रदर्शित करते थे।
4. **नवीन मध्यम वर्ग में असंतोषः** रूस में औद्योगीकरण, शिक्षा के प्रसार तथा आधुनिक प्रेस के उदय के साथ रूस में

शक्तिशाली नवीन मध्यम वर्ग का विकास हुआ जिसमें उद्योगपति, व्यापारी, पत्रकार, बुद्धिजीवी इत्यादि शामिल थे। उन्होंने जार से कुछ राजनीतिक सुधार करने तथा उदार शासन की स्थापना की मांग की। यह वर्ग चाहता था कि रूस में व्यस्क मताधिकार के आधार पर उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जाये। प्रेस विचारों की अभिव्यक्ति तथा धार्मिक स्वतंत्रता तथा मानवता के अधिकारों की मांग की। जार निकोलस द्वितीय ने उनकी ये उचित मांगें ठुकरा दी जिसके फलस्वरूप जार के स्वेच्छाचारी शासन के विरूद्ध द्वेष, घ णा एवं असंतोष की भावनाएं व्याप्त हुई।

5. **जार की साम्राज्यवादी कार्यवाहियां:** रूस के जारों ने यूरोप और एशिया के अनेक राष्ट्रों की जीतकर अपना साम्राज्य बनाया था। उन्होंने विजित प्रदेशों को रूसी भाषा अपनाने और अपनी राष्ट्रीय संस्क तियों को बदलने के लिए विवश किया था। रूसी साम्राज्य की गैर रूसी जातियों की अनेक पार्टियां थी जो अपने प्रदेशों को औपनिवेशिक उत्पीड़न से मुक्त करने के लिए सक्रिय थी। रूस के साम्राज्यवादी विस्तार के कारण अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ उनका टकराव और लड़ाइयां हुई। इन लड़ाइयों ने जारशाही राज्य के खोखलेपन को जाहिर कर दिया।

6. **रूस में मार्क्सवाद का प्रभाव तथा बुद्धिजीवियों का योगदान:** रूस में औद्योगीकरण शुरू होने पर मजदूर-संगठनों की स्थापना हुई। उन पर कार्ल मार्क्स के समाजवादी विचारों का पूर्ण प्रभाव था। मार्क्सवादियों ने मजदूरों के बीच काम करना शुरू कर दिया और उनका संगठन बढ़ रहा था। अनेक प्रतिबंधों के बावजूद उनके समाचार पत्र, पत्रिकाएं तथा छोटे-छोटे पर्चे निकलते थे और छोटी-छोटी समितियों के माध्यम से उनका राष्ट्रव्यापी संगठन बनता जा रहा था। रूस का पहला साम्यवादी प्लेखानोव था जो रूस में जारशाही की निरंकुशता समाप्त करके साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना करना चाहता था। सन् 1888 ई० में उसने रशियन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की। सन् 1898 ई० में इस दल ने अन्य बहुत से समाजवादी गुटों के साथ मिलकर रशियन सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी बनायी। किंतु संगठन और नीति के सवालों पर मतभेद के कारण यह नया दल विभक्त हो गया। इनमें से एक गुट मेनशेविक नाम से जाना गया क्योंकि वह अल्पसंख्यक टुकड़ा था। यह गुट फ्रांस और जर्मनी में उस समय जिस तरह की पार्टी थी उसी तरह की पार्टी बनाने के पक्ष में था। इन देशों की पार्टियां संसदीय चुनावों में भी भाग लेती थी। बहुसंख्यक गुट बोल्शेविक नाम से प्रसिद्ध था। उसके अनुसार जिस देश में न तो जनतांत्रिक अधिकार है और न ही कोई संसद वहाँ पर संसदीय प्रणाली के अनुकूल बनाया गया दल कोई भी परिवर्तन नहीं ला सकेगा। वह ऐसा दल बनाने के पक्ष में न था जिसके सदस्य अनुशासित रहे और क्रान्ति के लिए कार्य करे। प्लेखानोव के साथ-साथ लेनिन (ब्लादीमीर इलिच उलियानेव) ने इस दल को लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। उनके अतिरिक्त सोशलिस्ट रिवोल्युशनरी पार्टी भी जो किसानों की मांगों को उठाती थी। इस प्रकार मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित मजदूर एवं किसानों के संगठन रूस की क्रान्ति का महान कारण साबित हुए।

7. **जापान से पराजय और 1905 की क्रान्ति:** 1905 के ऐतिहासिक रूस जापान युद्ध में रूस बुरी तरह पराजित हुआ। इससे पूर्व निरकुंश जारशाही अपनी विभिन्न मोर्चों पर विफलताओं को रूसी जनता से छिपाती रही थी। लेकिन उसके लिए सुदूर पूर्व की इस पराजय को जनता से छिपाना मुश्किल था। बचे-खुचे फटेहाल रूसी सैनिक जब लौटे तो सारा देश स्तब्ध था। महानता का भ्रम टूट चुका था। रूस एशिया के एक छोटे से देश से पराजित हुआ था। वस्तुतः इस पराजय के कारण 1905 की क्रान्ति हुई। जनवरी 1905 में जार निकोलस द्वितीय को याचिका देने के लिए जाते हुए मजदूरों के एक समूह पर गोलियां चलायी गयी। एक हजार से अधिक मजदूर मारे गये और हजारों घायल हुए। इस घटना के कारण रूस भर में अभूतपूर्व गड़बड़ियां हुई। यहाँ तक कि सेना और नौसेना के हिस्सों ने भी विद्रोह कर दिया। जार को मध्यम वर्ग की मांग स्वीकार करके ड्यूमा (संसद) की बैठक बुलानी पड़ी परंतु थोड़े दिन बाद ही जार ने प्रतिनिधि सभा को भंग कर दिया और पुनः अपना निरंकुश शासन कायम कर लिया था। यद्यपि 1905 की क्रान्ति विफल रही लेकिन इस क्रान्ति के कुछ अच्छे परिणाम निकले। इसने रूस की जनता को राजनीतिक अधिकारों से परिचित करा दिया। उन्हें मताधिकार और जनतांत्रिक शासन का ज्ञान हो गया। यही नहीं इस क्रान्ति के दौरान संगठन का नया रूप विकसित हुआ जो 1917 ई० के उथल-पुथल में निर्णायक सिद्ध हुआ। यह संघ था सोवियत या मजदूरों के प्रतिनिधियों की परिषद। प्रारंभ में उनकी स्थापना हड़तालों के संचालन के लिए समितियों के रूप में हुई। आगे चलकर वे राजनीतिक सत्ता के उपकरण बन गए। किसानों की सोवियतों का भी निर्माण हुआ। इस क्रान्ति को जार द्वारा कुचले जाने के कारण अब कोई भी व्यक्ति धीरे-धीरे सुधार की आशा नहीं कर सकता था। वस्तुतः सन् 1905 ई० की क्रान्ति

सन् 1917 ई० की क्रान्ति का पूर्वाभ्यास हुई। उसने लोगों को जाग्रत कर एक बड़ी क्रान्ति के लिए तैयार किया। वह सैनिकों और गैर रूसी राष्ट्रों के लोगों को रूसी क्रान्तिकारियों के घनिष्ठ संपर्क में ले आयी।

क्रान्ति का तात्कालिक कारण

1. **प्रथम विश्वयुद्ध में रूस की पराजयः** अपनी साम्राज्यवादी महत्त्वकांक्षाओं की, कुस्तुनतुनिया (इस्तम्बोल) और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य को रूसी साम्राज्य में मिलाकर, पूरा करने की आशा से जार निकोलस द्वितीय ने रूस को प्रथम विश्वयुद्ध में उलझा दिया। यह कदम घातक सिद्ध हुआ और इससे रूसी निरंकुश राजतंत्र का अंतिम तौर पर विघटन हो गया। जार का शासन आधुनिक युद्ध करने में सक्षम नहीं था। रूस की नौकरशाही भ्रष्ट और रिश्वतखोर थी। इस कारण मोर्चे पर लड़ते हुए सैनिकों को न तो अच्छे हथियार प्राप्त हो रहे थे और न उन्हें पर्याप्त भोजन ही मिलता था। 1915 से ही रसद की कमी होने लगी थी। शासन के भ्रष्ट और योग्य पदाधिकारी युद्ध के लिए एकत्र की जाने वाली धनराशि को नष्ट कर रहे थे। इसलिए युद्धोपयोगी सामग्री के अभाव के कारण रूसी सैनिक मारे जा रहे थे। फरवरी 1917 तक छः लाख रूसी सैनिक मारे जा चुके थे। क्रान्ति के लिए स्थिति पूर्णतया अनुकूल थी। रूसी फौज चारों ओर से हारने लगी थी। उनमें राजद्रोह की भावना भी घर कर गयी।

2. **फरवरी की क्रान्ति एवं निरंकुश राजतंत्र का अंतः** एक तरफ रूसी सेना की पराजय हो रही थी और दूसरी ओर देश में आतंक की स्थिति उत्पन्न हो रही थी। इसका कारण यह था कि मूर्ख जार शाही ने लाखों क षकों को क षि के काम से हटाकर युद्ध के मैदान में भेज दिया, जिससे बहुत से खेतों में खेती न हो सकी और अनाज के वार्षिक उत्पादन में भारी कमी पड़ गयी।

   अनाज के अभाव के कारण अनिवार्य वस्तुओं की भारी कमी हो गयी जिससे उनके मूल्य इतने बढ़ गये कि निर्धन लोगों के लिए जीवन-निर्वाह असंभव हो गया। 7 मार्च 1917 को (पुराने पंचांग के अनुसार 22 फरवरी 1917 ई०) पेट्रोग्रेड की सड़कों पर किसान मजदूरों ने जुलूस निकाला। उन्होंने रोटी दो की आवाज लगायी। भीड़ ने पेट्रोग्रेड के होटलों व दुकानों को लूटना शुरू कर दिया तथा स्थिति काबू से बाहर होने लगी। किंतु सेना की सहानुभूति प्रदर्शनकारियों के साथ थी। उन्होंने गोली चलाने से इंकार कर दिया। इससे स्थिति और भी गंभीर हो गई। रूस की प्रथम महायुद्ध में निरंतर पराजय के समाचार, सैनिकों के असहयोग और सरकार की दुर्बलता ने क्रान्तिकारियों का मनोबल बढ़ाया।

   क्रान्तिकारियों ने मजदूरों और सैनिकों के प्रतिनिधियों की परिषद का संगठन किया। उनके प्रचार के परिणामस्वरूप अन्य सैनिक टुकड़ियों ने भी विद्रोह किया एवं परिषद का संगठन किया। उनके प्रचार के परिणामस्वरूप अन्य सैनिक टुकड़ियों ने भी विद्रोह किया एक परिषद का साथ दिया। इन घटनाओं के फलस्वरूप पेट्रोग्रेड के नाम पर क्रान्तिकारी मजदूरों एवं सैनिकों का अधिकार स्थापित हो गया।

   पेट्रोग्रेड की क्रान्तिकारी सरकार ने मजदूरों एवं सैनिकों की एक अस्थायी समीति बनायी एवं उसे पेट्रोग्रेड का शासन भार सौंपा। दूसरी ओर प्रिंस ल्बोफ ने सरकार बनाई, इस प्रकार पेट्रोग्रेड पर द्वैध नियंत्रण स्थापित हुआ। अतः यह उचित समझा गया कि दोनों का एकीकरण किया जाए तथा शासन चलाने के लिए एक समीति का संगठन किया जाए जिसमें परिषद (क्रान्तिकारी मजदूरों तथा सैनिकों के प्रतिनिधियों की परिषद) के दो सदस्य हो।

   अन्ततः ड्यूमा के समाजवादी क्रान्तिकारी दल के नेता एलैकजेंडर केरेंस्की ने मंत्रिमंडल का गठन किया। आक्टोवरिस्ट तथा कैडेटदल ने इसे सहयोग प्रदान किया। जार ने राजसिंहासन त्याग दिया और 15 मार्च 1917 से अस्थायी सरकार ने काम करना शुरू कर दिया। जार का पतन फरवरी क्रान्ति के नाम से जाना जाता है, परंतु जार के पतन से क्रान्ति की केवल शुरूआत ही हुई थी।

3. **नवंबर की क्रान्ति एवं बोल्शेविक सरकार की स्थापनाः** केरेंस्की सरकार के मंत्रिमंडल में नरमदल के सदस्य वे थे जो जमींदार, उद्योगपति, पूंजीपति आदि थे। इस मंत्रिमंडल का मुख्य उद्देश्य जनतांत्रिक एवं वैधानिक सरकार की स्थापना करना, मित्र-राष्ट्रों के सहयोग से युद्ध चलाना, व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करना, संविधान सभा द्वारा भूमि की समस्या सुलझाना एवं रूस की समस्त संस्थाओं में वैधानिक उपायों द्वारा परिवर्तन लाना था।

   परन्तु बोलशेविकों ने इस सरकार को स्वीकार नहीं किया। वे चाहते थे कि नई सरकार जनता की चार महत्त्वपूर्ण मांगों को पूरा करे। वे मांगें थी-

i. शान्ति अर्थात् प्रथम महायुद्ध से रूस तुरन्त हट जाएं,

ii. जोतने वालों की जमीन,

iii. उद्योगों पर मजदूरों का नियंत्रण और

iv. गैर-रूसी राज्यों को बराबरी का दर्जा।

करेंस्की के नेत त्व में बनी अस्थायी सरकार ने इन समस्याओं के समाधान में कोई रूचि नहीं दिखाई, इसलिए शीघ्र ही वह अलोकप्रिय हो गई और जनता में उसके विरूद्ध व्यापक असंतोष फैल गया। लेनिन जो फरवरी क्रान्ति के समय स्विटजलैंड में निवासित थे, अप्रैल में रूस वापस आये। लेनिन ने कहा था कि, कोई भी क्रान्ति जो अपनी रक्षा करने में समर्थ न हो व्यर्थ है। उनके नेत त्व में बोल्शेविक पार्टी ने (प्रथम विश्वयुद्ध) को समाप्त करने, किसान को जमीन हस्तांतरित करने, सारी सत्ता सोवियतों को नारा देने के लिए स्पष्ट नीतियाँ रखी। गैर-रूसी जनगणों को समान अधिकार दिये बिना सच्चा जनतंत्र स्थापित नहीं किया जा सकता। उन्होंने रूसी साम्राज्य के अधीन रहने वालों सहित सभी जनगणों के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार की घोषणा की और उत्पादन तथा त्वरण पर राज्य के अधिकार की बात प्रतिपादित की।

बोल्शेविक पार्टी ने बल प्रयोग द्वारा करेन्स की सरकार को तुरंत उलटने का निश्चय किया। 6 नवम्बर, 1917 की संध्या को लेनिन ने घोषणा की कि जनकालीन सर्वरूस सोवियत सम्मेलन तथा संविधान सभा को कुचलने की तैयारी कर रहे हैं। इस घोषणा के बाद उसी रात को बोल्शेविकों ने पेट्रोग्रेड की सरकारी इमारतों, रेलवे स्टेशन, कोतवाली खजाने, बैंको, डाकखानों, टेलीफोन एक्सचेंजों आदि पर अधिकार कर लिया।

25 अक्टूबर को प्रातःकाल बोल्शेविकों ने घोषणा की कि अंतरिम सरकार का शासन समाप्त कर दिया गया है। करेंस्की रूस से भाग गया, उसके अतिरिक्त अंतरिम सरकार के सभी सदस्यों को बंदी बनाया गया। उसी दिन सर्वरूस-सोवियत सम्मेलन ने शासन-भार संभाला एवं दूसरे दिन अर्थात् 26 अक्टूबर को अंतरिम सरकार का संगठन (लेनिन के नेत त्व में) हुआ जिसे काउन्सिल ऑफ पीपुल्स कमिसार्स (जन कमिसारों की परिषद) नाम दिया गया। लेनिन को इसका सभापति तथा ट्रांट्स्की को युद्ध मंत्री तथा चिर्चरिन को विदेशमंत्री नियुक्त किया गया।

अंतरिम बोल्शेविक सरकार ने सत्ता में आते ही अगले दिन (अर्थात् 26 अक्टूबर 1917 ई०) सभी जनगणों और युद्धरत राज्यों से बिना किसी देश की भूमि हथियारों और युद्ध के लिए बिना क्षतिपूर्ति मांगे न्यायोचित शांति के लिए बातचीत आरंभ करने की अपील की। रूस ने अपने को प्रथम महायुद्ध से अलग कर लिया। यद्यपि जर्मनी के साथ औपचारिक संधि बाद में हुई। जर्मनी को उसकी मांग के अनुसार शांति की कीमत के रूप में रूस को अपना भू-भाग दे देना पड़ा। अब कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों के आधार पर समाजवाद की स्थापना के लिए भी कार्य किया गया।

भूमि संबंधी आज्ञाप्ति जारी किये जाने के बाद जमींदारों, चर्च और जार की भू-सम्पत्तियों को छीन लिया गया। उन्हें किसानों की समितियों को उन किसानों को बांटने के लिए दे दिया गया जो बिना भाड़े के मजदूरों की मदद के स्वयं खेती करें। उद्योगों का नियंत्रण मजदूरों की कारखाना समितियों को सौंप दिया गया। सन् 1918 के मध्य तक बैंकों और बीमा कम्पनियों, बड़े उद्योगों, खानों, जल और रेलवे का राष्ट्रीकरण कर लिया गया। विदेशी ऋणों को नकार दिया गया और विदेशी निवेशों को जब्त कर लिया गया। जनगणों के अधिकार संबंधी एक घोषणा जारी कर सभी राज्यों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया गया।

लेनिन के उपर्युक्त क्रान्तिकारी परिवर्तनों का बड़े-बड़े जमीदारों, व्यापारियों, उद्योगपतियों, पादरियों तथा जारशाही समर्थक तत्त्वों ने घोर विरोध किया। वस्तुतः अक्टूबर क्रान्ति शांतिपूर्ण थी। जिस दिन क्रान्ति हुई उस दिन पैत्रोग्राद में केवल दो व्यक्तियों के मारे जाने की खबर थी। किंतु नवजात राज्य को शीघ्र ही ग हयुद्ध में उलझा दिया गया। पराजित जार की सेना के अधिकारियों ने सोवियत राज्य के विरूद्ध हथियारबंद बगावत कराई। विदेशी शक्तियों-इंग्लैण्ड, फ्रांस, जापान, अमेरिका इत्यादि की सेनाएं विद्रोहियों से आ मिली। रूसी क्रान्ति की सफलता एवं लोकप्रियता को देखकर पूंजीवादी देशों में भय उत्पन्न हो गया था कि कहीं उनके यहाँ भी मजदूर वर्ग तथा सेना भड़क न उठे।

अतः उन्होंने बोल्शेविक सरकार को मान्यता देने से इंकार कर दिया तथा वहाँ ग हयुद्ध शुरू करा दिया ताकि बोल्शेविक सरकार का अंत हो जाए। लेकिन बोल्शेविक सरकार की लाल सेना ने सन् 1917 ई० से 1920 ई० तक चलने वाले इस

ग हयुद्ध में सफलता प्राप्त की। इस समय तक नए राज्य की लाल सेना ने पुराने जारशाही साम्राज्य के लगभग सभी प्रदेशों पर कब्जा कर लिया था। लाल सेना अच्छी तरह अस्त्र-शस्त्र और साजो-सामान से सुसज्जित नहीं थी। उसमें अधिकतर मजदूर और किसान थे।

इस तरह बोल्शेविकों को एक साथ ग हयुद्ध तथा विदेशी सैनिकों के साथ युद्ध करना पड़ा। विदेशी आक्रमण तो इतना भीषण नहीं था क्योंकि वर्षों से महायुद्ध में लड़ते-लड़ते मित्र राष्ट्रों की सेना थक चुकी थी और वे रूस के विरूद्ध पूरी शक्ति नहीं लगा सकते थे। ट्रांत्सकी ने लाल सेना का भली-भांति संगठन कर विदेशी सैनिकों को रूस से खदेड़ दिया। उसके बाद बोल्शेविकों ने आंतरिक विद्रोहों को कुचलना शुरू किया। जिसने भी क्रान्ति का विरोध किया उसे मौत के घाट उतार दिया गया। जिस तरह फ्रांस की राज्यक्रान्ति (1789 ई०) के समय जैकोबीन दल ने फ्रांस में आतंक का राज्य स्थापित किया था उसी प्रकार बोल्शेविकों ने अपने विरोधियों को आतंक से कुचल दिया। फ्रांस में आतंक के राज्य के जिस तरह सार्वजनिक सुरक्षा समिति का निर्माण हुआ था उसी तरह रूस में बोल्शेविकों ने चका नामक एक विशेष न्यायालय की स्थापना की और उसके माध्यम से दस हजार से भी ज्यादा व्यक्तियों को प्राण-दण्ड दिलाया। बोल्शेविकों के ये कारनामें इतिहास में लाल आतंक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके साथ ही 1921-22 में देश में भयंकर अकाल पड़ा था। जिसमें 50 लाख के लगभग व्यक्ति मर गये। इस प्रकार बोल्शेविक क्रान्ति जो प्रारंभ में बिल्कुल शांत एवं रक्तहीन थी अंत में इतिहास में एक भयंकर खूनी क्रान्ति सिद्ध हुई।

बोल्शेविकों की सफलता के कारण

1. **किसानों तथा मजदूरों का पूर्ण समर्थनः** रूस की विशाल क षक जनता तथा कारखानों के मजदूरों का समर्थन लाल सेना को प्राप्त था क्योंकि उन्हें भय था कि यदि बोल्शेविक लोग पराजित हो गये तो जमीदार लोग उनसे फिर भूमि छीन लेंगे और पूंजीपति फिर कारखानों पर अधिकार कर लेंगे।
2. **क्रान्ति के विरोधियों में मतभेदः** क्रान्ति के विरोधियों में मतभेद बहुत अधिक था जिससे वे संगठित व सम्मिलित रूप से बोल्शेविकों का अंत करने में सफल नहीं हो सके।
3. **रूस का विस्त त होनाः** बोल्शेविक विजय का तीसरा कारण रूस का विस्तार था। एक छोटे से देश में शत्रु उन्हें सरलता से घेरकर नष्ट कर सकते थे। परंतु रूस जैसे विशाल विस्त त देश में यह संभव नहीं था। युद्ध लंबा खिंच गया और ट्रांटस्की ने उससे लाभ उठाकर अपनी विशाल लाल सेना का संगठन कर लिया। इसकी संख्या लगभग 55 लाख हो गई थी और इसके सैनिकों में क्रान्ति जोश कूट-कूट कर भरा हुआ था तथा इसके जोशीले आघातों के सामने श्वेत सेनाएं नहीं टिक सकीं।
4. **अपर्याप्त विदेशी हस्तक्षेप तथा देशभक्तों की प्रतिक्रियाः** रूस में मित्र राष्ट्रों का हस्तक्षेप भी अपर्याप्त था। वे प्रथम विश्वयुद्ध के कारण काफी थक गये थे और इसलिए क्रान्ति के विरोधियों को पर्याप्त सहायता न कर सके, हस्तक्षेप करके उन्होंने शीघ्र ही अपनी सेनाओं को लौटा दिया। जिससे क्रान्ति के विरोधियों का साहस मंद पड़ गया। यही नहीं अनेक देशभक्त लोग अपने देश में विदेशी सेनाओं को देखकर क्रान्ति-विरोधियों को देशद्रोही समझने लगे। बोल्शेविक सरकार की इस घोषणा ने कि वह विदेशी ऋण नहीं लौटाएगी, कर्जदार गैर-रूसी राज्यों (जो साम्राज्य के अंग थे) के शासक वर्ग को भी अपनी ओर मिला लिया क्योंकि इस प्रकार ये प्रदेश एकदम सब उद्योगों के मालिक हो गये। अतः ये सभी दिल से बोल्शेविक सरकार की मदद करने लगे।
5. **क्रान्तिकारियों में एकता तथा क्रान्तिकारियों के महान नेताः** बोल्शेविकों में पूर्ण एकता तथा मार्क्सवाद के प्रति अटूट श्रद्धा थी। उनका संगठन उत्तम दर्जे का था वे क्रान्ति की सफलता के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर थे। साथ ही साथ जहाँ क्रान्ति विरोधियों के नेता भी बड़े अयोग्य व भ्रष्ट थे। उनके विपरीत क्रान्तिकारियों के नेता जैसे लेनिन, स्टालिन व ट्रांटस्की सभी बड़े योग्य व्यक्ति थे।

रूसी क्रान्ति के परिणाम

19वीं सदी के दूसरे दशक में होने वाले बोल्शेविक क्रान्ति ने एक ही साथ कई तात्कालिक तथा दूरगामी प्रगति उत्पन्न की। इस क्रान्ति की सर्वप्रथम उपलब्धि तो यह रही कि रूस में निरंकुश शासन की समाप्ति हो गयी तथा अभिजात वर्ग तथा चर्च

की शक्ति का समापन हो गया। साथ ही इसने रूस में संसार के प्रथम समाजवादी साम्राज्य की स्थापना की। जार के साम्राज्य को एक नये राज्य सोवियत समाजवादी गणराज्यों के संघ के रूप में हस्तांतरित कर दिया गया।

इस सरकार ने मार्क्स के सिद्धान्त-हरेक व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार काम लेना तथा आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक देना-के सिद्धान्त की आधारशिला रख दी। उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व कर दिया गया तथा निजी मुनाफे की भावना का भी उन्मूलन कर दिया गया। आर्थिक विकास के लिए नियोजित अर्थव्यवस्था अपनायी गयी। आर्थिक विकास का उद्देश्य सामाजिक एवं आर्थिक समानता प्रदान करना माना गया। सोवियत संघ की विकास दर जिस रफ्तार से बढ़ने लगी, उसने यह दिखला दिया कि आर्थिक विकास के लिए नियोजन कितना प्रभावकारी हो सकता है। स्वामित्व व मुनाफे की समाप्ति ने परस्पर हित वाले वर्गों का अंत कर दिया। साथ ही, इसने सामाजिक असमानता का भी लोप कर दिया।

काम करना हर व्यक्ति की आवश्यक जरूरत बन गयी क्योंकि अनर्जित आय का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। प्रत्येक व्यक्ति को काम देना राज्य का कर्त्तव्य बन गया और काम करने के अधिकार को एक संवैधानिक अधिकार भी बना दिया गया। सामाजिक एवं आर्थिक असमानताओं के उन्मूलन के साथ शिक्षा एवं संस्क ति के क्षेत्र में भी कई तरह के विकास देखे गये। संपूर्ण जनता की शिक्षा ने एक ही साथ आर्थिक विकास, अंधविश्वासों के समापन, वैज्ञानिक द ष्टिकोण को अपनाने की अंतद ष्टि प्रदान कर दी। विज्ञान एवं कला के क्षेत्र में हुई प्रगति ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में अहम् भूमिका निभायी। सोवियत समाजवादी गणराज्यों के संघ का निर्माण करके गैर-रूसी राष्ट्रीयता के लोगों को भी समान अधिकार प्रदान किये गये।

रूसी क्रान्ति का प्रभाव मात्र रूस तक ही सीमित नहीं रह सका। दरअसल, इस क्रान्ति का प्रभाव विश्वव्यापी ही था। मानव और नागरिक अधिकारों की घोषणा में निहित सिद्धान्तों की तरह ही मार्क्स के विचारों को व्यापक रूप से लागू करने की बात कही गयी। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समाजवादी आंदोलन का संगठन इसी का परिणाम माना जाता है। प्रथम सफल समाजवादी आंदोलन का संगठन इसी का परिणाम माना जाता है। प्रथम सफल समाजवादी आंदोलन होने के कारण रूसी क्रान्ति ने भावी घटनाक्रम को भी प्रभावित किया। सम्पूर्ण संसार को एक बिल्कुल ही नये प्रकार की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के दौर से गुजरना पड़ा।

रूसी क्रान्ति ने समाजवाद के रूप में पूँजीवाद का एक सक्षम विकल्प प्रस्तुत किया। इसने पूंजीवादी देशों में भी इस बात का अनुभव करा दिया कि सामाजिक एवं आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक समानता पर्याप्त नहीं हो सकती। रूस की अल्प समय में ही व्यापक प्रगति ने यह स्पष्ट कर दिया कि मात्र पूंजीवादी व्यवस्था से ही देश का विकास संभव नहीं हो सकता है। यदि ऐसा संभव है, तो वह मात्र समाजवादी तरीकों से ही किया जा सकता है। रूसी क्रान्ति ने साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

रूस ने क्रान्ति के बाद परतंत्र राष्ट्रों की स्वतंत्रता का जर्बदस्त समर्थन किया। उपनिवेशों के राष्ट्रीय आंदोलन के स्वरूप पर भी रूसी क्रान्ति का स्पष्ट प्रभाव पड़ा था। सम्पूर्ण दूनिया के मजदूरों व शोषितों का पक्ष लेकर रूसी क्रान्ति ने अन्तर्राष्ट्रीय भावना को मजबूत किया। रूस की क्रान्ति का प्रभाव अन्य देशों की सरकारों पर भी पड़ा। और जिन देशों में साम्यवादी व्यवस्था नहीं थी, वहाँ की सरकार ने भी मजदूरों व किसानों के विद्रोह के भय से उनकी अवस्था को सुधारने का भरसक प्रयास करना शुरू कर दिया था। इस प्रकार रूसी क्रान्ति का महत्त्व मात्र रूस के लिए ही नहीं था, बल्कि इसने सम्पूर्ण विश्व में अपनी महत्ता साबित कर दी थी।

लेनिन के कार्य व सफलताएँ

1. **लेनिन व बोल्शेविक दलः** बोल्शेविक दल ने लेनिन को अपना नेता स्वीकार किया। उसने करेंस्की सरकार की गलत नीतियों पर खुला प्रहार करना शुरू कर दिया। बिना एक क्षण भी बरबाद किए उसने बोल्शेविक दल को संगठित करना तथा उसका प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया। उसे जीनोपण, कामेनेफ, स्तालिन का सहयोग प्राप्त था। सारे बोल्शेविकों का लेनिन सर्वमान्य नेता था तथा आंदोलन का सूत्र उसके हाथों में था। उसने देश के समक्ष सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का नया कार्यक्रम रखा जिसकी मुख्य विशषताएँ इस प्रकार थी-
    i. शांति संधि तुरंत की जाए;

ii. बिना क्षतिपूर्ति चुकाए समस्त व्यक्तिगत भूमि पर राज्य का स्वामित्व हो;

iii. मजदूरों को कारखानों का स्वामित्व प्राप्त हो;

iv. उत्पादन तथा विनियोग पर राष्ट्र का नियंत्रण हो;

इस प्रकार उसने गरीबों, किसानों, मजदूरों और सैनिकों को अपनी ओर कर लिया। वह बोल्शेविक दल के माध्यम से साम्यवादी सिद्धान्तों के अनुसार जल्द से जल्द रूस में नवीन आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना चाहता था जिसमें विशेषाधिकार प्राप्त किसी भी वर्ग का नाम तक न हो।

2. **लेनिन तथा बोल्शेविक क्रान्ति:** जब लेनिन को पूरी तरह विश्वास हो गया कि क षक, मजदूर और सैनिक बोल्शेविकों के कट्टर समर्थक बन गए हैं तो उसने अंतरिम सरकार को उलटने एवं सामाजिक क्रान्ति द्वारा सर्वहारा वर्ग का अधिनायक तंत्र स्थापित करने का द ढ़ निश्चय किया। 6 नवम्बर अथवा 24 अक्टूबर (1947 की क्रान्ति से पूर्व रूस में जूलियन पंचांग प्रचलित था। इस पंचांग के अनुसार क्रान्ति नवम्बर में हुई थी) की संध्या को लेनिन ने घोषणा की कि जार सर्वकालीन सर्वरूस सम्मेलन तथा संविधान सभा को कुचलने की तैयारी कर रहे हैं। इस घोषणा के बाद उसी रात बोल्शेविक सैनिकों ने पेट्रोग्रेड की सरकारी इमारतों, रेल-स्टेशन तार और डाकघर, पुल, बिजली घर एवं बैंकों पर अधिकार कर लिया। 25 अक्टूबर को प्रातःकाल बोल्शेविकों ने घोषणा की कि अंतरिम सरकारी का शासन समाप्त कर दिया गया है। करेंस्की रूस से भाग गया था। उसी दिन सर्वरूस-सोवियत सम्मेलन ने शासन भार संभाला एवं दूसरे दिन अर्थात् 26 अक्टूबर 1917 को नयी अंतरिम सरकार का गठन हुआ जिसे काउन्सिल ऑफ पीपुल्स कमिसार्स (जन कमिसारों की परिषद) नाम दिया गया। लेनिन इनका सभापति बना एवं ट्रोटस्की को विदेशमंत्री नियुक्त किया गया।

3. **लेनिन के सुधार और नव-निर्माण के कार्य:** बोल्शेविक क्रान्ति के बाद लेनिन ने अपनी सरकार के सम्मुख अनेक समस्याओं का शीघ्र समाधान करके अपनी अभूतपूर्व योग्यता का परिचय दिया। (उसकी सरकार के सम्मुख प्रमुख समस्याएं थी-जर्मनी से संधि करके युद्ध समाप्त करना, ग हयुद्ध की हर संभावना को रोकना तथा ऐसा युद्ध छिड़ने पर उसमें विजय प्राप्त करना, किसानों-मजदूरों की आर्थिक स्थिति सुधारना, नवीन संविधान की व्यवस्था करना तथा साम्यवाद की स्थापना करना।) उसने शीघ्र ही जर्मनी से संधि कर ली। रूस ने अपने को युद्ध से अलग कर दिया यद्यपि जर्मनी के साथ औपचारिक शांति-संधि बाद में हुई। जर्मनी की उसकी मांग के अनुसार शान्ति की कीमत के रूप में रूस को अपना भू-भाग दे देना पड़ा। लेनिन ने रूस में राजनीतिक परिवर्तन के साथ आर्थिक और सामाजिक संरचना को नया स्वरूप देना शुरू किया। भूमि जमींदारों से छीनकर क षकों में बांट दी गई। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया और उन पर भी मजदूरों का नियंत्रण स्थापित कर दिया गया। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। जंगलों, खानों, रेलवे, बैंको आदि सब पर राज्य का स्वामित्व हो गया। जार के शासनकाल में जो राष्ट्रीय ऋण लिए गए थे, उन सबको रद्द कर दिया गया। प्रत्येक आदमी के लिए काम करना अनिवार्य कर दिया गया। पुरानी सरकारों ने विदेशी राज्यों के साथ जो गुप्त संधियां व समझौते किए थे, उन सबको रद्द कर दिया गया। स्वतंत्र व्यक्तियों द्वारा संचालित व्यवसाय बंद कर दिए गए। बैंक बंद कर दिए गए और धन के लेन-देन का कार्य सरकार द्वारा किया जाने लगा।

सरकार को अधिकार था कि किसानों के पास खाने योग्य अनाज छोड़कर बाकी उपज सरकार ले ले। अन्न की समस्या के समाधान के लिए चार प्रकार के राशन कार्ड बनाए गए। प्रथम वर्ग का राशनकार्ड कठोर परिश्रम करने वाले श्रमिक के लिए था। चतुर्थ श्रेणी का कार्ड सबसे कम परिश्रम करने वालों को दिया गया। मकानों पर सरकारी नियंत्रण स्थापित करके उनका वितरण सरकार द्वारा किया गया। विवाह संबंधी नियमों में परिवर्तन करके विवाह का धार्मिक बंधन समाप्त कर दिया गया। स्त्रियों व पुरूषों को समान राजनीतिक अधिकार प्रदान किए गए। श्रमिकों के काम करने की दशाएं सुधारी गयी, उनके काम के घण्टे कम कर दिये तथा उनकी मजदूरी व द्धि की गयी। लेनिन की साम्यवादी आर्थिक और सामाजिक नीतियों का रूस के प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने विरोध किया। पश्चिमी देशों ने साम्यवादी व्यवस्था से भयभीत होकर रूस के क्रान्ति विरोधी लोगों की मदद की लेकिन लेनिन के नेत त्व में लाल सेना ने ग हयुद्ध में विजय पाई। तीन वर्षों में ही भयानक कठिनाइयों के बावजूद क्रान्ति की जड़ें जम गई और विश्व इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ा।

4. **साम्यवादी व्यवस्था की कुछ कठिनाइयां एवं नई आर्थिक नीति को अपनाना:** बोल्शेविक क्रान्ति के बाद कारखानों के संचालन का दायित्व श्रमिकों को दिया गया। परंतु अनुभव न होने के कारण वे कारखाने चलाने में असफल रहे।

कारखानों में उत्पादन कम हो गया, क्योंकि लोगों को कम करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। निजी मुनाफे या लाभ को बंद कर दिया गया। अतः 1920 में सरकार द्वारा नियंत्रण व संचालन की नीति अपनाई गई। सरकार ने सख्ती से काम लिया और अनिवार्य श्रम का आदेश दिया। फिर भी उत्पादन नहीं बढ़ सका। अतः सन् 1921 में लेनिन ने नीति अपनाई। इस नई आर्थिक नीति के द्वारा विशाल उद्योग धंधों पर राज्य का नियंत्रण स्थापित किया। परंतु छोटे-छोटे उद्योग धंधों पर राज्य ने अधिकार नहीं किया। क षि के क्षेत्र में भी ऐसी हालत रही। जमींदारों से जमीन तो छीन ली गयी लेकिन राज्य की ओर से क षि करने की कोई व्यवस्था नहीं की गयी। गरीब किसान के पास पूंजी नहीं थी। अतः बहुत सी भूमि व्यर्थ बंजर पड़ी रह गयी और अनाज का उत्पादन भी कम होता गया। 1921 में भयंकर अकाल पड़ा। लाखों व्यक्ति भूखों मर गए। किसानों से जबर्दस्ती अनाज लेने पर किसानों ने विद्रोह करना आरंभ कर दिया। 1921 ई० में क षि के क्षेत्र में भी नई आर्थिक नीति लागू की गयी। अनिवार्य रूप से अनाज प्राप्त करने के स्थान पर उत्पादन पर क षि कर लगाया गया। शेष उत्पादन को बाजार में बेचने की आज्ञा दे दी गई।

सरकार ने थोक व्यापार को अपने नियंत्रण में रखा लेकिन छोटे व्यापार एवं खुदरा दुकानों पर राज्य ने नियंत्रण नहीं किया। सरकार ने अनिवार्य वस्तुओं के लिए सहकारी उपभोक्ता समितियों की स्थापना की। वस्तु विनिमय के स्थान पर मुद्रा का पुनः प्रयोग किया गया।

1921 ई० से पूंजी की व द्धि के लिए विदेशियों को खानों, यातायात के साधनों व कारखानों में धन लगाने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

लेनिन के आलोचकों का कहना है कि उसकी नई आर्थिक नीति ने धनी उद्योगपतियों एवं किसानों को लाभ पहुँचाया और एक बार फिर रूस पूंजीवाद की तरफ मुड़ता नजर आने लगा। वस्तुतः लेनिन एक सच्चा मार्क्सवादी था लेकिन वह साथ ही साथ व्यावहारिक भी था। उसने नई नीति अस्थायी तौर पर तथा परिस्थितियों के अनुकूल अपनाई। उसकी नई आर्थिक नीति के कारण रूस को बड़े अच्छे परिणाम प्राप्त हुए। देश के आर्थिक जीवन में नयी जान आ गयी और उत्पादन बढ़ गया। लेकिन नई आर्थिक व्यवस्था कोई स्थायी व्यवस्था नहीं थी। लेनिन ने कहा था दो कदम आगे बढ़ने के लिए एक कदम पीछे हटना चाहिए। उनका विचार था कि जब आर्थिक व्यवस्था थोड़ी सुधार जाए तो सरकार पुनः साम्यवादी व्यवस्था कायम कर लेगी और ऐसा ही हुआ भी। क षि क्षेत्र में शीघ्र ही सहकारी क षि व्यवस्था आरंभ की गई।

स्टालिन के कार्य

1. **क षि क्षेत्र सुधारः** सत्ता में आते ही स्टालिन ने 1925 में भूमि को लगान पर उठाने की आज्ञा दी। अतएव कुछ क षकों ने भूमि को पट्टे पर उठा लिया। इस नीति के फलस्वरूप किसानों के तीन वर्ग हो गये-निर्धन, मध्यम तथा धनी किसान। सरकार ने वर्गभेद समाप्त करने के लिए एक ओर धनी किसानों पर कर लगाया और दूसरी ओर निर्धन किसानों को कर मुक्त रखा। परंतु इससे वर्गभेद पूर्णतया समाप्त नहीं हुआ। अतः धनी किसानों का अंत करने के लिए सामूहिक खेती को प्रोत्साहन दिया गया तथा सामूहिक खेती को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा ट्रेक्टर, बीज, उवर्रक देने की व्यवस्था की गई। इस समय तीन प्रकार के सामूहिक खेत हैं-

   i. **सहकारी फार्मः** इसमें से बहुत किसान मिलकर खेती करते हैं। भूमि सम्मिलित होती है, परंतु उपकरण अपने-अपने होते हैं। सब किसान श्रम करते हैं तथा उपज श्रम के अनुसार बांट दी जाती है।

   ii. **सम्मिलित फार्मः** इस प्रकार की खेती में भूमि और उपकरण सब सम्मिलित होते हैं, परन्तु रहने के मकान व निजी वस्तुएँ अपनी-अपनी होती है।

   iii. **कम्यून व्यवस्थाः** तीसरी व्यवस्था में सब कुछ सम्मिलित होता है। भोजन भी सब एक भोजनालय में करते हैं। परंतु यदि किसी को किसी भी वस्तु की जरूरत हो तो वह उसे सम्मिलित निधि से प्राप्त कर लेता है। इस व्यवस्था को कम्यून कहते हैं। परंतु किसानों ने इस पद्धति की अपेक्षा निजी स्वामित्व को अधिक पसंद किया क्योंकि इसके अन्तर्गत वे दूध, अंडा वे अन्य छोटी-छोटी वस्तुओं का उत्पादन अथवा उसके द्वारा कमाई आय को रखने में वे स्वतंत्र रहते हैं।

   निःसंदेह सामूहिक तथा सहकारी फार्मों की व्यवस्था लागू करके बोल्शेविक सरकार ने समाजीकरण की दिशा में एक कदम उठाया था लेकिन छोटे-बड़े अनेक किसानों ने इसका विरोध किया किंतु स्टालिन की द ढ़ता के सामने उनकी एक

न चली। विद्रोहियों को कुचल दिया गया। कुछ इतिहासकार सामूहिक फार्मों की इस व्यवस्था की आलोचना करते हैं। उनके समस्त भूमि पर राज्य का अधिकार होते हुए भी वह किसान की सहकारी समितियों के हाथ में रही। इस कारण यह व्यवस्था पूर्णतया समाजवादी व्यवस्था नहीं मानी जा सकती। क षि उद्योग के राष्ट्रीयकरण ने एक और समस्या उत्पन्न कर दी। इससे एक बड़ा भारी संकट उत्पन्न हो गया कि सरकार के पास अभी इतने ट्रैक्टर नहीं थे कि सभी फार्मों में खेती करायी जा सके। अतः बहुत-सी भूमि जोती नहीं जा सके, पैदावार कम हो गयी और अकाल की आशंका बढ़ गयी।

2. **नियोजन एवं विकासः** स्टालिन समझता था कि आर्थिक द ष्टि से पिछड़े हुए रूस की प्रगति योजनाकरण से भी संभव है। अतः राष्ट्र की समस्त आर्थिक क्रियाओं का निर्देशन तथा उत्पादन का निर्धारण करने के लिए 1925 ई० में उसने एक योजना आयोग की नियुक्ति की। द्वितीय महायुद्ध के पहले रूस में इस तरह की तीन पंचवर्षीय योजनाएं लागू की गयी। प्रथम पंचवर्षीय योजना 1928 से 1932 ई० तक लागू रही। इसका उद्देश्य खाद्यान्नों को दुगुना करना था। इसलिए ट्रैक्टर और क षि के काम आने वाले उपकरण बनाने के लिए बड़ी संख्या में कारखाने खोले गए। जब विद्युत उत्पन्न करने के लिए नदी घाटी योजनाओं को कार्य रूप दिया गया। उदाहरण के लिए प्रस्ट्रोई नामक स्थान पर नदी को रोककर भारी बांध बनाया ताकि जल विद्युत तैयार की जा सके। निजी खेती और धनी किसानों को समाप्त करने के प्रयत्न जारी रखे गये तथा सामूहिक तथा सहकारी खेती पर अधिक बल देने की प्रक्रिया जारी रखी गई। किसानों को संतुष्ट करने के लिए बड़े सामूहिक फार्मों में सिनेमा, क्लब आदि का निर्माण किया ताकि किसान नई व्यवस्था के प्रति आकर्षित हो।

प्रथम पंचवर्षीय योजना ने उद्योग-धंधों पर भी ध्यान दिया। इसके अनुसार आधुनिक शिल्प विज्ञान को उत्पादन व द्धि का आधार माना गया। रूस को जो भी अभी तक एक क षि प्रधान ही देश था, औद्योगिक देश में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया गया। यूराल पर्वतमाला में मैग्विटोंगोस्कार नामक स्थान पर लोहे का एक विशाल कारखाना खोला गया और वहाँ तक कोयला पहुँचाने की व्यवस्था की गयी। बाकू के तेल कूपों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए एक बड़ी बस्ती का निर्माण किया गया। मजदूरों के आने-जाने की सुविधा के लिए विद्युत रेलगाड़ी भी चलायी गई और मजदूरों को अन्य सुविधाएँ भी दी गयी ताकि वे संतुष्ट रहे तथा दिल लगाकर काम करते रहे हैं। अन्य अनेक स्थानों पर चल रहे बड़े उद्योगों के लिए आवश्यक मशीनों व कलपुर्जों की व्यवस्था की गई। सभी प्रकार के औद्योगिक विकास के लिए आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों को बनाने के लिए कारखाने खोले गए तथा सैनिकों को आधुनिक प्रशिक्षण भी दिया गया।

योजना को सफल बनाने के लिए यातायात और संचार साधनों का विकास किया गया। विदेशों से भी धन तथा तकनीकी सहायता प्राप्त की गयी। यही नहीं प्रथम पंचवर्षीय योजना को जनसाधारण में लोकप्रिय बनाने के लिए इसका खूब प्रचार किया गया। उत्पादन में व द्धि एवं नये आविष्कारों के लिए पुरस्कार तथा पारितोषिक वितरित किए गए। इस पंचवर्षीय योजना को सफल बनाने के लिए जनता ने कठिन परिश्रम और त्याग किया। अतः प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत क षि, उद्योग तथा अन्य क्षेत्रों के उत्पादन में व द्धि हुई। परिणामस्वरूप योजना के लिए निर्धारित लक्ष्य पांच वर्ष के स्थान पर चार वर्षों में ही पूरा हो गया। कुछ आलोचकों का कहना है कि प्रथम योजना वस्तुओं की गुणवत्ता वस्तुओं के मूल्य में कमी करने, श्रमिकों की कार्यकुशलता बढ़ाने और सर्वसाधारण का जीवन स्तर ऊँचा करने में अधिक सफल नहीं रही। क षि उत्पादन में भी इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता है कि इस योजना का रूस के औद्योगिक इतिहास में अपना विशेष महत्त्व है। यही नहीं, तेल और मशीनरी का उत्पादन निर्धारित लक्ष्य से भी बढ़ गया। दूसरी पंचवर्षीय योजना 1933 ई० में लागू की गई। इस योजना के द्वारा तीव्रगति से औद्योगिक विकास किया गया। उत्पादन में अभूतपूर्व व द्धि हुई। इस योजना के अंतिम वर्ष अर्थात् 1937 ई० तक रूस की क षि योग्य भूमिका 92% बड़े क षि फार्मों में बदल दिया गया। अब लोग सहकारी फार्मों को बहुत पसंद करते थे। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सर्वाधिक ध्यान यातायात के साधनों तथा निवास स्थानों के निर्माण की तरफ दिया गया। रूस में रेल, सड़कें, मजदूरों के लिए अच्छे मकान तथा सुन्दर बस्तियों का विकास हो सका। इस योजना में लोह मशीन निर्माण तथा तेल उत्पादन में रूस ने विशेष प्रगति की। 1934 में रूस कच्चा माल उत्पादन की द ष्टि से विश्व का दूसरा तथा इस्पात के क्षेत्र में विश्व का तीसरा बड़ा राष्ट्र बन गया। अनाज के क्षेत्र में रूस आत्मनिर्भर हो गया। सन् 1938 में तीसरी पंचवर्षीय योजना को लागू किया गया। परंतु सन् 1939 में द्वितीय महायुद्ध आरंभ हो जाने के कारण इसे स्थगित करना पड़ा।

3. **योजनाओं के परिणामः** उपर्युक्त पंचवर्षीय योजनाओं से रूस की सामाजिक और आर्थिक प्रणाली में मौलिक परिवर्तन हुआ, नगरों की जनसंख्या बढ़ गई, रूस में कई तरह के विशाल उद्योगों की स्थापना की गई, रूस में बिजली तथा खनिज

तेल का उत्पादन कई गुना बढ़ सका, रूस की यातायात और संचार व्यवस्था का विकास हुआ तथा मजदूरों व किसानों का जीवन स्तर बहुत ही ऊँचा हो गया, रूस का विदेशी व्यापार खूब बढ़ गया, रूस आर्थिक द ष्टि से आत्मनिर्भर हो गया और वहाँ से भूख एवं निर्धनता दूर हो गई, देश में बेरोजगारी का नाम तक नहीं रहा, कल-कारखानों की द ष्टि से रूस का विश्व में द्वितीय स्थान हो गया वहाँ की स्त्रियों को समान अधिकार मिल गये, 1939 से 1933 तक की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के दुष्प्रभावों से केवल रूस ही ऐसा यूरोपीय देश था जो पूरी तरह बचा रहा। उपर्युक्त पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से स्टालिन ने रूस को सम द्विशाली तथा शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया।

4. **नवीन संविधान का निर्माण:** रूस में नया संविधान लेनिन के काल में ही 1918 ई० में बना लिया गया था उसको परिवर्तित तथा संशोधित करके सन् 1936 ई० में एक नये संविधान के रूप में लागू किया गया। रूस की संसद का नाम सुप्रीम सोवियत ऑफ दि यू.एस.एस.आर. रखा गया। इसमें दो सदन होने थे जिनका कार्यकाल चार वर्ष निर्धारित किया गया। दोनों सदनों के अधिकार एवं सदस्य संख्या (570 प्रत्येक की है) लगभग बराबर है। एक अध्यक्ष परिषद (प्रेसीडियम) की व्यवस्था की गई है। इसके सदस्य सोवियत द्वारा चुने जाते हैं। सुप्रीम सोवियत के विश्राम काल में उसकी शक्तियों का उपयोग इसका अध्यक्ष करता है, वही राष्ट्रपति कहलाता है। राज्य में मंत्रिमंडल की व्यवस्था की गई है जिसके सदस्य शासन के एक-एक विभाग के अध्यक्ष होते हैं तथा सर्वोच्च सोवियत के द्वारा चुने जाते हैं और वे उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं। विश्रामकाल में वे प्रसीडियम के प्रति उत्तरदायी होते हैं। रूस में न्याय का प्रबंध करने के लिए संघीय सर्वोच्च न्यायालय, गणराज्यों के सर्वोच्च न्यायालय, प्रादेशिक न्यायालय और क्षेत्रीय न्यायालय, लोक न्यायालय तथा विशेष न्यायालय बने हुए हैं। सोवियत संघ के संविधान में नागरिकों को कई तरह के अधिकार और कर्त्तव्य दिये हैं। यहाँ प्रत्येक 18 वर्ष की आयु वालों को मताधिकार मिला हुआ है। नागरिकों को काम पाने, विश्राम पाने का अधिकार दिया गया है। सीमित सम्पत्ति रखने का अधिकार भी प्रदान किया गया है।

5. **शिक्षा की प्रगति:** स्टालिन ने शिक्षा प्रचार में भी विशेष रूचि ली। उन्होंने एक बार कहा था बौद्धिक क्रान्ति के बिना साम्यवादी आर्थिक व्यवस्था की सफलता संभव नहीं। उसने रूसी भाषा के साथ-साथ करीब अन्य 110 भाषाओं में भी पुस्तकों को प्रकाशित कराने की व्यवस्था की। उसी के प्रयासों से सन् 1941 में रूस में 90% लोग शिक्षित हो गये। बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्व 73% लोग अशिक्षित थे। रूस से तकनीकी तथा वैज्ञानिक शिक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। इसी कारण विज्ञान के क्षेत्र में रूस ने बहुत प्रगति की है।

6. **धर्म के क्षेत्र में विकास:** साम्यवादी धर्म को जनता के लिए अफीम के समान समझते हैं। लेनिन तथा स्टालिन दोनों ने प्राचीन चर्च की सम्पत्ति जब्त करने की नीति को अपनाया। यद्यपि सरकार ने चर्च में जाने को निषिद्ध घोषित नहीं किया लेकिन अधिकांश साम्यवादी दल के कार्यकर्ता चर्चों में नहीं जाते। अब रूस में धार्मिक उत्सवों की बजाय, मई दिवस क्रान्ति दिवस, लेनिन दिवस आदि अवसरों को अधिक प्राथमिकता दी जाती है।

रूस में आर्थिक एवं सामाजिक पुनःसंरचना

युद्धकालीन साम्यवाद (1918-1921): बोल्शेविक ने सत्ता हस्तगत करते ही मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुकूल आर्थिक व्यवस्था करने का प्रयास आरंभ कर दिया था और क षि-व्यवस्था तथा उद्योग के क्षेत्र में महान परिवर्तन कर दिया था। भूमि जमींदारों से छीनकर राज्य की भूमि घोषित कर दी गयी और किसानों में बाँट दी गयी थी। राज्य ने अपनी ओर से क षि का कोई प्रबंध नहीं किया गया। इसी प्रकार उद्योग के क्षेत्र में भी नयी सरकार ने मजदूरों के नियंत्रण की नीति का आरंभ किया था जिसके अनुसार मजदूरों के प्रतिनिधि अपने-अपने कारखानों के संचालन में स्वामियों के साथ भाग लेने लगे।

1. **उद्योगों के क्षेत्र में:** परन्तु दोनों ही क्षेत्रों में यह व्यवस्था संतोषजनक प्रमाणित नहीं हुई। कारखानों के संचालन में दोनों पक्षों के झगड़ों के कारण बाधा पड़ने लगी और जून 1918 में सरकार को प्रत्येक कारखाने में अपनी ओर से एक व्यवस्थापक नियुक्त करना पड़ा। इसके साथ ही एक नियत पूंजी से अधिक वाले कारखानों, अर्थात् बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले समस्त कारखानों को राज्य की सम्पत्ति घोषित करके सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। इसके बाद धीरे-धीरे छोटे-छोटे कारखानों के साथ भी यही नीति बरती जाने लगी। 1920 में एक आदेश द्वारा वे समस्त कारखाने जिनमें पांच मजदूरों से अधिक काम करते थे परंतु जिनमें दस मजदूरों से अधिक काम करते थे, सरकार के नियन्त्रण में लिये गये। इस प्रकार कारखानों का समस्त उत्पादन सरकार ने अपने नियंत्रण में लेकर जनता को अपनी ओर से माल देना आरंभ किया। आरंभ में तो यह वितरण मुफ्त किया गया था। जनता के काम में आने वाली समस्त

वस्तुएं, मकान, सवारी आदि चिट्ठियों पर मिलने लगी। इस प्रकार व्यापार बंद हो गया और 1918 में सरकार आदेश द्वारा निषिद्ध घोषित कर दिया गया। बैंक भी बंद कर दिये गये और रूपये के लेन-देन के काम के लिए एक सरकारी बैंक स्थापित किया गया जिसके लिए वास्तव में कोई विशेष काम नहीं रहा। मुद्रा बंद तो नहीं की गयी, परंतु नोटों के अनाप-शनाप प्रचलन और उपर्युक्त व्यवस्था के कारण यह बेकार सी हो गयी। परंतु यह नवीन व्यवस्था भी संतोषप्रद नहीं हो सकी। अभी तक उद्योग-धंधों का संचालन पूंजीपति निजी लाभ की द ष्टि से करते थे और उत्पादन अच्छी प्रकार से होता था परंतु अब लोगों को काम करने के लिए प्रोत्साहन नहीं रहा। मजदूरों पर सरकार को सख्ती करनी पड़ी और 1920 में अनिवार्य श्रम के आदेश द्वारा प्रत्येक के लिए काम करना अनिवार्य हो गया। इन सब उपायों के होते हुए भी उत्पादन कम ही होता गया। 1920 में औद्योगिक उत्पादन 1913 के उत्पादन का केवल 13% रह गया। यातायात की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी जिसके कारण जो कुछ भी उत्पादन होता था उसका भी वितरण ठीक-ठीक नहीं हो पाता था। दैनिक उपयोग की वस्तुओं का प्रायः बिल्कुल अभाव हो गया और जनता में त्राहि-त्राहि मच गयी।

2. **क षि के क्षेत्र में:** क षि के क्षेत्र में जो व्यवस्था की गयी थी कि वह भी संतोषजनक नहीं थी। जमीदारों से भूमि तो छीन ली गयी थी परंतु उनकी समस्त भूमि किसानों में नहीं बाँटी जा सकी क्योंकि उसमें से बहुत सी भूमि तो ऐसी थी जिसे किसान पहले से ही लगान पर जोतते थे। उसका कुछ भाग ऐसा भी था जिसे जमींदार जोतते थे। वह अब सरकारी हो गया था। इस व्यवस्था के बाद किसानों के पास जितनी भूमि थी वह पहले से एक तिहाई अधिक अवश्य थी किंतु इससे उनकी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। जनसंख्या बढ़ गयी थी और भूमिहीन किसानों को भी भूमि दी गयी थी। इससे व्यक्तिगत खेतों की संख्या तो बढ़ गयी थी परंतु खेत बहुत छोटे थे। कोई खेत 30-40 एकड़ के थे। परंतु साधारण खेत 10-11 एकड़ से अधिक बड़े नहीं थे। इस प्रकार जमींदारों की निजी जायदादें तोड़ दी गयी थी, किसानों को अब जमींदारों को लगान नहीं देना पड़ता और भूमिहीन किसानों को भी भूमि प्राप्त हो गयी थी जिस पर भी बहुत से ऐसे लोग जो अधिक भूमि चाहते थे, असंतुष्ट ही बने रहे।

   राज्य ने अपनी ओर से क षि करने की कोई व्यवस्था नहीं की थी। किसान पहले की तरह खेती करते रहे परंतु अब जमींदारों को लगान देने के स्थान पर उन्हें अपने खाने लायक तथा बीज के लिए अनाज को छोड़कर उपज का शेष सब भाग सरकार को देना पड़ता था। यह उन्हें बुरा लगता था। ग ह-युद्ध के दिनों में किसानों की दशा काफी खराब हो गयी। दोनों तरफ की सेनाएं उनसे जबर्दस्ती अनाज छीन लेती थी और उन्हें अनेक प्रकार से परेशान करती थी जिससे उन्होंने खेती कम कर दी। 1916 में जहाँ 7,40,00,000 टन अनाज उत्पादन हुआ था वहाँ 1917 में 3,00,00,000 टन ही रह गया और देश में भूखों मरने की नौबत आ गयी। इस पर 1920 और 1921 में सूखा पड़ गया और 1921 में दक्षिण-पूर्वी भाग में फसल बिल्कुल नहीं हुई जिसके परिणामस्वरूप अत्यंत भयंकर अकाल पड़ा। अनुमान किया जाता है कि इसमें कोई 50 लाख आदमी मर गया। भूख से म त्यु और भी अधिक होती परन्तु बाहर के देशों से विशेषकर अमेरिका से अन्न की बड़ी भारी सहायता मिली जिसने लाखों प्राणियों को बचा लिया।

परिणामः इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि देश में बोल्शेविक सरकार की आर्थिक नीति से बड़ा असंतोष फैला और 1920-21 में किसानों ने कई जगह विद्रोह कर दिया और नया संविधान बनाने के लिए संविधान-सभा का निर्वाचन कराने और मुक्त व्यापार फिर से आरंभ करने की मांग की।

नयी आर्थिक नीति (1921-1927): लेनिन को इन विद्रोहों का दमन करने में बड़ी क्रुरता बरतनी पड़ी। उसने उनका दमन तो कर दिया परंतु वह इस स्थिति को देखकर चिंतित हो गया। वह बड़ा दूरदर्शिता और यथार्थवादी था। उसने मार्च 1921 में कम्युनिस्ट पार्टी के कन्वेंशन में भाषण देते हुए कहा हम ऐसी दरिद्रता तथा ऐसे विनाश की अवस्था में पहुँच गये हैं, हमारे किसानों तथा मजदूरों की उत्पादक शक्ति का इतना ह्रास हो गया है कि हमें उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रत्येक (सिद्धान्त की) बात को अलग रख देना चाहिए। उसने साम्यवादी अवस्था में परिवर्तन करने और पूंजीवादी व्यवस्था की ओर वापस लौटने का निश्चय करके नयी आर्थिक नीति का श्रीगणेश किया। यह पूंजीवादी व्यवस्था की ओर वापस लौटना अवश्य था, परंतु वह इसे पराजयपूर्वक नहीं अपितु आगे चलकर पूरी शक्ति से आगे बढ़ने की द ष्टि से अपनी शक्ति को संगठित करने के लिए पीछे हटना समझता था।

नयी नीति के अनुसार क षि, उद्योग तथा व्यापार सभी क्षेत्रों में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। किसानों से अब तक उनकी उपज का जो आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद बचा हुआ अतिरिक्त भाग ले लिया जाता था, उसकी जगह कर लिया जाने लगा और

उन्हें अपने बचे हुए माल को बाजार में बेचने और उसका रूपया अपने पास रखने की अनुमति मिल गयी। इससे खेरीज व्यापार भी आरंभ हो गया और जुलाई 1921 में सरकार ने देश के अंदर खुले बाजार की अनुमति दे दी, यद्यपि विदेशी व्यापार पर से उसने अपना नियंत्रण नहीं हटाया। खेरीज व्यापार बाजार में लाभ की द ष्टि से क्रय-विक्रय करने लगे।

1. **सामूहिक खेती:** सामूहिक फार्म तीन प्रकार के थे-
   i. प्रथम प्रकार के फार्म ऐसे जिनमें किसान अपनी जमीन सम्मिलित करके शामिल खेती करते थे और पैदावार को आपस में बांट लेते थे। जमीन तो सबकी शामिल रहती थी परंतु हल, जानवर आदि किसानों के अपने ही होते थे। ऐसे फार्मों में केवल भूमि और श्रम का ही सामूहीकरण हुआ है;
   ii. दूसरे प्रकार के फार्म आर्टेल कहलाते थे, जिनमें भूमि और श्रम के साथ पूँजी का भी सामूहीकरण हुआ है। इनमें सब लोग अपने-अपने खेतों को शामिल करके मिलकर काम तो करते ही थे, इसके साथ-साथ जानवर, हल, खेती संबंधी मकान आदि भी शामिल करते थे। केवल रहने का मकान साग-भाजी उत्पन्न करने को क्यारियां, गाय, भेड़े, बकरियां, मुर्गियां आदि उनके अपने होते थे।
   iii. तीसरे प्रकार के फार्म कम्युन कहलाते थे जिनमें सभी वस्तुओं का सामूहीकरण कर दिया गया। किसानों की कोई निजी वस्तु नहीं होती थी। मकान, पशु आदि सभी सम्मिलित सम्पत्ति माने जाते थे, भोजन भी सब साथ करते थे और प्रत्येक व्यक्ति सम्मिलित भण्डार से अपनी आवश्यकता की वस्तुएं प्राप्त करते थे। इस प्रकार इनमें उत्पादन के साथ-साथ वितरण का भी समाजीकरण हो गया। यह सामूहिक फार्मों का सबसे उन्नत रूप था।

   इन तीनों प्रकार के फार्मों में समाजीकरण का ही अधिक प्रचार था। इनकी व्यवस्था के लिए एक तो सभी सदस्यों की सामान्य सभा होती थी और एक प्रबंधकारी समिति होती थी और प्रत्येक फार्म को अपनी उपज में से सरकार द्वारा पहले से ही निश्चित मात्रा सरकार को देनी पड़ती थी ओर उसके बाद बची हुई वस्तुओं को वह खुले बाजार में बेच सकता था इससे प्राप्त धन को किसान अपने श्रम के अनुपात में बांट लेते थे।

   सामूहिक फार्मों की व्यवस्था द्वारा बोल्शेविक सरकार ने समाजीकरण की ओर बहुत बड़ा कदम उठाया था परंतु वास्तव में सामूहिक फार्मों की समाजवादी संस्थाओं में गणना नहीं की जा सकती क्योंकि कानूनी द ष्टि से भूमि राज्य की सम्पत्ति होते हुए भी वह किसानों की सहकारी समितियों के हाथों में थी और उनके परिश्रम का लाभ उनके पास ही रहता था यह सत्य है कि वहाँ सरकारी फार्म भी जिन पर काम करने वालों को मजदूरी मिलती थी और जिनकी पैदावार सरकार की होती थी परंतु इस प्रकारा के फार्मों में समस्त क षि-भूमि का दशमांश भी नहीं था। इन फार्मों को साम्यवादी संस्थाओं की कोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि कम्यूनों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के फार्मों में उत्पादन का वितरण कार्य करने वालों की आवश्यकता के अनुसार न होकर श्रम के अनुसार होता था। इसके साथ ही जलवायु, भूमि की प्रक ति, नगरों की निकटता आदि कारणों से भी लाभ में जो असमानताएँ उत्पन्न होती हैं, उनका इस व्यवस्था से निराकरण नहीं हो सका और जहाँ कुछ फार्म अत्यंत सम द्ध थे और करोड़पति फार्म कहे जाते थे और अन्य फार्म गरीब बने हुए थे। इस प्रकार इस नयी अवस्था में कुलकों और अन्य स्वतंत्र किसानों के विनाश के बाद भी धन तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की विषमता बनी रही। परंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि नयी व्यवस्था से रूस ने बहुत उन्नति की।

2. **उद्योगों का राष्ट्रीयकरण:** क षि की इस प्रकार नयी व्यवस्था की गयी। योजना को सफल बनाने के लिए उद्योगों का भी पुनःसंगठन आवश्यक था। नयी आर्थिक नीति के अनुसार बड़े-बड़े कारखाने तो सरकार ने अपने नियंत्रण में रखे थे परंतु छोटे कारखाने पूँजीपतियों के हाथों मे पहुँच गये थे। उनका पुनःसंगठन आवश्यक था। सरकार ने सीधे अपनी ओर से कोई व्यवस्था करने के स्थान पर उन पर दबाब डालना आरंभ किया। उनके लिए कच्चा माल प्राप्त करने के मार्ग में कठिनाइयां डाली जाने लगी जिससे विवश होकर निजी उत्पादकों को शामिल होकर ट्रस्ट बनाने पड़े। कुछ समय बाद इन ट्रस्टों को शामिल करके 19 बेड़े सिण्डीकेट बना दिये गये जिनके हाथों में रूस के उद्योगों के अधिकांश का नियंत्रण आ गया। जब उद्योग केन्द्रीयकरण की इस स्थिति में पहुँच गये तो सरकार के लिए उन्हें अपने नियंत्रण में ले लेना सरल हो गया।

   पंचवर्षीय योजना के आरंभ तक उद्योगों की वह व्यवस्था हो चुकी थी। अब सरकार ने सिण्डीकेटों को पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने का भार सौंपा। अब सिण्डीकेट कॉम्बिनेशन कहलाने लगे। प्रत्येक कारखाने को अपने ट्रस्ट के

निरीक्षण में योजना के अंतर्गत जो काम उसे दिया जाता था उसे पूरा करना पड़ता था। उसे बता दिया जाता था कि उसे कौन सा कच्चा माल मिलेगा, उसका मूल्य क्या होगा, मजदूरी की दर क्या होगी। वह नियम मूल्य पर नियत परिमाण में माल सरकार को देने का भार अपने ऊपर ले लेता था। व्यवसायों के लिए पूँजी की व्यवस्था तीन प्रकार से होती थी। प्रत्येक ट्रस्ट अपने मुनाफे का कुछ अंश सुरक्षित कोष में रखता था जो पूंजी की तरह काम में लाया जाता था। बैंकों से ऋण भी लिया जाता था और सरकार भी सहायता देती थी। कारखानों में जितना लाभ होता था उसका एक भाग सरकार ले लेती थी, कुछ सुरक्षित कोष में रख दिया जाता था। शेष मजदूरों के कल्याण और शिक्षण संबंधी कार्यों में व्यय किया जाता था। इस व्यवस्था में सरकार एक व्यवसाय के मुनाफे से दूसरे व्यवसायों को सहायता दे सकती थी। वस्तुओं के मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित किये जाते थे। सरकार का लक्ष्य आवश्यक उत्पादन था मुनाफा नहीं। अतः सरकार के लिए यह भी संभव था कि यदि वह किसी सार्वजनिक हित की द ष्टि से आवश्यक समझे तो किसी वस्तु को लागत से भी कम मूल्य पर बेच ले।

जिस प्रकार सामूहिक फार्मों की गणना समाजवादी तथा साम्यवादी संस्थाओं में नहीं की जा सकती उसी प्रकार सोवियत कारखाने भी साम्यवादी नहीं कहे जा सकते थे। सोवियत कारखाना औद्योगिक प्रजातंत्र नहीं है। उस पर मजदूरों के हित में संस्थाओं का कोई नियंत्रण नहीं होता, यद्यपि उसका संचालन मजदूरों के हित में होता है। रूस में ट्रेड यूनियनों का काम मजदूरों के हितों के संरक्षण के लिए प्रयत्न करना नहीं, अपितु उत्पादन की व द्धि करना है। मजदूरों पर तीन प्रकार का नियंत्रण है। प्रत्येक कारखाने में एक मैनेजर होता है जो उसके संचालक के लिए उत्तरदायी होता है। एक फैक्टरी कमेटी होती है जो ट्रेड युनियन का प्रतिनिधित्व करती है और एक कम्युनिस्ट पार्टी के स्थानीय सदस्यों की समिति होती है। मजदूरों पर इनका विविध नियंत्रण होता है परंतु कम्युनिस्ट पार्टी के कठोर अनुशासन के कारण कारखाने में भी अनुशासन बना रहता है और उत्पादन में व द्धि करने के प्रयत्नों में संघर्ष प्रायः नहीं होता। मजदूरों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए उत्पादन में व द्धि करना आवश्यक है और इसी कारण जब तक उत्पादन यशेष्ट मात्रा में न होने लगे तब तक के लिए प्रत्येक को अपने श्रम के अनुसार मिले इस समाजवादी सिद्धान्त का पालन किया जाता है। मजदूरों को उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुएं प्राप्त नहीं होती, उन्हें काम के अनुसार मजदूरी मिलती है।

रूस के बड़े-बड़े कारखानों का तो राष्ट्रीयकरण हो गया है परंतु छोटे-छोटे व्यवसाय ऐसे हैं जिन्हें व्यक्ति स्वतंत्र रूप से करते हैं और इस प्रकार रूस के घरेलू उपयोग की वस्तुएं स्वतंत्र रूप से अपनी ही पूंजी से और अपने ही औजारों से बनाते हैं और उन्हें बेचकर स्वयं उनके लाभ का उपयोग करते हैं। बहुत से स्वतंत्र कारीगर मिलाकर अपनी सहकारी समितियां बना लेते हैं और परस्पर सहयोग करके अधिक लाभ उठाते हैं। परंतु इस व्यवस्था में शोषण के अभाव के कारण कोई आपत्ति नहीं उठती।

3. **शिक्षा का विकासः** पंचवर्षीय योजना में शिक्षा के विकास के लिए भी स्थान रखा गया था। बोल्शेविक सरकार केवल राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में ही प्रगति नहीं चाहती थी। नयी व्यवस्था की सफलता के लिए बौद्धिक क्रान्ति को भी अनिवार्य समझती थी। लेनिन कहता था साम्यवादी आर्थिक योजना बौद्धिक क्रान्ति के बिना संभव नहीं है। प्रत्येक श्रमिक और उसके बच्चे को स्कूल में पढ़ने का अधिकार दिया जाता है। रूसी जनता की यथोचित शिक्षा के अभाव में समस्त प्रयासों का विफल हो जाना निश्चित था। पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य निरक्षरता को दूर कर देना था और इस कार्य में उसे विस्मयजनक सफलता प्राप्त हुई। जार के समय में केवल उच्चवर्ग के बालक ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। साधारण जनता के लिए शिक्षा असभ्य थी परन्तु अब उनकी शिक्षा की व्यवस्था हुई। सरकार की योजना 3 से 16 वर्ष तक की आयु के समस्त बालक-बालिकाओं के लिए शिक्षा निःशुल्क व अनिवार्य कर देने की थी। 1914 में रूस की 73% जनता निरक्षर थी परंतु 1932 तक निरक्षर जनता केवल 9% रह गयी। 1914 में प्राथमिक पाठशालाओं में 70 लाख और माध्यमिक पाठशालाओं में 5 लाख विद्यार्थी पढ़ते थे। परंतु 1932 में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या एक करोड़ 90 लाख और माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने वालों की 45 लाख से अधिक थी।

योजना का लक्ष्य केवल साक्षरता ही नहीं था। नये-नये उद्योगों के लिए शिल्पियों का प्रशिक्षण भी करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कारखानों के साथ स्कूल खोले गये जिनमें 15 से 18 वर्ष तक की आयु के लड़के कक्षाओं में तो सैद्धान्तिक और कारखानों में व्यवहारिक शिक्षा प्राप्त करते थे। इसके ऊपर टेकनिकल हाई स्कूल खोले गये। जिनमें विश्वविद्यालय की कोटि की शिक्षा की व्यवस्था की गयी। प्रौढ़ मजदूरों के लिए भी शिक्षा की व्यवस्था की गयी।

उच्च शिक्षा की ओर भी सरकार ने पूरा ध्यान दिया। समस्त प्रकार के वैज्ञानिक अनुसंधानों के लिए सोवियत सरकार जितना अुनदान देती है, उतना संभवतः किसी देश में नहीं दिया जाता। वैज्ञानिक शिक्षा के साथ पुरातत्व, भाषाओं, इतिहास आदि के अध्ययन को भी खूब प्रोत्साहित किया जाता है।

4. **धर्म क्षेत्र में सुधारः** साम्यवादी मार्क्सवाद के अनुयायी होने के कारण बोल्शेविक लोगों को धर्म से द्रोह है। धर्म को वे केवल अंधविश्वास ही नहीं प्रतिक्रिया का जबर्दस्त अस्त्र समझते हैं। उनका विचार है कि पूँजीपतियों ने धर्म का अफीम की तरह इसलिए आविष्कार किया है कि साधारण जनता उसके नशे में बेसुध होकर पारलौकिक जीवन के सुख-स्वप्नों को देखती रहे, जीवन के असली प्रश्नों को जिनका भौतिक कल्याण से संबंध है। भूलकर अपने कष्टों को ईश्वर की इच्छा मानती रहे और उनके प्रतिकार का उपाय न करे। रूस के ऑर्थोडॉक्स चर्च का जो इतिहास रहा उससे भी बोल्शेविक लोग बहुत नाराज थे क्योंकि चर्च सदैव जार के निरंकुश शासन और अत्याचार का समर्पण करता रहता था। अतएव सत्ता प्राप्त करते ही उन्होंने चर्च पर आक्रमण किया। सरकार ने उसकी समस्त सम्पत्ति जब्त कर ली और चर्च की पाठशालाओं को तोड़ दिया। पादरी मतदान के अधिकार से वंचित कर दिये गये और जब उन्होंने विरोध करके लोगों को भड़काना आरंभ किया तो अनेक पादरी कैद कर लिये गये और कई को प्राणदण्ड मिला। बहुत से देश छोड़कर भाग निकले। राज्य का चर्च से संबंध तोड़ दिया गया। कितने ही जब्त किये हुए गिरजाघर तोड़ दिये गये और अनेक सामाजिक क्लबों में परिवर्तित कर दिए गए। बहुत से गिरजाघर बने भी रहे परंतु उनमें धार्मिक उपासना के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं हो सकता था। विवाह, जन्म, म त्यु आदि सरकारों पर उनका कोई नियंत्रण नहीं रहा। आरंभ में तो सभी नागरिकों को धार्मिक तथा धर्म-विरोधी प्रचार की स्वतंत्रता की घोषणा की गयी परंतु बाद में यह स्वतंत्रता समाप्त कर दी गयी और नास्तिकवाद के अतिरिक्त अन्य किसी मत के प्रचार को निषेध कर दिया गया। नास्तिकवाद के प्रचार के लिए बोल्शेविकों की ओर से निरीश्वर सभाएं स्थापित की गयी, जिनका काम नुमाइशों, चित्रों तथा अन्य तरीकों से धर्म की खिल्ली उड़ाना था। बच्चों की शिक्षा में धर्म का कोई स्थान न होने के कारण बड़े होने पर उन्हें तो धर्म से कोई प्रेम नहीं रहा परंतु पुराने लोगों की भावनाएं नहीं बदली और वे पुराने ढंग से ही उपासना करते रहे। इतना प्रयत्न करते हुए सरकार धार्मिक समाजों को पूर्णतया नष्ट न कर सकी। वे केवल बने ही नहीं रहे, द्वितीय विश्व युद्ध के छिड़ने के बाद तो उन्होंने बहुत उन्नति कर ली है।

UNIT-II

अध्याय-10
प्रथम विश्व युद्ध का उद्‌गम एवं स्वरूप

"युद्ध का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण गुप्त समझौता प्रणाली थी, जिसका विकास फ्रांस और प्रशा के युद्ध के बाद हुआ था। इसने धीरे-धीरे यूरोप की शक्तियों को ऐसे दो विरोधी गुटों में बाँट दिया, जिससे एक दूसरे के प्रति संदेह बढ़ता रहा और वे अपनी थल-सेना एवं नौ-सेना की शक्ति बढ़ाते रहे।"

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ का यूरोप बारूद के एक बड़े ढेर पर खड़ा था, जिसको आग लगाने के लिए केवल एक चिंगारी की आवश्यकता थी। पिछली अर्द्धशताब्दी से ही यूरोप की घटनाएँ इस तरह घटित हो रही थी कि अब अधिक समय तक शान्ति स्थापित नहीं रखी जा सकती थी। यूरोप के सभी देशों में अस्त्र-शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा लगी हुई थी। फ्रांस-प्रशा युद्ध, बर्लिन सम्मेलन, बल्गेरिया का प्रश्न, त्रिराष्ट्र संधि का जन्म, रूस-जर्मन विवाद, इंग्लैण्ड-जर्मन नाविक प्रतिस्पर्धा, पूर्व की समस्या, साम्राज्यवाद की भावना, मोरक्को संकट, बोस्निया संकट, सेराजिवो हत्याकाण्ड आदि कुछ ऐसी अप्रिय घटनाएँ थी; जो सम्पूर्ण विश्व को एक भयंकर आग की लपेट में ले गई। इस समय तक सम्पूर्ण यूरोप दो सशस्त्र गुटों में बँट चुका था। पहला गुट, मित्र तथा संयुक्त राष्ट्रों का था, जिसमें इंग्लैण्ड, फ्रांस, सर्बिया, जापान, पुर्तगाल, इटली, संयुक्त राज्य अमेरिका, रूमानिया, यूनान, श्याम, साइबेरिया, क्यूबा, पनामा, ब्राजील, ग्वाटेमाला, निकारागुआ, कोस्टारिका आदि देश थे। दूसरा गुट, केन्द्रीय शक्तियों का था, जिसमें जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, बल्गेरिया और तुर्की थे।

28 जून, 1914 को सेड्‌यूक फ्रांसिस फर्डीनेण्ड की हत्या से आस्ट्रिया तथा सर्बिया के मध्य, जो युद्ध शुरू हुआ, वह धीरे-धीरे विश्व युद्ध में बदल गया। इस युद्ध में संसार के लगभग सभी राष्ट्रों ने; अधिकांश स्त्री-पुरूषों ने; सैनिकों व सामान्य नागरिकों ने; काले, गोरे, भूरे और पीले रंग की जातियों ने भाग लिया। सभी लोगों ने इस युद्ध में कुछ न कुछ प्रयत्न अवश्य किये। वास्तव में ऐसा घोर विनाशकारी युद्ध इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था।

प्रथम विश्व युद्ध के मूलभूत कारण

1. **राष्ट्रीयता की भावनाः** फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना का जन्म हुआ था किंतु इस राष्ट्रीयता का तेजी से विकास वियना कांग्रेस के पश्चात् ही संभव हुआ। इसी राष्ट्रीयता की भावना के फलस्वरूप इटली और जर्मनी का एकीकरण पूर्ण हुआ। राष्ट्रवाद ने एक ओर तो राष्ट्रों के निर्माण को प्रेरित किया परंतु दूसरी ओर उग्र राष्ट्रवाद के कारण पारस्परिक मतभेद भी उत्पन्न हुए। 1871 ई० के बाद फ्रांस में अल्सास-लारेन की माँग फ्रांस की राष्ट्रीय माँग हो गई। इटली के राष्ट्रवादियों द्वारा ट्रेन्टिनो, ट्रीस्ट के प्रदेशों को प्राप्त करने के लिए समुद्धरणवादी आंदोलन चलाया गया, जिससे इटली और आस्ट्रिया के सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। आस्ट्रिया-हंगरी का साम्राज्य तो स्वयं ही राष्ट्रीयता की भावना के लिए एक चुनौती था। पोल लोग, जिन पर विदेशियों का शासन था, यह चाहते थे कि उनका अपना राष्ट्र पुनः स्थापित कर दिया जाये। सर्बिया जैसे बाल्कन देश यह चाहते थे कि इन साम्राज्यों में रहने वाले उनके साथी राष्ट्रिक उनके साथ मिल जाएँ और व हत्तर बाल्कन राष्ट्र का निर्माण हो। रूस स्वयं को स्लाव लोगों का संरक्षक समझता था और इस अखिल स्लाववाद का अखिल जर्मनवाद से तीव्र विरोध था। 'देशभक्ति' की बढ़ती हुई विक त भावना ने विभिन्न राष्ट्रों के बीच घ णा और द्वेष उत्पन्न कर 'राष्ट्रवाद' को रणोन्मादी बना दिया। राष्ट्रीयता की यह प्रव त्ति माँग कर रही थी, कि 'एक राष्ट्रीयता एक राज्य' के सिद्धान्त के अनुसार यूरोप के राजनीतिक मानचित्र का पुनः निर्माण हो। इस प्रकार राष्ट्रीयता की भावना के कारण विश्व के देश एक-दूसरे से टकराने के लिए बाध्य थे। यही कारण है कि प्रो. फे ने राष्ट्रीयता की भावना को युद्ध के मूलभूत कारणों में प्रमुख माना है।

2. **कूटनीतिक संधियाँ:** यद्यपि कूटनीति किसी भी युद्ध का कारण नहीं मानी जा सकती किंतु उसके कारण युद्ध के अनुकूल परिस्थिति अवश्य उत्पन्न हो जाती है। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व भी कुछ ऐसी स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। बिस्मार्क की कूटनीतिक सन्धियों के कारण एक ओर त्रिगुट का निर्माण हुआ, तो दूसरी ओर आत्मरक्षा में त्रिराष्ट्र-मैत्री स्थापित हुई। इसने यूरोप को दो सशक्त विरोधी गुटों में विभक्त कर दिया था, जिनके सदस्य संधियों के जाल में इस प्रकार फँसे हुए थे कि यदि उनमें से कोई एक युद्ध छेड़ देता, तो दूसरे अपने आप ही उसमें खिंचे चले आते। इसी कारण प्रो. फे ने लिखा है-"युद्ध का सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर्निहित कारण गुप्त सन्धियों की प्रणाली थी, जिसका विकास फ्रांस और प्रशा के युद्ध के बाद हुआ था। इसने धीरे-धीरे यूरोप की शक्तियों को ऐसे दो विरोधी गुटों में बाँट दिया, जिनमें एक-दूसरे के प्रति सन्देह बढ़ता रहा और जो अपनी थल-सेना एवं नौ-सेना की शक्ति बढ़ाते रहे।"

   बिस्मार्क ने फ्रांस को पराजित करने के पश्चात् जर्मनी की सुरक्षा के लिए आस्ट्रिया तथा इटली से गुप्त-संधियाँ स्थापित कर त्रिगुट का निर्माण किया, जिसके विरूद्ध फ्रांस ने भी अपनी सुरक्षा के लिए रूस तथा इंग्लैण्ड से मैत्री कर ट्रिपल एताँत का गठन किया। अब यूरोप दो शक्तिशाली एवं परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित हो गया था। ये संधियाँ मूल रूप से रक्षात्मक थी, फिर भी इनके कारण पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता की भावना उत्पन्न हुई। फ्रांस ने इटली के साथ गुप्त सन्धि करके त्रिगुट को कमजोर बनाने का प्रयत्न किया, तो जर्मनी ने इंग्लैण्ड और फ्रांस की मित्रता को तोड़ने के लिए रूस के साथ गुप्त समझौता करने का प्रयत्न किया। प्रो. फे ने गुटबंदी के विषय में लिखा है कि-"एक द ष्टिकोण से यह प्रणाली यूरोप में शांति बनाये रखने में सहायक थी क्योंकि एक गुट के सदस्य, अपने साथी राज्य को युद्ध से बचाने के लिए अपने मित्रों को भी युद्ध से रोकते रहे किन्तु दूसरी ओर इस प्रणाली के कारण यह भी निश्चित हो गया कि यदि युद्ध हुआ तो उसमें सभी बड़ी शक्तियाँ को सम्मिलित होना पड़ेगा।"

   इस गुटबन्दी के कारण ही गुट के प्रत्येक सदस्य को ऐसी कार्यवाही भी करनी पड़ती थी, जिसमें उन्हें कोई लाभ नजर नहीं आ रहा हो क्योंकि उन्हें अपने मित्र का समर्थन करना पड़ता था, अतः उनकी कार्यवाही में भी सम्मिलित होना पड़ता था; जैसे जर्मनी की बाल्कन में कोई रूचि नहीं थी, किंतु उसे अपने मित्र आस्ट्रिया के समर्थन में कार्यवाही करनी पड़ी, इसी तरह फ्रांस को रूस की मित्रता बनाए रखने के लिए उसकी बाल्कन नीति का समर्थन करना पड़ा। ब्रिटेन के विदेश मन्त्रालय के उच्चाधिकारियों को भी यह विश्वास हो गया था कि 'ट्रिपल एलाएंस' के विरूद्ध 'ट्रिपल एताँत' को सुद ढ़ करना चाहिए। इस प्रकार कूटनीतिक संधियों के कारण विश्वयुद्ध आवश्यक हो गया।

3. **सैन्यवाद और शस्त्रीकरण:** 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में सैनिकवाद पनप रहा था। इसका मूल लक्षण उग्र राष्ट्रीयता, आर्थिक प्रतियोगिता तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव था। विभिन्न देशों के बीच पारस्परिक शंका और ईर्ष्या बढ़ती जा रही थी, अतः यूरोप के सभी देश अपनी सैनिक शक्ति में व द्धि कर रहे थे। सैन्यवाद के संबंध में प्रोफेसर फे ने लिखा है कि-"सैन्यवाद के अन्तर्गत दो तथ्य निहित हैं-प्रथम, विशाल सेनाओं और नौ-सेनाओं की भयानक एवं बोझिल व्यवस्था तथा परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाला संदेह, भय एवं घ णा का वातावरण। दूसरा यह कि जनरल स्टाफ की अध्यक्षता में सैनिक एवं नौ-सैनिक अधिकारियों का शक्तिशाली वर्ग, जो किसी भी राजनैतिक संकट के समय नागरिक प्रशासन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करता है।" इस संबंध में प्रोफेसर लेंगसम ने भी लिखा है कि "सैन्यवादी राज्य वह है, जिसमें सैनिक शक्ति सिविल शासन के ऊपर हावी हो जाती है।"

   जब जर्मनी ने अपनी नौ-सैनिक शक्ति को बढ़ाना आरंभ किया, तो यह कार्य इंग्लैण्ड की नाविक शक्ति के लिए एक चुनौती समझा जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप नाविक प्रतिस्पर्धा बढ़ गयी। इस प्रतिस्पर्धा ने यूरोप के अन्य देशों को भी प्रभावित किया। प्रत्येक देश अपनी सैन्यव द्धि को ही राष्ट्रीय प्रतिष्ठा समझ बैठा और सैनिक शक्ति में व द्धि करने लगा। 1914 ई० तक जर्मनी के पास आठ लाख पचास हजार सैनिक थे। इसके अतिरिक्त उसके पास पचास लाख प्रशिक्षित व्यक्ति थे, जो युद्ध के समय मोर्चे पर भेजे जा सकते थे। फ्रांस ने भी अधिक से अधिक लोगों को युद्ध के लिए तैयार किया। रूस के पास भी शान्ति के समय में पन्द्रह लाख सैनिक थे। इन देशों ने न केवल सैनिकों की संख्या में बढ़ोत्तरी की अपितु आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों का भी विकास किया। यद्यपि यह सब सैनिक तैयारी सुरक्षा की द ष्टि से की गयी किंतु उसके कारण विभिन्न राज्यों में सैनिक शक्ति बढ़ाने की प्रतिद्वन्द्विता आरंभ हो गयी जिससे सर्वत्र भय, आशंका एवं पारस्परिक घ णा का वातावरण बन गया।

   यूरोप के देशों में सैन्यवाद का प्रभाव बढ़ने से उनकी आन्तरिक और विदेश नीति भी प्रभावित हुई। सैन्यवाद ने कुछ बड़े

देशों की मानसिकता को ही बदल दिया। अब लोगों को यह विश्वास हो गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल सैनिक शक्ति के आधार पर ही किया जा सकता है। यद्यपि रूस के जार निकोलस द्वितीय ने शस्त्रीकरण पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबंध लगाने के लिए हेग में सम्मेलन आमंत्रित किये थे किंतु जर्मनी के विरोध के कारण शस्त्रीकरण को सीमित करने की योजना असफल सिद्ध हुई।

इस प्रकार सैन्यवाद और शस्त्रीकरण के फलस्वरूप यूरोप के बड़े राज्य दो परस्पर विरोधी और पूर्ण रूप से सुसज्जित युद्ध शिविरों में विभाजित हो चुके थे। अब युद्ध आरंभ करने के लिए केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी।

4. **साम्राज्यवाद तथा आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता:** बीसवीं शताब्दी के आरंभ से विश्व में दो प्रकार की प्रगति हुई थी। एक तो, जिन देशों के पास धन था और जिनका औद्योगीकरण तीव्र गति से हुआ था उनमें अधिक धन कमाने और अपने माल को बेचने के लिए बाजार प्राप्त करने की इच्छा रहती थी। ऐसे देशों में इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा जर्मनी प्रमुख थे। ऐसे देशों में आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता साम्राज्यवाद से संलग्न थी। ये देश अपना औपनिवेशिक विस्तार आर्थिक आवश्यकता के कारण करना चाहते थे। दूसरी प्रगति उन देशों की थी, जो अभी क षि तथा उद्योग के संतुलन की स्थिति से गुजर रहे थे। ऐसे देशों में फ्रांस तथा इटली थे। ये देश एशिया, अफ्रीका तथा पूर्वी यूरोप के देशों पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहते थे क्योंकि इन स्थानों में अभी औद्योगिक प्रगति नहीं हुई थी। स्वभावतः नये देशों को अधिकार में करने की भूख और अपने विशेष धन और उत्पाउदन की खपत करने की अभिलाषा से औपनिवेशिक संघर्ष उत्पन्न हुआ था। यही कारण है कि प्रो. लेंगसम ने साम्राज्यवाद और आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता को भी विश्व-युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण कारण माना है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक अफ्रीका का अधिकांश भाग यूरोपीय राज्यों में विभाजित हो चुका था। इसमें सबसे अधिक हिस्सा इंग्लैण्ड तथा फ्रांस को प्राप्त हुआ। जर्मनी औपनिवेशिक दौड़ में विलम्ब से पहुँचा, अतः उसको अपेक्षाक त सीमित क्षेत्र ही प्राप्त हो सका, जिससे वह असंतुष्ट रहा। यद्यपि अफ्रीका के बँटवारे के लिए कोई युद्ध नहीं लड़ना पड़ा था किंतु उसके कारण यूरोपीय राज्यों में पारस्पारिक तनाव में व द्धि अवश्य हुई। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जर्मनी तथा इंग्लैण्ड की व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता इतनी बढ़ गयी थी कि दोनों देशों के उद्योगपति और राजनीतिज्ञ एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करने लगे। बाल्कन क्षेत्र में रूस तथा आस्ट्रिया के परस्पर विरोधी आर्थिक हितों के कारण ही वहाँ संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। सुदूर-पूर्व और चीन में आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद के प्रसार के लिए यूरोपीय शक्तियों ने जो 'बन्दर बाँट' की, इसने उनके बीच निर्णायक संघर्ष की संभावना को और अधिक बढ़ा दिया। इस प्रकार यूरोपीय राज्यों की साम्राज्यवादी एवं व्यापारिक महत्त्वाकांक्षाओं के कारण एक-दूसरे के प्रति घ णा और अविश्वास का वातावरण बना जिससे संघर्ष आवश्यक हो गया।

5. **अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता:** बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में ही यूरोप में अशान्ति एवं अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। शक्तिशाली देश छोटे-छोटे राज्यों को बाँट कर अपने स्वार्थों की पूर्ति करने में लग रहे थे। 1900 ई० के पश्चात् ऐसी अनेक घटनाएं घटित हुई, जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण तनावपूर्ण बना रहा।

रूस-जापान युद्ध (1904-05 ई०) ने भी यूरोपीय राजनीति को प्रभावित किया। रूस की पराजय के कारण उसकी दुर्बलता से लाभ उठाने के लिए जर्मनी ने मोरक्को में फ्रांस को चुनौती दी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में गंभीर स्थिति उत्पन्न कर दी। इसके अतिरिक्त जब रूस को सुदूर-पूर्व में साम्राज्य-विस्तार का अवसर नहीं मिला, तो उसने बाल्कन प्रदेशों में अनुचित हस्तक्षेप करना आरंभ कर दिया। इससे बाल्कन की राजनीति और अधिक जटिल हो गयी।

विलियम कैसर तथा उसका चान्सलर बूलो मोरक्को में फ्रांस के बढ़ते हुए प्रभाव से भयभीत थे। वे फ्रांस पर प्रतिबंध लगाना चाहते थे। विलियम ने टेन्जियर जाकर यह माँग की कि मोरक्को की समस्या पर विचार करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जाय। उसके दबाव के कारण 1906 ई० में अल्जीसिरास सम्मेलन आयोजित किया गया लेकिन इस सम्मेलन से भी जर्मनी संतुष्ट नहीं था। इस सम्मेलन में इंग्लैण्ड ने फ्रांस को पूर्ण समर्थन दिया।

वर्ष 1911 ई० में फेज के विद्रोह को दबाने के लिए तथा यूरोपियन लोगों के जन-जीवन की रक्षा करने के लिए फ्रांस ने वहाँ अपनी सेना भेज दी, तो इस पर जर्मनी ने इसका विरोध किया और अपना 'पेन्थर' नामक युद्ध-पोत अगादियर के बंदरगाह पर भेज दिया। इससे अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध का खतरा बढ़ गया। इंग्लैण्ड की चेतावनी के कारण जर्मनी को झुकना

पड़ा तथा फ्रांसीसी काँगो का बहुत-सा भाग जर्मनी को देना पड़ा। इस संकट में इंग्लैण्ड द्वारा फ्रांस को समर्थन देने से इंग्लैण्ड और जर्मनी के संबंधों में और अधिक कटुता उत्पन्न हुई।

वर्ष 1908-9 ई० में आस्ट्रिया द्वारा बोस्निया-हर्जीगोविना ने अपने साम्राज्य में मिलाने से एक गंभीर संकट उत्पन्न हो गया। रूस और आस्ट्रिया तथा इटली और आस्ट्रिया के परस्पर संबंध इसी कारण बिगड़ गए। यद्यपि यह संकट तो टल गया किंतु वातावरण दूषित हो गया।

वर्ष 1912-13 ई० के बाल्कन युद्धों ने भी अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को अत्यधिक तनावपूर्ण बना दिया था। इन युद्धों के कारण सैन्यवाद और शस्त्रीकरण की दौड़ और तेज हो गई। बल्गेरिया सबसे अधिक असंतुष्ट राज्य था क्योंकि सर्बिया, यूनान आदि राज्यों ने उससे बहुत सा भू-भाग छीन लिया था। इन बाल्कन युद्धों के महत्त्व के कारण ही ग्रान्ट एवं टेम्परले ने लिखा है कि-"1914 ई० के महायुद्ध के लिए कोई घटना इतनी उत्तरदायी नहीं, जितने कि बाल्कन युद्ध।"

6. **विलियम कैसर का चरित्रः** जर्मनी के सम्राट विलियम कैसर का चरित्र भी युद्ध का एक कारण था। वह अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी तथा क्रोधी स्वभाव का व्यक्ति था। उसकी नीति थी, 'विश्वप्रभुता या सर्वनाश।' उसने सम्राट बनने के पश्चात् जल और थल-सेना का अत्यधिक विकास किया। महायुद्ध के समय उसके पास लगभग 18 लाख सैनिक थे। वह अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में किसी से भी कोई समझौता करने के लिए तैयार नहीं था। वह कहा करता था-"परमेश्वर ने हमें संसार को सभ्य बनाने का कार्य सुपुर्द किया है।" इंग्लैण्ड ने उसके सम्मुख मित्रता का प्रस्ताव रखा था परंतु उसने अहंकारवश उसको ठुकरा दिया। उसका विचार था कि इंग्लैण्ड उसकी सब बातों को मान लेगा और उससे युद्ध नहीं करेगा। वह ब्रिटेन की तटस्थता की नीति को उसकी कायरता मानता था। ब्रिटिश जनता के चरित्र के विषय में उसका भ्रम ही इंग्लैण्ड के प्रति उसके रूख के लिए उत्तरदायी था और यह भ्रम अन्त में उसके विनाश का कारण बना। इस प्रकार अपने उग्र तथा साम्राज्यवादी चरित्र द्वारा विलियम द्वितीय ने यूरोप को युद्ध तक पहुँचाने में बहुत सहयोग दिया।

7. **सामाजिक असन्तुलनः** जब मनुष्य में स्वार्थ और संकुचित हित की भावना उत्पन्न होने लगती है तो उसमें सद्भावना और प्रेम का अभाव होने लगता है। राष्ट्रीयता की संकुचित भावना, कूटनीति से उत्पन्न मनोमालिन्य, आर्थिक हित चिन्तन तथा स्वार्थ का प्रचलन इतना अधिक बढ़ गया था कि शान्ति की दुहाई 'नक्कारखाने में तूती की आवाज' सिद्ध हुई। शान्ति और सद्भावना के स्थान पर आशंका, भय और द्वेष की भावना उत्पन्न हुई। ऐसी स्थिति में विभिन्न राष्ट्रों के लिए ठण्डे दिमाग से कुछ भी सोचना कठिन हो गया था। इस समय डार्विन के सिद्धान्त से भी कई लोग प्रभावित थे और वे सामाजिक डार्विनवाद में विश्वास करते थे अर्थात् वे समझते थे कि योग्यतम राष्ट्र ही बचेगा और उन्नति करेगा अथवा यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि संघर्ष जीवन का एक प्राक तिक नियम है और विकास लिए आवश्यक है। विभिन्न राष्ट्रों के लोग अपनी-अपनी संस्क ति को सर्वोत्क ष्ट समझते थे और दलित राष्ट्रों को उन्नत बनाना अपना धार्मिक कर्त्तव्य मानते थे। इस कर्त्तव्य की दुहाई के बहाने अन्य जातियों पर अपना प्रभाव स्थापित करने का उपाय नैतिक माना जाने लगा। इस प्रकार भौतिकवाद की प्रगति के साथ धार्मिकता तथा मानवता की भावना शिथिल पड़ती जा रही थी और नरसंहार से अब लोगों की नैतिक भावना को अधिक ठेस नहीं पहुँचती थी। उन्हें भौतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए सैनिक बल-प्रयोग में कोई अनौचित्य नजर नहीं आता था। जब सब लोग समझते हो कि संसार हमारे लिए है, हमें सारी दुनिया पर राज्य करना है, विश्व में अपनी सभ्यता और धर्म का प्रचार करना है, तो वे परस्पर टकराये बिना कैसे रह सकते हैं? युद्ध से कैसे बच सकते हैं?

8. **समाचार-पत्रों एवं प्रचार साधनों का प्रभावः** किसी भी देश के समाचार-पत्र उस देश की विचारधारा का प्रतिनिधित्व अवश्य करते हैं और जनमत को प्रभावित करने में उनका बड़ा योगदान रहता है। इस समय में सभी देशों के समाचार-पत्रों ने उग्र राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर बहुत-सी घटनाओं को इस प्रकार से प्रस्तुत किया, जिससे कि जनता में उत्तेजना बढ़ी और शान्तिपूर्ण ढंग से समझौता करना कठिन हो गया। जब ब्रिटेन के समाचार-पत्रों में जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय की नीतियों की आलोचना की गयी, तो जर्मनी की जनता इंग्लैण्ड की जनता को अपना शत्रु समझने लगी। इसी प्रकार जर्मन समाचार पत्रों ने भी इंग्लैण्ड की जनता को उकसाया। फ्रांस तथा जर्मनी के संबंध भी समाचार पत्रों के कारण ही बिगड़े। आर्क ड्यूक फ्रांसिस फर्डनिण्ड की हत्या के पश्चात् सर्बिया और आस्ट्रिया के समाचार-पत्रों में एक-दूसरे के विरूद्ध जो कटुतापूर्ण लेख लिखे गये, उससे दोनों देशों की जनता में रोष उत्पन्न होना स्वाभाविक था। जून, 1914 में सेन्टपीटर्स वर्ग से प्रकाशित होने वाले बोर्स गजट में स्पष्ट लिखा था-"रूस तैयार है, फ्रांस को भी तैयार रहना चाहिए।" इस समाचार को पढ़कर जर्मन सम्राट बहुत क्रोधित हुआ।

यद्यपि हमें यूरोप के देशों के समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता, उनके विकास आदि पर काफी सामग्री उपलब्ध होती है किंतु वहाँ के समाचार-पत्रों और सरकार से उनके संबंधों के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। यद्यपि पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के देशों के समाचार-पत्रों को इंग्लैण्ड की अपेक्षा कम स्वतंत्रता प्राप्त थी, फिर भी यूरोपीय देशों के समाचार-पत्रों ने युद्ध को भड़काने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। युद्ध की परिस्थितियों को तभी संभाला जा सकता था, जब प्रेस की स्वतंत्रता पर कोई नियंत्रण होता। वस्तुतः अनियन्त्रित प्रेस भी प्रथम महायुद्ध का एक महत्त्वपूर्ण कारण था। प्रो. फे ने लिखा भी है कि-'सरकार के नियंत्रण के अभाव में समाचार-पत्रों के द्वारा सरलता से युद्ध का वातावरण तैयार किया जा सकता है।'

9. **अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का अभावः** यूरोप में इस समय तक कोई ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था नहीं थी, जो पारस्पारिक वार्तालाप के माध्यम से विभिन्न राष्ट्रों के झगड़ों का समाधान करके युद्ध की संभावना को टाल देती। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून और सदाचार की संहिता थी किंतु इन्हें लागू कराने वाली शक्ति का अभाव था। 1899 और 1907 ई० के हेग सम्मेलनों में अनेक प्रस्ताव स्वीकार हुए थे किंतु सभी देश अपनी सुविधाओं के अनुसार ही इनका अनुसरण करते थे। सभी देश अपने को सर्वाधिक सम्पन्न देश मानकर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञाओं के प्रति अवहेलना का रूख अपनाया करते थे।

   गुप्त कूटनीतिक पद्धति के कारण किसी भी राज्य की जनता अथवा प्रतिनिधि सभा को यह जानकारी नहीं होती थी कि उनके मंत्रियों या राजदूतों ने किस देश के साथ किस प्रकार का समझौता किया है। जैसे सर एडवर्ड ग्रे ने 1905 ई० में फ्रांस और इंग्लैण्ड में सैनिक तैयारियों के विषय में वार्ता की अनुमति दी थी किंतु मंत्रिमण्डल को इस विषय में 1912 ई० में और संसद को 1914 ई० में बताया गया था। फिर भी युद्ध आरंभ होने के पहले फ्रांस को दिये गये आश्वासनों के संबंध में हाउस ऑफ कॉमन्स को कुछ भी नहीं बताया गया था। इसी प्रकार इटली त्रिगुट का सदस्य था फिर भी उसने 1902 ई० में फ्रांस से और 1909 ई० में रूस से प थक् गुप्त संधियाँ कर ली। उस पर ऐसी संधियाँ न करने के लिए दबाव डालने वाली कोई संस्था नहीं थी और यदि ऐसी कोई संस्था होती, तो गुप्त संधि की जानकारी उसे होती यह आवश्यक नहीं है। अतः किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के अभाव में किसी भी देश पर कोई अंकुश नहीं था और सभी देश अपनी इच्छानुसार उचित या अनुचित कार्य करने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र थे।

10. **युद्ध का तात्कालिक कारणः** आस्ट्रिया और सर्बिया के संबंध 1908 ई० से ही बिगड़े हुए थे जो 1914 ई० तक अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुके थे। सर्बिया के कुछ उग्र राष्ट्रवादियों ने सर्व-स्लाव आंदोलन के प्रभाव में आकर स्लावों की मुक्ति के लिए अनेक गुप्त संस्थाएँ बनायी थीं। इनमें एक संस्था 'काला हाथ' भी थी। इस संस्था ने 'संगठन या म त्यु' नामक दूसरी संस्था से मिलकर बोस्निया के राजकुमार की हत्या की योजना बनाई। किंतु इसी समय उन्हें यह पता चला कि आस्ट्रिया का युवराज फर्डिनेण्ड बोस्निया की सरकारी यात्रा पर आने वाला है, तो उन्होंने युवराज की हत्या का षड्यन्त्र रचा। सर्बिया की सरकार के उच्च अधिकारियों ने उन व्यक्तियों को हथियार और गोला-बारूद दिये और उन्हें बोस्निया की सीमा में प्रविष्ट करने का प्रबन्ध भी किया। युवराज की यात्रा का मुख्य उद्देश्य बोस्निया में स्थित 15वीं एवं 16वीं सेना का वार्षिक निरीक्षण करना था। इसी सूचना के आधार पर षड्यन्त्रकारियों ने हत्या की योजना बनायी। आर्क ड्यूक और उसकी पत्नी 28 जून, 1914 को बोस्निया के प्रमुख शहर सेराजिवो गये। दुर्भाग्य से यह दिन सर्बिया के लिए शोक दिवस था। जब शाही दल सेराजिवो के टाउन हाल की ओर जा रहा था, तभी एक षडयन्त्रकारी गेवरीलो प्रिन्सिप ने दो गोलियाँ चलाई, जिससे युवराज फर्डिनेण्ड तथा उसकी पत्नी सोफी मारी गयी। इस घटना ने यूरोप को युद्ध की ज्वाला में धकेल दिया।

आस्ट्रिया में हत्या की प्रतिक्रिया

युवराज की हत्या का समाचार आस्ट्रिया पहुँचते ही वहाँ क्रोध की लहर उत्पन्न हुई। सरकार ने इसके लिए सर्बिया को दोषी माना। आस्ट्रिया के विदेश मंत्री बर्चटोल ने सर्बिया के विरूद्ध कठोर कार्यवाही करने का निश्चय किया। डा. वीजनर को युवराज की हत्या की जाँच का कार्य सौंपा गया था किंतु डॉ. वीजनर ने अपनी रिपोर्ट में कहा-इस हत्या में सर्बिया की सरकार का शामिल होना 'नितान्त असम्भाव्य' है। यह सत्य है कि सर्बिया में वर्षों से एक प्रभावशाली समिति नरोडना ओडबराना समस्त सर्ब लोगों की राजनीतिक एकता के लिए प्रयत्न कर रही थी। यहाँ एक गुप्त आतंकवादी संगठन भी काम कर रहा था, जिसका नाम 'संगठन या म त्यु' था और जो प्रायः हत्याएँ किया करता था। सर्बिया की सरकार उससे अप्रसन्न थी और उसे भय था

कि कहीं उसके कारण आस्ट्रिया से युद्ध न छिड़ जाए। वियना में नियुक्त सर्बिया के राजदूत ने आस्ट्रिया के अधिकारियों को सूचना भी दी थी कि यदि युवराज सेराजिवो पहुँचे, तो उनके संकट में पड़ जाने का डर है, फिर भी उनकी सुरक्षा के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी।

आस्ट्रिया का प्रधान सेनापति कोनराड भी सर्बिया को इस हत्या के लिए दोषी मानता था और उसके विरूद्ध युद्ध करना चाहता था क्योंकि सम्राट फ्रांसिस जोसेफ सर्बिया से युद्ध के पक्ष में नहीं था, तथा उसको भय था कि सर्बिया के विरूद्ध युद्ध करने से रूस से भी युद्ध करना पड़ सकता है। हंगरी के प्रधानमंत्री तिस्सा ने भी सर्बिया के विरूद्ध युद्ध का विरोध किया था।

आस्ट्रिया द्वारा सर्बिया को अल्टीमेटम

आस्ट्रिया जर्मनी के समर्थन के बिना सर्बिया से युद्ध करने का खतरा नहीं उठा सकता था। अतः आस्ट्रिया के विदेशमंत्री बर्चटोल ने सम्राट फ्रांसिस की ओर से जर्मन सम्राट को पत्र लिखकर आस्ट्रिया की नीति स्पष्ट की तथा जर्मनी से सहयोग का अनुरोध किया। जर्मनी ने 5 जुलाई को आस्ट्रिया की सरकार को सूचित किया कि सर्बिया के संबंध में वह जो भी निर्णय करेगा, उसका जर्मनी पूर्ण रूप से समर्थन करेगा। इस समर्थन को जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को 'कोरा चेक' देना माना गया। अतः आस्ट्रिया की सरकार ने 23 जुलाई का सर्बिया को अल्टीमेटम दिया, जिसमें उसकी शर्तों को 48 घण्टे की अवधि में मानने को कहा गया। आस्ट्रिया ने अपनी चेतावनी में सर्बिया 1909 ई० के समझौते का उल्लंघन करने तथा आस्ट्रिया विरोधी प्रचार को प्रोत्साहित करने और हत्या के षड्यन्त्र की जानकारी होते हुए भी उसे न रोकने और हत्या के बाद षड्यन्त्रकारियों को यथोचित दण्ड न देने का आरोप लगाया। इन आरोपों के संदर्भ में सर्बिया की सरकार ने अधिकांश शर्तों को स्वीकार कर लिया परंतु दो शर्तों, जिसमें आस्ट्रिया के अधिकारियों द्वारा सर्बिया में जाँच पड़ताल में भाग लेने की माँग सम्मिलित थी, मानने से इंकार कर दिया क्योंकि इसके मानने से उसकी प्रभुसत्ता और सम्मान को ठेस पहुँचती थी। इन शर्तों के संबंध में सर्बिया ने हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा जो भी निर्णय हो, उसे स्वीकार करने की बात कही। यूरोप के सभी देशों ने सर्बिया के उत्तर को सन्तोषजनक माना। जर्मन सम्राट केसर विलियम ने भी लिखा था-"आस्ट्रिया की लगभग सभी इच्छाएँ पूरी हो गई, जो थोड़ी सी बातें शेष रह गई हैं, उन्हें बातचीत द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। सर्बिया का उत्तर एक बहुत ही अपमानजनक आत्मसमर्पण का प्रतीक है और उसके बाद युद्ध के लिए तनिक भी आधार नहीं रह जाता।" किन्तु आस्ट्रिया का विदेश मंत्री इस समय तक युद्ध करने का निश्चय कर चुका था, अतः उसने सर्बिया के उत्तर को असंतोषजनक मानकर उसे अस्वीकार कर दिया और 28 जुलाई, 1914 को सर्बिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। सर्बिया ने स्वयं भी युद्ध का स्वागत किया और अपना उत्तर भेजने से पहले ही उसने सार्वजनिक लामबन्दी की आज्ञा दे दी।

रूस के विदेश मंत्री साजानोव ने प्रारंभ से ही सर्बिया का समर्थन करने का निश्चय किया। उसने जर्मनी और आस्ट्रिया के राजदूतों को स्पष्ट रूप से कह दिया था कि यदि आस्ट्रिया ने सर्बिया पर आक्रमण किया, तो उसे रूस का भी सामना करना पड़ेगा। फ्रांस भी रूस की नीति का पूर्ण रूप से समर्थन करने का आश्वासन दे चुका था।

युद्ध रोकने के प्रयत्न

ब्रिटेन और जर्मनी ने युद्ध को स्थानीय बनाने का प्रयत्न किया किंतु स्थिति उनके काबू के बाहर हो चुकी थी। युद्ध रोकने के सबसे अधिक प्रयत्न ब्रिटेन के विदेशमंत्री सर एडवर्ड ग्रे ने किये क्योंकि वह यूरोप की शान्ति को भंग नहीं होने देना चाहता था। सबसे पहले उसने रूस और आस्ट्रिया के बीच सीधी वार्ता के द्वारा समझौता कराने का सुझाव दिया किंतु फ्रांस के राष्ट्रपति के विरोध के कारण यह प्रस्ताव विफल हो गया। 26 जुलाई को जर्मनी के सुझाव पर आस्ट्रिया के राजदूत और रूस के प्रधानमंत्री के बीच 'सीधी-वार्ता' हुई किंतु बर्चटोल अपनी माँगों में संशोधन करने को तैयार नहीं थे। उसी दिन सर एडवर्ड ग्रे ने यह प्रस्ताव रखा कि फ्रांस, जर्मनी, इटली और इंग्लैण्ड के राजदूत लन्दन में एक सम्मेलन में भाग लें और उसमें आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच युद्ध रोकने के उपायों पर विचार करें किंतु जर्मनी ने इसे अस्वीकार कर दिया। वास्तव में अभी तक भी जर्मन राजनीतिज्ञों की घोषणा थी कि आस्ट्रिया और सर्बिया के संघर्ष का 'स्थायीकरण' किया जा सकता है। इस प्रस्ताव को अस्वीकार करके जर्मनी ने बड़ी राजनीतिक भूल की। जर्मनी ने आस्ट्रिया पर अपने प्रभाव का उपयोग नहीं किया अन्यथा युद्ध की स्थिति टल सकती थी। वह उसे सर्बिया के उत्तर को मानने के लिए बाध्य कर सकता था। 27 जुलाई को ब्रिटेन के विदेशमंत्री ग्रे ने जर्मनी से पुनः अनुरोध किया कि वह आस्ट्रिया पर अपने प्रभाव का उपयोग करके उसे सर्बिया के उत्तर को स्वीकार करने के लिए कहे, जिससे युद्ध की स्थिति टल जाये। किंतु जर्मनी इसके लिए तैयार नहीं था। इस प्रकार समझौते के सभी प्रयत्न असफल रहे।

युद्ध की शुरूआत

28 जुलाई, 1914 का आस्ट्रिया द्वारा सर्बिया पर आक्रमण किये जाने के साथ ही प्रथम विश्व युद्ध की शुरूआत हो गयी। अगले दिन रूस को जब यह सूचना मिली कि आस्ट्रिया ने बेलग्रेड पर बम वर्षा की है, तो रूस के युद्धमंत्री ने जार को पूर्ण सैन्य-सज्जा की आज्ञा देने के लिए तैयार कर लिया। रूस की सेना ने लामबन्दी के कारण जर्मनी का युद्ध में प्रवेश करना अनिवार्य हो गया। 31 जुलाई, 1914 को जर्मनी ने रूस को 12 घण्टे की अन्तिम चेतावनी दी, जिसमें उसने जर्मनी और आस्ट्रिया के विरूद्ध समस्त सैनिक तैयारियाँ समाप्त करने के लिए कहा। रूस ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, इसलिए 1 अगस्त, 1914 को जर्मनी ने रूस के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस घोषणा से पूर्व ही जर्मनी ने फ्रांस की सरकार से पूछा था कि रूस और जर्मनी के बीच युद्ध होने पर उसकी क्या नीति रहेगी। इसके उत्तर में फ्रांस के मंत्री ने कहा था कि हमें अपने हितों के अनुसार निर्णय करना पड़ेगा। किंतु इसके बाद फ्रांस ने भी अपनी सेनाओं को कूच करने की आज्ञा दे दी। 3 अगस्त को जर्मनी ने फ्रांस के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इसी दिन इटली ने अपनी तटस्थता की घोषणा की। इस प्रकार यूरोप के सभी प्रमुख देश युद्ध में सम्मिलित हो गये।

इंग्लैण्ड का युद्ध में प्रवेश

इंग्लैण्ड के विदेशमंत्री ग्रे ने अंत तक युद्ध रोकने का प्रयत्न किया किंतु उन्हें निराश होना पड़ा। यद्यपि फ्रांस और रूस के साथ किये गये समझौते के अनुसार इंग्लैण्ड, फ्रांस या रूस का साथ देने को बाध्य नहीं था, तो भी उसकी सहानुभूति फ्रांस के साथ थी। 1905 से 1912 ई० तक प्रत्येक संकट के समय इंग्लैण्ड ने फ्रांस का समर्थन किया। इसी बीच इंग्लैण्ड और फ्रांस के सैनिक अधिकारियों के बीच गुप्त परामर्श भी होता रहा था। फ्रांस पर आक्रमण होने की दशा में उसकी सहायता करना इंग्लैण्ड का नैतिक कर्त्तव्य था परंतु ग्रे की स्थिति बड़ी कठिन थी। इंग्लैण्ड का लोकमत युद्ध विरोधी था और उसके लिए मंत्रिमंडल तथा पार्लियामेन्ट को युद्ध के पक्ष में करना कठिन था। वह हर स्थिति में त्रिराष्ट्र मैत्री को कायम रखना चाहता था। 31 जुलाई को फ्रांस के राष्ट्रपति ने अपना एक विशेष दूत सम्राट जार्ज पंचम् के पास भेजा और उससे सहायता माँगी किंतु सम्राट उस समय तक फ्रांस को कोई निश्चित आश्वासन देने की स्थिति में नहीं था। 31 जुलाई को ब्रिटेन के विदेशमंत्री ने फ्रांस और जर्मनी की सरकार के पास एक पत्र भेजा, जिसमें दोनों देशों से पूछा गया था कि क्या वे बेल्जियम की तटस्थता को बनाये रखने का वचन देने को तैयार हैं? फ्रांस ने तो तुरंत आश्वासन दे दिया किंतु जर्मनी इस प्रकार का आश्वासन देने को तैयार नहीं था। वह उसके बदले में ब्रिटेन की तटस्थता का आश्वासन चाहता था, जो इंग्लैण्ड का विदेशमंत्री देने को तैयार नहीं था। 1 अगस्त को फ्रांस ने अपनी सेना को लामबन्दी की आज्ञा दे दी, जिससे फ्रांस और जर्मनी के बीच युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। 2 अगस्त को जर्मनी ने लक्जेमबर्ग की तटस्थ भूमि पर अधिकार कर लिया और बेल्जियम से 12 घण्टे के अंदर अपने राज्य में से जर्मन सेनाओं को फ्रांस के विरूद्ध आक्रमण करने के लिए मार्ग देने की माँग की। बेल्जियम ने इसे अस्वीकार कर दिया और उसने इंग्लैण्ड से सहायता की अपील की। इंग्लैण्ड ने प्रशा तथा अन्य राज्यों के साथ 1839 में बेल्जियम की तटस्थता की गारण्टी दे रखी थी। जर्मनी के इस कार्य से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के भंग होने और उससे भी अधिक बेल्जियम पर जर्मनी का अधिकार होने से अपनी सुरक्षा के लिए एक संकट खड़ा होता देख, इंग्लैण्ड ने जर्मनी से बेल्जियम के समक्ष प्रस्तुत की गई माँगों को वापस लेने के लिए कहा। 4 अगस्त अर्द्धरात्रि तक जर्मनी की ओर से कोई उत्तर न मिलने पर ब्रिटेन ने रात्रि को ही जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

विश्वव्यापी युद्ध का आरंभ

4 अगस्त, 1914 को ब्रिटेन द्वारा जर्मनी के विरूद्ध युद्ध में प्रवेश करते ही यूरोप की सभी बड़ी शक्तियों के बीच युद्ध आरंभ हो गया था। कुछ ही समय पश्चात् यूरोप और एशिया के कुछ अन्य राज्य भी इसमें सम्मिलित हो गये। 7 अगस्त को मान्टीनीग्रो ने सर्बिया की ओर से युद्ध में प्रवेश किया। 23 अगस्त को जापान ने 1902 की आंग्ल-जापानी संधि की शर्तों को पूरा करने तथा जर्मनी से बदला लेने के उद्देश्य से उसको अल्टीमेटम दे दिया और युद्ध की घोषणा कर दी। 29 अक्टूबर, 1914 को तुर्की ने बिना युद्ध की घोषणा किये रूस के काला सागर के बन्दरगाहों पर बमवर्षा की, जिसके कारण 3 नवम्बर, 1914 को रूस ने तुर्की के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। तुर्की के जर्मनी की ओर से युद्ध में सम्मिलित होने से मित्र राष्ट्रों को काफी चिंता हुई क्योंकि उसके कारण स्टेट्स (Straits) के मार्ग से रूस को युद्ध का सामान भेजना और रूस से अनाज प्राप्त करना कठिन हो गया। यह भी भय उत्पन्न हुआ कि तुर्की के सुल्तान के धार्मिक प्रभाव के कारण एशिया और अफ्रीका में ब्रिटेन और फ्रांस के अधीन क्षेत्रों के मुसलमानों का विद्रोह न हो जाय।

इटली मित्र राष्ट्रों के गुट में शामिल

3 अगस्त, 1914 को इटली ने इस आधार पर तटस्थता की घोषणा की कि उसके मित्रों ने स्वयं ही युद्ध आरंभ किया है। सम्भवतः तटस्थ रहकर इटली दोनों गुटों से लाभ उठाना चाहता था। उसकी तटस्थता की घोषणा के बाद से ही जर्मनी तथा मित्र राष्ट्र उसे अपने-अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न कर रहे थे। अन्त में मित्र राष्ट्रों ने उसे 26 अप्रैल, 1915 की लंदन की गुप्त-संधि के द्वारा अपने गुट में सम्मिलित कर लिया। सन्धि के अनुसार मित्र राज्यों ने उसे ट्रेन्टिनों, ट्रीस्ट, दक्षिणी टाइरोल, गारीजिया, ग्रेडिस्का, इस्ट्रिया तथा आल्बानिया द्वीप समूह पर इटली का आधिपत्य स्वीकार करने, इसके अतिरिक्त तुर्की के एशियाई क्षेत्र के एक भाग पर उसका प्रभाव स्थापित करने और अफ्रीका में जर्मन प्रदेश का कुछ भाग उसे देने का आश्वासन दिया। इसके पश्चात् 23 मार्च, 1915 को इटली ने आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

इटली के पश्चात् बल्गेरिया को भी मित्र राष्ट्रों ने अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न किया था किंतु बल्गेरिया 1913 ई० के बाल्कन युद्ध में सर्बिया के समक्ष अपनी हार को नहीं भुला था। अतः उसने 14 अक्टूबर, 1915 को सर्बिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इससे जर्मनी का पक्ष मजबूत हुआ। पूर्तगाल ने फरवरी, 1916 में मित्र राष्ट्र की ओर से युद्ध में भाग लिया। इसके पश्चात् 27 अगस्त, 1916 को रूमानिया ने आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा करके मित्र राष्ट्रों का पक्ष मजबूत किया।

संयुक्त राज्य अमेरिका का मित्र राष्ट्रों की ओर से सम्मिलित होना

4 अगस्त, 1914 को अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने तटस्थता की घोषणा की किंतु अमेरिका के अधिकांश नागरिकों की सहानुभूति मित्र राष्ट्रों की ओर थी। ज्यों-ज्यों युद्ध की अग्नि भड़कती गई यह स्पष्ट होने लगा कि अमेरिका अपनी तटस्थता की नीति पर स्थिर नहीं रह सकेगा। युद्ध आरंभ होते ही मित्र राष्ट्रों ने अमेरिका से अधिक से अधिक अनाज एवं युद्ध की सामग्री खरीदना आरंभ किया, जिससे अमेरिकी उद्योगों को बहुत लाभ हुआ। कुछ समय पश्चात् अमेरिका की व्यापक कम्पनियों ने "मित्र राष्ट्रों" को युद्ध सामग्री खरीदने के लिए ऋण भी दिये थे। इन सभी कारणों से अमेरिका मित्र राष्ट्रों को विजयी बनाना चाहता था। 1917 में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई। प्रथम-रूस में बोल्शेविक क्रान्ति के कारण उसने जर्मनी से संधि कर युद्ध से अपने आपको अलग कर लिया था। इससे मित्र राष्ट्रों की स्थिति कमजोर बन गयी थी। द्वितीय-लुसिटानिया नामक यात्री जहाज डुबाने से अमेरिका में जर्मनी के विरूद्ध जनमत उबल पड़ा क्योंकि जहाज में लगभग 1200 यात्री थे। मार्च, 1916 में जर्मनी ने फ्रांस के यात्री जहाज 'ससेक्स' को भी डुबा दिया, जिसमें बहुत से अमरीकी नागरिक घायल हुए। इस घटना के बाद 18 अप्रैल, 1916 को अमेरिका की सरकार ने जर्मनी को चेतावनी दी कि यदि वह अपना पनडुब्बी युद्ध तुरंत बंद नहीं करेगा तो अमेरिका की सरकार को उससे राजनयिक सम्बन्ध समाप्त करने पड़ेंगे। 31 जनवरी, 1917 को जर्मनी की सरकार ने अमेरिका को सूचित किया कि 1 फरवरी, 1917 से वर्जित क्षेत्र में प्रवेश करने वाले सभी जहाजों के विरूद्ध जर्मन पनडुब्बियों द्वारा आक्रमण पुनः आरंभ कर दिये जायेंगे। मार्च, 1917 में जर्मनी ने 5 अमेरिकी व्यापारी जहाजों को डुबो दिया। इससे अमेरिका का धैर्य समाप्त हो गया और उसने भी 6 अप्रैल, 1917 को जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अमेरिका के युद्ध में सम्मिलित होने से मित्र राष्ट्रों को काफी सहयोग मिला और अन्ततः सभी के प्रयासों से मित्र राष्ट्रों को विजय प्राप्त हुई। इस प्रकार यह युद्ध 28 जुलाई, 1914 से 11 नवम्बर, 1918 तक चला, जिसमें लाखों लोगों की जानें गयी।

युद्ध का उत्तरदायित्व

विश्व युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् शान्ति-सम्मेलन के समय जीते हुए देशों ने 1919 ई० में युद्ध के उत्तरदायित्व का पता लगाने के लिए एक आयोग नियुक्त किया था। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में जर्मनी तथा उसके मित्र राष्ट्रों को मुख्य रूप से दोषी ठहराया था। किंतु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि युद्ध का उत्तरदायित्व किस राष्ट्र का था। यदि हम उस समय की 'ह्वाइट बुक', 'ब्ल्यू बुक', 'ओरेंज बुक', 'यलो बुक' आदि को देखें, जिन्हें क्रमशः जर्मनी, इंग्लैण्ड, रूस और फ्रांस ने प्रकाशित करवाया था तो भी यह ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि वास्तविकता क्या थी क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र ने युद्ध का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लेकर उसे दूसरों पर थोपा था। परंतु जब हम युद्ध से संबंध रखने वाले अन्य व्यक्तियों के पत्र, डायरी और संस्मरणों की ओर द ष्टिपात करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध का दोष किसी एक राष्ट्र का न था, फिर भी दोष को क्रमबद्ध किया जा सकता है। प्रो. फे ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'केवल जर्मनी और उसके मित्रों को युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराना ऐतिहासिक द ष्टि से अयुक्तिसंगत है।' उन्होंने सभी राज्यों को किसी न किसी रूप से उत्तरदायी

ठहराया है। सर्बिया की सरकार ने हत्या के षड्यंत्र की जानकारी होते हुए भी उसको रोकने के लिए कोई प्रभावी कदम नहीं उठाये और आस्ट्रिया को भी इसके सम्बंध में कोई जानकारी नहीं दी। यदि वह अपने कर्त्तव्य का उचित ढंग से पालन करता, तो सम्भवतः राजकुमार फर्डिनेण्ड की हत्या न होती। इसके साथ ही फे ने लिखा है-"युद्ध का आरंभ करने के लिए अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा आस्ट्रिया अधिक उत्तरदायी था।" आस्ट्रिया के विदेशमंत्री ने अपनी शक्ति को बनाये रखने के लिए सर्बिया को युद्ध के द्वारा नष्ट करने का निर्णय लिया। अतः उसने सर्बिया के सम्मुख जानबूझकर ऐसी शर्तें रखी, जिनका पालन करना संभव नहीं था। इसके बाद भी उसने अन्य राज्यों द्वारा किये जा रहे समझौते के प्रयत्नों को विफल करने के लिए सर्बिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा करने में अनावश्यक शीघ्रता की। उसने स्वयं अपने मित्र जर्मनी द्वारा रूस से वार्ता करने और समझौता करने की सलाह की अवहेलना कर दी। अतः आस्ट्रिया ही युद्ध आरंभ करने के लिए जिम्मेदार था। जर्मनी ने अपने सहयोग के आश्वासन से उसे और अधिक भड़का दिया था।

इसी प्रकार रूस को सर्बिया के विनाश की संभावना ने उत्तेजित कर दिया, जिससे उसने अपनी सेना को सीमा पर भेजकर अपनी सतर्कता स्पष्ट कर दी। जर्मनी इस भुलावे में रहा कि यह युद्ध एक 'स्थानीय युद्ध' ही बना रहेगा क्योंकि इस समय इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा रूस अपने-अपने घरेलू झगड़ों में उलझे हुए थे। ऐसी स्थिति में जर्मनी 'स्थानीय युद्ध' का लाभ उठा सकेगा। किंतु रूस की सैनिक कार्यवाही से जर्मनी भयभीत हुआ। फ्रांस ने रूस का अनुसरण किया, जिससे युद्ध को अब रोका जाना कठिन हो गया। यद्यपि युद्ध के लिए किसी भी देश की सरकार तैयार नहीं थी परंतु कोई भी सरकार तनाव और संदेह के समय शिथिल नहीं रह सकती थी। वास्तव में किसी एक राज्य या पक्ष को युद्ध के लिए दोषी ठहराना सम्भव नहीं है। इस समय विश्व की सभी शक्तियों ने संसार की शान्ति की अपेक्षा अपने स्वार्थों एवं महत्त्वाकांक्षाओं को अधिक महत्त्व दिया। बेल्जियम को छोड़कर कोई राज्य पूर्णतः निर्दोष नहीं था। वास्तव में राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद, सैन्यवाद और गुटबन्दी के कारण यूरोप में ऐसा विस्फोटक वातावरण तैयार हो चुका था, जिसमें शान्ति को अधिक समय तक बनाये रखना संभव नहीं था।

प्रथम विश्व युद्ध 4 वर्ष, 3 माह और 11 दिन तक चला। विश्व के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व युद्ध था। इसमें 30 राज्यों के लगभग 6 करोड़ 50 लाख सैनिकों ने भाग लिया। इससे पूर्व विश्व के किसी भी युद्ध में इतनी संख्या में सैनिकों ने भाग नहीं लिया था। इस युद्ध में विजेता और पराजित दोनों पक्षों को इसकी कीमत चुकानी पड़ी। युद्धक्षेत्र में मारे जाने वाले सैनिकों की संख्या लगभग 80 लाख थी और लगभग दो करोड़ व्यक्ति घायल हुए। इसके अतिरिक्त उन लोगों की संख्या भी कम नहीं थी, जो शत्रु के दबाए हुए या घेरे हुए प्रदेशों में कष्ट सहन करने के कारण मर गये। सम्पत्ति के विनाश की द ष्टि से भी यह अभूतपूर्व था। कुल मिलाकर विभिन्न राष्ट्रों को 40,000 मिलियन पौण्ड का आर्थिक भार वहन करना पड़ा।

इस युद्ध में नवीनतम एवं विनाशकारी शस्त्रों का प्रयोग किया गया। टैंकों, हवाई जहाजों और पनडुब्बियों के द्वारा भयंकर विनाश किया गया, जिससे सामान्य नागरिक भी नहीं बच पाया।

राजनीतिक द ष्टि से भी इस विश्व युद्ध के परिणाम महत्त्वपूर्ण थे। इसके फलस्वरूप यूरोप के तीन प्राचीन राजवंश-आस्ट्रिया का हेप्सबर्ग, जर्मनी का होहेनजोलर्न और रूस का रोमेनाफ राजवंश समाप्त हो गये। इस प्रकार युद्ध के द्वारा निरंकुश राजतंत्र को समाप्त कर जनतंत्र की स्थापना को प्रोत्साहित किया गया।

युद्ध के आर्थिक और सामाजिक प्रभाव

आर्थिक प्रभाव

1. **आर्थिक विनाशः** इस युद्ध में 10 खरब रूपया प्रत्यक्ष रूप से खर्च हुआ और जान-माल की परोक्ष हानि का तो कोई अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। मार्च, 1915 ई० में इंग्लैण्ड का दैनिक खर्च औसतन 15 लाख पौण्ड था, जो बढ़कर 1915-16 ई० में 40 लाख, 1916-17 ई० में 55 लाख और 1917-18 में 65 लाख पौण्ड तक हो गया और उसका राष्ट्रीय ऋण भी, जो पहले सत्तर करोड़ आठ लाख पौण्ड था, अब सात अरब, ततालीस करोड़ पचास लाख पौण्ड हो गया। फ्रांस का राष्ट्रीय ऋण भी 34,182 मिलियन फ्रेंक से बढ़कर 147,472 मिलियन फ्रेंक हो गया। जर्मनी का राष्ट्रीय ऋण, जो पहले 5,000 मिलियन मार्क था, अब 160,600 मिलियन मार्क हो गया। इस प्रकार इस विशाल धनराशि को चार साल में दोनों पक्षों ने फूँक कर रख दिया। सन् 1918 में संयुक्त राज्य अमेरिका की सारी सम्पत्ति इससे अधिक कीमत नहीं रखती थी। ब्रिटिश साम्राज्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति की कीमत भी इस विशाल धनराशि से कम थी। इसमें एक तिहाई खर्च

जर्मनी और उसके साथियों का हुआ और दो तिहाई मित्र-राष्ट्रों का। महायुद्ध के आरंभ में औसतन दैनिक खर्च चालीस करोड़ रूपया था और 1918 ई० के बाद तो इस खर्च का औसत साढ़े तीन करोड़ रूपये प्रति घण्टे पड़ता था। अमेरिकन फेडरल रिजर्व बोर्ड ने अनुमान लगाया था कि सब लड़ने वाले राष्ट्रों का संयुक्त व्यय 31 मई, 1918 तक 35,000 मिलियन पौण्ड हो चुका था।

2. **युद्ध ऋण:** इस असाधारण खर्च के कारण संसार के सार्वजनिक ऋणों की मात्रा में भी असाधारण रूप से व द्धि हो गई। 1914 ई० में दोनों पक्षों के प्रमुख राज्यों का कुल सार्वजनिक ऋण आठ हजार करोड़ था, 1918 ई० में यह बढ़कर चालीस हजार करोड़ हो गया। सार्वजनिक ऋण की मात्रा में पाँच गुना व द्धि हो जाना यह सूचित करता है कि युद्ध में सम्मिलित राज्यों को किस प्रकार ऋण के बोझ से लद जाना आवश्यक हो गया था?

   इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों को सम्मति के विनाश के कारण कठिनाई भी उत्पन्न हुई। कुल मिलाकर तेरह हजार दो सौ करोड़ रूपयों की सम्पत्ति नष्ट हुई। इतने भारी धन-विनाश का प्रभाव यह हुआ कि वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगी, मजूदरी की दर भी ऊपर बढ़ने लगी, पैदावार बहुत कम रह गयी, मुद्रा की कीमत कम होने लगी और व्यापार-व्यवसाय के क्षेत्र में एक प्रकार की अव्यवस्था सी उत्पन्न हो गयी। विभिन्न देशों की सरकारों को अपना बजट बराबर करना कठिन हो गया। नये टैक्स लगाये गये और लोग सब तरह से आर्थिक संकट अनुभव करने लगे। मित्र-राष्ट्रों को युद्ध से होने वाले अपार खर्च के लिए संयुक्त राष्ट्र से भारी ऋण लेना पड़ा।

3. **व्यापार को क्षति:** अरबों रूपयों के विनाश से राष्ट्रों के व्यापार पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। अब प्रत्येक राष्ट्र यह प्रयत्न कर रहा था कि वह अन्य देशों से कम से कम माल खरीदे और उन्हें अधिक से अधिक माल बेचे। ऐसा करने के लिए सरकार ने तटकरों में भारी व द्धि की, जिसके कारण विश्व व्यापार और भी कम हो गया। युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान तथा कुछ लेटिन अमेरिकी देशों ने उन बाजारों में अपने पाँव जमा लिये, जो पहले ब्रिटेन और जर्मनी के हाथों में थे। 1925 ई० तक अमेरिका का विदेशी व्यापार युद्ध-पूर्व के स्तर की अपेक्षा दुगुना हो गया। युद्ध से पूर्व अमेरिका एक कर्जदार देश था, युद्ध के बाद वह संसार का प्रमुख कर्ज देने वाला राष्ट्र बन गया।

4. **मुद्रा प्रसार:** महायुद्ध में अरबों रूपया खर्च किया गया। यह राशि किसी उत्पादक कार्य में न लगाकर विनाश में लगायी गयी थी। युद्ध में न केवल धन पानी की तरह बहा था, बल्कि कल-कारखाने, रेलवे, जहाज व अन्य सम्पत्ति का भी विनाश हो गया था। इस स्थिति में सभी राज्य अपने अत्यन्त बढ़े हुए खर्चों को पूरा करने के लिए कर्ज लेने के लिए मजबूर थे। यह कर्ज चाहे देश के धनपतियों से लिया गया या विदेशों से। धन एकत्र करने के लिए करदाताओं पर और भी भारी करों का बोझ लादा जाने लगा। अपने ऋणों को चुकाने के लिए अनेक यूरोपीय राष्ट्रों ने विशाल मात्रा में कागजी मुद्रा जारी कर दी, जिससे कीमतों में भारी व द्धि हुई। कागजी मुद्रा का मूल्य बाजार में बहुत गिर गया। इस मुद्रा स्फीति ने बचतों को समाप्त कर दिया। यूरोप के प्रायः सभी देशों में एक प्रकार का आर्थिक संकट उपस्थित हो गया, जिसे दूर करने के लिए उन्हें अनेक उपाय सोचने पड़े।

5. **मजदूर आन्दोलन:** महायुद्ध के अवसर पर करोड़ों की संख्या में नवयुवकों के युद्ध में चले जाने के कारण श्रमिकों की कमी हो गई; लड़ाई में विजय के लिए जितनी आवश्यकता सैनिकों की थी, उतनी ही अस्त्र-शस्त्रों व अन्य युद्धोपयोगी सामग्री की भी थी। अतः मजदूरों की आवश्यकता बढ़ गई। परिणाम यह हुआ कि मजदूर श्रेणी में अपनी महत्ता की एक नई अनुभूति उत्पन्न हुई। अतः मजदूर अधिक वेतन और कार्य के कम घण्टों की माँग करने लगे, उन्होंने रहन-सहन में उन्नति, आराम के प्रबंध और व्यवसाय के संचालन में अधिकार प्राप्त करने की माँग आरम्भ कर दी। इन अधिकारों की पूर्ति के लिए अनेक श्रमिक संघों की स्थापना की गई और आंदोलनों का भी सहारा लिया गया। उन्होंने सरकार पर प्रभाव स्थापित करने के प्रयत्न भी आरंभ कर दिये। राजनीतिक क्षेत्र में मजदूर दलों की स्थापना हुई और धीरे-धीरे मजदूर श्रेणी का राज्य-शासन में महत्त्व बढ़ने लगा।

6. **राजकीय समाजवाद का विकास:** महायुद्ध के पहले ही साम्यवाद के विचार यूरोप के लोगों को प्रभावित करने लगे थे किंतु व्यवसाय और व्यापार का संचालन अभी व्यक्तियों के ही हाथों में था और प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा व साधनों के अनुसार जो काम चाहे कर सकता था। किंतु महायुद्ध के समय आवश्यकता से विवश हो अनेक राज्यों ने अनेक व्यवसायों का संचालन अपने हाथ में ले लिया क्योंकि युद्ध के समुचित संचालन के लिए प्रत्येक देश की सरकार ने आर्थिक जीवन पर अपना नियंत्रण स्थापित करना उचित समझा। युद्ध के समय उन सब उद्योग-धंधों और व्यवसायों को, जो

युद्ध के लिए आवश्यक थे, जैसे अस्त्र-शस्त्र निर्माण करने के कारखाने, कोयले और लोहे की खानें, रेल तथा मोटर के व्यवसायों को राज्य ने अपने अधिकार में ले लिया था। जिन उद्योग-धंधों पर सरकार ने अधिकार नहीं किया था, उन पर भी युद्ध की स्थिति के कारण नियंत्रण रखने की आवश्यकता थी, अतः सरकार ने इन पर अपना नियंत्रण स्थापित किया। इस प्रकार अनेक राज्यों में आर्थिक जीवन सरकार के अधिकार में आ गया और 'राजकीय समाजवाद' की स्वयंमेव स्थापना हो गई थी। युद्ध की समाप्ति पर साम्यवादी चाहते थे कि व्यवसायों पर अब भी राज्य का नियन्त्रण जारी रहे और उद्योगपतियों को यह अवसर न दिया जाए कि वे मनमाने तरीकों से आर्थिक सत्ता का उपयोग कर सकें, यद्यपि उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली और व्यवसाय फिर से पूँजीपतियों के हाथों में चले गये, पर राज्य का अनेक प्रकार से हस्तक्षेप जारी रहा और राजकीय समाजवाद के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। इसी हस्तक्षेप की परिपाटी पर रूस में साम्यवादियों को आर्थिक नियंत्रण में सफलता प्राप्त हुई और जर्मनी में कालान्तर में राष्ट्रीय समाजवादी पद्धति का और इटली में फासीवाद का विकास हुआ।

सामाजिक प्रभाव

1. **अल्पसंख्यकों की समस्या के समाधान का प्रयत्नः** पेरिस की शान्ति परिषद के सम्मुख यह समस्या विकट रूप से विद्यमान थी कि विदेशों में स्थायी रूप से निवास करने वाले इन अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा किस प्रकार की जाय। यह समस्या न केवल पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि नए राज्यों के संबंध में थी अपितु आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया और तुर्की में भी थी। यहाँ भी बहुत से ऐसे लोग स्थायी रूप से बस गये थे, जो राष्ट्रीयता की द ष्टि से उस देश के नागरिक नहीं थे। पेरिस की शान्ति-परिषद ने पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, यूनान, यूगोस्लाविया और तुर्की इस प्रकार की गारण्टी के विरूद्ध थे। इनका मानना था कि इससे केवल उनकी सम्पूर्ण प्रभुसत्ता में ही बाधा नहीं पड़ती बल्कि उनके राज्यों में विश्रंखलता भी उत्पन्न होती है। इन राज्यों की इच्छा यह थी कि अल्पसंख्यक जातियों को राष्ट्रीय द ष्टि से अपना अंग बनाया जाय परंतु ब्रिटेन तथा अमेरिका ने इस बात पर जोर दिया कि अल्पसंख्यक जातियों के हितों की पूर्ण रूप से रक्षा की जाय। इस विवाद के परिणामस्वरूप ही यह कार्य राष्ट्रसंघ को सौंपा गया। राष्ट्रसंघ ने इन राज्यों के साथ अलग-अलग सन्धियाँ की परंतु इससे अल्पसंख्यक जातियों की समस्या का कोई स्थायी समाधान नहीं हो सका और इन अल्पसंख्यकों में अपनी प थकता की भावना बनी रही।

2. **स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तनः** महायुद्ध में सैनिकों की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहने के कारण प्रत्येक युद्धरत राष्ट्रों के लाखों पुरूष अपने-अपने कार्य को छोड़कर युद्ध में चले गये और उनके स्थान पर कारखानों, दफ्तरों, दुकानों, उद्योग-धंधों आदि में पुरूषों का कार्य स्त्रियाँ करने लगी। यहाँ तक कि युद्ध क्षेत्र में भी उन्होंने घायल सैनिकों की सेवा का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस प्रकार वे अपनी ग हस्थी के संकुचित जीवन से निकलकर समाज के आर्थिक विकास के जीवन में जा पहँची और उन्होंने कठिन काम करके अपनी कार्य क्षमता का परिचय दिया। इससे उनमें आत्म-विश्वास बढ़ा और उन्हें समाज में अपने महत्त्व का भी ज्ञान हुआ तथा इससे उनमें राजनीतिक चेतना भी उत्पन्न हुई। अब स्त्रियों ने अपने राजनीतिक अधिकारों की भी माँग करना आरंभ कर दिया था। इसी के परिणामस्वरूप 1918 ई० में इंग्लैण्ड में जनता का प्रतिनिधि नियम पास हुआ, जिनके अनुसार 30 वर्ष से अधिक उम्र की महिलाओं को भी मताधिकार प्रदान किया गया। 1920 ई० में जर्मनी तथा 1917 ई० में रूस ने भी यह अधिकार स्त्रियों को प्रदान किया।

3. **नस्लों की समानताः** उन्नीसवीं शताब्दी की समाप्ति तक यूरोप के लोगों में अपने वर्ण और नस्ल की उत्क ष्टता की भावना बहुत प्रबल थी, ये लोग एशिया और अफ्रीका के काले, भूरे, पीले रंग के लोगों को अपने से हीन समझते थे परंतु युद्ध की आवश्यकता से विवश होकर भारत, जापान और अफ्रीका के सैनिकों को भी यूरोप भेजा गया था, जहाँ उन्होंने युद्ध में गोरे सैनिकों के समान ही शौर्य दिखलाया, अतः यूरोपीय नस्लों की उत्क ष्टता का विचार निराधार साबित हुआ। सब नस्लें एक समान हैं, कोई उत्क ष्ट या हीन नहीं हैं, इस विचार द्वारा विश्व में अन्तर्राष्ट्रीयता तथा सुख-शान्ति की व द्धि में सहायता मिली।

4. **धार्मिक सर्वोच्चता का भ्रमः** बहुत से लोगों के मन और हृदय पर प्रथम विश्व-युद्ध का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। लोगों का यह विश्वास था कि केवल गंभीरता धार्मिक भावना ही युद्ध की विभीषिका को रोक सकती है किंतु युद्ध की घटनाओं ने उनके इस विश्वास को तोड़ दिया था। युद्ध के समय में दोनों पक्षों के चर्च अपने-अपने राज्य के पक्ष को न्यायसंगत व धर्मानुकूल बताते थे और ईश्वर से प्रार्थना करते थे कि उनके पक्ष की विजय हो। फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया-सब ईसाई

धर्म के अनुयायी थे। सबका ईश्वर एक, एक धर्म-पुस्तक और एक धार्मिक सिद्धान्त थे। इन देशों के पादरियों ने दुःखी मानव जाति की समान सेवा करने के उद्देश्यों को छोड़, राजभक्ति से अभिभूत होकर सरकार के अच्छे-बुरे सब कार्यों का समर्थन करना आरंभ कर दिया और जनता को यह भी कहना आरंभ कर दिया कि युद्ध में अपने राज्य का पूर्णरूप से समर्थन करना, उनका सबसे बड़ा धार्मिक कर्त्तव्य है। ईसाई धर्म के नाम पर यही बातें दोनों पक्षों के पादरी कहा करते थे। धर्म और ईश्वर का यह कैसा वीभत्स उपहास था? विज्ञान की उन्नति के कारण पहले ही ईसाई धर्म के संबंध में एक प्रकार की संदेह की भावना लोगों के मन में पैदा हो गई थी। युद्ध के समय में यह प्रव त्ति और बढ़ गई। अब यूरोप में एक प्रकार की नास्तिकता की भावना जोर पकड़ने लगी थी।

5. **शिक्षा एवं विज्ञान की हानिः** महायुद्ध के कारण शिक्षा के क्षेत्र में बहुत हानि पहुँची। उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले नवयुवक अनिवार्य सैनिक सेवा के कारण बड़ी संख्या में युद्ध क्षेत्र में चले गये थे। बहुत से अध्यापकों को अपनी पुस्तकें छोड़कर बन्दूकें हाथ में लेनी पड़ी। शिक्षा के व्यय में कमी की गई, फलस्वरूप कई विश्वविद्यालय तथा कॉलेज बन्द करने पड़े। बहुत से विद्वान तथा वैज्ञानिक युद्ध में मारे गये। परंतु इस क्षति का एक लाभ यह भी हुआ कि युद्ध के बाद वैज्ञानिकों ने अपनी सारी ताकत नये-नये आविष्कारों में लगा दी। विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में इस समय नये आविष्कार हुए और इससे मानव समाज प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ा।

6. **विश्व-संस्थाओं का विकासः** प्रथम विश्व युद्ध से उत्पन्न सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए कई विश्व-संस्थाओं की स्थापना की गई। मादक वस्तुओं के व्यापार को रोकने का प्रबन्ध किया गया, श्रमिकों के कल्याण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ तथा कानूनी प्रश्नों के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और राजनीतिक समस्याओं के समाधान हेतु राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई। इससे अन्तर्राष्ट्रीय की भावना का विकास हुआ।

इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के कारण विश्व की आर्थिक और सामाजिक अवस्था पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और आने वाले कई वर्षों तक इसकी क्षतिपूर्ति न हो सकी।

अध्याय-11
शान्ति समझौते तथा उनके दीर्घकालीन परिणाम

पेरिस का शान्ति-सम्मेलन-1919

4 वर्ष 3 माह तथा 11 दिन के भयंकर संघर्ष के बाद 11 नवम्बर, 1918 को युद्ध विराम संधि पर जर्मनी के प्रतिनिधियों तथा मित्र राष्ट्रों की सेना के सेनापति मार्शल फोच के हस्ताक्षर हुए। दिन के ग्यारह बजे युद्ध बंद करने की घोषणा की गई। युद्ध विराम सन्धि के पश्चात् विजयी राज्यों ने पराजित राज्यों के साथ स्थायी समझौते करने, राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर राज्यों की सीमा निर्धारण करने, विजयी राज्यों को क्षतिपूर्ति दिलाने तथा स्थायी शान्ति स्थापित करने के उपायों पर निर्णय करने के लिए पेरिस में शान्ति-सम्मेलन आमंत्रित किया गया। महायुद्ध में फ्रांस ने जिस वीरता एवं साहस का परिचय दिया, उसको ध्यान में रखकर पेरिस को ही इस महत्त्वपूर्ण सम्मेलन का केन्द्र चुना गया। पेरिस को शान्ति-सम्मेलन के लिए चुनने के कई अन्य कारण भी थे-विराम संधि के लिए वार्ताएँ पेरिस में ही की गयी थी, सर्वोच्च युद्ध परिषद के कई कार्यालय पेरिस में ही स्थित थे तथा पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लावाकिया आदि देशों की निर्वासित सरकारें भी पेरिस में ही थी। इन सब बातों के होते हुए भी पेरिस का चुनाव एक भयंकर भूल थी। इस सम्मेलन पर फ्रांस के लोगों की बदले की भावना की छाया प्रतिनिधियों के निर्णय पर पड़ी। डॉ. लेंगसम का तो यहाँ तक कहना है कि "पेरिस की जनता बदले की भावना से पागल थी और जनता के इस पागलपन से कूटनीतिज्ञों को लकवा मार गया था।"

प्रमुख राज्य और उनके प्रतिनिधि: शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने के लिए लगभग 32 राज्यों को आमंत्रित किया गया था। इसमें रूस तथा पराजित राष्ट्रों अर्थात् जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की, बल्गेरिया को आमंत्रित नहीं किया गया। विभिन्न राष्ट्रों के लगभग 70 प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हुए। इनके अतिरिक्त सैंकड़ों की संख्या में अन्य लोग भी पेरिस पहुँचे थे, जिनमें मंत्री, कूटनीतिज्ञ, राजनेता, कानून और आर्थिक विशेषज्ञ, सैनिक, पूँजीपति, पत्र-प्रतिनिधि, मजदूरों के नेता, संसदीय सदस्य और प्रमुख नागरिक सम्मिलित थे। यद्यपि इस सम्मेलन में वियना कांग्रेस के समान बड़े सम्राटों के जैसी चमक-दमक तो नहीं थी, फिर भी वियना की जो दशा थी, वही अब पेरिस की थी। इसमें अमेरिका के राष्ट्रपति के अतिरिक्त 11 देशों के प्रधानमंत्री, 12 विदेशमंत्री तथा कई अन्य राज्यों के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ सम्मिलित हुए थे किंतु यथार्थ में 'चार बड़े' राज्यों अर्थात् अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा इटली को ही प्रसिद्ध स्थान प्राप्त हुआ। जापान को भी प्रतिष्ठित स्थान दिया गया था किंतु उसके प्रतिनिधि मण्डल का मुख्य उद्देश्य शान्तुंग का प्रदेश प्राप्त करना था, अतः उसने अन्य मामलों में अधिक रूचि नहीं ली।

जनवरी 18, 1919 को सम्मेलन के प्रथम पूर्ण अधिवेशन का उद्घाटन फ्रांस के राष्ट्रपति पोइनकारे द्वारा किया गया। अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने कहा था-"आज से 48 वर्ष पहले 18 जनवरी, 1871 को वर्साय के राजप्रासाद में एक आक्रमणकारी सेना ने जर्मन साम्राज्य की घोषणा की थी और फ्रांस के दो प्रांतों पर बलात् अधिकार कर लिया था। इस प्रकार इस साम्राज्य का जन्म अन्याय में हुआ था और अब उसका अन्त भी लज्जाजनक कालिमा में हुआ है। आप सब यहाँ इस कारण एकत्र हुए हैं कि फ्रांस के साथ जो अन्याय हुआ था, उसका प्रतिकार करें और उसकी पुनराव त्ति न होने दें। विश्व का भविष्य आपके हाथों में है। तत्पश्चात् कलीमेंशू को सर्वसम्मति से सम्मेलन का सभापति बनाया गया।

सर्वोच्च शान्ति-परिषद्

पेरिस के इस विशाल सम्मेलन में महत्त्वपूर्ण काम का होना व्यावहारिक द ष्टि से असंभव था। अतः सम्मेलन की कार्यवाही को चलाने के लिए दस व्यक्तियों की एक 'सर्वोच्च शान्ति परिषद्' बनायी गयी। इस परिषद् में तत्कालीन महान राष्ट्रों-अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन, जापान और इटली के दो-दो प्रतिनिधि थे। इसे 'दस की परिषद्' भी कहा गया है। इस परिषद् में फ्रांस के क्लीमेंशू

और मार्शल फोच, ब्रिटेन के लायड जार्ज तथा वाल्फोर, अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन तथा विदेशमंत्री लासिंग, इटली के ओरलैण्डो और सोन्निनो तथा जापान के किमोशी सायोन्जी और नोबैकी मेकिनो सम्मिलित थे। इस परिषद् की बैठकें दिन में दो बार होती थी। आवश्यकता पड़ने पर इसमें सलाहकारों तथा विशेषज्ञों को भी बुला लिया जाता था। परंतु कालान्तर में यह दस बड़ों की परिषद् भी बड़ी प्रतीत हुई और वार्ता को गुप्त रखना कठिन हो गया। फलतः 'चार बड़ों' की परिषद् का निर्माण किया गया।

'चार बड़ों' की परिषद्

'चार बड़ों' की परिषद् का गठन मार्च, 1919 में किया गया। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा इटली के प्रतिनिधि थे। जापान को 'चार बड़ों' की समिति में स्थान नहीं दिया गया। ये चारों व्यक्ति थे-अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन, इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री लायड जार्ज, फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लीमेंशू तथा इटली के प्रधानमंत्री ओरलैण्डो। बाद में ओरलैण्डो इस सम्मेलन को छोड़ गया और तब 'चार बड़ों' का स्थान 'तीन बड़ों' ने ले लिया। ओरलैण्डो द्वारा इस सम्मेलन को छोड़ने का कारण यह था कि इटली ने एड्रियाटिक के बन्दरगाह की फ्यूम की माँग की थी किंतु विल्सन ने इस समझौते से इंकार कर दिया था। क्योंकि इस प्रकार के कार्य से आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का उल्लंघन होता था।

इस मुख्य समिति के अतिरिक्त संधि से संबंधित विभिन्न आवश्यक विषयों की छानबीन करने तथा उनके संबंध में प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए लगभग 58 आयोग एवं समितियाँ गठित की गयी। इसमें राष्ट्र संघ सम्बन्धी आयोग, क्षतिपूर्ति सम्बन्धी आयोग आदि महत्त्वपूर्ण थे।

सम्मेलन की समस्त समस्याओं का अन्तिम समाधान 'तीन बड़े' व्यक्तियों के हाथ में था। अब शान्ति-सम्मेलन की सारी जिम्मेदारी और संसार के भाग्य का फैसला पूरी तरह से इन्हीं महापुरूषों के हाथों में था। ये तीनों व्यक्ति अपने आदर्श विचारों तथा स्वार्थों की द ष्टि से अलग-अलग विचार तथा प्रभाव रखते थे। अतः इनके विचारों को जान लेना भी यहाँ आवश्यक है-

1. **वुडरो विल्सनः** राष्ट्रपति विल्सन स्वयं अमेरिका के प्रतिनिधिमण्डल का नेत त्व कर रहा था। वह आदर्श शान्ति की स्थापना के लिए यूरोप आया था। अमेरिका ने मित्र राष्ट्रों की विजय में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था, अतः शान्ति-सम्मेलन में उसको प्रमुख स्थान मिलना स्वाभाविक था। वह सच्चे हृदय से स्थायी शान्ति स्थापित करना चाहता था। उसके सामने केवल दो उद्देश्य थे-राष्ट्रसंघ की स्थापना और आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की मान्यता। वस्तुतः वह जनता की इच्छाओं के अनुसार सीमा निर्धारित करना चाहता था, युद्ध को समाप्त कर अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना करना चाहता था, इसी उद्देश्य को सामने रखकर उसने 'चौदह सूत्रों' में आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को स्थान दिया था। एक अवसर पर उसने कहा था कि "हम प्रत्येक देश के साथ ऐसा न्याय करना चाहते हैं, जिसमें विजयी और पराजित के बीच किसी प्रकार का पक्षपात करने का आभास न मिले।" किंतु विल्सन कूटनीति के क्षेत्र में अनुभवहीन था। डेविड थामसन ने उसके बारे में लिखा है-"विल्सन एक आदर्शवादी था, जिसकी द ष्टि मुख्यतः पूर्ण न्याय, लोकतंत्र व राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों तथा राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा पर थी।" वास्तव में उसके विचार आदर्शवादी थे। युद्ध पीड़ित विश्व में वह शान्ति के अग्रदूत का काम कर रहा था किंतु इन गुणों के साथ-साथ उसके चरित्र में कुछ दोष भी थे, जैसे वह दूसरों की बात सुनना पसंद नहीं करता था, यूरोप की राजनीति का उसको बहुत कम ज्ञान था, फिर भी वह विशेषज्ञों की राय लेना पसंद नहीं करता था। उसके आदर्शवादी सिद्धान्त लायड जार्ज और क्लीमेन्शू की कूटनीतिक चालों के सामने नहीं ठहर सके। इन कमियों के होते हुए भी समस्त संसार में उस समय वही एक ऐसा व्यक्ति था, जिस पर सभी लोगों की निगाहें टिकी हुई थी। विजित और विजेता सभी उससे आशा रखते थे। मानवता के प्रणेता के रूप में वह जहाँ भी गया, उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। लायड जार्ज ने लिखा है कि-"प्राचीन रोमन साम्राज्य की समाप्ति के बाद यूरोप में विल्सन जैसा शानदार स्वागत किसी दूसरे राजनेता का अभी तक नहीं हुआ था।" किंतु शान्ति के इस मसीहा को अपने देश अमेरिका की जनता का समर्थन प्राप्त नहीं था। नवम्बर, 1918 में जब अमेरिकी-कांग्रेस का चुनाव हुआ, तो उसमें विल्सन की डेमोक्रेटिक पार्टी को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। लायड जार्ज और क्लीमेन्शू उसकी इस कमजोरी को समझते थे और उन्होंने इससे लाभ भी उठाया।
2. **क्लीमेंशूः** यह फ्रांस का प्रधानमंत्री था। अपने दीर्घकालीन अनुभव तथा कूटनीतिक योग्यता के कारण क्लीमेंशू न केवल फ्रांस का अपितु सम्पूर्ण सम्मेलन का सबसे प्रभावशाली नेता था। उसने युद्ध के समय द ढ़ता के साथ शत्रुओं का सामना

किया तथा अन्त में फ्रांस का 'बूढ़ा शेर' कहलाया था। उसने सन् 1870 में अपनी आँखों से जर्मनी द्वारा फ्रांस का भारी पराभव देखा था, अतः उसके हृदय में जर्मनी से बदला लेने भारी आकांक्षा थी। आदर्शवाद से उसको घ णा थी। वह विल्सन के चौदह सिद्धान्तों में अपने को बँधा हुआ नहीं समझता था। कहा जाता है कि इस चिड़चिड़े अठहत्तर वर्षीय क्लीमेंशू ने विल्सन की खिल्ली उड़ाते हुए कहा था, परमात्मा ने 'दस आदेश' काफी समझे, पर विल्सन को चौदह की आवश्यकता पड़ी। क्लीमेंशू प्रतिशोध चाहता था, वह जर्मनी को इतना कुचल देना चाहता था कि जर्मनी के लिए तीसरी बार फ्रांस पर आक्रमण करना संभव न हो सके। स्वयं अमेरिका के विदेशमंत्री लासिंग ने लिखा था-"वह शान्ति-सम्मेलन पर छाया रहता था। उसमें महान नेताओं के सभी आवश्यक गुण थे।"

3. **लायड जार्ज:** यह ब्रिटेन का प्रधानमंत्री था तथा लिबरल दल का नेता था। 1918 ई० का आम चुनाव लायड जार्ज ने प्रतिशोध की भावना का प्रचार करके ही जीता था। वह तीक्ष्ण बुद्धि वाला एवं दूसरे व्यक्तियों के चरित्र एवं उनकी दुर्बलता को सरलता से समझने वाला क्रियाशील व्यक्ति था। वह विल्सन के चौदह सूत्रों में से कुछ को मानने को तैयार था। परन्तु वह यह भी नहीं चाहता था कि इनमें से कोई भी बात ब्रिटिश हितों के मार्ग में बाधा बने। शान्ति-सम्मेलन के इस महान कूटनीतिज्ञ के सामने तीन प्रमुख उद्देश्य थे-प्रथम, वह जर्मनी का एक नाविक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सर्वनाश कर देना चाहता था; द्वितीय, वह फ्रांस को इतना शक्तिशाली नहीं बनने देना चाहता था कि यूरोप का शक्ति संतुलन बिगड़ जाय और त तीय, वह ब्रिटेन के लिए लूट के माल में अधिकाधिक हिस्सा प्राप्त करना चाहता था। लायड जार्ज ने इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति में पर्याप्त सहायता प्राप्त की। इसी कारण लैंगसेम ने लिखा है-"लायड जार्ज पेरिस शान्ति-सम्मेलन में सर्वाधिक रोचक व्यक्ति था।"

4. **ओरलैण्डो:** इटली के प्रतिनिधि मण्डल का नेता प्रधानमंत्री ओरलैण्डो था। वह विद्वान होने के साथ-साथ अच्छा वक्ता एवं कुशल कुटनीतिज्ञ भी था किन्तु उसने युद्ध काल में की गई गुप्त संधियों के अनुसार दिये गये वचनों को पूरा करने की माँग पर अड़कर विल्सन को अप्रसन्न कर दिया और अन्ततः कुछ समय पश्चात् वह सम्मेलन छोड़कर चला गया।

विल्सन के 'चौदह सूत्रों' को लागू करने में सबसे बड़ी अड़चन वे गुप्त सन्धियाँ थीं, जो युद्ध के दिनों में मित्र राष्ट्रों ने एक दूसरे के साथ की थी। यह तय हो गया था कि यदि मित्र राष्ट्र जीत गये, तो अल्सास-लारेन तथा राइन नदी के उत्तरी किनारे का नियंत्रण फ्रांस को मिल गया। ब्रिटेन को जर्मनी के अफ्रीकी उपनिवेश मिलने थे और भूमध्यसागर के पूर्व में स्थित तुर्की के प्रदेशों में उसे रूस, फ्रांस और इटली के साथ हिस्सा मिलना था। रूस से वायदा किया गया था कि डार्डेनल्स और कुस्तुन्तुनिया उसे दे दिये जायेंगे। इटली का पुरस्कार इटालवी इरेडेन्ट और एड्रियाटिक सागर का अधिकांश पूर्वी तट होना था। जापान को शान्तुंग में जर्मनी के अनुज्ञात भूखण्ड (कन्सैशन) और प्रशान्त महासागर में स्थित जर्मनी के द्वीपों में से कुछ मिल जाने थे। जिन देशों ने ये सौदे किये थे, उनके प्रतिनिधि यह देखने के लिए इस सम्मेलन में उपस्थित थे कि ये वादे पूरे हो जायें। इस प्रकार विल्सन के स्वप्नों की साम्राज्यवाद की वास्तविकताओं से सीधी टक्कर हो रही थी।

विल्सन सम्मेलन में गुप्त निर्णयों तथा गुप्त समझौतों का विरोधी था। किंतु 'तीन बड़ों' के सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय गुप्त रूप से किये गये। सम्मेलन की एक बड़ी समस्या विल्सन के चौदह सूत्र थे। वे केवल आदर्शवाद पर आधारित थे, उन पर न्यायपूर्ण सन्धि नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त लायड जार्ज, क्लीमेंशू और ओरलैण्डो के बीच मतैक्य नहीं था। क्लीमेंशू जर्मनी पर अधिक से अधिक कठोर संधि की शर्तों को थोपना चाहता था, जिससे कि वह भविष्य में कभी भी फ्रांस को चुनौती नहीं दे सके। लायड जार्ज जर्मनी के प्रति बहुत अधिक कठोरता के पक्ष में नहीं था। ओरलैण्डो की रूचि इटली के लिये फ्यूम प्राप्त कराने में अधिक थी। संधि का निर्माण करते समय 'तीन बड़ों' को रूस की घटनाओं का भी हमेशा ध्यान रखना पड़ता था क्योंकि 1919 में रूस के साम्यवाद के प्रसार का भय बढ़ता जा रहा था। इसी भय के कारण वे फिनलैण्ड से लेकर पोलैण्ड और रूमानिया तक के पूर्वी राज्यों को बड़ा और शक्तिशाली बनाने का विचार करने लगे।

विल्सन के चौदह सूत्र

अमेरिका का राष्ट्रपति विल्सन आदर्शवादी राजनीतिज्ञ था। वह एक न्याययुक्त तथा चिरस्थायी शान्ति-सन्धि चाहता था। अमेरिकन कांग्रेस के समक्ष भाषण देते हुए उसने 8 जनवरी, 1918 को चौदह सूत्री कार्यक्रम रखा। कई बार उसने इस बात पर बल दिया कि इसी कार्यक्रम को लक्ष्य बनाकर महान युद्ध लड़ा गया था। इन सूत्रों की हजारों प्रतिलिपियाँ युद्ध के समय जर्मन इलाकों में फेंकी गई परंतु सरकारी तौर पर इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा इटली ने इन चौदह सूत्रों को अपनी मंजूरी नहीं दी थी।

इसलिए सन्धिवार्ता के समय विल्सन तथा मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों में कई मतभेद पैदा हुए। यहाँ तक कि एक-दो बार विल्सन ने सम्मेलन से चले जाने की धमकी भी दी। विल्सन ने इटली को फ्यूम का प्रदेश देने से साफ इंकार कर दिया था और इस पर इटली के प्रतिनिधि ओरलैण्डो तथा सोत्रिनो नाराज होकर सम्मेलन से चले गये थे। विल्सन तथा जर्मनी के प्रतिनिधियों का कहना था कि सन्धियों का मुख्य आधार युद्ध काल में विल्सन द्वारा प्रतिपादित चौदह सिद्धान्त हों। विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए विल्सन बराबर अपने चौदह सिद्धान्तों पर जोर दे रहा था। उसके ये चौदह सिद्धान्त निम्न प्रकार थे-

1. गुप्त कूटनीति का परित्याग कर दिया जाय और संधियाँ खुले रूप में की जायें।
2. समुद्रतटीय भागों को छोड़कर युद्ध अथवा शान्तिकाल दोनों अवस्थाओं में ही समुद्रों में जहाज चलाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संबंध में सभी आर्थिक प्रतिबंध समाप्त कर दिये जायें और सभी राज्यों को व्यापार करने के लिए समान अवसर प्राप्त हों।
4. सभी राज्य केवल उतने ही अस्त्र-शस्त्र रखने का आश्वासन दें, जितने उनकी आन्तरिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए आवश्यक हो।
5. उपनिवेशों के दावों का स्वतंत्र तथा निष्पक्ष रूप से निपटारा किया जाय। केवल उपनिवेशीय शक्तियों के दावों का ध्यान ही नहीं अपितु शासित प्रजा की भावनाओं और उनके हितों का भी ध्यान रखा जाय।
6. रूस की भूमि से सेनाएँ हटा ली जाये तथा उसे अपने भविष्य का कार्यक्रम निश्चित करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी जाय।
7. बेल्जियम से जर्मन सेनाएँ हटा ली जाय और उसको पुनः सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य बनने का अवसर दिया जाय।
8. फ्रांस के सब प्रदेशों को स्वतंत्र कर दिया जाय। अल्सास एवं लारेन फ्रांस को लौटा कर फ्रांसीसी क्षेत्र से जर्मन सेनाएँ हटा ली जाय।
9. राष्ट्रीयता के आधार पर इटली की सीमाएँ निश्चित की जाय।
10. आस्ट्रिया-हंगरी की जनता को पूर्ण स्वायत्त-शासन स्थापित करने का अवसर दिया जाय।
11. रूमानिया, सर्बिया तथा मान्टीनीग्रो को खाली कर दिया जाय तथा सर्बिया को समुद्र तट तक पहुँचने की स्वतंत्रता प्रदान की जाय।
12. तुर्की के साम्राज्य में रहने वाली अन्य जातियों को अपनी सुरक्षा का पूर्ण आश्वासन मिले तथा डार्डेनलीज के जलडमरूमध्य का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय ताकि सभी देशों के जहाजों को यातायात एवं व्यापार की स्वतंत्रता प्राप्त हो सके।
13. पोलैण्ड को एक स्वतंत्र राज्य के रूप में स्थापित किया जाय, जिसमें वे सभी क्षेत्र सम्मिलित किये जाय, जिनमें पोल जाति के लोग निवास करते हैं। पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने के लिए एक स्वतंत्र मार्ग दिया जाय तथा उसकी राजनीतिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता और प्रादेशिक अखण्डता की गारण्टी दी जाय।
14. विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना की जाय, जिसमें विश्व के छोटे तथा बड़े राष्ट्रों को स्थान दिया जाय और उनकी राजनीतिक स्वतंत्रता तथा प्रादेशिक अखण्डता को सुरक्षित रखने का आश्वासन दिया जाय।

इन चौदह सिद्धान्तों के अतिरिक्त राष्ट्रपति विल्सन ने 11 फरवरी, 1918 को 'चार सिद्धान्त' की, 4 जुलाई, 1918 को 'चार लक्ष्यों' की और 27 सितम्बर, 1918 को न्यूयार्क में शान्ति सम्बन्धी "पाँच विशिष्ट बातों" की घोषणा की थी। इस प्रकार विल्सन के शान्ति अभियान में कुल मिलाकर 27 सिद्धान्तों का समावेश किया गया, जिसमें से कुछ परस्पर विरोधी भी थे।

पेरिस का शान्ति समझौता

पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में अनेक सन्धियों और समझौतों के प्रारूप तैयार किये गये किंतु उन सभी सन्धियों में से जर्मनी के साथ की गयी वर्साय की सन्धि सबसे महत्त्वपूर्ण थी। पेरिस-सम्मेलन में पाँच पराजित देश थे, उनके साथ पाँच अलग-अलग सन्धियाँ की गई थी। ये सभी सन्धियाँ पेरिस की शान्ति-सन्धियाँ कही जाती है। ये सन्धियाँ इस प्रकार है-

1. जर्मनी के साथ वर्साय की सन्धि (28 जून, 1919),
2. आस्ट्रिया के साथ सेंट जर्मन की सन्धि (10 सितम्बर, 1919),
3. बल्गेरिया के साथ न्यूइली की सन्धि (27 नवम्बर, 1919),
4. हंगरी के साथ ट्रियनों की सन्धि (4 जून, 1920) और
5. तुर्की के साथ सेव्रे की सन्धि (10 अगस्त, 1920)।

इन सन्धियों में वर्साय की सन्धि महत्त्वपूर्ण थी। इस प्रकार पेरिस के शान्ति-सम्मेलन ने विभिन्न सन्धियों द्वारा शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया। लेकिन यूरोप की राजनीति के इस वातावरण में राष्ट्रीय विद्वेष की अग्नि सुलगती रही थी, परिणामस्वरूप संसार को दूसरे महायुद्ध का मुख भी देखना पड़ा।

वर्साई की सन्धि

जर्मनी के साथ संधि करते हुए मित्र राष्ट्रों को जिन बाधाओं और समस्याओं का हल ढूँढना था, उनमें मुख्य थीं-

1. ऐसी व्यवस्था करना जिससे भविष्य में युद्ध की संभावना दूर हो सके। विभिन्न राज्यों की समस्याओं के समाधान के लिए युद्ध से बेहतर कोई सम्यक् विकल्प होना चाहिए। संसार के राजनीतिज्ञ यह अनुभव करने लगे थे कि विश्व में शान्ति बनाये रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की जरूरत है। वे एक ऐसी व्यवस्था कायम करना चाहते थे, जिसके द्वारा राज्यों के आपसी विवाद पारस्परिक सहमति के आधार पर शान्तिपूर्ण तरीके से निपटाये जा सकें तथा अन्तर्राष्ट्रीय की प्रव त्ति विकसित हो।
2. फ्रांस की सुरक्षा का प्रश्न शान्ति परिषद के सामने एक प्रमुख मुद्दा था। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी ने फ्रांस को दो बार पदाक्रान्त किया था। 1870 ई. के युद्ध में जर्मन सेनाएँ जिस प्रकार पेरिस पर अधिकार करने में सफल हुई थीं, उसके कारण फ्रांस के नेता इस बात के लिए बहुत उत्सुक थे कि शान्ति परिषद के द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए, जिससे जर्मनी भविष्य में फिर कभी इतना शक्तिशाली न हो सके कि वह फ्रांस के लिए खतरे का कारण बने। अपनी रक्षा के लिए फ्रांस के राजनीतिज्ञ यह समझते थे कि राइन नदी के पश्चिम के प्रदेश को जर्मनी से प थक् करके ऐसे राज्य के रूप में बदल दिया जाय, जो राजनीतिक रूप से फ्रांस के प्रभाव रहे।
3. जर्मनी के विशाल भू-भागों से नवनिर्मित राष्ट्र अपनी क्षुधा की पूर्ति राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को आधार बनाकर करना चाहते थे। पेरिस के शान्ति-सम्मेलन के कर्णधारों को यह देखना था कि उन्हें कैसे संतुष्ट किया जाये। अल्सास-लॉरेन के खोये हुए प्रदेशों को फ्रांस जर्मनी से पुनः प्राप्त करना चाहता था। पोलैण्ड अनेक ऐसे जर्मन प्रदेशों को अपने राज्य के अंतर्गत लाना चाहता था, जिनमें पोल जाति के लोग जर्मनी के साथ बड़ी संख्या में निवास करते थे। 1914 ई० तक पोलैण्ड जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस में बँटा हुआ था। उसके विविध प्रदेश जर्मनी एवं आस्ट्रिया के अधीन थे। अतः बड़ी संख्या में जर्मन लोग इन प्रदेशों में आबाद हो गये थे। पोलैण्ड इन पोल बाहुल्य प्रदेशों को पाने को उत्सुक था। इसी प्रकार चेकोस्लोवाकिया भी ऐसे प्रदेशों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था, जिनके निवासी राष्ट्रीयता की द ष्टि से एक नहीं थे और जिनमें स्लाव लोगों के अतिरिक्त जर्मन बड़ी संख्या में आबाद थे।
4. अफ्रीका और एशिया में फैले विभिन्न जर्मन उपनिवेशों, जिन पर युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों ने अधिकार कर लिया था, के संबंध में क्या व्यवस्था की जाय? इन प्रश्न का समाधान आसान नहीं था।
5. मित्र राष्ट्र ऐसी व्यवस्था करना चाहते थे कि जर्मनी फिर कभी इतना शक्तिशाली न हो कि यूरोप की शान्ति भंग कर सके। उसके लिए उन्होंने जर्मनी की सामरिक शक्ति को कम करना अपरिहार्य माना। अतः उसकी सैनिक शक्ति को सीमित करने के तरीके शान्ति परिषद को ढूँढ़ने थे।
6. मित्र राष्ट्रों ने महायुद्ध का सम्पूर्ण दायित्व जर्मनी और उसके साथियों का माना। अतः वे यह भी आवश्यक समझते थे कि इन देशों से युद्ध की क्षतिपूर्ति करायी जाय। परन्तु उस क्षतिपूर्ति की राशि का निर्धारण और वसूल करने के ढंग का निर्णय करना काफी कठिन था।

सन्धि का प्रारूप एवं उस पर हस्ताक्षरः विभिन्न पक्षों पर कभी गोपनीय और कभी खुली बैठकों में लगभग चार महीने तक लम्बा वाद-विवाद चलता रहा और अन्त में 6 मई, 1919 को संधि का अन्तिम मसविदा तैयार हुआ। 230 प ष्ठों का छपा हुआ यह संधिपत्र 15 भागों में विभाजित था, जिसमें 439 धाराएँ थी। इसके प्रथम भाग में राष्ट्रसंघ की स्थापना, संगठन एवं कार्यों का उल्लेख किया गया था।

संधि की शर्तों का प्रारूप 7 मई, 1919 को जर्मन प्रतिनिधियों को सौंप दिया गया। जर्मन प्रतिनिधि मण्डल को संधि के तैयार प्रारूप को देखकर बड़ी निराशा हुई क्योंकि वे इस विश्वास के साथ विशेषज्ञों को लेकर आये थे कि संधि की शर्तें मित्र राष्ट्रों के साथ आमने-सामने की बातचीत के द्वारा तय होंगी। जर्मन प्रतिनिधियों से कहा गया कि वे तीन सप्ताहों के भीतर संधि-प्रस्तावों पर अपना लिखित वक्तव्य दे दें, इस विषय में कोई मौखिक वार्तालाप नहीं होगा। वास्तव में संधि की शर्तों के प्रकाशित होने के बाद जर्मनी स्तब्ध रह गया। जर्मनी ने मित्र राष्ट्रों की विश्वासघात और धोखा देने के लिए निंदा की। जर्मनी के तत्कालीन प्रधानमंत्री शीडमेन ने जर्मन राष्ट्रीय सभा में बोलते हुए कहा था, "मेरे विचार में कोई भी ईमानदार व्यक्ति इस प्रकार की शर्तों को स्वीकार नहीं कर सकता।" शिकायत यह थी कि उसने जिन शर्तों पर आत्म-समर्पण किया था, प्रस्तावित संधि उन शर्तों के अनुरूप न थी। निशस्त्रीकरण की शर्तें न केवल जर्मनी पर बल्कि समस्त राष्ट्रों पर लागू की जानी चाहिए थी। जर्मनी के ज्ञापन में संधि-पत्र की उस धारा को निकालने की बात कही गयी थी, जिसके अनुसार युद्ध शुरू करने का उत्तरदायित्व जर्मनी पर डाला गया था।

मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी के विरोध-पत्र पर विचार करने के बाद संधि की शर्तों में सामान्य परिवर्तन किये और संशोधित-संधि पत्र जर्मनी को भेज दिया गया और पाँच दिन का समय देते हुए कहा कि यदि उसने इस अवधि में उसे स्वीकार नहीं किया, तो उस पर पुनः आक्रमण कर दिया जायेगा। इस कार्य ने आग में घी का काम किया और जर्मनी में चारों ओर क्षोभ की लहर फैल गयी। संधि की शर्तें इतनी कठोर थी कि इसे स्वीकार करने की अपेक्षा जर्मनी के बहुत से नागरिक मित्र राष्ट्रों के विरूद्ध लड़ते हुए नष्ट हो जाना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। किंतु महासेनापति हिन्डनबर्ग ने स्पष्ट कह दिया कि मित्र राष्ट्रों के विरूद्ध लड़कर जीतना असंभव है। प्रधानमंत्री शीडमेन ने संधि को अस्वीकार करते हुए त्याग-पत्र दे दिया। अन्त में नवगठित सरकार ने, जिसमें गुस्टावबौर प्रधानमंत्री तथा मूलर विदेशमंत्री थे, संधि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार कर लिया। जर्मन प्रतिनिधि जब अन्तिम बार 28 जून, 1919 को हस्ताक्षर करने वर्साय महल आये, तो उन्हें पहले की भांति ही अपमानित होना पड़ा। उन्हें बन्दियों की भाँति रखा गया। मित्र राष्ट्रों ने यह निश्चय किया कि जर्मन के साथ संधि पर हस्ताक्षर वर्साय के उसी राजप्रासाद के शीशमहल में हो, जहाँ फ्रांस को हराने के बाद 1871 ई० में प्रशा के राजा को फ्रांस का सम्राट घोषित किया गया था। इस अपमान का घूँट भी प्रतिनिधियों को पीना पड़ा। जर्मनी की ओर से हर्मन मूलर तथा जोहानसबेल ने संधि पर हस्ताक्षर किये।

वर्साय की संधि की शर्तें

वर्साय की संधि 15 भागों में विभक्त थी और उसमें 440 अनुच्छेद थे। जैसा पहले बताया जा चुका है कि उसके प्रथम भाग में राष्ट्रसंघ की स्थापना, संगठन एवं कार्यों का उल्लेख किया गया था। हम इसका उल्लेख यहाँ नहीं करेंगे, यहाँ केवल जर्मनी से सम्बन्ध रखने वाली बातों का ही उल्लेख करेंगे।

1. **प्रादेशिक व्यवस्थाएँ**
   - (i) जर्मनी को अल्सास-लॉरेन के प्रान्त फ्रांस को देने पड़े।
   - (ii) बेल्जियम जर्मनी की सीमा पर स्थित मोर्सनेट-मालमेडी और यूपेन बेल्जियन को दे दिये गये।
   - (iii) खनिज पदार्थों से अति-सम्पन्न सार घाटी दोहन हेतु 15 वर्षों के लिए फ्रांस को दे दी गई। किन्तु सार-प्रदेश पर नियंत्रण राष्ट्रसंघ का स्थापित किया गया और वहाँ का शासन चलाने के लिए एक आयोग नियुक्त किया गया। 15 वर्ष बाद जनमत-संग्रह द्वारा यह निर्णय होना था कि सारवासी फ्रांस के साथ मिटना चाहते हैं या जर्मनी के साथ या राष्ट्रसंघ के शासन में रहना चाहते हैं।
   - (iv) जर्मन अधिक त श्लेसविग में जनमत संग्रह किया गया। उसके आधार पर उत्तरी श्लेसविग डेनमार्क को दिया गया और दक्षिणी श्लेसविग जर्मनी के पास रहा।
   - (v) जर्मनी को पूर्वी सीमा पर सबसे अधिक नुकसान उठाना पड़ा। मित्र राष्ट्रों ने युद्ध समाप्ति के बाद एक स्वतंत्र

पोलैण्ड के निर्माण का निश्चय किया था। विल्सन के चौदह सूत्रों में भी स्वतंत्र पोलैण्ड के निर्माण का उल्लेख किया गया था। अतः पेरिस-सम्मेलन में जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस के पोल क्षेत्रों को लेकर स्वतंत्र पालैण्ड का निर्माण किया गया। पोसेन के प्रान्त का 5/6 भाग तथा पश्चिमी प्रशा का अधिकांश भाग पोलैण्ड को प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त उत्तरी साइलेशिया का एक बड़ा भाग जनमत-संग्रह के आधार पर पोलैण्ड को दे दिया गया। पोलैण्ड के नवनिर्मित राज्य का समुद्र तट से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जर्मनी को डेन्जिग का बन्दरगाह राष्ट्रसंघ के संरक्षण में छोड़ना पड़ा। डेन्जिग के चारों ओर का 700 वर्ग मील का क्षेत्र मिलाकर उसे स्वतंत्र नगर घोषित किया गया और उसका शासन चलाने के लिए राष्ट्रसंघ द्वारा एक आयुक्त की व्यवस्था की गयी।

(vi) जर्मनी को बाल्टिक सागर तट पर स्थित मेमल का बन्दरगाह इसलिए राष्ट्रसंघ को सौंपना पड़ा, ताकि वह लिथुआनिया को स्थानान्तरित किया जा सके।

(vii) नवनिर्मित राज्य-बेल्जियम, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया की स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता को जर्मनी ने मान्यता दी।

(viii) जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया को ऊपरी साइलेशिया का एक छोटा-सा क्षेत्र भी हस्तान्तरित किया।

(ix) जर्मनी को समुद्र पार के अपने विस्त त उपनिवेशों पर सारे अधिकार मित्र राष्ट्रों को देने के लिए विवश किया गया। राष्ट्रसंघ द्वारा उसके उपनिवेशों को अधिदेश पद्धति के अन्तर्गत ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, आस्ट्रिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका और बेल्जियम में बाँट दिये गए। इस प्रकार जर्मन साम्राज्य का लगभग 12 लाख 50 हजार वर्ग मील का क्षेत्र राष्ट्रसंघ के अधीन दे दिया गया। जापान को क्याओ-चाओं और शांटुंग प्रान्त में जर्मनी की बस्तियाँ पट्टे पर दी गई। न्यूजीलैण्ड को सैमोआ द्वीप का जर्मन-भाग दिया गया। इंग्लैण्ड को पश्चिम अफ्रीका का जर्मन भाग मिला। कैमेरून और टोगोलैण्ड को फ्रांस और इंग्लैण्ड ने आपस में बाँट लिया। जर्मन अधिक त दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका का प्रदेश दक्षिण अफ्रीका को सौंपा गया।

x. जर्मनी ने चीन, थाइलैण्ड, मोरक्को और लिवेरिया में अपने अधिकार और विशेष सुविधाएँ भी छोड़ना स्वीकार किया। मित्र राष्ट्रों ने समुद्र पार रहने वाले जर्मन नागरिकों तथा कम्पनियों की सारी सम्पत्ति, अधिकार और हितों को रखने तथा बेचने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया। बुल्गेरिया और तुर्की में जर्मनी की सम्पत्ति और सुविधाएँ जब्त कर ली गई।

xi. ब्रेस्ट-लिटोवस्क संधि के द्वारा जर्मनी ने एक बड़ा भाग रूस से छीनकर अपने राज्य में मिला लिया था। किन्तु वर्साय की संधि द्वारा इस विस्त त प्रदेश पर लैटविया, एस्टोनिया और लिथुआनिया की स्थापनी की गयी।

2. **सैनिक व्यवस्थाएँ:** पेरिस के शान्ति-सम्मेलन के आयोजकों का मत था कि जर्मनी को सैनिक द ष्टि से इतना पंगु बना दिया जाय कि वह भविष्य में कभी विश्व-शांति को भंग न कर सके। अतः उसके लिए विशेष सैनिक व्यवस्थाएँ की गई, जो इस प्रकार है-

i. जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा समाप्त कर दी गयी।

ii. जर्मनी की स्थल-सेना की संख्या अधिकारियों सहित एक लाख निर्धारित की गयी। यह भी व्यवस्था की गयी कि अधिकारियों को कम से कम 25 वर्ष और साधारण सैनिकों को कम से कम 12 वर्ष सेना में रहना पड़ेगा। यह व्यवस्था इसलिए की गयी ताकि अधिक व्यक्ति सैनिक शिक्षा न ले सके।

iii. जर्मनी में अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद आदि के उत्पादन को अत्यन्त सीमित कर दिया गया तथा उसे इन वस्तुओं को आयात करने पर भी रोक लगा दी गई।

iv. राइन नदी के पूर्वी तट पर जर्मनी को किलेबन्दी करने की आज्ञा नहीं दी गई और उसके पश्चिमी तट पर 50 किलोमीटर क्षेत्र का विसैन्यीकरण कर दिया गया। उस क्षेत्र में उसके सभी किलों को तोड़ दिया गया।

v. जर्मनी को किसी भी प्रकार की वायुसेना रखने का भी निषेध कर दिया गया।

vi. जर्मनी की नौ-सैनिक शक्ति को भी सीमित किया गया। जर्मनी कुल 6 युद्धपोत, 6 लड़ाकू विमान, 12 तोपची जहाज और टारपीडो नौकाएँ ही रख सकता था। उसे एक भी पनडुब्बी रखने की इजाजत नहीं थी। उसे समुद्री सेना में अधिकारियों समेत 15,000 सैनिक रखने की ही इजाजत दी गयी। यह भी निर्णय लिया गया कि सारे फालतू

जहाजों को या तो व्यापारिक जहाज बना दिया जायेगा या नष्ट कर दिया जायेगा या मित्र राष्ट्रों को सौंप देना पड़ेगा।

vii. जर्मनी के हेलिगोलैण्ड के बन्दरगाह की किलेबन्दी नष्ट करना भी तय हुआ।

viii. मित्र राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराओं को कार्यान्वित करने के लिए अन्तर्मित्र राष्ट्रीय आयोगों की नियुक्ति का भी अधिकार दिया गया। इन आयोगों को जर्मनी के किसी भी भाग में जाने और निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी सूचना प्राप्त करने के व्यापक अधिकार दिये गये।

प्रो. कार ने इस सैनिक व्यवस्था के विषय में लिखा है कि जर्मनी का जिस कठोरतापूर्वक सर्वांगीण निशस्त्रीकरण किया गया उतना और कभी किसी देश का नहीं किया गया था। लिखित रूप से प्राप्त आधुनिक इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता।

3. **अन्य व्यवस्थाएँ**

(i) जर्मनी की प्रमुख नदियाँ एल्व, ओडर, नीमन और डेनयूब को अन्तर्राष्ट्रीय घोषित कर दिया गया और उन पर नियंत्रण रखने के लिए विशेष आयोग गठित किये गये। राइन नदी को भी एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के अधिकार में रखा गया।

(ii) जर्मनी को अपने प्रमुख बन्दरगाह हेम्बर्ग और स्टैटिन में चेकोस्लोवाकिया को व्यापारिक सुविधा के लिए स्वतंत्र क्षेत्र देने को बाध्य किया गया। कील नहर और इसके मार्ग को सब राष्ट्रों के लिए खोल दिया गया।

(iii) जर्मनी के सम्राट विलियम द्वितीय पर अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार तथा सन्धियों के विरूद्ध घोर अपराध करने का अभियोग लगाया गया। किंतु नीदरलैण्ड की सरकार ने सम्राट विलियम द्वितीय को सौंपना अस्वीकार कर दिया। इसलिए उस पर मुकदमा नहीं चलाया जा सका।

(iv) जर्मनी को प्रथम विश्व युद्ध का उत्तरदायित्व स्वीकार करना पड़ा। संधि की 213वीं धारा इस प्रकार थी-"मित्र और सम्मिलित राष्ट्र अभियोग लगाते हैं और जर्मनी अपनी और अपने साथियों की ओर से स्वीकार करता है कि जर्मनी और उसके साथियों द्वारा जबर्दस्ती लादे हुए युद्ध के कारण मित्र तथा सम्मिलित राष्ट्रों के नागरिकों को जो भी हानि और नुकसान हुआ है, उसका उत्तरदायित्व जर्मनी और उसके साथियों का ही है।

(v) क्षतिपूर्ति का स्वरूप और उसके लिए वसूल की जाने वाली धनराशि के निर्धारण के लिए एक 'क्षतिपूर्ति आयोग' बैठाने की व्यवस्था की गयी।

(vi) युद्ध में नष्ट हुए प्रदेशों के पुननिर्माण के लिए जर्मनी के आर्थिक साधनों का प्रयोग किया जाना तय हुआ। जर्मनी ने फ्रांस, इटली, बेल्जियम और लक्जेबर्ग को कोयले की निर्धारित मात्रा देना स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त उसे फ्रांस को कुछ रासायनिक पदार्थ, जैसे-अमोनियम सल्फेट, कोलतार आदि भी देने का वचन देना पड़ा।

(vii) यह भी सुनिश्चित हुआ कि क्षतिपूर्ति के संबंध में अन्तिम निर्णय होने तक जर्मनी की सरकार 1921 ई० तक 5 अरब डालर धनराशि देगी।

viii. विभिन्न जर्मनी उपनिवेशों में और मित्र राष्ट्रों में जो भी जर्मन सरकारी और गैर सरकारी पूँजी थी, वह जब्त कर ली गयी।

(ix) मित्र राष्ट्रों के क्षतिग्रस्त अथवा विनष्ट क्षेत्रों के पुननिर्माण के लिए जर्मनी द्वारा पर्याप्त मात्रा में मशीनें, औजार और पत्थर, ईंट, लकड़ी, स्टील, सीमेण्ट, चूना आदि सामग्री दी जाने की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित किया गया कि संधि लागू होने की 3 माह की अवधि के भीतर जर्मनी फ्रांस और बेल्जियम को भारी संख्या में पशुधन देगा।

(x) संधि की शर्तों को पूरा करने के लिए कुछ गारन्टियों की भी व्यवस्था की गयी। राइन के पश्चिमी क्षेत्र पर संधि लागू होने के बाद आगामी 15 वर्षों तक मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का अधिकार रहेगा। यदि जर्मनी ने संधि की शर्तों का निष्ठापूर्वक पालन किया, तो 5 वर्ष बाद कोलोन का क्षेत्र, 10 वर्ष बाद कोबर्लेज का क्षेत्र तथा 15 वर्ष की समाप्ति के बाद मेंज तथा अन्य अधिक त जर्मन क्षेत्रों से सेनाएँ हटा ली जायेंगी।

अन्य सन्धियाँ

1. **आस्ट्रिया के साथ सेन्ट जर्मै (St. Germain) की सन्धिः** 10 दिसम्बर, 1919 को यह सन्धि मित्र राष्ट्रों और आस्ट्रिया-हंगरी का साम्राज्य भंग कर दिया गया। आस्ट्रिया ने हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड और यूगोस्लाविया की स्वतंत्रता को मान्यता दी। उसने आस्ट्रिया-हंगरी के राज्य में पहले से सम्मिलित प्रदेशों को छोड़ दिया। इटली को आस्ट्रिया से दक्षिणी टिरोल, ट्रेन्टिनो, ट्रीस्ट, इस्ट्रिया एवं डालमेशिया के तटवर्ती कुछ द्वीप प्राप्त हुए। चेकोस्लोवाकिया को बोहमिया, मोराविया, आस्ट्रियन साइलेशिया का अधिकांश भाग और आस्ट्रिया के दक्षिणी क्षेत्र का कुछ भाग प्राप्त हुआ। यूगोस्लाविया को बोस्निया, हर्जीगोविना, डालमेशिया का तट एवं कुछ द्वीप मिले। पोलैण्ड को आस्ट्रियन गेलीशिया का क्षेत्र प्राप्त हुआ। इसके साथ ही टैशेन का औद्योगिक क्षेत्र पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के बीच विभाजित किया गया।

   इस प्रकार आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य का विघटन हो गया। आस्ट्रिया के साम्राज्य की जनसंख्या जो पहले 3 करोड़ 10 लाख थी, अब केवल 60 लाख जर्मन नागरिकों की रह गई; जो वियना के चारो ओर फैली हुई थी। आस्ट्रिया को भी जर्मनी के साथ युद्ध के लिए दोषी ठहराया गया था, अतः उससे क्षतिपूर्ति का वचन लिया गया। आस्ट्रिया को केवल 30 हजार सैनिक रखने की अनुमति दी गयी और उसकी नौ-सेना को समाप्त कर दिया गया। उसे एड्रियाटिक सागर तक पहुँचने की सुविधा दी गई किन्तु उसके बदले में उसे चेकोस्लोवाकिया की रेलगाड़ियों को अपनी रेल की लाइनों पर से निकलने की अनुमति देनी पड़ी।

2. **हंगरी के साथ ट्रियानों (Trianon) की सन्धिः** यह सन्धि हंगरी और मित्र राज्यों के बीच हुई थी। इसके अनुसार हंगरी ने गैर-मेग्यार लोगों पर से अपना अधिकार छोड़ दिया। स्लोवाक प्रदेश चेकोस्लोवाकिया को, ट्रांसिलवानिया रूमानिया को और क्रोशिया यूगोस्लाविया को दे दिये गये। ट्रियानों की सन्धि के द्वारा हंगरी के नये राज्य का क्षेत्रफल और उसकी जनसंख्या बहुत कम हो गयी। पहले उसका क्षेत्रफल 1,25,000 वर्गमील था और जनसंख्या 2 करोड़ थी किंतु अब उसका क्षेत्रफल केवल 35,000 वर्गमील और जनसंख्या 80 लाख रह गयी। हंगरी की सेना घटाकर 35 हजार कर दी गयी। उसकी नौ-सेना को भी भंग कर दिया गया।

3. **बल्गेरिया के साथ निउली (Neuilly) की सन्धिः** बल्गेरिया को प्रथम विश्व युद्ध में तथा 1912-13 ई० के बाल्कन युद्धों में जीते हुए सारे प्रदेश लौटा देने पड़े। उसे पश्चिमी थ्रेस का भाग यूनान को देना पड़ा। इससे उसकी बड़ी हानि हुई क्योंकि थ्रेस के निकल जाने से एजियन सागर से उसका सम्बन्ध टूट गया। उसने यूगोस्लाविया को मेसिडोनिया का कुछ भाग भी दिया और रूमानिया को सारा दोबुजा वापस कर दिया। बल्गेरिया की सेना की संख्या घटा कर 33 हजार कर दी गयी। उसकी नौ-सेना को भंग कर दिया गया। उसे 5 लाख डालर की राशि युद्ध क्षतिपूर्ति के रूप में देनी पड़ी, जिसे 37 वर्षों में चुकाने की बात तय की गयी।

4. **तुर्की के साथ सेव्र (severs) की सन्धिः** 10 अगस्त, 1920 को तुर्की के साथ मित्र राष्ट्रों ने सन्धि की। इस सन्धि द्वारा थ्रेस का प्रदेश और एजियन सागर में विद्यमान सब द्वीप यूनान को प्राप्त हुए। स्मर्ना के प्रदेश पर भी यूनान का शासन स्थापित किया गया। किंतु इस शर्त के साथ कि पाँच साल बाद वहाँ जनमत संग्रह किया जाएगा और यदि जनमत द्वारा यह तय हो कि वहाँ के निवासी यूनान के साथ ही रहना चाहते हैं, तो स्मर्ना का प्रदेश स्थायी रूप से यूनान को दे दिया जायेगा। डोडेकनीज द्वीप समूह, रोड्स के प्रदेश इटली को दिये गये। मेसोपोटामिया और पैलेस्टाइन ब्रिटेन को दिये गये और सीरिया पर फ्रांस पर अधिकार स्थापित किया गया। आर्मीनिया और हेज्जाज को स्वतंत्र घोषित कर दिया गया।

   डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र घोषित किया गया परंतु कुस्तुन्तुनिया और उसके आस-पास का भाग तुर्की के सुल्तान के अधीन बना रहा।

   इस प्रकार तुर्की साम्राज्य के सम्बन्ध में जो नई व्यवस्था हुई, उसके अनुसार चार लाख चालीस हजार वर्ग मील जमीन तुर्की के हाथ से चली गयी। अब उसकी आबादी 80 लाख रह गई और एक करोड़ बीस लाख व्यक्ति उसकी अधीनता से मुक्त हो गये। तुर्की की सैनिक संख्या 50 हजार निश्चित कर दी गई। उसे एक छोटे से शक्तिहीन राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। किंतु इस समय तुर्की में राज्य-क्रान्ति हो रही थी। मुस्तफा कमालपाशा के नेत त्व में तुर्क लोग राजसत्ता का अंत कर गणतंत्र की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। ये क्रान्तिकारी लोग सेव्र की सन्धि को मानने के लिए

तैयार नहीं थे। अतः 1923 ई० में मित्र राष्ट्रों ने तुर्की की राष्ट्रवादी सरकार के साथ लूसान की प थक् सन्धि की। जिसके अनुसार-

i. अनातोलिया पर तुर्की की सम्प्रभुता को स्वीकार किया गया। आर्मीनिया तथा कुर्दिस्तान को स्वतंत्रता देने की बात का अन्त कर दिया गया।

ii. कुस्तुन्तुनिया, पूर्वी, थ्रेस, गैलीपोली, साइलेशिया, अदालिया और स्मर्ना तुर्की को पुनः प्राप्त हुए।

iii. डार्डेनल्स और बास्फोरस जलडमरूमध्य के प्रदेश का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

iv. तुर्की ने अपनी सीमाओं से बाहर अपने पुराने प्रदेशों-मेसोपोटामिया, अरब, सीरिया, मिस्त्र, फिलिस्तीन, सूडान, साइप्रस पर अधिकार त्याग दिए।

v. यूनानी और तुर्की भाषा-भाषी लोगों की यूनान और तुर्की के बीच स्वेच्छा से अदला-बदली हुई।

सेव्र की सन्धि के स्थान पर लूसान की सन्धि के लिए मित्र राष्ट्रों को मजबूर करना, कमालपाशाा की तुर्की के लिए एक बड़ी विजय थी।

पेरिस की शान्ति व्यवस्था की समीक्षा

पेरिस के शान्ति-सम्मेलन का आरंभ अत्यधिक आशापूर्ण वातावरण में हुआ था परंतु अन्त व्यापक नैराश्य में हुआ। यह परिणाम स्वाभाविक एवं अनिवार्य था क्योंकि घोर राष्ट्रीय संकट में उत्पन्न आदर्शवाद उस संकट की समाप्ति पर अधिक नहीं टिकता, विजेता शक्तियों में ईर्ष्या, द्वेष पुनः जाग त हो जाते हैं और शान्ति के लिए जो त्याग और समझौते किये जाते हैं, वे बाद में सबकों निराशाजनक दिखायी देते हैं। पेरिस की सन्धि में फ्रांसीसी हितों का सर्वाधिक ध्यान रखा गया था परंतु जब क्लीमेंशू ने उसे फ्रेंच विधान सभा में प्रस्तुत किया, तो उसके दोनों सदनों में उस पर इंग्लैण्ड और अमेरिका के गुट के सामने कायरतापूर्वक अपने राष्ट्रीय हितों के बलिदान का दोष लगाया गया। इसी प्रकार इटली को जो कुछ प्राप्त हुआ, वह उसे अपर्याप्त दिखायी देता और इटालियन राष्ट्र बड़ा असंतुष्ट रहा। लायड जार्ज भी आलोचना से न बच सका। एक ओर तो उस पर अमेरिकी शान्तिवाद के सामने कठोर न्याय का बलिदान करने और दूसरी ओर फ्रांस को प्रसन्न करने के लिए जर्मनी पर विनाशकारी संधि लादने का दोष लगाया गया। अमेरिकी सीनेट ने राष्ट्रसंघ का, जो विल्सन को समस्त व्यवस्था में सर्वाधिक प्रिय वस्तु मालूम होती थी, विरोध किया गया और अमेरिका को उसका सदस्य नहीं बनने दिया। कई छोटे-छोटे राज्य भी असंतुष्ट थे किंतु सबसे अधिक असंतोष जर्मनी को था।

पेरिस के शान्ति-सम्मेलन ने मध्य-यूरोप का बाल्कनीकरण कर दिया। बाल्कन प्रायद्वीप में छोटे-छोटे अनेक राज्यों की स्थापना हुई। जर्मनी की पूर्वी सीमा पर पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, एस्टोनिया, लेटविया, लिथुआनिया आदि राज्य स्थापित किये गये। सम्मेलन का यह कार्य बुद्धिमतापूर्ण नहीं था क्योंकि ये राज्य जीवनक्षम नहीं थे। उनमें जीवन के आर्थिक एवं सैनिक आधार का अभाव था। वास्तव में नयी व्यवस्था में अनेक त्रुटियाँ थी और उस पर हस्ताक्षर करने वाले राजनीतिज्ञों में से बहुतों को स्वयं उससे संतोष नहीं हुआ। दक्षिण अफ्रीका के प्रधानमंत्री जनरल स्मट्स ने सन्धि पर हस्ताक्षर करने के पश्चात् कहा था कि "मैंने सन्धि पर हस्ताक्षर इसलिए नहीं किये कि मैं उसका अनुमोदन करता हूँ वरन् युद्ध की स्थिति का अन्त करने के लिए किए हैं। हमें वह वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकी, जिसकी जनता को आशा थी। जवाहरलाल नेहरू ने भी सन्धि की आलोचना करते हुए कहा, "मित्र राष्ट्र घ णा और प्रतिशोध की भावना से भरे हुए थे। वे मांस का पिण्ड ही नहीं चाहते थे बल्कि जर्मनी के अर्द्धम त शरीर से रक्त की आखिरी बूंद तक ले लेना चाहते थे। इस सन्धि के द्वारा जर्मनी को असहाय बनाने का प्रयत्न किया गया।

1. **अपमानजनक सन्धि (Humiliating Treaty):** वर्साय की सन्धि की शर्तें अपरिमित रूप से कठोर और अपमानजनक थी। उसकी कठोरता के कारण उसकी पालना असंभव थी। सन्धि का मूल उद्देश्य जर्मनी को सदैव के लिए पंगु बनाकर रखना था। इस सन्धि के द्वारा जर्मनी को हर प्रकार से अपमानित किया गया। उसके उपनिवेश छीन लिए गये। उसकी व्यापारिक सुविधाओं पर नियन्त्रण लगा दिया गया। उसका राज्य-क्षेत्र अन्य राज्यों को बाँट दिया गया। उस पर असहनीय क्षतिपूर्ति का बोझ लाद दिया गया। उसकी सैनिक शक्ति नष्ट कर दी गई और उसे युद्ध के लिए दोषी ठहराया गया। यह सन्धि जर्मनी के लिए प्रतिशोधात्मक और अपमानजनक थी। लायड जार्ज ने कहा था, "इस सन्धि की शर्तें

बड़ी कड़ी है परंतु जर्मनी के कार्य इससे कम भयंकर नहीं थे। यदि जर्मनी जीत जाता, तो उसके परिणाम कम भयंकर नहीं होते।" डी.सी. सौमरवेल ने सन्धि की कठोरता के बारे में लिखा, "वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी को करारी चोट ही नहीं लगी, अपितु उससे अधिक उसे अपमानित किया गया। पराजय का अपमान मिट गया और जैसे ही उसके घाव भर गए, उसने पूरी शक्ति से प्रतिशोध लेने की चेष्टा की।"

2. **आरोपित सन्धिः** वर्साई की सन्धि को एक आरोपित सन्धि की संज्ञा भी दी जाती है। इसमें कई जगह अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार और परम्पराओं को तोड़ा गया था। यह एक प्रकार से मित्र राष्ट्रों की आज्ञा थी, जिसको जर्मनी को स्वीकार करना पड़ा। सन्धि के मसविदे को तैयार करते समय जर्मनी के प्रतिनिधियों को नहीं बुलाया गया था। जर्मनी को सन्धि के निर्माण में भाग नहीं लेने दिया गया था। इसलिए यह थोपी गई सन्धि अपमान और घ णा का कारण बनी। सन्धि के मसविदे पर जर्मनी ने संशोधन प्रस्तुत किए, उन्हें भी अस्वीक त कर दिया गया। सन्धि पर हस्ताक्षर करते समय भी जर्मन प्रतिनिधियों के साथ सामान्य शिष्टचार के नियमों का पालन नहीं किया गया और उन्हें अपराधी के समान भवन के अन्दर और बाहर ले जाया गया। इस प्रकार के व्यवहार से जर्मनी को बहुत मानसिक आघात पहुँचा। इस संदर्भ में प्रो. कार ने लिखा है, "वैसे तो युद्ध समाप्त करने वाली प्रत्येक सन्धि एक प्रकार से आरोपित सन्धि होती है किंतु वर्साई की संधि में अधिदिष्ट किये जाने का भाव आधुनिक काल की किसी भी सन्धि की अपेक्षा अधिक है।

   प्रो. लेंगसम ने भी पेरिस की सन्धियों के विषय में लिखा है कि "वे एक पक्षीय थी। उनमें भविष्य के संघर्ष के बीज विद्यमान थे।"

3. **सन्धि का आधार विश्वासघातः** पेरिस की शान्ति-सन्धि का आधारभूत सिद्धान्त था-"विजेता का ही लूट पर अधिकार है और इस बार मित्र राष्ट्र ही विजेता है।" फ्रांस के द्वारा राइन प्रदेश पर अधिकार की चेष्टा, इटली के द्वारा डालमेशिया पर अधिकार करना, पोलैण्ड के द्वारा समस्त उत्तरी साइलेशिया का अपहरण आदि विश्वासघात के उदाहरण हैं। जर्मन समझते थे कि सन्धि का आधार विल्सन के चौदह सूत्र होंगे परन्तु ऐसा न हो सका। इसी आधार पर जर्मनी ने युद्धविराम किया था, अतः यह सन्धि जर्मनी के लिए एक बड़ा विश्वासघात था। यही कारण था कि वर्साई की अन्यायपूर्ण सन्धि ने द्वितीय विश्व युद्ध को जन्म दिया। इसका परिणाम 20 वर्षों बाद संसार को भुगतना पड़ा। इसलिए फ्रांस के मार्शल फोच ने भी कहा था, "यह सन्धि नहीं है। यह केवल बीस वर्षों के लिए युद्ध-विराम है।" उनकी यह बात भविष्य में सही प्रतीत हुई।

4. **कठोर सन्धिः** यह सन्धि बहुत ही कठोर थी। स्वयं लायड जार्ज ने स्वीकार किया था कि "सन्धि की शर्तें बड़ी भयानक किन्तु न्यायपूर्ण थी।" अमेरिका के तत्कालीन विदेशमंत्री लासिंग ने भी सन्धि की शर्तों को अत्यन्त कठोर और अपमानजनक बताया था।

   जर्मन चांसलर बेथमान हालवेग ने कहा था कि-"पराजित को गुलाम बनाने का इससे बढ़कर विश्व ने कभी भी भयानक उपाय नहीं देखा।" चर्चिल ने भी लिखा है कि "सन्धि की आर्थिक शर्तें इतनी मूर्खतापूर्ण और अनिष्टकारी थी कि उनका यथार्थ में कोई महत्त्व नहीं रह गया था।"

   वास्तव में जिस प्रकार से जर्मनी के राज्य का अंग-भंग किया गया था और उसके विभिन्न भागों को पड़ोसी राज्यों को हस्तान्तरित किया गया, उसके कारण जर्मनी की राजनीतिक शक्ति एवं प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचा। उसकी सैनिक शक्ति को इतना कम कर दिया गया कि उसकी सेना की संख्या बेल्जियम जैसे छोटे से राज्य की सेना से भी कम हो गयी। उसके आर्थिक स्त्रोतों पर अधिकार कर लेने के पश्चात् भी मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी पर क्षतिपूर्ति की इतनी अधिक राशि लाद दी, जिसको चुकाना उसके लिए असम्भव था। इस कठोरता के कारण ही ब्रिटेन के प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य कीन्स ने त्याग-पत्र दे दिया और वर्साई की सन्धि की आलोचना की।

   इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्साई की सन्धि कठोर, अपमानजनक एवं विश्वासघाती सन्धि थी, जिसे जर्मनी जैसा स्वाभिमानी राष्ट्र कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता था। उसके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह भविष्य में युद्ध द्वारा अपने इस अपमान को धोने का प्रयत्न करे। जर्मनी के अतिरिक्त अन्य पराजित राष्ट्रों को भी इसी प्रकार की कठोर और अपमानजनक सन्धियों पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया गया।

   प्रो. डेविड थामसन ने पेरिस की सन्धि की समीक्षा करते हुए लिखा है कि "सम्पूर्ण सम्मेलन में आदर्शवाद और यथार्थवाद

> के बीच जो संघर्ष चलता रहा, उसके परिणामस्वरूप ऐसी व्यवस्था का निर्माण हुआ, जिसमें विजित राष्ट्रों के प्रति ऐसे मामलों में कठोरता बढ़ती गयी, जहाँ म दुलता की नीति अपनाना श्रेयस्कर होता तथा ऐसे मामलों में उदारता प्रदर्शित की गयी, जहाँ कठोर होना आवश्यक था-वह ऐसी व्यवस्था थी, जिसे पराजित राष्ट्र कभी भी हृदय से स्वीकार नहीं कर सके और जिसे तोड़ने के लिए उन्हें पर्याप्त स्वतंत्रता एवं साधन उपलब्ध करा दिये गये। उसके कार्यों की इस परिणति की द ष्टि से इतिहास में पेरिस के सम्मेलन को निश्चित रूप से असफल माना जायेगा।"

इन सब दोषों के कारण वर्साई की सन्धि की कटु आलोचना की गयी। जर्मनी ने इस सन्धि को अपना राष्ट्रीय अपमान माना। अतः जर्मन जनता ने आगे चलकर एक-एक करके सन्धि की सभी शर्तों को ठुकरा दिया। इन दोषों के बावजूद सन्धि का महत्त्व कम नहीं है। इस सन्धि द्वारा भविष्य में युद्ध टालने की दिशा में एक कदम उठाने की कोशिश की गई। विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए राष्ट्रसंघ जैसी संस्था की नींव डाली गयी।

अध्याय-12
पूँजीवाद का संकट एवं आर्थिक मन्दी

प्रथम विश्वयुद्ध से उत्पन्न कठिनाइयों पर यूरोप 1925 ई० तक विजय प्राप्त कर चुका था और सर्वत्र आशावादी वातावरण बनने लगा था। जर्मनी की आर्थिक स्थिति भी काफी सुधर गई थी तथा नए राज्यों में आर्थिक स्थिरता आ गई थी। विश्व में कच्चे माल एवं खाद्य-पदार्थों का उत्पादन 11 प्रतिशत बढ़ गया था। कारखानों में बनने वाली वस्तुओं का उत्पादन भी 26 प्रतिशत बढ़ गया था। रूस ने क्रान्ति से उत्पन्न कठिनाइयों का सामना करके अपने करोड़ों लोगों के लिए पंचवर्षीय योजना का कार्य आरम्भ कर दिया था। इस समय की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में सर आर्थर साल्टर ने लिखा है- 1929 में यद्यपि कुछ देशों में साक्षेप द ष्टि से गिरावट आई थी तो कुल मिलाकर संसार की दशा पहले से बहुत अच्छी थी और वह तीव्र गति से ऐसी सम द्धि की ओर बढ़ रहा था जिसकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी किन्तु इसी असमान सम द्धि में उसके अपकर्ष के बीज विद्यमान थे। सब ऊपरी चमक-दमक थी। अक्तुबर 1929 में संसार की परिस्थिति अचानक बदल गई। वाल स्ट्रीट संकट जो 1929 ई० में शुरू हुआ, विश्वव्यापी मन्दी में बदल गया तथा उसने लगभग सारे यूरोपीय देशों पर चोट की। इस महान मन्दी के बारे में प्रसिद्ध लेखक आर्थर लुई ने लिखा है कि 1929 ई० में जो अवसाद आरम्भ हुआ वह कोई साधारण मन्दी नहीं थी बल्कि आधुनिक इतिहास में अपने दीर्घ विस्तार और कठोरता, सब द ष्टि से सबसे भयानक मन्दी थी। सबसे खराब स्थिति तो 1932 ई० में आयी जब बेरोजगारों की संख्या बढ़ते-बढ़ते 3 करोड़ तक पहुंच गयी। यह मन्दी संयुक्त राज्य अमेरिका तक ही सीमित न रहकर विश्व के सभी देशों में फैल गयी इसलिए इसे विश्वव्यापी मन्दी अथवा महामन्दी या आर्थिक मन्दी जैसे नामों से संबोधित किया जाता है।

अक्टुबर 1929 में अमेरिका के मुद्रा बाजार में सट्टेबाजी का एक तीव्र दौर आया जिसने आम अमेरिकी महाजनों का ध ान आकर्षित किया और इसके परिणामस्वरूप अमेरिका के धन कुबेर भी यूरोप को ऋण देने के बजाय अपने ही देश में पूँजी लगाने लगे। यूरोप, जो उस समय अमेरिकी ऋणों के आधार पर टिका हुआ था, सहसा आधारहीन हो गया और अर्थव्यवस्था डगमगा गई सम्पूर्ण संसार में आर्थिक संकट के चिन्ह प्रकट होने लगे, वस्तुओं की कीमतें गिरने लगी, बैंकों के लिए रुपया अदा करना कठिन हो गया, अनेक बैंक फैल हो गए, कारखानों और अन्य धन्धों को भारी घाटा उठाना पड़ा। लाखों मजदूर बेकार हो गए। कारखानों द्वारा उत्पादित माल से बाजार भरे पड़े थे, पर उन्हें खरीदने वाला कोई नहीं था। आर्थिक संकट का वह भयावह रूप था। यह भीषण आर्थिक मन्दी थी जो 1929 ई० में आरम्भ हुई 1931 में अपनी चरम सीमा पर पहुंची और उसके पश्चात् 1934 ई० तक उसका प्रभाव बना रहा। इस मन्दी के कारण ही ब्रिटेन ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया। अब उसके सिक्कों का सोने से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। ब्रिटेन की इस नीति का अनुसरण विश्व के कई देशों ने किया। अपनी अर्थव्यवस्था, कारखानों एवं कृषि को नष्ट हो जाने से बचाने के लिए सभी देशों ने निरोधात्मक शुल्क व संरक्षणात्मक टैरिफ की नीति अपनाई, जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बिल्कुल ठप्प हो गया। इससे अमेरिका को यह प्रेरणा मिली कि अपने आर्थिक सिद्धान्तों को वह छोड़ दे और आर्थिक क्रियाओं पर सरकारी नियन्त्रण जारी करे। सभी देशों के सरकारी बजट में घाटा दिखाया जाने लगा और संसार का व्यापार लगभग आधा रह गया।

विश्वव्यापी मन्दी के कारण

आर्थिक मन्दी और उससे उत्पन्न आर्थिक दुर्दशा अत्यन्त भयंकर थी और संसार के इतिहास में अभूतपूर्व भी थी। इतिहासकारों एवं अर्थशास्त्रियों ने इसके भिन्न-भिन्न कारण बताए हैं जिनमे प्रमुख इस प्रकार हैं-

1. **व्यापार चक्र का प्रभावः** इतिहास लेखक लिप्सन महोदय का मानना है कि साधारण द ष्टि से उत्पादन की क्रियाओं में एक निश्चित समय के पश्चात् इस प्रकार की शिथिलता आया करती है अर्थात् आर्थिक शिथलता का चक्र एक अजीब नियम के अनुसार चला करता है। इस बात को पिछले तीन सौ वर्षों से देखा जा रहा है सन् 1620-1629 में इंग्लैंड में व्यापार मन्दी आयी थी उस समय उसका विदेशी व्यापार संकुचित हो गया था तथा बेकारी बढ़ गयी थी। तब एक शाही कमीशन नियुक्त हुआ, जिसने इस शिथिलता के कारणों की जाँच की। उस समय भी इस स्थिलता के वे ही कारण बतलाये गए थे जो 1929-1932 ई० की शिथिलता के लिए बताये गए।

2. **प्रथम विश्वयुद्ध से उत्पन्न परिस्थितियाँः** कुछ अर्थशास्त्रियों का मानना है कि प्रथम विश्वयुद्ध से उत्पन्न परिस्थितियाँ भी इस विश्वव्यापी मन्दी का कारण थी। प्रायः युद्ध के पश्चात् ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे आर्थिक संकट उत्पन्न होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास में पहले भी तीन बड़े युद्ध हो चुके थे और इन युद्धों के बाद भी इसी तरह की आर्थिक मन्दी आयी। ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न के जवाब में जे० बी० कांडलिफ ने लिखा है- युद्ध काल में सैनिक सामग्री की माँग बढ़ जाने से उद्योग का असाधारण विस्तार होता है। सैनिकों की असाधारण भर्ती के कारण मजदूरों की कमी हो जाती है, अतः रोजगार, मजदूरी और लाभ की दर भी बढ़ जाती है। युद्ध की समाप्ति के बाद भी कुछ समय तक तो यह अभिव द्धि बनी रहती है किन्तु उसके बाद मन्दी आ जाती है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भी यही घटना क्रम चला और सम्पूर्ण संसार इस मन्दी की चपेट में आ गया। प्रो० एडविन एकगे ने इसी विचार की पुष्टि करते हुए लिखा है कि "विश्वयुद्ध का विश्वव्यापी मन्दी के कारण और परिणाम के रूप में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।"

3. **कृषि-उपज व औद्योगिक वस्तुओं का अति उत्पादनः** कुछ अर्थशास्त्रियों का मानना है कि कृषि एवं औद्योगिक वस्तुओं के अति उत्पादन के कारण ही विश्वव्यापी मन्दी आयी थी। युद्ध काल की अतिरिक्त माँग की पूर्ति के लिए कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन बढ़ाया गया था, साथ ही इन वस्तुओं की कीमतों में भी व द्धि हुई थी। वैज्ञानिक खोजों और नये यन्त्रों के प्रयोग से उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिली थी। किन्तु युद्ध के बाद कुछ समय तक तो इनकी माँग बनी रहती है किन्तु धीरे-धीरे इन वस्तुओं की माँग तथा लोगों की क्रय शक्ति कम होने लगती है, परन्तु उत्पादन उसी गति से बढ़ता रहता है, अतः मूल्यों में गिरावट आरम्भ हो जाती है, जिससे कृषकों की आय कम हो जाती है और बेरोजगारी बढ़ जाती है। आधुनिक अर्थशास्त्री कांडलिफ ने अपनी पुस्तक-दि कॉमर्स ऑफ नेशन्स' में लिखा है कि विश्व के सभी भागों में कृषि उत्पादन एवं खाद्यान्नों के मूल्यों की विकृति 1929-1932 ई० के आर्थिक संकटों के प्रमुख कारणों में से एक थी। इसी प्रकार स्वीडिश लेखक ओहलीन ने अपनी पुस्तक-"नाऊ ऑर नेव्हर" में यह विचार व्यक्त किया है कि "औद्योगिक क्षेत्र एवं कृषि क्षेत्र में मन्दी ऐसे समय में आरम्भ हुई जबकि विभिन्न देशों की आर्थिक स्थिति एवं क्षमता बहुत कम हो चुकी थी।

4. **सोने का विषम विभाजनः** प्रथम विश्वयुद्ध के बाद संसार का अधिकांश सोना अमेरिका तथा फ्रांस में एकत्रित होने लगा था। अमेरिका में प्रथम युद्ध के आरम्भ तथा व्यावसायिक उन्नति अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी और युद्ध ने इसमें और अधिक बढ़ोतरी की क्योंकि अमेरिका विश्वयुद्ध में आरम्भ से सम्मिलित नहीं हुआ था पर अपना माल और अस्त्र-शस्त्र आदि युद्ध सामग्री मित्र राष्ट्रों को देता रहा था। इस काल में उसने औद्योगिक उत्पादन द्वारा मित्र राष्ट्रों को अपना कर्जदार बना दिया। इस कर्ज की मात्रा बहुत अधिक थी। मित्र राष्ट्रों को जो कर्ज अमेरिका को चुकाना था वह 5 हजार करोड़ रुपये से भी अधिक था। इस कर्ज को अमेरिका को माल के रूप में नहीं दिया जा सकता था क्योंकि अमेरिकन व्यवसायों का मुकाबला कर सकना अन्य देशों के लिए आसान नहीं था। यह रकम सोने के रूप में अमेरिका ने प्राप्त की। अमेरिका के अतिरिक्त फ्रांस में भी क्षतिपूर्ति के रूप में सोना पहुँचने लगा ऐसा अनुमान किया जाता है कि संसार में उस समय जितना सोना था उसका 60 प्रतिशत सोना अमेरिका व फ्रांस के पास था। सोने के इस विषम विभाजन से स्पष्ट अभिप्राय था-अन्य देशों में सोने की कमी। सोना मुद्रा-स्फीति का आधार होता है। अतः सब सोने की कमी हो गयी तो सिक्के की कीमत भी बढ़ गयी और वस्तुओं की कीमत गिर गयी। इसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बुरा असर पड़ा और 1929 ई० में आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया। इस संकट का प्रथम असर ब्रिटेन पर हुआ और उसने स्वर्णमान को स्थगित कर दिया। उसकी इस नीति के अनुरूप कुछ और देशों ने भी स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था। स्वर्णमान को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए विभिन्न राज्यों के पास पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण संग्रह नहीं था। इतिहासकार लैंगसम का मानना है कि चाँद अत्यधिक परिमाण में होने से चीन तथा भारत जैसे देशों को जहाँ सिक्के का आधार चाँदी

था खरीदने की ताकत कम हो गयी और सारी कठिनाइयों की जड़ यही कमी थी। कुछ लोगों ने अति उत्पादन के कारण चाँदी का मूल्य घट जाने को आर्थिक संकट के लिए उत्तरदायी ठहराया। इतिहासकार बैन्स का भी मानना है कि चाँदी की क्रय शक्ति कम हो गयी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

5. **संकुचित आर्थिक राष्ट्रीयता:** सन 1929 से 1932 के बीच विश्व के अधिकांश देशों में संकुचित आर्थिक राष्ट्रीयता तथा आत्म-निर्भरता की भावना अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी। प्रत्येक राष्ट्र का यह प्रयास रहा था कि वह अपनी आवश्यकता की अधिकांश वस्तुएँ बाहर से न मंगाकर स्वयं अपने देश में बनाए। विभिन्न राज्यों में विदेशों से आने वाले माल पर उच्च सीमा शुल्क लगाये, विदेशों से आयात की मात्रा निश्चित थी, आप्रवास नियन्त्रण हेतु कानून बनाये और विदेशी राज्यों के विरुद्ध अन्य कई प्रकार से आर्थिक पक्षपात की नीति अपनायी। इंग्लैंड जो अभी तक मुक्त व्यापार का समर्थक था वह भी अपने राष्ट्रीय उद्योगों की सुरक्षा की द ष्टि से संरक्षण की नीति अपनाने लगा। एशिया में स्वदेशी आन्दोलन, रूस में बोल्सेविक क्रान्ति तथा युद्ध के फलस्वरूप यूरोप के नए स्थापित राज्यों की संरक्षण नीति से पश्चिम यूरोप के हाथ से एक बहुत बड़ा बाजार निकल गया। इस प्रकार संकुचित राष्ट्रीयता की भावना से जो नीतियां अपनायी गयी उनके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और अधिक संकुचित हो गया इसका प्रभाव उन देशों के लिए अहितकर था जिनको युद्ध-ऋण अथवा क्षतिपूर्ति की भुगतान करने के लिए अनुकूल व्यापार अन्तर की सख्त आवश्यकता थी।

6. **सट्टेबाजी की बढ़ती हुई प्रव त्ति:** अक्टुबर 1929 में अमेरिका के मुद्रा बाजार में सट्टेबाजी का एक तीव्र दौर आया, जिसने आम अमेरिकी पूँजीपति का ध्यान आकर्षित किया। इसके परिणामस्वरूप अमेरिका के धन कुबेर भी यूरोप को ऋण देने के बजाय अपने ही देश में पूँजी लगाने लगे। यूरोप, जो उस समय अमेरिकी ऋणों के आधार पर टिका हुआ था, सहसा आधारहीन हो गया। प्रो० फाकनर ने अमेरिका में सट्टेबाजी की बढ़ती हुई प्रव त्ति को भी आर्थिक मन्दी का एक कारण माना है। महायुद्ध के पश्चात् अमेरिका की आर्थिक सम द्धि में काफी व द्धि हुई, जिससे वहाँ के पूँजीपति अपनी अतिरिक्त पूँजी को सट्टे में लगाने के लिए आकर्षित हुए। प्रारम्भिक वर्षों में उससे बहुत लाभ हुआ अतः शेयरों की खरीद के लिए प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गयी। करीब 10 लाख नए व्यक्ति इस व्यवसाय में प्रवेश कर गए। परिणामस्वरूप 1 जनवरी, 1925 तथा अक्टूबर 1929 के बीच की अवधि में न्यूयार्क स्टॉक एक्सचेंज में अंशों की संख्या 44.34 करोड़ से बढ़कर 100 करोड़ हो गयी। अंश अपने अंकित मूल्य से बीस गुणा अधिक मूल्य पर बिक रहे थे। अमेरिका के लोगों में यह धारणा व्याप्त हो गयी कि देश में कभी न समाप्त होने वाली सम द्धि आ गयी है। किन्तु यह चरम सीमा थी और 29 अक्टूबर 1929 के बाद शेयर बाजार में गिरावट आरम्भ हो गई। परिणामस्वरूप सितम्बर 1929 से जनवरी 1933 की अवधि में 30 औद्योगिक इकाइयों के अंशों के मूल्य प्रति अंश 364.9 डालर से गिरकर 62.7 डालर रह गये। यही स्थिति अन्य अंशों की हुई। शेयर बाजार में लगभग 16 अरब डालर की हानि हुई, इससे यूरोपीय राज्यों की अर्थव्यवस्था को गहरा आघात पहुँचा।

7. **यूरोपीय आर्थिक व्यवस्था की निर्बलता:** यूरोप की स्थिति में विशेषकर इस समय दो बड़ी कमजोरियां थी, प्रथम तो यह थी कि अब यान्त्रिक उत्पादन में यूरोप का एकाधिकार नहीं रहा था। युद्धकाल की कठिनाइयों के कारण जापान, भारत तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशों ने फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड आदि देशों से माल खरीदने के स्थान पर स्वयं अपनी आवश्यकता की बहुत-सी वस्तुएँ बनाना आरम्भ कर दिया था। इस समय कनाडा, रूस आदि देश इतना सस्ता अन्न उत्पन्न कर रहे थे कि यूरोप के कृषि प्रधान देश मूल्यों में उनका मुकाबला नहीं कर सकते थे। इससे यूरोप के कृषि प्रधान देशों पर बुरा प्रभाव पड़ा। यूरोप की आर्थिक स्थिति की दूसरी निर्बलता यह थी कि उन दिनों यूरोप के देश ऋण प्राप्त कर अपना काम चला रहे थे। अनुमानतः जर्मनी ने डावस योजना के कार्यान्वित होने के बाद विदेशों से 90 करोड़ पौण्ड ऋण लिया था, जिसमें से अधिकांश अमेरिका से प्राप्त हुआ था। इस ऋण की सहायता से उसके व्यवसाय अच्छी तरह चल रहे थे, व्यापार उन्नति पर था और उसकी आय से वह क्षतिपूर्ति की किस्त चुका रहा था। 1924 से 1929 ई० के पांच वर्षों में उसने लगभग 50 करोड़ पौण्ड का भुगतान क्षतिपूर्ति के रूप में किया था और 40 करोड़ पौण्ड की उसकी बचत हुई थी। इस प्रकार 1929 ई० तक जर्मनी में सम द्धि उत्पन्न हो गयी थी किन्तु अक्टूबर 1929 में न्यूयार्क के बैंकों का दिवाला निकल गया। विश्व पर इस घटना के दो प्रभाव पड़े। प्रथम उन देशों को ऋण मिलना बन्द हो गया जो उससे निरन्तर ऋण लेकर ही अपना काम चला रहे थे। दूसरा प्रभाव मूल्यों में गिरावट का आना था।

8. **उपभोग में कमी:** उपभोग में कभी भी महान् आर्थिक मन्दी का एक प्रधान कारण बना। वर्ष 1900 से 1929 ई० के बीच की अवधि में मजदूरी की तुलना में लाभ में बहुत अधिक व द्धि हुई थी, जिससे बचत तथा उपभोग के बीच का अन्तर बहुत बढ़ गया था। जे० एम० क्लार्क ने लिखा है कि "There was an increase in the proportion of total income going to profits and a corresponding decrease in the relative proportion going to wages and salaries." 1900 से 1929 के बीच राष्ट्रीय आय में अनुमानतः चार गुणा व द्धि हुई थी किन्तु राष्ट्रीय आय में इस असाधारण व द्धि के परिणामस्वरूप भी जनता की क्रय शक्ति में कोई तीव्र व द्धि नहीं हुई, अतः आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ।

9. **यन्त्रजनित बेरोजगारी:** महान् आर्थिक मन्दी के विभिन्न कारणों में यन्त्रजनित बेरोजगारी भी एक प्रमुख कारण है। विश्व युद्ध के बाद उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में नए-नए यन्त्रों के उपयोग की होड़ सी लग गयी। इन यन्त्रों को अपनाने के कारण अब एक-एक यन्त्र 500 व्यक्तियों या उससे भी अधिक के बराबर काम करता था। इस प्रकार यान्त्रिक उन्नति ने बेकारों की संख्या को बहुत अधिक बढ़ा दिया। इससे प्रति व्यक्ति आय में कमी हुई, साथ ही क्रय शक्ति भी कम हो गयी, जिससे प्रभावोत्पादक माँग में कमी हो गयी।

महान् मन्दी के निवारण के लिए किए गए उपचार

महान् आर्थिक मन्दी 29 अक्टूबर 1929 से प्रारम्भ हुई। इस तिथि को Black Thursday कहा जाता है। इस समय से ही यूरोप के अनेक राजनीतिज्ञ इस प्रश्न पर विचार करने में तत्पर थे कि विविध राज्य किस प्रकार परस्पर सहयोग करके इस आर्थिक संकट को दूर कर सकते हैं। 1929 ई० में फ्रांस के विदेश-मन्त्री ब्रियां ने कहा था कि अब वह समय आ गया है जबकि यूरोप के सब राज्यों को मिलकर अपना एक संघ बना लेना चाहिए, जो न केवल उनके राजनीतिक जीवन को नियन्त्रित रखे, अपितु उनमें आर्थिक सहयोग भी स्थापित करे। किन्तु ब्रियां के इस विचार से यूरोप के अन्य देश सहमत नहीं थे। अतः इस पर कोई कार्यवाही नहीं हो सकी। इसी समय आस्ट्रिया के विदेश-मंत्री डा० जोहान शोबर ने राष्ट्र संघ सभा में यह प्रस्ताव रखा कि तीव्र गति से बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति का सामना करने के लिए यथाशीघ्र क्षेत्रीय समझौते किये जायें। इस सुझाव को स्वीकार भी कर लिया गया था किन्तु अन्ततः यह भी असफल सिद्ध हुआ। जून 1931 में अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने यूरोप के आर्थिक संकट को दूर करने के लिए कुछ प्रस्ताव रखे जिनमें जुलाई 1931 से जून 1932 तक अन्तर्राष्ट्रीय देनदारी की सब किस्तों को स्थगित रखना, जर्मनी से एक साल तक हर्जाने की वार्षिक किस्त न लेना तथा वार्षिक किस्त का जो अंश यंग योजना के अनुसार जर्मनी को अनिवार्य रूप से प्रदान करना है उसे भी बैंक ऑफ इन्टरनेशनल सेट्लमेन्टस द्वारा जर्मनी में ही लगाना, प्रमुख है। सम्भवतः इस योजना से आर्थिक संकट दूर होता किन्तु सभी देश इस बात के लिए तैयार नहीं थे।

इंग्लैंड द्वारा 2 सितम्बर 1931 को स्वर्ण आधारित मुद्रा पद्धति त्यागने के साथ ही लगभग सभी यूरोपीय देशों में अव्यवस्था फैल गयी तथा एक के बाद एक सभी देश स्वर्ण मुद्रा त्यागने लगे। 1932 ई० में यूरोप में केवल फ्रांस, इटली, स्विटजरलैण्ड, रूमानिया व हालैंड ही पुरानी मुद्रा प्रणाली पर चल रहे थे। इस स्थिति के बारे में इतिहासकार डेविस थामसन लिखता है कि स्वर्णाधारित मुद्रा का अब उस यूरोप में कोई औचित्य नहीं रह गया था जहां का स्वर्ण अब अमेरिका में पहुँच गया था। इस प्रकार स्वर्णाधारित मुद्रा के हटते ही आर्थिक संकट से मुक्ति पाने के प्रयास तेज हो गये।

विभिन्न देशों की सरकारों ने इस समस्या से निबटने के लिए जो रास्ते अपनाये वे निम्न हैं-

1. विभिन्न देशों की सरकारों ने कड़ा मुद्रा नियन्त्रण आरम्भ किया तथा विनिमय दरों पर अंकुश लगाया। तटकर को सुद ढ़ किया तथा आयात पर रोक लगायी तथा अपने-अपने देश में मन्दी के दौर पर नियन्त्रण पाने के लिए कठोर कानून लागू किए।

2. विभिन्न देशों की सरकारों ने क्षेत्रीय प्रबन्ध भी किये, जैसे कि नार्वे, स्वीडन आदि ने ओस्लोगुट बना कर तथा कृषि प्रधान देश हंगरी, रूमानिया व चैकोस्लोवाकिया तथा ब्रिटिश कामनवैल्थ के सदस्य देशों ने 1932 ई० में ओटावा समझौता करके अपने आयात-निर्यात को संतुलित किया।

3. सभी देशों ने मिलकर भी प्रयास किये, जिनमें प्रमुख हैं, जुलाई 1932 का लोजान सम्मेलन मुख्य है। इसके द्वारा युद्ध क्षतिपूर्ति की अन्तिम शर्तों को तय किया। इसमें इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम, जापान तथा इटली आदि कई देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में यंग योजना को समाप्त कर दिया तथा जर्मनी से केवल 75 करोड़ डालर की राशि की माँग की गयी। इस प्रकार जर्मनी को 90 प्रतिशत ऋण की राशि की छूट मिल गयी। इस छूट का कारण उदारता नहीं था अपितु

आर्थिक संकट को दूर करने तथा व्यापार को बढ़ाने के लिए ऐसा करना आवश्यक था। मित्र राष्ट्र यह चाहते थे कि अमेरिका भी इसी अनुपात में ऋणों की मात्रा कम कर दे किन्तु अमेरिका इसके लिए तैयार नहीं हुआ और यह सम्मेलन असफल रहा। इसी सम्मेलन में राष्ट्रसंघ से एक विश्व सम्मेलन बुलाने का अनुरोध किया गया किन्तु कोई ठोस कार्य नहीं किया जा सका। अब जर्मनी क्षतिपूर्ति की किस्त नहीं चुका सकता। इस प्रकार 10-11 वर्षों से चला आने वाला क्षतिपूर्ति का प्रश्न समाप्त हो गया। अन्य राष्ट्रों ने भी ऋण चुकाने बन्द कर दिये।

यूरोपीय संघ की योजना

इस स्थिति से निबटने के लिए एक उपाय यह भी था कि संसार के सभी देश आर्थिक क्षेत्र में परस्पर सहयोग करें। कई तरह के सुझाव व योजनाएं प्रस्तुत की गई परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव फ्रांस के विदेश-मंत्री ब्रिया का था, जिसने यूरोप को एक आर्थिक संघ निर्माण करने का प्रस्ताव किया। राष्ट्रसंघ की असेम्बली में इस पर विचार भी हुआ परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला क्योंकि कई राज्यों को इसमें फ्रांस का यूरोप पर प्राधान्य स्थापित करने का कुचक्र दिखायी देता था। अतः आस्ट्रिया के विदेश मंत्री ने प्रादेशिक समझौते का प्रस्ताव किया। असेम्बली में इस प्रस्ताव का स्वागत हुआ। 1931 ई० में यूरोप की राजधानियों में आर्थिक सम्मेलन हुए परन्तु आर्थिक प्रतिस्पर्धा और राष्ट्रीय ईर्ष्या के कारण कोई महत्त्वपूर्ण समझौता नहीं हो सका। केवल आस्ट्रिया और जर्मनी के बीच एक आर्थिक संघ बनाने के लिए समझौता हुआ। परन्तु फ्रांस ने यह कहकर कि जर्मनी इस प्रकार आस्ट्रिया को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करना चाहता है, उसका कड़ा विरोध किया और यह समझौता भी कार्यान्वित न हो सका।

राष्ट्रसंघ का सचिवालय भी बढ़ते हुए आर्थिक संकट से लगातार चिन्तित था क्योंकि इससे राजनीतिक वातावरण भी दूषित होता जा रहा था तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा का जन्म हो रहा था। 1931 ई० में राष्ट्रसंघ ने विश्व की अर्थव्यवस्था का विश्लेषण करवाया जिसकी रिपोर्ट वर्ल्ड इकोनोमिक सर्वे के नाम से प्रकाशित की गई। इस आर्थिक संकट को इस रिपोर्ट में इस प्रकार से दर्शाया गया था यह एक पूर्ण सत्य है कि इतना बड़ा संकट किसी एक कारण से नहीं उपज सकता जिस तरह से विभिन्न विशेषज्ञों तथा विचारधाराओं के लोगों के द्वारा इनका अलग-अलग ढंग से विश्लेषण किया गया है, वह यह सिद्ध करता है कि इसके जो कारण थे व गहरे व अस्पष्ट थे इससे न केवल विश्व की मुद्रा प्रणालियां ही प्रभावित हुई हैं बल्कि विश्व की अर्थव्यवस्था में भी आधारभूत परिवर्तन हो गए।

लन्दन का विश्व अर्थ सम्मेलन

लोजान सम्मेलन के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए राष्ट्रसंघ ने जून 1933 में लंदन में एक सम्मेलन आयोजित किया इस सम्मेलन में 67 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। सम्मेलन में सर्वप्रथम मुद्रा में स्थिरता लाने के लिए विचार हुआ और इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संरक्षण नीति का अन्त करने से पहले मुद्रा का स्थिरीकरण करना आवश्यक है। ब्रिटेन ने भी फ्रांस के इस प्रस्ताव का समर्थन किया। मुद्रा के प्रस्ताव पर कोई समझौता नहीं हो सका। इसी बीच अमेरिका में राष्ट्रपति का चुनाव हुआ तथा रूजवेल्ट सत्ता में आये जिसने मार्च 1933 में अमेरिकी मुद्रा को भी स्वर्णाधार से हटा दिया। रूजवेल्ट ने महान् साहस तथा धैर्य के साथ विश्व अर्थव्यवस्था को सुधारने का प्रयास आरम्भ किया।

मन्दी के इस दौर ने राजनीतिज्ञों, अर्थशास्त्रियों व दार्शनिकों को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि आखिर ऐसा क्यों हुआ? इसके कारणों को लेकर आज तक विवाद चल रहा है। साम्यवादी लेखक तथा मार्क्सवाद इतिहासकार इसे पूँजीवादी व्यवस्था का आन्तरिक संकट मानते हैं। रूसी लेखक जैसे झटस्की व बुखारिन इस मन्दी को आर्थिक संकट मानते हैं क्योंकि ऐसा होता तो इससे रूस भी प्रभावित होता। इस समस्या का सबसे गहन अध्ययन इस समय के प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री जान मेनार्ड किन्स ने किया। सन 1936 ई० में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'थ्योरी ऑफ एम्प्लायमेन्ट, इन्ट्रेस्ट एण्ड मनी प्रकाशित की। किन्स ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि बैंकों में आदमी का जमा पैसा स्वयं ही सही प्रकार से पूँजी निवेश का रूप नहीं ले सकता क्योंकि पूँजी व्यवस्था में बचत करने वाला व्यक्ति तथा उसकी बचत का उपयोग करने वाला व्यक्ति जरूरी नहीं कि एक ही ढंग से सोचते हों। किन्स ने सरकारी हस्तक्षेप को पूँजी व्यवस्था के लिए भी उचित ठहराया तथा बेरोजगारी हटाने का उत्तरदायित्व सरकार पर डाल दिया। किन्तु इतिहासकार जेन्स जाल इसे गलत मानते हैं इनके विचार में किन्स साम्यवाद का कट्टर विरोधी था तथा वह पूँजीवाद की केवल कुछ कुरीतियों को ही सरकारी हस्तक्षेप से दूर करना चाहता था, वह बीच का मार्ग सुझा रहा था।

आर्थिक संकट का प्रभाव

जर्मनी पर प्रभाव

इस संकट का अत्यधिक विनाशकारी प्रभाव मध्य यूरोप पर पड़ा उसका आयात-निर्यात लगभग समाप्त हो गया। रूस घाटी में, जो कभी कल-कारखानों के शोर से गूंजती थी वहां पर सिर्फ फ्रांसीस सैनिकों के जूतों की आवाज आती थी। एक अनुमान के अनुसार इस समय में जर्मनी में बेरोजगारों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी। दिसम्बर 1931 में 44 लाख सितम्बर 1932 में 50 लाख और दिसम्बर 1932 में 60 लाख हो गयी। बेरोजगारी की इस समस्या ने कई सामाजिक समस्याओं को जन्म दिया। इस संकट ने जर्मनी की तत्कालीन सरकार को, जिसे वाइमर गणतन्त्र कहते थे, अत्यन्त संकट में डाल दिया। इस स्थिति का लाभ हिटलर ने उठाया 1930 ई० में जर्मनी के चुनावों में हिटलर की नेशनल सोशलिस्ट पार्टी की संख्या संसद में 12 से बढ़कर 107 हो गयी। 1933 में जर्मन संसद में नाजी दल को 230 स्थान प्राप्त हो गए और उसको बहुमत प्राप्त हो गया इस प्रकार आर्थिक तनाव ने जर्मनी में नाजीवादी शासन की नींद रखी। जर्मनी की नई सरकार राष्ट्रपति के अधिशासन द्वारा चलने लगी जिसका अध्यक्ष राष्ट्रपति हिंडनबर्ग था और इस प्रकार जर्मनी में प्रजातन्त्र प्रणाली का ह्रास हो गया। अब क्रमशः मध्य यूरोप में अधिनायकवाद का प्रसार होने लगा। इस समय जर्मनी ने यह भी प्रयास किया था कि मध्य यूरोप के राज्य मिलकर अमेरिका तथा फ्रांस के व्यापार को हानि पहुँचायें किन्तु उसका यह प्रयास असफल रहा। यह संकट जब अपनी चरम सीमा पर था तभी 1931 में आस्ट्रिया का सबसे मजबूत समझा जाने वाला बैंक क्रेडिट अंस्टाल्ट डूब गया और उसके दो माह बाद ही जुलाई 1931 में जर्मन बैंक डार्मस्डटर उंद नेशनल बैंक दिवालिया हो गया। इसके बाद बैंकों तथा शेयर बाजारों में भय उत्पन्न हो गया। इसी समय जर्मनी ने यह धमकी भी दे डाली कि न तो वह क्षतिपूर्ति की शेष राशी देगा और न वह ऋणों पर ब्याज ही देगा। लोजान सम्मेलन ने क्षतिपूर्ति को लम्बी अवधि के बाण्डों में बदल दिया, जिससे जर्मनी की स्थिति धीरे-धीरे सुधरने लगी।

ब्रिटेन पर प्रभाव

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व लन्दन समस्त विश्व की बैंकिंग प्रणाली तथा पूँजी व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु था। यह लन्दन ही था जहां सारे विश्व के कर्जों का भुगतान होता था तथा विभिन्न मुद्राएँ सोने के साथ बदली जाती थी। किन्तु ब्रिटेन भी इस मन्दी के प्रभाव से अछूता न रह सका। सन 1929 के बाद ब्रिटिश उत्पादन, निर्यात, रोजगार तथा लोगों के निर्वाह स्तर में तेजी से गिरावट आने लगी, जो निम्न तालिका से स्पष्ट है-

ब्रिटेन के प्रमुख आर्थिक तत्त्वों का सूचकांक (1923 = 100)

	1929	1930	1931
औद्योगिक उत्पादन	106	98	89
रोजगार	102	98	94
थोक मूल्य तल	97	85	74
निर्यात	103	89	74

ब्रिटेन के इस आर्थिक संकट के सम्बन्ध में आर्थर बर्नी ने लिखा है कि 1930 का संकट धीरे-धीरे हो रहे इंग्लैंड की अर्थव्यवस्था के पतन की शायद एक अपरिहार्य अवस्था थी उसने अपना औद्योगिक नेत त्व खो दिया था और साथ ही निर्यात बाजार भी। वह कम अनकूलनशील, कम प्रगतिशील, कम गत्यात्मक तथा कम कुशल बन गई थी।

प्रथम विश्वयुद्ध की अवधि में इंग्लैंड तथा यूरोप के देशों में मूल्यों के भारी व द्धि हुई थी इस कारण सर्वप्रथम इंग्लैंड ने स्वर्णमान का परित्याग किया था किन्तु 1925 ई० में इसको फिर स्थापित कर दिया था। आर्थिक मन्दी के कारण 21 सितम्बर 1931 को उसे पुनः स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा क्योंकि 1931 ई० के मध्य तक उसका विदेशी व्यापार काफी कम हो गया था, जिससे उसकी आर्थिक स्थिति को गम्भीर आघात पहुँचा। जुलाई 1931 तक उसके बजट में 10 करोड़ पौण्ड का घाटा हो गया किन्तु बैंक ऑफ इंग्लैंड से धन निकलना बन्द नहीं हुआ। 1 अगस्त को बैंक ऑफ फ्रांस एवं अमेरिका के रिजर्व बैंक से भारी मात्रा में ऋण दिये जाने की घोषणा की गई फिर भी धन निकालने का कार्य बन्द नहीं हुआ इसके साथ 1931 में

बेरोजगारों की संख्या 35 लाख तक पहुँच गयी। सरकार द्वारा दिया जाने वाला बेराजगारी भत्ता जिसे डोल कहा जाता था। वास्तव में इस स्थिति का कोई सम्मानजनक समाधान नहीं था। अतः 24 अगस्त को मजदूर दल की सरकार ने त्याग-पत्र दे दिया और उसके स्थान पर राष्ट्रीय सरकार ने कार्य संभाला। नई सरकार ने शासकीय व्यय में भारी कटौती तथा अतिरिक्त कर लगाने की व्यवस्था की। इस बजट का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। नई सरकार ने व्यापार की सुरक्षित नीति को अपनाया। इस प्रकार 1931 ई० के अन्त तक यूरोप एवं विश्व के अधिकांश देशों में कीमते निम्नतम स्तर पर पहुँच गई तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चौपट हो गया। सर्वत्र भय और निराशा व्याप्त हो गई। ई० एच० कार ने भी इस समय की स्थिति के बारे में लिखा है कि 1931-32 ई० का शीतकाल सम्भवतः युद्धोत्तर काल के इतिहास का सर्वाधिक अशुभ काल था। फिर भी ब्रिटिश सरकार ने इस मन्दी के दौर से बच निकलने के लिए निम्न उपाय किए-

1. **स्वर्णमान का परित्याग एवं पौण्ड- स्टर्लिंग अवमूल्यनः** प्रथम विश्वयुद्ध के समय ब्रिटेन ने पहली बार स्वर्णमान का परित्याग किया था किन्तु उसे 1925 ई० में पुनः अपना लिया था इसका तात्पर्य पौण्ड का अवमूल्यन था, जिससे युद्ध के पूर्व की क्षमता दर को बनाये रखने में उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वास्तव में इंग्लैंड की अधिकांश कठिनाइयों का यही प्रधान कारण था। इंग्लैंड ने अपनी कठिनाइयों को देखते हुए पुनः सितम्बर 1931 में स्वर्णमान का परित्याग कर दिया। सरकार ने सोने का निर्यात बन्द कर दिया। स्वर्णमान परित्याग से ब्रिटेन को लाभ हुआ परन्तु अन्य देशों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। विदेशों में कीमतें और अधिक गिर गयी। आर्थिक संकट अपनी चरम सीमा पर था। इंग्लैंड की तरह अब नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, फिनलैंड और जापान को भी स्वर्णमान छोड़ना पड़ा। इस प्रकार आर्थिक मन्दी के दौरान ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनाई गई आर्थिक स्थिरीकरण की नीति से ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था में मन्दी का अन्त होकर पुनरूत्थान का मार्ग प्रशस्त हुआ।
2. **संरक्षण एवं साम्राज्जीय अधिमान की नीतिः** प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान सभी देशों ने मुक्त व्यापार की नीति को छोड़कर तटकरों में भारी व द्धि कर दी। अतः इंग्लैंड की संसद ने अनेक आपातकालीन विधेयक पारित कर अपने देश के उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया। इस नीति का उद्देश्य था- भुगतान सन्तुलन में हो रहे घाटे को ठीक करना, सरकारी आय में व द्धि करना तथा देश के अन्दर हो रहे उत्पादन व वितरण को अधिक कुशल बनाया। ये संरक्षणात्मक उपाय ब्रिटेन की मन्दी को दूर करने में बहुत हद तक सहायक सिद्ध हुए। इनके फलस्वरूप ब्रिटेन का व्यापारिक सन्तुलन उसके पक्ष में होने लगा।
3. **मौद्रिक नीति में परिवर्तनः** डा० एल० एम० राय ने लिखा है कि- ब्रिटिश शासन ने मन्दी के प्रभावों को दूर करने के लिए सस्ती मुद्रा नीति को अपनाया, जिसके अन्तर्गत बैंक दर में कमी की गयी। बैंक दर को घटाकर ढाई प्रतिशत कर दिया साथ ही युद्ध सम्बन्धी ऋण, जो ब्रिटेन के कुल राजकीय ऋण का एक तिहाई भाग था की ब्याज की दर को 5% से परिवर्तित करके 3.5% कर दिया गया। इससे दीर्घकालीन विनियोगों पर सूद की दर में कमी हो गयी। इसी प्रयास से सूती वस्त्र, कोयला तथा जलयान निर्माण आदि उद्योगों के पुनः निर्माण को प्रोत्साहित किया गया।

फ्रांस पर प्रभाव

सन् 1920 में फ्रांस यूरोप का सबसे शक्तिशाली देश प्रतीत होता था क्योंकि उसने जर्मनी से प्राप्त होने वाली क्षतिपूर्ति की रकम से अपनी क्षति को पूरा कर लिया था यही कारण था कि 1930-31 ई० की विश्वव्यापी मन्दी का फ्रांस पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ा तथा फ्रांसीसी मुद्रा फ्रेंक अपनी साख को बनाये रख सकी। फ्रेंक की साख इसलिए भी बनी रही कि फ्रांस के पास इस समय यूरोप का सबसे अधिक स्वर्ण भण्डार था किन्तु युद्धोत्तर वर्णों में उसकी मुद्रा का अवमूल्यन भी किया गया। फ्रांस पर अन्तर्राष्ट्रीय ऋण नहीं था इस कारण उस पर मन्दी का कोई असर न पड़ा।

रूस पर प्रभाव

रूस की बोल्शेविक क्रान्ति ने उसका यूरोप के अन्य देशों से सम्बन्ध कुछ समय के लिए विच्छेद कर दिया था। पश्चिमी देशों में यह भावना व्याप्त होती जा रही थी कि रूस में साम्यवादी व्यवस्था और स्टालिन के प्रयासों से रूस में साम्यवाद काफी सफल रहा। स्टालिन ने अपनी पंचवर्षीय योजनाओं, जमींदारों के दमन तथा औद्योगिक योजनाओं के द्वारा रूस में, कृषि उत्पादन, कोयले व लोहे का उत्पादन इतना बढ़ा दिया कि 1929-30 ई० की आर्थिक मन्दी का रूसी अर्थव्यवस्था पर कोई

प्रभाव नहीं पड़ा। मन्दी का रूस पर प्रभावहीन हो जाना, साम्यवादी लेखकों के अनुसार इस बात का परिचायक था कि पूँजीवादी व्यवस्था खोखली हो चुकी थी और भविष्य में साम्यवाद ही सफल होगा। 1930 ई० तक रूस प्रगति के पथ पर आ गया था।

अमेरिका पर प्रभाव

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व अमेरिका एक कर्जदार देश था, जो मुख्यतः इंग्लैंड के ऋण से अपने उद्योग-धन्धों को विकसित कर रहा था। किन्तु युद्ध के दौरान बड़े पैमाने पर खाद्य-पदार्थ तथा अन्य सामग्री ने मित्र राष्ट्रों को दी। यूरोप के देश इस व्यापार के बदले कोई निर्यात नहीं दे सके। अतः व्यापार सन्तुलन तेजी से अमेरिका के पक्ष में जाना आरम्भ हो गया। युद्ध के चार वर्षों में अमेरिका कर्ज लेने वाला देश बन गया। युद्ध के बाद भी अमेरीकियों ने अपनी युद्ध-पूर्व की आर्थिक नीतियों को जारी रखा, जिनके फलस्वरूप वह एक निर्यातक देश बन गया। 1929 ई० के ग्रीष्म काल तक तो अमेरिकी शायद यह सोच रहे थे कि उन्होंने शाश्वत सम द्धि का रास्ता ढूँढ़ लिया है। एक दशक में उनका औद्योगिक उत्पादन ड्योढ़ा हो चुका था। व्यापारी अपने लाभों से तथा मजदूर अपनी मजदूरी से सन्तुष्ट थे इस समय प्रत्येक व्यक्ति यही सोचता था कि इस सम द्धि से उत्पादन में व द्धि होगी। किन्तु अक्टूबर 1929 में ये सारे सपने चूर हो गये। 1929-33 ई० के चार वर्षों में अमेरिकी अर्थव्यवस्था जैसे रसातल में ही चली गयी। चालू मूल्यों का राष्ट्रीय उत्पाद 46 प्रतिशत कर 104 अरब डालर से 56 अरब डालर पर आ गया। नागरिक रोजगार में करीब 20% की गिरावट आयी तथा बेकारों की संख्या 15 लाख से बढ़कर एक करोड़ 30 लाख हो गयी। टिकाऊ वस्तुओं का उत्पादन 80% गिर गया। 1929 ई० की मन्दी के व्यापक प्रभावों को देखते हुए संघीय सरकार ने पहली बार गम्भीर रूप से स्थिति के नियन्त्रण के लिए प्रयत्न किये। राष्ट्रपति हूवर ने अक्टूबर 1929 के संकट के बाद रेल कम्पनियों के अध्यक्षों, उद्योगपतियों, मजदूर नेताओं के साथ मन्त्रणाएँ कीं। ऋण वितरण की व्यवस्था भी की गई किन्तु उपर्युक्त उपाय मन्दी के प्रसार को रोकने में सफल न हो सके। अन्ततः 1933 ई० में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने नवीन कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रभावशाली कदम उठाये। रूजवेल्ट ने नवीन कार्यक्रम के तीन मुख्य उद्देश्य थे- 1. पुनरूत्थान, 2. सुधार तथा 3. सन्तुलन। पुनरूत्थान का उद्देश्य राष्ट्र को घातक मन्दी से बाहर निकालना था तथा सुधारवादी कार्यक्रमों का उद्देश्य उन आर्थिक बुराइयों को दूर करना था जिनके कारण आर्थिक संकट आ गया। सन्तुलन का उद्देश्य आर्थिक प्रणाली में सन्तुलन स्थापित करना था, जिसके अर्न्तगत कमजोर क्षेत्रों जैसे, श्रम तथा कृषि को मजबूत बनाना तथा अन्य क्षेत्रों जैसे उद्योग तथा वित्त को द ढ़ संघीय नियन्त्रण के अन्तर्गत लाना था। इस प्रकार न्यूडील का मुख्य कार्य पूँजीवाद की रक्षा करना था।

इस प्रकार फ्रांस तथा रूस को छोड़कर विश्व के सभी छोटे व बड़े देशों पर विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य पड़ा और उसके कारण वहाँ आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन हुए।

आर्थिक संकट के परिणाम

आर्थिक

इस आर्थिक संकट में सरकार व समाज के प्रत्येक वर्ग को कठिनाई तथा हानि हुई। सरकारी बजट में घाटा आया। इससे सरकार को करों में व द्धि करनी पड़ी। बहुत से कारखानें बन्द हो गये, लाखों मजदूर बेकार हो गए। गोदाम वस्तुओं से भर गए परन्तु उनका कोई खरीदार नहीं था। कारखाने बंद होने से पूँजीपति वर्ग भी संकट में आ गया था। मध्यम वर्ग के जिन लोगों का धन कल कारखानों में शेयरों के रूप में लगा हुआ था वे भी परेशान थे। सरकार ने ब्याज की दर कम कर दी थी। बेरोजगारों को भत्ता दिया जाने लगा किन्तु धन के अभाव में सरकार को अपने इस कार्य में सफलता नहीं मिल सकती थी।

राजनीतिक

आर्थिक संकट ने विश्व के उद्योग-धन्धों को बर्बाद कर दिया था, उसका बड़ा महत्त्वपूर्ण परिणाम राजनीतिक क्षेत्र में भी हुआ। किसी भी देश की आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, दोनों परस्पर एक-दूसरे पर बड़ा प्रभाव डालती है। मन्दी के कारण जनता के सभी वर्गों को बेकारी, भुखमरी आदि अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा जिससे उनमें निराशा, अस्थिरता एवं असुरक्षा की भावना उत्पन्न हुई। लोकतन्त्रीय सरकारें मन्दी से उत्पन्न समस्याओं में सफल नहीं हो सकीं। अतः जनतन्त्र के स्थान पर अधिनायक तन्त्र को प्रोत्साहन मिलने लगा। कई राज्यों में जनता ने सत्तारूढ़ दलों के विरुद्ध

मत देकर उन्हें अपदस्थ कर दिया। इटली में मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर जैसे तानाशाहों का उदय हुआ। इंग्लैंड में मजदूर दल की सरकार का पतन हो गया और उसके स्थान पर सर्वदलीय सरकार का निर्माण हुआ। आस्ट्रिया, स्पेन, हंगरी, यूगोस्लाविया, पोलैण्ड, पुर्तगाल, यूनान, बुल्गेरिया, रूमानिया तथा एस्टोनिया आदि देशों में भी किसी न किसी रूप में अधिनायक तन्त्र की लहर आयी।

लोग पूँजीवाद का विरोध कर साम्यवाद की ओर आकर्षित होने लगे। इस कारण पूँजीवादी देशों ने हिटलर तथा मुसोलिनी के साथ मिलकर तुष्टीकरण की नीति अपनाकर उन्हें साम्यवाद के विरोध में खड़ा किया।

अध्याय-13
नाजीवाद तथा फासीवाद की विचारधाराएँ: जर्मनी तथा इटली

प्रथम विश्वयुद्ध से असंतुष्ट तथा विश्व आर्थिक मन्दी से प्रभावित कुछ देशों के लोगों में शासन के प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न हुई, अतः इस समय में ऐसी सरकारों की स्थापना हुई, जो मानवीय गतिविधियों का पूर्ण नियंत्रण अपने हाथ में रखने का यत्न करती थीं। इस प्रकार की सरकार (शासन) को 'समग्रवादी' या 'सर्वसत्तावादी' कहा जाता है। सभी 'सर्वसत्तावादी' सरकारों में कुछ समानताएँ हैं। इनमें एकदलीय शासन प्रणाली, गुप्त पुलिस, बहुत थोड़ी स्वतंत्रताएँ और कठोर सैंसर व्यवस्था सम्मिलित है। इस तरह की शासन व्यवस्था में व्यक्ति के अधिकारों और हितों को पूर्णतः सरकार की एक व्यापक योजना के अधीन कर दिया जाता है और लोगों से आशा की जाती है कि वे बिना विरोध किए अधिनायक और उसके सहायकों की आज्ञाओं का पूरी तरह पालन करें। यह प्रणाली एक सच्ची लोकतंत्रीय सरकार से बिल्कुल विपरीत है, जो निष्ठा की तो आशा करती है किन्तु अपने नागरिकों में अनेक मतों को और प्रश्नात्मक मनोव त्ति को प्रोत्साहन देती है।

आधुनिक काल में सर्वसत्तावादी शासन प्रणाली यूरोप के दो प्रमुख देशों-इटली और जर्मनी में देखने को मिलती है, जहाँ लोगों के असंतोष का लाभ उठाकर एक नयी शासन प्रणाली, सिद्धान्त, जीवन दर्शन और आदर्शों को अपनाया गया था। किन्तु कई ऐसे भी देश थे, जो अधिनायकों की मोहक किन्तु घातक मीठी बातों के भुलावे में नहीं आए। वस्तुतः उन्होंने साम्यवाद और फासिस्टवाद, दोनों से ही यह कहा-"तुम दोनों ही भाड़ में जाओ।" वे वामपक्ष की पराकाष्ठा पर स्थित क्रान्तिकारियों और दक्षिण पक्ष की पराकाष्ठा पर स्थित प्रतिक्रियावादियों के मध्य एक बीच की स्थिति पर डटे रहे। किन्तु सर्वसत्तावादी शासन प्रणाली ने एक ऐसी विचारधारा का सूत्रपात किया, जिससे विश्व का कोई भी देश प्रभावित हुए बिना नहीं रहा।

इटली में फासिस्ट अधिनायक तंत्र की स्थापना

फासिस्ट अधिनायक तंत्र का जन्म: प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् इटली के नगरों में एक नारा सुनाई पड़ता था, "लेनिन चिरंजीवी हो।" रूस की तरह वहाँ भी मजदूर कारखानों पर स्वामित्व प्राप्त करना चाहते थे और किसान जमीनों को छीन रहे थे परन्तु इटली साम्यवादी नहीं बना। अनुभव शून्यता और कच्चा माल प्राप्त करने में असमर्थता के कारण विवश होकर मजदूरों ने छीने हुए कारखानों को छोड़ दिया। इस समय लोगों के कुछ गिरोहों ने, जो अपने आप को 'फासिस्ट' कहते थे, यह घोषणा की कि वे इटली की साम्यवाद से रक्षा करेंगे। 'फासिस्ट' शब्द उस नाम से बना है, जो प्राचीन रोमनों ने रोमन सरकार के प्राधिकार और शक्ति के एक प्रतीक का रखा था। यह प्रतीक युद्ध के फरसे के चारों ओर लिपटी हुई छड़ों के गटठ्र के रूप में था।

फासिस्ट कौन थे?: इस संगठन में बहुत से तो युद्धों में लड़ चुके सैनिक थे, जिन्होंने युद्ध से लौटकर देखा कि मुनाफाखोर व्यक्ति धनवान हो रहे हैं, कीमतें बढ़ रही हैं, कारखानें बन्द हो रहे हैं, और नौकरियों का मिलना लगभग असम्भव हो गया है। इनमें बहुत से उग्र राष्ट्रवादी और साम्राज्यवादी थे, जो इस बात से नाराज थे कि इटालियन लोगों को शान्ति संधियों में उतना लाभ प्राप्त नहीं हुआ, जितना कि उन्हें युद्ध पूर्व में वचन दिया गया था। कुछ सैन्यवादी थे, जो अपेक्षाकृत बड़ी सेना तथा अधिक राजनीतिक प्रभाव चाहते थे। कुछ लोग इसलिए फासिस्ट बन गए, क्योंकि वे इटली की युद्धोत्तर गड़बड़ियों के लिए घूसखोर, निकम्मी संसदीय सरकार को दोषी ठहराते थे, जिसका अध्यक्ष राजा विक्टर इमेनुअल त तीय था। फासिस्ट आन्दोलन के समर्थकों को अधिकांश धन व्यवसायियों और जमींदारों से प्राप्त होता था क्योंकि वे साम्यवाद की आशंका से डरे हुए थे। वे इटली के असंतुलित बजट, सस्ती कागजी मुद्रा और घटते हुए विदेशी व्यापार से चिंतित थे। फासिस्टवाद सम्पत्ति के अधिकारों

की रक्षा का, प्रबल राष्ट्रवाद, सैन्यवाद और साम्राज्यवाद का, सब विरोधियों के दमन का और एकदलीय अधिनायक तंत्र का प ष्ठपोषक था।

फासिस्ट नेता मुसोलिनी का उदयः विचित्र बात यह है कि समाजवादियों से घ णा करने वाले फासिस्टों का नेता, एक समय समाजवादी रहा, बेनिटो मुसोलिनी था। किसी समय उसने हिंसापूर्वक पूँजीवाद को उखाड़ फेंकने के लिए, अन्तर्राष्ट्रीयता और लोकतंत्र का प्रचार करने वाले और साम्राज्यवाद, सैन्यवाद और राष्ट्रवाद की निंदा करने वाले सम्पादकीय लेख लिखे थे। उसने मिलान से 'पोपोलों डी इटेलिया' नामक दैनिक समाचार पत्र में ऐसे उत्तेजक लेख लिखे, जिसके कारण इटली मई, 1915 में मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो गया। जेक्सन का मत है कि इस समाचार-पत्र को चलाने के लिए उसे फ्रांस से आर्थिक सहायता मिली थी। 1916 ई० में मुसोलिनी भी एक साधारण सैनिक के रूप में युद्ध क्षेत्र में गया था किन्तु कुछ माह बाद गम्भीर रूप से घायल हो जाने के कारण उसे युद्ध से वापस भेज दिया गया। स्वस्थ हो जाने के बाद उसने पुनः अपने पत्र का सम्पादन आरम्भ कर दिया। युद्ध काल के अन्त तक वह साम्यवादियों के युद्ध-विरोधी प्रचार का खण्डन करता रहा और अपने देशवासियों के मनोबल को ऊँचा बनाए रखने का प्रयत्न करता रहा।

मुसोलिनी के आदर्श नायक जूलियस सीजर और नेपोलियन थे। यह छोटा गंजा व्यक्ति, जिसकी छाती ढोल जैसी थी और जिसका जबड़ा आगे को निकला हुआ था, जन-समुदाय के सामने भाषण देते हुए बड़ी नाटकीय मुद्राएँ बनाता था। उसकी बाहें मुड़ी हुईं, मुख पर क्रोध का आवेश और दमकती हुई आँखें, तब उसके मुख से शब्द ऐसे निकलते थे, जैसे मशीनगन से गोलियाँ छूट रही हों। इन सबके द्वारा वह अपने श्रोताओं को भावोद्वेलित कर देता था। वह जन समर्थन प्राप्त करने के लिए सब वर्गों को सब चीजों का वचन दे देता था। मुसोलिनी निरंतर एक ऐसे शासन के लिए प्रचार करता था, जिसमें लोग एक ऐसे नेता की (स्वयं उसकी) आज्ञा का आँख मूँद कर पालन करें, जो राज्य का प्रतिनिधित्व करे और सब निश्चय करे। वह लोकतंत्र के प्रति बहुत ही अवज्ञा प्रदर्शित करता था। वह कहा करता थाः "फासिस्टवादी दावे से कहता है कि-सभी मनुष्य असमान हैं।"

इटली की युद्धोत्तर काल की कठिन परिस्थितियों के कारण मुसोलिनी को फासिस्ट संगठन स्थापित करने का अवसर मिला। मुसोलिनी ने स्वयं लिखा था कि "महायुद्ध की समाप्ति के बाद के दो वर्ष (1919 व 1920 ई०) मुझे इटली के जीवन के सर्वाधिक अंधकारपूर्ण एवं कष्टदायक प्रतीत हुए। पेरिस के शान्ति सम्मेलन के असंतोषजनक निर्णय और उसके साथ देश की लगातार बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति, बेरोजगारी, अशान्ति और अराजकता तथा साम्यवादी क्रान्ति के भय के कारण जनता के विभिन्न वर्ग सरकार के विरोधी हो गए। उन्हें निर्बल एवं अकर्मण्य प्रजातंत्रीय सरकार से किसी भी प्रकार की आशा नहीं रही। ऐसी स्थिति में मुसोलिनी ने 23 मार्च, 1919 को मिलान नगर में 'फासियो डी कम्बेटिमेन्टो' या फासी (सैन्यदल) की स्थापना की। 'फासियो' शब्द लेटिन भाषा के 'फासेस' (Fasces) का रूपान्तर था, जिसका अर्थ होता है "गट्ठा या समूह"। इस संगठन के आरम्भिक सदस्यों की संख्या केवल 54 थी और उनमें भूतपूर्व सैनिक तथा उग्र विचारों के राष्ट्रवादी लोग थे। इस दल ने अपना प्रारम्भिक ध्येय युद्ध से लौटकर आए सैनिकों को न्यायोचित अधिकार दिलवाना तथा उनके हितों की रक्षा करना, देश की आंतरिक नीति में कुछ परिवर्तन करना और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में इटली की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए काम करना था। इस दल के स्वयंसेवक काली कमीज पहनते थे, अस्त्र-शस्त्र धारण करते थे और अनुशासनप्रिय थे। उनका अपना ध्वज था। मुसोलिनी दल का प्रधान कमाण्डर था, जिसे 'ड्यूस' (Duce) कहा जाता था। उसने अपने घोषणा-पत्र में अपने दल का निम्नलिखित कार्यक्रम प्रस्तुत किया-

1. हथियार बनाने वाले कारखानों का राष्ट्रीयकरण किया जाय।
2. कुछ उद्योगों पर मजदूरों का नियंत्रण स्थापित किया जाए।
3. मजदूरों से आठ घण्टे से अधिक काम न लिया जाए।
4. युद्ध काल में पूँजीपतियों ने जो मुनाफा कमाया है, उसका 85 प्रतिशत जब्त कर लिया जाए।
5. चर्च की सम्पत्ति जब्त कर ली जाए।
6. देश का नया संविधान बनाने के लिए एक संविधान सभा गठित की जाए जिसमें आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली तथा वयस्क मताधिकार को स्वीकार किया जाए।

7. फ्यूम तथा डालमेशिया पर इटली का अधिकार स्थापित किया जाए।

8. आर्थिक कौंसिलों का निर्माण किया जाए और उन्हें कानून बनाने के अधिकार प्रदान किए जाए।

फासिस्ट दल के इस घोषणा-पत्र के कारण उसको बहुत लोकप्रियता मिली। फासीवाद की व्याख्या करते हुए मुसोलिनी ने लिखा है-"फासीवाद कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है, जिसकी हर बात को विस्तारपूर्वक पहले से ही स्थिर कर लिया गया हो। फासीवाद का जन्म कार्य किए जाने की आवश्यकता के कारण हुआ है, अतः फासीवाद सैद्धान्तिक होने के स्थान पर आरम्भ से ही व्यावहारिक रहा है।"

मेरीयन आइरिश के मतानुसार "अपने विकसित रूप में फासीवाद एक दल का शासन है, जिस पर तानाशाह का नियंत्रण रहता है। यह तानाशाह सर्वाधिकार पूर्ण राज्य (Totalitarian State) की स्थापना चाहता है। फासीवाद के अन्तर्गत उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिक राष्ट्रवाद का, बीसवीं शताब्दी के आर्थिक समष्टिवाद के साथ समन्वय रहता है।" मुसोलिनी ने एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही कि "हम फासिस्टों में परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्तवादियों की मान्यताओं को तोड़ने का साहस है। हम कुलीनतंत्रवादी भी हैं, क्रान्तिकारी भी हैं और प्रतिक्रियावादी भी; श्रमजीवी भी हैं और श्रमिक विरोधी भी, शान्तिवादी भी हैं। इतना ही काफी है कि हम लोगों का एक द ष्टि बिन्दु है-सर्वप्रथम राष्ट्र और सब बातें बाद की।"

फासीवाद के स्त्रोतः फासीवाद का कोई मौलिक दर्शन नहीं है। यह अनेक दार्शनिक विचारधाराओं का मिश्रण है। वास्तव में यह एक विरोधी दार्शनिक विचारधारा है और अनेक दार्शनिक विचारधाराओं का विरोध करती है। फासीवाद के समर्थक अवसरवादी थे। वे कार्य में विश्वास करते थे, बात में नहीं। मुसोलिनी डार्विन से अधिक प्रभावित था। डार्विन के अनुसार, जो जीवन संघर्ष की प्रतिस्पर्धा में ठहर नहीं सकते, वे नष्ट हो जाते हैं। जीवन संघर्ष से भरा हुआ है। फासीवादी का मुख्य स्त्रोत बुद्धि विरोधवाद है। फासीवाद में इसको ग्रहण किया गया है क्योंकि सम्पूर्ण मानव जाति पूर्ण रूप से बुद्धिमान नहीं हो सकती। फासीवाद का आधार परम्परावादी भी है। इसी विचारधारा के आधार पर फासीवादियों ने उग्र राष्ट्रवाद का निर्माण किया। फासीवाद हीगल के आदर्शवाद (Idealism) से भी प्रभावित है। इस प्रकार फासीवाद विरोधीवादों का मिलाजुला वाद था।

फासिस्टों के उद्देश्यः फासीवाद व्यक्तिवाद, पूँजीवाद, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद, उदारवाद और लोकतंत्रवाद का कट्टर विरोधी था। वह 'राज्य' (State) को सर्वश्रेष्ठ मानता था। "राज्य के भीतर सब कुछ है, राज्य के बाहर कुछ नहीं, राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं है।" फासीवाद एक दल, एक नेता और एक शासन में विश्वास रखता था। यह युवकों को आह्वान देता था-विश्वास करो, आज्ञा मानो और लड़ो।"

फासिस्टों के मुख्य उद्देश्य थे राज्य की शक्ति एवं सत्ता को बढ़ाना, निजी सम्पत्ति की रक्षा, शक्तिशाली सैन्य संगठन, साम्यवाद का विरोध, शक्तिशाली विदेश नीति, व्यापार व उद्योग धंधों की रक्षा आदि।

मुसोलिनी द्वारा सत्ता प्राप्तिः मार्च, 1919 में मिलान में अपने दल के गठन के पश्चात् मुसोलिनी ने इस दल के संगठन पर जोर दिया। प्रारम्भ में इस संगठन की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। 1919 ई० के संसदीय चुनावों में फासिस्टों को कोई भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ। किन्तु मुसोलिनी इससे निराश नहीं हुआ। वह साहस के साथ अपने संगठन में लगा रहा। फासिस्टों ने देश के समक्ष जो प्रथम कार्यक्रम रखा, उसमें कुछ समाजवादी सुधारों की माँग की गई। इनमें आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली, सार्वलौकिक मताधिकार, मजदूरों के लिए काम की आठ घण्टे की सीमा, पूँजीपतियों पर अधिक कर, चर्च की सम्पत्ति को जब्त करना, सीनेट की समाप्ति, नयी शासन प्रणाली अपनाने के उद्देश्य से राष्ट्रीय संविधान सभा आमंत्रित करना, शस्त्रास्त्र बनाने वाले कारखानों का राष्ट्रीयकरण तथा फ्यूम और डालमेशिया का तुरन्त अधिग्रहण करना आदि बातों का उल्लेख था। इस कार्यक्रम का उद्देश्य, विशेष रूप से युद्ध से अवकाश प्राप्त सैनिकों को अपनी ओर आकर्षित करना था।

मुसोलिनी ने बड़े जोश से अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। वह कहता था-"आज फासिज्म एक पार्टी है, एक फौज है, एक संस्था है। किन्तु यह काफी नहीं है। इसे इटली की आत्मा बनकर रहना चाहिए।" वह नवयुवकों को कहा करता था-"तुम खतरनाक बनकर जीवन बिताओ। अगर मैं आगे बढ़ता हूँ, तो मेरा अनुसरण करो और यदि मैं पीछे हटता हूँ, तो मुझे गोली मार दो। मैं शान्ति में विश्वास नहीं करता।"

मुसोलिनी के शक्तिशाली नेत त्व में फासिस्ट दल की शक्ति निरंतर बढ़ती गयी। 1919 ई० में इटली में केवल 22 फासिस्ट सभाएँ थीं, जिनमें 17,000 सदस्य थे। 1920 ई० में फासिस्ट सभाओं की संख्या 118 हो गयी और इसके सदस्य 30,000 हो गऐ। 1921

ई० में 1200 फासिस्ट सभाएँ थीं और 3,07,000 सदस्य थे। मुसोलिनी के अद्‌भुत साहस और संगठन का ही यह परिणाम था कि तीन साल के थोड़े से समय में उसकी पार्टी इटली की प्रमुख राजनीतिक शक्ति बन गई। अब समय आ गया था, जबकि लोक निर्मित सरकार, रोम स्थित सरकार को चुनौती देने वाली थी। फासिस्ट दल के सदस्य काली कमीज पहनते थे, इनकी सैनिक ढंग पर कार्यशील टोलियाँ बनाई गई थीं।

फासिस्टों द्वारा रोम पर धावाः अक्टूबर, 1922 में नेपल्स में फासिस्ट दल का सम्मेलन हुआ। इसमें 40 हजार से भी अधिक फासिस्ट स्वयंसेवकों ने अस्त्र-शस्त्रों में सुसज्जित होकर भाग लिया। इस सम्मेलन में मुसोलिनी ने घोषणा की-"यदि उनकी निम्नलिखित माँगें स्वीकार नहीं की गईं, तो वह अपने स्वयंसेवकों की सहायता से रोम पर चढ़ाई कर देगा। इस चढ़ाई के लिए युद्ध की तिथि 27 अक्टूबर निश्चित की गई।" मुसोलिनी ने निम्नलिखित माँगें प्रस्तुत कीं-

1. केबिनेट में फासिस्ट दल के पाँच सदस्यों को सम्मिलित किया जाय,
2. नए चुनाव कराने की घोषणा की जाए,
3. सरकार विदेश नीति का द ढ़ता से पालन करे,
4. आर्थिक सुधारों को यथाशीघ्र कार्यान्वित किया जाय। इन माँगों के अतिरिक्त मुसोलिनी ने सम्मेलन के खुले अधिवेशन में शासन सत्ता फासिस्टों को सौंपने की भी माँग की थी।

इटली की सरकार ने इन माँगों को अस्वीकार कर दिया। फलतः निर्धारित तिथि, 27 अक्टूबर, को मुसोलिनी अपने दल के 50 हजार स्वयंसेवकों के साथ रोम की ओर बढ़ा। प्रधानमंत्री फेक्टा ने इस गम्भीर स्थिति का सामना करने के लिए राजा से मार्शल लॉ घोषणा करने की अनुमति माँगी, परन्तु राजा विक्टर इमेन्युअल त तीय ने इस प्रकार की घोषणा करने की स्वीकृति नहीं दी। अतः 28 अक्टूबर को फेक्टा की सरकार ने त्यागपत्र दे दिया। अब इटली में कोई ऐसा मंत्रिमण्डल नहीं बन सका, जो शक्तिशाली हो। इटली के राजा ने भी भली-भाँति अनुभव कर लिया था कि मुसोलिनी का सामना करना बेकार है, अतः उसने 29 अक्टूबर को मुसोलिनी को नया मंत्रिमण्डल बनाने के लिए आमंत्रित किया। 30 अक्टूबर, 1922 को मुसोलिनी रोम पहुँचा और उसी दिन उसके नए मंत्रिमण्डल ने शपथ ग्रहण की। मुसोलिनी के नए मंत्रिमण्डल में 4 मंत्री और 9 उपमंत्री फासिस्ट दल के थे और शेष दक्षिणपंथी उदारवादी, पापुलिस्ट, राष्ट्रवादी एवं सोशल डेमोक्रेटिक दल के थे। 16 नवम्बर, 1922 को चेम्बर ऑफ डेपुटीज के समक्ष अपने प्रथम भाषण में उसने कहा कि "यदि मैं चाहता तो 30,000 सशस्त्र फासिस्ट नवयुवक, इस सभाकक्ष (विरोधियों के) को मुर्दों को घर बना देते, मैं संसद को समाप्त करके केवल फासिस्ट दल की सरकार बना लेता परन्तु मैंने ऐसा नहीं किया।" इस अधिवेशन के पश्चात् उसने देश की आन्तरिक एवं बाह्य समस्याओं का सामना करने के लिए सदन से एक वर्ष के लिए शासन की समस्त शक्तियाँ प्राप्त कर लीं। इस प्रकार रक्त की एक बूँद बहाए बिना ही उसने रोम पर अधिकार कर लिया। अभी तक मुसोलिनी को स्वयं भी अपनी सफलता पर संदेह था परन्तु भाग्य ने उसका साथ दिया। उसने विक्टोरिया-वेनेटों के युद्ध के विजेता डियाज को सेना का प्रधान अधिकारी बनाकर सेना की स्वामिभक्ति प्राप्त कर ली। इस प्रकार मुसोलिनी इटली का भाग्य विधाता बन गया। मुसोलिनी ने अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करके, इटली की प्रशासन-व्यवस्था का 'फासिस्टीकरण' करना आरम्भ किया। प्रान्तों के 'प्रिफेक्ट' (Prefects) के पदों तथा पुलिस विभाग एवं अधिकारी तंत्र के प्रमुख पदों पर फासिस्टों की नियुक्तियाँ की गईं। एक राष्ट्रीय सेना का भी गठन किया गया, जिसमें फासिस्ट दल के सशस्त्र नवयुवकों को स्थान दिया गया। इससे फासिस्ट दल के नवयुवक सदस्य संतुष्ट हो गए और मुसोलिनी की सत्ता को भी बल मिला। मुसोलिनी की इस सफलता के बारे में गैथोर्न हार्डो ने लिखा है, "इतिहास के व्यापक द ष्टिकोण से इटली के हाल के इतिहास में अक्टूबर, 1922 में फासिस्ट शासन की स्थापना को सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की घटना कहा जा सकता है।"

मुसोलिनी के अधिनायक तंत्र की स्थापनाः मुसोलिनी जनतंत्र का विरोधी था। वह बहुमत को घ णा की द ष्टि से देखता था। उसके अनुसार राज्य सर्वोपरि है। समस्त वस्तुएँ राज्य में हैं, राज्य के बाहर कुछ भी नहीं। वह राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानता था। इस प्रकार मुसोलिनी राज्य के सम्मुख व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार नहीं करता था। मुसोलिनी ने शासन संचालन के लिए अग्रलिखित अंगों की व्यवस्था की-

1. **मिनिस्ट्रीः** इसका संगठन केबिनेट की भाँति किया गया था। मुसोलिनी के समर्थकों को ही इसमें सम्मिलित किया जाता था।
2. **ग्राण्ड कौंसिल ऑफ फासिस्ट पार्टीः** यह फासिस्ट दल की समिति थी और मुसोलिनी इसका नेता था। दल के प्रमुख 25 व्यक्ति इसके सदस्य थे।
3. **पार्लियामेन्टः** पार्लियामेन्ट में दो सदनों की व्यवस्था की गई थी-पहला सदन सीनेट कहलाता था, जिसके सदस्यों की नियुक्ति मुसोलिनी करता था। इसके सदस्य इसकी सदस्यता आजीवन होती थी। दूसरा सदन, चेम्बर ऑफ डिपुटीज कहलाता था। इसके सदस्यों की नियुक्ति मंत्रिमण्डल तथा ग्राण्ड कौंसिल ऑफ फासिस्ट पार्टी द्वारा होती थी।

इस प्रकार शासन की सम्पूर्ण सत्ता मुसोलिनी के हाथ में आ गई थी। इटली की जनतंत्रात्मक सरकार जिन कार्यों को करने में असफल रही थी, मुसोलिनी उनको पूर्ण करने का आश्वासन दे रहा था। अतः उसको इटली की समस्त जनता का समर्थन मिला।

मुसोलिनी ने प्रधानमंत्री बनते ही राज्य की समस्त सत्ता अपने हाथ में केन्द्रित करने का प्रयत्न किया। सर्वप्रथम उसने संसद को डरा कर एक वर्ष के लिए उसके सम्पूर्ण अधिकार अपने हाथों में ले लिए और शासन में से समस्त विरोधियों को निकाल कर प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण पदों पर अपने विश्वासपात्र व्यक्तियों को नियुक्त किया। नवम्बर,1923 में उसने संसद से एक नया निर्वाचन कानून पास करवाया, जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि सामान्य निर्वाचन में जिस किसी दल को सबसे अधिक मत प्राप्त हो, उसे लोकसभा में दो-तिहाई स्थान मिले और शेष एक-तिहाई बाकी दलों में प्राप्त मतों के अनुपात में विभाजित कर दिए जाए। इस कानून के अनुसार अप्रैल, 1924 में सामान्य निर्वाचन हुआ। तब तक फासिस्ट दल की शक्ति बहुत अधिक बढ़ चुकी थी। उसे निर्वाचन में 65 प्रतिशत मत प्राप्त हुए और लोकसभा में इसका बहुमत हो गया। समाजवादी नेता मेटिओटी (Matteoti) ने संसद के प्रथम अधिवेशन से ही चुनाव को रद्द करके नए चुनाव कराने की माँग की। किन्तु इस विरोध का कोई परिणाम नहीं निकला और कुछ दिनों बाद फासिस्टों ने मेटिओटी को गोली से उड़ा दिया।

जनवरी, 1925 में मुसोलिनी ने चेम्बर ऑफ डेपुटीज के समक्ष घोषणा की थी कि "जो कुछ भी अब तक हुआ है, उसके लिए राजनीतिक, नैतिक और ऐतिहासिक द ष्टि से केवल मैं ही जिम्मेदार हूँ।" इसके साथ ही उसने विराधियों का पूर्ण रूप से दमन करके अपनी सत्ता को सर्वोपरि बनाने का भी निश्चय कर लिया। कुछ ही दिनों बाद गैर फासिस्ट दल के मंत्रियों को त्याग-पत्र देना पड़ा और उनके स्थानों पर फासिस्ट मंत्री नियुक्त किए गए। 1925-26 ई० में दो ऐसे कानून पास किए, जिनके अनुसार मुसोलिनी को शासन के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हो गए और संसद की स्वीकृति के बिना आज्ञप्तियाँ (Decrees) निकालने तथा उनका सामान्य कानूनों के समान पालन कराने का अधिकार भी प्राप्त हो गया। प्रधानमंत्री के रूप में मुसोलिनी केवल शासन के प्रति उत्तरदायी था परन्तु मंत्रिमण्डल के सभी मंत्री उसके प्रति उत्तरदायी थे। इसके अतिरिक्त वह जल, थल एवं वायु सेना का सर्वोच्च सेनाध्यक्ष भी था। अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हुए, उसने शासन के विभिन्न विभागों, न्याय व्यवस्था एवं शिक्षा व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया। शासन की असैनिक सेवा से सभी गैर फासिस्टों को हटा दिया गया और सभी कर्मचारियों को फासिस्ट सरकार के प्रति निष्ठा की शपथ लेने को बाध्य किया गया। नगरों में निर्वाचित नगरपालिकाओं के स्थान पर केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त 'पोडेस्टा' (Podesta) नामक अधिकारियों को स्थानीय शासन का कार्य सौंपा गया। रोम, नेपल्स, मिलान आदि बड़े शहरों के प्रशासन के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा 'गवर्नर' या 'विशेष आयुक्त' नियुक्त किए गए। न्यायालयों में 'जूरी पद्धति' समाप्त कर दी गई और राज्य की सुरक्षा के लिए विशेष न्यायालय स्थापित किए गए, जिनमें फासिस्ट सैनिक व असैनिक पदाधिकारियों को राजनीतिक मामलों का निर्णय करने का अधिकार दिया गया।

1926 ई० में सभी विरोधी दलों का अन्त कर दिया गया। अब राज्य में फासिस्ट दल ही एकमात्र वैध राजनीतिक दल रह गया था। समाचार-पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। इसके अतिरिक्त, फासिस्ट शासन के विरुद्ध षड्यंत्र रचने वालों का पता लगाने के लिए एक गुप्त पुलिस की भी व्यवस्था की गई, जिसे 'ओवरा' कहा जाता था। गुप्त पुलिस ने विरोधियों पर गुप्त रूप से मुकद्दमे चलाए, जिनमें गुप्त गवाहों ने न्यायाधीशों के सम्मुख, जिनकी कि एक मात्र योग्यता यह थी कि वे फासिस्ट थे, उनके विरुद्ध गवाहियाँ दीं और उन्हें अनिश्चित काल के लिए जेलों में डाल दिया गया। उसने अध्यापन, पाठ्य पुस्तकों, समाचार-पत्रों, रेडियो और यहाँ तक कि डाक प्रणाली को भी सेंसर किया। विद्यालयों के छात्रों को बार-बार यह रटाया जाता था, "मुसोलिनी सदा ठीक ही करता है।" राजा और संसद फासिस्ट शक्ति के लिए केवल मोर्चे मात्र बन गए। कोई आश्चर्य नहीं कि मुसोलिनी कह सकता था, "हमने स्वतंत्रता की सड़ती हुई लाश को दफना दिया है।"

चुनाव प्रक्रिया में परिवर्तनः 1928 ई० में निर्वाचन के सम्बन्ध में एक नया कानून बनाया गया। इसके अनुसार चेम्बर ऑफ डेपुटीज के सदस्यों का चुनाव, फासिस्ट महापरिषद् द्वारा प्रस्तुत 400 नामों की सूची के आधार पर होना था। मतदाताओं को केवल यह अवसर दिया जाता था कि वे इस सम्पूर्ण सूची के पक्ष या विपक्ष में वोट दें। वैधानिक लोकतंत्र पर उसका यह अन्तिम प्रहार था। लोकतंत्र का स्थान अब फासिस्ट प्रशासन ने ले लिया था, जिसका प्रथम सिद्धान्त था कि "मुसोलिनी देश का तानाशाह या प्रधान नेता है और उसकी आज्ञाओं को आँख बन्द करके स्वीकार कर लेना सबका कर्त्तव्य है।" नाम को तो अब भी इटली में वैधानिक शासन था, जो पार्लियामेन्ट के बहुमत के नेता को प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त करता था। सीनेट तथा प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन नियमपूर्वक होते थे। किन्तु वास्तविक शक्ति फासिस्ट दल के हाथों में थी। जिस प्रकार रूस में साम्यवादी पार्टी ही वास्तविक सरकार थी, वैसे ही इटली के शासन का संचालन असल में फासिस्ट पार्टी के द्वारा ही होता था।

फासिस्ट सिद्धान्तः मार्क्स तथा लेनिन की भाँति मुसोलिनी ने फासिस्टवाद के आधारभूत सिद्धान्त निर्धारित नहीं किए थे। उसने राजनीतिक तथा नागरिक जीवन से सम्बन्धित कोई घोषणा-पत्र प्रकाशित नहीं किया था। इसलिए सेवाइन नामक विद्वान ने कहा है कि "फासिज्म अस्पष्ट है क्योंकि यह विभिन्न स्त्रोतों से प्राप्त विभिन्न विचारों का संकलन मात्र है। इन सिद्धान्तों को परिस्थिति की आवश्यकतानुसार संग्रहित किया गया है।" तथापि उसकी कुछ सैद्धान्तिक मान्यताएँ थीं और कुछ रचनात्मक, सामाजिक एवं राजनीतिक उद्देश्य भी थे, जिनको मुसोलिनी ने अपने भाषणों, वक्तव्यों एवं लेखों में व्यक्त किया था।

गियोवानी जेन्टाइन ने लिखा है कि "फासिज्म मेजिनी के आदर्शवाद तथा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के इटली के 'रिसार्जिमेंटो' के युग की ओर प्रत्यागमन है। इस विचार के अनुसार उसकी प्रव त्ति एक महान् धम-युद्ध की है; उसका ध्यय इटली तथा उसके शासन को शक्तिशाली एवं गौरवपूर्ण बनाना है; आर्थिक-सामाजिक पुनरुत्थान हेतु उसकी समस्त नीतियाँ उसके ध्येय की प्राप्ति के लिए साधन मात्र हैं। एल्फ्रेडो रोको ने फासिज्म को "नागरिक जीवन की एक नूतन कल्पना", "एक शक्तिशाली परिवर्तनकारी आन्दोलन" एवं "नवीन संस्कृति का उन्नायक" के रूप में प्रस्तुत किया। उसकी नवीनता मुख्य रूप से इस बात में थी कि उसने संसदीय प्रजातंत्र, उदारवाद, समाजवाद एवं साम्यवाद के सिद्धान्तों एवं आदर्शों का खण्डन किया और उनकी कटु आलोचना की।

1. **सर्वसत्तात्मक राज्य का समर्थनः** मुसोलिनी सामूहिक कल्याण के लिए एक दल, एक नेता की सत्ता में विश्वास करता था। अतः वह समस्त राष्ट्र का प्रधान कमाण्डर (Duce) बन गया। वह कहा करता था कि राज्य में प्रमुख अधिकारी एक से अधिक नहीं हो सकते हैं क्योंकि राज्य के समस्त कार्यों में एकता लाने और उनका निर्देशन एवं निगमन करने के लिए एक प्रमुख होना आवश्यक है। उसके अनुसार राज्य सत्ता अपनी प्रकृति के कारण ही केन्द्रीभूत तथा दमनकारी होती है। मुसोलिनी ने अपनी आत्मकथा में स्थान-स्थान पर 'मेरा आदेश', 'मेरा पथ-प्रदर्शन' 'मेरी निर्णय बुद्धि' आदि शब्दों का प्रयोग किया है, जो शासन में उसकी सर्वोच्च शक्ति का द्योतक था।
2. **व्यक्तिवाद के विरुद्धः** फासिस्टवाद व्यक्तिवाद का विरोधी है। राज्य व्यक्ति के लिए नहीं, अपितु व्यक्ति राज्य के लिए है। मुसोलिनी कहा करता था, "सब चीजें राज्य में हैं, कोई चीज राज्य के बाहर नहीं हैं, कोई चीज या सत्ता राज्य के विरुद्ध नहीं हो सकती।" फासिज्म का दावा है कि राष्ट्र का स्वरूप सर्वव्यापक है। अतः व्यक्तियों के लिए, समूहों के लिए स्वतंत्र काम करने की इसमें कोई गुंजाइश नहीं है। व्यक्ति का उसी हद तक राष्ट्र में स्थान है, जब तक उसका हित और राष्ट्र का हित एक हो और जब तक वह राष्ट्र के अनुकूल काम करता रहे।
3. **लोकतंत्र के विरुद्धः** फासिस्टवाद लोकतंत्र का भी विरोधी है। लोकतंत्र को वह पश्चिमी यूरोप के धनी देशों के आमोद-प्रमोद का एक साधन मात्र मानता था। मुसोलिनी ने लिखा है कि लोकतंत्र की शताब्दी संख्या की शताब्दी थी और बहुमत तथा परिमाण की शताब्दी थी। लेकिन अब वर्तमान संसार में हम एक नया सिद्धान्त मानते हैं। हम लोकतंत्र के संसार का घोर विरोध करते हैं-ऐसे संसार का, जो 1789 ई० के मौलिक सिद्धान्तों से अभी चिपके रहना चाहता है। फासिस्ट राजनैतिक दर्शन यह नहीं मानता है कि बहुमत को शासन करने का अधिकार होना चाहिए। लोकतंत्र में संख्या को बहुत ऊँचा माना जाता है और जनता को एक विचित्र देवत्व का स्थान दे दिया जाता है। इसके स्थान पर फासिज्म ड्यूस तथा फ्यूहरर को लोगों के सामने खड़ा करता है। वह इनका देवता है तथा संख्या के स्थान पर गुण की प्रतिष्ठा करता है।

4. **साम्यवाद के विरुद्धः** फासिज्म लोकतंत्र की संस्थाओं का जितना विरोध करता है, उतना ही विरोध वह मार्क्स के समूहवाद का भी करता है। सर्वप्रथम तो वह ऐतिहासिक भौतिकवाद को नहीं मानता। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जाति का सारा विकास केवल आर्थिक आधार पर हुआ है। फासिज्म का कहना है कि आर्थिक तत्त्वों से नहीं बल्कि राजनीतिक तत्त्वों से इतिहास बना है। दूसरी बात यह है कि फासिज्म मार्क्स के वर्ग संघर्ष को भी नहीं मानता। यदि इतिहास को केवल आर्थिक द ष्टि से देखा जाय, तो उसमें से वर्ग संघर्ष ही निकलता है। इसको फासिज्म स्वीकार नहीं करता। विशेषतः इस बात को स्वीकार नहीं करता कि वर्ग संघर्ष से ही समाज में परिवर्तन हो जाते हैं। फासिज्म का सिद्धान्त तो यह है कि सम्पूर्ण वर्ग मिलकर एक नैतिक और आर्थिक तत्त्व उत्पन्न करें। यदि सब लोग परस्पर मिलकर राष्ट्रीय उन्नति क लिए प्रयत्न करेंगे, तो उससे सबको समान रूप से लाभ पहुँचेगा और गरीब से गरीब आदमी भी सम द्धि के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा। फासिज्म यह भी नहीं चाहता कि लोगों को आर्थिक क्षेत्र में पूर्ण आजादी मिले क्योंकि इससे तो पूँजीपतियों को गरीबों का शोषण करने की छूट मिल जाएगी। इसके विपरीत फासिस्ट लोग यह मानते थे कि व्यक्तियों की आर्थिक स्वतंत्रता पूरी तरह राज्य के नियंत्रण में होनी चाहिए।

5. **शान्ति के विरुद्धः** फासिज्म शान्ति के भी विरुद्ध था। महायुद्ध के बाद चिरशान्ति की स्थापना के लिए जो प्रयत्न किए जा रहे थे, फासिस्ट लोग उन्हें पसन्द नहीं करते थे। वे कहते थे कि शान्ति एक ऐसे जलाशय के समान है, जहाँ पानी ठहरा रहता है। उन्नति का अभिप्राय है, आगे बढ़ना और आगे बढ़ने का मतलब है, दूसरों को अपने पैरों के नीचे रौंदना। बिना लड़ाई के कोई जाति, समाज या देश अपना उत्कर्ष नहीं कर सकता। इटली कितनी ही शताब्दियों तक पहले तो ऊसर भूमि की भाँति पड़ा रहा, विदेशों की दासता को सहन करता रहा परन्तु अब वह करवट बदल कर जाग त हो रहा है। अब इटली के लोगों में यह विश्वास उत्पन्न हो जाऐगा कि उनको साम्राज्य बनाना है, तो उनमें आत्मिक बल जाग त होना आवश्यक है। ये विलासमय जीवन के प्रतिकूल थे। बस यही उनके राजनीतिक दर्शन का मूलमंत्र था।

6. **स्वतंत्र व्यापार का विरोधः** फासिस्ट स्वतंत्र व्यापार के विरोधी हैं। उनका यह मानना है कि "स्वतंत्र व्यापार का युग अब समाप्त हो गया है। इस सिद्धान्त को लोग पहले ही छोड़ चुके हैं। पहले इसने अर्थशास्त्र के क्षेत्र में एक प्रकार की नास्तिकता का प्रचार किया, इसलिए लोग इससे अलग हो गए। उसके बाद आर्थिक मंदी भी इसी के द्वारा उत्पन्न हुई, जिसके कारण कई सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं। इसलिए समस्त देशों की सरकार इन क्षेत्रों में हस्तक्षेप करती हैं। फासिज्म का मानना है कि सरकार का स्वरूप चाहे जैसा हो परन्तु प्रत्येक देश में आर्थिक व्यवस्था अधिकाधिक सरकार के हाथ में आ ही जाती है।"

7. **बुद्धिवाद का विरोधः** फासिज्म बुद्धिवाद का भी विरोधी है। तर्क द्वारा खोज करने के सिद्धान्त में उसका विश्वास नहीं है। इसके अनुसार राज्य जो कहे वही ठीक है। राजनीतिक क्षेत्र में फासिज्म अज्ञान का समर्थक है। फासिज्म शासन के अन्तर्गत जनता को अपने नेता की आज्ञाओं का आँख बन्द करके उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। नेता तर्क के आधार पर नहीं अपितु भावना के आधार पर जनता का सहयोग प्राप्त करे।

फासिस्ट युवक संगठनः फासिस्टों ने युवकों को अपना समर्थक बनाने के लिए 'फासिस्ट युवक संगठन' का निर्माण किया तथा प्राइमरी और माध्यमिक पाठशालाओं में फासिस्ट सिद्धान्तों की शिक्षा देना अनिवार्य कर दिया। इस शिक्षा का उद्देश्य युवकों को कट्टर फासिस्ट बनाना था। एक योजना के अन्तर्गत 8 से 14 वर्ष की आयु तक के बालकों के लिए 'बालिल्ला' (Balilla), 15 से 18 वर्ष तक की आयु के किशोरों के लिए 'अवान गार्डिया' (Avanguardia) और 19 से 21 वर्ष तक की आयु के नवयुवकों के लिए 'गियोवानी फासिस्टी' (Giovani Fascisti) नामक संस्थाएँ स्थापित की गईं। इसी प्रकार बालिकाओं के लिए भी 'पिकोले इटालियन' (Piccole Italian) एवं 'गियोवानी इटालियन' (Giovani Italian) नामक दो संस्थाएँ बनाई गईं। इन संस्थाओं में प्रशिक्षित युवक व युवतियाँ ही फासिस्ट दल के सदस्य बन सकते थे।

फासिस्ट आर्थिक सिद्धान्तः इटली की फासिस्ट सरकार ने अपने सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर नई आर्थिक व्यवस्था को आरम्भ किया। उनका मानना था कि प्रत्येक आर्थिक मामले में हस्तक्षेप करना व उत्पत्ति के साधनों पर नियंत्रण रखने का राज्य को पूरा अधिकार है। वे साम्यवादियों की तरह व्यवसायों को सीधा राज्य के नियंत्रण में लेना पसन्द नहीं करते थे किन्तु जो व्यवसाय देश की रक्षा के लिए उपयोगी है, उन पर राज्य का सीधा अधिकार वे आवश्यक समझते थे। इसी उद्देश्य से रेलवे, लोहे के कारखाने व इसी तरह के अन्य व्यवसाय सीधे राज्य के नियंत्रण में ले लिए गए। अन्य व्यवसायों का संचालन पूँजीपति करते थे, पर उनके लिए यह आवश्यक था कि वे मजदूरों का पूरा सहयोग प्राप्त करें और नीति निर्धारण व महत्त्वपूर्ण बातों

का फैसला करने के लिए मजदूरों के प्रतिनिधियों से परामर्श करते रहें। फासिज्म श्रेणी संघर्ष के विरुद्ध था। इसलिए उन्होंने यह व्यवस्था की कि पूँजीपति अपनी एक सिण्डीकेट बनाएँ और मजदूर लोग दूसरी सिण्डीकेट (श्रम संघ) बनाऐं। किसी भी समस्या के समाधान के लिए दोनों सिण्डीकेट निर्णय करें। इस संघवाद से उन लोगों का सामूहिक हित होता है, जो उत्पादन के काम में लगे हुए हैं, अर्थात् मालिक और मजदूर दोनों का। इसमें समस्त सामाजिक वर्गों के हितों का समन्वय होता है और सभी की समान रक्षा होती है। इसके साथ ही आर्थिक क्षेत्र में भी अनुशासन बना रहता है।

1922 ई० में सभी फासिस्ट सिण्डीकेटों (श्रम संघों) को पाँच निगमों के अन्तर्गत संगठित किया गया। कुछ समय पश्चात् 'निगमित फासिस्ट सिण्डीकेटों का संघ बनाया गया, जिसका प्रथम महासचिव रोसोनी (Rossoni) था। 1922 ई० में मुसोलिनी के सत्तारूढ़ हो जाने के फलस्वरूप फासिस्टों द्वारा सम्मिलित सिण्डीकेटों की सदस्य संख्या में उल्लेखनीय व द्धि हुई। किन्तु कुछ समय पश्चात् समाजवादी और कैथोलिक श्रमिक संघों को एक सरकारी आदेश द्वारा समाप्त कर दिया गया।

राष्ट्रव्यापी सिण्डीकेट व्यवस्थाः 1926 ई० में मुसोलिनी ने 'सिण्डीकेट व्यवस्था' को राष्ट्रव्यापी रूप दिया। आर्थिक क्षेत्र में छः प्रमुख व्यवसायों-उद्योग, कृषि, वाणिज्य, बैंकिंग एवं बीमा, समुद्री एवं वायु परिवहन तथा स्थल परिवहन में मजदूरों तथा नियोक्ताओं (मालिकों) के अलग-अलग राष्ट्रीय सिण्डीकेट संघ बनाये गए। इसके अतिरिक्त व्यवसायी वर्ग (वकील, डॉक्टर एवं दूकानदार) एवं कलाकारों के लिए प थक् सिण्डीकेट संघ बनाये गए। इस प्रकार 13 'राष्ट्रीय सिण्डीकेट' स्थापित किए गए। प्रत्येक सिण्डीकेट संघ के अन्तर्गत प्रान्तीय एवं स्थानीय इकाइयाँ भी थीं, जिनका संचालन निर्वाचित अधिकारियों द्वारा किया जाता था। प्रशासन द्वारा उसी सिण्डीकेट को मान्यता दी जाती थी, जिसमें कम से कम 10 प्रतिशत मजदूर उस उद्योग की सिण्डीकेट के सदस्य हों। सिण्डीकेट व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य उद्योगपतियों एवं श्रमिकों के बीच वर्ग संघर्ष को समाप्त करना था। उनकी समस्याओं एवं विवादों का पारस्परिक सहयोग और समझौतों द्वारा निराकरण करना था, जिससे दोनों के हितों की रक्षा की जा सके, और उत्पादन में कोई बाधा उत्पन्न न हो। इसी उद्देश्य से मुसोलिनी ने अप्रैल, 1926 में 'सामूहिक श्रमिक सम्बन्धों का विधिक अनुशासन कानून' पास किया। इसके द्वारा श्रमिकों की मजदूरी, काम की अन्य शर्तें आदि के बारे में सामूहिक समझौते करने का आदेश दिया गया। हड़ताल तथा तालाबन्दी को पूर्णतः निषेध कर दिया गया। अप्रैल, 1927 में मजदूरों के अधिकार पत्र की घोषणा की गयी, जिसके द्वारा रविवार के दिन छुट्टी रखी गई, प्रत्येक मजदूर को सवेतन छुट्टी का अधिकार मिला और उनके सामाजिक बीमा की भी व्यवस्था की गयी। मजदूरों के मनोरंजन के लिए विशेष संस्था 'डोपोलावोरो' (Dopolavoro) बनायी गयी, जो छुट्टी के दिनों में उनके लिए सस्ते किराए पर पर्यटन आयोजित करती थी और वर्ष भर उनके लिए सांस्कृतिक मनोरंजन की व्यवस्था करती थी।

इसी प्रकार 1927 ई० तक, नयी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना की गई और 1928 ई० में उसका राजनीतिक व्यवस्था के साथ सम्बन्ध भी जोड़ दिया गया। 1928 ई० में एक कानून द्वारा चेम्बर ऑफ डेपुटीज के निर्वाचन की पद्धति बदल दी गई थी और केवल फासिस्ट दल की सूची पर ही मत लिया जाने लगा। इस कानून के अनुसार तेरह राष्ट्रीय सिण्डीकेटों की सामान्य परिषदें रोम में मिलकर 800 व्यक्तियों की सूची बनाती थीं। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक तथा परोपकारी संस्थाएँ 200 व्यक्तियों के नाम भी भेजती थीं। इन 1,000 नामों में से, फासिस्ट ग्राण्ड कौंसिल केवल 400 व्यक्तियों के नामों का चुनाव करती थी और इन्हीं 400 व्यक्तियों की सूची पर मतदान किया जाता था। मतदाताओं से इन्हीं चार सौ व्यक्तियों की सम्पूर्ण सूची पर 'हाँ' या 'नहीं' के रूप में मतदान करने को कहा जाता था। इस प्रकार, इटली पहला पश्चिमी देश था, जिसके राष्ट्रीय विधानमण्डल का गठन विभिन्न व्यावसायिक हितों के प्रतिनिधित्व के आधार पर किया जाता था। 1933 ई० तक यह व्यवस्था अच्छी तरह कार्य करने लगी। अभी तक उसका रूप सिण्डीकल था किन्तु अब उसे निगमात्मक (Corporate) रूप दिया गया।

निगमित राज्यः बढ़ती हुई विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के कारण उत्पन्न कठिनाइयों को देखकर, मुसोलिनी ने 1933 ई० के अन्त में राज्य की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को पूर्ण रूप से निगमित ढाँचे में ढालने का प्रयास किया। उसने समस्त राष्ट्रव्यापी आर्थिक व्यवस्थाओं के लिए एक 'निगम' (Corporation) की स्थापना की, जिसमें मालिकों और मजदूरों के बराबर प्रतिनिधि रखे गए। ऐसे 22 निगम स्थापित किए गए-8 कृषि के लिए, 8 उद्योग-धन्धों के लिए और 6 यातायात, विभिन्न व्यवसाय आदि अन्य सेवाओं के लिए। ये निगम, उत्पादन चक्रों पर आधारित थे। प्रत्येक निगम, उत्पादन से वितरण एवं विक्रय तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया को नियंत्रित करता था।

प्रत्येक निगम की एक प थक् कार्यकारिणी समिति होती थी, जिसकी सदस्य संख्या उसके कार्यक्षेत्र के अनुसार निर्धारित की

गई थी। प्रत्येक समिति का अध्यक्ष निगम मंत्री या शासनाध्यक्ष मुसोलिनी होता था। सभी निगमों की कार्यकारिणी समितियों को मिलाकर 'राष्ट्रीय निगम परिषद्' का गठन किया गया था, इसमें 500 सदस्य होते थे। राष्ट्रीय निगम परिषद् की एक 'केन्द्रीय निगम समिति' होती थी। इस समिति में प्रमुख मंत्री, फासिस्ट दल के महासचिव, सिण्डीकेट संघों के अध्यक्ष आदि होते थे। ड्यूस मुसोलिनी 'राष्ट्रीय निगम परिषद्' का अध्यक्ष होता था।

1938 ई० के अन्त में मुसोलिनी ने अन्तिम कदम उठाया, जिसके द्वारा चेम्बर ऑफ डेपुटीज को समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर फासियों और निगमों की सभा की स्थापना की गई। इसमें 682 सदस्य रखे गए, इन सदस्यों में से 450 से अधिक सदस्य तो निगमों के प्रतिनिधि होते थे और शेष सदस्य फासिस्ट दल के प्रधान कर्मचारी होते थे।

इस प्रकार मुसोलिनी ने देश की समस्त राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था को फासिस्ट बनाकर राजनीतिक तथा आर्थिक उदारवाद का अन्त करके, इटली पर फासिस्ट दल का अर्थात् अपना पूर्ण अधिनायक तंत्र स्थापित कर लिया।

मुसोलिनी की ग ह नीति

मुसोलिनी ने शक्ति के आधार पर सत्ता हस्तगत की थी और जनता को बड़ी आशाएँ दिलायी थीं। वह जानता था कि सत्ता को अपने हाथ में बनाए रखने के लिए यह आवश्यक था कि जनता की आर्थिक कठिनाइयों को दूर किया जाय। उसकी ग ह नीति का उद्देश्य युद्ध और क्रान्ति के विनाशकारी प्रभावों से देश को मुक्ति दिलाना और उसकी उत्पादन क्षमता को बढ़ाना था। सत्ता सम्भालते ही मुसोलिनी को गम्भीर वित्तीय स्थिति का सामना करना पड़ा। उस समय राष्ट्रीय बजट में छः अरब से अधिक का घाटा था। राष्ट्रीय ऋण निरंतर बढ़ता जा रहा था और मुद्रा का मूल्य गिरता जा रहा था। उसने स्वयं लिखा था कि "बुद्धिमत्तापूर्ण एवं द ढ़ वित्तीय नीति को मैं शासन की समस्त नीतियों का आधार मानता हूँ।" अतः उसने तुरन्त ही वित्त मंत्री डि स्टेफानी की सहायता से देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए उपयुक्त कार्यवाही आरम्भ कर दी। उसने राज्य के व्यय में भारी कटौती करके और नए-नए कर लगाकर 1925 ई० तक बजट को संतुलित कर लिया। इसके परिणामस्वरूप मुद्रा का गिरता हुआ मूल्य फिर स्थिर हो गया। उसने रेलवे व्यवस्था में सुधार किया। रेलवे प्रणाली वर्षों से अव्यवस्थित थी और उसमें प्रतिवर्ष बड़ा घाटा होता था। मुसोलिनी के प्रयासों से कुछ ही वर्षों में रेलवे का घाटा समाप्त हो गया।

मुसोलिनी देश की आर्थिक दशा को सुद ढ़ बनाकर उसका आधुनिकीकरण करना चाहता था किन्तु उसमें सबसे बड़ी बाधा प्राकृतिक साधनों के अभाव की थी। इटली एक गरीब देश था। उसकी भूमि का दो-तिहाई भाग पर्वतों से घिरा हुआ था, अतः उपजाऊ भूमि की कमी थी। साथ ही वहाँ पर खनिज पदार्थों की भी कमी थी। कोयला, लोहा, ताम्बा, जस्ता, तेल आदि खनिज पदार्थ बहुत कम परिमाण में प्राप्त होते थे। फिर भी मुसोलिनी अपने देश को स्वावलम्बी बनाना चाहता था। इसके लिए उसने अपने वैज्ञानिकों तथा इंजीनियरों की सहायता से इटली को आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास किया। उसे इस कार्य में काफी सफलता प्राप्त हुई।

मुसोलिनी ने सबसे पहले अपने देश को खाद्यान्नों के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनाने का निश्चय किया। 1928 ई० में उसने ऊसर और दलदल युक्त भूमि को खेती के योग्य बनाने की एक विस्त त योजना आरम्भ की। जिसके अन्तर्गत लाखों एकड़ दलदलों को सुखाया, बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाया, सिंचाई के लिए बाँध एवं नहरों का निर्माण किया और ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली पहुँचाई। उसके इन प्रयासों से यद्यपि इटली खाद्यान्नों में पूर्ण आत्मनिर्भर तो नहीं हो सका तथापि अब अपेक्षाकृत कम मात्रा में बाहर से अनाज मँगाना पड़ता था।

मुसोलिनी ने औद्योगिक क्षेत्र में भी उत्पादन बढ़ाने, नए उद्योगों को प्रोत्साहन देने तथा विदेशी व्यापार को बढ़ाने के लिए अनेक उपाय किए। सिण्डीकेट व्यवस्था के कारण इस ध्येय की पूर्ति में फासिस्ट शासन को बड़ी मदद मिली। शासन ने नए उद्योगों को प्रोत्साहन एवं आर्थिक सहायता दी और आवश्यकतानुसार संरक्षण प्रदान किया। 1930 ई० में विदेशी मोटर कारों पर आयात शुल्क को दुगुना कर दिया गया, जिससे अमेरिका की मोटर कम्पनियों को काफी धक्का पहुँचा और इटली की फियेट मोटर कम्पनी को अत्यधिक लाभ हुआ। कोयले के अभाव की पूर्ति के लिए आल्पस तथा एपीनाइन पर्वतों से निकलने वाले झरनों से जल विद्युत उत्पादित की जल विद्युत उत्पादन में शीघ्र ही इटली को बहुत सफलता मिली। इसी प्रकार रासायनिक एवं बिजली के उपकरणों का भी निर्यात किया जाने लगा। जहाज निर्माण उद्योग को भी प्रोत्साहित किया गया, जिससे विदेशों से उसकी माँग आने लगी। इस प्रकार फासिस्ट सरकार ने औद्योगिक विकास करके इटली को आत्मनिर्भर बनाया।

मुसोलिनी ने आर्थिक उदारवाद का अन्त करके कृषि, उद्योग, राजस्व आदि सब पर राज्य का नियंत्रण स्थापित करके एक सुनिश्चित योजना के अनुसार कार्य किया, जिसमें उसने कानून के बल पर सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त किया। इसी कारण विश्व-व्यापी आर्थिक मंदी के समय में भी इटली को बहुत अधिक परेशानी नहीं उठानी पड़ी।

बेकारी मिटाने तथा देशभक्ति को जाग त करने के लिए फासिस्ट सरकार ने लोक निर्माण का एक विस्त त कार्यक्रम आरम्भ किया। इसके द्वारा सड़कों, स्कूलों, निवास ग हों, बाँधों, नहरों और बन्दरगाहों का निर्माण किया गया। प्राचीन रोमन स्मारकों का पुनरुद्धार किया गया और प्रमुख नगरों को भव्य आधुनिक इमारतों, स्मारकों से सुसज्जित किया गया। इन तरीकों से उसने बेरोजगारों को तो काम पर लगाकर संतुष्ट किया ही, इसके साथ ही इटलीवासियों को अपने प्राचीन गौरव की याद दिलाई और अपने राष्ट्र का भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिए उन्हें प्रेरित भी किया। परन्तु लैंगसम का मत है कि "इस भौतिक विकास के बाद भी इटली को पूँजी, कोयला, लोहा, तेल आदि के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ा।"

पोप के साथ समझौताः मुसोलिनी के समक्ष जो अनेक समस्याएँ थीं, उनमें एक समस्या पोप की भी थी। इटली के एकीकरण के बाद से ही पोप अपने आप को स्वेच्छा से 'वेटिकन का बन्दी' कहा करता था और इटली की सरकार से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता था। मुसोलिनी के हृदय में धर्म के प्रति कोई विशेष श्रद्धा नहीं थी। परन्तु वह धर्म का राजनीतिक मूल्य समझता था। जिन लोगों ने फासिस्ट सिद्धान्त स्वीकार किए थे वे कैथोलिक भी थे; उनके अतिरिक्त लाखों अन्य कैथोलिक लोग भी इटली में निवास करते थे। अतः उन्हें संतुष्ट करने तथा चर्च की महान् शक्ति को राज्य के अनुकूल बनाने की द ष्टि से उसने पोप पायस ग्यारहवें से समझौता करने का प्रयास किया। अब तक पोप भी इस बात को समझ चुका था कि इटली की सरकार से सामान्य सम्बन्ध स्थापित करना ही बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य होगा। अतः 1926 ई० में दोनों पक्षों के बीच समझौते की अनौपचारिक वार्ताएँ आरम्भ हुईं। अन्त में 11 फरवरी, 1929 को, रोम के लेटरन प्रासाद में, पोप की ओर से कार्डिनल गेस्पारी (Cardinal Gasparri) और इटली की सरकार की ओर से मुसोलिनी ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए, जिसे 'लेटरन-समझौता' (Latteran Accord) कहा जाता है। इस समझौते के तीन प्रमुख भाग थे-प्रथम भाग में राजनीतिक संधि थी, दूसरे भाग में धर्म संधि (Concordat) तथा तीसरे भाग में वित्तीय व्यवस्था सम्बन्धी संधि।

राजनीतिक संधि के द्वारा इटली ने पोप की पूर्ण प्रभुसत्ता के अन्तर्गत 'वेटिकन नगर' को एक स्वतंत्र राज्य मान लिया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी पोप को अन्य राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करने या पत्र-व्यवहार करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी गई। अन्य प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की भाँति उसे अपनी प थक् मुद्रा, डाकतार व्यवस्था स्थापित करने का अधिकार दिया गया। अब 'वेटिकन नगर' संसार के सबसे छोटे सम्प्रभुत्व सम्पन्न राज्यों में से एक हो गया। दूसरी ओर, पोप ने भी सैवाय राजवंश के अधीन, इटली के राज्य को मान्यता दे दी और यह घोषणा की कि वह विभिन्न राज्यों के समस्त लौकिक विवादों तथा उन विवादों हेतु आमंत्रित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों से पूर्ण रूप से असम्बद्ध रहेगा। अब पोप 'वेटिकन का बंदी' नहीं रहा।

धर्म सम्बन्धी संधि के अनुसार, इटली की सरकार ने रोमन कैथोलिक धर्म को राज्य का एकमात्र धर्म स्वीकार कर लिया। राज्य के आर्क बिशपों एवं बिशपों की नियुक्ति का अधिकार पोप को सौंप दिया गया किन्तु नियुक्ति से पूर्व उनकी जाँच का कार्य इटली की सरकार को सौंपा गया। इन्हें पद ग्रहण के समय सरकार के प्रति निष्ठावान रहने की शपथ भी लेनी पड़ती थी। विवाह को एक धार्मिक संस्कार स्वीकार किया गया, इससे पादरियों द्वारा चर्च में कराए गए विवाहों को कानूनी मान्यता मिल गई। इसके अतिरिक्त, प्राथमिक एवं माध्यमिक शालाओं में धार्मिक शिक्षा को भी अनिवार्य कर दिया गया।

वित्तीय व्यवस्था सम्बन्धी संधि के द्वारा इटली की सरकार ने पोप को 1870 ई० में जब्त की गई चर्च की सम्पत्ति के बदले में 75,00,00,000 लीरा नगद और 1,00,00,00,000 लीरा सरकारी बाण्डों के रूप में क्षतिपूर्ति के द्वारा दिया। पोप ने इसे अपने समस्त वित्तीय दावों के समाधान के रूप में स्वीकार कर लिया। इस समझौते से दोनों पक्ष संतुष्ट थे। मुसोलिनी ने कहा था कि अब "इटली का नागरिक कैथोलिक है, और कैथोलिक, नागरिक भी है।" इसी प्रकार पोप ने भी कहा था कि "अब ईश्वर इटली में पुनः प्रतिष्ठित हो गया और इटली, ईश्वर को पुनः समर्पित हो गया है।"

इस समझौते से पोप और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध सुधर गए परन्तु शीघ्र ही युवकों की शिक्षा के प्रश्न पर दोनों में मतभेद हो गया। कैथोलिकों की जो बालचर संस्थाएँ थीं, उन्हें मुसोलिनी ने 'बलिल्ला' में विलीन कर लिया। चौदह वर्ष की अवस्था में प्रत्येक बालक को अपने 'नेता' (Duce)–मुसोलिनी के प्रति भक्ति के साथ उसके आदेशों का आँख मींचकर पालन करने की

शपथ लेनी पड़ती थी। पोप ने इस शपथ का विरोध किया। काफी समय तक यह विवाद चलता रहा। अन्त में 1931 ई० में दोनों में पुनः समझौता हुआ। मुसोलिनी ने चर्च की संस्थाओं का धार्मिक शिक्षा देने का अधिकार स्वीकार कर लिया।

मुसोलिनी की विदेश नीति

मुसोलिनी कहा करता था "इटली का विस्तार उसके जीवन और म त्यु का प्रश्न है, इटली का विस्तार होना चाहिए, नहीं तो उसका विनाश हो जाएगा।" पेरिस के शांति-सम्मेलन के निर्णयों से इटली की प्रादेशिक विस्तार की आकांक्षा पूरी नहीं हुई थी, इसके परिणामस्वरूप वहाँ की राष्ट्रीय चेतना को आघात पहुँचा था। मुसोलिनी ने सत्तारूढ़ होने पर इटलीवासियों की राष्ट्रवादी भवना को संतुष्ट करने के लिए सक्रिय विदेश नीति अपनाई। उसकी विदेश नीति फासिस्ट सिद्धान्तों पर आधारित थी। उसकी विदेश नीति के दो प्रमुख उद्देश्य थे-

1. अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इटली को सम्मानित स्थान दिलाना और उसे विश्व की महान् शक्तियों की श्रेणी में लाना।
2. भूमध्यसागर एवं अफ्रीका में इटली का विस्त त साम्राज्य स्थापित करना।

अपने विस्तारवादी लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह शांति-संधियों में संशोधन कराना भी आवश्यक समझता था। अतः उसने इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कई महत्त्वपूर्ण कार्य किए-

1. **रोड्स एवं डोडिकनीज द्वीप समूहों पर अधिकार:** मुसोलिनी की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य इटली की सामुद्रिक स्थिति को सुद ढ़ करना था। सागर तट पर स्थित होने के उपरान्त भी मुसोलिनी का मानना था कि इटली को महासागर तक पहुँचने की पर्याप्त छूट उपलब्ध नहीं है। इटली स्वेज नहर अथवा जिब्राल्टर जलडमरूमध्य के मार्ग से ही समुद्र तक पहुँच पाता था। मुसोलिनी का मानना था कि स्वेज नहर किसी भी दुर्धटना के फलस्वरूप बंद हो सकती थी और जिब्राल्टर का मार्ग इंग्लैंड के नियंत्रण में था। अतः वह भूमध्यसागर में इटली की स्थिति एक कैदी की भाँति मानता था। इसी उद्देश्य को पूरा करने हेतु इटली ने पेरिस शांति-संधि में भूमध्यसागर के पूर्वी भाग में स्थित रोड्स और डोडिकनीज द्वीप समूहों पर दावा किया किन्तु 1920 ई० की सेव्रे की संधि (Treaty of Sevres) के द्वारा इटली को इन द्वीपों पर से अपना अधिकार समाप्त करना पड़ा। 1922 ई० में इटली की सरकार ने यह घोषणा की कि वह तुर्की के साथ 1920 ई० की इस संधि को कार्यान्वित नहीं करेगा। यद्यपि उस समय ब्रिटेन और यूनान ने इस घोषणा का विरोध किया था। किन्तु अन्त में 1923 ई० में लोसान की संधि के द्वारा रोड्स तथा डोडिकनीज पर इटली के अधिकार की पुष्टि कर दी गई। शीघ्र ही मुसोलिनी ने वहाँ पर अपना आरक्षित नौसैनिक अड्डा स्थापित कर लिया। यह मुसोलिनी की विदेश नीति की पहली सफलता थी और इससे इटली में उसकी जड़े मजबूत होने लगीं।
2. **कोर्फ्यू पर आक्रमण:** अगस्त, 1923 में, अल्बानिया और यूनान की सीमा निर्धारित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के इटालियन अध्यक्ष एवं उनके चार सहयोगियों की, यूनान में जनीना के निकट हत्या कर दी गई। इसकी सूचना मिलते ही इटली की सरकार ने यूनान को एक चेतावनी भेजी, जिसमें उससे इटली के उच्च अधिकारी के सहयोग से मामले की जाँच कराने तथा 5 करोड़ लीरा क्षतिपूर्ति के रूप में देने और क्षमा माँगने को कहा गया। यूनान की सरकार ने कुछ माँगों को राष्ट्रीय प्रतिष्ठा एवं प्रभुसत्ता के प्रतिकूल कह कर अस्वीकार कर दिया। इस पर इटली के जहाजी बेड़े ने 31 अगस्त को यूनान के कोर्फ्यू द्वीप पर बम वर्षा की और उस पर अधिकार कर लिया। यूनान ने राष्ट्रसंघ की परिषद् तथा राजदूतों के सम्मेलन, से इस समस्या का निर्णय करने की प्रार्थना की। मुसोलिनी ने घोषणा कर दी कि राष्ट्रसंघ को इस मामले में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। तब राजदूतों के सम्मेलन में इस मामले पर विचार शुरू हुआ। इस सम्मेलन में यूनान को मामले की जाँच करके दोषी लोगों को सजा देने को कहा। सम्मेलन ने यूनान को इटली से क्षमा माँगने तथा पाँच करोड़ लीरा की क्षतिपूर्ति देने को भी कहा तथा इटली को कोर्फ्यू से अपनी सेनायें हटाने को कहा। मुसोलिनी ने पहले इन निर्णयों को स्वीकार करने में आनाकानी की किन्तु ब्रिटेन के दबाव के कारण उसने इन निर्णयों को स्वीकार कर लिया। यूनान द्वारा क्षतिपूर्ति की राशि चुकाए जाने के बाद, इटली की सेनाएँ कोर्फ्यू से हटा ली गई। इस प्रकार मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ के अधिकार को चुनौती देते हुए भी यूनान से हर्जाने की रकम प्राप्त कर ली। इससे मुसोलिनी की विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक था।
3. **फ्यूम और अल्बानिया पर अधिकार:** पेरिस की शांति-परिषद् में फ्यूम बंदरगाह के प्रश्न पर इटली तथा यूगोस्लाविया में तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गया था। मित्र राष्ट्रों ने 1920 ई० में दोनों में समझौता कराकर फ्यूम को स्वतंत्र बंदरगाह बना

दिया था। 1924 ई० में मुसोलिनी ने यूगोस्लाविया से समझौता करके फ्यूम का उपनगर, पोर्ट बारोस (Port Baros) उसे दे दिया और फ्यूम पर स्वयं अधिकार कर लिया। इस प्रकार एड्रियाटिक सागर में अपनी स्थिति सुद ढ़ करके मुसोलिनी ने इटली के सामने एड्रियाटिक सागर के दूसरे तट पर स्थित अल्बानिया के नवीन राज्य पर, जिसे पेरिस की शांति-परिषद् ने मान्यता दी थी, अपनी द ष्टि जमाई। 1925 ई० में अहमद-बे-जोगू (Ahmed-bey-Zogue) ने वहाँ अपनी राजसत्ता स्थापित की और देश की स्थिति द ढ़ करने के लिए मुसोलिनी से ऋण लेना आरम्भ किया। इससे इटली को वहाँ पर अपना आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करने का अवसर मिल गया। नवम्बर, 1926 में जोगू की सरकार के विरुद्ध एक सशस्त्र विद्रोह आरम्भ हुआ, अतः उसे पुनः इटली के पास सहायता के लिए भागना पड़ा। मुसोलिनी ने इस स्थिति का लाभ उठाकर 26 नवम्बर, 1927 को टिराना नामक स्थान पर अल्बानिया से संधि की, जिसे टिराना की संधि कहा जाता है। इस संधि में निम्न बातें तय की गईं-

(i) इस संधि के द्वारा इटली ने अल्बानिया की राजनीतिक एवं प्रादेशिक अखण्डता को यथावत् बनाए रखने का आश्वासन दिया।

(ii) अल्बानिया ने इटली को यह आश्वासन दिया कि वह किसी भी अन्य देश के साथ ऐसा कोई समझौता नहीं करेगा, जिससे इटली को हानि होती हो।

(iii) इटली के सैनिक पदाधिकारी अल्बानिया की सेना को प्रशिक्षण देंगे।

(iv) अल्बानिया के अनुरोध पर इटली को वहाँ की आन्तरिक एवं बाह्य नीति में हस्तक्षेप करने का अधिकार भी दिया।

इस संधि से अल्बानिया इटली का एक संरक्षित राज्य बन गया। इस प्रकार मुसोलिनी ने इटली के राष्ट्रवादियों की प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ से चली आ रही अभिलाषा को पूरा कर दिया। परन्तु मुसोलिनी संतुष्ट होने वाला नहीं था। उसने दक्षिण-पूर्वी यूरोप में भी इटली के प्रभाव को बढ़ाने के उद्देश्य से, बाल्कन क्षेत्र के अन्य राज्यों-बुल्गेरिया, हंगरी और आस्ट्रिया से भी मैत्री संधियाँ कीं। मुसोलिनी ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति द ढ़ बनाने और वर्साय की संधि में संशोधन कराने के उद्देश्य से बड़े देशों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने की नीति अपनाई। इसने लिए उसने कुछ देशों से संधियाँ कीं।

4. **रूस से संधिः** मुसोलिनी को भूमध्यसागर में फ्रांस के विरुद्ध अपने दावों का समर्थन करने के लिए तथा दक्षिण-पूर्वी यूरोप में अपनी स्थिति को सुद ढ़ बनाने के लिए, रूस जैसे बड़े देश के सहयोग की आवश्यकता थी। चूँकि यूरोप के अधिकांश राज्य शांति-समझौते में संशोधन करना चाहते थे, अतः मुसोलिनी ने उन राज्यों की तरफ अपना ध्यान केन्द्रित किया। ऐसे राज्य थे-रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और बुल्गेरिया। सर्वप्रथम उसने रूस के साथ 1924 ई० में एक समझौता किया, जिसके अनुसार इटली की सरकार ने सोवियत सरकार को वैध मान्यता प्रदान कर दी और उसके साथ व्यापारिक समझौता कर लिया। वह रूस को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने का भी प्रयत्न करने लगा। इस प्रकार दोनों देशों में घनिष्ठता बढ़ने लगी।

5. **फ्रांस से संधिः** मुसोलिनी द्वारा सत्ता प्राप्त करने के बाद फ्रांस तथा इटली के सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गए थे। दोनों देशों के बीच तनाव का मुख्य कारण उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी भूमध्यसागर तथा बाल्कन के क्षेत्र में दोनों की प्रतिद्वन्द्विता थी। फ्रांस द्वारा ट्यूनिस पर अधिकार कर लेने से दोनों देशों में मतभेद बढ़ गए थे। दोनों देशों में सैद्धान्तिक द ष्टि से भी मतभेद था। एक ओर इटली में अधिनायक तंत्र था, तो दूसरी ओर फ्रांस में लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली थी। मुसोलिनी भूमध्यसागर को 'रोमन झील' बनाना चाहता था। फ्रांस भी भूमध्यसागर में अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था। 1933 ई० में जर्मनी में हिटलर के उदय ने फ्रांस तथा इटली को नजदीक ला दिया। हिटलर आस्ट्रिया को जर्मनी में मिला लेना चाहता था, जबकि मुसोलिनी की इच्छा थी कि आस्ट्रिया पर इटली का प्रभाव बना रहे।

1934 ई० में हिटलर ने जब आस्ट्रिया पर अधिकार करने की चेष्टा की, तो मुसोलिनी ने ब्रेनर के दर्रे में अपनी सेना भेजकर हिटलर को आस्ट्रिया पर अधिकार करने से रोका। इस घटना का परिणाम यह हुआ कि इटली और फ्रांस के सम्बन्धों में तीव्र गति से सुधार होने लगा। अन्ततः जनवरी, 1935 में फ्रांस तथा इटली के बीच एक समझौता हुआ, जिसमें लीबिया के कुछ हजार वर्ग मील मरुस्थलीय प्रदेश तथा जिबूटी (लाल सागर के तट पर) से अदीस (अबीसीनिया की राजधानी) को जाने वाली रेल में फ्रांस के जो हिस्से थे, उन्हें इटली को देकर समझौता कर लिया। सम्भवतः इसी भेंट

से मुसोलिनी ने फ्रांस के विदेश मंत्री लावाल से अबीसीनिया पर अधिकार करने की अपनी आकांक्षा प्रकट की और ऐसा विश्वास किया जाता है कि लावान ने मुसोलिनी को यह आश्वासन दिया कि अबीसीनिया में फ्रांस का कोई हित नहीं है, अर्थात् उसे छूट दे दी।

6. **अबीसीनिया पर आक्रमण:** इटली उन्नीसवीं शताब्दी से ही अबीसीनिया पर अधिकार करना चाहता था। मुसोलिनी के लिए यह स्वाभाविक था कि वह अबीसीनिया को इटालियन साम्राज्य में लाने का प्रयास करे। इटली साम्राज्यवादी दौड़ में बहुत देर से आया था और इस समय तक अबीसीनिया ही एक ऐसा देश बचा था, जहाँ इटली का साम्राज्यवादी प्रसार हो सकता था। इरिट्रिया, सोमालीलैण्ड और लीबिया में उसके साम्राज्य पहले से ही स्थापित थे। अगर अबीसीनिया भी उनमें सम्मिलित हो जाता, तो अफ्रीका में इटली का एक विशाल साम्राज्य बन सकता था। 1931 ई० में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया था और उस अवसर पर राष्ट्रसंघ की निर्बलता प्रकट हो गयी थी। इससे मुसोलिनी का हौसला बढ़ा। 1933 ई० में नाजी क्रान्ति हो गई, अतः मुसोलिनी अपने लक्ष्य को शीघ्र पूरा करना चाहता था।

   मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण करने का निश्चय तो कर लिया, पर बिना ब्रिटेन और फ्रांस का आशीर्वाद प्राप्त किए, वहाँ पर आक्रमण करना खतरे से खाली नहीं था। जर्मनी में हिटलर का प्रादुर्भाव एक ऐसा खतरा था जिसका विरोध करने पर इटली ब्रिटेन तथा फ्रांस के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। 'स्ट्रोसामोर्चा' का निर्माण इसी नीति का परिणाम था। जर्मनी से सबसे अधिक भय फ्रांस को था। नाजी खतरे को रोकने के लिए फ्रांस ने इटली के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया। अबीसीनिया और इटली के बीच संघर्ष की शुरूआत एक साधारण घटना से हुई। 5 दिसम्बर, 1934 को इटालियन सोमालीलैण्ड और अबीसीनिया की अनिश्चिम सीमा पर वलवल (Walwal) नामक स्थान पर दोनों पक्षों के मध्य हुए एक सैनिक झगड़े में तीस इटालियन मारे गए। मुसोलिनी के लिए अबीसीनिया पर आक्रमण करने का यह स्वर्ण अवसर था। उसने तुरन्त ही अबीसीनिया से 'क्षमायाचना करने' और क्षतिपूर्ति के रूप में भारी रकम की माँग की। अबीसीनिया इसका निर्णय राष्ट्रसंघ को सौंपना चाहता था। आठ दस माह तक राष्ट्रसंघ ने कोई ठोस कार्यवाही नहीं की। अतः मुसोलिनी का हौसला बढ़ गया तथा उसने फ्रांस का समर्थन प्राप्त कर अक्टूबर, 1935 में अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। इटली की सेना ने एडोबा लेकर शीघ्र ही अन्दर की ओर बढ़ना शुरू किया। राष्ट्रसंघ द्वारा उसे आक्रामक घोषित कर, राष्ट्रसंघ के विधान की सोलहवीं धारा के अनुसार उनके साथ आर्थिक सम्बन्ध तोड़ कर, उसे विदेशी वस्तुओं से वंचित किया गया। किन्तु इन शर्तों का कठोरता से पालन नहीं हुआ। इस समय फ्रांस की सहानुभूति इटली के साथ थी। इंग्लैंड यदि चाहता तो स्वेज नहर का मार्ग रोक सकता था परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का लिहाज करके उसने ऐसा नहीं किया। उधर इटली को युद्ध सामग्री जर्मनी से प्राप्त होती रही और मई, 1936 में उसने अबीसीनिया की राजधानी अदिस अबाबा पर अधिकार कर लिया। सम्राट हेलसिलासी को भाग कर इंग्लैंड में शरण लेनी पड़ी। इटली के शासक को अबीसीनिया का सम्राट घोषित किया गया। नवम्बर, 1938 में ब्रिटेन और फ्रांस ने अबीसीनिया पर इटली के आधिपत्य को मान्यता देते हुए राष्ट्रसंघ के मौलिक सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी। केवल 19 महीनों बाद ही मुसोलिनी ने इन दोनों देशों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके इस मान्यता का समुचित उत्तर दे दिया।

7. **रोम-बर्लिन धुरी (Rome-Berlin Axis):** अबीसीनिया युद्ध के बाद इटली की विदेश नीति में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। अब वह अवसरवादी हो गया था। अब फ्रांस तथा ब्रिटेन से उसके सम्बन्ध बिगड़ने लगे थे और वह जर्मनी के निकट आने लगा था। जर्मनी के प्रति इटली के झुकाव का मुख्य कारण यह था कि अबीसीनिया की विजय के समय जर्मनी ने इटली के अधिकार को शीघ्र ही मान्यता दे दी थी। अतः अक्टूबर, 1936 में दोनों देशों के बीच एक संधि हुई, जो रोम-बर्लिन धुरी के नाम से विख्यात है। इटली, 1937 ई० में उस संधि में भी सम्मिलित हो गया, जो जर्मनी ने रूस के विरुद्ध नवम्बर, 1936 में जापान से की थी। यह संधि 'कामिन्टार्न-विरोधी संधि' के नाम से विख्यात थी। दिसम्बर, 1937 में मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ से त्यागपत्र देने की घोषणा कर दी। इस प्रकार जर्मनी, जापान और इटली का एक संघ बन गया। इसे "रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी" कहा गया।

8. **स्पेन के ग ह युद्ध में हस्तक्षेप:** 1931 ई० में स्पेन में गणतंत्र की स्थापना हो गयी थी किन्तु वहाँ आरम्भ से दक्षिण पक्षीय एवं वामपक्षीय दलों में संघर्ष होने लगा। जुलाई, 1936 में एक भयंकर ग ह-युद्ध छिड़ गया। इसमें एक ओर तो गणतंत्रीय सरकार थी, जिसमें सभी वामपक्षीय दल सम्मिलित थे और दूसरी ओर अपने आपको 'राष्ट्रीय' कहने वाले रूढ़िवादी लोग

थे, जिसमें सेना के कई उच्च पदाधिकारी शामिल थे। जनरल फ्रेंको उनका नेता था, वह फासिस्ट मनोव त्ति का था। शीघ्र की इस संघर्ष का वास्तविक रूप प्रकट हो गया। सेना फासिज्म का प्रतीक बन गयी, जिसके साथ चर्च, सामन्त वर्ग, पूँजीपति आदि प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ थीं और गणतंत्र लोकसत्तात्मक शक्तियों का केन्द्र बन गया। गणतन्त्र का झुकाव क्रान्तिकारी वर्गों की ओर अधिक था। इन परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के संघर्ष की ओर शीघ्र ही अन्य राज्यों का ध्यान गया।

इटली भूमध्यसागर में अपना प्राधान्य स्थापित करना चाहता था। उसके लिए यह एक अच्छा अवसर था। फ्रेंको ने सहायता की प्रार्थना की और मुसोलिनी इसके लिए तैयार हो गया। मुसोलिनी के इस निर्णय के पीछे उसके अनेक उद्देश्य निहित थे। यदि उसकी सहायता से फ्रेंको स्पेन में सफल हो जाता, तो भूमध्यसागर में इटली अपने प्रभुत्व में व द्धि कर सकता था। वह स्पेन के समुद्रवर्ती क्षेत्रों में अपने नौ-सेना तथा वायुसेना के अड्डे स्थापित कर सकता था। इसके साथ ही इटली का औद्योगिक विकास करने हेतु उसे स्पेन से पर्याप्त मात्रा में लोहा, ताम्बा, जस्ता, रांगा आदि युद्धोपयोगी धातुओं की प्राप्ति हो सकती थी। इन सभी बातों को मध्य नजर रखते हुए उसने फ्रेंको की सहायता करना चाहा। जर्मनी ने भी फ्रेंको को सहायता देना आरम्भ किया क्योंकि उसका विचार था कि यदि स्पेन में उसका मित्र फ्रेंको सत्तारूढ़ हो गया, तो फ्रांस को अपनी सभी सीमाओं की सुरक्षा करनी पड़ेगी, जिसकी वजह से उसकी सैन्य शक्ति केवल राइन सीमा पर केन्द्रित न रहकर विभाजित हो जाएगी। इसका जर्मनी को निश्चित लाभ मिलेगा। इंग्लैंड और फ्रांस की जनता की स्वाभाविक सहानुभूति गणतंत्रीय पक्ष के साथ थी किन्तु वहाँ की सरकारों को स्पेन के जनतंत्र में साम्यवाद का रंग दिखाई देता था और उन्होंने तटस्थता का आश्रय लेकर जनतंत्र को बचाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इसके विपरीत रूस ने जनरल फ्रेंको को सफल बनाने हेतु प्रयास किया। रूस नहीं चाहता था कि इटली तथा जर्मनी की तरह स्पेन भी साम्यवाद विरोधी गुट का सदस्य बन जाए। फ्रेंको फासिस्ट प्रव त्ति का था किन्तु दूरी के कारण रूस की सहायता अधिक प्रभावकारी सिद्ध न हो सकी और अन्त में इटली तथा जर्मनी की सहायता से मार्च, 1939 में फ्रेंको विजयी हुआ। इस प्रकार स्पेन के ग ह-युद्ध में फासिज्म की विजय हुई। इससे मुसोलिनी का पश्चिमी भूमध्यसागर में इटली विरोधी गुट बन जाने का भय समाप्त हो गया। फ्रांस के विरुद्ध उसे एक मित्र मिल गया। इससे राष्ट्रसंघ की निर्बलता का पूरा प्रमाण मिल गया। उसने इस निर्बलता का लाभ उठाकर अप्रैल, 1939 में अल्बानिया को इटली में शामिल कर लिया।

मई, 1939 में जर्मनी और इटली में पूर्ण अनाक्रमण और रक्षात्मक समझौता हो गया। 1 सितम्बर, 1939 को हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर द्वितीय विश्वयुद्ध का आरम्भ कर दिया, तो समझौते के अनुसार इटली को भी युद्ध में सम्मिलित होना चाहिए था परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। वह तटस्थ रहकर ही जर्मनी को सहायता देने का प्रयास करता रहा। वह युद्ध में इसलिए सम्मिलित नहीं हुआ कि जर्मनी की अपेक्षा वह निर्बल था, दूसरे इंग्लैंड तथा फ्रांस जर्मनी की अपेक्षा उस पर सरलता से आक्रमण कर सकते थे। तीसरे, इटली अपनी पुरानी श ंगाल नीति के कारण युद्ध का परिणाम देखकर उसमें सम्मिलित होना चाहता था। अतः हिटलर की सफलता का पूर्ण विश्वास हो जाने पर 10 जून, 1940 को मुसोलिनी ने भी मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

जर्मनी में नात्सी अधिनायक तंत्र की स्थापना

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ही जर्मनी में राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह होने लग गए थे। युद्ध के अन्तिम दिनों में जर्मन जनता के कष्ट बहुत बढ़ गए थे। अभी तक तो विजय की आशा में वह इन कष्टों को सह रही थी, किन्तु जब जर्मनी पराजित होने लगा, तो उनका धैर्य टूट गया। सम्राट विलियम द्वितीय, इस स्थिति को नियंत्रित करने में असमर्थ था। अतः 10 नवम्बर, 1918 को वह सिंहासन त्याग कर हॉलैण्ड चला गया। सम्राट द्वारा राजसिंहासन त्याग देने से स्थिति और भी गम्भीर हो गई।

इसी दिन बर्लिन में एक जबरदस्त क्रान्ति हो गई। इस क्रान्ति ने न तो किसी लेनिन को जन्म दिया और न किसी जर्मन नागरिक ने राष्ट्र गीत की रचना की। यह पूर्णतः जर्मन क्रान्ति थी, जो अनुशासित, स्वयं नियंत्रित, सम्मानित और शिष्ट मध्य वर्ग की क्रान्ति थी। इन्होंने शीघ्र ही जर्मनी को एक गणराज्य घोषित कर दिया। जर्मन चांसलर प्रिंस मेक्स के लिए स्थिति सम्भालना कठिन था, अतः उसने समाजवादी नेता फ्रेडरिक एबर्ट (Freidrick Ebart) को, जो सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी का अध्यक्ष था, शासन सौंप दिया। उसने एक सामयिक सरकार की स्थापना की। एबर्ट की सरकार ने 11 नवम्बर, 1918 को युद्ध विराम संधि पर हस्ताक्षर करके प्रथम विश्वयुद्ध का अन्त किया।

संविधान सभा का निर्वाचनः एबर्ट की सरकार का जर्मनी में विरोध किया जा रहा था। एक ओर राजसत्तावादी थे, जो जर्मनी में पुनः राजतंत्र की स्थापना का प्रयास कर रहे थे, तो दूसरी ओर जर्मन साम्यवादी लोग देश में रूसी साम्यवादी व्यवस्था के अनुरूप शासन की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे।

फ्रेडरिक एबर्ट की सरकार ने राष्ट्रीय संविधान सभा के निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ की। उसने 19 जनवरी, 1919 को राष्ट्रीय संविधान सभा के निर्वाचन की घोषणा की। निश्चित तिथि को निर्वाचन कराया गया, जिसमें कई राजनीतिक दलों ने भाग लिया। चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर सम्पन्न हुआ, जिसमें 3 करोड़ मतदाताओं ने भाग लिया। संविधान सभा के 421 स्थानों में से "सोशल डेमोक्रेटिक" दल को सर्वाधिक 163 स्थान प्राप्त हुए। "कैथोलिक सेन्टर पार्टी" के 88, डेमोक्रेटिक दल के 75, नेशनलिस्ट दल के 42, स्वतंत्र समाजवादी दल के 22 और पीपुल्स पार्टी के 21 सदस्य निर्वाचित हुए। शेष 10 स्थान, 4 अल्पसंख्यक दलों को प्राप्त हुए। इस प्रकार किसी भी दल को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ।

अन्तरिम सरकारः इस सभा का प्रथम अधिवेशन वाइमर (Weimar) नामक स्थान पर हुआ। सभा का कार्य आरम्भ होने से पूर्व एबर्ट की अस्थायी सरकार ने त्यागपत्र दे दिया। चुनाव में किसी भी दल को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ था, अतः सोशल डेमोक्रेटिक दल ने, सेन्टर पार्टी एवं डेमोक्रेटिक दल के साथ मिलकर एक 'अन्तरिम सरकार' गठित की। इसे 'वाइमर संघट्ट' के नाम से जाना जाता है। इस सभा ने फ्रेडरिक एबर्ट को गणतंत्र का प्रथम राष्ट्रपति चुना तथा उसके सहयोगी फिलिप शीडमेन को प्रधानमंत्री बनाया गया। संविधान का मसौदा अस्थायी सरकार के ग ह मंत्री ह्यूगो प्रूस (Hugo Preuss) द्वारा तैयार किया गया। जर्मनी के सभी दलों ने इसे स्वीकार किया था।

वाइमर संविधानः नवीन संविधान के अनुसार जर्मन साम्राज्य (राइख) 18 संघीय राज्यों का गणतंत्रीय संघ माना गया। जर्मन जनता को राज्य की प्रभुसत्ता का स्त्रोत माना गया और 20 वर्ष से अधिक आयु के सभी स्त्री-पुरुषों को मताधिकार प्रदान किया गया। एक अधिकार पत्र के द्वारा नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता, भाषण और लेखन की स्वतंत्रता तथा धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गई। प्रधानमंत्री तथा उसके मंत्रिमण्डल को राइखस्टेग या लोकसभा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। मित्र राष्ट्रों के साथ संधि करने का काम सबसे अधिक दुःखदायी सिद्ध हुआ। मई के मध्य में जब वर्साय की संधि की शर्तें जर्मनी सरकार को प्राप्त हुई, तो उसके विरुद्ध जर्मनी के सभी राजनीतिक दलों में बड़ा रोष व्यक्त किया गया। प्रधानमंत्री शीडमेन ने बड़े आवेश में कहा था-"वह कौन सा हाथ है, जो इस प्रकार की संधि पर हस्ताक्षर करने से झुलस नहीं जाएगा।" मार्शल हिन्डेनबर्ग तथा कुछ अन्य भूतपूर्व सेनाध्यक्ष तो पुनः युद्ध आरम्भ करने का विचार करने लगे किनतु जर्मनी पुनः युद्ध करने की स्थिति में नहीं था। ऐसी विषम स्थिति में भी संविधान सभा संविधान बनाने का कार्य करती रही। 31 जुलाई, 1919 को राष्ट्रीय सभा ने संविधान के अंतिम प्रारूप को 75 के मुकाबले 262 मतों से पारित कर दिया और 14 अगस्त, 1919 से उसे लागू किया गया।

इस संविधान के अनुसार कार्यपालिका का अध्यक्ष राष्ट्रपति को बनाया गया। संसद के निर्वाचित बहुसंख्यक दल से राष्ट्रपति को अपना मंत्रिमण्डल चुनने का अधिकार दिया गया। राष्ट्रपति के कार्यकाल की अवधि 7 वर्ष निर्धारित की गई। वह जल, थल तथा वायु सेना का प्रधान सेनापति भी होता था।

वैदेशिक मामलों में उसे निर्णायक अधिकार प्रदान किए गए। उसके साथ एक मंत्रिपरिषद् रखी गयी, जो कि लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती थी। संसद के दो सदन रखे गए। प्रथम, लोकसभा या राइखस्टेग (Reichstag), जिसका निर्वाचन 4 वर्ष के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर किया जाता था तथा दूसरा सदन, राज्यपरिषद् या राइखस्राटा (रिहस्टेग) (Reichsrat), जिसमें संघ के 18 राज्यों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया था। प्रत्येक राज्य को कम से कम एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। किन्तु बड़े राज्यों को उनकी जनसंख्या के आधार पर अतिरिक्त, प्रतिनिधि भेजने की भी व्यवस्था थी। गणतंत्र के अंतिम वर्षों में राइखराट के सदस्यों की संख्या 66 थी। इस सभा के अधिकार सीमित थे और उसका मुख्य कार्य ब्रिटेन की लार्ड सभा के समान, लोकसभा की जल्दबाजी पर रोक लगाना था। इस प्रकार वाइमर संविधान संसार का एक अच्छा संविधान था।

वाइमर गणतंत्र की समस्याएँः जर्मनी के लिए संविधान तो बन गया था लेकिन अगले कुछ वर्षों तक उसको अत्यन्त कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ा। वाइमर गणतंत्र की कठिनाइयों को केटलबी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है-"लगभग 12 वर्ष तक वाइमर गणराज्य की समाजवादी लोकतंत्रात्मक सरकार प्रयत्नपूर्वक देश की नैतिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं से लड़ती रही। एक ओर जर्मनी के लोग असंगठित थे, निराश थे, कष्टकारी अवस्था में थे तथा खिन्न थे, जिन्हें

संसदीय शासन के प्रति न तो मोह था और न जिसका उन्हें कोई अनुभव ही, जो दलीय व्यवहार की कठिनाइयों से सर्वथा अपरिचित थे।"

इसके अतिरिक्त भयंकर मुद्रास्फीति के कारण साधारण व्यक्ति की आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ गयी थीं और मुद्रा-स्फीति के साथ-साथ उद्योगों में भी व्यापक अराजकता छायी हुई थी। जर्मन मुद्रा की कीमत गिरती जा रही थी। पहले एक पौण्ड की विनिमय दर 20 मार्क थी। दिसम्बर, 1921 में एक पौण्ड 700 मार्क के बराबर हो गया। अगस्त, 1922 में 3000 मार्क के बराबर तथा दिसम्बर, 1922 में 34,000 मार्क के बराबर हो गया। जर्मनी ने अपनी शोचनीय आर्थिक स्थिति के कारण मित्र राष्ट्रों से दो वर्ष तक क्षतिपूर्ति न लेने का अनुरोध किया किन्तु फ्रांस, बेल्जियम, इटली ने उसके अनुरोध को ठुकरा दिया। यही नहीं, जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में नए और हिंसक प्रयोग किए जा रहे थे। कुछ उग्रपंथी दल, जिनमें साम्यवादी प्रमुख थे, प्रारम्भ से ही गणतंत्र के विरोधी थे। इसके अतिरिकत राजसत्तावादी, सैन्यवादी एवं अन्य दक्षिण पक्षीय दल भी गणतंत्र को समाप्त करना चाहते थे।

गणतंत्रीय सरकार ने यद्यपि साम्यवादियों का दमन करने में सफलता प्राप्त की थी किन्तु देश में बढ़ती हुई बेराजगारी और मुद्रा-स्फीति के कारण बढ़ते हुए मूल्यों को रोकने में वह असफल रही। ऐसी स्थिति में 13 मार्च, 1920 को डॉ० वूल्फांग वान केप (Wolfgang Von Capp) तथा वाल्थर वान लुतविल्स (Walther Von Luttwitz) ने गणतंत्रीय सरकार को पलटने का असफल प्रयास किया। सरकार ने जनता के सहयोग से इस विद्रोह को दबा दिया। किन्तु इस असफलता से साम्यवादियों का उत्साह कम नहीं हुआ। 1923 ई० में जनरल ल्यूडेनडोर्फ के नेत त्व में म्यूनिख नगर में राजसत्तावादियों ने गणतंत्र को नष्ट करने के लिए एक दूसरा प्रयास किया, इसमें हिटलर भी उनके साथ था। लेकिन यह प्रयत्न भी असफल रहा। ल्यूडेनडोर्फ और हिटलर को गणतंत्रवादियों ने गिरफ्तार कर दण्डित किया।

लेकिन इस समय जर्मन गणतंत्र के सामने सबसे विकट समस्या आर्थिक संकट की थी। प्रथम विश्वयुद्ध में उसे काफी क्षति पहुँची थी। उसके कई कारखाने बंद हो गए तथा बेकारों की संख्या भी बहुत बढ़ गई। साथ ही क्षतिपूर्ति की बड़ी रकम उस पर थोप दी गयी। जर्मनी के कई छोटे-बड़े औद्योगिक नगर उससे छीन लिए गए थे, जिससे समस्त जर्मन व्यापार चौपट हो गया था।

इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में जर्मनी के साथ अछूतों जैसा व्यवहार हो रहा था। वर्साय संधि के द्वारा उसे घोर अपमान सहन करना पड़ा। उस पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाए गए। अन्त में 1925 ई० में लोकार्नो संधि के द्वारा फ्रांस और जर्मनी के बीच तनाव कम हुआ। इससे जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में सुधार हुआ। 1926 ई० में जर्मनी को राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बना लिया गया। वस्तुतः लोकार्नो समझौता सम्पन्न करना तथा जर्मनी का राष्ट्रसंघ में प्रवेश, स्ट्रेसमान की विदेश नीति की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि मित्र राष्ट्रों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयास करते हुए भी उसने रूस और जर्मनी की मित्रता को बनाए रखा, जबकि मित्र राष्ट्रों को साम्यवादी रूस फूटी आँख नहीं सुहाता था।

लेकिन जर्मनी की कठिनाइयों का अभी अन्त भी नहीं हुआ था कि 1929 ई० में विश्वव्यापी आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया। जर्मनी पर इसका बहुत गहरा असर पड़ा। कई कारखाने बन्द करने पड़े। लाखों श्रमिक बेरोजगार हो गए। ऐसी स्थिति में क्षतिपूर्ति की किस्त चुकाना उसके लिए असम्भव था। अमेरिका ने भी इस स्थिति में ऋण देना अस्वीकार कर दिया। इससे जर्मनी की स्थिति और अधिक बिगड़ गई। हिटलर का अभ्युदय तथा जर्मनी में नात्सी क्रान्ति इसी ऐतिहासिक प ष्ठधारा में हुई थी।

हिटलर एवं नात्सी दल का उत्कर्षः नेशनल सोशलिस्ट पार्टी के अध्यक्ष एडोल्फ हिटलर का जन्म 20 अप्रैल, 1889 को आस्ट्रिया के एक छोटे शहर ब्रानो में एक निम्न मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। बचपन से ही वह उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहता था किन्तु गरीबी के कारण यह सम्भव नहीं हुआ। हिटलर के सम्बन्ध, न तो अपने पिता से अच्छे थे और न अपने अध्यापकों से। 1908 ई० में वियना की ललित कला अकादमी में प्रवेश ने मिलने के कारण उसने मकानों पर रंग-रोगन करने का काम शुरू किया। जब कभी भी उसकी नौकरी छूट जाती थी (बहुधा ऐसा होता रहता था), तब वह इसके लिए यहूदियों व समाजवादियों को दोष देता था। प्रथम विश्वयुद्ध के समय वह साधारण सैनिक के रूप में जर्मन सेना में भर्ती हो गया। सैनिक के रूप में उसने बड़ी बहादुरी और कर्त्तव्यपरायणता से काम किया। 1918 ई० में उसे वीरता के लिए प्रथम श्रेणी का 'आयरन क्रास' (Iron

cross, First class) प्रदान किया गया। युद्ध के अन्तिम महीनों में जब वह घायल होकर सैनिक अस्पताल में पड़ा हुआ था, तभी उसे जर्मनी की पराजय और उसके पश्चात् कैसर विलियम के सिंहासन परित्याग तथा जर्मनी में नई गणतंत्रीय सरकार की स्थापना के समाचार मिले, जिससे उसको बड़ा आघात लगा। सैनिक अस्पताल से निकल कर राजनीति में प्रवेश करने का द ढ़ निश्चय करके, हिटलर पुनः म्यूनिख पहुँचा। मई, 1919 में, हिटलर को क्षेत्रीय सेना के अन्तर्गत सूचना एवं प्रसारण विभाग में कार्य करने का अवसर मिला। उसका मुख्य कार्य विभिन्न राजनीतिक दलों की गतिविधियों की सूचना उच्च अधिकारियों को देना तथा समाजवादी विचारों के प्रचार को रोकना था। इसी सिलसिले में वह एन्टन ड्रेक्सलर द्वारा स्थापित, 'जर्मन वर्कर्स पार्टी' के सम्पर्क में आया। इस पार्टी की स्थापना 1918 ई० में की गई थी और इस समय इसके सदस्यों की संख्या केवल 20-25 थी। हिटलर ने इस पार्टी की सदस्यता ग्रहण की और उत्साह से पार्टी की सदस्य संख्या को बढ़ाने हेतु कार्य करने लगा। अप्रैल, 1920 में इस पार्टी का नाम बदल कर "राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन श्रम दल" या संक्षेप में 'नाजी दल' रख दिया गया। इसी वर्ष उसने दल के संस्थापक ड्रेक्सलर को दल से निष्कासित करवा दिया और सम्पूर्ण शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर ली। उसने हेस, गोरिंग, राजनवर्ग, गोबल्स आदि लोगों की सहायता से दल को शक्तिशाली बनाया। उसके प्रयासों से लोग इस दल की ओर आकर्षित होने लगे। इस दल का अपना विशेष प्रतीक चिन्ह 'स्वस्तिक', अपना गीत, अपना अभिवादन, अपने नारे और अपनी रैलियाँ थीं। मुसोलिनी की तरह हिटलर की भी अपनी निजी सेना थी, भूरी कमीज वाली (Brown Shirt)। इनका मुख्य कार्य प्रदर्शन करना, दलीय सभाओं की रक्षा करना तथा विरोधी दलों, विशेषकर, सोशल डेमोक्रेट और साम्यवादियों की सभाओं को बलपूर्वक भंग करना था। एक विशेष सैनिक दस्ता उसकी रक्षा के लिए था, जो खोपड़ी के चिन्ह वाली काली कमीज (Black Shirt) पहनता था। 1923 ई० में हिटलर और जनरल ल्यूडेनफोर्ड के नेत त्व में नाजी लोग जर्मन गणतंत्र का तख्ता पलटने का असफल प्रयास कर चुके थे। हिटलर के इस प्रयत्न के कारण उसे जेल जाना पड़ा। उसने कारावास की अवधि का उपयोग 'मीन कैम्फ' (Mein Kampf) नामक पुस्तक लिखने में किया। हिटलर के अधिनायक बनने के बाद इस पुस्तक को पढ़ना प्रत्येक नागरिक के लिए आवश्यक हो गया। मीन कैम्फ वस्तुतः नाजी जर्मनी का निर्माण करने के लिए और संसार पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए हिटलर का कार्यक्रम था।

मेरा संघर्ष
(Mein Kampf)

1923 ई० में गणतंत्र का तख्ता पलटने के प्रयास में हिटलर को पाँच वर्ष की सजा हुई थी। जेल में उसे अपनी स्थिति एवं कार्यक्रम पर विचार करने का अवसर मिला था। उसने अनुभव किया कि बलपूर्वक शासन पलटने का कार्यक्रम उचित नहीं था और भविष्य में अपनी सेना का गुप्त संगठन करते हुए तथा कानूनी व्यवहार के पर्दे में अपने लक्ष्य को गुप्त रखते हुए संवैधानिक रीति से सत्ता प्राप्त करने का प्रयास किया जाना चाहिए। जेल में ही उसने अपनी आत्मकथा 'मेरा संघर्ष' का प्रथम भाग लिखा, जिसमें उसने बहुमत शासन की संसदीय प्रणाली की आलोचना करते हुए, विशुद्ध जर्मन प्रजातंत्र की अपनी कल्पना प्रस्तुत की, जिसका अर्थ था-"जनता द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक अपने नेता का निर्वाचन और अलग-अलग प्रश्नों पर मत संग्रह के स्थान पर व्यक्ति (नेता) का शासन।" इस पुस्तक में उसने नात्सी दल के जन्म एवं विकास का वर्णन किया और भावी कार्यक्रम का भी चित्रण किया। उसमें निर्दिष्ट कार्यक्रम की बहुत कम बातें ऐसी थीं, जिन्हें उसने आगे चलकर कार्यान्वित नहीं किया हो। नात्सी दल के सदस्य के लिए 'मीन कैम्फ' बाइबिल या गीता के समान महत्त्वपूर्ण धर्म ग्रन्थ बन गई। जर्मनी के विस्तार का कार्यक्रम प्रस्तुत करते समय उसने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की दुहाई देते हुए लिखा था कि जर्मन राज्य में समस्त जर्मन-भाषियों को शामिल होना चाहिए। आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के साथ ही शाश्वत न्याय के सिद्धान्त का भी उसने प्रतिपादन किया, जिसका अर्थ था कि जर्मनों के लिए 'रहने के लिए स्थान' होना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार उसे जर्मन-भाषी लोगों को जर्मन साम्राज्य में शामिल कर लेने में कोई संकोच नहीं था। उसने अपने राष्ट्रीय समाजवाद के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि-"जर्मन राष्ट्र के लिए इतना प्रादेशिक विस्तार होना चाहिए, जिसमें हमारे लोग निवास कर सके। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वर्साय की अपमानजनक संधि और जर्मनी के निःशस्त्रीकरण का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाना चाहिए और जर्मन जनता के दिमाग में वाइमर गणतंत्र के प्रति विरोध एवं घ णा की ज्वाला को धधका कर, उसे नाजी पार्टी के अनुकूल बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए।" आगे चलकर उसने 1936 ई० में अपने एक भाषण में इस सम्बन्ध में कहा था कि "यदि अपार प्राकृतिक सम्पत्ति से युक्त यूराल पर्वत, विस्त त मूल्यवान साइबेरिया के वन और अन्न का भण्डार यूक्रेन, जर्मनी में शामिल

हों, तो नात्सी नेत त्व में जर्मन सम द्ध हो जायेगा।" फ्रांस के बारे में उसने लिखा था कि "फ्रांस जर्मन राष्ट्र का अनन्तकालीन घातक शत्रु है।"

नात्सी दल का पुनर्गठन तथा विस्तारः यद्यपि हिटलर को पाँच वर्ष के कारावास की सजा दी गई थी परन्तु वह 1924 ई० के अन्त में ही मुक्त कर दिया गया। उस समय नात्सी दल की स्थिति अच्छी नहीं थी। नवम्बर, 1923 में उसके दल को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया था। उसकी अनुपस्थिति में दल के सदस्यों में मतभेद उत्पन्न हो गया। 1925 से 1929 ई० तक वह अपने विचारों के आधार पर अपने दल को संगठित एवं विस्त त करने का प्रयास करता रहा। सर्वप्रथम, उसने ऐसे सभी लोगों, जो उसके नेत त्व को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे, को नाजी पार्टी से निष्कासित कर दिया। इससे नाजी दल पर उसका व्यक्तिगत नियंत्रण मजबूत हो गया। दूसरा काम था-सशस्त्र सैनिक दलों का गठन, जिसकी दो शाखायें थीं। प्रथम शाखा आक्रामक सशस्त्र दलों की थीं, जिन्हें एस० ए० (Sturm Abteilung) के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इन टुकड़ियों के सदस्य भूरे रंग की कमीज पहनते थे तथा अपनी बाहों पर स्वस्तिक चिन्ह वाले पट्टे लगाते थे। इनका मुख्य कार्य था-प्रदर्शन करना, दलीय सभाओं की रक्षा करना तथा विरोधी दलों की सभाओं को बलपूर्वक भंग करना। दूसरी शाखा, सुरक्षा सैनिकों की थी, जिसे एस० एस० (Schuiz Stafflen) कहा जाता था। इसमें कुछ चुने हुए सैनिक थे, जो खोपड़ी के चिन्ह वाली काली कमीज पहनते थे। ये लोग मुख्य रूप से दलीय नेताओं के अंगरक्षक होते थे और कभी-कभी कुछ विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करने के लिए भेजे जाते थे। उसके इस कार्य में उसे प्रमुख सहयोग गोबेल्स (Goebbels) का प्राप्त हुआ। इस समय जर्मनी की स्थिति भी उसके अनुकूल थी। राष्ट्रीय दल के लोग अधिकतर उच्चवर्गीय थे। वर्साय की संधि तथा फ्रांस को संतुष्ट करने की नीति के विरोध में वे उससे सहमत थे। मध्यमवर्ग के लोग, जो 1922-23 ई० के जर्मन आर्थिक संकट में नष्ट हो गए थे और बाद में पनप नहीं सके, आर्थिक एवं सामाजिक द ष्टि से सर्वहारा वर्ग में परिणत हो गए थे और राजनीतिक द ष्टि से उग्रवादी बन गए थे। परन्तु वे न तो समाजवादियों में शामिल हो सके क्योंकि उनके विचार में उनके विनाश का एकमात्र कारण वे ही थे और न ही वे साम्यवादियों में शामिल हो सकते थे, जिनके 'लाल' अतिवाद (Extremism) से उन्हें भय लगता था। ऐसे लोगों के लिए नात्सी दल में सम्मिलित होना स्वाभाविक ही था, जो राष्ट्रीय पुनरुद्धार के लिए प्रयत्न कर रहा था, जिसकी सहानुभूति श्रम करके आजीविका कमाने वालों के साथ थी और जो विशेषाधिकारयुक्त वर्गों के प्रतिकूल था। 1928 ई० में नात्सी दल ने केन्द्रीय संगठन की दो शाखाएँ स्थापित कीं। पहली शाखा का कार्य था, वर्तमान सरकार की नीतियों की आलोचना करना। इस शाखा के अधीन मुख्यतः विदेश विभाग, समाचार-पत्र तथा दलीय कार्यालयों के संगठन का कार्य था। दूसरी शाखा का मुख्य कार्य, नात्सी राज्य की स्थापना के लिए प ष्ठभूमि तैयार करना था। इसके अन्तर्गत कृषि, प्रजाति, ग ह, विधि एवं श्रम विभाग थे। प्रचार विभाग का कार्य गोबेल्स को सौंपा गया। हिटलर ने दल की ओर से वाल किश्कर विओबेक्टर (Volkischer Beobachter) नामक समाचार-पत्र भी प्रकाशित किया। सम्पूर्ण जर्मनी में प्रत्येक स्थान पर नात्सी दल की शाखाएँ स्थापित कीं। हिटलर ने मध्यम वर्ग के कुछ पूँजीपतियों को भी अपनी ओर आकृष्ट किया। इस समय विश्वव्यापी आर्थिक संकट के कारण गणतंत्र की सरकार की कठिनाइयाँ बढ़ गई थीं। इसका लाभ भी नात्सी दल को प्राप्त हुआ। हिटलर ने जनता के समक्ष घोषणा की कि जर्मनी की समस्त कठिनाइयों का एकमात्र कारण गणतंत्रीय पद्धति है। उसने जनता को नात्सी दल को समर्थन देने की अपील की और कहा कि वह जर्मनी के राष्ट्रीय सम्मान व सम द्धि की पुनर्स्थापना करेगा। मई, 1928 के राइखस्टेग के निर्वाचन में, नात्सी दल के केवल 12 सदस्य निर्वाचित हो सके किन्तु उस समय भी हिटलर को अपने दल की सफलता का पूरा विश्वास था। हिटलर के प्रयासों से 1930 ई० के राइखस्टेग के निर्वाचन में उसके सदस्यों की संख्या 12 से बढ़कर 107 हो गयी। इस निर्वाचन में उसे 64.4 लाख (20 प्रतिशत) मत प्राप्त हुए। यह एक नए दल के लिए महत्त्वपूर्ण बात थी। मार्च, 1932 में जर्मन राष्ट्रपति के लिए चुनाव हुए। इस पद के लिए तीन उम्मीदवार थे-मौजूद राष्ट्रपति हिन्डेनबर्ग, एडोल्फ हिटलर और साम्यवादी नेता अर्न्स्टथालमान। हिन्डेनबर्ग को 49.6 प्रतिशत, हिटलर को 30.1 प्रतिशत और थालमान को 13 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। यद्यपि इस चुनाव में हिटलर को सफलता प्राप्त नहीं हुई किन्तु उसने 30 प्रतिशत मत प्राप्त किए इससे उसकी लोकप्रियता बढ़ गई। इसी वर्ष संसद के चुनाव में 576 स्थानों में से 230 स्थान नात्सी दल को प्राप्त हुए। बहुमत तो अभी भी प्राप्त नहीं हुआ था किन्तु अन्य दलों के मुकाबले उन्हें सबसे अधिक स्थान प्राप्त हुए थे, हिटलर ने कुछ ही समय में अपनी सर्वसत्तावादी सरकार स्थापित कर ली।

नात्सी दल की सफलता के कारणः नात्सी दल का आकस्मिक उत्कर्ष जर्मनी एवं यूरोप के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। नात्सी दल की यह सफलता तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों, गणतंत्रीय नेताओं

की नीतियों की असफलता एवं हिटलर के कुशल नेत त्व के कारण सम्भव हुई थी। उसकी सफलता के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे-

1. **वर्साय संधि की कठोरता:** प्रायः यह कहा जाता है कि नात्सी दल का उदय वर्साय की कठोर संधि के कारण हुआ। यह संधि पराजित जर्मनी के लिए कठोर तथा अपमानजनक थी। यद्यपि जर्मन देशभक्तों को बंदूक की नोक पर इस संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े थे। किन्तु इसी समय प्रधानमंत्री शीडमेन ने बड़े आवेश में कहा था, "वह कौन सा हाथ है, जो इस प्रकार की संधि पर हस्ताक्षर करने से झुलस नहीं जाएगा।" इस संधि के कारण राइनलैण्ड पर शत्रुओं का अधिकार, सार प्रदेश का छिन जाना, जर्मनी का निशस्त्रीकरण करना आदि बातें जर्मन जनता में आक्रोश एवं क्रोध को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुईं। ऐसी स्थिति में गणतंत्रीय सरकार द्वारा अपनी अशक्तता को स्वीकार करने, समझौतावादी नीति अपनाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी की माँगों को अधिक द ढ़तापूर्वक प्रस्तुत न कर सकने के कारण अनेक देशभक्तों और विशेष रूप से नवयुवकों एवं युद्ध से लौटे हुए सैनिकों को बहुत खटकती थी। जर्मन लोग अपने पुराने गौरव को पुनः प्राप्त करना चाहते थे और वे एक ऐसे नेता की खोज में थे, जो देश के इस अपमान को धोकर उसके राष्ट्रीय गौरव का पुनरुत्थान कर सके। हिटलर के व्यक्तित्व में उनको एक ऐसा व्यक्ति मिल गया, जो उनका 'फ्यूरर' (प्रधान नेता) बन सकता था। जर्मनी के युवक समझते थे कि जर्मनी का पुनरुद्धार फ्यूरर और उसकी नात्सी पार्टी ही कर सकती है। हिटलर ने अपने प्रत्येक भाषण में वर्साय की संधि की आलोचना की और कहा कि हम फिर हथियार लेंगे। परन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो इस बात में कोई विशेष सार मालूम नहीं होता है।

   गेथोर्न हार्डो तथ लिप्सन का मानना है कि यदि हिटलर के उदय का कारण वर्साय की संधि है, तो उसका उत्कर्ष इस संधि के तीन चार वर्ष पश्चात् ही हो जाना चाहिए था, जबकि जर्मनी का अपमान अपनी पराकाष्ठा पर था। परन्तु नात्सी दल का उदय वर्साय संधि के 14 वर्ष पश्चात् हुआ। उस समय तक वर्साय की बहुत सी कठोर शर्तों में परिवर्तन हो गया था। हिटलर के उत्कर्ष के समय अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी का सम्मान बहुत बढ़ गया था। स्ट्रेसमान के नेत त्व में जर्मनी ने बहुत कुछ अंशों में अपने पूर्व गौरव को प्राप्त कर लिया था। लोकार्नो की संधि के पश्चात् 1925 ई० में उसको राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया था और उसको कौंसिल में स्थानीय सदस्यता भी प्रदान कर दी गई थी। 1930 ई० में विदेशी सेनाओं ने जर्मन प्रदेशों को खाली कर दिया था। डावस् योजना, यंग योजना तथा लोजान सम्मेलन के द्वारा क्षतिपूर्ति की राशि कम होती जा रही थी। 1932 ई० में जर्मन चांसलर ने घोषणा कर दी थी कि हम भविष्य में क्षतिपूर्ति की राशि जमा नहीं करायेंगे। इस प्रकार वर्साय संधि को हिटलर के उत्कर्ष का प्रधान कारण नहीं माना जा सकता परन्तु फिर भी इसको हिटलर के उत्कर्ष का एक सहायक कारण मानने में कोई संकोच नहीं है।

2. **आर्थिक संकट:** नात्सी दल की सफलता का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण 1929-30 का आर्थिक संकट था। इस समय जर्मनी के प्रत्येक वर्ग में असंतोष फैला हुआ था। नात्सी लोग उनके असंतोष का लाभ उठाने में सफल हुए। जून, 1931 में कृषकों पर तीन अरब डालर का ऋण था। हिटलर ने कृषकों को इस ऋण से मुक्ति देने का आश्वासन दिया। बड़े-बड़े पूँजीपति साम्यवाद से भयभीत होकर हिटलर का समर्थन कर रहे थे। हिटलर ने कुछ उच्च श्रेणी के पूँजीपतियों को यह आश्वासन देकर अपनी ओर मिला लिया कि उनके उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया जायेगा। छोटे-छोटे दूकानदारों को बड़े-बड़े स्टोर (भण्डारों) की प्रतिस्पर्द्धा से बड़ी हानि पहुँचती थी। अतः उनसे यह वायदा किया गया कि बड़े-बड़े स्टोरों का तुरन्त ही सामाजीकरण कर दिया जायेगा। मार्क का मूल्य गिर जाने से जिन लोगों की आय समाप्त हो चुकी थी, उन्हें भी सम द्धि की आशा बँधाकर अपने पक्ष में मिला लिया। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग, जिसे उसने अपनी ओर मिलाया, वह था बेकारों का, जिनकी संख्या 1930 में 50 लाख से अधिक थी। नात्सी दल के सदस्यों में उसी वर्ष असाधारण व द्धि हुई थी। नात्सियों के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात थी कि उन्हें सत्ता उस समय प्राप्त हुई जब आर्थिक संकट का अन्त हो रहा था।

3. **साम्यवाद का भय:** नात्सीवाद की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण जर्मनी में साम्यवाद का बढ़ता हुआ भय था। यद्यपि यह कोई महत्त्वपूर्ण कारण नहीं था तथापि नात्सियों ने अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए इसका अतिशयोक्ति पूर्ण प्रचार किया था। यदि जर्मन जनता साम्यवाद की ओर आकर्षित होती, तो वह उसे उन्हीं दिनों में स्वीकार कर लेती, जब उसकी सेना परास्त हो चुकी थी और उनका सम्राट भाग रहा था। उस समय साम्यवादियों ने इसके लिए प्रयास भी किया था, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इस समय जर्मनी में साम्यवादियों को लोकसभा में 77 स्थान मिले थे। 1932 ई० के प्रथम निर्वाचन में उनको 89 तथा इसी वर्ष दूसरे निर्वाचन में 100 स्थान प्राप्त हुए थे। इस स्थिति का लाभ उठाकर नात्सियों

ने जर्मनी को साम्यवाद का भावी भय दिखाना आरम्भ किया। इसी साम्यवाद विरोधी कार्यक्रम के कारण नात्सियों को बड़े व्यापारियों एवं उद्योगपतियों एवं असंख्य ऐसे व्यक्तियों का समर्थन मिला, जो साम्यवाद से घ णा करते थे और उसको समाप्त करना चाहते थे। फ्रिप्स थाईसन (Fritz Thyssen) और एमिल किर्डार्फ (Emil Kirdorf) जैसे उद्योगपतियों द्वारा दी गई प्रचुर आर्थिक सहायता से ही हिटलर अपने दल की गतिविधियों का विस्तार कर सका और उसे प्रभावशाली बना सका। जब रिहस्टेग भवन को जलाने का दोष साम्यवादियों पर थोपा गया, तो लोग यह अनुभव करने लगे कि साम्यवाद से बचने के लिए नाजी दल को समर्थन देना आवश्यक है।

4. **यहूदी विरोधी नीतिः** प्रथम महायुद्ध में जर्मनी की पराजय के समय से ही जर्मन जनता में यह भावना व्याप्त हो गयी थी कि जर्मनी की पराजय यहूदियों के ही कारण हुई थी। यहूदी वर्ग जर्मनी का वैभवशाली वर्ग था। बड़े-बड़े उद्योगों पर उनका स्वामित्व था और साधारण जनता उन्हें शोषक समझकर उनसे घ णा करती थी। सार्वजनिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में भी यहूदियों का प्रमुख स्थान था। हिटलर ने जनता की इस यहूदी विरोधी भावना से भी लाभ उठाया और उन्हें देश से निकाल कर, बेकार लोगों को उनके कल कारखानों में लगाने का आश्वासन दिया, जिससे ये बेकार लोग नाजी दल के समर्थक हो गए।

5. **जातीय परम्परा एवं चरित्रः** जर्मनी जाति हमेशा अनुशासन तथा एक नायक का अनुकरण करने के लिए तैयार रहती थी। जैसा कि प्रो० शूमां ने लिखा है-"जर्मनी का इतिहास एक राष्ट्रीय नायक से शुरू होता हुआ तीन राष्ट्रीय राजवंशों के नेत त्व में चलता रहा और एक राष्ट्रीय नेता की देखरेख में ही समाप्त हो गया। ये नायक जर्मन होहेन्स्टोफेन, हुप्सवर्ग होहेनजोर्लन और हिटलर थे।" जर्मन जनता ने हिटलर को भी एक राष्ट्रीय नायक के रूप में देखा और स्वीकार किया। हिटलर ने जर्मन जनता के समक्ष कोई नया कार्यक्रम या राजनीतिक दर्शन नहीं रखा। उसने वहीं कहा जो हीगल, फिक्टे, बिस्मार्क या कैसर आदि कह चुके थे। सच तो यह है कि नात्सीवाद सम्पूर्ण जर्मन विचारधारा का निचोड़ है। जर्मन जनता इसको स्वीकार करने को तैयार थी।

6. **वाइमर गणतंत्र के प्रति असंतोषः** हिटलर के उत्कर्ष का एक कारण जर्मन जनता में प्रजातांत्रिक लोकतन्त्रात्मक शासन पद्धति के प्रति अरुचि होना था। महायुद्ध के अन्तिम दिनों में जर्मनी में गणतंत्र की घोषणा इस कारण नहीं की गयी थी कि जर्मन लोगों का गणतंत्र से प्रेम था। उस समय जर्मन लोग सोचते थे कि यदि जर्मनी में गणतंत्र की स्थापना की जाय, तो उन्हें राष्ट्रपति विल्सन की सहानुभूति प्राप्त हो सकेगी। गणतंत्र विश्वयुद्ध के बाद असफल रहा। इस असफलता का लाभ नाजी दल को प्राप्त हुआ। इसी कारण बैन्स ने लिखा है कि "वाइमर संविधान के अन्तर्गत आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली एवं बहुदलीय व्यवस्था के कारण संसदीय शासनतंत्र की असफलता भी नात्सियों की सफलता में सहायक सिद्ध हुई।" गणतंत्रात्मक शासन के अन्तर्गत जर्मनी में अनेक दलों का उदय हो गया था। 1930 ई० के निर्वाचन में 24 राजनीतिक दलों ने भाग लिया था। किन्तु किसी भी दल को बहुमत नहीं मिलने से मिलाजुला मंत्रिमण्डल बनाना पड़ा। ये गठबंधन अधिक समय तक सुचारू रूप से कार्य नहीं कर सके थे। नात्सियों ने इस संसदीय विरोध से लाभ उठाया और जनसाधारण को यह विश्वास दिलाया कि संसदीय प्रणाली पूर्णतः असफल हो चुकी है। वास्तव में 1930 ई० के पश्चात् तो किसी भी मंत्रिमण्डल को राइखस्टेग में बहुमत प्राप्त नहीं हो सका और राष्ट्रपति के अध्यादेशों के द्वारा शासन चलाना पड़ा। अतः जर्मन नागरिक इस संसदीय व्यवस्था की कार्यप्रणाली से ऊब चुके थे। हिटलर ने उन्हें शक्तिशाली शासन व्यवस्था देने का वायदा किया था। अतः बहुत से जर्मन लोगों को यह विश्वास हो गया था कि कोई शक्तिशाली व्यक्ति ही जर्मनी की प्रतिष्ठा एवं सम द्धि को पुनः स्थापित कर सकेगा। और यह व्यक्ति हिटलर था।

7. **हिटलर का आकर्षक व्यक्तित्वः** नात्सीवाद की सफलता का प्रमुख कारण हिटलर का आकर्षक व्यक्तित्व था। उसमें जननायक होने के सभी गुण थे। वह एक प्रतिभावान राजनीतिज्ञ, महान् वक्ता और वीर सैनिक था। उसमें परिस्थितियों के अनुसार राजनीतिक दाँवपेचों को अपने अनुकूल कार्यान्वित करने की अद्भुत योग्यता थी। उसकी वाणी में एक जादू था, उसके भाषण को सुनकर जनता मंत्रमुग्ध हो जाती थी। बैन्स ने उसके सम्बन्ध में लिखा है, "हिटलर एक कुशल मनोवैज्ञानिक था, एक चतुर जननेता था और एक श्रेष्ठ अभिनेता था। वह एक साधन सम्पन्न आन्दोलनकारी तथा एक योग्य संगठनकर्त्ता था।" अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण वह जर्मनी का अधिनायक बन गया। इसके साथ ही हिटलर ने जनता को प्रभावित करने के लिए प्रचार के सभी साधनों का पूरा उपयोग किया। उसके सहयोगी गोबल्स ने इस कार्य में बड़ी दक्षता का परिचय दिया। गोबल्स का प्रचार सिद्धान्त था-"झूठी बात को इतना दोहराओ की वह सत्य ही बन

जाए।" हिटलर ने विश्वयुद्ध की पराजय को, राष्ट्रीय अपमान घोषित करके तथा राष्ट्रीय गौरव की पुनः स्थापना का आश्वासन देकर जर्मन जनता की सैनिक मनोव त्ति को जाग त किया। हिटलर के व्यक्तित्व के बारे में एलन बुलक ने अपनी पुस्तक-'हिटलर-ए स्टडी इन टिरेनी' में लिखा है कि "राजनीति के अविवेगी तत्त्वों पर उसका अधिकार, अपने प्रतिद्वन्द्वियों की कमजोरियों को समझने की सूक्ष्म द ष्टि, राजनीतिक समस्याओं के सरलीकरण की योग्यता, समयोचित कार्यवाही करने की क्षमता और अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु जोखिम उठाने की इच्छा, उसकी ऐसी विशेषताएँ थीं, जिनके कारण वह अपने दल को सफलता की सीढ़ी पर खड़ा कर सका।"

8. **नात्सी कार्यक्रमः** नाजी दल के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण उसका आकर्षक कार्यक्रम था। नाजी कार्यक्रम में वर्साय संधि में संशोधन कराना, जर्मनी के खोए हुए प्रान्तों की पुनः प्राप्ति, पुराने गौरव की स्थापना, सम्पत्ति की सुरक्षा का आश्वासन, साम्यवादियों का दमन, श्रमिकों को शोषितों से मुक्ति का आश्वासन, उपभोक्ताओं को उत्पादकों के शोषण से बचाना, छोटे व्यापारियों को बड़े मुनाफाखोरों से बचाने का आश्वासन तथा बेराजगारों को रोजगार देने का आश्वासन दिया गया। हिटलर के इस कार्यक्रम ने जर्मन जनता को संतुष्ट कर दिया और लोग उसके समर्थक बन गए। हिटलर का कार्यक्रम जनता की इच्छाओं, परम्पराओं और विचारधाराओं के अनुकूल था। जर्मनी की जनता जिन बातों को चिरकाल से सोचती और मानती थी, उन्हें हिटलर ने स्पष्टतः कहना शुरू किया और उन्हें पूरा करने का वचन दिया। अतः जर्मन लोगों ने हिटलर को अपने देश के उद्धारक नेता के रूप में ग्रहण किया।

वाइमर गणतंत्र का पतन (1930-31 ई०): सितम्बर, 1930 के चुनाव की प्रमुख विशेषता यह थी कि हिटलर के नेशनल सोशलिस्ट दल को इसमें अपूर्व सफलता मिली। उसके सदस्यों की संख्या 12 से बढ़कर 107 हो गयी और लोकसभा में वह सोशल डेमोक्रेटिक दल के बाद दूसरा सबसे बड़ा राजनीतिक दल बन गया। साम्यवादी दल की संख्या भी 54 से बढ़कर 74 हो गयी। इस चुनाव से यह स्पष्ट दिखलाई देने लगा कि निकट भविष्य में गणतंत्र का पतन अवश्यम्भावी है। किसी भी दल को बहुमत न मिलने के कारण प्रशासन राष्ट्रपति के आदेशों पर दो वर्ष तक चलता रहा। 1932 ई० में उसे अपनी शक्ति की पुनः परीक्षा करने का अवसर प्राप्त हुआ, जब राष्ट्रपति हिडेनबर्ग की अवधि समाप्त हुई और उसके रिक्त पद के लिए निर्वाचन हुआ। चुनाव में हिडेनबर्ग को 1,86,50,000 मत, हिटलर को 1,13,39,446 तथा साम्यवादी प्रत्याशी थालमेन को 49,80,000 मत मिले। यद्यपि हिटलर पराजित हुआ था किन्तु नात्सी दल की मजबूत स्थिति का पता चल गया। इसी वर्ष लोकसभा के चुनाव में नात्सी दल के 230, सोशल डेमोक्रेट दल के 133 और साम्यवादी दल के 89 सदस्य चुने गए। बहुमत किसी भी दल को प्राप्त नहीं हुआ था परन्तु वह स्पष्टतः सबसे बड़ा दल था। अतः हिटलर को प्रधानमंत्री बनाने के लिए आमंत्रित करना पड़ा। जनवरी, 1933 में हिटलर ने प्रधानमंत्री पद स्वीकार किया और एक सम्मिलित मंत्रिमण्डल बनाया। किन्तु वह लोकसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त करना चाहता था। अतः मार्च, 1933 में पुनः चुनाव कराए गए। चुनावों में अपनी सफलता सुनिश्चित करने के लिए सभी प्रकार के उपाय किए और विरोधी दलों के प्रभाव को कम करने के लिए दमनकारी एवं हिंसात्मक उपायों का सहारा लिया। अपने मंत्रिमण्डल में उसने चुने हुए साथी रखे, जिनमें एक हरमन गोरिंग (Harmann Gooring) था, जिसे ग ह मंत्री बनाया गया। गोरिंग ने पुलिस विभाग में बड़ी संख्या में नात्सी भूरी कुर्ती वाले एस० ए० और विशेष दस्ता एस० एस० के लोगों को भर्ती किया। हिटलर ने साम्यवादियों की शक्ति को छिन्न-भिन्न करने की भी योजना बनाई। 24 फरवरी, 1933 को बर्लिन में, साम्यवादी दल के प्रमुख कार्यालय पर छापा मारा गया और यह घोषणा की गई कि वहाँ पर साम्यवादियों द्वारा जर्मनी में क्रान्ति करके सत्ता हस्तगत करने की योजना के अनेक प्रमाण मिले थे। इसके पश्चात् मतदान की तिथि के कुछ ही दिन पूर्व, 27 फरवरी की रात्रि को लोकसभा भवन में आग लगा दी गयी। मेरीनस वानडरल्यूब नामक एक अर्द्धविक्षिप्त साम्यवादी युवक को आग लगाने के अपराध में पकड़ लिया गया। हिटलर ने इस घटना का पूरा राजनीतिक लाभ उठाने का प्रयास किया। उसने राष्ट्रपति से अनुरोध कर नागरिक स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिए और भाषण, मुद्रण, सभा करने आदि की स्वतंत्रता छीन ली। साम्यवादी दल गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। प्रमुख साम्यवादी नेता गिरफ्तार कर लिए गए। इससे हिटलर का उद्देश्य पूरा हो गया। 5 मार्च, 1933 के चुनाव में नात्सी दल को 647 स्थानों में से 288 स्थान प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त नात्सियों के सहयोगी नेशनलिस्ट दल के भी 52 प्रतिनिधि चुने गए थे। इस प्रकार नात्सी नेशनलिस्ट गुट को लोकसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त हो गया।

हिटलर की विजय गणतंत्र की पराजय थी। शक्ति प्राप्त करके उसने गणतंत्र के विनाश हेतु कार्य आरम्भ किया। गणतंत्रीय राष्ट्र ध्वज हिण्डेनबर्ग के आदेश से हटा दिया गया और उसके स्थान पर पुराने जर्मन साम्राज्य के झण्डे तथा नात्सी दल के

'स्वस्तिक' युक्त झण्डे की प्रतिष्ठा हुई। 23 मार्च को लोकसभा का प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसमें हिटलर ने स्वयं उपस्थित होकर चार वर्ष के लिए लोकसभा की समस्त सत्ताएँ अपने लिए माँगी। लोकसभा ने उसकी धमकी से डरकर अपनी सभी सत्ता हिटलर को सौंप दी। इस प्रकार हिटलर सर्वेसर्वा हो गया और जर्मनी में संवैधानिक शासन के स्थान पर एक व्यक्ति का शासन स्थापित हो गया। अब उसने जर्मनी का नया नाम त तीय साम्राज्य (Third Reich) रखा। अगस्त, 1934 में राष्ट्रपति हिण्डेनबर्ग की म त्यु हो गयी। हिटलर ने इस घटना का उपयोग करके गणतंत्र के इस अंतिम चिन्ह (राष्ट्रपति के पद) को भी समाप्त कर दिया। उसने राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री दोनों पदों को एक ही पद में सम्मिलित कर देने की घोषणा की। जनमत संग्रह में 90 प्रतिशत मतों द्वारा उसके इस कार्य को स्वीकार किया गया। अब समस्त राजसत्ता उसी के हाथों में थी।

वाइमर गणतंत्र के पतन के कारणः 1919 ई० में स्थापित वाइमर गणतंत्र का 13 वर्ष पश्चात् पतन और उसके स्थान पर हिटलर के अधिनायकवाद की स्थापना से जर्मनी में प्रजातंत्रीय संविधान पर आधारित व्यवस्था का प्रयोग असफल हो गया। यथार्थ में वहाँ पर गणतंत्रीय सरकार की स्थिति आरम्भ से ही डांवाडोल थी। गणतंत्रीय व्यवस्था के पतन के कुछ महत्त्वपूर्ण कारण इस प्रकार थे-सर्वप्रथम वाइमर गणतंत्र की स्थापना ऐसे समय में हुई थी, जब जर्मनी सैनिक पराजय तथा पेरिस शान्ति-सम्मेलन के निर्णय के कारण भौतिक एवं मानसिक द ष्टि से टूट चुका था। उसे बाध्य होकर वर्साय की अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े। जर्मन लोगों की द ष्टि में गणतंत्र उसी अपमानजनक पराजय का प्रतीक था। दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि जर्मनी में बहुदलीय व्यवस्था थी, वहाँ किसी भी एक दल को बहुमत नहीं मिल सका, अतः मिला-जुला मंत्रिमण्डल बनाना आवश्यक था, जो अधिक समय तक सत्तारूढ़ नहीं रह सका। 1919 से दिसम्बर, 1932 के बीच 18 मंत्रिमण्डलों द्वारा शासन चलाया गया। ऐसी स्थिति में कोई भी गणतंत्रीय सरकार किसी भी दीर्घकालीन कार्यक्रम को पूरा नहीं कर सकती थी, फिर जर्मनी में तो किसी भी मंत्रिमण्डल को लोकसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। अतः धारा 48 के अध्यादेशों द्वारा शासन चलाना पड़ा। इस स्थिति का लाभ गणतंत्र विरोधी दलों ने उठाया। तीसरा कारण यह था कि गणतंत्र के प्रति जर्मनी में कभी भी उत्साह नहीं था। यहाँ तक कि युद्ध के समय भी जर्मनी का युवा वर्ग गणतंत्र की ओर आकर्षित नहीं हो सका। गणतंत्रीय व्यवस्था ने साम्राज्यकालीन वीर पुरुषों की अवहेलना करके, साम्राज्य के ध्वज एवं आकर्षक सैनिक वर्दी को बदलकर, जनता के प्रभावशाली वर्ग की भावनाओं को ठेस पहुँचाई और उन्हें गणतंत्र का शत्रु बना दिया। गणतंत्र के पतन के लिए एक महत्त्वपूर्ण कारण 1929 ई० का विश्वव्यापी आर्थिक संकट भी था। इस संकट के समय जनसाधारण को भीषण आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। जर्मनी के लोग इस संकट के लिए वाइमर सरकार को दोषी मानने लगे। हिटलर ने भी संकट का सारा दोष गणतंत्र को ही दिया था। इस प्रकार वाइमर गणतंत्र के लिए जर्मनी में अधिक समय तक ठहर पाना कठिन हो गया और हिटलर के उत्थान के साथ ही उसका पतन हो गया।

हिटलर की ग ह नीति

हिटलर ने आन्तरिक अथवा ग ह क्षेत्र में जो नीति अपनाई उसके मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं-

1. **सर्वसत्तावादी राज्य की स्थापनाः** सत्तारूढ़ होते ही हिटलर ने जर्मनी की व्यवस्था बदलना, समस्त शक्तियों को अपने हाथों में केन्द्रित करना और अपने समस्त विरोधियों का दमन करके जर्मनी का नात्सीकरण करना आरम्भ किया। उसने जिस नई व्यवस्था की स्थापना की वह सर्वसत्तावादी थी, जिसका आधार 'एक दल, एक नेता तथा उसका अनियंत्रित शासन' था। हिटलर ने इसी सिद्धान्त के आधार पर जर्मन राज्य की स्थापना के लिए कार्य करना प्रारम्भ किया। हिटलर ने सर्वप्रथम, जर्मनी के संघात्मक स्वरूप को बदलकर एकात्मक रूप प्रदान किया। मार्च, 1933 के एक अध्यादेश द्वारा, जर्मनी में सभी प्रान्तीय विधान-सभाओं को भंग कर दिया गया और नात्सी नियंत्रण के अन्तर्गत उनका पुनर्गठन किया गया। इस घटना के एक सप्ताह बाद ही, प्रत्येक प्रान्त में मनोनीत प्रतिनिधि (गवर्नर) या स्टेट हाल्टर (State haltor) नियुक्त किए गए, जिन्हें प्रान्तीय शासन के संचालन के विस्त त अधिकार दिए गए। प्रशा में स्वयं हिटलर गवर्नर बना। 30 जनवरी, 1934 को 'राइख के पुनर्निर्माण अधिनियम' के द्वारा सभी प्रान्तीय विधानसभाओं को समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार प्रान्तों में प्रतिनिधि-शासन का अन्त हो गया और केन्द्रीय सरकार की सार्वभौम सत्ता स्थापित हो गई।
2. **सर्व शक्तिमान नात्सी दलः** हिटलर ने सभी अन्य राजनीतिक दलों को समाप्त करने तथा नात्सी दल की सत्ता को स्थापित करने के लिए भी प्रयत्न किए। साम्यवादी दल पर प्रतिबन्ध पूर्व में ही लगा दिया गया था। निर्वाचन के पश्चात् साम्यवादी दल के किसी भी प्रतिनिधि को लोकसभा में बैठने का अवसर नहीं दिया गया। मई, 1933 के एक आदेश द्वारा

साम्यवादी दल की समस्त सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। जुलाई, 1933 में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी, पीपुल्स पार्टी और सेन्टर पार्टी को तोड़ दिया गया। उसके सहयोगी दल नेशनलिस्ट दल को भी समाप्त कर दिया। 14 जुलाई, 1933 के एक अध्यादेश द्वारा नात्सी दल को जर्मनी का एकमात्र राजनीतिक दल माना गया और अन्य किसी दल का गठन राजद्रोह माना गया। सभी राजनीतिक दलों के भंग हो जाने से केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में भी हिटलर सर्वेसर्वा बन गया। जर्मनी के शासन तंत्र पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के प्रयास को हिटलर ने 'सिविल सेवा पुनः स्थापना अधिनियम' बताया, जिसमें सभी अनार्यों अर्थात् यहूदियों को तथा ऐसे व्यक्तियों को जो निष्ठापूर्वक नेशनल सोशलिस्ट राज्य की सेवा करने को तैयार नहीं थे, राज्य की विभिन्न सेवाओं से हटाने का प्रावधान था। इस कानून के अन्तर्गत सिविल सर्विस के लगभग 28 प्रतिशत व्यक्तियों को पदमुक्त किया गया।

3. **स्वायत्त संस्थाओं पर नियंत्रणः** जर्मनी में स्वायत्तशासी संस्थाओं पर भी नात्सी केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण स्थापित किया गया था। नगरपालिकाओं के अध्यक्षों एवं ग्राम परिषदों के अध्यक्षों की नियुक्ति भी केन्द्रीय सरकार के द्वारा की जाने लगी। इन संस्थाओं के सदस्यों को भी स्थानीय नात्सी नेताओं की सहमति से मनोनीत किया जाता था। स्थानीय व्यापारिक संघ समाप्त कर उस पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित किया गया। स्थानीय स्वशासन सम्बन्धी अधिकार केन्द्र द्वारा नियुक्त अधिकारियों को सौंप दिए गए और स्वशासी संस्थायें केवल एक दिखावा मात्र रह गईं।

4. **नागरिक स्वतंत्रताओं पर रोकः** हिटलर ने सर्वसत्तावादी शासन स्थापित करने के उद्देश्य से सभी प्रकार की नागरिक स्वतंत्रताएँ छीन लीं। प्रेस, रेडियो, सिनेमा, स्कूलों, विश्वविद्यालयों आदि की स्वतंत्रता नष्ट कर दी और विचारों की अभिव्यक्ति तथा समस्त प्रकार के आर्थिक एवं सामाजिक कार्यों पर कड़ा सरकारी नियंत्रण लगा दिया। कोई भी व्यक्ति किसी भी समय गिरफ्तार किया जा सकता था और बिना कारण बताए अनिश्चित काल तक जेल में रखा जा सकता था। जनता पर आतंक जमाने के लिए अनेक प्रकार के कठोर उपाय काम में लाए जाते थे। जिन पर संदेह किया जाता था, उनके लिए विशेष प्रकार के कामगार केम्प (Concentration Camps) बनाए गए, जहाँ उन्हें विभिन्न तरह से यातनाएँ दी जाती थी। इस कार्य को गेस्टापो (Gestapo) नामक विशेष पुलिस संगठन द्वारा किया जाता था। वास्तव में हिटलर एवं उसके सहयोगी, आतंक द्वारा अपनी सत्ता को बनाए रखना चाहते थे। नात्सी सर्वसत्तावादी राज्य की कल्पना में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं था, अतः उसके कोई व्यक्तिगत अधिकार नहीं थे। जर्मनी की इस तरह की व्यवस्था के बारे में केटलबी ने लिखा है, "रीहस्टेग उसकी भक्त थी, उसके शत्रु या तो कब्र में थे या जेल या यातना ग हों में और विरोधी शान्त थे।"

5. **श्रमिकों का एकीकरणः** हिटलर की एकीकरण की नीति केवल शासकीय संस्थाओं तक ही सीमित नहीं रही। उसने जर्मनी के मजदूर संगठनों की स्वतंत्र शक्ति को भी नष्ट करने के उपाय किए। मजदूरों के यूनियन माकर्सवादी सिद्धान्त के प्रभाव में होने के कारण तोड़ दिए गए, उनकी सम्पत्ति छीन ली गयी और सब मजदूरों के लिए एक यूनियन बना दी गयी, जिसका अध्यक्ष एक अत्यन्त कठोर नात्सी नेता था। वैसे हिटलर ने लोक दिखावे के लिए 'मई दिवस' को राष्ट्रीय अवकाश घोषित किया। श्रमिकों के हितों एवं अधिकारों की रक्षा करने का आश्वासन दिया। सभी श्रमिक संघों का जर्मन श्रमिक मोर्चे में विलय कर दिया गया, जिसमें श्रमिकों एवं मालिकों के हितों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता था। कृषि, व्यापार, परिवहन, उद्योग आदि के लिए श्रमिक मोर्चे की अलग-अलग इकाइयाँ थीं। हड़तालों एवं तालाबन्दी को पूर्णतः प्रतिबन्धित कर दिया गया। हिटलर के इन प्रयत्नों से उत्पादन में बहुत व द्धि हुई। 1937 ई० के आरम्भ में उसका उत्पादन 1928 ई० के उत्पादन के अनुपात से 12 प्रतिशत अधिक हो गया था। इसके साथ ही सरकार ने आयात को कम करने और निर्यात को बढ़ाने के उपाय किए। हिटलर के इस प्रयास से जहाँ उत्पादन में व द्धि हुई, वहीं श्रमिक वर्ग भी अनुशासित हुआ।

6. **नात्सी दल की शुद्धिः** हिटलर अपने विरोधियों को सहन नहीं कर सकता था और इसी कारण उसने नागरिक स्वतंत्रताओं का अन्त कर दिया था। जिन व्यक्तियों पर विरोधी होने की आशंका होती, उनके साथ कठोर व्यवहार किया जाता था। नात्सी दल में कुछ ऐसे व्यक्ति थे, जो हिटलर के कार्यों से संतुष्ट नहीं थे। इसमें 'भुरी कुर्ती वाले' सैन्य दल का अध्यक्ष अर्नेस्ट रोह्म (Ernest Roehm) प्रमुख था। रोह्म और उसके समर्थकों का विचार था कि नात्सी दल के समाजवादी कार्यक्रम को पूरा किया जाना चाहिए। किन्तु हिटलर बड़े-बड़े उद्योगपतियों का समर्थन प्राप्त कर रहा था, जो समाजवादी कार्यक्रम के विरुद्ध था। हिटलर अपने दल के अन्दर मतभेद अथवा विरोध को सहन नहीं कर सकता

था। अतः उसने रोह्म पर हिटलर की हत्या करने और नात्सी व्यवस्था को बलपूर्वक नष्ट करने के लिए षड्यंत्र रचने का दोष लगाया। रोह्म को एक रात सोते समय ही गिरफ्तार कर लिया और उसे गोली से उड़ा दिया गया। सैंकड़ों सैनिकों को, जिन पर रोह्म समर्थक होने की आशंका थी, म त्यु दण्ड दिया गया। हिटलर का यह दल-शोधन अभियान तीन दिन तक चलता रहा और उसमें सैंकड़ों व्यक्तियों को मौत के घाट उतारा गया। इस प्रकार हिटलर ने अपने दल की 'शुद्धि' करके दलीय एकता सुनिश्चित की। हिटलर ने जिस कठोरता और निर्दयता से अपनी नीति के विरोधियों का दमन किया, उससे सम्पूर्ण जर्मन जनता आतंकित हो गई और भविष्य में कोई भी व्यक्ति उसकी सत्ता का विरोध करने की हिम्मत नहीं कर सका।

7. **यहूदी विरोधी नीति (Anti-Semitism):** विशुद्ध प्रजातीयता पर नात्सी लोग बहुत जोर देते थे। हिटलर ने अपनी 'आत्म कथा' में लिखा कि मानव संस्कृति ने जितनी भी प्रगति की है, उसकी आधारशिला आर्यों ने तैयार की थी। उसने यह प्रचार किया कि जर्मन प्रजाति 'विशुद्ध आर्य' है और रक्त की शुद्धता ही राष्ट्रीयता का मूल लक्षण है। केवल वे ही लोग जर्मनी के नागरिक हो सकते हैं, जिनकी नसों में विशुद्ध आर्य रक्त बहता है। जर्मन प्रजाति अन्य सभी प्रजातियों से श्रेष्ठ है, अतः उन्हें अन्य प्रजातियों पर शासन करने का अधिकार है। अनार्यों के लिए जर्मन साम्राज्य में कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार के संकुचित प्रजातीय विचार के कारण हिटलर तथा गोरिंग ने यहूदी विरोधी नीति अपनाई। स्वयं गोरिंग ने लिखा था, "यहूदियों के विरुद्ध हमें केवल यही शिकायत नहीं है कि जर्मनी के व्यवसायों और उद्यमों में अपनी संख्या के अनुपात में अधिक स्थान प्राप्त किए हुए हैं, वे जर्मन पूँजी के स्वामी बने हुए हैं, उन्होंने जर्मनी का सूदखोरी और भ्रष्टाचार द्वारा रक्त शोषण किया है तथा उन्होंने मुद्रा-स्फीति द्वारा जर्मनी का गला घोंटा है; हमारी शिकायत तो यह है कि मार्क्सवादियों तथा साम्यवादियों का नेत त्व उन्होंने ही किया है।" नात्सी सरकार ने अप्रैल, 1933 में एक कानून द्वारा सभी यहूदियों को सरकारी एवं अर्द्धसरकारी सेवाओं से हटा दिया। यहूदी व्यापारियों तथा उद्योगपतियों का बहिष्कार किया जाने लगा तथा उन्हें बंदी बनाकर यातनाएँ दी जाने लगीं। सितम्बर, 1935 में कुछ और यहूदी विरोधी कानून बनाए, जिन्हें 'न्यूरेम्बर्ग कानून' (Nuremberg Laws) के नाम से जाना जाता है। इन कानूनों के अनुसार कोई भी व्यक्ति, जिसके पितामह या पितामहा में से कोई एक यहूदी था, उसे यहूदी माना गया तथा सभी यहूदियों को नागरिकता से वंचित कर दिया गया। वे अब शिक्षक, वकील, डॉक्टर आदि का काम भी नहीं कर सकते थे। इस प्रकार सरकार की नीति अनार्य लोगों को सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन की आवश्यक सुविधाओं से वंचित करके, उन्हें देश छोड़कर चले जाने पर विवश करने की थी। 1936-37 ई० तक लगभग एक लाख यहूदी लोग देश छोड़कर चले गए थे।

8. **कैथोलिकों के प्रति नीतिः** यद्यपि हिटलर रोमन कैथोलिक वातावरण में पला था किन्तु व्यक्तिगत रूप से वह कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट सिद्धान्तों में विश्वास नहीं रखता था। उसका विचार था कि कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट संगठनों पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण स्थापित होना चाहिए। यद्यपि 1933 ई० में पोप से उसने एक धर्म संधि (Concordat) की थी, जिसके द्वारा पादरियों को राजनीति से अलग करने तथा कैथोलिक चर्च को अन्य धर्मों के समान अधिकार देने की बात स्वीकार की थी किन्तु शीघ्र ही दोनों में मतभेद उत्पन्न हो गया। नात्सी सरकार ने कैथोलिक एक्शन नामक संस्था, कैथोलिक युवक आन्दोलन तथा कैथोलिक समाचार-पत्रों पर प्रतिबन्ध लगाए और कैथोलिक शिक्षण संस्थाओं पर भी शासकीय नियन्त्रण स्थापित किया, जिसे कैथोलिकों ने धर्म संधि का उल्लंघन माना। 1935 ई० में अनेक कैथोलिक भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों को जर्मनी से अवैध रूप से धन बाहर भेजने का आरोप लगा कर कैद कर लिया गया। 1938 ई० में अनेक कैथोलिक गिरजाघरों में आग लगा दी गई। नात्सियों की राज्य की कल्पना में व्यक्ति की केवल एक ही भक्ति हो सकती थी-राज्य के प्रति। परन्तु कैथोलिक लोग रोम के पोप को, जो जर्मनी के बाहर का था, अपना धर्मगुरू मानते थे और उसके प्रति भक्ति रखते थे। इसके साथ ही नात्सीवाद के शिक्षा सम्बन्धी तथा प्रजातीय सिद्धान्त रोमन कैथोलिक चर्च की शिक्षाओं से मेल नहीं खाते थे, अतः कैथोलिक चर्च उनका विरोध करता था। द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ तक कैथोलिकों और सरकार के बीच यह संघर्ष समाप्त नहीं हो पाया।

9. **नात्सी शिक्षा नीतिः** हिटलर ने शिक्षा पद्धति को भी नात्सी सिद्धान्तों के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। शिक्षा का उद्देश्य ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करना था, जिसमें नवयुवक राष्ट्रीय समाजवाद की भावना को आत्मसात कर राष्ट्र के योग्य बन सकें। पाठ्यक्रमों के प्रमुख लक्ष्य थे-नात्सी प्रजातीय सिद्धान्तों की शिक्षा, जर्मन राष्ट्र की महान् परम्पराओं, इतिहास तथा संस्कृति का वर्णन राजनीतिज्ञ सैनिक (Political Soldier) के आदर्श, खेलकूद तथा फार्मों और केम्पों में अनिवार्य

श्रम द्वारा शरीर को बलिष्ठ बनाना। हिटलर ने 'मीन कैम्फ' में लिखा था कि नात्सी-राज्य में वैदिक ज्ञान की अपेक्षा शारीरिक शिक्षण और स्वस्थ शरीर-गठन को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए और उसके साथ ही नवयुवकों में द ढ़-संकल्प एवं निर्णय करने की शक्ति का विकास किया जाना चाहिए। इस प्रकार प्राथमिक स्तर से विश्वविद्यालय स्तर तक जर्मन विद्यार्थियों को जर्मन प्रजाति की सर्वश्रेष्ठता, उग्र राष्ट्रीयता, सैनिक भावना, अनुशासन, आज्ञाकारिता, चारित्रिक द ढ़ता एवं हष्टपुष्ट शरीर गठन का पाठ पढ़ाया जाता था। इस प्रकार शिक्षा द्वारा जर्मनी के बालक-बालिकाओं के मस्तिष्क में उत्कृष्ट प्रजातीयता (Racialism) के भाव भरे जाने लगे और जर्मन जीवन का आदर्श बन गया-"एक प्रजाति, एक भाषा, एक संस्कृति तथा एक नेता।"

जर्मनी के सांस्कृतिक जीवन के सभी अंगों अर्थात् साहित्य, समाचार-पत्र, ललित कलाएँ, सिनेमा और रेडियो को नात्सी आदर्शों के अनुसार संचालित करने के उद्देश्य से एक साम्राज्य संस्कृति-मण्डल की स्थापना की गई। प्रचार एवं जनमत-मंत्री डॉ० गोबेल्स को इस संस्था का निदेशक बनाया गया। सांस्कृतिक मण्डल के माध्यम से पुस्तकों, समाचार-पत्रों, सिनेमा आदि पर कठोर सेंसर लागू किया गया। नात्सी विरोधी पुस्तकों एवं पत्रिकाओं को जला दिया गया। इससे जर्मनी में सांस्कृतिक एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ।

10. **आर्थिक सम द्धिः** हिटलर ने राजनीतिक एकता स्थापित करने के साथ ही जर्मनी को सम द्धि प्रदान करने का भी वचन दिया था। आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप जर्मनी की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। मुद्रा-स्फीति एवं बेरोजगारी के कारण जन-जीवन त्रस्त था। साधारण मनुष्य के लिए सम द्धि का अर्थ केवल इतना ही था कि उसे काम मिले। हिटलर राज्य के आर्थिक तंत्र पर अपना नियंत्रण स्थापित कर देश को पुनः सम द्ध बनाना चाहता था किन्तु उसने एकाएक राजकीय नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। उसने बड़े-बड़े उद्योगपतियों को विश्वास में लेकर उनसे विचार-विमर्श किया तथा उनके उद्योगों में अधिक लोगों को रोजगार देने के लिए तैयार किया। अतः हिटलर ने सर्वप्रथम बेकारी दूर करने के लिए प्रयास किए। नात्सी सरकार ने लेबर कैम्प खोले, दलीय संगठन का विस्तार किया, स्त्रियों को घरेलू कार्य तक ही सीमित रखा, मजदूरों के काम के घण्टों में कमी की ताकि अन्य मजदूरों को भी काम प्राप्त हो सके, सेना में व द्धि की, यहूदियों, साम्यवादियों तथा अन्य अवांछनीय लोगों को देश से निकाला और उनके द्वारा रिक्त किए गए स्थानों पर हजारों व्यक्तियों को रोजगार दिया। इन सारे प्रयासों से लगभग 20 लाख बेकारों को काम मिला। शेष बेकार लोगों के लिए कृषि, व्यापार, उद्योग, परिवहन, श्रम आदि विभागों में व्यवस्था की गई। नात्सी सरकार ने व्यापार, उद्योग तथा कृषि पर राज्य का नियंत्रण स्थापित करके, देश को आर्थिक संकट से मुक्ति दिलाने तथा उसे सम द्ध बनाने का प्रयास किया। उसने सार्वजनिक निर्माण के कार्य आरम्भ किए तथा पुनः शस्त्रीकरण का कार्य भी आरम्भ किया गया। आर्थिक विकास के लिए एक चार वर्षीय आर्थिक योजना (Four Year Economic Plan) पर कार्य आरम्भ किया गया जिसमें नए उद्योगों तथा निर्माण कार्यों पर अधिक से अधिक लोगों को काम पर लिया गया। 1937 ई० के अन्त तक जर्मन में बेरोजगारों की संख्या न्यूनतम रह गई। चार वर्षीय योजना का आरम्भ करते हुए हिटलर ने कहा था कि-"इन चार वर्षों में, उन सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में, जिनका उत्पादन हमारी कार्यकुशलता, हमारे रसायनशास्त्र अथवा हमारे मशीन एवं खनिज उद्योग की सहायता से किया जा सकता है, विदेशों पर जर्मनी की निर्भरता को पूर्णतः समाप्त किया जाना चाहिए।" अतः उस समय जर्मनी की अर्थव्यवस्था को युद्धकालीन अर्थव्यवस्था का रूप दिया गया। आर्थिक योजना के साथ-साथ पुनः शस्त्रीकरण का कार्यक्रम भी बड़ी तीव्र गति से चलाया गया। वास्तव में इस योजना के माध्यम से हिटलर देश को आगामी युद्ध के लिए तैयार करना चाहता था।

नात्सी सरकार ने कृषि के क्षेत्र में भी देश को आत्मनिर्भर बनाने के लिए हर सम्भव उपाय किए। एक खाद्य निगम की स्थापना की गयी, जो कृषि उत्पादन, मूल्य एवं वितरण की व्यवस्था पर नियंत्रण रखता था किन्तु जर्मनी खाद्यान्नों में आत्मनिर्भर नहीं हो सका।

इस प्रकार हिटलर ने आर्थिक संकट से जर्मनी को मुक्त करा कर बेरोजगारी की समस्या को लगभग समाप्त कर दिया था। उसके समय में औद्योगिक उत्पादन लगभग दुगुना हो गया था और विदेशी व्यापार में भी व द्धि हुई थी। इस प्रकार जर्मनी की अर्थव्यवस्था पर नात्सियों का पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो गया। उसकी नीति व्यावहारिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप थी।

हिटलर की विदेश नीति
(1933-1939)

हिटलर की विदेश नीति के उद्देश्य और उपायः हिटलर की विदेश नीति के तीन मूल उद्देश्य थे-

1. वर्साय की संधि को भंग करना,
2. त तीय साम्राज्य के अन्तर्गत सारी जर्मन जातियों को एक सूत्र में संगठित करना तथा
3. जर्मनी साम्राज्य का विस्तार करना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हिटलर किसी भी तरीके को अपना सकता था। इस बात को स्पष्ट करते हुए हिटलर ने स्वयं कहा था, "इसकी प्राप्ति के लिए समझौता और यदि न हो सका तो युद्ध का आश्रय लेना विदेश नीति की ओर हमारा कदम होगा।" हिटलर ने अपने इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जो मार्ग चुना था, वह उसकी पुस्तक 'मीन कैम्फ' में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, "जर्मनी के पीड़ित प्रदेश उग्र विरोध प्रदर्शनों द्वारा पित देश में वापस नहीं लाए जा सकते बल्कि कठोर चोट करने में सक्षम तलवार द्वारा ही लाए जा सकते हैं। इस तलवार का निर्माण करना आन्तरिक नेत त्व का कार्य है तथा इसके निर्माण कार्य की रक्षा करना और युद्ध में साथी खोजना विदेश नीति का कार्य है।" स्पष्टतः हिटलर की विदेश नीति की मुख्य तीन दिशायें हैं-प्रथम, वर्साय संधि की अवहेलना करते हुए एक समर्थ तलवार का निर्माण करना; दूसरी, युद्ध कार्य के लिए मित्रों की खोज एवं तीसरा, अपना क्षेत्रीय प्रसार करना। मीन कैम्फ में उसने आगे लिखा था कि "हम राष्ट्रीय समाजवादियों को अपने इस उद्देश्य पर अटल रहना चाहिए कि जर्मनी की जनता को उतना भू-भाग अवश्य प्राप्त होना चाहिए, जितना प थ्वी पर उसके जीवन यापन के लिए आवश्यक है।" इन तीनों दिशाओं में अग्रसर होने के लिए हिटलर ने धमकी, धौंस, शान्ति का दम्भ और आडम्बर, संधि भंग और युद्ध आदि के सभी अन्यायपूर्ण तरीकों को अपनाया।

विदेश नीति के क्षेत्र में हिटलर के कार्य

हिटलर ने अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित कार्य किए-

1. **राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध विच्छेदः** हिटलर का प्रमुख लक्ष्य वर्साय-संधि का विरोध करना था। सत्तारूढ़ होने के पूर्व वर्साय संधि की आलोचना करके उसने लोकप्रियता प्राप्त की थी और जर्मन जनता को वर्साय संधि का अन्त करने का वचन दिया था। राष्ट्रसंघ की सदस्यता हिटलर के अनुसार जर्मनी के लिए एक कलंक के समान थी। वह इसकी सदस्यता से त्यागपत्र देकर किसी भी बंधन में नहीं रहना चाहता था। 4 अप्रैल, 1933 को हिटलर के निर्देशन में जर्मन सुरक्षा परिषद की स्थापना की गई और इसे गुप्त रूप से युद्ध के लिए लामबन्दी की योजना बनाने का तथा शस्त्रों के निर्माण का अधिकार दे दिया गया। हिटलर की यह नीति राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल थी क्योंकि राष्ट्रसंघ शस्त्रों को कम करना चाहता था। उसने पश्चिमी देशों को भुलावे में रखने के लिए 17 मई, 1933 को लोकसभा में भाषण देते हुए कहा कि "जर्मनी ने पेरिस की शांति-संधि का पूरी तरह से पालन किया है, अतः उसे समानता के अधिकार की माँग करने का नैतिक अधिकार है।" उसने यह भी कहा कि जर्मनी अपने समस्त शस्त्रास्त्रों को त्यागने के लिए तैयार है, यदि दूसरे राज्य भी ऐसा करने को तैयार हों। इस प्रकार उसने एक शान्तिप्रिय नेता के रूप में अपनी छवि को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। सितम्बर, 1933 में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन पुनः आरम्भ हुआ। फ्रांस को हिटलर के वचनों पर जरा भी विश्वास नहीं था, अतः उसने अपनी सैनिक शक्ति का परिसीमन स्वीकार नहीं किया। ब्रिटेन, अमेरिका और इटली ने भी फ्रांस के द ष्टिकोण का समर्थन किया और एक संशोधित निःशस्त्रीकरण की योजना प्रस्तुत की। 14 अक्टूबर, 1933 को हिटलर ने जर्मनी को समानता के अधिकारों से वंचित किए जाने के कारण निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से अलग होने तथा राष्ट्रसंघ की सदस्यता से त्यागपत्र देने की घोषणा की। इस समय उसने अपनी नीति को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया-"जर्मनी की भूतपूर्व सरकार ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता इस विश्वास के साथ ग्रहण की थी कि वहाँ पर सभी को समानाधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी और जर्मनी अपने भूतपूर्व शत्रुओं के साथ अच्छे सम्बन्ध बना सकेगा। परन्तु राष्ट्रसंघ में न तो समानता है और न समानाधिकार। अतः इस प्रकार के असम्माननीय वातावरण में रहना जर्मन जाति के गौरव के विरुद्ध ही जाता है।" इसके तुरन्त बाद ही हिटलर ने राष्ट्रसंघ छोड़ने के अपने निर्णय को जर्मन मतदाताओं के सम्मुख प्रस्तुत किया और 95 प्रतिशत मतदाताओं ने उसके निर्णय का समर्थन किया। इस प्रकार उसने अपने इस निर्णय को जर्मन जनता द्वारा अनुमोदित करवा लिया।

2. **पोलैण्ड के साथ अनाक्रमण समझौता:** हिटलर अपने देश के उत्कर्ष के लिए केवल अपनी सैनिक शक्ति पर ही भरोसा नहीं रखता था अपितु अन्य राज्यों के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध भी स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील था, जो जर्मनी की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक हो सकें। इसलिए उसने जनवरी, 1934 में पोलैण्ड के साथ एक संधि की, जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने यह वायदा किया कि वे दस साल तक एक दूसरे की वर्तमान सीमाओं का किसी भी प्रकार से उल्लंघन व अतिक्रमण नहीं करेंगे। पोलैण्ड के साथ की गई इस जर्मन संधि से फ्रांस को बहुत आश्चर्य हुआ। फ्रांस के राजनीतिज्ञ पोलैण्ड से पहले ही इसी तरह की एक संधि कर चुके थे और पोलैण्ड फ्रांस के गुट का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य था। इस समझौते के सम्बन्ध में प्रो० क्रेग ने भी लिखा है कि इस समझौते ने जर्मनी के पूर्वी पार्श्व पर सम्भावित संकट की आशंका को कम करने के साथ ही पूर्वी यूरोप में फ्रांस की सुरक्षा व्यवस्था में दरार पैदा कर दी। इसके अतिरिक्त इस समझौते का प्रचारात्मक महत्त्व भी था। इस समझौते की दुहाई देकर, वह 1934-35 ई० तक सभी राष्ट्रों के समक्ष यह प्रचार करता रहा कि वास्तव में उसकी नीति शान्तिवादी थी। प्रो० टेलर ने लिखा है, "यह समझौता हिटलर की परराष्ट्र नीति की प्रथम महत्त्वपूर्ण सफलता थी, जिसके कारण भविष्य में भी उसे अनेक सफलताएँ मिलीं।" हिटलर जानता था कि जर्मनी की राष्ट्रीय आकांक्षायें तभी पूर्ण हो सकती थीं, जबकि वह उन जर्मन प्रदेशों को पुनः प्राप्त कर ले, जो कि पेरिस की शान्ति परिषद द्वारा पोलैण्ड के अन्तर्गत कर दिए गए थे। किन्तु कूटनीतिज्ञ हिटलर का उद्देश्य इस समय दूसरा था। वह सबसे पहले आस्ट्रिया (जहाँ के निवासी जर्मन जाति के थे) को विशाल जर्मन साम्राज्य का अंग बनाना चाहता था। ऐसा करने से पूर्व वह पोलैण्ड की ओर से निश्चिन्त हो जाना चाहता था। जर्मनी और पोलैण्ड की इस संधि का यही मुख्य उद्देश्य था। पोलैण्ड ने भी अपने विशेष हितों को ध्यान में रखकर अपने शत्रु के साथ समझौता किया। उसके दोनों पड़ौसी-जर्मनी और रूस-उसके शत्रु थे। फ्रांस से उसकी मित्रता अवश्य थी किन्तु लोकार्नो की संधि के समय यह स्पष्ट हो गया था कि फ्रांस अपनी सुरक्षा को अधिक महत्त्व देगा। 1933 ई० के चार राष्ट्रों के समझौते से भी पोलैण्ड नाखुश था। अतः इन बदली हुई परिस्थितियों में उसका रूस या जर्मनी में से किसी एक को मित्र बनाना आवश्यक था। अतः उसने जर्मनी की मित्रता का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

3. **आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयास:** प्रथम विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों में आस्ट्रिया-हंगरी के हैप्सबर्ग सम्राट ने राजसिंहासन त्याग दिया और आस्ट्रिया में संसदीय गणतंत्र की स्थापना की गई। 1920 ई० के पश्चात् आस्ट्रिया के कुछ राजनीतिक दलों ने जर्मनी के साथ संघ बनाने की इच्छा व्यक्त की थी किन्तु सेन्ट जर्मै की संधि के अनुसार इस प्रकार का एकीकरण वर्जित था। मित्रराष्ट्रों ने भी दोनों राज्यों के एकीकरण के प्रस्तावों का विरोध किया था, अतः कुछ समय के लिए एकीकरण की माँग दब गई। इसी बीच जर्मनी में नाजीदल के सत्ता में आने के कारण आस्ट्रियन लोगों का एकीकरण का विचार बदल गया। हिटलर ने आर्थिक मंदी का लाभ उठाकर आस्ट्रिया में नाजी दल का स्थापना की और वहाँ की गणतंत्रीय व्यवस्था को असफल बनाने का प्रयास किया। उस समय ईसाई समाजवादियों का नेता एंजेलबर्ट डालफस आस्ट्रिया का प्रधानमंत्री था। डालफस ने नाजी खतरे को देखते हुए 1933 ई० में संविधान को स्थगित करके शासन के समस्त अधिकार अपने हाथ में ले लिए। उसने प्रेस की स्वतंत्रता पर नियंत्रण लगा दिया और जून, 1933 में नाजी दल को अवैध घोषित कर दिया। जर्मन सरकार ने इसके उत्तर में आस्ट्रिया जाने वाले पर्यटकों पर निरोधात्मक वीसा फीस बढ़ाकर आस्ट्रिया के आर्थिक हितों को नुकसान पहुँचाने का प्रयत्न किया। इसी समय मुसोलिनी भी आस्ट्रिया में अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा था। मुसोलिनी ने आस्ट्रिया पर नाजी प्रभाव को रोकने के उद्देश्य से डालफस की सरकार को समर्थन दिया। जुलाई, 1934 में आस्ट्रिया के नाजी नेताओं ने डालफस की सरकार का तख्ता पलटने के लिए विद्रोह कर दिया। 25 जुलाई को वियना में आस्ट्रियन नात्सियों के एक सशस्त्र दल ने अचानक चांसलर के कार्यालय पर अधिकार कर लिया और एक दूसरे सशस्त्र दल ने रेडियो स्टेशन पर अधिकार कर लिया। चांसलर डालफस की भी इसी दिन हत्या कर दी गयी। किन्तु आस्ट्रियन सरकार ने सेना की सहायता से विद्रोहियों पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया। इस प्रकार हिटलर का आस्ट्रिया को जर्मन साम्राज्य में मिलाने का प्रथम प्रयास असफल हो गया। इसकी असफलता के प्रमुखतः दो कारण थे-प्रथम, अभी आस्ट्रिया में नात्सी दल की शक्ति सुद ढ़ नहीं हो पायी थी। दूसरा, इटली की फासिस्ट सरकार यह किसी भी स्थिति में सहने को तैयार नहीं थी कि जर्मनी और आस्ट्रिया मिलकर एक विशाल साम्राज्य स्थापित करें। आस्ट्रिया की सीमाएँ इटली से मिलती थीं और अपने पड़ौस में विशाल जर्मन राष्ट्र का संगठित हो जाना मुसोलिनी को अपने देश के लिए भयप्रद मालूम होता था। इस समय चेकोस्लोवाकिया भी इटली की इस नीति का पक्षधर था।

4. **सार क्षेत्र की प्राप्तिः** वर्साय की संधि के द्वारा सार के प्रदेश का शासन राष्ट्रसंघ की अधीनता में रखा गया था और यह व्यवस्था की गयी थी कि 15 वर्ष बाद वहाँ जनमत कराया जायेगा कि वह प्रदेश किस देश के अधीन रहेगा। अतः जनवरी, 1935 में राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में सार में जनमत लिया गया। इस जनमत में 90 प्रतिशत लोगों ने जर्मनी में मिलना स्वीकार किया था, अतः मार्च 1935 में सार का प्रदेश जर्मनी में सम्मिलित कर लिया गया। हिटलर की यह एक महत्त्वपूर्ण विजय थी। इस विजय से प्रोत्साहित होकर हिटलर ने जर्मनी के बाहर अन्य राज्यों में रहने वाले जर्मन लोगों में नात्सी प्रचार बढ़ाया। उन प्रदेशों में नात्सी प्रचारकों का जोर बढ़ा और हिटलर भी समय-समय पर उन प्रदेशों को, यहाँ तक कि रूसी युक्रेन प्रदेश को भी, जर्मनी में सम्मिलित करके व हत्तर जर्मनी के निर्माण की आशा करने लगा।

5. **वर्साय संधि की सैनिक धाराओं से मुक्ति और पुनःशस्त्रीकरणः** मार्च, 1935 में हिटलर ने घोषणा की कि मित्रराष्ट्रों ने निःशस्त्रीकरण की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया। इसलिए वर्साय संधि की निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराएँ अब जर्मनी के लिए कानूनी या नैतिक किसी भी द ष्टि से बंधनकारी नहीं रहीं। इसी समय फ्रांस ने अपने यहाँ अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि दुगुनी कर दी और इंग्लैण्ड ने भी वायु सेना में व द्धि आरम्भ कर दी थी। अतः 16 मार्च, 1935 को हिटलर ने जर्मनी में पुनः शस्त्रीकरण की घोषणा की, जिसमें कहा गया कि चूँकि मित्रराष्ट्र वर्साय संधि के अन्तर्गत निःशस्त्रीकरण का पालन करने में असमर्थ रहे हैं, अतः जर्मनी संधि के एक पक्षीय पहलू का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। जर्मन रिहस्टेग शीघ्र ही अनिवार्य भर्ती के द्वारा अपनी शांतिकालीन सेना में पांच लाख पचास हजार सैनिकों की व द्धि करेगा या 36 डिवीजन तक सेना बढ़ाएगा। हिटलर की इस घोषणा से फ्रांस, इटली, ब्रिटेन आदि राज्य स्तब्ध रह गए। इंग्लैण्ड, इटली और फ्रांस ने जर्मनी की एकतरफा कार्यवाही का विरोध किया परन्तु हिटलर पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फ्रांस के प्रयास से राष्ट्रसंघ का एक विशेष अधिवेशन भी बुलाया गया, जिसमें जर्मनी के विरुद्ध निन्दा प्रस्ताव पास करने के अतिरिक्त कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। इसी बीच फ्रांस, इटली और इंग्लैण्ड के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन स्ट्रसा (Stressa) में 11 अप्रैल, 1935 को आरम्भ हुआ, जिसमें वर्साय संधि का उल्लंघन करने के लिए जर्मन सरकार की निन्दा की गई और लोकार्नो की संधि के प्रति निष्ठावान रहने का वचन दिया गया। इस प्रकार हिटलर के विरुद्ध स्ट्रेसा सम्मेलन भी उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सका।

6. **ब्रिटेन के साथ नाविक समझौताः** हिटलर ने अपनी आत्मकथा में लिखा था कि फ्रांस जर्मनी का जन्मजात शत्रु है। इस समय मध्य और पूर्वी यूरोप के छोटे राज्यों के अतिरिक्त इटली और रूस के साथ संधि करके फ्रांस का गुट शक्तिशाली हो गया था। ब्रिटेन नहीं चाहता था कि यूरोप में फ्रांस शक्तिशाली बने। हिटलर ब्रिटेन की इस मनोव त्ति को अच्छी तरह समझता था। वह यह भी जानता था कि ब्रिटेन, जर्मनी की थल तथा वायु सेना को अपने हित के लिए घातक नहीं मानता है। अतः हिटलर ब्रिटेन के साथ इस बात पर समझौता करने को तैयार हो गया कि वह सामुद्रिक शक्ति में कोई बढ़ोतरी नहीं करेगा। अतः 18 जून, 1935 को दोनों देशों के बीच एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार ब्रिटेन ने जर्मनी को अपने सभी प्रकार के नौ सैनिक जहाजों के टन भार के 35 प्रतिशत तक नौ सैनिक जहाज बनाने की अनुमति दे दी और इसके साथ ही उसे पनडुब्बियाँ बनाने की भी छूट दे दी। इस प्रकार का समझौता करके ब्रिटेन ने एक प्रकार से जर्मनी द्वारा वर्साय संधि की नौ सेना सम्बन्धी धाराओं के उल्लंघन का अनुमोदन कर दिया। फ्रांस और इटली, ब्रिटेन की इस दोहरी नीति से नाराज हुए। इसी कारण स्ट्रेसा में गठित कूटनीतिक मोर्चा टूट गया। यह हिटलर की बहुत बड़ी सफलता थी। इसी समय इंग्लैण्ड ने वायुसेना के सम्बन्ध में भी जर्मनी का एक प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, जिसके अनुसार जर्मनी को अपने पड़ोसियों के अनुपात में वायुसेना रखने की स्वीकृति मिल गयी। इस संधि के बाद मित्रराष्ट्रों को जर्मनी से वर्साय की संधि को भंग करने की शिकायत करने का कोई नैतिक आधार नहीं रहा।

7. **लोकार्नो संधि का अन्त- राइनलैण्ड का पुनः सैन्यीकरणः** वर्साय की संधि के अनुसार जर्मनी को राइनलैण्ड में न तो सेना रखने का अधिकार था और न ही किलेबंदी करने का। लोकार्नो संधि में भी वर्साय की संधि के उपर्युक्त उपबंधों का पालन करने की गारण्टी दी गई थी किन्तु हिटलर लोकार्नो संधि को समाप्त कर राइन प्रदेश को पुनः सैनिक द ष्टि से सुसज्जित करना चाहता था। उसे इसका अवसर शीघ्र ही प्राप्त हो गया। अक्टूबर, 1935 में इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण आरम्भ किया, जिसका पश्चिमी राष्ट्रों ने प्रबल विरोध किया। इस घटना के कारण पहले से छिन्न-भिन्न स्ट्रेसा मोर्चा पूर्ण रूप से टूट गया। अतः हिटलर के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। वह दोनों पक्षों की हार या जीत से पूरा लाभ उठा सकता था। यदि इटली हार जाता तो उसे आस्ट्रिया पर आक्रमण में सुविधा होती तथा यदि मित्रराज्य असफल होते तो हिटलर कोई भी ठोस कार्य कर सकता था।

इन परिस्थितियों से उत्साहित होकर हिटलर ने राइन प्रदेश के विसैन्यीकृत क्षेत्र में जर्मन सेनाएँ भेजने का साहसिक कदम उठाने का निश्चय कर लिया। 11 फरवरी, 1936 को फ्रांस-रूस संधि, फ्रांस के प्रतिनिधि मण्डल में अनुमोदनार्थ प्रस्तुत की गयी और 27 फरवरी को उसकी पुष्टि हो गयी। फ्रांस की भाँति चेकोस्लोवाकिया ने भी रूस के साथ पारस्परिक सहायता संधि कर ली थी। अब हिटलर ने अपना कूटनीतिक खेल खेला। एक तरफ तो उसने इटली के साथ सहानुभूति प्रकट की और उसे युद्ध सामग्री देकर, मुसोलिनी को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया। दूसरी तरफ 7 मार्च, 1936 को उसने ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम आदि देशों की सरकारों को सूचित किया कि वह राइनलैण्ड में अपनी सेनाएँ भेज रहा है। वर्साय तथा लोकार्नो संधियों के अनुसार ऐसा करना निषिद्ध था परन्तु हिटलर का तर्क था कि फ्रांस-रूस और चेकोस्लोवाकिया-रूस संधियों ने लोकार्नो संधि की आत्मा को ही समाप्त कर दिया है, अतः जर्मनी लोकार्नो समझौते का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। इसके साथ ही उसने सीमान्त के दोनों ओर समान दूरी तक एक नया विसैन्यीकृत क्षेत्र बनाने, लोकर्नो संधि के समान एक नया समझौता करके, पूर्व के पड़ौसी राज्यों में अनाक्रमण समझौते करने तथा कुछ शर्तों पर राष्ट्रसंघ में पुनःसम्मिलित होने के प्रस्ताव भी रखे।

इस प्रकार उसने फ्रांस पर आरोप लगाकर पश्चिमी देशों को जर्मनी के विरुद्ध किसी भी प्रकार की कार्यवाही करने से रोक दिया। जर्मन रिहस्टेग ने उसकी इस कार्यवाही का समर्थन नहीं किया था, अतः हिटलर ने रिहस्टेग को भंग कर अपनी नीति को जनता के सम्मुख रखा। 28 मार्च, 1936 को जनता ने 88 प्रतिशत मतों से उसकी इस नीति का समर्थन किया। अब जर्मन सेनाओं ने राइनलैण्ड में प्रवेश कर लिया और वहाँ किलेबन्दी शुरू कर दी। पेरिस के शांति सम्मेलन तथा बाद में लोकार्नो समझौते के अनुसार जर्मनी ने यह स्वीकार किया था कि वह राइनलैण्ड में सेनाएँ नहीं रखेगा। किन्तु उसने इस बात को अब स्वीकार नहीं किया। उसने लोकार्नो की संधियों को नष्टप्रायः करके, समस्त अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों की गरिमा को घटा दिया तथा जेनेवा व्यवस्था को जो पहले ही मंचूरिया काण्ड एवं अबीसीनिया के आक्रमण के कारण निर्बल हो चुकी थी और भी अधिक अपयश का भागीदार बना दिया। चर्चिल ने इस विषय में फ्रांस की नीति की आलोचना करते हुए लिखा है कि "यदि फ्रांस की सरकार अपनी 100 डिवीजनों की सेना को कूच करने की आज्ञा देती तो हिटलर को अपनी सेनाएँ पीछे हटाने के लिए बाध्य किया जा सकता था-उसने बिना युद्ध किए हिटलर की महत्त्वाकांक्षाओं पर रोक लगाने का अवसर खो दिया।"

8. **रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी:** हिटलर की आक्रामक कार्यवाही से यूरोप के अनेक देशों को भय उत्पन्न हो गया था। ये देश जर्मनी के विरुद्ध गुटबंदी करने लगे। इससे हिटलर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अकेलापन महसूस करने लगा। उसने महसूस किया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अकेलापन दूर करने तथा अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उसे समान विचारधारा एवं हितों वाले कुछ राष्ट्रों से मैत्री करना आवश्यक है। उस समय इटली तथा जापान ही ऐसे असंतुष्ट राष्ट्र थे, जो अपनी विस्तारवादी नीतियों के कारण अन्य देशों की मित्रता खो चुके थे। इटली तथा जर्मनी आसानी से एक दूसरे के मित्र हो सकते थे। साम्यवाद दोनों का समान शत्रु था। दोनों ही अधिनायकवाद में विश्वास करते थे। मुसोलिनी ने आरम्भ में हिटलर का विरोध किया था किन्तु अबीसीनिया के युद्ध के समय से दोनों के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण हो गए। राष्ट्रसंघ के निर्देशों के कारण अबीसीनिया युद्ध के समय ब्रिटेन, फ्रांस आदि राज्यों ने इटली का आर्थिक बहिष्कार कर दिया था। इस समय जर्मनी राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था और न ही उसके आदेशों की वह कोई परवाह करता था। अतः उसने इस समय इटली की पूरी-पूरी मदद की। इस युद्ध से इटली ने यह अनुभव किया कि जर्मनी ही उसका सच्चा मित्र है। अतः दोनों देशों के मध्य संधि के लिए आधार तैयार हो गया और अक्टूबर, 1936 में जर्मनी और इटली के मध्य एक समझौता हुआ, जो इतिहास में रोम-बर्लिन धुरी (Rome-Berlin Axis) के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के अनुसार दोनों देशो ने-

(i) समान हितों से सम्बन्धित सभी मामलों में सहयोग करने,

(ii) यूरोपीय संस्कृति की साम्यवाद से रक्षा करने,

(iii) डेन्यूब नदी क्षेत्र में आर्थिक सहयोग करने, तथा

(iv) स्पेन की प्रादेशिक तथा औपनिवेशिक अखण्डता को बनाए रखने का निश्चय किया। इसके अलावा जर्मनी ने अबीसीनिया को इटली साम्राज्य का अंग स्वीकार कर लिया, जिसके बदले में इटली ने उस क्षेत्र में जर्मनी को कुछ आर्थिक सुविधाएँ दे दीं। इस समझौते से यूरोप में जर्मनी का एकाकीपन समाप्त हो गया।

इटली का सहयोग प्राप्त करने के साथ ही हिटलर ने जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को अधिक सुद ढ़ करने के लिए जापान से भी मित्रता करने का प्रयास किया। जापान इस समय चीन में अपना प्रभाव स्थापित कर रहा था, किन्तु उसके कार्य में रूस बाधक था। अतः वह ऐसा कोई मित्र चाहता था, जो रूस पर दबाव डाल सके। जर्मनी भी पूर्व की ओर बढ़ना चाहता था और रूस को इस क्षेत्र में आगे बढ़ने से रोकना चाहता था। अतः इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नवम्बर, 1936 में एक समझौता किया गया, जिसे कामिन्टर्न-विरोधी-समझौता (Anti-Commintern Pact) कहा जाता है। इस समझौते के अन्तर्गत दोनों देशों ने साम्यवाद का प्रचार एवं प्रसार करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय रूसी संस्था कामिन्टर्न की गतिविधियों के सम्बन्ध में एक दूसरे को सूचनायें देने, उसकी रोकथाम के लिए पारस्परिक सहयोग करने तथा कामिन्टर्न एजेन्टों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करने का वचन दिया। समझौते में एक गुप्त धारा का भी समावेश किया गया था, जिसके अनुसार दोनों देशों ने रूस के साथ किसी प्रकार का राजनीतिक समझौता न करने का वचन दिया। 6 नवम्बर, 1937 को इटली भी साम्यवाद विरोधी समझौते में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार तीन प्रमुख सर्वसत्तावादी एवं सैन्यवादी राष्ट्रों का एक गुट बन गया, जिसे रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी के नाम से जाना जाता है। इटली और जर्मनी ने इसे "विश्व शान्ति की गारण्टी" बतलाया। सोवियत रूस ने इसका विरोध किया। प्रो० टायन्बी ने इस समझौते के बारे में लिखा है कि कामिन्टर्न विरोधी समझौते को मूलतः एक प्रति प्रसंविदा (Counter-Covenant) मात्र माना जाना चाहिए, जिसका उद्देश्य उसके सदस्यों को 'सुरक्षा' प्रदान करना था। जर्मनी का इस समझौते से प्रसन्न होने का कारण यह था कि उसके फलस्वरूप भविष्य में उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी नीति को अधिक स्वतंत्रतापूर्वक कार्यान्वित करने का अवसर मिल सकता था।

9. **आस्ट्रिया का जर्मनी में विलयः** 1937 ई० के अन्त में जर्मनी की विदेश नीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। अब वह आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया की स्वतंत्रता का अन्त कर उन्हें जर्मन साम्राज्य का अंग बनाना चाहता था। हिटलर ने अपनी आत्मकथा में जर्मनी की अतिरिक्त वासस्थान (Lebensraum) की समस्या का समाधान करने हेतु पूर्व की ओर बढ़ना (Drang Nach osten) आवश्यक माना है। इस समय की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उसके अनुकूल थी। स्पेन के ग ह युद्ध, चीन पर जापान के नए आक्रमण तथा नवीन संधि समझौते के परिणामस्वरूप 1938 ई० तक यूरोप की राजनीतिक स्थिति इतनी संदिग्ध बन चुकी थी कि हिटलर को आस्ट्रिया हड़पने की अपनी चिर अभिलाषा को पूर्ण करने का अवसर मिल गया। हिटलर जानता था कि आस्ट्रिया को बचाने के लिए इंग्लैण्ड युद्ध का खतरा नहीं उठाएगा। फ्रांस इस समय मंत्रिमण्डलों की अस्थिरता के दौर से गुजर रहा था और वह इंग्लैण्ड के सहयोग के बिना अकेला युद्ध करने में असमर्थ था। मुसोलिनी उसका मित्र बन चुका था। इस प्रकार आस्ट्रिया असहाय था। अतः उसने आस्ट्रिया पर अधिकार करने हेतु 12 फरवरी, 1938 को आस्ट्रिया के प्रधानमंत्री डॉ० शुशनिंग को अपने निवास स्थान बर्खटेसगादेन (Berchtesgaden) में बुलाकर युद्ध की धमकी दी तथा उसके सामने तीन बातें रखीं- (i) आस्ट्रियन नात्सी पार्टी को वैध घोषित किया जाय, (ii) डालफस हत्याकाण्ड में जो नात्सी पकड़े गए थे, उन्हें मुक्त किया जाय, (iii) नात्सी नेता सेइसइन्कावर्ट (Seyssinquart) को आस्ट्रिया का प्रतिरक्षा मंत्री बनाया जाए। हिटलर ने शुशनिंग को इन बातों को मानने के लिए तीन दिन का समय दिया। आस्ट्रिया की सरकार के पास हिटलर की सभी माँगे स्वीकार करने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं था। आस्ट्रिया के मंत्रिमण्डल में नाजी मंत्रियों की नियुक्ति से आस्ट्रियन नाजी दल का प्रभाव बढ़ गया। यह देखकर शुशनिंग ने आस्ट्रिया की स्वतंत्रता के प्रश्न पर जनमत संग्रह की घोषणा की और सभी राजनीतिक दलों से सहयोग करने की अपील की।

अब हिटलर किसी तरह आस्ट्रिया पर आक्रमण करने का बहाना ढूँढ़ने लगा। आस्ट्रिया की सीमा पर जर्मन सेना एकत्र की जाने लगी। शुशनिंग जर्मनी के इरादों को समझ गया था। 9 फरवरी, 1938 को उसने घोषणा की कि आस्ट्रिया जर्मनी के साथ सम्मिलित हो या नहीं, इस प्रश्न पर जनमत संग्रह किया जायेगा। यदि जनमत जर्मनी के साथ मिलना चाहेगा, तो वह उसे सहर्ष स्वीकार कर लेगा। 13 मार्च को जनमत संग्रह करना निश्चित किया गया। आस्ट्रिया के अधिकांश लोग अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए रखना चाहते थे। हिटलर इस बात को जानता था, अतः उसने जनमत संग्रह का विरोध किया। अतः 11 मार्च को शुशनिंग के पास एक दूसरी चेतावनी भेजी, जिसमें जनमत संग्रह को स्थगित करने, प्रधानमंत्री पद त्याग कर नात्सी नेता सेइसइन्कार्ट को आस्ट्रिया का प्रधानमंत्री बनाने की माँग की गई। शुशनिंग ने विवश होकर पद त्याग दिया। शुशनिंग के बाद नात्सी सेइसइन्कार्ट ने प्रधानमंत्री पद को ग्रहण करते ही हिटलर के पास एक तार भेजा, जिसमें कहा गया था कि आस्ट्रिया में शांति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए जर्मन सेना की आवश्यकता है। वास्तव में ऐसी बात नहीं थी। जर्मन सेना को आस्ट्रिया में प्रवेश का एक वैधानिक बहाना मिल गया था। वास्तव में जर्मन

सेनाएँ पहले से ही आस्ट्रिया में प्रविष्ट हो चुकी थीं। 13 मार्च को जर्मन रीहस्टेग ने एक कानून पारित करके आस्ट्रिया को जर्मन संघ का एक राज्य घोषित कर दिया। आस्ट्रिया के राष्ट्रपति मिकलास को त्यागपत्र देना पड़ा। 14 मार्च को हिटलर ने सशस्त्र जर्मन सेना के साथ वियना में प्रवेश किया। ब्रिटेन तथा फ्रांस ने जर्मनी की इस कार्यवाही के विरुद्ध विरोध-पत्र भेजने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया। जर्मनी के इस अतिक्रमण से फ्रांस को बहुत अफसोस हुआ। पोलैण्ड को भी अपनी सुरक्षा की चिन्ता होने लगी। दूसरी तरफ जैसा कि चर्चिल ने कहा था-"वियना पर आधिपत्य से नाजी जर्मन को दक्षिण पूर्वी यूरोप के सड़क, नदी और रेल के सभी मार्गों का सैनिक एवं आर्थिक नियंत्रण प्राप्त हो गया।" इस अतिक्रमण के सम्बन्ध में गेथोर्न हार्डी ने लिखा है कि "इससे मीन कैम्फ का कार्यक्रम, महत्त्वपूर्ण सामरिक और आर्थिक लाभ प्राप्त हो जाने के कारण, पूर्ति के बहुत निकट पहुँच गया था, इटली, हंगरी और युगोस्लाविया के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया और चेकोस्लोवाकिया के बोहीमियन और मोरेवियन जिले जर्मन साम्राज्य के घेरे में संडसी के समान फँस गए। इसके अतिरिक्त, 67 लाख से अधिक आबादी वाले आस्ट्रिया के सम्मिलित हो जाने से जर्मन सेना के लिए सुलभ मनुष्य शक्ति भी बढ़ गई। उसके आन्तरिक साधनों में भी व द्धि हुई, जिससे उसकी आत्म-निर्भरता परिवर्द्धत हो गई।" हिटलर ने जितनी सरलता से आस्ट्रिया का अपहरण कर लिया, उससे उसका आत्मविश्वास बढ़ा और वह पश्चिमी राष्ट्रों के विरोध की उपेक्षा करके अपनी अन्य विस्तारवादी योजनाओं को पूरा करने की ओर अग्रसर हुआ।

10. **चेकोस्लोवाकिया का संकट-म्यूनिख समझौता:** यह स्पष्ट था कि आस्ट्रिया के पश्चात् चेकोस्लोवाकिया ही हिटलर की साम्राज्यवादी लिप्सा का शिकार होगा। समस्त जर्मन नस्ल के लोगों को जर्मन साम्राज्य में मिलाने तथा पूर्वी यूरोप में जर्मन साम्राज्य का विस्तार करने की हिटलर की योजना में चेकोस्लोवाकिया का महत्त्वपूर्ण स्थान था। 20 फरवरी, 1938 को राइखस्टेग के समक्ष बोलते हुए, हिटलर ने अप्रत्यक्ष रूप से चेकोस्लोवाकिया के जर्मनों की वैयक्तिक, राजनैतिक एवं वैचारिक स्वतंत्रता के अधिकार की रक्षा करना जर्मन साम्राज्य का विशेष कर्त्तव्य माना था। यथार्थ में आस्ट्रिया के विलय के बाद चेकोस्लोवाकिया की स्थिति चिन्ताजनक हो गई थी क्योंकि वह दोनों ओर से जर्मन साम्राज्य की सीमा से घिर गया था। राइनलैण्ड का पुनः सैन्यीकरण हो जाने से उसका मित्र फ्रांस भी उसे सीधी सैनिक सहायता नहीं भेज सकता था। पोलैण्ड और रूमानिया की अवरोधक सीमा नीति के कारण उसे रूस से भी सैन्य साम्रगी मिलना कठिन था। ब्रिटिश सरकार की 'तुष्टीकरण' की नीति के कारण ब्रिटेन की ओर से भी किसी प्रकार की सक्रिय सहायता की आशा नहीं की जा सकती थी। अतः हिटलर की आक्रामक योजना को कार्यान्वित करने का यही सबसे उपयुक्त अवसर था। चेकोस्लोवाकिया का निर्माण मित्रराष्ट्रों के द्वारा किया गया था। यहाँ मुख्यतः दो जातियाँ निवास करती थीं-चैक तथा स्लाव। दोनों जातियों का रहन-सहन एक सा था। इसके अतिरिक्त यहाँ 35 लाख जर्मन, 5 लाख रूमेनियन, 8 लाख हंगेरियन और 7 हजार पोल लोग भी निवास करते थे। जर्मन लोग सूडेटनलैण्ड में निवास करते थे। हिटलर ने सूडेटनलैण्ड निवासी जर्मनों को स्वायत्त शासन प्रदान करने की माँग की परन्तु चेक सरकार ने इसका विरोध किया और युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी। 1938 ई० में चेकोस्लोवाकिया की राजनीतिक स्थिति में तनाव उत्पन्न हो गया। फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया को सलाह दी कि वह तनाव कम करने के लिए सूडेटनलैण्ड में रहने वाले जर्मनों को कुछ सुविधायें दे। रूस ने भी कहा कि वह जर्मन आक्रमण के विरुद्ध चेक लोगों की सहायता करेगा। ब्रिटिश सरकार इस मामले को दूसरी तरह से देख रही थी। उसी समय हिटलर ने सैन्य प्रदर्शन कर परिस्थितियों को जटिल बना दिया।

हिटलर के पास चेकोस्लोवाकिया को अपने अधिकार में करने के अनेक कारण थे-

(i) इसका सामरिक महत्त्व था।

(ii) शक्तिशाली चेक सेना जर्मनी के अस्तित्व को संकट में डाल सकती थी।

(iii) चेकोस्लोवाकिया के मित्र उसकी समय पर मदद नहीं करेंगे, यह बात हिटलर भाँप चुका था तथा

(iv) चेकोस्लोवाकिया संसदात्मक राज्य था और राष्ट्रसंघ का सदस्य था, अतः जर्मनी और उसकी नीतियाँ आपस में टकराती थीं।

इस प्रकार हिटलर चेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करना चाहता था। हिटलर द्वारा चेकोस्लोवाकिया पर प्रत्यक्ष आक्रमण सम्भव नहीं था क्योंकि फ्रांस और रूस उसे सहायता का वचन दे चुके थे। हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया पर सीधा आक्रमण न करके चेकोस्लोवाकिया में उपद्रव करवा कर अपना उद्देश्य पूरा करने का निश्चय किया। उसने

चेकोस्लोवाकिया के जर्मन आबादी वाले सूडेटन प्रदेश के जर्मनों की ओट में काम शुरू किया। सूडेटन प्रदेश के जर्मन लोगों का नेता था कोनर्ड हेनलिन। हिटलर ने हेनलिन को निर्देश दिया कि वह सूडेटन क्षेत्र के समस्त जर्मनों को संगठित करके चेक सरकार को परेशान करना शुरू कर दे। इस निर्देश के अनुसार हेनलिन ने चेकोस्लोवाकिया में स्थित सभी जर्मनों से अपने दल में सम्मिलित होने की अपील की और चेकोस्लोवाकिया मंत्रिमण्डल के जर्मन सदस्यों से त्याग पत्र दिलवाने में भी वह सफल रहा। इसके बाद हेनलिन की माँगे बढ़ती गईं। दूसरी तरफ हिटलर ने समाचार पत्रों के माध्यम से चेकोस्लोवाकिया सरकार पर जर्मनों पर अत्याचार करने का दोष लगाकर उसके विरुद्ध जहरीला प्रचार करना शुरू किया, जिससे समस्या नाजुक बन गई। चेक सरकार ने सूडेटन जर्मनों के अन्य दलों के साथ मिलकर एक नया समझौता कर लिया किन्तु हेनलिन के दल ने समझौते को ठुकरा कर सूडेटन जर्मनों के लिए स्वायत्तता एवं समानता की माँग की। चेक सरकार इस प्रकार की माँग को स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। इस प्रकार सूडेटन जर्मनों की समस्या एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गयी। वास्तव में हिटलर सूडेटन जर्मनों और चेकोस्लोवाकिया के मध्य विद्यमान तनाव को और अधिक बढ़ाना चाहता था ताकि "पीड़ित जर्मनों" का पक्ष लेकर उसे कार्यवाही करने का अवसर मिल सके।

24 अप्रैल, 1938 को हेनलिन ने चेक सरकार के सम्मुख 8 माँगे रखीं। इन माँगों में जर्मन लोगों को चेकों के साथ पूर्ण समानता, जर्मन क्षेत्रों का परिसीमन, उन क्षेत्रों में जर्मनों का स्वायत्त शासन, 1918 ई० के बाद से चेक सरकार की नीतियों के परिणामस्वरूप जर्मनों को जो हानि उठानी पड़ी, उसका मुआवजा आदि मुख्य थीं। चेक सरकार इन माँगों को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं थी। हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध मुसोलिनी से भी सहायता चाही। इसी बीच मई के तीसरे सप्ताह में चेक सरकार ने अपनी सेना को आंशिक लामबन्दी का आदेश दिया। उसी समय ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों ने, हिटलर और रिबेनट्राप को, चेक राज्य पर सैनिक आक्रमण करने के विरुद्ध चेतावनी दी। रूस ने भी फ्रांस के साथ मिलकर, चेक सरकार को तुरन्त सहायता देने का आश्वासन दिया। हिटलर उस समय तीनों बड़ी शक्तियों का सम्मिलित रूप से सामना करने की स्थिति में नहीं था, अतः उसने घोषणा की कि चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करने का उसका कोई इरादा नहीं है।

इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री चेम्बरलेन तुष्टीकरण की नीति के द्वारा इस समस्या को सुलझाना चाहता था। उसने बहुत पहले ही घोषणा की थी कि "आस्ट्रिया की स्वाधीनता बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि आस्ट्रिया का पतन होता है तो चेकोस्लोवाकिया की रक्षा नहीं की जा सकती है, तब वह समस्त बाल्कन प्रदेश एक नए दैत्याकार प्रभाव के सामने झुक जाने के लिए विवश हो जाएगा।"

इसमें संदेह नहीं कि चेकोस्लोवाकिया, फ्रांस और रूस के साथ पारस्परिक सहायता की संधियों से बँधा हुआ था। ब्रिटेन का द ष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण था। इसलिए ब्रिटेन की सरकार ने मध्यस्थता का प्रस्ताव किया। हिटलर ने चेम्बरलेन से मिलना स्वीकार किया। दोनों के मध्य म्यूनिख के निकट बर्खतेसगाडेन में 14 सितम्बर को वार्ता हुई। इस वार्ता के समय हिटलर ने यह स्पष्ट कर दिया था कि अब वह आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर सूडेटनलैण्ड को हस्तान्तरित किए जाने के उपायों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रस्ताव को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। चेम्बरलेन ने इस सम्बन्ध में फ्रांस से बातचीत की और दोनों देशों ने मिलकर एक प्रस्ताव चेक सरकार को भेजा, जिसमें कहा गया था, "यूरोप की शान्ति को बनाए रखने के लिए 50 प्रतिशत से अधिक जर्मन आबादी वाले चेक प्रदेश तुरन्त जर्मनी को दे देने चाहियें।" किन्तु 20 सितम्बर को चेक सरकार ने आंग्ल-फ्रांसीसी प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। अन्ततः फ्रांस और इंग्लैण्ड के पुनः दबाव के कारण चेक सरकार को यह प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। फ्रांस तथा ब्रिटेन की नीति की आलोचना करते हुए, 21 सितम्बर को चर्चिल ने कहा था, "इंग्लैण्ड और फ्रांस के दबाव के कारण चेकोस्लोवाकिया के विभाजन का तात्पर्य है-नात्सी बल-प्रयोग की धमकी के समक्ष पश्चिमी जनतंत्रों का पूर्ण समर्पण। इस प्रकार के समर्पण में इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों को शान्ति या सुरक्षा प्राप्त नहीं हो सकेगी।"

चेक सरकार की स्वीकृति प्राप्त होने के पश्चात् चेम्बरलेन एवं हिटलर के मध्य दूसरी वार्ता 22 सितम्बर को राइनलैण्ड में स्थित गोडेसबर्ग में हुई किन्तु वहाँ पर उसे सर्वथा अप्रत्याशित स्थिति का सामना करना पड़ा। हिटलर ने चेम्बरलेन से कहा कि जर्मनी के साथ ही पोलैण्ड और हंगरी को भी 'आत्मनिर्णय' के आधार पर उनके द्वारा माँगे गए क्षेत्र मिलने चाहिए। इसके अतिरिक्त 23 सितम्बर, को उसने चेम्बरलेन को एक ज्ञापन दिया, जिसे अल्टीमेटम का अन्तिम प्रस्ताव कहना अधिक उपयुक्त होगा, जिसमें निम्नलिखित माँगें थीं-

(i) पहली अक्टूबर तक संलग्न नक्शे में दिखाया गया सम्पूर्ण सूडेटन प्रदेश जर्मनी को दे दिया जाय और इस क्षेत्र से चेक सेना तथा पुलिस को हटा लिया जाय।

(ii) हस्तान्तरित होने वाले प्रदेश की सब किलेबन्दियाँ, रेल, कारखाने आदि अक्षत रखे जाएँ। इस प्रदेश से कोई भी खाद्य सामग्री, पशु या कच्चा माल न हटाया जाय।

(iii) समस्त जर्मन बन्दियों को मुक्त किया जाए।

(iv) अन्तिम सीमा निर्धारण, एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की देखरेख में जनमत संग्रह के द्वारा हो।

इन प्रस्तावों से शान्तिवादी चेम्बरलेन को गहरा आघात लगा। 23 सितम्बर को रात्रि को जब वह पुनः हिटलर से मिला, तो उसने शान्ति बनाए रखने के अपने प्रयत्नों की अवहेलना करने के लिए जर्मन अधिनायक की कड़े शब्दों में भर्त्सना की। अतः यह वार्ता असफल रही। 28 सितम्बर को चेम्बरलेन ने हिटलर को 'अंतिम पत्र' लिखा, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाकर समस्या को सुलझाने की अपील की। इसी समय मुसोलिनी ने भी हिटलर को समझाने का प्रयास किया और उसे अपने अभियान को 24 घण्टे के लिए स्थगित करने के लिए तैयार कर लिया।

म्यूनिख समझौता: 29 सितम्बर को म्यूनिख में 'चार बड़े' राज्यों का सम्मेलन आरम्भ हुआ। इसमें जर्मनी की ओर से हिटलर एवं रिबेनट्राप, ब्रिटेन की ओर से चेम्बरलेन और हेरिस विल्सन, फ्रांस की ओर से दलादियर और लेंगर तथा इटली की ओर से मुसोलिनी तथा सियानों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में रूस तथा चेक प्रतिनिधियों को आमंत्रित नहीं किया गया। चारों राज्यों के बीच एक समझौता हुआ जिसे 'म्यूनिख समझौता' कहा जाता है। इसमें निम्न धाराएँ थीं-

1. चेक सरकार सूडेटन प्रदेश को खाली कर देगी और यह कदम एक अक्टूबर से आरम्भ होकर 10 अक्टूबर तक पूरा हो जाएगा। परन्तु उसे खाली करते समय किसी रेल कारखाने, किलेबंदी या अन्य इमारतों को नष्ट करने या नुकसान पहुँचाने की कार्यवाही नहीं की जाएगी।
2. सूडेटन प्रदेश को खारी करने की शर्तों का निर्धारण एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग करेगा, जिसमें जर्मनी, ब्रिटेन, इटली, फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया का एक-एक प्रतिनिधि होगा।
3. जनमत संग्रह किन प्रदेशों में किया जाय, इसका निर्णय 5 सदस्यों का उपर्युक्त आयोग करेगा। जनमत संग्रह की तिथि भी आयोग निर्धारित करेगा परन्तु वह नवम्बर के अन्त तक ही होनी चाहिए।
4. जनता को छः माह तक दिए गए प्रदेशों को छोड़ने या उनमें बसने की स्वतंत्रता होगी।
5. चेक सरकार चार सप्ताह के अन्दर जर्मन राजनीतिक बन्दियों को रिहा कर देगी।
6. ब्रिटेन तथा फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया के नए सीमान्तों की सुरक्षा की गारण्टी दी।

म्यूनिख समझौते के फलस्वरूप चेकोस्लोवाकिया को बड़ा गम्भीर आघात लगा। उसे ग्यारह हजार वर्ग मील का प्रदेश, सुद ढ़ किलेबन्दी, स्कोडा का विशाल शस्त्रास्त्र कारखाना, महत्त्वपूर्ण रेलमार्ग एवं अन्य औद्योगिक संस्थान जर्मनी को सौंपने पड़े।

इस समझौते का लाभ उठाते हुए 1 अक्टूबर, 1938 को प्रातः जर्मन सैनिकों ने सूडेटन प्रदेश पर अधिकार कर लिया और 16 मार्च, 1939 को हंगरी ने चेकोस्लोवाकिया के मेक्यार जिलों को हस्तगत किया। म्यूनिख में लादी गई शर्तों के अनुसार, जनमत संग्रह कहीं नहीं किया गया। जर्मन सेना ने अपनी इच्छानुसार मनमाने क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, जिसमें कई ऐसे क्षेत्र भी सम्मिलित थे जिनकी आबादी मुख्यतः चेक थी। अन्तर्राष्ट्रीय आयोग एक दिखावा मात्र बनकर रह गया।

इस प्रकार चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग कर दिया गया। यह विभिन्न राष्ट्रों की पराजय और हिटलर की कूटनीतिक विजय थी। शूमां के शब्दों में, "इस समझौते के कारण यूरोपीय राष्ट्रों में दरार पड़ गई। सुडेटनलैण्ड पर जर्मनी का अधिकार हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय आयोग ने चेकोस्लोवाकिया की नयी सीमा का निर्धारण भी किया। इस समझौते का सभी ने स्वागत किया परन्तु चेकोस्लोवाकिया के लिए यह अपमानजनक था। यह समझौता तुष्टीकरण की नीति का सर्वोच्च विकास और पश्चिमी लोकतंत्रों का मरणाज्ञा पत्र था। यह सामूहिक सुरक्षा पद्धति के विनाश का प्रतीक था।" इस समझौते के सम्बन्ध में डेविड थामसन ने लिखा है, "मित्रराष्ट्रों ने इस मामले में चेकोस्लोवाकिया को सामूहिक सुरक्षा प्रदान करने की बजाय, उसके प्रदेश पर सामूहिक ब्लकेमेल किया, उसे अपना क्षेत्र जर्मनी को सौंपने को बाध्य किया।" म्यूनिख समझौते के परिणामस्वरूप जर्मनी में हिटलर की

प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। प्रो० शूमां ने लिखा है कि यह आतंक पर आधारित उसके नीति कौशल की सबसे बड़ी विजय थी। चर्चिल ने इस समझौते के बारे में एक वक्तव्य में स्पष्ट किया था, "चेकोस्लोवाकिया की शक्ति का अन्त हो जाने का अर्थ यह होगा कि जर्मनी अपनी सेना के 25 डिवीजनों का पश्चिमी मोर्चे पर (फ्रांस के विरुद्ध) उपयोग कर सकेगा और उसके अतिरिक्त, विजयी नात्सियों के लिए काले सागर तक पहुँचने का मार्ग भी खुल जाएगा।" इस समझौते से वर्साय की संधि द्वारा स्थापित व्यवस्था की अन्त्येष्टि हो गई और सामूहिक सुरक्षा में विश्वास समाप्त हो गया।

पोलैण्ड पर आक्रमण- द्वितीय विश्वयुद्ध का आरम्भः 1934 ई० में जर्मनी और पोलैण्ड के बीच दस साल के लिए एक अनाक्रमण समझौता हुआ था। किन्तु इस समझौते का उद्देश्य केवल यह था कि जब जर्मनी आस्ट्रिया के विरुद्ध कार्यवाही कर रहा हो, उस समय पोलैण्ड शान्त रहे। अब हिटलर ने पोलैण्ड के बन्दरगाह डेंजिंग पर पहुँचने के लिए उससे एक गलियारे की माँग की। इस माँग द्वारा 1934 ई० का समझौता भंग हो गया। पोलैण्ड ने उसकी इस माँग को स्वीकार नहीं किया। हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण करने की तैयारी आरम्भ कर दी। इसी बीच हिटलर ने रूस से एक अनाक्रमण संधि की (13 अगस्त, 1939)। इस समझौते के द्वारा यह तय किया गया कि यदि दोनों में से कोई एक देश, किसी तीसरी शक्ति के आक्रमण का शिकार बने तो दूसरा देश तीसरी शक्ति को मदद नहीं देगा। यह संधि दस वर्ष के लिए की गई थी। इस संधि का मुख्य उद्देश्य यह था कि जब जर्मनी पोलैण्ड से संघर्ष कर रहा हो तो रूस उसकी मदद नहीं कर सके। जब हिटलर रूस की तरफ से निश्चिन्त हो गया तो उसने 1 सितम्बर, 1939 को प्रातः पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। यह द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रारम्भ था। हिटलर ने घोषणा की थी कि जर्मनी को आत्मरक्षा के लिए युद्ध लड़ना पड़ रहा है। इंग्लैण्ड और फ्रांस ने इस आक्रमण का विरोध किया किन्तु हिटलर ने उनकी कोई परवाह नहीं की। अतः इंग्लैण्ड भी 3 सितम्बर, 1939 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हो गया। इस तरह हिटलर की विस्तारवादी विदेश नीति के परिणामस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् असन्तुष्ट तथा पराजित देशों में सर्वसत्तावादी शासन आरम्भ हुआ और इसने अपने विस्तार कार्यक्रम के द्वारा विश्व के देशों को एक बार पुनः संकट में डाल दिया।

अध्याय-14

द्वितीय विश्व युद्धः उद्‌गम स्वरूप तथा परिणाम

पेरिस के शान्ति-सम्मेलन की समाप्ति पर महाशक्तियों के प्रतिनिधियों ने आशा व्यक्त की थी कि भविष्य में पुरानी त्रुटियों को दोहराया नहीं जायेगा और कोई भी राष्ट्र पाश्विक शक्ति का स्थान ग्रहण नहीं करेगा, किन्तु ये सभी आशाएँ पूर्णतः मिथ्या प्रभाणित हुई। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जो घटना चक्र चला, वह विश्व को दूसरे महायुद्ध की ओर ले गया। फ्रांस द्वारा जर्मनी से क्षतिपूर्ति वसूल करने की कठोर नीति, विश्वव्यापी आर्थिक मंदी, जापान की साम्राज्यवादी नीति, मुसोलिनी की साम्राज्यवादी लिप्सा और जर्मनी में हिटलर की तानाशाही शक्ति का विकास आदि कुछ घटनाएँ ऐसी थीं जिन्होंने 1919 में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को घातक आघात पहुँचाया। इंग्लैण्ड ने त ष्टकीरण की नीति अपना कर आक्रामक राज्यों को अधिक प्रोत्साहित किया। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भयावह हो गयी। 1936 के बाद तो युद्ध के बादल सर्वत्र मंडराने लगे और अन्त में 1 सितम्बर, 1939 को द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। प्रथम विश्व युद्ध के ठीक 20 वर्ष पश्चात् जर्मनी द्वारा पोलैण्ड पर आक्रमण करने के कारण द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। स्वभावतः इन बीस वर्षो में ही महायुद्ध की प ष्ठभूमि तैयार हुई।

द्वितीय विश्व युद्ध की प ष्ठभूमि

बीस वर्षों की शान्ति के बाद पहली पहली सितम्बर, 1939 को युद्ध की अग्नि ने फिर से सारे यूरोप को लपेट लिया और संघर्ष विश्वव्यापी हो गया। इसमें कोई शंका नहीं है कि युद्ध की सम्भावनाएँ 1919 के पेरिस शन्ति-सम्मेलन में शुरू हो गई थीं एवं वर्साय की 'आरोपित' एवं 'अपमानजनक संधि' पर जर्मनी के प्रतिनिधियों ने बड़ी निस्सहाय एवं बाध्यता की स्थिति में हस्ताक्षर किये थे। वे वर्साय की संधि को एक कलुषित दस्तावेज मानते रहे और उसके द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों को समाप्त करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते रहे। प्रो०ए०जे०पी०टेलर ने लिखा है कि "प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की समस्या को न केवल अनसुलझा छोड़ दिया, वरन् अन्त में उसे अधिक प्रखर बना दिया। फ्रांस की 40 मिलियन जनसंख्या के विरूद्ध 65 मिलियन जनसंख्या वाले जर्मनी को, चाहे उस समय पराजित एवं पददलित कर दिया गया था, किन्तु उसकी कभी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। पेरिस की शान्ति संधि के समय जर्मन प्रतिनिधि एर्जबर्जर (Erzberger) ने भी बड़े आत्मविश्वास से कहा था, "60 मिलियन उत्पीड़ित देशवासियों का राष्ट्र कभी मर नहीं सकता।" यथार्थ में दोनों विश्वयुद्ध के बीच के काल में 'जर्मनी की समस्या' यूरोप की सबसे जटिल एवं अशान्तिकारक बनी रही और अन्ततोगत्वा प्रमुख रूप से उसी के कारण द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हुआ। फ्रांसीसी इस तथ्य से परिचित थे कि जर्मनी अपने राष्ट्रीय अपमान का बदला लेने के लिए पुनः आक्रमण करेगा। फिर भी, जर्मनी के प्रति उचित व्यवहार नहीं किया गया। फ्रांस द्वारा जर्मनी से कठोरतापूर्वक क्षतिपूर्ति की राशि वसूल करने की नीति ने जर्मनी के आक्रोश को बढ़ाने में सहयोग दिया। फ्रांस का यह दुर्भाग्य रहा कि उसके युद्धकालीन मित्रों मे से अमेरिका शनैःशनै निःसंगता (Isolationism) की नीति की ओर अग्रसर होता गया। इटली शान्ति संधियों से असंतुष्ट होकर संशोधनवादियों से जा मिला और इंग्लैण्ड के साथ उसके द ष्टिकोण और नीतियों में बड़ा भारी परिवर्तन आ गया। जहाँ फ्रांस जर्मनी को हमेशा के लिए म तप्रायः बना देना चाहता था, वहाँ इंग्लैण्ड यूरोप में शक्ति संतुलन बनाये रखने, अपने व्यापार का विकास करने और साम्यवाद के विरूद्ध जर्मनी को एक ढाल के रूप में उपयोग करने के लिए जर्मनी को पुनः सम द्ध देखना चाहता था। दोनों देशों के कूटनीतिक मतभेद जितने बढ़ते गये, उतना ही जर्मनी को वर्साय संधि की शर्तो में एक पक्षीय संशोधन करने का अवसर मिलता गया।

जर्मनी के साथ-साथ जापान भी पेरिस की शांति संधियों से असंतुष्ट था। उसने भी सैन्यवाद द्वारा अपनी प्रसारवादी नीतियों पर कार्य करना आरम्भ कर दिया था। इस समय जापान ने चीन के एक प्रान्त मंचूरिया पर आक्रमण किया और सितम्बर, 1931 में जापानियों ने मुकदेन नगर से चीनी सेना को खदेड़कर उस पर अपना अधिकार कर लिया। चीन ने जापान के विरूद्ध

राष्ट्रसंघ में अपील की किन्तु जापान ने राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव की अवहेलना करते हुए अपना विजयी अभियान जारी रखा। फरवरी, 1932 तक जापान ने सम्पूर्ण मंचूरिया पर अधिकार कर वहाँ 'मांचूकुओं राज्य' के रूप में अपनी कठपुतली सरकार स्थापित कर दी। जब राष्ट्र संघ ने जापान को दोषी ठहराया तो इसके प्रत्युत्तर में जापान राष्ट्रसंघ से प थक हो गया। यह सामूहिक सुरक्षा प्रणाली पर भयंकर प्रहार था। प्रो० बैन्स ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि-"आगे की घटनाओं को द ष्टिगत रखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चीन के पक्ष में सामूहिक सुरक्षा को लागू न करना एक दुर्भाग्यपूर्ण भूल थी और सम्भवतः उसी के कारण ऐसी घटनाओं का क्रम आरम्भ हुआ, जिसकी परिणति द्वितीय विश्व युद्ध के रूप में हुई।

इसी समय इटली में मुसोलिनी के राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन मिला और उसने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। मुसोलिनी अफ्रीका में अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। प्रथम विश्व युद्ध में इटली मित्रराष्ट्रों के साथ रहा था परन्तु तब वह परवर्ती युग में अधिकाधिक असंतुष्ट होता चला गया तो जर्मनी की ओर इसका झुकाव अधिक बढ़ाता गया। उसी समय रोम-बर्लिन-टोकियों धुरी की स्थापना हुई, जिसके परिणामस्वरूप विश्व के शक्तिशाली देश दो गुटों में बँट गये। एक ओर धुरी राष्ट्र (Axis Power) और दूसरी ओर लोकतांत्रिक राज्य (Democratic States) थे। हिटलर राष्ट्रसंघ की दुर्बलताओं को देखता रहा। उसने वर्साय की संधि की अवहेलना कर दी। सैनिकवाद फिर पनपा। जर्मनी की सेनाओं ने राइन (Rhine) के प्रदेश में प्रवेश किया और कॉमिण्टर्न विरोधी संधि की। आस्ट्रिया के गणतंत्र का अन्त और आस्ट्रिया पर जर्मनी का अधिकार एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। 10 अप्रैल, 1938 को आस्ट्रिया को जर्मनी में मिला लिया गया।

इसी प्रकार एक महत्त्वपूर्ण घटना जर्मनी द्वारा चेकोस्लोवाकिया का अन्त किया जाना था। यहाँ 32 लाख जर्मन रहते थे। चेकोस्लोवाकिया के एक प्रदेश सुडेटनलैण्ड (Sudtenland) में तो जर्मन आबादी 50 प्रतिशत से अधिक थी। यह प्रदेश जर्मनी की सीमा पर था। इंग्लैण्ड और फ्रांस ने इसकी अखण्डता बनाये रखने का आश्वासन दिया था परन्तु दोनों ने हिटलर को संतुष्ट करने के लिये उसका अंग-भंग मान लिया और दोनों ने सुडेटनलैण्ड का जर्मनी में मिल जाना उचित माना। इससे युद्ध का खतरा टल गया। परन्तु इस समझौते का अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर घातक प्रभाव पड़ा। इससे सामूहिक सुरक्षा तथा इंग्लैण्ड और फ्रांस का दायित्व संदिग्ध हो उठा। इससे इन दोनों देशों की कायरतापूर्ण नीति का पर्दाफाश भी हो गया। फिर भी, म्यूनिख से लौटकर चेम्बरलेन ने कहा था कि "मैं सम्मान सहित शन्ति लेकर आया हूँ।" इस समझौते पर विंस्टन चर्चिल ने कहा था कि "इंग्लैण्ड और फ्रांस को युद्ध और अपमान में से किसी एक को चुनना था, उन्होंने अपमान को चुना है किन्तु वे युद्ध से भी नहीं बच सकेंगे।" चर्चिल की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई इंग्लैण्ड की "यह नीति आरम्भ से ही एक आत्मधाती मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी।" जर्मनी ने कूटनीति द्वारा बाल्टिक सागर के प्रदेशों को अपनी ओर मिला लिया तथा रूस से संधि कर ली। इंग्लैण्ड चाहता था कि जर्मनी पोलैण्ड की समस्या को शान्तिपूर्वक सुलझाये। फिर भी हिटलर ने पोलैण्ड के प्रति कठोर नीति अपनाई। हिटलर ने पोलैण्ड से माँग की कि वह डेन्जिग (Danzig) का बन्दरगाह तथा समुद्रतट तक पहुँचने के लिए पोलिश गलियारे (Corridor) को जर्मनी को सौंप दे। इस माँग को लेकर हिटलर ने पहली सितम्बर, 1939 को प्रातः पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। यह द्वितीय विश्व युद्ध का आरंभ था।

द्वितीय विश्व युद्ध के कारण

जर्मनी द्वारा डेजिंग एवं पोलिश गलियारे की माँग के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ संकट द्वितीय विश्व युद्ध का तात्कालिक कारण था किंतु इस युद्ध की प ष्ठभूमि प्रथम विश्वयुद्ध के समय से ही तैयार हो रही थी। इस महायुद्ध के मूलभूत कारण निम्न थे-

1. **वर्साय सन्धि की कठोर शर्तें:** प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी की पराजय हुई और उसे वर्साय की अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े। किंतु जर्मनी के प्रतिनिधियों एवं जर्मनी जनता में आरंभ से ही वर्साय की कठोर व अपमानजनक संधि के प्रति भारी असंतोष एवं रोष था। मित्रराष्ट्रों ने विल्सन के 14 सूत्रों की दुहाई देते हुए लायड जार्ज, क्लेमेंशू एवं उसके सहयोगी राजनेताओं ने प्रतिशोध, राष्ट्रीय स्वार्थों एवं भविष्य की सुरक्षा की चिंता से अभिभूत होकर ऐसी व्यवस्था का निर्माण करने का प्रयास किया, जिससे पराजित जर्मनी कभी भी सिर न उठा सके। वर्साय की संधि का जर्मनी पर जो विनाशकारी प्रभाव हुआ, उसका वर्णन करते हुए लैंगसम ने लिखा है-"इससे यूरोप में जर्मन प्रदेश का आठवाँ भाग और 70 लाख व्यक्ति कम हो गये, उसके सारे उपनिवेश, 15 प्रतिशत क षि योग्य भूमि, 12 प्रतिशत पशु, 10 प्रतिशत कारखाने छीन लिये गये, उसके व्यापारिक जहाज 57 लाख टन से घटाकर केवल 5 लाख टन तक सीमित कर दिये गये, ब्रिटेन की नौ-सैनिक शक्ति से प्रतिस्पर्द्धा करने वाली उसकी नौ-सैनिक शक्ति को नष्ट कर दिया गया और स्थल

सेना की संख्या एक लाख निश्चित कर दी गई। उसे अपने कोयले के 2/3 भाग से, लोहे के भाग से और जस्ते के भाग से तथा आधे से भी अधिक सीसे के क्षेत्र से हाथ धोने पड़े। उपनिवेशों के छीन लिये जाने से रबर और तेल की कमी का सामना करना पड़ा। इसी प्रकार क्षतिपूर्ति के नाम पर उसे कोरे चेक पर हस्ताक्षर करने को बाध्य किया गया।" जर्मनी वर्साय की संधि में संशोधन चाहता था परंतु मित्रराष्ट्रों ने आक्रमण का भय दिखाकर जर्मनी से इस कठोर एवं अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करा लिये। चर्चिल ने इस संधि के बारे में लिखा है-"संधि की आर्थिक धाराएँ अहितकर एवं मूर्खतापूर्ण थी। उससे सम्बन्धित समस्त लेन-देन को इतिहास में पागलपन की संज्ञा प्रदान की जायेगी। उन्होंने सैन्यवादी अभिशाप और आर्थिक संकट की उत्पत्ति में सहायता पहुँचाई।" संधि की 'युद्ध अपराध' सम्बन्धी धारा के परिणामस्वरूप जर्मन जनता में तीव्र उत्तेजना एवं रोष उत्पन्न हुआ। जर्मनी जैसा स्वाभिमानी राष्ट्र इस प्रकार की कठोर एवं अपमानजनक शर्तों को दीर्घकाल तक बर्दाश्त नहीं कर सकता था। जर्मन जनता की यह निश्चित धारणा बन गई थी कि वर्साय की 'आरोपित संधि' (Dictated Peace) उस पर नैतिक अथवा विधिक द ष्टि से बंधनकारी नहीं है।

वर्साय संधि के समय विजेताओं ने दूरदर्शिता से कार्य नहीं किया। उन्होंने प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर जर्मनी का दमन एवं अपमान किया। फलतः अवसर मिलने पर अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए जर्मनी ने पुनः मित्र राष्ट्रों के विरूद्ध हथियार उठाये। इसलिए फाल्स महोदय ने द्वितीय विश्व युद्ध को प्रतिशोधात्मक शुद्ध (War of Revenge) की संज्ञा दी है।

2. **तानाशाहों का उत्कर्ष:** प्रथम विश्व युद्ध के बाद पराजित राष्ट्रों तथा नवनिर्मित राज्यों में लोकतंत्रीय शासन व्यवस्थाएँ इस आशा के साथ स्थापित की गयी थी कि इन राज्यों में ये व्यवस्थाएँ स्थायी रूप से बनी रहेंगी किंतु यह आशा व्यर्थ गयी। जर्मनी में प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् वाइमर गणतंत्र की स्थापना की गई। वाइमर गणतंत्र पर वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर करने का आरोप था, अतः नाजी दल का उदय हुआ। यह दल वर्साय की संधि को भंग कर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी की प्रतिष्ठा पुनःस्थापित करना चाहता था। आर्थिक मंदी ने हिटलर के उदय में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। हिटलर ने विश्व के देशों को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया था कि उसका उद्देश्य शांति स्थापित करना है किंतु वह अधिक समय तक अपने असली लक्ष्य को छिपा नहीं सका। शीघ्र ही उसने आक्रमणकारी रूख अपना लिया। 1935 में हिटलर ने वर्साय के सैनिक उपबन्धों का परित्याग करके पुनःशस्त्रीकरण करने की घोषणा की। इसके पश्चात् उसने 1938 में आस्ट्रिया का अधिग्रहण किया और चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग किया, जिससे चारों ओर युद्ध के बादल मंडराने लगे।

इटली में भी प्रथम महायुद्ध के बाद तानाशाही का उदय हुआ। इटली निवासियों में असंतोष को दूर करने तथा साम्राज्य प्रसार के उद्देश्य को लेकर मुसोलिनी ने अपनी अधिनायकवादी सत्ता स्थापित की। उसने वर्साय की संधि का विरोध किया। इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण पर अपनी साम्राज्यवादी भावना प्रदर्शित की। अबीसीनिया ने राष्ट्रसंघ में अपील भी की। राष्ट्रसंघ ने इटली को 'आक्रामक' घोषित करके उसके विरूद्ध आर्थिक प्रतिबंध लगाये किंतु प्रतिबंधों को कठोरता से लागू ही नहीं किया गया। वास्तव में राष्ट्रसंघ कुछ भी नहीं कर सका। इस घटना ने राष्ट्रसंघ की निर्बलता को स्पष्ट कर दिया।

इस समय तक जापान में भी साम्राज्यवादी भावनाएँ उत्पन्न हो चुकी थी। उसने राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करते हुए मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। जब राष्ट्रसंघ ने जापान को दोषी ठहराया तो प्रत्युत्तर में जापान राष्ट्रसंघ से प थक् हो गया। इस समय यदि पश्चिमी शक्तियाँ सामूहिक रूप से जापान के विरूद्ध कार्यवाही करती तो जापान को मंचूरिया से हटने के लिए विवश किया जा सकता था। इटली 1937 में साम्यवाद विरोधी संघ में सम्मिलित हुआ और इस प्रकार रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का गठन हुआ। मई, 1939 में इटली ने जर्मनी से दस वर्षीय संधि की। दोनों देशों में प्रतिज्ञा की कि कूटनीतिक मामलों में परस्पर परामर्श करेंगे और युद्ध की अवस्था में परस्पर सहयोग करेंगे। इटली और जर्मनी के तानाशाहों ने स्पेन के ग ह य द्ध में जनरल फ्रेंकों की सहायता की, जिससे कुछ समय पश्चात् स्पेन में भी फ्रेंकों का अधिनायकतंत्र स्थापित हो गया। इस प्रकार इन तानाशाहों ने विश्व के देशों को युद्ध की सीमा तक पहुँचा दिया।

3. **राष्ट्रसंघ की असफलता : सामूहिक-सुरक्षा प्रणाली की समाप्तिः** राष्ट्रसंघ की स्थापना मुख्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

को बढ़ाने तथा शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था के लिए की गई थी परंतु वह अपने इन उद्देश्यों को पूरा करने में असफल रहा। राष्ट्रसंघ का जन्मदाता विल्सन स्वयं अमेरिका को इसका सदस्य नहीं बना सका। फलतः एक शक्तिशाली राष्ट्र के समर्थन एवं सहयोग से यह वंचित रहा। प्रारंभ में पराजित राष्ट्रों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित रखना, इस बात को द्योतक हो गया कि राष्ट्रसंघ विजयी राष्ट्रों का गुट है। रूस 'राष्ट्रसंघ' को पश्चिमी राष्ट्रों का साम्यवादी रूस के विरूद्ध एक 'षडयंत्र' मानता था।

यद्यपि 1925 से 1929 तक राष्ट्रसंघ ने कुछ क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य किया जिससे प्रभावित होकर 50 राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता ग्रहण कर ली थी, किंतु यह स्थिति क्षणिक रही। ज्यों ही बड़े राष्ट्रों के स्वार्थ का प्रश्न आया तो केवल आयोगों की नियुक्ति के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ 'विधवा स्त्री की तरह' हाथ-पाँव पीट कर रह गया। मित्रराष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ को अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये प्रयेाग किया। राष्ट्रसंघ के माध्यम से इंग्लैण्ड रूस की साम्यवादी प्रव त्तियों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण रखना चाहता था। फ्रांस का उद्देश्य शांति-सम्मेलन की शर्तों का पालन कराना था। अनेक शक्तिशाली देशों ने राष्ट्रसंघ की उपेक्षा की, जैसे मंचूरिया काण्ड के समय जापान राष्ट्रसंघ के प्रस्तावों को ठुकराते हुए राष्ट्रसंघ की सदस्यता से अलग हो गया। 1935 में जब मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया, तब राष्ट्रसंघ ने उसके विरूद्ध कुछ सक्रिय कदम उठाये। किंतु अंत में इंग्लैण्ड और फ्रांस की दब्बू नीति के कारण इटली, अबीसीनिया को हड़पने में सफल हो गया। इटली के इस नग्न एवं निर्लज्ज आक्रमण की सफलता का सम्पूर्ण विश्व पर गहरा प्रभाव पड़ा। हिटलर का तो कहना था कि "खोये हुए प्रदेशों की पुनःप्राप्ति ईश्वर से प्रार्थना करने से अथवा राष्ट्रसंघ के प्रति पवित्र आस्था रखने से नहीं वरन् सैनिक शक्ति से ही हो सकती है।" अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के समय भी राष्ट्रसंघ कोई कारगर कदम नही उठा सका। इस घटना के पश्चात् छोटे-छोटे राष्ट्रों को राष्ट्रसंघ से सुरक्षा पाने का विश्वास समाप्त हो गया। राष्ट्रसंघ के प्रति संदेह और अविश्वास की भावना शीघ्र ही विस्फोटक बनकर युद्ध के रूप में परिणत हो गई।

4. **निःशस्त्रीकरण के प्रयासों की असफलताः** विश्व राजनीतिज्ञों का यह मानना था कि शांति एवं सुरक्षा के लिए शस्त्रास्त्रों की होड़ को समाप्त करना आवश्यक था। वर्साय की संधि के द्वारा जर्मनी को पूर्णतः शक्तिहीन करने के लिए निःशस्त्रीकरण की योजना प्रस्तुत की गयी। मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को यह आश्वासन दिया था कि कुछ समय बाद व्यापक निःशस्त्रीकरण किया जायेगा। जिससे सामूहिक सुरक्षा स्थापित हो सके। राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा में भी "राष्ट्रीय सुरक्षा का ध्यान रखते हुए, राष्ट्रों के शस्त्रास्त्रों की निम्नतम सीमा निर्धारित करना, शान्ति बनाये रखने के लिए आवश्यक" माना गया और उसके लिए व्यापक योजना बनाने का कार्य राष्ट्रंसघ परिषद को सौंपा गया। सिद्धान्त रूप से इस योजना का समर्थन किया जा सकता था किंतु इस संबंध में अलग-अलग राष्ट्रों द्वारा जो नीति अपनाई गई, उससे निःशस्त्रीकरण की बजाय शस्त्रीकरण की भावना को अधिक बल मिला।

निःशस्त्रीकरण के लिए पहला प्रयास 1921 में वाशिंगटन सम्मेलन में किया गया था, जिसमें प्रमुख नौसैनिक राष्ट्रों ने अपनी नौसैनाओं को टन भार के अनुपातों की योजना से परिसीमित करना स्वीकार किया। किंतु इसके पश्चात् लंदन नौसेनिक सम्मेलन में केवल ब्रिटेन, अमेरिका और जापान के बीच कुछ सीमित समझौता हो सका और फ्रांस व इटली के बीच पारस्परिक मतभेदों के कारण कोई समझौता नहीं हो सका। जापान ने भी समानता के सिद्धांत के आधार पर ब्रिटेन तथा अमेरिका के समकक्ष नौसैनिक शक्ति बनाने की माँग की किंतु इन बात को स्वीकार नहीं किया गया। 1932 में जेनेवा निःशस्त्रीकरण सम्मेलन फ्रांस तथा जर्मनी के मतभेदों के कारण कोई निर्णय नहीं कर सका और हिटलर ने सम्मेलन से प थक् होने की घोषणा कर दी, जिससे सम्मेलन का उद्देश्य ही लगभग समाप्त हो गया। जर्मनी का कहना था कि यदि जर्मनी को शस्त्रहीन किया जाता है तो निःशस्त्रीकरण का सिद्धांत दूसरे राज्यों पर भी लागू किया जाय। इसके पश्चात् छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों ने अपनी सैन्यशक्ति का विस्तार आरंभ कर दिया और संसार उसी अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की स्थिति में पहुँच गया, जिसमें यूरोप प्रथम महायुद्ध के पूर्व था। फ्रांस ने अपनी उत्तर-पूर्वी सीमा पर भूमिगत किलों की श्रंखला बनाई, जिसे 'मैजिनो लाइन' (Magino Line) कहा जाता था। प्रत्युत्तर में जर्मनी ने भी 'सीगफ्रीड लाइन' (Siegfried line) तैयार की। अब निःशस्त्रीकरण मात्र औपचारिकता वार्ता रह गई। अब यूरोप का कोई भी राष्ट्र निःशस्त्रीकरण की बात सुनने को भी तैयार नहीं था। चारों ओर ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया जिससे निकट भविष्य में युद्ध अनिवार्य दिखाई देने लगा। इसी कारण चर्चित का मत था कि "यदि वर्साय की संधि की निःशस्त्रीकरण

सम्बन्धी धाराओं का 1934 तक कड़ाई से पालन किया जाता तो हिंसा या रक्तपात के बिना संसार की शान्ति एवं सुरक्षा की अनिश्चत काल तक रक्षा की जा सकती थी।" पुनः शस्त्रीकरण के परिणामस्वरूप सभी देशों में भय और आशंका फैल गई और सभी युद्ध की तैयारी में जुट गए।

5. **पश्चिमी राष्ट्रों की नीति में अन्तर्विरोध एवं तुष्टीकरण की नीतिः** मित्रराष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों ने भी जर्मनी तथा इटली की शक्ति के विकास में बहुत योगदान दिया था। पेरिस के शांति-सम्मेलन के पश्चात् "पाँच मित्र राष्ट्रों" का गठबंधन समाप्त हो गया। पेरिस की शान्ति संधियों व व्यवस्था को बनाये रखने का भार मूलतः फ्रांस और ब्रिटेन पर आ गया। वर्साय की संधि के पश्चात् क्षतिपूर्ति, सामूहिक सुरक्षा एवं निःशस्त्रीकरण आदि के संबंध में दोनों देशों में अन्तर्विरोध बढ़ गया था। फ्रांस जर्मनी के प्रति कठोर नीति अपनाना चाहता था किंतु ब्रिटेन उसके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने के पक्ष में था।

   ब्रिटेन अपने व्यापार की व द्धि के लिए जर्मनी का औद्योगिक पुनर्निमाण करना आवश्यक समझता था, साथ ही वह यूरोप में शक्ति संतुलन बनाये रखने का प्रयास भी कर रहा था। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् यूरोप में फ्रांस की शक्ति काफी बढ़ गयी थी। उसे नियंत्रित रखने तथा पूर्वी एवं मध्य यूरोप में साम्यवाद के प्रसार की रोकथाम के लिए ब्रिटेन जर्मनी को शक्तिशाली बनाना चाहता था। अतः ब्रिटेन ने हिटलर के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाई। फलस्वरूप मित्रराष्ट्र उससे नाराज हो गये। इसके अतिरिक्त वर्साय संधि के समय यह निर्णय लिया गया कि ब्रिटेन और अमेरिका दोनों फ्रांस की सुरक्षा का दायित्व ग्रहण करेंगे किंतु अमेरिका की सीनेट ने इस संधि की अस्वीक त कर दिया। फलतः फ्रांस ने निराश होकर पोलैण्ड, बेल्जियम और चेकोस्लोवाकिया से अलग-अलग संधियाँ की। हिटलर और मुसोलिनी ने ब्रिटेन और फ्रांस के मतभेदों एवं तुष्टीकरण की नीति से पूरा लाभ उठाया। ब्रिटेन और फ्रांस ने मूसोलिनी को संतुष्ट रखने के लिए उसके विरूद्ध राष्ट्रसंघ द्वारा लगाये गये आर्थिक प्रतिबंधों का पूर्णरूप से पालन नहीं होने दिया। इसी तरह राइनलैण्ड के विसैन्यीकरण संबंधी व्यवस्थाओं के उल्लंघन के विरूद्ध कोई कदम नहीं उठाया गया। यहाँ तक कि जब मार्च, 1938 में जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया का अपहरण करने पर भी ब्रिटेन और फ्रांस ने कोई विरोध नहीं किया। तो इससे हिटलर की विस्तारवादी लिप्सा और भी बढ़ गई। इस प्रकार पारस्परिक अविश्वास के कारण मित्रराष्ट्रों का मोर्चा कमजोर हो गया तथा वे तानाशाहों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने में कठिनाई अनुभव करने लगे। इसी कारण चर्चिल ने लिखा था-"हमारी तुष्टिकरण नीति का एक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ कि हिटलर को यह विश्वास हो गया कि ब्रिटेन एवं फ्रांस उसके विरूद्ध युद्ध करने में सक्षम नहीं थे।" तुष्टीकरण की इस नीति के संबंध में शूमां ने भी ठीक ही लिखा है कि "यह नीति आरंभ से ही एक आत्मघाती मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी।" इस गंभीर स्थिति ने द्वितीय विश्वयुद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया।

6. **उग्र राष्ट्रवाद की भावनाः** प्रथम विश्व युद्ध की भांति द्वितीय विश्व युद्ध में भी उग्र राष्ट्रवाद संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण कारण था। इस समय तक विश्व में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा बढ़ने लगी थी। यही आर्थिक राष्ट्रवाद युद्ध के लिए उत्तरदायी था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इस राष्ट्रवाद पर नियंत्रण स्थापित करने की आवश्यकता महसूस की जानी लगी थी। विल्सन ने इसी उद्देश्य से राष्ट्रसंघ को पेरिस की शांति संधि का अविभाज्य अंग बनाया। किंतु युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना नहीं पनप सकी और विभिन्न राज्य अपने राष्ट्रीय हितों एवं स्वार्थों को ही सर्वोपरि मानते रहे। इटली, जर्मनी तथा जापान में उग्र राष्ट्रवाद का प्रभाव प्रबल था। वहाँ राष्ट्रवाद को लक्ष्य राष्ट्र की शक्ति एवं गौरव के लिए आर्थिक साधनों पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण स्थापित करके आक्रामक नीतियों का आश्रय लिया जाने लगा। हिटलर ने 'सर्वश्रेष्ठ प्रजाति' (Master Race) की अपमान का प्रतिशोध लेने की इच्छा को उत्तेजित किया। राष्ट्रीयता की भावना को उत्तेजित करने में आर्थिक मंदी ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। वास्तव में आर्थिक संकट ने विश्व की राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिरता को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया।

7. **दो प्रतिद्वंद्वी सैनिक गुटों का उदयः** जिस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध से पहले समूचा विश्व दो विरोधी सैनिक गुटों में विभाजित हो गया था, उसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व भी सम्पूर्ण विश्व दो परस्पर शत्रु सैनिक खेमों में बंट गया। एक तरफ, जर्मनी, इटली और जापान जैसे कभी संतुष्ट न होने वाले राष्ट्र थे जिन्होंने मिलकर रोम-बर्लिन-टोकियों की धुरी का निर्माण किया था, तो दूसरी तरफ इंग्लैण्ड, फ्रांस, सोवियत रूस और अमेरिका जैसे मित्रराष्ट्रों ने मिलकर एक

सुद ढ़ संधि संगठन स्थापित कर लिया। जब हिटलर के नेत त्व में जर्मन सेना ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया तो इंग्लैण्ड और फ्रांस ने पोलैण्ड को समर्थन दिया तो द्वितीय विश्वयुद्ध भड़क उठा।

8. **अल्पसंख्यक जातियों का संतोषः** जहाँ पेरिस की संधियों द्वारा सीमाओं में परिवर्तन किया गया वहाँ जातियों का अदल-बदल होना भी स्वाभाविक था। जहाँ आस्ट्रिया को जर्मनी से अलग किया गया, जहाँ चेकोस्लोवाकिया को स्वतंत्र राज्य मान लिया गया, वहाँ विभिन्न जातियों को एक ही राज्य में रहने को बाध्य होना स्वाभाविक था। इससे बाल्कन प्रायद्वीप और मध्य यूरोप में बड़ी जटिल स्थिति उत्पन्न हो गयी। संधियों के निर्माण के समय मित्रराष्ट्रों ने 'आत्मनिर्णय' का सिद्धान्त स्वीकार करके अल्पसंख्यकों को भय से विमुक्त कर दिया था और उनकी आर्थिक आवश्यकताएँ, सैनिक सुरक्षा तथा सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक अधिकारों की मान्यताओं पर पूरा ध्यान दिया गया था कि ये अल्पसंख्यक 'पारस्परिक विरोध', उत्तेजना और असंतोष उत्पन्न करने के साधन बन गये। हिटलर ने इसी कारण पोलैण्ड का विभाजन कर दिया था। आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया में, जो जर्मन जाति थी, वह अपने को विदेशी शासन के अधीन मानती थी। हिटलर ने उनके असंतोष का पूरा लाभ उठाया। उसने आस्ट्रिया और सुडेटनलैण्ड में अल्पसंख्यकों पर कुशासन का बहाना बनाकर इनका अपहरण कर लिया तत्पश्चात् उसने पोलैण्ड पर आक्रमण किया। इस प्रकार ये अल्पसंख्यकों जातियाँ भी विभिन्न देशों के आपसी संघर्ष का कारण बनी।

9. **युद्ध का तात्कालिक कारण : जर्मनी का पोलैण्ड का आक्रमणः** उपर्युक्त कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर बारूद का महल खड़ा हो चुका था। अब केवल एक चिंगारी लगाने की देर थी। यह कार्य हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण करके सम्पन्न कर दिया। 3 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी को युद्ध बंद करने को चेतावनी दी किंतु हिटलर ने इस चेतावनी की उपेक्षा की। फलस्वरूप ब्रिटेन तथा फ्रांस ने जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। कुछ ही समय में युद्ध ने विस्त त रूप धारण कर लिया। यही द्वितीय विश्व युद्ध का उद्‌गम था।

द्वितीय विश्व युद्ध की घटनाएँ

द्वितीय विश्वयुद्ध की घटनाओं को सुविधा की द ष्टि से हम चार अवस्थाओं में बाँट सकते हैं-

1. **प्रथम अवस्थाः** इसमें 1 सितम्बर 1939 से 21 जून, 1941 तक की घटनाएँ, जिसमें जर्मनी ने पोलैण्ड, डेनमार्क, नीदरलैण्ड, बेल्जियम, लेक्जेम्बर्ग, फ्रांस, ब्रिटेन तथा यूनान पर आक्रमण किये।
2. **द्वितीय अवस्थाः** 22 जून, 1941 से 6 दिसम्बर, 1941 तक धुरी राष्ट्रों द्वारा अफ्रीका पर आक्रमण तथा जर्मनी का रूस पर आक्रमण।
3. **त तीय अवस्थाः** 7 दिसम्बर, 1941 से 7 नवम्बर, 1942 तक। इसमें जापान का पर्लहार्बर पर आक्रमण तथा मित्रराष्ट्रों के सैन्य बल का नीदरलैण्ड, ईस्टइण्डीज तथा काकेशस पर अधिकार।
4. **चतुर्थ अवस्थाः** 8 नवम्बर, 1942 से 6 मई, 1945 तक। इसमें फ्रैंच उत्तरी अफ्रीका पर अमेरिका का आक्रमण तथा जर्मनी का आत्मसमर्पण, साथ ही 7 मई 1945 से 14 अगस्त, 1945 तक जापान का आत्मसमर्पण।

पोलैण्ड का आक्रमण और महायुद्ध का आरंभ

1 सितम्बर, 1939 को प्रातः चार बजे जब सारा यूरोप अभी सोया हुआ था, हिटलर की सेना पोलैण्ड की सीमा पार कर गयी। बिजली की चमक की तरह विशाल जर्मन सेना पोलैण्ड पर टूट पड़ी। एक तरफ से जर्मन हवाईजहाजों (Luftwaffe) ने पोलैण्ड पर गोलाबारी करके उसके यातायात के साधनों और बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियों को नष्ट कर दिया, वहीं हवाई हमले के साथ-साथ जर्मन सेना वेहरमक्ट (Wehrmacht) पोलैण्ड को रौंदती हुई आगे बढ़ने लगी। पोलिश सेना को उसका मुकाबला करने का मौका ही नहीं मिला। "तड़ित युद्ध प्रणाली" (Blitz Krieg) का प्रयोग करके जर्मनी सेनाओं ने दो सप्ताह के भीतर पोलैण्ड के पश्चिमी प्रदेश पर अधिकार कर लिया और उसकी राजधानी वारसा को घेर लिया गया।

इसी बीच, 3 सितम्बर को ब्रिटेन तथा फ्रांस ने अपने वायदे के मुताबिक जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोषणा की। ब्रिटिश युद्ध घोषणा के बाद कामनवेल्थ के राज्यों (आस्ट्रिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका, कनाडा और भारत) ने भी जर्मनी के विरूद्ध युद्ध में भाग लिया। जर्मन हवाई हमलों के कारण ब्रिटेन और फ्रांस वायु मार्ग से पोलैण्ड को सैनिक सहायता

नहीं भेज सके। रूस भी इस युद्ध को अधिक दिनों तक दूर से नहीं देख सकता था। सम्पूर्ण पोलैण्ड पर जर्मन अधिकार हो जाने से जर्मनी और सोवियत रूस की सीमाएँ मिल जाती थीं, इससे रूस की सुरक्षा को खतरा था। अतः 17 सितम्बर को सोवियत रूस ने पोलैण्ड पर आक्रमण करके उसके पूर्वी क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा लिया। 27 सितम्बर को संपूर्ण पोलैण्ड पर विदेशी अधिकार हो गया। 28 सितम्बर को जर्मनी तथा सोवियत रूस के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार पोलैण्ड का पश्चिमी भाग जर्मनी को प्राप्त हुआ और पूर्वी पोलैण्ड रूस को प्राप्त हुआ। पोलैण्ड के विभाजन के फलस्वरूप जर्मनी को उसका अधिकांश उद्योग एवं खनिज प्रधान भाग प्राप्त हो गया और रूस को उसका क षि प्रधान एवं प्राक तिक तेल का क्षेत्र प्राप्त हो गया।

रूस का बाल्टिक राज्यों पर अधिकार तथा फिनलैण्ड पर रूस का आक्रमण

रूस-जर्मन समझौते के पश्चात् जर्मनी पश्चिमी मोर्चे पर ब्रिटेन तथा फ्रांस के साथ युद्ध में व्यस्त हो गया। इस अवसर का लाभ उठाकर सोवियत संघ ने बाल्टिक क्षेत्र के तीन छोटे राज्यों स्टोनिया, लेटविया एवं लिथुआनिया के साथ परस्पर सहयोग सम्बन्धी संधि कर ली और तीनों राज्यों में अपनी सेनाएँ रखने का आश्वासन ले लिया। इतने से ही सोवियत रूस संतुष्ट नहीं था, वह लेनिनग्राड की रक्षा के लिए फिनलैण्ड में भी सैनिक अड्डा स्थापित करने की सुविधाएँ चाहता था। इसी उद्देश्य से अक्टूबर, 1939 में सोवियत सरकार ने फिनलैण्ड के प्रतिनिधियों से वार्ता के समय कुछ माँगें रखी, जिनमें हांगों बन्दरगाह को पट्टे पर देने, फिनलैण्ड की खाड़ी के कुछ द्वीपों पर अधिकार आदि प्रमुख थीं। फिनलैण्ड की सरकार ने हांगों में रूसी नौसैनिक अड्डे की स्थापना को छोड़कर रूस की सभी माँगों को स्वीकार संभी मांगों को स्वीकार करने की बात कही परन्तु रूस की सरकार अपनी सभी माँगोंको पूरा करने पर दबाव डाल रही थी। इस कारण समझौता वार्ता भंग हो गयी। 29 नवम्बर, 1939 को रूस ने फिनलैण्ड पर यह आरोप लगाया कि उसके सीमान्त सैनिकों ने सोवियत सैनिकों पर गोलियाँ चलायीं हैं। रूस ने 1932 के सोवियत-फिन समझौते को तोड़कर फिनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। 2 दिसम्बर, 1939 को फिनलैण्ड ने राष्ट्रसंघ से अपील की, जिसके फलस्वरूप रूस को राष्ट्रसंघ से निष्कासित कर दिया गया। जनरल मेनरहीम (Mannerheim) के नेत त्व में छोटे से फिनलैण्ड ने जमकर शक्तिशाली सोवियत संघ का मुकाबला किया। युद्ध के प्रारंभिक दिनों में उसने 'लाल सेना' पर सफलता पायी किंतु फरवरी, 1940 में सोवियत संघ ने सेना को सुसंगठित कर फिनलैण्ड पर जोरदार आक्रमण किया। फलस्वरूप 12 मार्च, 1940 को उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा। फिनलैण्ड को एक संधि के अनुसार लडौगा झील सहित बहुत बड़ा भाग रूस को देना पड़ा और हांगों में रूसी नौसैनिक अड्डे की स्थापना की स्वीक ति भी देनी पड़ी। इस प्रकार रूस ने उन सभी प्रदेशों पर अधिकार जमा लिया, जो प्रथम विश्व युद्ध के बाद उसके हाथ से निकल गये थे। जर्मनी ने रूस के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया।

डेनमार्क और नार्वे का पतन

पोलैण्ड पर अधिकार करने के बाद हिटलर ने एक कूटनीतिक चाल चली। उसने इंग्लैण्ड और फ्रांस से कहा कि युद्ध बंद कर दिया जाय अब उसे अन्य किसी प्रदेश को प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं है। किंतु मित्रराष्ट्रों ने उसकी बात पर अविश्वास करके उसकी इस माँग को ठुकरा दिया। अतः जर्मनी ने अप्रैल, 1940 में रूस, नार्वे तथा डेनमार्क पर आक्रमण किया। नार्वे की सेना ने जर्मनी का मुकाबला किया किंतु अन्त में पराजय स्वीकार करनी पड़ी। डेनमार्क भी पराजित हुआ। वह जर्मनी के संरक्षण में चला गया और वहाँ की राजधानी कोपेहेगेन पर जर्मनी का आधिपत्य हो गया। इन दोनों की पराजय के फलस्वरूप चेम्बरलेन की सरकार बदनाम हो गयी और उसे त्यागपत्र देना पड़ा। चेम्बरलेन के स्थान वर चर्चिल प्रधानमंत्री बना। वह देश को एक महान युद्ध नेता के रूप में मिला। उसने युद्ध का कुशलतापूर्वक संचालन किया।

हॉलैण्ड और बेल्जियम पर जर्मन आक्रमण

10 मई, 1940 को जर्मनी ने लेक्जेम्बर्ग, बेल्जियम और हॉलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। लेक्जेम्बर्ग पर उसी दिन अधिकार कर लिया गया। पाँच दिन बाद हॉलैण्ड पर अधिकार हो गया तथा 28 मई, 1940 को बेल्जियम ने आत्मसमर्पण कर दिया। यद्यपि बेल्जियम की सहायता के लिए ब्रिटिश सेनाएँ गई थीं किंतु वे स्वयं जर्मन सेनाओं से घिर गई। ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों ने अपने कुशल रणकौशल का परिचय देंते हुए अपनी अधिकांश सेना को बचा लिया।

फ्रांस का आत्मसमर्पण

बेल्जियम पर आक्रमण करने का अर्थ ही यह था कि जर्मनी अब फ्रांस पर विद्युत प्रहार करने की तैयारी कर रहा है। अतः फ्रांस ने अपने बचाव के लिए तैयारी आरंभ कर दी। 10 मई को हिटलर ने अपने पुराने शत्रु फ्रांस पर आक्रमण कर दिया। 16 मई को फ्रेंच बेल्जियम और ब्रिटिश फौजें डाइल की रेखा से शेल्ट की ओर पीछे हटले लगी। 17 मई को जर्मन सेनाओं ने फ्रांसीसी रक्षा पंक्ति को तोड़कर, 60 मील के विस्त त क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, जिससे उत्तरी क्षेत्र में स्थित ब्रिटिश बेल्जियम और फ्रेंच सेनाओं का दक्षिण की फ्रांसीसी सेनाओं से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। फ्रांस तथा मित्रराष्ट्रों की स्थिति इस समय अत्यन्त कमजोर हो गई थी। 19 मई को फ्रांस के मंत्रिमण्डल में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। मार्शल पेतां को उप-प्रधानमंत्री बनाया गया और स्वयं प्रधानमंत्री रेनां ने राष्ट्रीय सुरक्षा एवं युद्ध-मंत्री का कार्य संभाला। इसी दिन जनरल गोमली के स्थान पर जनरल वेगांद (Weygand) को प्रधान सेनापति बनाया गया। बेगांद प्रथम विश्व युद्ध में मार्शल फौंच के अधीन सैनिक अधिपति (Chief of Staff) रह चुका था, लेकिन 75 वर्ष की अवस्था में वह फ्रांस की रक्षा करने में असमर्थ था। 25 मई तक बोलोन और 27 मई को कैले (Calaid) का पतन हो गया और जर्मन सेनाएँ डंकर्क (Dunkirk) के बंदरगाह के करीब पहुँच गई। 28 मई को बेल्जियम के शासक लियोपोल्ड ने आत्मसमर्पण कर युद्ध बंद कर दिया था। इससे मित्र राष्ट्रों की उत्तरी सेना का वामपार्श्व, शत्रु आक्रमण के लिए खुल गया और उनकी पराजय सुनिश्चित हो गई। 5 जून को जर्मनी ने फ्रांस के विरूद्ध पुनः आक्रमण किया। जर्मन टैंकों और हवाई जहाजों के हमलों के सामने फ्रांस की सेनाएँ अधिक समय तक नहीं टिक सकी। फलस्वरूप 10 जून को फ्रांस की सरकार पेरिस छोड़कर तूर (Tours) चली गयी।

इटली का युद्ध में प्रवेश

मई, 1940 के अन्त तक इटली की सैनिक तैयारी पूरी हो चुकी थी और मुसोलिनी ने हिटलर को सूचित किया कि वह जून के आरंभ में युद्ध की घोषणा कर देगा। 10 जून को इटली ने फ्रांस तथा ब्रिटेन के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस घोषणा से फ्रांस का मनोबल समाप्त प्रायः हो गया। इटली की सीमा पर लगी हुई फ्रांसीसी सेनाओं को पेरिस की रक्षा के लिए भेजना सम्भव नहीं था। 14 जून को जर्मन सेनाएँ शान्तिपूर्वक पेरिस पहुँच गयी क्योंकि फ्रांस की सरकार ने अपने सैनिकों को वहाँ से हटा लिया था। 16 जून को प्रधानमंत्री रेनां ने त्यागपत्र दे दिया, उसके स्थान पर मार्शल पेतां प्रधानमंत्री बना। 22 जून को फ्रांस तथा जर्मनी के बीच युद्ध विराम संधि हुई। युद्ध विराम की शर्तों के अनुसार फ्रांस को अपना आधे से अधिक भूभाग, जिसमें उसका अधिकांश औद्योगिक क्षेत्र तथा अटलांटिक सागर तटीय समस्त बंदरगाह सम्मिलित थे, जर्मनी को देने पड़े। 23 जून, 1940 को इटली के साथ भी युद्ध विराम संधि हुई जिसके अनुसार उसने इटली द्वारा जीता गया क्षेत्र देने तथा उसके साथ लगे 31 मील लम्बे क्षेत्र, तुलो, ट्यूनीशिया, कार्सिका, अल्जीरिया में अपने प्रमुख ठिकानों को विसैन्यीकरण करने की स्वीक ति दे दी। किंतु बहुत से फ्रांसीसी जर्मनी के विरूद्ध युद्ध जारी रखना चाहते थे। अतः जनरल डिगाल के नेत त्व में कुछ फ्रांसीसी देशभक्त इंग्लैण्ड पहुँचे तथा वहाँ आजाद फ्रांसीसी सेना और आजाद फ्रांसीसी सरकार गठित की गई। इस आजाद फ्रांसीसी सरकार ने जर्मनी के विरूद्ध अपना युद्ध जारी रखा।

ब्रिटेन पर जर्मनी का आक्रमण

फ्रांस की पराजय से ब्रिटेन की स्थिति कमजोर हो गयी। उसके सभी सैनिक हथियार और जहाजी बेड़े जर्मनी को प्राप्त हो चुके थे। जर्मनी के पास अब नार्वे से लेकर दक्षिणी स्पेन तक समस्त समुद्री भाग आ चुका था। इससे प्रोत्साहित होकर 18 जून, 1940 को जर्मनी ने इंग्लैण्ड पर भीषण आक्रमण कर दिया। पाँच माह तक जर्मन हवाई जहाज इंग्लैण्ड पर बम बर्षा करते रहे। अकेले लंदन पर पचास बम गिराये गये। किंतु चर्चिल की सरकार ने बड़े साहस से जर्मनी का मुकाबला किया तथा जर्मनी के तीन हजार से अधिक बम वर्षक विमानों को मार गिराया। 4 जून, 1940 को हाउस ऑफ कॉमन्स में बोलते हुए चर्चिल ने कहा था-"यद्यपि यूरोप के विस्त त क्षेत्र और अनेक प्राचीन एवं प्रतिष्ठित राज्य कुत्सित नात्सी शासनतंत्र की अधीनता में चले गये हैं-परंतु हम न तो झुकेंगे और न ही असफल होंगे। हम अंत तक संघर्ष करते रहेंगे। हम फ्रांस में लड़ेंगे, समुद्रों एवं महासागरों पर लड़ेंगे, हम बढ़ते हुए आत्मविश्वास एवं बढ़ती हुई शक्ति से हवाई युद्ध करेंगे, अपने द्वीप की रक्षा अवश्य करेंगे, चाहे उसके लिए कितनी ही कीमत चुकानी पड़े-हम कभी भी आत्मसमर्पण नहीं करेंगे।" चर्चिल ने केवल जोशीले भाषण ही नहीं दिये, वरन् इंग्लैण्ड की रक्षा के लिए हर संभव तैयारी की। अतः धीरे-धीरे हिटलर ने अपने आक्रमणों को धीमा कर दिया। दूसरी ओर

इटली ने सोमालीलैण्ड, केनिया और सूडान पर अधिकार कर लिया। इटली ने उत्तरी मिस्त्र पर भी आक्रमण किया और तत्पश्चात् यूनान पर चढ़ाई की। यूनान ने अन्य देशों की सहायता से इटालियन सेना को यूनान से बाहर निकाल दिया। इस पर जर्मनी ने इटली की सहायता की, जिससे अप्रैल, 1941 में यूनान पर जर्मनी का अधिकार हो गया। रूस भी बाल्टिक क्षेत्र पर अधिकार करता जा रहा था। जापान भी इस अवसर का लाभ उठाकर सुदूरपूर्व में "व हत्तर पूर्वी एशिया" का निर्माण करना चाहता था। इसलिये उसने जर्मनी तथा इटली से समझौता करके सितम्बर, 1941 में धुरी राष्ट्रों के साथ युद्ध में प्रवेश किया। दो माह में हंगरी, रूमानिया और स्लोवाकिया भी धुरी राष्ट्रों के साथ सम्मिलित हो गये। फरवरी, 1941 में जर्मन सेनाओं ने लीबिया से ब्रिटिश फौजों को खदेड़ दिया। 9 अप्रैल, 1941 को यूगोस्लाविया पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। जर्मनी ने ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिए इराक, ईरान और सीरिया पर भी आक्रमण किया किंतु जर्मनी को ब्रिटिश शक्ति के समक्ष पराजित होना पड़ा। इससे अब जर्मनी के लिए पूर्वी रास्ता बंद हो गया।

जर्मनी का रूस पर आक्रमण

यद्यपि रूस तथा जर्मनी के बीच अगस्त, 1939 में अनाक्रमण समझौता हो चुका था। किंतु हिटलर की महत्त्वाकांक्षा के सम्मुख संधि तथा समझौतों का कोई औचित्य नहीं था। वह रूस को पराजित कर पूर्वी सीमा के खतरे को समाप्त करना चाहता था। रूसी सेनाओं ने एस्टोनिया, लेटेविया और लिथुआनिया पर अधिकार कर लिया परंतु जर्मनी ने इसका विरोध नहीं किया। किंतु इसके पश्चात् दोनों देशों ने बाल्कन क्षेत्र में अपना प्रभाव बढ़ाने की चेष्टा की, जिससे दोनों देशों के बीच प्रतिद्वन्द्विता आरंभ हो गई। अतः 22 जून, 1941 को जर्मन सेना ने रूस पर आक्रमण कर यूक्रेन, एस्टोनिया, लेटेविया, लिथुआनिया, फिनलैण्ड और पूर्वी पोलैण्ड पर रूसी सेनाओं को हटा कर अधिकार कर लिया। जर्मन सेनाएँ लेनिनग्राड के निकट तक पहुँच गयी। किंतु हिटलर अपने प्रमुख लक्ष्य अर्थात् मास्को पर अधिकार करने और रूसी सेना का विनाश करने में असफल रहा। अपनी विशाल, यंत्रीक त एवं कवचित सेनाओं तथा वायुसेना की प्रबल शक्ति का प्रयोग करने के बाद भी जर्मनी, छः माह में सोवियत संघ को समाप्त नहीं कर सका। मास्को पर आक्रमण करके जर्मनी ने भूल की। रूस के प्रत्येक नागरिक ने जर्मनी के विरूद्ध संघर्ष में भाग लिया था। साथ ही शीत ऋतु के आरंभ होने से जर्मनी का आगे बढ़ना कठिन हो गया। रूसी सेना अध्यक्ष मार्शल झुकोव के प्रत्याक्रमण के फलस्वरूप जर्मन सेना को मास्को निकटवर्ती क्षेत्र से पीछे हटना पड़ा। इस प्रकार जर्मनी का प्रमुख लक्ष्य मास्को पर अधिकार पूरा न हो सका किंतु उसे रूस की 5 लाख वर्ग मील भूमि अवश्य प्राप्त हो गयी।

जापान पर अमेरिका का आक्रमण

जापान पहले से ही एशिया और प्रशांत महासागर में अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयास कर रहा था। आरंभ में उसे कुछ सफलता भी प्राप्त हुई थी। जर्मनी के साथ मिलकर जापान ने रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का निर्माण किया था। जर्मनी चाहता था कि जापान उसके साथ युद्ध में सम्मिलित हो। फ्रांस के पतन से लाभ उठाकर जापान ने फ्रेंच इण्डो चीन में सैनिक एवं नाविक अड्डे प्राप्त कर शीघ्र ही उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। डच ईस्ट इण्डीज की ओर भी उसका रूख आक्रामक था। जापान की इस गतिविधि से इंग्लैण्ड तथा अमेरिका चौकन्ने हो गये। अमेरिका ने जापान को चेतावनी दी कि यदि इन द्वीपों में हस्तक्षेप किया गया, तो प्रशान्त महासागर की शांति के लिए संकट उत्पन्न हो सकता है। इसका उत्तर जापान ने जर्मनी तथा इटली से सितम्बर, 1940 में एक सैनिक संधि करके दिया। उसने देखा कि रूस हार रहा है, इंग्लैण्ड एकाकी एवं निर्बल है और संयुक्त राज्य संधि युद्ध के लिए तैयार नहीं है। प्रशांत महासागर में अपने एकमात्र बचे हुए प्रतिद्वन्द्वी संयुक्त राज्य को चुनौती देने का यही सुअवसर दिखाई दिया। अतः 7 दिसम्बर, 1941 को युद्ध की घोषणा किये बिना, अचानक प्रशान्त महासागर में हवाई द्वीप समूह में स्थित पर्ल हार्बर पर हवाई जहाजों तथा पनडुब्बियों से आक्रमण करके, उसका बहुत बड़ा भाग नष्ट कर दिया। इस आक्रमण के फलस्वरूप 19 नौसैनिक जहाज, जिनमें 8 बड़े जंगी जहाज भी सम्मिलित थे, डुबा दिये गये अथवा बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गये, 177 विमान नष्ट हो गये, 2343 सैनिक मारे गये और 2,000 से अधिक घायल हुए। संयुक्त राज्य को इससे बड़ी हार कभी नहीं खानी पड़ी थी। इस घटना के दूसरे दिन 8 दिसम्बर को अमेरिका और ईग्लैण्ड ने जापान के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। तीन दिन बाद जर्मनी तथा इटली ने संयुक्त राज्य के विरूद्ध युद्ध की घोषणा की और इस प्रकार युद्ध ने एक वास्तविक विश्व युद्ध का रूप धारण कर लिया।

जापान का सैनिक अभियान (दिसम्बर 1941 - मई 1942)

जापान बहुत पहले से ही युद्ध की तैयारी कर रहा था और जर्मनी की तरह उसे भी आरंभ में बड़ी सफलता प्राप्त हुई। पर्ल हार्बर पर आक्रमण करने के बाद वह दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा प्रशांत महासागर में यूरोपीय साम्राज्य तथा अमेरिकी द्वीपों की ओर तीव्र गति से बढ़ा और दिसम्बर, 1941 के अंत तक उसने स्याम पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों से हांगकांग और अमेरिका से ग्वाम तथा वेक आइलैण्ड नामक द्वीप एवं अड्डे छीन लिये और जनवरी, 1942 में फिलीपीन द्वीप समूह के अधिकांश क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। फरवरी के मध्य तक मलाया प्रायद्वीप में स्थित इंग्लैण्ड का नाविक अड्डा, सिंगापुर भी जापान के अधिकार में चला गया। मार्च के अंत तक उसने बर्मा विजय करके चीन को युद्ध सामग्री भेजने वाले मार्ग बंद कर दिये। मार्च में ही उसने हॉलैण्ड, अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा आस्ट्रेलिया के सम्मिलित बेड़े को परास्त कर जावा में अपनी सेना भेजी और कुछ सप्ताह में ही समस्त डच ईस्ट इण्डीज पर अधिकार करके आस्ट्रेलिया तक बढ़ गया। मई, 1942 में जापान ने फिलीपीन में बचे हुए अड्डे, वटान और कोरेगिडार भी छीन लिए। इस प्रकार 6 माह के भीतर उसने पूर्वी एशिया तथा प्रशांत महासागर से यूरोपीय तथा अमेरिकी साम्राज्य नष्ट कर दिया।

रूसी मोर्चा

रूस में जर्मन सेनाएँ काफी संघर्ष के पश्चात् भी आगे नहीं बढ़ सकी। 1941 की शीत ऋतु में रूसियों ने आक्रमण कर जर्मन सेनाओं को पीछे हटाने में सफलता प्राप्त की। जर्मन सेनाएँ मास्को पर अधिकार तो नहीं कर सकी तथापि उसने शीघ्र ही क्रीमिया को रौंद डाला और सेबेस्टोपोल पर अधिकार कर लिया। ग्रीष्म ऋतु में एक जर्मन सेना तो दक्षिण में काकेशस प्रदेश की ओर बढ़ी, जिसने उसके सम द्ध तेल प्रदेश पर अधिकार कर लिया तथा दूसरी सेना पूर्व की ओर वोल्गा नदी पर स्थित स्टालिनग्राड की दिशा में बढ़ी, जहाँ वह अगस्त के अंत में पहुँची। इस प्रकार मार्च, 1942 तक जर्मन सेनाएँ समस्त पश्चिमी प्रदेश पर, दक्षिण में यूक्रेन और क्रीमिया पर तथा पूर्व में काकेशस प्रदेश के भीतर तक अधिकार कर चुकी थी। पूर्ण सफलता अब तीन मुख्य स्थानों लेनिनग्राड, मास्को तथा स्टालिनग्राड पर अधिकार हो जाने पर निर्भर थी किंतु रूसी लोग इन स्थानों की प्राणप्रण से रक्षा करने में लगे हुए थे। अगस्त-सितम्बर में स्टालिन ने अपनी सुरक्षा व्यवस्था का पुनर्गठन किया और रूसी सेनाओं एवं नागरिकों को नये उत्साह से शत्रु को रोकने की प्रेरणा दी। चर्चिल ने अगस्त, 1942 में रूस जाकर स्टालिन को मित्रराष्ट्रों की योजना समझायी और उसकी स्वीक ति प्राप्त कर ली। 19 नवम्बर, 1942 को रूसी सेनाओं ने जर्मनी के विरूद्ध प्रबल प्रत्याक्रमण आरंभ कर दिया और तीव्र गति से आगे बढ़कर, पाँच दिन में बोल्गा और डान नदियों के बीच 22 जर्मन डिवीजनों को घेर लिया। इससे जर्मनी की सैनिक शक्ति तथा हिटलर की प्रतिष्ठा को गंभीर आघार पहुँचा। इसके पश्चात् जर्मनी की रूस पर अधिकार करने की आशा सदा के लिए समाप्त हो गई।

महायुद्ध का नया मोड़-अफ्रीका व यूरोप में धूरी राष्ट्रों की पराजय

वर्ष 1942 के पूर्वार्द्ध तक यूरोप, अफ्रीका और पूर्वी एशिया में धुरी राष्ट्र का विजय अभियान सफलतापूर्वक चला और ब्रिटेन, अमेरिका तथा रूस को सभी स्थानों पर पीछे हटना पड़ा। किंतु 1942 के अंत में धुरी राष्ट्रों की प्रगति रूक गयी। नवम्बर, 1942 में ब्रिटेन व अमेरिका की सेनाओं ने संयुक्त रूप से उत्तरी अफ्रीका से जर्मन और इटालियन सेनाओं को खदेड़ना आरंभ कर दिया और अंत में उत्तरी अफ्रीका पर मित्रराष्ट्रों का अधिकार हो गया। इस विजय में जनरल मांटगुमरी और आइजनहावर ने प्रमुख योग्यता का परिचय दिया।

इटली की पराजय

1943 में मित्रराष्ट्रों की स्थिति में सुधार हुआ। 10 जुलाई, 1943 को मित्र राष्ट्रों ने सिसली पर आक्रमण किया। इटली की सेनाएँ काफी कमजोर थी, उन्हें प्रत्येक स्थान पर हारना पड़ा। मुसोलिनी ने हिटलर से सहायता माँगी किंतु इस समय जर्मन सेना रूस में पराजित हो रही थी, अतः हिटलर कोई सहायता नही भिजवा सका। इस समय इटली का जनमत मुसोलिनी के विरूद्ध हो रहा था। 18 जुलाई को मित्रराष्ट्रों की संयुक्त सेना ने इटली पर आक्रमण किया। भयंकर संघर्ष के बाद 23 जुलाई को मुसोलिनी को गिरफ्तार कर लिया। फासिस्टवाद गैर कानूनी घोषित किया गया और वहाँ नयी सरकार स्थापित की गई। 3 दिसम्बर, 1943 को इटली ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस बीच जर्मन छाताधारी सैनिकों ने मुसोलिनी को कैद से छुड़ा लिया।

मुसोलिनी ने जर्मनी की सहायता से पुनः इटली को अपने प्रभाव में लाने का प्रयास किया किंतु असफल रहा। अन्ततः 4 जून, 1944 को रोम पर मित्रराष्ट्रों का अधिकार हो गया।

जर्मनी की पराजय

जर्मनी की पराजय स्टालिनग्राड से आरंभ हुई। रूसी सेना ने जर्मन सेना को चारों ओर से घेर लिया। फरवरी, 1943 तक एक लाख से अधिक जर्मन सैनिक मारे गये। इससे रूस में यह एक नई स्फूर्ति पैदा हुई। मास्को का खतरा टल गया था। ग्रीष्म काल में रूस ने जर्मन सेना को पराजित किया। रूस के इतिहास में एक बड़ी घटना मानी जाती है। रूस में इस युद्ध को इतिहास का सबसे महान युद्ध कहा गया है। लगभग दो माह के संघर्ष में 1 लाख 80 हजार जर्मन सैनिक मारे गये। जर्मनी के करीब 3000 हवाई जहाज नष्ट हो गये। 20 हजार सैनिक-वाहन एवं अन्य शस्त्रास्त्र नष्ट हो गये और 1300 टैंक नष्ट हो गये। रूसी सेनाएँ अब पोलैण्ड पहुँची, वहाँ नात्सी सेना को नष्ट कर दिया और रूमानिया, फिनलैण्ड, बल्गेरिया को जीता। अन्त में 8 मार्च, 1944 को दो हजार अमेरिकन बमवर्षकों ने बर्लिन पर बमबारी की। फ्रांस के उत्तर-पश्चिम समुद्र के किनारे पर मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ उतारी गई। दिसम्बर, 1944 तक तीन लाख सेना फ्रांस पहुँच गई। फ्रांस की सीमा पर जर्मन किलेबंदी को ध्वस्त कर दिया। 15 अगस्त 1944 को फ्रांस के पूर्वी भूमध्य सागरीय तट पर मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ उतारी गई, जिन्होंने तुलो और मारसेली के बन्दरगाहों पर अधिकार कर लिया। 25 अगस्त को जर्मन अधिक त पेरिस का भी पतन हो गया और जर्मन सेनाओं ने आत्मसमर्पण कर दिया।

फ्रांस को मुक्त कराने के पश्चात् मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने मध्य यूरोप में जर्मनी के अधीन राज्यों को मुक्त कराया। रूस ने जिन क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की थी और बाद में जिन पर जर्मनी का अधिकार हो गया था, अब रूस ने पुनः उन पर अधिकार कर लिया। बाल्कन प्रायद्वीप के लगभग सभी राज्य मित्रराष्ट्रों के पक्ष में हो गये। नवम्बर, 1944 में मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने हॉलैण्ड की तरफ से जर्मनी में प्रवेश किया। जब मित्रराष्ट्रों की सेना राइन नदी पार कर गयी, तब तो जर्मनी की अन्तिम घड़ी दिखाई देने लगी। जर्मन जनता हिटलर के विरूद्ध हो गई और उसकी हत्या का षडयंत्र रचा जाने लगा। इसी बीच रूसी सेनाएँ पूर्वी क्षेत्र में जर्मनी के अधीन राज्यों को मुक्त करवाती हुई बर्लिन की ओर बढ़ी। 22 अप्रैल, 1945 को रूस ने बर्लिन पर आक्रमण किया। ब्रिटेन, फ्रांस तथा अमेरिका की फौजें भी वहाँ पहुँच गयी। अंत में 2 मई, 1945 को बर्लिन का पतन हो गया तथा 4 मई को जर्मन सेनाओं ने आत्मसमर्पण कर दिया। हिटलर ने अपनी पत्नी इवाब्रान सहित आत्महत्या कर ली और इटली के देशभक्तों ने मुसोलिनी और उसकी पत्नी को गोली से उड़ा दिया। 7 मई, 1945 को संधि पर हस्ताक्षर करने के पश्चात् 8 मई को यूरोप में युद्ध बन्द हो गया।

जापान की पराजय और विश्व युद्ध का अंत

अब केवल जापान ही ऐसा राष्ट्र बचा था, जिसने आत्मसमर्पण नहीं किया था। अतः जर्मनी की पराजय के पश्चात् जापान की ओर मित्रराष्ट्रों का ध्यान जाना स्वाभाविक था। मित्रराष्ट्र यूरोप में युद्धरत रहते हुए भी प्रशान्त महासागर में जापान द्वारा अधिक त क्षेत्रों पर पुनः अधिकार करने का प्रयत्न करते रहे। अब ब्रिटिश फौजें सुदूरपूर्व में तेजी से बढ़ने लगी और उन्होंने बर्मा को मुक्त करवा लिया। तत्पश्चात् मलाया, फिलिपीन व सिंगापुर मुक्त कराये गये। अन्त में जापान पर भीषण आक्रमण हुआ। 26 जुलाई, 1945 को पोट्सडम सम्मेलन में मित्रराष्ट्रों ने जापान से बिना शर्त आत्मसमर्पण की माँग की किंतु जापान ने इसे स्वीकार नहीं किया। फलतः 6 अगस्त, 1945 को जापान के सम द्ध नगर हिरोशिमा पर अमेरिका द्वारा पहला अणुबम गिराया गया। इसके तीन दिन पश्चात् 9 अगस्त को नागासाकी नगर पर दूसरा अणुबम गिराया गया। अणुबमों के प्रलयंकारी विनाश से भयभीत होकर जापान ने 10 अगस्त को 'पोट्सडम घोषणा' की शर्तों के आधार पर आत्मसमर्पण करने का प्रस्ताव भेजा। 14 अगस्त को युद्ध बन्द हो गया। इस प्रकार 6 वर्ष के बाद भयंकर व विनाशकारी द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव एवं परिणाम

द्वितीय विश्व युद्ध लगभग 6 वर्ष तक चला। यह मानव इतिहास का सर्वाधिक क्रूर, भयानक और विनाशकारी युद्ध था तथा इतना व्यापक और प्रभावकारी था कि उसके साथ ही एक युग का अन्त हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् यूरोप के इतिहास में अनेक नई प्रव त्तियों का उदय हुआ। फ्रांस की राज्य क्रांति के पश्चात् लोकतंत्र शासन और राष्ट्रीयता की जिन नयी प्रव त्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था, वे कालान्तर प्रायः सफल रही थी। किंतु विश्व युद्ध के पश्चात् उनमें कई प्रव त्तियाँ पुरानी पड़ गयी थी

और मानव समाज उनसे बहुत आगे बढ़ गया। राष्ट्रीयता की भावना क्षीण होने लगी थी, उसका स्थान अब वे नई विचारधाराएँ लेने लगी थी, जो समाज को एक नये रूप में संगठित करना चाहती थी। व्यावसायिक क्रान्ति तथा वैज्ञानिक उन्नति के कारण जनसाधारण में जो एक नयी जाग ति, नई चेतना उत्पन्न हो गयी थी उसने समाज के आर्थिक संगठन के प्रश्न को बहुत महत्त्वपूर्ण बना दिया। इस युद्ध के विभिन्न प्रभावों और परिणामों का हम निम्नलिखित शीर्षकों में अध्ययन कर सकते हैं-

1. **परमाणु युग का सूत्रपातः** संयुक्त राज्य अमेरिका के एक वायुयान बी-29 ने 6 अगस्त, 1945 को हिरोशिमा पर अणुबम गिराया। अणुबम के विस्फोट से हिरोशिमा की 90 प्रतिशत ईमारतें नष्ट हो गयी एवं लगभग 7,50,000 व्यक्ति मारे गये। इस महासंहार के साथ परमाणु युग का सूत्रपात हुआ। विश्व के सभी वैज्ञानिकों ने अनुभव किया कि अणुशक्ति के कारण मनुष्य को अतिमानुषी शक्ति मिल गयी है। एलबर्ट शिवट्‌जर ने 1954 में नोबल पुरस्कार प्राप्त करते समय कहा था, "मानव अणुशक्ति के कारण अतिमानुषी बन गया है, परंतु उसकी बुद्धि उस अतिमानुषी मान तक उन्नत नहीं हुई, जिस मान तक उसे शक्ति प्राप्त हुई है।" इससे स्पष्ट है कि परमाणु युग के साथ मानव सभ्यता पर विनाश की काली घटा छा गयी। आजकल एक महाद्वीपों से दूसरे महाद्वीपों तक पहुँचने वाले और शब्द की रफ्ताार से भी तेज रफ्तार से उड़ने वाले जेट विमान, नाभिकीय बम फेंकने वाले प्रक्षेपास्त्र और परमाणु ऊर्जा से चलने वाले विमान तथा पनडुब्बियाँ बन चुके हैं। यदि इन नवीन हथियारों पर नियंत्रण स्थापित नहीं किया गया तो मानव सभ्यता पर संकट के बादल हमेशा छाये रहेंगे।
2. **दो विचारधाराओं में विभाजित समाजः** दूसरे विश्व युद्ध के बाद यूरोप के इतिहास में अनेक नई प्रव त्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। राष्ट्रीयता की भावना अब कुछ क्षीण होने लगी थी, उसका स्थान अब वे नई विचारधाराएँ लेने लगीं, जो समाज को एक नये रूप में संगठित करना चाहती थी। इस समय का समाज दो प्रमुख विचारधाराओं में विभाजित था। प्रथम साम्यवाद या कम्युनिज्म तथा दूसरा लोकतंत्रवाद या डेमोक्रेसी। साम्यवादी चाहते थे कि उत्पत्ति के साधनों पर कुछ ही व्यक्तियों का स्वामित्व न रहे और वे समाज की सम्पत्ति हो जायें तथा कोई भी व्यक्ति श्रम किये बिना आमदनी प्राप्त न कर सके। समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव मिट जाये, विविध श्रेणियों तथा वर्गों का अन्त हो जाये और सब व्यवसाय राज्य के अधिकार में आ जायें। इसके विपरीत लोकतंत्रवादी यह स्वीकार करते हैं कि समाज में छोटे-बड़े का भेद दूर होना चाहिए पर उनका विचार था कि सम्पत्ति की उत्पत्ति, विनिमय और वितरण पर राज्य कानूनों द्वारा इस प्रकार नियंत्रण स्थापित होना चाहिए जिससे- पूँजीपति और मजदूर, जमींदार और किसान-सब में समन्वय बना रहे और सबको सम्पत्ति का यथोचित भाग मिलता रहे। इन दोनों विचारधाराओं ने प्रत्येक देश व राष्ट्र की जनता को दो प थक् वर्गों में विभाजित कर दिया। फ्रांस के साम्यवादी अपने विचारों के कारण रूस के साम्यवादियों के अधिक समीप थे, अपेक्षाक त फ्रांस के ही उन लोगों के, जो साम्यवादी नहीं थे। विश्व युद्ध के समय इंग्लैण्ड और फ्रांस में बहुत से लोगों ने अपनी राष्ट्रीय सरकारों के विरूद्ध शत्रु देशों की सहायता करने में संकोच नहीं किया, कारण यह है कि उनकी विचारधारा वही थी, जिसके विरूद्ध उनकी राष्ट्रीय सरकार युद्ध कर रही थी। राष्ट्रभक्ति, देश प्रेम और मात भूमि के लिए मर मिटने की भावना का स्थान अब विचारधारा के प्रति भक्ति लेने लगी थी।
3. **राष्ट्रीय भावना की निर्बलताः** वैज्ञानिक प्रगति द्वारा मनुष्य ने देश और काल पर अद्‌भुत विजय प्राप्त कर ली थी। भाषा, धर्म, नस्ल व संस्क ति आदि के कारण मानव समाज में जो भेद हैं, उनका महत्त्व अब इस वैज्ञानिक उन्नति के कारण कम हो गया है। किसी समय विविध कबीले, फिरके, गण आदि एक दूसरे से अलग होते थे। बाद में उनके भेद शिथिल पड़ते गये और विविध कबीले व बिरादरियाँ एक 'सूत्र में संगठित होकर राष्ट्र के हित में एक बड़ा संगठन बनाने में सफल हुई। ये राष्ट्र बड़े संगठनों में संगठित होने लगे। यही कारण है कि विश्व युद्ध के बाद यूरोप में यह प्रव त्ति पैदा हुई कि साम्यवादी विचारधारा के अनुयायी पूर्वी यूरोप के राज्य रूस की संरक्षा में अपना संगठन बना लें। इसी प्रकार लोकतंत्र के अनुयायी पश्चिमी यूरोप के राज्यों ने आवश्यकता महसूस की कि वे साम्यवाद से बचने के लिए संगठित हो जाये।
4. **सर्वसत्तावादी शासन की स्थापना पर बलः** यद्यपि विश्व युद्ध में प्रजातंत्रीय व्यवस्था ने अपनी विजय स्थापित कर ली थी परन्तु वास्तव में इस युद्ध ने प्रजातंत्रीय राज्यों को निर्बल तथा खोखला साबित कर दिया था। फ्रांस तथा ब्रिटेन विजयी होते हुए भी युद्ध के पश्चात् अपने को आर्थिक संकट से नहीं बचा सके थे। अतः यूरोप के देशों में अब लोकतंत्र का स्थान सर्वसत्तावादी शासन (Totalitarianism) लेने लगा था। विविध विचारधाराओं के कारण राष्ट्रीय सरकारों की स्थिति अब कहीं भी सुरक्षित नहीं थी क्योंकि प्रायः प्रत्येक देश में ऐसी राजनीतिक पार्टियाँ स्थापित हो गयी थी, जो राज्य की सुरक्षा की अपेक्षा किसी विचारधारा को अधिक महत्त्व देती थी, अतः राष्ट्रीय सरकारों के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वे इन राजनीतिक दलों पर अनेक प्रकार की पाबंदियाँ लगायें और अपने हाथों में इतने अधिकार रखें

जिससे इन राष्ट्र विरोधी शक्तियों का भली-भांति दमन किया जा सके। यही कारण है कि ब्रिटेन जैसे स्वतंत्रता प्रिय देश को भी कम्युनिस्ट पार्टी के विरूद्ध अनेक कार्यवाहियाँ करने की आवश्यकता महसूस हुई। अतः अब विचार स्वातंत्र्य और सच्चे लोकशासन का भी लोप होने लगा।

5. **यूरोपीय प्रभुत्व का अन्तः** द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व तक यूरोप, विश्व इतिहास का निर्माता था किंतु इस युद्ध के बाद यूरोप के राष्ट्र आर्थिक और राजनीतिक द ष्टि से अपाहिज हो चुके थे। विश्व समाज को अनुशासित करने वाला यूरोप अब 'समस्या प्रधान' यूरोप बन गया। विश्व युद्ध के बाद जर्मनी पूर्णतः पंगु हो चुका था, इटली सर्वनाश के कगार पर खड़ा था तथा ब्रिटेन तथा फ्रांस की स्थिति त तीय श्रेणी के राष्ट्रों जैसी हो गयी थी। आर्थिक द ष्टि से पंगु इन देशों में भोजन, वस्त्र तथा ईंधन की अत्यन्त कमी हो गयी थी और लाखों लोग बेघरबार तथा बेरोजगार हो गये थे। यह समस्या इतनी विकट थी, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि भागीरथ प्रयत्नों के उपरान्त भी युद्ध समाप्ति के दस वर्ष बाद यूरोप में कोई 20 लाख बेघरबार व्यक्ति मौजूद थे। परिणामस्वरूप विश्व का नेत त्व दो महाशक्तियों-संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस के हाथ में चला गया। विश्व के छोटे-छोटे राष्ट्र तेजी से उनके प्रभाव क्षेत्रों में बँटने लगे। इस प्रकार विश्व राजनीति का नेत त्व इन दो महाशक्तियों के हाथों में चला गया था। रूस साम्यवादी विचारधारा को पोषक बन गया और अमेरिका लोकतंत्र एवं पूँजीवादी आकांक्षाओं के लिए सहारा बन गया।

6. **शीत युद्ध का आरम्भः** द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् विश्व के राजनीतिज्ञों व नागरिकों को यह आशा थी कि संसार में अब दीर्घकालीन शान्ति स्थापित हो जायेगी और विजयी मित्रराष्ट्र युद्धकालीन मित्रता एवं सहयेाग को बनाये रखकर युद्धोत्तरकालीन जटिल समस्याओं को भी आपसी सूझबूझ से सुलझा लेंगे। किंतु लोगों को यह आशा फलीभूत न हो सकी। युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर रूस और अमेरिका जैसी दो महाशक्तियों का उदय हुआ। ये दोनों दो अलग-अलग विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते थे। अतः दोनों देशों के बीच विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में शीघ्र ही तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गया। इन मतभेदों ने इतना तनाव और वैमनस्य उत्पन्न कर दिया कि सशस्त्र संघर्ष के न होते हुए भी दोनों के बीच आरोपों, प्रत्यारोपों एवं परस्पर विरोधी राजनैतिक प्रचार का तुमुल युद्ध आरंभ हो गया जो अनेक वर्षों तक चलता रहा। यही 'शीतयुद्ध' कहलाता है। इस प्रकार परस्पर विरोधी राष्ट्रों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध तो बने रहे और कोई प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं हुआ, किन्तु उनका पारस्परिक व्यवहार शत्रुतापूर्ण बना रहा। इन देशों के समाचार-पत्रों में आरोप-प्रत्यारोप 1991 ई० तक लगाये जाते रहे हैं।

7. **गुट निरपेक्षताः** द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त जब नये सम्प्रभु राष्ट्रों का जन्म हुआ तो उनमें से अधिकांश ने अपने आप को शीत युद्ध की खींचतान से निरपेक्ष रखने का निर्णय लिया। इस क्षेत्र में भारत ने मार्गदर्शन किया और गुट-निरपेक्षता की आवाज बुलंद की। भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने 7 दिसम्बर, 1946 में एक रेडियो प्रसारण में कहा था 'जहाँ तक सम्भव हो हमें परस्पर विरोधी गुटों की राजनीति से दूर रहना चाहिए, जिसके कारण ही पहले दो विश्व युद्ध लड़े जा चुके हैं।' उन्होंने इसे भारत की विदेश नीति का आधार बनाया और गुलामी की जंजीरों से मुक्त होने वाले एशियाई और अफ्रीकी देशों को एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति बनाने का आह्वान किया। आज लगभग 102 देश गुट-निरपेक्ष आन्दोलन से जुड़े हुए हैं। गुटों से अलग रहने वाले और उपनिवेशवाद के खिलाफ जूझने वाले राष्ट्रों को एक मंच पर लाने में गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन सफल हुए हैं।

8. **प्रादेशिक संगठनों का विकासः** संयुक्त राष्ट्र संघ भी अमेरिका और रूस के बीच चलने वाले शीत युद्ध का अखाड़ा बन गया था। परिणामस्वरूप दोनों पक्षों अपनी भावी सुरक्षा के लिए प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की ओर अग्रसर हुए। कुछ देश साम्यवाद के प्रसार को रोकने के उद्देश्य से अमेरिका के नेत त्व में संगठित हुए, तो दूसरी ओर रूस ने अपने और पश्चिमी राष्ट्रों के बीच साम्यवादी सरकारों की स्थापना करके सुरक्षा व्यवस्था को सुद ढ़ बनाने का प्रयत्न किया। पश्चिमी राष्ट्रों के सुरक्षा संगठनों में, उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (NATO), दक्षिणी पूर्वी एशिया संधि संगठन (SEATO), बगदाद पेक्ट उल्लेखनीय हैं। पामर एवं परकिन्स के मतानुसार 'नाटो' एक युगान्तकारी घटना थी। साम्यवादी सुरक्षा सुगठनों में 'वारसा पेक्ट' प्रमुख रहा है।

9. **एशिया एवं अफ्रीका का जागरण एवं नये स्वतंत्र राज्यों का उदयः** दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् यूरोपीय उपनिवेशों में राष्ट्रीयता की भावनाएँ प्रज्ज्वलित हुई। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय जागरण ने यूरोपीय राष्ट्रों के प्रभाव को भी समाप्त कर दिया। परिस्थितियों से विवश होकर महायुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीति में परिवर्तन किया जिससे

भारत, बर्मा, मलाया, लंका, मिस्र आदि विविध देश ब्रिटेन के आधिपत्य से मुक्त हो गये। फ्रेंच हिन्द-चीन में फ्रांसीसी आधिपत्य के अनेक देशों को भी स्वतंत्रता प्राप्त हुई है। कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम, आदि देश स्वतंत्र हो गये। हॉलैण्ड के उपनिवेशों-जावा, सुमात्रा, बोर्निया आदि ने हिन्देशिया नामक संघ राज्य की स्थापना की और हॉलैण्ड से स्वतंत्र हो गये। इस प्रकार, दूसरे विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में धीरे-धीरे यूरोप के औपनिवेशिक साम्राज्य का सूर्य अस्त हो गया। वस्तुतः 1919 के बाद से ही एशिया और अफ्रीका में यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरूद्ध जो आंदोलन उठा था, उसको दूसरे महायुद्ध के बाद शानदार सफलता मिली और यूरोपीय साम्राज्य का पतन हो गया।

10. **संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापनाः** प्रत्येक युद्ध के पश्चात् लोगों में शान्ति स्थापित करने का विचार उत्पन्न होता है। अतः प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् शांति स्थापित करने के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई थी। इसी तरह द्वितीय विश्व युद्ध के भीषण ताण्डव ने विचारशील राजनीतिज्ञों को मानव जाति की रक्षा के लिए शान्ति को सुरक्षित बनाये रखने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की तीव्र आवश्यकता महसूस करायी। युद्धकाल में ही इसकी स्थापना के प्रयत्न आरंभ हो चुके थे। अक्टूबर, 1943 में मास्को सम्मेलन में सामान्य सुरक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने का विचार स्वीकार किया गया था। तत्पश्चात् विभिन्न बैठकों में इसके संगठन एवं विधान का प्रारूप तैयार किया गया। अप्रैल-जून, 1945 में सेन-फ्रांसिस्को सम्मेलन में इसे अंतिम रूप दिया गया। इसके बाद 24 अक्टूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान को लागू किया गया। सेन-फ्रांसिस्को सम्मेलन में चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले 51 राज्य, संघ के प्रारंभिक सदस्य माने गये। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद नये राज्यों के उदय की प्रक्रिया अत्यधिक तीव्र गति से चली। 1960 में सिर्फ एक माह में केवल अफ्रीका महाद्वीप के ही 16 नये सदस्य देश संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य बने। 1990 तक इस संघ के सदस्यों की संख्या बढ़कर 159 हो गयी।

11. **मानवतावादी जीवन दर्शनः** युद्धोत्तर विश्व में 'मानवतावाद' (Humanism) प्रभावशाली रूप से सामने आया है। मानव की स्वतंत्रता तथा उसका कल्याण ही तमाम राजनीतिक क्रियाओं का प्रवर्तन लक्ष्य हो गया है। द्वितीय महायुद्ध के महाविनाश का मानसिक भय सर्वत्र रहा है और युद्ध की सम्भावनाओं को मिटाने की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की गयी। मानवीय अधिकारों की चर्चा युद्ध के बीच चलती रही और संयुक्त राष्ट संघ द्वारा 'मानवीय अधिकारों की घोषणा' इस ओर एक महान कदम था।

12. **मध्यपूर्व और सुदूर-पूर्व की महत्ता बढ़नाः** द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त एशिया क्षेत्र मध्य-पूर्व और सुदूरपूर्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निरंतर महत्त्वपूर्ण होते गये और आज भी इनका अपना अलग महत्त्व है। तेल के बहुल भण्डारों की खोज के कारण मध्यपूर्व ने केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्त्वूपर्ण केन्द्र वरन् विश्व का एक प्रधान संकट-स्थल बन गया है। दूसरी ओर एक महत्त्वूपर्ण निर्गुट लोकतांत्रिक राष्ट्र के रूप में स्वतंत्र भारत के उदय ने तथा एक महान शक्ति के रूप में साम्यवादी चीन के विकास ने सुदूर पूर्वीय क्षेत्र को विश्व के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रदेशों की श्रेणी में ला दिया है।

13. **विनाशकारी प्रभावः** दूसरे विश्वयुद्ध में धन और जन का कितने भयंकर रूप से संहार हुआ, इसका सही-सही अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। पर यह निश्चित है कि इस युद्ध में दोनों पक्षों को अपार हानि उठानी पड़ी। युद्ध में कुल मिलाकर लगभग 2 करोड़ 20 लाख व्यक्ति मारे गये तथा 3 करोड़ 30 लाख व्यक्ति घायल हुए सैनिकों के अतिरिक्त जो सर्वसाधारण नागरिक बमवर्षा, जहाजों के डूबने आदि द्वारा मत्यु को प्राप्त हुए व बुरी तरह घायल हुए उनकी संख्या भी एक करोड़ के लगभग पहुँचती है। इस युद्ध पर विविध देशों को जो धन खर्च करना पड़ा उसका मात्रा एक लाख करोड़ अनुमानित की गई है। युद्ध के कारण सम्पत्ति का जो विनाश हुआ, उसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि अकेले इंग्लैण्ड में लड़ाई के कारण जो सम्पत्ति सम्बन्धी नुकसान हुआ, उसकी क्षतिपूर्ति के लिए 1800 करोड़ रूपया अपेक्षित था। अनुमान है कि विश्व युद्ध के कारण रूस की कुल राष्ट्रीय सम्पत्ति का चौथाई भाग नष्ट हो गया।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व युद्ध अति भयंकर एवं विनाशकारी था। इसके प्रभाव से विश्व का कोई भी राष्ट्र अछूता नहीं रहा। यहाँ तक कि जो देश इस युद्ध में तटस्थ रहे थे, वे भी इसके प्रभावों से मुक्त नहीं रह सके। युद्ध के परिणामस्वरूप साम्राज्यवाद का स्वरूप बदल गया। अब साम्राज्यवाद का स्थान विचारधाराओं पर आश्रित प्रभाव क्षेत्रों ने ले लिया। युद्ध के परिणामस्वरूप शक्ति संतुलन ब्रिटेन के हाथों से निकलकर अमेरिका के हाथ में आ गया। राष्ट्रसंघ की बुराइयों को दूर करने तथा भविष्य में शांति एवं मैत्री के वातावरण को बनाये रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई। यह द्वितीय विश्वयुद्ध की सबसे बड़ी देन है।

द्वितीय विश्व युद्ध

द्वितीय विश्व युद्ध के निम्न प्रमुख कारण थे–

1. विश्व सग्राम का आधारभूत इतिहास की पुरानी और नई प्रव त्तियों का शाश्वत संघर्ष था। 1914-18 ई० के महायुद्ध ने यूरोप से एकतन्त्र शासन और साम्राज्यवाद का अन्त कर स्वतन्त्र शासन और राष्ट्रीयता के आधार पर निर्मित राज्यों की स्थापना कर दी थी। पर मानव-जाति किसी नई व्यवस्था को स्वीकार नहीं कर सकी। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली में महायुद्ध द्वारा एकतंत्र शासनों का अन्त रोका और लोकतन्त्र की स्थापना की गई थी। पर उसके विरूद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। यह प्रक्रिया नाजीज्म और फासिज्म के रूप में प्रकट हुई एक बार फिर इन देशों में व्यक्ति या एक पार्टी का शासन कायम हुआ। इतिहास की प्रगतिशील व्यवस्था कुछ समय के लिए दब गई पर ये सदा के लिए दबी नहीं रह सकती थी। विश्व संग्राम ने इन पुरानी प्रव त्तियों को बन्द कर इटली, जापान, जर्मनी में एक व्यक्ति या एक ग्रुप के शासन को समाप्त कर दिया और लोकतंत्रवाद के लिए रास्ता खोल दिया।
2. विश्व संग्राम का दूसरा कारण साम्राज्यवाद की प्रव त्ति थी। ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के विशाल साम्राज्य के मुकाबले में जर्मनी जापान और इटली अपने को बहुत हीन अनुभव करते थे। ये राज्य विज्ञान, व्यवसाय और सैन्यशक्ति की द ष्टि से ब्रिटेन व जापान से अधिक अनुभवी थे। पर उनके पास साम्राज्यों का अभाव था। ये अनुभव करते थे कि हमें भी अपने तैयार माल के लिए बढ़ती हुई आबादी बसाने के लिए जगह चाहिए और ब्रिटेन का समस्त संसार में प्रभुत्व होना चाहिए कुछ देशों में उनके साम्राज्य हो अन्य के पास न हो यह बात स्वाभाविकतया उचित नहीं।
3. पूँजीवाद की भी इस विश्व संग्राम के प्रादुर्भाव में एक महत्त्वपूर्ण कारण था। पूंजीपतियों का संसार के बिछड़े हुए देशों को राजनीतिक द ष्टि से अपने प्रभाव व प्रभुत्व में लेना। ताकि वहाँ न तैयार माल निश्चिन्तता के साथ बिक सके। अपितु साथ ही वहाँ से कच्चा माल भी वे ससांर के अन्य देशों से सस्ती कीमत पर खरीद सके। जबकि लोकतन्त्र शासनों में राज्यसंस्था पर धनी पूंजीपति वर्ग का प्रभुत्व होता है। अतः ये सरकार को ऐसी नीति का अनुशरण करने के लिए विवश कर सकते हैं। जो कि उनके आर्थिक हितों के साधन में सहायक हो। इटली और जापान जैसे देश से अपने साम्राज्यों के विस्तार में प्रव त्त हुए। उसका मूलकारण पूंजीवाद था पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के कारण ही 20 वीं सदी के प्रथम युद्ध का सूत्रपात हुआ था। और इसने विश्व-सग्राम का प्रादुर्भाव किया था जापान के साम्राज्यवाद की ब्रिटिश संयुक्त राज्य अमेरिका और स्वयं चिंता की द ष्टि से देखते हैं। और इटली की बढ़ती हुई शक्ति में फ्रांस व बिटेन चिंतित थे। जर्मनी भी इस बात के लिए उत्सुक था कि यूरोप में अपने प्रभुत्व का विस्तार करे और पूर्वी यूरोप के निर्बल राज्यों को अपनी जातीयता में ले आये। ब्रिटेन, फ्रांस व रूस जैसे देश जर्मनी के इस उत्कर्ष को अपने लिये हानिकारक समझते थे।
4. प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्र संघ की स्थापना अवश्य हो गई थी पर इस संघ द्वारा अंतराष्ट्रीय की भलीभांति स्थापना नहीं हो सकी थी। सासर में शांति तभी स्थापित रह सकती थी। जबकि विविध राज्यों की संपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्नता को मानव समाज के हित की द ष्टि में रखकर मर्यादित कर सकने के साान विद्यमान हो। विविध राज्यों केवल अपने हितों व राष्ट्रीय उत्कर्षों की द ष्टि में रखकर स्वच्छन्दता व उच्छ्खलता का अनुशासन न कर सके, राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी प्रयोजन से हुई थी। इसी कारण जब जर्मनी, जापान और इटली जैसे राज्य अपने उत्कर्ष के लिए मनमानी करने को उद्यत हो गये, तो अन्य राज्यों के पास अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं रह सकता कि वे युद्ध उनका मुकाबला करे।
5. 1917 में रूस की राज्यक्रांति द्वारा साम्यवाद के आंदोलन को बहुत बल मिला था। जर्मनी में नाजीज्म और इटली में फैजिज्म का प्रादुर्भाव जहाँ लोकतंत्रवाद के विरूद्ध प्रतिक्रिया थी। वहाँ साथ ही साम्यवाद के विरूद्ध भी थी। पर ये प्रतिक्रियावादी आन्दोलन अत्यन्त प्रबल होते हुए भी देर तक टिक नहीं सकते थे क्योंकि इनकी सत्ता मानव समाज की प्रगति की प्रमुख धारा के प्रतिकुल थी। इसलिए विश्व संग्राम की समाप्ति पर साम्यवादी प्रव त्तियां और अधिक प्रबल हो गई।
6. वर्साय की संधि द्वारा जर्मनी के साथ अन्याय हुआ था। पेरिस की संधि परिषद् द्वारा यूरोप में जो नई व्यवस्था कायम हुई थी। उसमें 1914-18 के महायुद्ध में परास्त देशों के साथ बहुत अन्याय किया गया था। इटली और जापान भी उससे असंतुष्ट थे वर्साय की इन भूलों का प्रतिशोध शांतिमय उपायों से नहीं हो सका।

7. विश्व संग्राम का तत्कालिक कारण जर्मनी का पोलैण्ड पर आक्रमण था। पर यदि वह आक्रमण न भी होता तो भी संसार में लोकतन्त्रवाद और अधिनायकवाद का साथ-साथ रह सकना संभव न होता। किसी न किसी प्रश्न पर उनमें लड़ाई छिड़ती है। वस्तुतः विश्व-संग्राम में दी प्रव त्तियां व दी आदर्शों के बीच में संघर्ष चल रहा था। एक प्रव त्ति वह थी, जिसे फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने पैदा किया था। दूसरी प्रव त्ति उसकी प्रतिक्रिया के रूप में थी। जिसके प्रतिनिधि हिटलर और मुसोलिनी थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के परिणाम

1. इस युद्ध का दूसरा परिणाम यह हआ था कि औपनिवेशिक साम्रज्यों का अंत हो गया। यूरोप के साम्राज्य में स्वतंत्र भावनाओं का वितरण होने लगा। ब्रिटेन अपनी विदेश नीति में परिवर्तन लाया और भारत, बर्मा, पाकिस्तान, मालवा, मिस्र आदि को स्वतंत्र कर दिया गया। अफ्रीका के कुछ देश भी स्वतंत्र हुए दूसरी तरफ फ्रांस ने भी हिंद चीन में अपने उपनिवेशों का अंत कर दिया। ताजोस और वियतनाम स्वतंत्र हो गए। हॉलैण्ड ने भी अपनी साम्राज्यवादी नीति का अंत किया, हिंदेशिया नामक संघ बना जिनमें जावा, सुमात्रा, बोर्नियों आदि शामिल थे। हिंदेशिया भी स्वतंत्र माना गया।

2. परंतु ब्रिटेन का साम्राज्य छिनः-भिन्न हो गया और वह विश्व का नेता न रहा। स्वेच्छा से उपनिवेशों को समाप्त करके भी ब्रिटेन अपनी पूर्व की शक्ति संचित न रख सका। जब सर्वत्र संयुक्त राज्य और रूस विश्व का नेत त्व करने लगे। समस्त विश्व को दो गुटों में विभाजित करने का प्रयास किया जाने लगा। हालांकि अपने खोए हुए गौरव को प्राप्त करने के लिए ब्रिटेन ने पुनः प्रयास किया किंतु अमेरिका और रूस सतत प्रभावशाली सिद्ध होते गए और आज भी है।

3. इस युद्ध का एक और परिणाम यह निकला शांति की खोज। विश्व की अशांति को दूर करने के लिए मानव ने अपने ह्रदय को पुनः इसी शांति की स्थापना के लिए प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। किंतु द्वितीय विश्व युद्ध के शुरू होने पर यह सफल न हो सका था। द्वितीय विश्व युद्ध के होने पर एक बार पुनः शांति की खोज की प्रबल ईच्छा हुई और अप्रैल 1948 ई० में दस राष्ट्रां ने एक सम्मेलन का आयोजन किया। इससे उपयुक्त राष्ट्रसंघ की रूप रेखा तैयार हो गई। 24 अक्टूबर, 1945 ई० को संयुक्त राष्ट्रसंघ बनकर तैयार हो गया। मानव की यह पवित्र संगठन तह तक विश्वशांति को कायम करने में सफल हो सकेगा।

4. इस युद्ध के परिणामस्वरूप विभिन्न देशों के साथ युद्ध काल में ही (और उसके नाम) अनेक संधियाँ हुई। 1941 ई० में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने मानव स्वतंत्रता की घोषणा की थी। जिसमें विचार की स्वतंत्रता धर्म की स्वतंत्रता, दीनता से स्वतंत्रता और भय से स्वतंत्रता शामिल थी। उसी वर्ष अटलांटिक चाटर में सजवेल्ट और चर्चिल ने ये उद्‌घोषणा की थी।

    i. युद्ध से आर्थिक लाभ उठाने का कोई भी देश प्रयास नहीं करेगा।

    ii. राज्य की सभाओं में जनमत के अनुसार ही परिवर्तन ही लाया जाएगा।

    iii. गुलाम मुल्क अपनी खोई राजनीतिक स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त करेंगे।

    iv. राज्य की इच्छानुसार प्रत्येक अपने शासन का स्वरूप निर्धारित करेगा।

    v. राष्ट्रों को भय गरीबी आदि से दूर किया जाएगा।

    vi. विश्व शान्ति की स्थापना के लिए एक अंतराष्ट्रीय संस्था का संगठन किया जाएगा इसके पश्चात् 1942 ई० का कैसाब्लाका सम्मेलन का पोटस्डम सम्मेलन इसी शांति के आधारों और संधियों के मूलभूत सिद्धान्तों को तय करने के लिए हुए थे।

5. युद्धोपरांत भी अनेक संधियों का संपादन हुआ। 1947 ई० में इटली, रूमानिया, बुल्गारिया, हंगरी और फिनलैंड से संधियाँ की गई। संधि के अनुसार लीबिया, इरीटिसिया और इटालवी के प्रदेश इटली से ले लिए गए। इटली ने

अबीसिनिया तथा अल्वानिया की स्वतंत्रता तथा प्रभुता को मान्यता प्रदान कर दी। केकानीज के द्वीप समूह यूनान को वापस दे दिए गए। उत्तर-पश्चिमी सीमा पर युगोस्लाविया को कुछ भूभाग दे दिए गए। संयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख में ट्रिस्टी का प्रशासन रख दिया गया। उसकी सेना 25,000 तक सीमित कर दी गई। उसमें 1600 लाख डालर क्षतिपूर्ति के रूप में देना स्वीकार किया।

6. रूमानिया, बुल्गारिया, हंगरी और फिनलैण्ड ने भी क्षतिपूर्ति की निश्चित रकम देने का वादा किया। उनकी सेनाओं की भी संख्या निश्चित कर दी गई। बुल्गारिया की सीमाओं में विस्तार हुआ। क्योंकि उसको रूमानिया से जेबुआ का प्रांत मिल गया। किंतु अन्य राज्यों की सीमा घटा दी गई। रूमानिया से बेसरविया लेकर रूस को दे दिया गया और हंगरी ने रूमानिया को ट्रासिलवानिया का प्रांत लौटा दिया और स्लाविक का क्षेत्र चेकोस्लोवाकिया को देना पड़ा। फिनलैंड से रूस की कैरोलीन तथा पट्समी के प्रांत मिले।

7. 1915 ई० के माल्टा सम्मेलन के निर्णय अनुसार जर्मनी पर अमेरिका रूस तथा फ्रांस के अधिकार कायम किए गए। जर्मनी को चार क्षेत्रों में बाँट कर उक्त देशों का अधिकार उन पर कायम किया गया। नात्सीवाद का परिसमापन किया गया। जर्मनी का पुनः सैन्यीकरण कर दिया गया।

8. इसी प्रकार जापानी साम्राज्य का विघटन हो गया। क्यूराइल द्वीपों तथा दक्षिणी रूखालिन पर रूस का फोरमोसा पर चीन का कोरिया पर संयुक्त राज्य और रूस के अधिकार कायम किए गए। यह कहा गया कि उचित समय पर जापान को स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाएगी। तत्काल संयुक्त राज्य के जनरल मैकआर्थर ने जापान पर शासन करना आरंभ किया।

संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म

1. द्वितीय विश्व युद्ध से पहले ही विश्व को यह विश्वास हो गया था कि राष्ट्र संघ विश्व-शान्ति की समस्या का समाधान नहीं कर सकता था। महायुद्ध का सूत्रपात होने के पश्चात् रही सही आशा भी जाती रही। युद्ध के तीन प्रमुख कारणों-राष्ट्रों की महत्त्वकांक्षा सशस्त्रों की होड़ और रूचियाँ में से राष्ट्र एक भी उन्मूलन नहीं कर गया था। वास्तव में वह इतना निर्बल था कि वह अपने सदस्यों को युद्ध पक्ष का अनुसरण करने से नहीं रोक पाता था। उसकी असफलता देखकर ही अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की रक्षा करने के लिए एक अधिक सवाल तथा संगठित विश्व-संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया।

2. 15 अगस्त सन् 1941 ई० को राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ने मिलकर अपने ऐतिहासिक घोषणापत्र में उन समस्त उद्देश्यों तथा आदर्शों का समावेश किया गया था। जिसकी रक्षा के लिए मित्रराष्ट्रों को युद्ध में लेना पड़ा था। रूजवेल्ट तथा चर्चिल ने इस बात का आश्वासन दिया था कि सब राष्ट्रों की प्रादेशिक प्रभुसत्ता का आदर किया जाएगा और संसार की सब जातियों का मानवता के अधिकार दिये जायेंगे। परंतु चर्चिल ने भारत तथा एशिया के अन्य देशों में उपर्युक्त सिद्धान्तों का प्रयोग करना स्वीकार नहीं किया गया। इस प्रकार अटलांटिक चार्टर वास्तव में प्रवर्चना का प्रतीक मात्र बन गया।

3. परंतु द्वितीय महायुद्ध के अनुभव यह सिद्ध कर दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय की भावना का प्रचार हुए बिना मानवता का कल्याण संभव नहीं है। इसके लिए एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता थी जिसके पास अपने निर्णयों को मान्यता देने के लिए यथेष्ट शक्ति भी हो। अतएव अक्टुबर सन् 1943 ई० में मास्कों में रूस अमेरिका, ब्रिटेन और चीन के विदेश मंत्रियों की एक बैठक हुई। जिसने अन्य प्रश्नों पर विचार करने के अतिरिक्त यह घोषणा भी की कि उपरोक्त देश शीघ्रतिशीघ्र एक सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं जो समस्त शान्तिप्रिय राज्यों की प्रभुसत्तापूर्ण समानता के सिद्धान्त पर आधारित हो जिसकी सदस्यता छोटे-बड़े सब राज्यों के लिए खुली हो और जिसका कर्त्तव्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा हो।

4. इसी घोषणा के आधार बनाकर संयुक्त राज्य अमेरिका ने एक योजना तैयारी की। 7 अक्टूबर, 1944 ई० को डमबर्टन ओक्स नामक स्थान में होने वाले एक सम्मेलन में यह योजना ब्रिटेन, रूस तथा चीन के प्रतिनिधियों के समक्ष प्रस्तुत की गई। इसी सम्मेलन में सक्सार की शांति तथा प्रगति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकार किया

गया। 25 अप्रैल सन् 1945 ई० से 26 जून तक सेनफ्रांस्किो में एक सम्मेलन हुआ। जिसमें सब देशों के प्रतिनिधियों ने मिलकर डम्बर्टन ओक्स योजना पर विचार किया और अन्त में यह योजना स्वीकार कर ली गई। उसके पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणापत्र स्वीकार किया गया जिससे संघ के निम्नलिखित उद्देश्य का उल्लेख किया गया।

i. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की रक्षा करना तथा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विरोधी तत्त्वों का निवारण तथा आक्रमण सूचक कार्यों एवं शान्ति के अन्य अतिक्रमणों के दमन के लिए प्रभावपूर्ण सामूहिक उपाय करना और शान्ति पूर्ण उपायों से ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निर्णय अथवा समझौता करना जिनसे शान्ति भंग होने की आशंका हो।

ii. अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य मानवता सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिए सहायता प्राप्त करना। अंतर्राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्ति करने के लिए विभिन्न राष्ट्रों के कार्यों में सामंजस्य उत्पन्न करने के लिए एक केन्द्र की स्थापना करना।

UNIT-III

अध्याय-15
भारत में उपनिवेश की अवस्थाएँ

भारत में उपनिवेशवाद की अवस्थाएँ

1. वाणिज्यवादी पूँजी अवस्था;
2. मुक्त व्यापारीय/औद्योगिक पूँजी अवस्था; तथा
3. वित्तीय पूँजी अवस्था।

1600 से 1757 ई० तक भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अस्तित्व केवल एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में कायम रहा जो बाहर से भारत में चीजें तथा मूल्यवान धातुएँ लाती और उन्हें भारतीय चीजों से बदलती थी, जिनमें मुख्य थी-वस्त्र, मसाले इत्यादि। इन भारतीय वस्तुओं को कम्पनी बाहर के देशों में बेचती थी और भारी मुनाफा कमाती थी। अतः कम्पनी पूरी तन्मयता के साथ भारतीय वस्तुओं के लिए ब्रिटेन और दूसरे देशों में नई बाजारों की खोज और स्थापना में जुट गई। इस प्रकार उसने भारतीय दस्तकारों द्वारा निर्मित वस्तुओं के निर्यात में व द्धि की और उन्हें प्रोत्साहित किया। यही कारण है कि भारतीय शासकों ने न केवल भारत में कम्पनी द्वारा स्थापित फैक्ट्रियों को बरदास्त किया बल्कि इसके लिए कम्पनी को प्रोत्साहित भी किया।

उत्पादन के आधुनिक तरीके अपनाए जाने से पहले भारत की औद्योगिक आबादी दो प्रकार की थी-गाँवों के दस्तकार और खास तरह की वस्तुएँ बनाने वाले शिल्पकार। गाँवों के साधारण दस्तकार थे-मोटा कपड़ा बुनने वाले जुलाहे, औजार बनाने वाले लोहार, घरेलू बर्तन बनाने वाले कुम्हार, कंसेरे, ठठेरे तथा काठ के सामान तैयार करने वाले बढ़ई। इनके पेशे मुख्यतः पैत क थे। अपनी दस्तकारी के साथ-साथ क षि कार्य भी सम्पन्न करते थे। शहरों में बसे हुए शिल्पकार उपयोगी चीजों के अलावा विलास की वस्तुएँ भी तैयार करते थे। उनके द्वारा तैयार की गई वस्तुओं की मांग न केवल इस देश के बल्कि विदेशों के बाजारों में भी थी।

प्रारम्भ से ही ब्रिटिश शिल्पकारों को ब्रिटेन में भारतीय वस्त्रों की लोकप्रियता से चिढ़ और जलन थी। एक बार इंग्लैण्ड में वस्त्रों के फैशन में परिवर्तन हो गया और वहाँ अब लोग मोटे ऊनी वस्त्रों के स्थान पर हल्के सूती वस्त्रों को अधिक पसन्द करने लगे। इससे भारतीय सूती वस्त्रों की माँग इंग्लैण्ड में इतनी बढ़ गई कि वहाँ के शिल्पकार तथा बुद्धिजीवियों को भी चिन्ता होने लगी। ब्रिटिश शिल्पकारों ने अपनी सरकार पर इंग्लैण्ड में वस्तुओं के विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाने तथा रोकने के लिए दबाव डाला। 1720 ई० तक छपे तथा रंगीन कपड़ों के प्रयोग पर कानून बनाकर प्रतिबंध लगा दिया गया था। 1760 ई० में एक महिला को एक विदेशी रूमाल रखने के कारण दो सौ पौण्ड का जुर्माना भरना पड़ा था। इसके अतिरिक्त, सादे कपड़ों के आयात पर चुंगी की दर काफी बढ़ा दी गई। केवल हॉलैण्ड को छोड़कर दूसरे यूरोपीय देशों ने भी या तो भारतीय वस्त्रों के आयात पर रोक लगा दी या चुंगी की दर में काफी व द्धि कर दी। इन तमाम प्रतिबन्धों के बाद भारतीय सूती एवं रेशमी वस्त्रों की मांग विदेशों के बाजार में अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक बनी रही जब तक कि अँग्रेजों वस्त्र उद्योग ने नई विकसित तकनीक के आधार पर स्वयं को विकसित करना शुरू नहीं कर दिया।

1757 ई० में प्लासी के युद्ध के बाद भारत के साथ कम्पनी के व्यापारिक तौर-तरीकों एवं सम्बन्धों में गुणात्मक परिवर्तन हुए। अब कम्पनी बंगाल पर अपने राजनीतिक नियन्त्रण का इस्तेमाल अपने भारतीय व्यापार की व द्धि के लिए कर सकती थी। इसके अतिरिक्त, कम्पनी बंगाल से प्राप्त होने वाले राजस्व का उपयोग भारतीय वस्तुओं के निर्यात के ऊपर पूँजी व्यय कर रही थी। कम्पनी के कार्यों से भारतीय दस्तकारों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए था, पर ऐसा नहीं हुआ। कम्पनी ने अपनी राजनीतिक

शक्ति का उपयोग बंगाल के जुलाहों को अपनी शर्तें मनवाने में किया जिन्हें अपनी वस्तुओं को घाटा सहकर भी सस्ते दामों पर बेचने के लिए बाध्य होना पड़ा। पुनः, अब उनका श्रम भी स्वतंत्र नहीं था। उनमें से बहुत को कम पारिश्रमिक पर कम्पनी के लिए काम करने पड़े। भारतीय व्यापारियों के लिए उन्हें काम करने की मनाही कर दी गई। इस प्रकार कम्पनी ने बंगाल में अपने प्रतियोगी भारतीय तथा विदेशी व्यापारियों को खदेड़ बाहर किया। अब वे ज्यादा पारिश्रमिक देकर भी बंगाल के दस्तकारों से अपना काम नहीं करवा सकते थे। कम्पनी के कर्मचारियों ने रूई के व्यापार पर एकाधिकार स्थापित कर लिया और इसे काफी ऊँची कीमत पर बंगाल के जुलाहों को बेचने लगे। इस प्रकार जुलाहों को दुहरा नुकसान पहुँचा, खरीददार और विक्रेता दोनों रूपों में। इतना ही नहीं, इंग्लैण्ड में भारतीय वस्त्रों के निर्यात की चुँगी दर को काफी बढ़ा दिया गया। ब्रिटेन की सरकार किसी भी तरह से अपने मशीन निर्मित वस्त्रों को संरक्षण प्रदान करना चाहती थी जो उस समय भी सस्ते और अच्छे भारतीय वस्त्रों के साथ प्रतियोगिता में नहीं टिक सकते थे। इसके बावजूद भी भारतीय वस्तुओं की मांग बनी रही। भारतीय दस्तकारों पर वास्तविक आघात 1813 ई० के बाद हुआ जब उन्होंने न केवल अपने विदेशी बाजार खो दिए बल्कि शायद इससे भी दुःखद बात यह थी कि भारत के बाजारों को भी उन्होंने खो दिया।

कम्पनी की सत्ता के स्थापना के पूर्व भारतीय वस्तुओं में सूती कपड़े का विशेष महत्त्व था। सूती कपड़ों का उत्पादन देश के अनेक भागों में होता था। इसके उत्पादन के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे-ढाका, क ष्णानगर, वाराणसी, लखनऊ, आगरा, मुल्तान, लाहौर, बुरहानपुर, सूरत, भड़ौच, अहमदाबाद और मदुराई। विलास की द ष्टि से सादे सूती कपड़े और मलमल का व्यापक महत्त्व था। ऊनी और रेशमी कपड़ों की ख्याति भी कम नहीं थी। लोहा और इस्पात, ताँबा और पीतल तथा सोना और चाँदी की वस्तुएँ भी काफी प्रसिद्ध थी। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में जहाज-निर्माण के क्षेत्र में भी भारत का बड़ा नाम था। जहाज-निर्माण के मुख्य केन्द्र थे-गोआ, सूरत, मछलीपट्टनम, सतगाँव, ढाका और चटगाँव। शायद यह कहना उचित ही है कि "जहाज निर्माण के बारे में भारतीयों ने अंग्रेजों से जितना सीखा उससे कहीं अधिक शायद उन्हें सिखाया।"

इस काल में भारतीय शहरों में उद्योग सुसंगठित थे। शिल्पकारी पैत क थी। शिल्पकार एक विशेष उपजाति के होते थे। गुजरात के शिल्पकार श्रेणियों में संगठित थे। वे श्रेणियाँ उत्पादित वस्तुओं के स्तर पर नजर रखती थी और अपने सदस्यों के कल्याण का ध्यान रखती थी। सामान्यतः स्वतंत्र शिल्पकार वस्तुओं के उत्पादन का आयोजन करते थे। ग्राहकों की माँग और उनके द्वारा दी गई सामग्री के अनुसार शिल्पकार वस्तुओं का निर्माण करते थे। व्यापारियों से शिल्पकारों को पेशगी धन मिलता था। उन्हें राजाओं और सामन्तों का निरन्तर संरक्षण मिलता था। वे आमतौर पर विलास की वस्तुएँ पसंद करते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक इन शिल्पों और उद्योगों का भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान बना रहा। लेकिन उसके बाद ब्रिटिश सरकार की नीतियों तथा कुछ अन्य कारणों से इनका तेजी से पतन हुआ।

ब्रिटिश प्रदेशों में राजे-रजवाड़ों के धीरे-धीरे समाप्त हो जाने के कारण भारतीय उद्योग की अच्छी वस्तुओं की माँग घटती गई। कई रिाजा और सामंत कुशल कारीगरों को नियमित वेतन देकर अपने आश्रय में रखते थे। मगर ब्रिटिश अधिकारियों ने भारतीय शिल्पकारों को उसी तरह का आश्रय प्रदान नहीं किया। वस्तुतः जिन क्षेत्रों में भारतीय राजा शासन करते थे, उन्हीं में कुछ परम्परागर शिल्प व्यवसाय जीवित रहे। मगर भारतीय उद्योगों के पतन के मुख्य कारण कुछ और थे।

भारत का भाग्य अब इंग्लैण्ड के व्यापारियों और उद्योगपतियों के हाथों में था। स्मरण रहे कि यूरोपयी व्यापारियों का भारत आने का मुख्य उद्देश्य था इस देशों के साथ व्यापार करके मुनाफा कमाना। यद्यपि भारत अधिकांश क षि और औद्योगिक उत्पादनों की देश में ही अधिक खतप होती थी, मगर दूसरे देशों में भी भारतीय वस्तुओं की माँग थी। भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं-बढ़िया सूती और रेशमी कपड़े, मसाले, नील, चीनी, दवा, कीमती पत्थर और तरह-तरह की शिल्प-वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में महत्त्वपूर्ण स्थान था। बदले में भारत को सोना और चाँदी मिलती थी।

जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत के सूती कपड़ों की इंग्लैण्ड में इतनी अधिक माँग बढ़ गई कि वहाँ का कपड़ा-उद्योग बर्बाद हो गया। परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में पहले 1700 ई० में और 1720 ई० में कानून बनाकर भारतीय कपड़ों की किस्मों की आयात पर पाबंदी लगा दी गई। ऐसी कानूनी पाबंदियाँ यूरोप के अन्य देशों में भी लगाई गई। जैसा कि स्वाभाविक था, इन पाबंदियों का भारत के कपड़ा उद्योग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। फिर भी सूती और रेशमी कपड़ों और कुछ अन्य वस्तुओं का निर्यात-व्यापार चलता रहा।

इस दौरान इंगलैण्ड में होने वाली औद्योगिक क्रान्ति ने ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था तथा भारत के साथ उसके आर्थिक सम्बन्धों को पूरी तरह से परिवर्तित कर दिया था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के कुछ दशकों में, ब्रिटेन के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन कें बड़े महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए तथा ब्रिटेन में उद्योग-धन्धों का तेजी से विकास हुआ। इस औद्योगिक प्रगति के तीन आधार-स्तंभ थे-आधुनिक मशीन, फैक्ट्री-प्रणाली तथा पूँजीवाद। किन्तु इस प्रगति के कुछ अन्य कारक तत्त्व भी थे

पूर्व की शताब्दियों में ब्रिटेन में समुद्रपार के व्यापार की काफी तरक्की हुई थी। युद्ध और उपनिवेशवाद का सहारा लेकर ब्रिटेन ने अनेक विदेशी बाजारों पर कब्जा कर लिया था और उनके व्यापार पर अपना एकाधिकार कायम कर लिया था। इन निर्यात-बाजारों ने ब्रिटेन के निर्यात-उद्योगों को काफी आगे बढ़ाया और उनका विस्तार किया। ब्रिटेन के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उत्पादन और संगठन के नए तकनीकों का इस्तेमाल किया जा रहा था। अफ्रीका, वेस्टइण्डीज, लैटिन अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, चीन और उन सबसे भी ज्यादा भारत ब्रिटेन को असीमित निर्यात का अवसर प्रदान कर रहे थे। सूती वस्त्र-उद्योग के संदर्भ में, जो ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति का मुख्य वाहक था, यह बात खासतौर पर सत्य थी। ब्रिटेन ने पहले से ही व्यापार के औपनिवेशिक पैटर्न को विकसित कर लिया था। इसने औद्योगिक क्रांति को सहारा दिया और औद्योगिक क्रांति ने बदले में इस पैटर्न को और भी मजबूत बनाया। ब्रिटेन के उपनिवेश और अविकसित देश उसे कच्चे क षि उत्पादनों एवं धातुओं को भेजते थे और ब्रिटेन उन देशों में अपने तैयार मालों को भेजता था।

दूसरी बात यह थी कि देश में नई मशीनरी और फैक्ट्री प्रणाली पर खर्च करने के लिए काफी पूँजी जमा हो गई थी। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि यह पूँजी देश के सामन्तों के पास जमा नहीं थी जिसे वे विलास एवं अन्य बेकार के कार्यों पर खर्च कर देते थे; यह व्यापारियों तथा उद्योगपतियों के पास जमा थी जो इसे वाणिज्य एवं उद्योग पर ही खर्च करना चाहते थे। इंग्लैण्ड द्वारा अफ्रीका, एशिया, लैटिन अमेरिका, वेस्टइण्डीज से तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा इसके कर्मचारियों द्वारा पलासी के युद्ध के बाद भारत से अर्जित असीम सम्पदा ने ब्रिटेन में औद्योगिक विस्तार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। **तीसरा,** जनसंख्या का तेजी से बढ़ने के कारण भी इंग्लैण्ड में औद्योगिक विकास सम्भव हुआ क्योंकि अब आसानी से और सस्ते पारिश्रमिक पर बड़ी संख्या में मजदूर उपलब्ध थे। 1740 के बाद इंग्लैण्ड की जनसंख्या तेजी से बढ़ी और 50 वर्षों में 1780 के बाद यह दुगनी हो गई।

चौथा, ब्रिटेन में एक ऐसी सरकार थी जो वाणिज्यिक एवं उत्पादन के स्वार्थों के प्रभाव में थी और जिसने द ढ़तापूर्वक उपनिवेशो तथा बाजारों के लिए दूसरे देशों से युद्ध किया।

पाँचवां, उत्पादन में व द्धि की मांग तकनीकी प्रगति के द्वारा पूरी की गई। ब्रिटेन के बढ़ते हुए उद्योग को हार्गीव्स, जेम्सवाट, कार्टराइट तथा अनेक अन्य वैज्ञानिकों ने अपने नए आविष्कारों से सहारा दिया। उन दिनों के अनेक आविष्कारों का हम आज भी उपयोग करते हैं। उन आविष्कारों को ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग में लाने के लिए अब अधिक-से-अधिक उत्पादन कारखानों में किया जाने लगा। इस संदर्भ में याद रखने की बात यह है कि औद्योगिक क्रांति का जन्म इन आविष्कारों के कारण नहीं हुआ था; बल्कि ऐसा निर्माताओं के बढ़ते हुए बाजारों की मांगों को पूरा करने की इच्छा और उनका पूँजी निवेश करने की क्षमता के चलते उन्हें तत्कालीन तकनीकी के उपयोग का ज्यादा से ज्यादा मौका मिला और उनकी इन आवश्यकताओं ने ही उन्हें नये आविष्कारों की मांग के लिए प्रेरित किया। वस्तुतः उद्योग के नये संगठन ने मानव प्रगति के संदर्भ में तकनीक की परिवर्तन को एक स्थाई विशेषता बना दिया। इस द ष्टि से औद्योगिक क्रांति का कभी अन्त नहीं हुआ और अठारहवीं शताब्दी के मध्य से आधुनिक उद्योग का क्रमिक विकास होता रहा है।

औद्योगिक क्रांति ने ब्रिटेन के समाज को मौलिक रूप से परिवर्तित कर दिया। इसके चलते ब्रिटेन तथा यूरोप के अन्य देशों, अमेरिका, जापान, कनाडा आदि में तेजी से आर्थिक प्रगति हुई और लोगों का जीवन-स्तर काफी ऊँचा हो गया। वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक, आर्थिक द ष्टि से विकसित और अविकसित देशों के लोगों के जीवन-स्तर में थोड़ा-बहुत ही अन्तर था। अविकसित देशों में औद्योगिक क्रांति की गैरहाजिरी के कारण ही धीरे-धीरे यह अन्तर बढ़ता चला गया और जिसने आज विश्व में एक गहरी खाई का रूप धारण कर लिया है।

औद्योगिक क्रांति के चलते ब्रिटेन का तेजी से शहरीकरण हुआ। ज्यादा से ज्यादा लोग अब औद्योगिक शहरों में रहने लगे। 1750 ई० में ब्रिटेन में केवल दो ही ऐसे शहर थे जिनकी आबादी पचास हजार से अधिक थी, जबकि 1851 ई० में ऐसे शहरों की संख्या बढ़कर उन्नीस हो गई।

औद्योगिक क्रांति ने दो पूर्णतः नये वर्गों को समाज में जन्म दिया-**औद्योगिक पूँजीपति वर्ग** तथा **श्रमिक वर्ग।** पहला वर्ग कारखानों का स्वामी था, और दूसरे वर्ग के लोग उन कारखानों में प्रतिदिन के वेतन पर मजदूरी करते थे। जबकि पहले वर्ग के लोगों ने तेजी से प्रगति की और अभूतपूर्व रूप से सम्पन्न हो गए, दूसरे वर्ग के लोगों को शुरू में काफी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी। गाँवों से इस वर्ग के लोगों का सम्बन्ध पूरी तरह से टूट गया, और उनकी परम्परागत जीवन-शैली छिन्न-भिन्न तथा समाप्त हो गई। अब उन्हें धुआँ तथा कचड़ों से भरे शहरों में जानवरों-सा जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ा। उनकी झोपड़ियाँ उनके रहने के लिए ढंग की नहीं थी और वे गंदे एवं अस्वस्थ वातावरण में अपना जीवन काटने लगे। उनमें से ज्यादातर लोग ऐसे प्रदूषित मुहल्लों में रहते थे जहाँ सूर्य की रोशनी तक नहीं पहुँच पाती थी और अँधेरा छाया रहता था। चार्ल्स डिकेन ने अपने उपन्यासों में बड़े ही मार्मिक ढंग से इन बातों की चर्चा की है। उन्हें कारखानों तथा खानों में 14 से 16 घण्टों तक प्रतिदिन कार्य करना पड़ता था। उनके पारिश्रमिक अत्यन्त कम थे। उनके बाल-बच्चों और स्त्रियों को भी समान रूप से कठोर परिश्रम करना पड़ना था। कभी-कभी चार-पाँच वर्ष के लड़के को भी कारखानों तथा खानों में मजदूरी करनी पड़ती थी। सामान्यतः श्रमिकों का जीवन गरीबी, दुःख-दारिद्रयपूर्ण, कठोर परिश्रम, रोगी और अभावग्रस्त था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के बाद ही उनकी मजदूरी में व द्धि होनी शुरू हुई।

इंग्लैण्ड में एक अत्यन्त सम्पन्न एवं प्रभावशाली औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के जन्म का प्रभाव भारतीय प्रशासन और इसकी नीतियों पर गहरे रूप से पड़ा। जैसे-जैसे इस वर्ग के लोग संख्या, ताकत और राजनीतिक रूप से प्रभावशाली होते गए, उन्होंने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार-एकाधिकार पर प्रहार करना शुरू किया। चूँकि इस वर्ग के वस्तुओं के उत्पादन से लाभ हो रहा था न कि व्यापार से, अतः इस वर्ग के लोग भारत से दस्तकारी की वस्तुओं के आयात का विरोध कर रहे थे तथा इंग्लैण्ड के कारखानों में निर्मित वस्तुओं का भारत में निर्यात करने पर जोर दे रहे थे। साथ ही, वे भारत से कच्चे मालों, विशेष रूप से रूई, का आयात करना चाहते थे। 1769 ई० में ब्रिटेन के निर्माताओं ने कानून के मातहत कम्पनी को बाध्य किया कि वह प्रत्येक साल ब्रिटेन से 380,000 पौण्ड की निर्मित वस्तुओं का भारत में घाटा सहकर भी निर्यात करे। 1793 ई० में उन्होंने कम्पनी को बाध्य किया कि वह प्रत्येक साल उन्हें 3,000 टन उनके द्वारा निर्मित मालों को अपने जहाजों पर भारत ले जाने का परमिट दे। 1794 से 1813 ई० के बीच ब्रिटिश वस्त्रों का निर्यात पूर्व में, विशेष रूप से भारत में लगभग सात सौ गुना बढ़ गया। किन्तु केवल इतने से ही ब्रिटेन के उद्योगपति खुश नहीं थे, और वे अपने माल को ज्यादा-से-ज्यादा भारत में निर्यात करने का मार्ग और जरिया ढूँढ़ने में लग गए। उन्होंने महसूस किया कि उनके मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा ईस्ट इण्डिया कम्पनी था जिसे भारत और पूर्व के साथ व्यापार करने का विशेषाधिकार प्राप्त था। इस रोड़े को दूर करने के उद्देश्य से उन्होंने 1793 और 1813 ई० के बीच कम्पनी और उसके विशेषाधिकारों के विरूद्ध जोरदार अभियान शुरू किया और अन्ततः 1813 ई० में उन्हें सफलता भी मिल पाई। इस वर्ष से भारतीय व्यापार पर कम्पनी के एकाधिकार का अन्त हो गया। इसके साथ ही ब्रिटेन का भारत के साथ आर्थिक सम्बन्धों का एक नया अध्याय शुरू हुआ। क षि-प्रधान भारत ब्रिटेन का एक आर्थिक उपनिवेश बनने जा रहा था।

अब भारत सरकार ने स्वतंत्र व्यापार अथवा भारत में अप्रतिबन्धित ब्रिटिश मालों के आयात की नीति अपनाई। इस दौरान इंग्लैण्ड में वस्त्र-उद्योग का विकास हो रहा था। इस उद्योग ने भारतीय वस्त्रों की किस्मों का मुकाबला करने की जी-तोड़ कोशिश की। उदाहरण के लिए, लखनऊ में बनने वाली छींट को इंग्लैण्ड की महिलाएँ काफी पसन्द करती थी। 1754 ई० तक अंग्रेज रंगरेज दावा करने लगे कि वे भारतीय दस्तकारों से बेहतर छपाई कर सकते हैं। उसी समय औद्योगिक क्रांति और नई मशीनों ने इंग्लैण्ड के वस्त्र-उद्योग की मदद की। इससे भारतीय वस्त्रों के निर्यात की स्थिति बिगड़ गई। उस समय तक भारत में कम्पनी का शासन शुरू हो गया था। ब्रिटिश व्यापारियों और उत्पादकों के हितों की रक्षा के लिए यहाँ भारत में और वहाँ इंग्लैण्ड में कुछ कदम उठाए गए। इससे भारतीय उद्योग को अपार क्षति हुई।

कम्पनी का मुनाफा बढ़ाने के लिए उसके एजेण्टों ने कपड़ा तथा अन्य वस्तुओं के भारतीय उत्पादकों को मजबूर किया कि वे उनके बाजार भाव से बीस से चालीस प्रतिशत तक कम कीमत लें। उस समय ढाका मलमल के उत्पादन का सबसे बड़ा केन्द्र था। ढाका के उत्पादकों ने कीमतें घटाने का विरोध किया और ऊँची कीमतों की माँग की, तो उनके खिलाफ ताकत का इस्तेमाल

किया गया। अनेक बुनकरों के नाम बही में लिखे गए और उनके किसी अन्य का काम करने पर पाबन्दी लगा दी गई। कम्पनी के अधिकारी कपास की कीमत को नियंत्रित करने लगे, तो वस्त्र-उत्पादकों की कठिनाइयाँ और भी अधिक बढ़ गई। बंगाल में बढ़िया किस्म का कपास दक्कन से आता था। कम्पनी के अधिकारी दक्कन से थोक में कपास खरीदते थे और उसे ऊँची कीमतों पर बंगाल के बुनकरों को बेचते थे। इन सब कारणों से बुनकर समुदाय दरिद्र हो गया और सूती वस्त्र-उद्योग चौपट हो गया। इस प्रकार, अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक औद्योगिक सम द्धिवाला बंगाल प्रान्त लगभग बर्बाद हो गया।

भारत सरकार की स्वतंत्र व्यापार की नीति ने भारत को और भी बर्बाद कर दिया। मशीन से बने सस्ते सूती कपड़ों के आने से भारतीय वस्त्र-उद्योग को सबसे बड़ा धक्का लगा। यही नहीं, इंग्लैण्ड से भारत आनेवाली वस्तुओं पर यहाँ ऊँची चुँगी नहीं लगती थी। दूसरी ओर भारत से इंग्लैण्ड पहुँचनेवाली वस्तुओं पर ऊँची चुँगी लगती थी इस नीति के कारण भारत में ब्रिटिश माल की बाढ़ आ गई। विचित्र बात यह थी कि इन आयातित वस्तुओं में सूती कपड़े की मात्रा सबसे अधिक थी। भारत दस्तकार ब्रिटेन के उत्पादकों के सामने नहीं टिक पाए। इतना ही नहीं, ब्रिटिश सरकार ने भारत में इंग्लैण्ड में बनी वस्तुओं के खरीददारों की संख्या में व द्धि करने के उद्देश्य से पुनः विस्तार और विजय की नीति अपनाई और अवध जैसे संरक्षित प्रान्त को भी जीतकर अपने भारतीय साम्राज्य में मिला लिया। ब्रिटेन के अनेक अधिकारियों, राजनेताओं तथा व्यापारियों ने भारत में लगान की दर को कम करने की सिफारिश की जिससे कि भारतीय क षक ब्रिटिश वस्तुओं को खरीदने में समर्थ हो। उन्होंने भारत के आधुनिकीकरण का भी परामर्श दिया जिससे कि ज्यादा-से-ज्यादा भारतीय विदेशी सामानों की ओर आक ष्ट होते।

भारत के दस्तकारों द्वारा हाथों से बनाए गए सामान इंग्लैण्ड के कारखानों में मशीन द्वारा निर्मित सस्ते मालों की प्रतिस्पर्द्धा में टिक नहीं पाए। कोई भी सरकार जिसे भारतीय हितों का ख्याल होता उसने अवश्य ही आयात की चुँगी दर में व द्धि करके और पश्चिम की नई विकसित तकनीकी को भारतीय उद्योगों में लागू करके भारतीय उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने का प्रयास किया होता। ब्रिटेन ने स्वयं अपने यहाँ के उद्योगों के संदर्भ में अठारहवीं शताब्दी में ऐसा किया था। उस समय फ्रांस, जर्मनी और संयुक्त राज्य भी ऐसा ही कर रहे थे। बाद में जापान और सोवियत रूस ने भी वैसा ही किया। और, आज स्वतंत्र भारत में भी इसी तरह की नीति का पालन किया जा रहा है। परन्तु, उन दिनों भारत की अंग्रेजी सरकार ने न केवल ऐसा नहीं किया, बल्कि विदेशी मालों को स्वतंत्रतापूर्वक भारत में आने दिया। इस काल में भारत में विदेशी आयात की तेजी से व द्धि हुई। केवल ब्रिटेन के सूती कपड़ों का आयात जो 1813 ई० में 1,10,000 पौण्ड का था। 1856 ई० में बढ़कर 6,300,000 पौण्ड का हो गया।

जबकि एक ओर भारत के दरवाजे विदेशी मालों के लिए पूरी तरह से खोल दिए गए थे, दूसरी ओर भारतीय दस्तकारों द्वारा निर्मित वस्तुओं के आयात पर ब्रिटेन में चुंगी की दर काफी बढ़ा दी गई थी। उदाहरण के लिए, 1824 में भारतीय कैलिको वस्त्रों पर चुंगी की दर बढ़ाकर $67\frac{1}{2}$ प्रतिशत और मलमल पर $37\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया गया। भारतीय चीनी पर चुंगी की दर उसकी कीमत से तीन गुना अधिक थी। कुछ चीजों पर तो यह चार सौ प्रतिशत से भी अधिक थी। इन कारणों से विदेशों में भारतीय निर्यात में तेजी से पतन हुआ। ब्रिटिश विद्वानों ने भी इंग्लैण्ड की इस आर्थिक नीति की कड़ी आलोचना की है।

अब भारत को निर्मित वस्तुओं के स्थान पर विदेशों में कच्चे मालों को भेजने के लिए बाध्य होना पड़ा। इनमें से कुछ ब्रिटेन के उद्योगों के लिए बड़े ही आवश्यक थे जैसे कपास, रेशमी धागे, चाय, नील, खाद्यान्न इत्यादि। अंग्रेजों ने भारत में निर्मित अफीम को चीन के व्यापार में काफी बढ़ावा दिया, यद्यपि चीन में अफीम के आयात पर उससे होनेवाली हानि के कारण रोक लगा दी गई थी। वस्तुतः अफीम के इस व्यापार से ब्रिटेन के व्यापारियों को काफी मुनाफा होता था और इससे भारत में कम्पनी की सरकार को राजस्व के रूप में एक मोटी रकम मिल जाती थी। दिलचस्प बात तो यह है कि ब्रिटेन में अफीम के आयात पर कड़े प्रतिबन्ध लगे हुए थे।

सम्पत्ति का निर्गमनः अंग्रेजों ने भारत के एक हिस्से की सम्पदा एवं साधनों का ब्रिटेन में निर्यात किया जिसके बदले में भारत को समुचित आर्थिक एवं भौतिक प्रतिफल नहीं मिला। 'आर्थिक निर्गमन' ब्रिटिश शासन का विलक्षण तत्त्व था। भारत पर शासन करने वाली अब तक की सबसे खराब सरकार ने भी भारत के लोगों से वसूल किए गए राजस्व को भारत में ही खर्च किया था। उन्होंने सिंचाई, नहर-निर्माण, रास्तों के अथवा मस्जिदों, मन्दिरों, भवनों आदि के निर्माण अथवा युद्धों तथा विजयों पर, तथा अपने व्यक्तिगत शान-शौकत पर भी जो खर्च किया, इससे अन्ततः भारतीय व्यापार एवं उद्योगों को प्रोत्साहन या भारत के लोगों को रोजगार मिले थे। ऐसा इसलिए सम्भव हो पाया क्योंकि विदेशी विजेता भी, जैसे, मुगल, जल्द ही भारत में बस गए और इसे अपना देश मान लिया। किन्तु अँग्रेज सदा ही भारत में विदेशी बना रहे। अंग्रेज जो भारत में कार्यरत थे अथवा व्यापार करते थे, सदा ब्रिटेन वापस जाने की सोचते थे, और भारत सरकार पर एक विदेशी व्यापारी कम्पनी और ब्रिटेन की

सरकार का नियंत्रण था। फलस्वरूप अंग्रेज भारत के लोगों से प्राप्त करो तथा अपनी आमदनी के बड़े हिस्से को भारत में नहीं बल्कि अपने देश, ब्रिटेन, में खर्च करते थे।

बंगाल से सम्पदा का निर्गमन 1757 ई० में शुरू हुआ जबकि कम्पनी के अधिकारी एवं सेवक भारतीय राजाओं, जमींदारों, व्यापारियों तथा आम आदमियों से वसूल की गई अपार सम्पदा अपने देश ले जाने लगे। उन्होंनें 1758 ई० और 1765 ई० के बीच भारत से लगभग साठ लाख पौण्ड स्वेदश भेजा। यह धनराशि बंगाल के नवाब द्वारा 1765 ई० में वसूल की गई सम्पूर्ण राजस्व की राशि की चौगुनी से भी अधिक थी। 'धन परिगमन' की इस राशि में कम्पनी के व्यापार से होनेवाले लाभ की राशि शामिल नहीं थी। 1765 में कम्पनी को बंगाल की दीवानी मिल गई और इस प्रकार बंगाल के राजस्व पर उसका नियन्त्रण भी स्थापित हो गया। कम्पनी ने अपने सेवकों से भी आगे बढ़कर जल्दी ही प्रत्यक्ष रूप से 'धन परिगमन' को संगठित किया। इसने बंगाल से प्राप्त राजस्व से भारतीय वस्तुओं को खरीदकर उनका निर्यात करना शुरू किया। इस खरीददारी को 'निवेश' (Investments) कहा जाता था। इस प्रकार 'निवेश' (Investments) के माध्यम से बंगाल के राजस्व को इंग्लैण्ड भेजा जाने लगा। उदाहरण के लिए, 1765 ई० से 1770 ई० के बीच, कम्पनी ने वस्तुओं के रूप में लगभग 40 लाख पौण्ड अथवा बंगाल के सम्पूर्ण राजस्व का 33 प्रतिशत निर्यात किया। वास्तविक निर्गमन इससे भी ज्यादा था, क्योंकि वेतन का बड़ा अंश, तथा अंग्रेज अधिकारियों की आमदनी तथा अंग्रेज व्यापारियों के लाभ की राशि आदि भी इंग्लैण्ड को भेजी जा रही थी।

यद्यपि 'निर्गमन' की वार्षिक धन-राशि को अब तक हिसाब नहीं किया जा सकता है, और इतिहासकारों के बीच इसकी मात्रा को लेकर मतभेद है, 'निर्गमन' की बात को कम-से-कम 1757 ई० और 1857 ई० के बीच ब्रिटिश अधिकारियों ने भी स्वीकार किया। जैसे लॉर्ड एलेनबोरो जो सेलेक्ट कमिटी ऑफ दि हाउस ऑफ लार्ड्स का चेयरमैन और बाद में भारत का गवर्नर जनरल बना, ने भी इसे 1840 ई० में स्वीकार किया था। मद्रास के बोर्ड ऑफ रेवेन्यू के अध्यक्ष जॉन सूलीवान ने भी 'निर्गमन' की बात को माना है।

इस प्रकार 1813 ई० के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी की व्यापारिक नीति पूरी तरह से ब्रिटेन के उद्योग से नियंत्रित थी। इसका मुख्य उद्देश्य भारत को एक ऐसे देश में परिवर्तित कर देना था जो ब्रिटेन की वस्तुओं को खरीदनेवाला और उसके उद्योगों को कच्चे माल भेजनेवाला देश होता।

भारत का आर्थिक शोषण

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना का मुख्य उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण था। यह आर्थिक शोषण भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का सबसे अधिक कलंकपूर्ण अध्याय है। 1700 ई० में भारत की आर्थिक दशा का वर्णन करते हुए एक फ्रांसीसी यात्री **ट्रैवर्नियर** ने लिखा था, "यह भारत का एक अथाह गढ़ा है जिसमें संसार का अधिकांश सोना और चाँदी चारो तरफ से अनेक रास्तों से आ-आकर जमा होता है और जिसे बाहर निकलने का एक भी रास्ता नहीं मिलता। अपनी दो यात्राओं के दौरान मैं बंगाल के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त कर सका हूँ, वह मुझे यह विश्वास दिलाता है कि यह मिस्र से भी अधिक धनी देश है।" इसके दो सौ वर्ष बाद अर्थात् 1900 के भारत की आर्थिक दशा का वर्णन करते हुए **विलियम डिग्बी** ने "10 करोड़ मनुष्य भारत में ऐसे हैं जिन्हें किसी समय भी भरपेट अन्न नहीं मिल सकता। इस अधोपतन की दूसरी मिसाल इस समय किसी सभ्य या उन्नतिशील देश में कहीं पर दिखाई नहीं देती।"

ऊपर हमने भारत की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में विपरीत विचारों को उद्धत किया है जिनको पढ़कर भारत की परिवर्तित आर्थिक अवस्था का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। अंग्रेजों के आने और भारत में उनके राज्य कायम होने का यह सबसे बुरा परिणाम साबित हुआ। यदि अंग्रेज व्यापारी बनकर धन कमाने के लिए भारत में न आए होते और केवल राज्य जीतना उनका लक्ष्य होता, तो सम्भव था कि देश का इतना भयानक शोषण न हुआ होता, लेकिन वे धन कमाने के उद्देश्य से भारत आये थे, और इसी क्रम में वे अचानक भारत के शासक बन गए। फलतः उनके शासन का मुख्य उद्देश्य हर अनैतिक तरीके से धन कमाना हो गया। कम्पनी के शासन-काल में भारत औपनिवेशिक शोषण का शिकार बना रहा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्य की स्थापना के पूर्व मुगल बादशाहों के शासन-काल में देश की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी और उन्नत थी। वस्तुओं की कीमत सस्ती थी तथा किसानों की स्थिति संतोषजनक थी। दस्तकारियों तथा कुटीर उद्योगों का विकास चरम सीमा पर पहुँच चुका था। कम्पनी के शासन के पहले ग्रामीण व्यवस्था उसकी अर्थव्यवस्था की रीढ़ थी। ग्रामीण बस्तियाँ छोटे-छोटे प्रजातंत्र थीं जो पूर्णत् स्वावलम्बी थीं। इन स्वावलम्बी ग्रामीण बस्तियों का उल्लेख प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता तथा दार्शनिक कार्ल मार्क्स ने अपने '**भारत पर लेख**' के अन्तर्गत बड़े प्रभावशाली ढंग से किया है।

मार्क्स द्वारा चित्रित इस व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक द ष्टि से भारत कितना सम्पन्न था उसका उल्लेख भारत में अंग्रेज सत्ता का बीजारोपण करनेवाले लार्ड क्लाइव ने स्वयं किया है। 1757 ई० में बंगाल की पुरानी राजधानी मुर्शिदाबाद में प्रवेश के बाद उसने लिखा था कि "यह शहर उतना विस्त त, घनी बस्तीवाला और धनी है जितना लंदन, लेकिन फर्क यह है कि यहाँ के लोगों के पास लंदन के लोगों से बहुत अधिक सम्पत्ति है।" **टैवर्नियर** ने भी लिखा है कि "छोटे-छोटे से गाँव में चावल, आटा, मक्खन, दूध और चीनी आदि अधिक परिमाण में उपलब्ध हो सकते हैं।" यदि केवल बंगाल के आर्थिक इतिहास का ही अध्ययन किया जाए तो पता चल जाएगा कि भारत का उद्योग एवं व्यापार सत्रहवीं शताब्दी के अन्त और अठारहवीं शताब्दी के शुरू में बहुत ही विकसित था। मुगल साम्राज्य के अभ्युदय काल में भारत एक सम द्धशाली देश था। भोजन तथा वस्त्र के सम्बन्ध में भारत केवल स्वावलम्बी ही न था, बल्कि वह इन चीजों को दूसरे देशों में भेजता था। हमारे उद्योग-धंधे बहुत ही उन्नत दशा में थे। ढाका की मलमल अपनी बारीकी के लिए संसार भर में प्रसिद्ध थी। इसी तरह पंजाब और कश्मीर के ऊनी वस्त्र भी जगत-प्रसिद्ध थे। पीतल, ताँबा और सोना-चाँदी जैसी धातु के सामान भी भारत में खूब बनते थे। हाथी दाँत तथा चन्दन की लकड़ी की सुन्दर वस्तुएँ यहाँ के कुशल कारीगर तैयार करते थे। हीरे और सोने की खानों के लिए गोलकुण्डा भारत भर में प्रसिद्ध था। भारत का जहाज उद्योग भी अत्यन्त उन्नत था। देश के निवासी अधिकांशतः गाँवों में रहते थे। प्रत्येक गाँव में एक पंचायत होती थी जो गाँव की व्यवस्था, शान्ति और सम द्धि के लिए प्रयत्नशील रहती थी। भारत में कम्पनी का राज्य स्थापित होने से पूर्व देश की आर्थिक दशा उपर्युक्त प्रकार की थी।

अंग्रेजी राज्य कायम होने के बाद स्थिति अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह सकी। जब अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो गई तब अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति के कारण भारत की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अर्थलोलुपता तथा सीमित क्षेत्र औद्योगिक क्रांति के प्रभाव के कारण भारत की आर्थिक रीढ़ टूट-सी गई। क षि-व्यवस्था क्षत-विक्षत हो गई। उद्योग-धंधे नष्ट हो गए। अंग्रेजों की नीति थी भारत का शोषण करना, उसको उजाड़ करके ब्रिटेन की आर्थिक प्रगति करना, इसके लिए अंग्रेजी सरकार ने कई तरीक अपनाए।

1. **एकाधिकार का युगः** भारत की परम्परागत और काफी ठोस अर्थव्यवस्था को ब्रिटेन शासन के रूप में विदेशी पूँजीवाद ने जड़मूल से चकनाचूर कर दिया। अंग्रेजों से पहले भारत पर कई विदेशी हमले हुए और अन्य लोगों ने भी भारत को जीतकर उस पर अपना शासन कायम किया था, लेकिन पहले के विजेताओं और अंग्रेज विजेताओं में एक महान् अन्तर था। पहले के विदेशी विजेताओं ने भारत के आर्थिक संगठन को तोड़ने का यत्न नहीं किया और अन्त में वे उसी में घुल-मिल गए। लेकिन अंग्रेजों ने इस नीति पर अमल नहीं किया। वे शुद्ध विदेशी ताकत के रूप में बाहर से काम करते रहे और भारत से खिराज वसूल कर इंग्लैण्ड ले जाते रहे। इस नई उथल-पुथल पर टिप्पणी करते हुए मार्क्स ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में लिखा है-"लेकिन इस बात में संदेह नहीं हो सकता कि हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों ने जो मुसीबत ढाई है, वह हिन्दुस्तान पर अब तक पड़ी तमाम मुसीबतों से बुनियादी तौर पर भिन्न और कहीं ज्यादा गहरी मुसीबत है।"

   भारत के साथ व्यापार करने में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मूल उद्देश्य भारत के माल और पैदावार पर अपना एकाधिकार कायम करके मुनाफा कमाना था। अंग्रेजी माल के लिए बाजार की तालाश करना कम्पनी का लक्ष्य नहीं था। उसकी कोशिश केवल यह रहती थी कि भारत और पूर्वी द्वीप समूह की पैदावार उसे मिल जाय क्योंकि इंग्लैण्ड और यूरोप में इन चीजों की बड़ी माँग थी और यूरोपीय मण्डियों में इन्हें बेचकर काफी मुनाफा कमाया जा सकता था। परन्तु उनको लेकर शुरू से ही कम्पनी के सामने एक समस्या थी। भारत से मसाले, सूती और रेशम सामान आदि लेने के लिए जरूरी था कि बदले में भारत को कुछ दिया जाय, लेकिन इस समय तक इंग्लैण्ड ऐसी अविकसित स्थिति में था कि उसके पास भारत को देने के लिए कोई मूल्यवान चीज नहीं थी। इसलिए भारत में माल खरीदने के लिए अंग्रेजों को सोना-चाँदी देना पड़ता था। प्रारम्भिक पूँजीवाद के व्यापारिक द ष्टिकोण से यह सौदा बड़ा महँगा माना जाता था क्योंकि उस जमाने में इन बहुमूल्य धातुओं को ही देश की असली दौलत माना जाता था।

   1765 में कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिल गई और मालगुजारी वसूल करने का काम कम्पनी के हाथों में आ गया। इसके बाद व्यापार के 'मुनाफे' के अतिरिक्त सीधी और बेतहाशा लूट का एक नया रास्ता खुल गया। कम्पनी के कर्मचारियों ने क षकों का शोषण करना शुरू कर दिया। कम्पनी भूमि की मालिक हो गई थी।

2. **भारत की लूटः** कम्पनी की लूट पलासी युद्ध के तुरन्त बाद ही शुरू हुई। मीर जाफर और मीर कासिम को कम्पनी और कर्मचारियों को हरजाना और रिश्वतों के रूप में जो धनराशि देनी पड़ी उसकी मात्रा तीन करोड़ रूपये से कम नहीं रही होगी। यह मात्रा कितनी बड़ी थी इसका अनुमान लगाया जा सकता है, जब हम यह ध्यान में रखें कि उस रूपये की कीमत वस्तुओं के रूप में आजकल के रूपये से कम-से-कम सौ गुनी अधिक थी जब कम्पनी को लगान वसूली का अधिकार मिल गया तब भारत की पूरी लुटाई होने लगी। अनेक भागों से भारत का सोना इंग्लैण्ड जाने लगा।

3. **लगानः** 1765 ई० में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त होने पर कम्पनी की लूट-खसोट और बढ़ गई। लगान के नाम पर किसानों का खून खूब चूसा गया। उनकी तबाही और बर्बादी का अंदाजा प्रतिवर्ष बढ़नेवाली मालगुजारी की रकम के तत्कालीन आँकड़ों से लगाया जा सकता है। बंगाल के अन्तिम भारतीय शासक ने अपने शासन के अन्तिम वर्ष (1764-65) में मालगुजारी के रूप में आठ लाख, सत्रह हजार पौण्ड वसूल किए थे। कम्पनी के शासन काल के प्रथम वर्ष (1765-66) में यह रकम बढ़कर चौदह लाख, सत्रह हजार और 1771-72 ई० में तेइस लाख इक्तालीस हजार तथा 1775-76 ई० तक यह रकम अट्ठाईस लाख, अट्ठारह हजार पौण्ड हो गई।

4. **दस्तक प्रथाः** जिन उपायों से कम्पनी और उसके अंग्रेज कर्मचारी धन लूटते या ऐंठते थे, वह अनेक थे। उसमें मुख्य दस्तक प्रथा थी। दस्तक प्रथा की बुनियाद शाहजादा शुजा के समय में पड़ी थी। यह बंगाल का गवर्नर था। उस समय बंगाल में अंग्रेजों की व्यापार की मात्रा बहुत कम थी। कम्पनी ने शाहजादा से यह अधिकार प्राप्त कर लिया कि प्रतिवर्ष इकट्ठी तीन हजार रूपये की रकम लेकर कम्पनी को आन्तरिक व्यापार पर लगनेवाली ढाई फीसदी चुंगी से मुक्त कर दिया जाय। ज्यों-ज्यों कम्पनी की शक्ति बढ़ती गई, त्यों-त्यों दस्तकों का दुरुपयोग भी बढ़ता गया। कम्पनी के व्यापार की मात्रा बहुत बढ़ गई।

5. **व्यापार का एकाधिकारः** बंगाल के व्यापार पर एकाधिकार रखने के लिए अंग्रेजों ने कोई कसर नहीं उठा रखी। वे भारतीय कारीगरों को अपनी-अपनी चीजें कम कीमत पर बेचने के लिए बाध्य करने लगे। इसके लिए उन्होंने पेशगी रूपया देने की प्रथा चलाई। इस प्रथा के अनुसार, कम्पनी के कर्मचारी यहाँ के जुलाहे को कुछ पेशगी रूपया दे देते थे और उससे एक शर्तनामा लिखवा लिया करते थे कि वे एक निश्चित तिथि के अनुसार निश्चित परिमाण में और निश्चित मूल्य पर कपड़ा देंगे। कम्पनी कपड़े के मूल्य की दर तय करती थी वह बाजार में प्रचलित दर या भाव से कम रहती थी, इससे जुलाहों को बड़ा घाटा होता था। जो जुलाहे कम्पनी से पेशगी रूपया लेने को तैयार नहीं होते थे उन्हें कम्पनी के कर्मचारी कोड़े लगवाते थे और शर्तनामे पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश करते थे। जिससे घबराकर कुछ जुलाहे भाग खड़े हुए, कितनों ने यह धंधा ही छोड़ दिया। नतीजा यह हुआ कि बंगाल का विकसित वस्त्र और रेशम उद्योग एकदम खत्म हो गया।

   कम्पनी ने भारत में राजनीतिक अधिकार प्राप्त करके उससे आर्थिक लाभ उठाना शुरू किया। वह राजनीतिक शक्ति का उपयोग इंग्लैण्ड के व्यापारिक तथा औद्योगिक लाभ के लिए करने लगी। उन लोगों ने अपने व्यापार को कर से बिल्कुल मुक्त कर लिया।

6. **औद्योगिक पूँजीवाद का युगः** भारत के साम्राज्यवादी शोषण के इतिहास में 1813 ई० वर्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाएगा। इस वर्ष भारत के व्यापार पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिकार का अन्त हो गया और एक दूसरा अध्याय शुरू हुआ। अब से औद्योगिक पूँजीवाद द्वारा भारत के शोषण का एक नया काल शुरू हुआ।

   1757 में पलासी की लड़ाई के बाद इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति हुई और नए-नए आविष्कारों का ताँता बन गया। इंग्लैण्ड की इस औद्योगिक क्रांति को सम्भव बनाने में भारत की लूट ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। पलासी के युद्ध के बाद जैसा कि हम देख चुके हैं, भारत की दौलत बरसाती नदी की तरह इंग्लैण्ड की तरफ बह चली। इसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड में इस वक्त तक इतनी पूँजी जमा हो चुकी थी कि जिससे इन आविष्कारों को बड़े पैमाने पर प्रयोग करना सम्भव हो गया। 1813 के आते-आते औद्योगिक पूँजीवाद का युग प्रारम्भ हो गया। इसकी विशेषता यह थी कि सबका ध्यान ब्रिटेन के नए उठते हुए और मशीनों से चलनेवाले उद्योग-धंधों में बने माल के बाजार के रूप में भारत का प्रयोग करना था। इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप बड़े-बड़े कारखाने खुल चुके थे। इन कारखानो में कम खर्च पर अधिक कपड़ों का उत्पादन होने लगा था। सस्ती लागत पर उत्पन्न इन कपड़ों को भारतीय बाजारों में बिखेर दिया गया,

क्योंकि ये माल मिल में तैयार हुए थे इसलिए हाथ से बने भारतीय कपड़ों से सस्ते थे। फलतः अंग्रेजी कपड़ों की प्रतियोगिता में भारतीय कपड़े ठहर नहीं सके। भारत के वस्त्र उद्योग को जबर्दस्त धक्का पहुँचा। विदेशी बाजार तो पहले से ही हाथ से निकल चुके थे अब देशी बाजार भी खत्म हो गया। इससे देश का आर्थिक हास बड़ी तीव्र गति से आरम्भ हुआ। इतिहासकार **मांटगोमरी मार्टिन** ने लिखा है-"सूरत, ढाका, मुर्शिदाबाद तथा अन्य स्थानों की, जहाँ भारतीय उत्पादक रहते थे, बरबादी और सर्वनाश इतना अधिक दर्दनाक तथ्य है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। मैं इसे व्यापार का न्यायपूर्ण तरीका नहीं मानता। मेरे विचार में यह निर्बल पर सबल का बल-प्रयोग है।"

इस प्रकार औद्योगिक पूँजीवाद की नई नीति ने भारत को ब्रिटिश पूँजीवाद का एक ऐसा खेतिहर उपनिवेश बना दिया जो ब्रिटेन को अपना कच्चा माल देता था और उससे कारखानों का बना माल खरीदता था। इस औद्योगिक पूँजीवाद के कारण भारत के गाँवों में बेकारों की संख्या में अत्यधिक व द्धि हुई। लाखों व्यक्ति आजीविका के अभाव में अकाल के मुँह में समा गए। कम्पनी के राज में उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में सात बार अकाल पड़ा जिसमें कुल मिलाकर 15000 व्यक्ति भूख से तड़प-तड़प कर मर गए।

1833 के बाद औद्योगिक पूँजीवाद ने औपनिवेशिक शोषण का एक और क्षेत्र खोज निकाला। उस वर्ष कम्पनी सरकार द्वारा अंग्रेजों को भारत में जमीन खरीदकर बागानों के मालिकों के रूप में वहाँ बस जाने की इजाजत दी गई। इस निर्णय के फलस्वरूप भारत में बागानों की प्रथा बड़े जोर-शोर से चल पड़ी।

7. **युद्धों का प्रभावः** कम्पनी ने भारत विजय और भारत पर अधिकार बनाए रखने का सारा व्यय भारत से ही वसूल किया। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड के हित की रक्षा के लिए जब तब भारतीय पलटन मिस्त्र, जावा, बर्मा, अफगानिस्तान और चीन भेजी गई और उनका व्यय भी भारत को ही सहन करना पड़ा। अकेले अफगान युद्ध में ही पंद्रह करोड़ रूपये व्यय हुए थे। इस प्रकार इंग्लैण्ड के हित के लिए लड़े गए युद्धों में अरबों रूपये का व्यय भारत को ही वहन करना पड़ा।

8. **भीषण आर्थिक शोषणः** बंगाल की कारीगरी और व्यापार की अन्तिम चोट जमीन के स्थाई बन्दोबस्त से पहुँची। स्थाई बन्दोबस्त ने जमींदारों की बढ़ोत्तरी दी जिससे मूल धन की बड़ी मात्रा खेती की ओर झुक गई। व्यापार पहले ही मन्दा हो रहा था, इस अन्तिम चोट ने उसका लगभग सर्वनाश कर दिया।

इन परिस्थितियों से इंग्लैण्ड के व्यापारियों ने पूरा लाभ उठाया। जैसे-जैसे भारत की व्यापारिक इमारत गिरती गई, इंग्लैण्ड का भवन खड़ा होता गया। लार्ड डलहौजी के समय बन्दरगाहों की सुविधाओं को बढ़ाकर विलायत के माल के प्रवेश का मार्ग और अधिक खुला कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवीं सदी के मध्य तक पहुँचते-पहुँचते भारत की कारीगरी और व्यवसाय लगभग नष्ट हो गए। बंगाल, लखनऊ, अहमदाबार, नागपुर, मथुरा, बनारस और कश्मीर जैसे उत्तमोत्तम वस्तुओं के निर्माण के ठिकाने उजड़ने लगे और उनकी जगह मैन्चेस्टर और लिवरपूल के कारखानों का धुआँ आकाश को चूमने लगा। इस तरह उन्नीसवीं सदी के अन्त तक कम्पनी की धनलोलुप नीति के कारण भारत, कारीगरी और व्यापार की द ष्टि से सर्वथा अपाहिज और पराधीन हो चुका था।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात हुआ। यद्यपि अंग्रेजों ने इस क्रांति को रोकने के लिए तरह-तरह के अड़ंगे लगाए, फिर भी मन्दगति से भारत में औद्योगिक क्रांति होने लगी। कुछ मिलें खुली, कुछ फैक्टरियाँ बनी। भारत के हित में यह कोई बुरा नहीं हुआ, फिर भी इसका एक बहुत ही अशुभ परिणाम हुआ। मिल पर आश्रित बड़े-बड़े उद्योगों के खुलने से ग ह-उद्योगों को गहरा आघात पहुँचा। इसके परिणामस्वरूप भारत की प्राचीन आर्थिक व्यवस्था पूर्णतः नष्ट हो गई। अंग्रेज तो यही चाहते थे कि भारत आर्थिक द ष्टि से पंगु हो जाए। इसके कारण लाखों भारतीय बेकार हो गए और सारा देश एक महान प्रलय में डूब गया। वास्तव में भारत की आर्थिक विश ंखलता ब्रिटिश शासन का अत्यन्त दुखदायी परिणाम है।

9. **वित्तीय साम्राज्यवाद का युगः** बीसवीं सदी के प्रारम्भ में प्रथम विश्व युद्ध के साथ आर्थिक उपनिवेशवाद के क्षेत्र में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीति फिर बदली जिसके फलस्वरूप एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग को वित्तीय साम्राज्यवाद की मंजिल कहते हैं। उन्नीसवीं सदी के वित्तीय आँकड़ों को देखा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि व्यापार के विकास के साथ-साथ वह 'खिराज' भी लगातार बढ़ता गया। इसके साथ ही शोषण का एक नया तरीका निकला जो स्वतंत्र व्यापार पर आधारित उन्नीसवीं सदी के पूँजीवाद की परिस्थितियों के कारण जन्मा। शोषण के इस नए तरीके को वित्तीय

साम्राज्यवाद का युग कहते हैं। इस युग का आरम्भ एक प्रकार से 1858 ई० में ही हो गया था जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी को खत्म करके भारत को ब्रिटेन से पूरे पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में ब्रिटिश सरकार का सीधा शासन स्थापित किया गया। इसके लिए भारत में उन सभी साधनों को प्रबन्ध करना था जिनसे उनके शोषण में अंग्रेजों को मदद मिल सकती थी। अतः भारत में रेल-लाइनों का निर्माण धड़ल्ले से होने लगा, नई-नई सड़कें बनवाई गई और पुरानी सड़कों की मरम्मत की गई। बिजली विकसित करने का प्रयास किया गया। अंग्रेजों ने इन सारे प्रयासों से भारत में आर्थिक साम्राज्यवाद की नींव डाली। यह वित्तीय साम्राज्यवाद की मंजिल थी।

समय के साथ-साथ वित्तीय साम्राज्यवाद का रूप विकराल होता गया। भारत में लगी हुई ब्रिटिश पूँजी से होनेवाले मुनाफे की रकम बराबर बढ़ती गई। एक अनुमान के अनुसार 1913-14 ई० में भारत और ब्रिटेन के बीच कुल 170 पौण्ड का व्यापार हुआ था। भारत में लगी हुई ब्रिटिश पूँजी से सब मिलाकर 400 लाख पौण्ड का आमदनी हुई थी। इस प्रकार बीसवीं सदी में वित्तीय साम्राज्यवाद के माध्यम से भारत का शोषण ही इस देश की लूट का मुख्य साधन बन गया था।

10. **भारत का नव उद्योगीकरण:** ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत के औद्योगिक विकास का विरोध करता था और सरकार द्वारा ऐसी चुंगी नीति अपनाई गई थी जिसमें भारत में औद्योगिक विकास बड़ा कठिन था। कांग्रेस द्वारा चलाए गए स्वदेशी आन्दोलन से भारत के पूँजीपतियों का भी उत्साह बढ़ा और वे भी औद्योगीकरण की दिशा में सक्रिय हो उठे। उन्नीसवीं सदी के अन्त में कपास, जूट, कागज, लोहा, चमड़ा आदि उद्योगों का विकास प्रारम्भ हुआ।

प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने पर सरकारी नीति में भी परिवर्तन हुआ और यह घोषणा की गई कि आर्थिक क्षेत्र में सरकार का लक्ष्य भारत का औद्योगीकरण करना है। इसका कारण यह था कि युद्ध के समय, अंग्रेजों को भारतीय उद्योग-धंधों की कमजोरी का पता चला। बाहर से वस्तुओं के आने के मार्ग अवरुद्ध हो गए और यह जरूरी हो गया कि कुछ वस्तुओं का निर्माण भारत में ही हो। एक दूसरा कारण भारत की आन्तरिक राजनीति थी। युद्ध-काल और युद्धोत्तर काल में भारत पर अंग्रेजी आधिपत्य जमाए रखने के लिए भारत के पूँजीपति वर्ग का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक हो गया।

इसी प ष्ठभूमि में 1916 ई० में सरकार द्वारा एक औद्योगिक आयोग की नियुक्ति हुई, लेकिन इसकी सिफारिशों के प्रकाशित होने के पहले ही युद्धोपयोगी सामग्री के लिए एक आर्थिक बोर्ड की स्थापना हुई। यह बोर्ड भारतीय कम्पनियों को विदेश से मशीन मँगवाने में मदद देता था और भारतीय मालों को बाहर बिकवाने का प्रबन्ध करता था। इसने नए उद्योगों के विकास के लिए भी यत्न किए।

1918 ई० में औद्योगिक आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसमें कहा गया था कि उद्योग-धंधों के विकास को सरकार प्रोत्साहन दे, सरकार के अन्तर्गत इससे समबद्ध विभाग की स्थापना हो और औद्योगिक विकास के लिए शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय। सरकार ने इस रिपोर्ट के कुछ अंशों को मानकर कुछ कार्य भी किए। विश्व युद्ध के समाप्त होने के बाद भारतीय उद्योग-धंधों का हास लगा क्योंकि भारतीय माल विदेशी प्रतिद्वन्द्विता के सामने नहीं टिक सकता था। 1929 ई० में विश्वव्यापी आर्थिक संकट के कारण भारतीय उद्योग-धंधों को और भी धक्का लगा। इस आर्थिक मंदी के बावजूद भारत से इंग्लैण्ड जानेवाले खिराज, कर्ज का सूद और घरेलू खर्च की मद की रकम में कोई कमी नहीं आई। इसके विपरीत मूल्यों के गिर जाने के कारण उसका बोझ अब पहले से दुगुना हो गया था और यह पूरी रकम भारत से बेरहमी के साथ वसूल की गई। 1931-35 ई० के बीच 320 लाख औंस सोना भारत से इंग्लैण्ड गया।

वित्तीय साम्राज्यवाद के युग में भारत के आर्थिक शोषण के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने बैंक-व्यवस्था का पूरा प्रयोग किया। 1935 में भारत में रिजर्व बैंक की स्थापना हुई। इस बैंक की सारी व्यवस्था ब्रिटिश पूँजीवाद का समर्थन करती थी। 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारत में ब्रिटिश वित्तीय साम्राज्यवाद का शिकंजा और भी मजबूत हो गया। यह उम्मीद की गई थी कि युद्ध से उत्पन्न स्थिति का मुकाबला करने के लिए अंग्रेज सरकार भारत के उद्योगीकरण का पूरा प्रयास करेगी, लेकिन इस प्रश्न पर साम्राज्यवादियों के रूख में कोई परिवर्तन नहीं आया। इसके विपरीत इस काल में भारत का ऐसा भयंकर शोषण किया गया जैसा ब्रिटिश शासन के पूरे इतिहास में कभी नहीं हुआ था। इसके बाद

इस अत्यन्त महँगे युद्ध का सारा बोझ भारतीय जनता पर डाल दिया गया। सरकार ने अंधाधुन्ध मुद्रा प्रसार की नीति का अवलम्बन किया। द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने पर भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त नाजुक हो गई। वह आसमान को छूने वाला मुद्रा-प्रसार महँगाई और आम तबाही का घोर शिकार हो गया। जिस समय भारत स्वतंत्र हुआ उस समय उसने इसी संकटापन्न स्थिति में अपने को पाया। यह आश्चर्य की बात नहीं कि भारत में अंग्रेजी शासन का आरम्भ और अन्त दोनों ही रोमांचकारी दुर्भिक्षों से अंकित है। उस शासन का आरम्भ 1770 ई० के दुर्भिक्ष से और अन्त 1944 ई० के दुर्भिक्ष में हुआ।

क षि की दुर्गति और भूमि-व्यवस्था

क षि की दुर्गति

क षि भारत के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार रही है। अंग्रेजों के आने से पहले भारत की खेती उन्नत दशा में थी लेकिन साम्राज्यवाद की शोषण-नीति के फलस्वरूप खेती में घोर संकट उत्पन्न हो गया। भारत सरकार की आर्थिक पैदावार के सम्बन्ध में सलाह देनेवाले एक अफसर **सर जार्ज वाट** ने 1894 ई० में कहा था कि "यदि केवल अविकसित साधनों के मूल्य और विस्तार को देखा जाय, तो संसार के बहुत कम देशों में खेती का इतने शानदार ढंग से विकास करने की क्षमता है, जैसी भारत में है।" ऐसी सम्भावना होने पर भी सम्पूर्ण ब्रिटिश शासन-काल में भारत की क षि संकट-काल से गुजरती रही। इस संकट के मूल में कई बातें थी। सबसे प्रमुख प्रश्न खेती पर आबादी का दबाव जरूरत से ज्यादा बढ़ना था क्योंकि लोगों के लिए दूसरे सभी आर्थिक रास्ते बन्द हो गए थे। 1918 ई० 'मांटेगू चेम्सफोर्ट रिपोर्ट' में कहा गया था कि "यदि पूरे भारत को लिया जाय तो 22 करोड़ 60 लाख आदमी भूमि के सहारे जीते हैं और 20 करोड़ 80 लाख प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपनी या दूसरों की जमीन को जोत-बोकर जीविका कमाते हैं।" अंग्रेजी राज्य में आबादी का खेती पर निर्भर करनेवाला भाग बराबर बढ़ता रहा। इसका एक ही कारण है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आने के पहले भारत के उद्योग-धंधों और खेती में एक प्रकार का संतुलन था। अंग्रेजों की इस नीति ने इस संतुलन को एकदम नष्ट कर दिया और भारत एक विशुद्ध खेतिहर देश बन गया।

खेती पर आबादी के बढ़ते हुए दबाव से उत्पन्न समस्या का भी समाधान हो सकता था यदि साम्राज्यवादी शक्ति की कुछ करने की इच्छा होती, लेकिन सरकार की ओर से खेती के विकास की तरफ मुजरियाना लापरवाही बरती गई। भारत में पैदावार के बहुत पिछड़े तरीके अपनाए जाते थे और तरह-तरह के भारी बोझों ने खेती की कमर तोड़ रखी थी। खेती करने के ढंग में कोई परिवर्तन नहीं होने के कारण खेती बढ़ती हुई आबादी की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में असमर्थ सिद्ध हुई। इस काल में खेती के लायक जितनी जमीन थी उसका पूरा-पूरा उपयोग कभी नहीं किया जाता था। 1930 में अर्थशास्त्रियों का यह अनुमान था कि खेती के लायक देश में जितनी जमीन थी उसका सत्तर प्रतिशत भाग बेकार पड़ा रहा। 1939-40 के एक सरकारी आँकड़े के अनुसार उस वर्ष देश में कुल 35 करोड़ 50 लाख एकड़ जमीन ऐसी थी जिस पर खेती हो सकती थी, लेकिन उनमें से केवल 59 प्रतिशत जमीन पर ही फसल बोई गई थी।

ब्रिटिश शासन-काल में खेती का उत्पादन-स्तर भी निरन्तर गिरता गया। यदि 1936-37 ई० का औसत निकाला जाय तो दूसरे विश्व युद्ध के पहले भारत में अनाज की एकड़ उपज लगभग सात मन के साढ़े आठ सेर थी, वह 1944-45 ई० में वह मन साढ़े छब्बीस सेर रह गई। पैदावार के इस औसत को मानवीय प्रयास से बढ़ाया जा सकता था लेकिन साम्राज्यवादी सरकार ने सिंचाई और सार्वजनिक निर्माण के कार्यों पर कभी ध्यान नहीं दिया और इस ओर पूरी लापरवाही बरती गई। 1930 ई० में बंगाल की सिंचाई विभाग की रिपोर्ट में साफ-साफ कहा गया था कि-"इस प्रान्त के आर्थिक जीवन के लिए नहरों और नदियों का बहुत ही निर्णायक महत्त्व है, लेकिन उसकी ओर जो लापरवाही दिखाई गई है उससे हालत इतनी बिगड़ गई है कि अब उसे संभाला नहीं जा सकता और यह सारा इलाका अन्ततः दलदल और जंगल में बदल जाएगा।"

ब्रिटिश साम्राज्यवाद की इस भूमि सम्बन्धी नीति के परिणाम अत्यन्त भयानक हुए। किसानों की गरीबी अधिकाधिक तेजी से बढ़ी, जोतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटवारा हो गया और व हद् पैमाने पर किसानों के खेत उनके हाथों से निकलने लगे। इस सबके परिणामस्वरूप किसानों में वर्ग-भेद बढ़ा और उसके कारण किसानों की एक बहुत बड़ी संख्या भूमिहीन सर्वहारा की हालत में पहुँच गई। ब्रिटिश शासनकाल में साम्राज्यवादी शासन और अन्यायपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी जिनमें अधिकतर किसानों को आधा पेट खाकर रह जाना पड़ता था।

किसानों पर भारी बोझ

हमने पहले देखा है कि कम्पनी के शासन-काल में जमींदारी और रैयतवारी भूमि-व्यवस्थाएँ लागू की गई थी। जिन क्षेत्रों में जमींदारी व्यवस्था लागू की गई थी वहाँ जमींदार, सरकार और किसानों के बीच मध्यस्थ बनकर, राजस्व वसूल करके सरकार को देते थे। रैयतवारी व्यवस्था में सरकार का किसानों से सीधा सम्बन्ध था। राजस्व की नियमित वसूली हो सके इसलिए ये व्यवस्थाएँ लागू की गई थी। मगर जल्द ही यह बात साफ हो गई कि जमींदारी व्यवस्था ने किसानों पर भारी बोझ डाल दिया है। जमींदारों द्वारा किसानों से की जानेवाली माँगों पर रोक लगाने के लिए अनेक कानून बनाए गए। ये कानून जमींदारों द्वारा किसानों की बेदखली पर भी रोक लगाते थे। मगर काफी सीमा तक ये कानून निष्फल रहे। रैयतवारी क्षेत्रों में तो, जहाँ सरकार के राजस्व-अधिकारी ही असली मालिक थे, ये कानून भी नहीं थे। इन क्षेत्रों में सरकारी अधिकारी, किसानों की वास्तविक आर्थिक दशा पर ध्यान दिए बिना ही, राजस्व का पुनर्निधारण करते रहे।

किसानों की बदतर स्थिति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण जमींदारों तथा राजस्व अधिकारियों द्वारा समय-समय पर लगान की दर में व द्धि था। लगान की बढ़ती हुई दर इस द ष्टि से और भी हानिकारक सिद्ध हुई कि इसके बदले में किसानों को कोई आर्थिक लाभ नहीं मिला। सरकार ने क षि को समुन्नत बनाने के लिए कोई प्रयास नहीं किया। इसके लिए उसने कुछ खर्च नहीं किया। आमदनी की सारी धन-राशि को प्रशासन, इंग्लैण्ड को अप्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से दिए जानेवाले खिराज तथा ब्रिटिश व्यापार एवं उद्योगों के हितों की रक्षा पर खर्च कर दिया गया। यहाँ तक कि कानून-व्यवस्था को बनाए रखने का लाभ भी व्यापारियों तथा महाजनों को मिला, किसानों को नहीं।

लगान की अत्यधिक व द्धि के हानिकारक प्रभाव लगान वसूली के तौर-तरीकों के चलते और भी घातक हो गए। लगान को निश्चित तिथि पर जमा करना था; उस हालत में भी जब पैदावार सामान्य से कम अथवा पूरी तरह से नहीं हुई हो। जब किसान लगान नहीं दे पाता था तो सरकार उसकी जमीन, लगान की बकाया रकम प्राप्ति करने के लिए बेच देती थी। किन्तु बहुधा ऐसी स्थिति में किसान स्वयं अपनी जमीन का अंश बेच देता था और लगान की राशि का भुगतान कर देता था। दोनों अवस्थाओं में वह अपनी जमीन खो बैठता था।

इस उत्पीड़क वसूली का नतीजा यह हुआ कि किसानों को विवश होकर महाजनों की शरण में जाना पड़ा। महाजन उन्हें ऊँची ब्याज-दर पर कर्ज देते थे। आमतौर पर किसान अपनी जमीन को गिरवी रखकर कर्ज लेता था और कालान्तर में उसे खो देता था। अनेक अवसरों पर तो किसानों को घर का खर्चा जुटाने के लिए भी महाजनों से कर्जा लेना पड़ता था। एक बार महाजन के चक्कर में पड़ जाने के बाद उसे उसके चंगुल से छुटकारा पाना मुश्किल था। महाजन उसे ऊँची ब्याज पर कर्ज देता था और धूर्तता तथा धोखेबाजी, जैसे-गलत हिसाब, जाली हस्ताक्षर आदि के द्वारा कर्ज की राशि को बढ़ाकर कागज पर किसान का हस्ताक्षर ले लेता था। इस प्रकार किसान कर्ज में डूबता जाता और अन्ततः उसे अपनी जमीन से हाथ धोना पड़ता था।

नई कानूनी तथा नई राजस्व-व्यवस्था से महाजन का काफी सहायता मिलती थी। अंग्रेजी शासन-काल के पूर्व महाजन ग्राम्य समुदाय के अधीन था। वह ऐसा काम नहीं कर सकता था जिसे ज्यादातर ग्रामवासी नापसंद करते थे। उदाहरण के लिए वह मनमाने ढंग से ब्याज की दर निश्चित नहीं कर सकता था। वस्तुतः ब्याज की दर परम्परा एवं लोक इच्छा से निर्धारित की जाती थी। इसके अतिरिक्त वह कर्जदार की भूमि छीन नहीं सकता था; ज्यादा-से-ज्यादा वह उसकी व्यक्तिगत वस्तुओं पर जैसे, गहने, खड़ी फसल आदि पर कब्जा कर सकता था। किन्तु ब्रिटिश राजस्व-व्यवस्था ने जमीन के हस्तांतरण को कानूनी करार देकर महाजनों तथा धनी काश्तकारों को जमीन ले लेने का अधिकार दे दिया। ब्रिटिश प्रशासन द्वारा शान्ति और सुरक्षा की जो व्यवस्था पुलिस अथवा न्याय प्रणाली के द्वारा कायम की गई थी, उसका लाभ भी महाजनों को मिला जिनके हाथों में कानून ने अत्यधिक अधिकार दे दिए थे। धन का सहारा लेकर भी महाजन पुलिस को अपना पक्षपाती बना सकता था तथा खर्चीले मुकदनों को फैसला अपने हित में करवा सकता था। आमतौर पर महाजन पढ़ा-लिखा और धूर्त होता था। किसी भी तरह से अनपढ़ सीधे-सादे किसान को उसके चंगुल से बच पाना कठिन था।

रैयतवारी और महालवारी क्षेत्रों के किसान धीरे-धीरे कर्ज के सागर में डूबते गए और किसानों की ज्यादा-से-ज्यादा जमीन पर महाजनों, व्यापारियों, धनी काश्तकारों तथा दूसरे सम्पन्न वर्गों का कब्जा होता गया। यही हाल जमींदारी व्यवस्थावाले क्षेत्रों के किसानों का भी था। इन क्षेत्रों में काश्तकार अपने काश्तकारी के अधिकार खोता गया और बाद में या तो उसकी जमीन छीन ली गई अथवा वह महाजन की जमीन में अर्द्ध-काश्तकार की हैसियत से क षि-कार्य करने लगा। अकाल तथा पैदावार की कमी के समय किसानों के हाथों से जमीन के निकल जाने की प्रक्रिया और तेज हो जाती थी। भारतीय किसानों के पास

इन अवसरों का सामना करने के लिए पहले से कोई जमा राशि नहीं रहती थी। अतः उन्हें महाजनों की शरण, न केवल लगान के भुगतान के लिए बल्कि परिवार का खाना जुटाने के लिए भी, लेनी पड़ती थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक महाजन ग्रामीण क्षेत्रों के लिए अभिशाप-सा बन गए थे। वस्तुतः गाँववासियों के दुःख-दारिद्रय का वे सबसे बड़ा कारण थे। 1911 ई० में एक अनुमान के अनुसार, ग्रामीण क्षेत्रों का कुल ऋण तीन सौ करोड़ रुपया था। 1937 तक यह बढ़कर अठारह सौ करोड़ हो गया। करों के बोझ एवं बढ़ती हुई गरीबी ने किसानों को कर्ज लेने के लिए मजबूर कर दिया जिसके चलते उनकी गरीबी और बढ़ती गई। सच्चाई यह है कि किसान यह नहीं समझ पाए कि महाजन भी साम्राज्यवादी शोषण की मशीनरी का एक पुर्जा था और जब उनके दिमाग में यह बात आई तो उनका क्रोध महाजन पर बरस पड़ा। उदाहरण के लिए, 1857 ई० के विद्रोह के समय, जहाँ कहीं भी किसानों ने विद्रोह किया, उनके आक्रमण का पहला लक्ष्य महाजन और उसके बहीखाते बने। इस शोषण के विरुद्ध बंगाल और दक्कन में उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में किसान-विद्रोह हुए। किसानों ने दंगे किए, दुकानों तथा घरों को आग लगा दी और अनाजों के गोदाम लूट लिए। फिर भी राजस्व की व द्धि को रोकने के लिए कदम नहीं उठाए गए।

जमींदारी और रैयतवारी, दोनों ही क्षेत्रों में बड़े किसानों ने अपनी जमीन छोटे किसानों को लगान अथवा बटाई पर देनी शुरू कर दी। इससे किसानों का जीवन और भी कष्टकर हो गया। हम जानते हैं कि अंग्रेजों ने जमींदार वर्ग को जन्म दिया था। जमींदार स्वयं क षि-उत्पादन नहीं करते थे। किसानों की मेहनत पर वे ऐश-आराम का जीवन व्यतीत करते थे। वे किसानों से लगान वसूल करने की जिम्मेदारी भी अक्सर दूसरे लोगों को सौंप देते थे। जमींदारों से यह अधिकार प्राप्त करनेवाले कुछ लोग इसे आगे दूसरे लोगों को बेच देते थे। इससे राज्य और किसानों के बीच मध्यस्थों की संख्या बढ़ गई। ये सभी बिचौलिए, बिना कोई उपयोगी काम किए, किसानों के उत्पादन पर आश्रित हो गए। इन्होंने किसानों का बोझ और भी बढ़ा दिया। रैयतवारी क्षेत्रों में भी बड़े किसानों ने अपनी जमीन छोटे किसानों को बटाई पर देनी शुरू कर दी। इससे जो सही अर्थ में किसान थे उनके कष्ट और बढ़ गए। इन तमाम बिचौलियों की क षि कार्यों में कोई अभिरुचि नहीं थी। इसलिए क षि-कार्य पिछड़ा रह गया। बिचौलियों को हटाने के लिए कुछ कानून बनाए गए, परन्तु भारत की स्वतंत्रता के बाद तक इस दिशा में कोई कारगर कदम नहीं उठाया गया।

छोटी जोतें

इस काल में भारत में क षि के पिछड़ने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण था-छोटी-छोटी जोतें। हमने देखा है कि किस तरह से आबादी बढ़ने के कारण जमीन पर भी भार बढ़ता गया। उद्योग अविकसित रहे, इसलिए अतिरिक्त काम भी नहीं थे। उस समय के उत्तराधिकार के कानूनों के कारण जोतें लगातार बढ़ती गई। जैसे-जैसे अधिक से अधिक लोग अपनी जीविका के लिए क षि पर निर्भर होते गए, वैसे-वैसे जोतों का ज्यादा बँटवारा होता गया। उदाहरण के लिए, दक्कन में 1775 ई० और 1915 ई० के बीच जोतों का औसत क्षेत्रफल 40 एकड़ से घटकर 7 एकड़ हो गया। इस कारण अधिकतर किसान अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त अनाज पैदा नहीं कर पाते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से क षि-भूमि का विस्तार हुआ। मगर इससे भी जमीन पर आबादी का दबाव कम नहीं हुआ। बढ़ती आबादी के लिए रोजगार के अतिरिक्त अवसर उपलब्ध नहीं थे। 1861 ई० में जब पहली बार जनगणना की गई तो उस समय भारत की आबादी बीस करोड़ साठ लाख थी। 1901 ई० में आबादी बढ़कर अट्ठाईस करोड़ तीस लाख हो गई। चालीस वर्ष बाद 1941 में आबादी अड़तीस करोड़ नब्बे लाख तक पहुँच गई। मगर जनसंख्या में हुई व द्धि के बराबर कुल क षि-उत्पादन में व द्धि नहीं हुई खाद्यान्नों का उत्पादन घट गया।

नकदी फसलें

खाद्यान्नों के उत्पादन में कमी आने का एक कारण यह भी था कि कपास, जूट और तिलहन जैसी नकदी या व्यावसायिक फसलों के उत्पादन को ज्यादा महत्त्व दिया गया। सरकार ने व्यावसायिक फसलों के उत्पादन को तो प्रोत्साहन दिया, मगर खाद्यान्नों की कमी की ओर ध्यान नहीं दिया। 1861 ई० से 1865 ई० तक अमेरिका में ग हयुद्ध चला। अमेरिका से ही इंग्लैण्ड की कपड़ा मिलों को कपास पहुँचती थी। ग हयुद्ध के कारण यह बन्द हो गई। अतः इंग्लैण्ड के कपड़ा मिलों की जरूरतों के

लिए अंग्रेजों ने भारत में कपास के उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए विशेष कदम उठाए। इससे भारतीय किसानों का एक वर्ग तो कुछ समय के लिए अवश्य सम द्ध हो गया, परन्तु खाद्यान्नों का उत्पादन घट गया। देश के कुछ भागों के किसानों को अंग्रेज बागान-मालिकों ने नील की खेती करने के लिए और उन्हीं के द्वारा तय की गई कीमत पर उन्हें ही बेचने के लिए मजबूर किया।

क षि के बढ़ते हुए व्यवसार्यीकरण ने भी महाजनों तथा व्यापारियों द्वारा किसानों के शोषण को सहयोग दिया। गरीब किसान कटाई के बाद जल्दी अपनी फसलों को बेचने पर मजबूर हो जाता था। उसे सरकार, जमींदारों तथा महाजनों की माँगों को पूरा करना पड़ता था, अतः अपनी फसलों को वह जो कुछ कीमत मिलती थी उसी कीमत पर बेच देता था। वस्तुतः इसी कारण से वह अन्न के व्यापारियों की दया पर आश्रित रहता था, जो इस स्थिति में रहता था कि स्वयं निर्धारित मूल्यों पर वह किसान की फसल खरीद ले। यह कीमत बाजार की कीमत से कम होती थी। इस प्रकार फसलों का एक बड़ा लाभांश व्यापारी ले लेते थे, जो बहुधा गाँवों के महाजन भी होते थे।

क षि एवं किसानों की दयनीय स्थिति

इस प्रकार ब्रिटिश शासन काल में भारतीय किसानों की गरीबी बढ़ती गई। वह सरकार, जमींदार तथा महाजनों के हाथों पिसता रहा। इन तीनों की माँगों को पूरी करने के बाद उसके पास खुद के लिए बहुत कम बच पाता था। एक अनुमान के अनुसार 1950-51 ई० में लगान और महाजनों का ब्याज लगभग चौदह सौ करोड़ था जो उस वर्ष के सम्पूर्ण क षि-उत्पादन का लगभग एक तिहाई था। इस प्रकार किसान गरीब होते गए। उल्लिखित कारणों से इस काल में भारत में कई बार अकाल भी पड़े। वैसे अकाल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण भारतीय किसानों का पूर्णतः मानसून पर आश्रित होना था। फसल अच्छी होने पर भी वे इतना नहीं बचा पाते थे कि सूखे के दिनों के लिए कुछ सुरक्षित रख सके। जिस साल मानसून धोखा देता था उस साल निश्चित रूप से अकाल पड़ता। यद्यपि अकाल बार-बार पड़े हैं, 1860 ई० से 1908 ई० के बीच अकाल के कुल बीस साल रहे, मगर ऐसा बहुत कम हुआ कि एक ही साल में सारे देश में मानसून ने धोखा दिया हो। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सड़कों में सुधार और रेल-मार्गों के निर्माण के कारण अभावग्रस्त क्षेत्रों में अन्न पहुँचाने में आसानी हुई। फिर भी देश के किसी-न-किसी हिस्से में अकाल पड़ते ही रहे। असली समस्या यह थी कि छोटे किसान और मजदूर दिन में दो बार का भोजन भी कठिनाई से जुटा पाते थे। वर्षा न होने पर थोड़े समय के लिए भी फसल नहीं होती तो उन्हें भुखमरी का सामना करना पड़ता था। इन अकालों में लाखों लोग मर गए। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बड़े अकालों में 30 लाख लोग मर गए। जानवर भी बड़ी संख्या में मरे। अकाल के हर वर्ष बाद कुपोषण और महामारियों का फैलाव होता गया। अकालग्रस्त इलाकों को छोड़कर लोग दूसरे स्थानों पर चले गए।

बार-बार अकाल पड़ने के कारण सरकार ने अकाल आयोगों की स्थापना की। उनकी सिफारिशों को मानकर सरकार ने 1833 ई० में एक करोड़ पचास लाख रूपए राहत कार्य और बीमा के लिए प्रतिवर्ष देने का निर्णय किया। प्रशासकों के मार्गदर्शन के लिए एक अकाल संहिता भी बनी। लगान-माफी, सिंचाई-प्रबन्धों का विस्तार और प्रभावित लोगों को आर्थिक सहायता देना, आदि इस संहिता की कुछ मुख्य बातें थी। मगर सरकार समस्या की तह तक नहीं गई। उसने 1880 ई० के अकाल आयोग का यह सुझाव नहीं माना कि खेती में लगे हुए अतिरिक्त लोगों के लिए अन्य अवसर खोजे जाएँ।

बीसवीं शताब्दी में अपेक्षाक त कम अकाल पड़े। जो पड़े भी ज्यादा भयंकर नहीं थे। इसका मुख्य कारण सिंचाई, परिवहन तथा राहत-कार्यों में सुधार था। फिर भी, 1943 ई० में बंगाल में एक भयंकर अकाल पड़ा। उसमें लगभग 30 लाख लोगों की जानें गई। पर इसका कारण प्रशासन की गैर-इन्तजामी था।

नए भू-स्वामित्व का उत्कर्ष

ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक कुछ दशकों में बंगाल तथा मद्रास में अधिकांश पुराने जमींदारों की समाप्ति हो गई। ऐसा मुख्य रूप से वारेन हेस्टिंग्स द्वारा लागू की गई भू-राजस्व नीति थी जिसमें लगान वसूली का काम उस ठेकेदार को दिया जाने लगा जो सबसे ऊँची बोली लगाता था। प्रारम्भ में स्थाई-बन्दोबस्त का प्रभाव भी कुछ ऐसा ही पड़ा। लगान का भार एवं लगान वसूली के कठोर नियमों के कारण स्थाई-बंदोबस्त के प्रारम्भ के कुछ सालों में जमींदारों की भू-सम्पत्ति समय पर लगान चुकता

नहीं करने के कारण बड़ी मात्रा में बिक गई। बंगाल के बहुत से बड़े-बड़े जमींदार तबाह हो गए। 1815 ई० तक पुराने जमींदारों की आधी जमीन उनके हाथों से निकालकर शहरों में रहने वाले महाजनों, व्यापारियों तथा दूसरे अमीरों के हाथों में चली गई। पुराने जमींदार गाँवों में रहते थे और परम्परा से उनके दिलों में अधीनस्थ काश्तकारों के प्रति कुछ लिहाजा रहता था। परन्तु महाजनों, व्यवसायियों अन्य धनी वर्ग के लोगों के दिलों में काश्तकारों के प्रति उदारता की नितान्त कमी थी और वे किसी भी तरह से उनसे लगान की पूरी राशि वसूल करते थे, प्रतिकूल स्थिति में भी। उत्तर मद्रास में स्थाई बन्दोबसत और मद्रास के अन्य क्षेत्रों में रैयतवारी बन्दोबस्त भी स्थानीय जमींदारों के लिए समान रूप से कष्टकारक साबित हुए। इस प्रकार लगभग तमाम ब्रिटिश भारत में पुराने जमींदारों का पतन हुआ।

पर जल्द ही जमींदारों की स्थिति में आश्चर्यजनक सुधार हुआ। इस उद्देश्य से कि जमींदार लगान की राशि भुगतान समय पर कर दें, अधिकारों ने काश्तकारों के परम्परागत अधिकारियों को समाप्त कर जमींदारों के काश्तकारों पर अधिकारों में व द्धि कर दी। इस कारण से जमींदार रैयतों पर लगान बढ़ाते चले गए और इसके चलते उनकी सम्पन्नता बढ़ती गई। रैयतवारी क्षेत्रों में भी जमींदार रैयत सम्बन्धों की प्रणाली का क्रमिक विस्तार हुआ। जैसा कि हमने ऊपर देखा है, ज्यादा-से-ज्यादा जमींनें, महाजनों, व्यवसायियों तथा धनी काश्तकारों के हाथों में चली गई जो रैयतों से उस जमीन पर कृषि- कार्य कारवाते थे। भारत के धनी लोग जमीन-जायदाद में अपना धन व्यय करते थे, इसका एक कारण यह था कि उद्योगों का विकास न होने के कारण वे अपने धन को उद्योगों में नहीं लगा पाते थे। इस प्रकार की जमींदारी का विस्तार शिकमी देने (Subleting) की प्रक्रिया के कारण भी हुआ। बहुत से स्वामी-काश्तकार (Owners-cultivator) तथा दखीलकार (Occupancy tenants), जिनका जमीन पर स्थाई स्वामित्व था, उन्होंने स्वयं अपनी जमीन पर खेती करने की अपेक्षा उसे जमीन के भूखे रैयतों को अधिक लगान पर पट्टे पर दे देना अधिक सुविधाजनक समझा। कालान्तर में, जमींदारी कृषि-सम्बन्धों (agrarian relations) की मुख्य विशेषता बन गई। ऐसा केवल जमींदारी क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि रैयतवारी क्षेत्रों में भी हुआ।

जमींदारी के विस्तार की एक मुख्य विशेषता बिचौलियों का उत्कर्ष थी। चूँकि सक्रिय रैयत सामान्यतः असुरक्षित थे और जमीन पर दबाव बढ़ता जा रहा था। अतः जमीन के लिए रैयतों के बीच प्रतिद्वन्द्विता बढ़ गई और इस कारण से जमीन का लगान भी बढ़ता गया। जमींदारों तथा नए भू-पतियों ने अपनी जमीन की लगान-वसूली को लाभदायक शर्तों पर दूसरे इच्छुक व्यक्तियों को शिकमी देना (Suleting) सुविधाजनक समझा। इस प्रकार एक कड़ीबद्ध प्रक्रिया के चलते वास्तविक करश्तकार और सरकार के बीच बड़ी संख्या में लगान वसूल करनेवाले बिचौलियों का समुदाय उठ खड़ा हुआ। बंगाल में कुछ मामलों में तो उनकी संख्या पचास तक जा पहुँची। इससे रैयतों और किसानों की स्थिति और भी दयनीय हो गई क्योंकि इन सभी स्वामियों का भार वह उन्हें ही करना पड़ता था। उनमें से अधिकांश दासों से थोड़े ही अच्छे थे।

जमींदारों की उत्पत्ति एवं विकास का बड़ा ही हानिकारक प्रभाव भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के क्रम में उनके द्वारा अदा की गई राजनीतिक भूमिका के रूप में देखा जा सकता है। भारतीय राजाओं के साथ मिलकर जमींदारों ने राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध किया और विदेशी हुकूमत का वे भी मुख्य आधार-स्तम्भ बन गए। इस बात को महसूस करके कि उनका अस्तित्त्व ब्रिटिश-शासन के चलते था, उन्होंने इसे स्थापित एंव बनाए रखने के लिए अपनी जी-जान लड़ा दी।

औपनिवेशक भूमि व्यवस्था

औपनिवेशिक भारत में खेती का संकट भूमि-व्यवस्था से अभिन्न रूप से सम्बद्ध था। भारत में राज्य की आय का बहुत बड़ा भाग सदा भूमि से ही प्राप्त होता रहा है। मुसलमानों के पहले भारत में उन भागों को जो कृषक राजा को देता था 'बलि' कहा जाता था। वह प्रायः उपज का छठा भाग होता था। भूमि का स्वामी कृषक होता था। राजा उसकी रक्षा करने के बदले में षष्ठांश का अधिकारी समझा जाता है।

मुसलमानों के राज्यकाल में 'बलि' का नाम 'खिराज' हो गया, परन्तु पद्धति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। सामान्य रूप से भूमि का स्वामित्व कृषक के पास ही रहा। राज्य के कर्मचारी खिराज वसूल करके शाही खजाने में भेज देते थे। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के समय में जमीन पर लगाए कर को 'किराया' नाम दिया गया, जिसका अभिप्राय यह हो गया कि सारी भूमि सरकार की बन गई और कृषक सरकार का किरायेदार मात्र रह गया। उन्हें भूमि पर खेती करने का कर सरकार को देना पड़ता था। इस प्रकार भारत के कृषकों पर अंग्रेजी साम्राज्यवाद की पहली कृपा तो यह हुई कि भूमि के स्वामी न रहकर वे केवल किरायेदार बन गए।

केवल इस परिवर्तन मात्र से अंग्रेजों को सन्तोष नहीं हुआ। उनका एक यही ध्येय था कि भारतवर्ष से धन का कैसे अधिक-से-अधिक शोषण किया जाए। जिस समय अंग्रेजों ने शासन की बागडोर सम्भाली, उस समय तक भारत का पुराना शासन-प्रबन्ध जर्जर और अव्यवस्थित हो चुका था। अंग्रेजों ने भारत की भूमि-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने का निश्चय किया। गवर्नर जनरल लॉर्ड कार्नवालिस के शासन-काल में एक सर्वथा नवीन पद्धति को जन्म दिया गया जिसको भूमि का स्थाई प्रबन्ध कहते हैं, इसका उद्देश्य लगान-व्यवस्था का स्थायित्व कायम करना था।

कार्नवालिस को इस कार्य में कलकत्ता कौंसिल के एक सदस्य सर जॉन शोर और बंगाल सरकार के एक उच्च पदाधिकारी जेम्स ग्रांट से भारी सहायता प्राप्त हुई। लॉर्ड कार्नवालिस अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि बंगाल में एक निश्चित मालगुजारी के आधार पर स्थाई बन्दोबस्त करना ही सबसे अधिक लाभप्रद एवं सुविधाजनक रहेगा। किन्तु उसके सहयोगी इस विचार से सहमत न थे। भूमि के स्वामित्व पर अंग्रेज शासकों में भारी मतभेद था। सर जॉन शोर के विचार में जमींदार ही भूमि के मालिक थे और वे ही सरकार को लगान देने के वास्तविक अधिकारी थे। इसके विपरीत जेम्स ग्रांट भूमि पर सरकार का स्वामित्व मानता था तथा उसे जमींदार-कृषक अथवा किसी भी व्यक्ति के साथ भूमि को लगान सम्बन्धी शर्तों को तय करने का अधिकारी समझत था लेकिन इंग्लैण्ड में कम्पनी के उच्च अधिकारियों ने सर जॉन शोर के विचारों को ही मानकर लॉर्ड कार्नवालिस को यह आदेश दे दिया कि वह जमींदारों के साथ लगान सम्बन्धी प्रबन्ध शुरू में दस वर्ष के लिए कर दे और बाद में यह व्यवस्था स्थाई कर दी जाय।

इस प्रबन्ध के द्वारा जमींदारों को स्थाई रूप से भूमि का स्वामी मान लिया गया। जितना लगान उन्हें सरकार को देना था वह सदैव के लिए निश्चित कर दिया गया और उसमें कमी किसी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना नहीं थी और जब तक जमींदार यह निश्चित लगान सरकार को देते रहेंगे तब तक उनकी भूमि उनसे छीनी नहीं जा सकती थीं परन्तु यदि वे लगान का कुछ हिस्सा नियमित रूप से न दे सकें तो उनकी सारी भूमि उनसे छीन ली जाएगी। किसानों को जो लगान अपने जमींदारों को देना पड़ता था वह भी पट्टे द्वारा निश्चित कर दिया गया और बिना न्यायालय की स्वीकृति प्राप्त किए उसमें व द्धि नहीं की जा सकती थी।

यह व्यवस्था देखने में तो केवल आर्थिक व्यवस्था थी, परन्तु वस्तुतः इसने एक बहुत भारी सामाजिक क्रांति उत्पन्न कर दी। इसने राजा, ताल्लुकेदार और जमींदार की एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न कर दी जिसका प्रभुत्व समस्त समाज पर छा गया। स्थाई प्रबन्ध के प्रचलित होने के कई कारण थे। इसका मनोवैज्ञानिक करण यह था कि लॉर्ड कार्नवालिस के दिमाग में इंग्लैण्ड की जमींदारी प्रथा ओत-प्रोत थी। वह स्वयं अपने देश के जमींदारी श्रेणी का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था। इंग्लैण्ड के विद्वानों का उस समय यह सिद्धान्त था कि राष्ट्र के बिखरे हुए पत्तों को क्रांति के आँधी द्वारा उड़ने से बचानेवाली यदि कोई वस्तु है तो वह जागीरदार श्रेणी है। जब लॉर्ड कार्नवालिस और उसके समकक्ष लोग भारत की सामाजिक और आर्थिक समस्या को सुलझाने बैठे तो उनका ध्यान इस ओर गया कि किसान को वश में रखने और सरकार के अर्थ-संचय को द ढ़ करने के लिए एक शक्तिशाली जमींदार श्रेणी की स्थापना की जाय। दूसरा कारण यह था कि हर वर्ष लगान वसूली की नई-नई व्यवस्था करते-करते अंग्रेज अफसर थक गए थे। उससे आय बढ़ने के बजाय घटती रहती थी। अतएव भूमि की लगान-व्यवस्था का स्थाई प्रबन्ध कर देना ही उचित माना गया।

स्थाई प्रबन्ध के गुण-अवगुण

इस प्रकार भारत की भूमि-व्यवस्था पर एक भारी-भरकम परदेशी व्यवस्था लाद दी गई जिसने साम्राज्यवादी शोषण का एक नया मार्ग खोल दिया। इस परिवर्तन के द्वारा व्यवहार में अंग्रेज विजेताओं की हुकूमत का सारी जमीन पर अन्तिम अधिकार कायम हो गया और किसान महज दूसरे की जमीन पर लगान देकर खेती करने वाला बन गया। लगान न देने पर उसे जमीन से बेदखल किया जा सकता था। साम्राज्यवादी कम्पनी सरकार ने जमीनें कुछ ऐसे लोगों को दे दी जिनको उसने जमींदार कहना शुरू कर किया। पुराने जमाने में अपना प्रबन्ध अपनें-आप करनेवाले ग्रामीण समाज के पास अब न तो कोई शासन सम्बन्धी काम रह गया और न कोई आर्थिक काम। दोनों तरह के अधिकार उससे छीन लिए गए। इस प्रकार औपनिवेशक देशों में साम्राज्यवाद जो-जो काम करता है वे सारे काम भारत में बड़ी बेरहमी से किए गए।

स्थाई प्रबन्ध ने साम्राज्यवादी सरकार को सुद ढ़ता प्रदान कर दी। उसको इस नई व्यवस्था से कई लाभ हुए। प्रतिवर्ष लगान निश्चित करने के झंझटों से वह मुक्त हो गई। बार-बार भूमि का प्रबन्ध करने में धन भी बहुत व्यय होता था। अब यह खर्च भी बच गया जिसको साम्राज्यवादी प्रसार के कार्य में लागया जा सकता था। स्थाई प्रबन्ध करके अंग्रेज उपनिवेशवासियों ने

भारत में एक नया वर्ग पैदा कर दिया। अब बंगाल में जमींदारों का एक ऐसा वर्ग बन गया जो कम्पनी का बड़ा स्वामिभक्त और राजभक्त था। इस व्यवस्था से जमींदारों को भी बड़ा लाभ हुआ क्योंकि भूमि पर केवल उनका ही नहीं वरन् उनकी सन्तति का अधिकार भी स्वीकृत हो गया। इस प्रकार जमींदार घरानों के पास धन संचित होने लगा। इस वर्ग के रूप में भारत में एक नये शोषक वर्ग को जन्म हुआ।

जिस समय सर्वप्रथम स्थाई प्रबन्ध किया गया था उस समय भूमि की ठीक नाप न होने के कारण लगान की दर अन्यन्त कम निश्चित की गई तथा स्थाई प्रबन्ध से सरकार आय को काफी धक्का पहुँचा। इस व्यवस्था के परिणाम देश के लिए बड़े घातक हुए। कृषक भूमि के स्वामित्व से सर्वथा वंचित हो गए। कृषकों की मेहनत पर पलनेवाली और मेहनत बिना उपभोग करनेवाली जमींदार श्रेणी स्थिर रूप से देश की छाती पर बैठ गई। उनके महान महलों और अट्टालिकाओं के रूप में परिणत होने लगे। यह स्थाई व्यवस्था की ही कृपा थी कि कुद ही वर्षों मे कलकत्ता महलों का शहर कहलाने लगा।

अंग्रेजी सरकार को आशा थी कि स्थाई व्यवस्था के लागू होने से कम्पनी की आय बहुत बढ़ जाएगी, परन्तु यह आशा पूरी नहीं हुई। सरकार ने कृषकों से छीनकर भूमि का स्वामित्व जमींदारों को दे दिया परन्तु उस समय यह नहीं सोचा कि इससे भूमि पर से सरकार का स्वामित्व भी उठ जाएगा। यह सरकार ने तब अनुभव किया जब उसके मालूम हुआ कि जमींदार किसानो से जितना लगान वसूल करते हैं उसका थोड़ा भाग सरकार को मालगुजारी के रूप में देते है। परिणाम यह हुआ कि प्रान्त की सम द्धि में जो व द्धि हुई वह सरकार के कोष में पहुँचने के स्थान पर जमींदारों की थैलियों में चली गई। इस प्रकार स्थाई प्रबन्ध के कारण सरकार को अत्यधिक घाटा उठाना पड़ा।

यद्यपि स्थाई प्रबन्ध से सबसे अधिक लाभ जमींदारों को पहुँचता था, परन्तु उन पर इसका कुछ बुरा प्रभाव न भी पड़ा। अत्यन्त धनी, सम्पन्न हो जाने के कारण वे बड़े ही काहिल, अकर्मण्य तथा विलासी हो गए। इस व्यवस्था से सबसे अधिक हानि कृषक वर्ग को हुई। बड़े-बड़े जमींदार अपनी भूमि ठेकेदारों को सौंपकर नगरों में जा बसे तथा अपने अधीन कृषकों का उन्होंने कोई ध्यान नहीं रखा। फलतः कारिन्दे कृषकों के साथ अत्यन्त दुर्व्यवहार करते थे तथा कृषकों की दशा को देखनेवाला कोई भी नहीं था। अशिक्षित होने के कारण कृषकों को कर की दर मालूम नहीं होती थी जिसका लाभ जमींदार और उनके कारिन्दे उठाते थे। जमींदार बहुधा कृषकों को पट्टे नहीं देते थे तथा कई बार उनसे लगान वसूल करते थे। सरकार ने स्थाई प्रबन्ध करके किसानों को पूर्णतया जमींदारों पर आश्रित बना दिया और वे उनकी दया के भिखारी बन गए।

स्थाई प्रबन्ध का दुष्प्रभाव भारत के अन्य प्रांतों पर भी बुरी तरह पड़ा। सरकार बंगाल के जमींदारों पर तो लगान नहीं बढ़ा सकती थी, अतएव उसने इस क्षति की पूर्ति अन्य प्रांतों में लगान की दर ऊँची करके की। इस कारण बहुत से लोगों को अपार संकट का सामना करना पड़ा।

स्थाई प्रबन्ध आरम्भ से ही गलत आधार पर टिका हुआ और विकासोन्मुख समाज के लिए पूरी तरह हानिकारक था क्योंकि समाज जो उन्नति के पथ पर आगे बढ़ना चाहता था, किन्तु स्थाई प्रबन्ध उसे पकड़कर एक ही स्थान पर स्थिर रखना चाहता था। अपितु, यदि स्थाई प्रबन्ध न करके दस या पन्द्रक वर्ष की लम्बी अवधि वाला प्रबन्ध किया जाता तो स्थाई प्रबन्ध के सभी दोषों को निराकरण हो जाता और उसके सभी लाग ज्यों-के-त्यों स्थिर रहते।

स्थायी प्रबन्ध करने के बाद कम्पनी सरकार ने अनुभव किया कि उसने भूमि की यह व्यवस्था करके एक घाटे का सौदा कर लिया है। कुछ दिनों के बाद मुद्रा का मूल्य गिरने लगा और दूसरी ओर जमींदार किसानों का लगान बराबर बढ़ाते गए। इन दोनों बातों का यह नजीता हुआ कि इस लूट में सरकार का हिस्सा, जो हमेशा के लिए तीस पौंड तय हो चुका था, जमींदारों के मुकाबले में हमेशा गिरता गया और जमींदारों का हिस्सा बढ़ता गया। अतः स्थाई प्रबन्ध के सिलसिले में जो गलतियाँ एक बार हो गई थी उन्हें फिर दोहराना नहीं था। इसके बाद जमींदारी ढंग के जो बन्दोबस्त किए गए वे सब आरजी थे अर्थात् कुछ वर्षों के अरसे के बाद जमीन का नए सिरे से बन्दोबस्त होता था कि सरकार चाहे तो हर बार मालगुजारी बढ़ाती जाए।

स्थाई प्रबन्ध के बाद भूमि व्यवस्था का नया सिलसिला कुछ इलाकों में शुरू हुआ जिसको रैयतवारी बन्दोबस्त कहते हैं। यह व्यवस्था सर्वप्रथम मद्रास में 1820 में वहाँ के गवर्नर थॉमस मुनरों द्वारा शुरू हो गई। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार जमीन का बन्दोबस्त सीधे किसानों के साथ करती थी ताकि वह स्थाई और आरजी दोनों तरह के प्रबन्धों की बुराइयों से बच गए। रैयतवारी बन्दोबस्त से लूट का सारा माल सरकार को मिलने लगा। बीच के जमींदारों के साथ हिस्सा नहीं बँटाना पड़ा।

इस प्रकार ब्रिटिश भारत में भूमि की व्यवस्था तीन तरह की हो गई (1) स्थाई प्रबन्ध जिसके अन्तर्गत भारत का कुल उन्नीस

प्रतिशत रकबा पड़ता था, (2) आरजी जमींदारी व्यवस्था जिसके अन्तर्गत तीस प्रतिशत रकबा था तथा (3) रैयतवारी व्यवस्था जिसके अन्तर्गत इकावन प्रतिशत रकबा था।

इस आँकड़े को देखकर कभी-कभी यह धोखा हो जाता है कि ब्रिटिश भारत में केवल 49 प्रतिशत रकबे की जमीन ही जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत थी। व्यावहारिक द ष्टि से रैयतवारी इलाका भी इस घ णित प्रथा के चंगुल में आ फँसा। इसकी प्रक्रिया बढ़ी तेजी से चली। यह इस प्रकार हुआ कि सरकार ने जिस किसान के साथ जमीन का बन्दोबस्त कर दिया था वह किसी आदमी के पास इस जमीन को गिरवी रख देता था और यह दूसरा आदमी किसी तीसरे को जमीन लगान कर दे देता था। इस प्रक्रिया में बाद में चलकर कुछ ऐसे लोगों को एक नया वर्ग पैदा हो गया जो जमींदारों की तरह बिना कोई मेहनत किए खेती करने वाले किसानों की कमाई में हिस्सा बँटाता था। इसके अतिरिक्त सरकार ने जिनके साथ जमीन का प्रारम्भिक बन्दोबस्त किया था, उनकी जमीनें धीरे-धीरे साहूकारों तथा अन्य लोगों ने छीन ली और वे भी जमींदारों की तरह किसानों का शोषण करने लगे। इस तरह अधिकाधिक किसानों की जमीनें छिनती गई और वे या तो भूमिहीन खेत मजदूरों की स्थिति में पहुँच गए या उनकी हालत सर्वथा अधिकारहीन किसानों जैसी हो गई। ऐसे प्रत्येक किसान की पीठ पर सैकड़ों छोटे-बड़े मुफ्तखोर बिचौलिए लदे हुए थे जो काम कुछ नहीं करते थे लेकिन किसानों की गाढ़ी कमाई में हिस्सा अवश्य बँटाते थे। भारत की स्वतंत्रता के पूर्व शोषण की यह प्रक्रिया सम्पूर्ण देश में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी और खेती का संकट अत्यन्त विकराल हो गया था। विरासत के रूप में ऐसी ही भूमि-व्यवस्था स्वतंत्र भारत की सरकार का औपनिवेशिक सरकार से मिली थी।

आधुनिक उद्योगों का विकास

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के भारत में कुछ आधुनिक उद्योगों का जन्म एवं विकास हुआ। ये दो प्रकार के थे बागान-उद्योग एवं मशीन-उद्योग। इन उद्योगों पर प्रमुखतः ब्रिटिश कम्पनियों का स्वामित्व तथा नियन्त्रण था। भारतीय भी कुछ उद्योगों के मालिक थे, मगर सरकार से सहयोग न मिलने के कारण भारतीयों के इन उद्योगों का तेजी से विकास न हो सका।

मशीन उद्योग

भारत में मशीन युग की शुरुआत 1850 ई० के दशक में हुई वस्त्र, जूट और कोयले के उद्योग स्थापित हुए। भारत में पहला कपड़े का मिल बम्बई में 1853 ई० में कोवासजी नानाभाई ने स्थापित किया। पहला जूट मिल 1855 में रीश्रा (बंगाल) में चालू हुआ। यद्यपि इन उद्योगों का मन्दगति से विस्तार हुआ, किन्तु यह होता रहा। 1879 ई० में भारत में 56 कपड़े की मिल थे जिनमें लगभग 43,000 लोग काम करते थे। 1882 ई० में जूट मिलों को संख्या बीस थी। जूट मिलें ज्यादातर बंगाल में थी और इनमें लगभग बीस हजार लोग मजदूरी करते थे। 1905 ई० में कपड़े की मिलों और उनमें कार्यरत लोगों की संख्या बढ़कर क्रमशः 206 तथा 196,000 हो गई। 1901 ई० में जूट मिलों की संख्या बढ़कर 36 हो गई थी और कोई 115,000 लोग इनमें काम करते थे। 1906 ई० में कोयलें की खानों में लगभग एक लाख लोग लगे हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 20वीं सदी के प्रारम्भ में जिन अन्य मशीन उद्योगों का विकास हुआ उनमें उल्लेखनीय थे। सूती जींस और प्रेसेस, चावल, आटा तथा लकड़ी की मिलें, चमड़ा-उद्योग, ऊनी वस्त्र-उद्योग, कागज तथा चीजी मिलें, लोहा एवं इस्पात-उद्योग और नम, अभ्रक, शोरा आदि जैसे खनिज-उद्योग। सीमेण्ट, कागज, माचिस, चीनी और शीशा उद्योगों की शुरुआत बीसवीं सताब्दी के तीसरे दशक में और इसके बाद हुई। पर इन तमाम उद्योगों के विकास की गति काफी धीमी थी।

बागान-उद्योग

यूरोपियनों ने जिन क्षेत्रों में भारतीय साधनों का सबसे ज्यादा फायदा उठाया उनमें से एक था बागान उद्योग। इसकी शुरुआत अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में नील से रंग तैयार करने के साथ हुई। बिहार और बंगाल के कुछ खास जिलों में नील की खेती की जाती थी। भारत से निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में 1850 ई० तक नील एक प्रमुख चीज हो गई। मगन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में नील की माँग घट गई, क्योंकि तब सस्ते और अधिक टिकाऊ, कृत्रिम रंगों का उत्पादन शुरू हो गया था।

चाय बागान उद्योग जिसकी स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में हुई, जल्द ही भारत का सबसे बड़ा बागान उद्योग बन गया। अधिकांश चाय बागान असम, बंगाल, दक्षिण भारत और हिमाचल प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में थे। चूँकि इस उद्योग में केवल विदेशी ही लगे हुए थे, अतः सरकार ने उन्हें पूरी सहायता दी। धीरे-धीरे चाय का उत्पादन बढ़ता गया और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में संसार के चाय बाजार में भारत का स्थान पहला हो गया। 1940 ई० तक भारत में उत्पादित चाय का 80 प्रतिशत निर्यात होने लगा और इंगलैण्ड इसके लिए सबसे बड़ा बाजार बन गया। बागान उद्योग की अन्य महत्त्वपूर्ण चीजें

थीं कॉफी, रबर ओर सिंकोना। कॉफी का उत्पादन दक्षिण भारत में होता था। वित्तीय साम्राज्यवाद के युग में कई कारणों से बाध्य होकर साम्राज्यवादी सरकार को अपनी नीति बदलनी पड़ी। शुरू में ब्रिटिश साम्राज्यवादी भारत के उद्योगीकरण का पूर्ण विरोधी थे। वास्तव में साम्राज्यवादी शासन के युग में भारत का उद्योगीकरण नहीं वरन् उद्योगीकरण हुआ क्योंकि उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में जो विकास की गति उसे आधुनिक युग के मापदण्ड से उद्योगीकरण कभी नहीं माना जा सकता। भारत में इस तरह धीमी गति से जो तथाकथित उद्योगीकरण हुआ उसके कई कारण थे और सबसे प्रमुख कारण साम्राज्यवादी व्यवस्था थी। इस व्यवस्था ने ऐसे विरोधों को जन्म दिया जिसमें देश का औद्योगिक विकास अत्यन्त कठिन था।

दूसरे भारत का औद्योगिक विकास एकदम उल्टे क्रम से शुरू हुआ। भारम मे उद्योंगों का विकास कपड़ा उद्योग से शुरू हुआ, लेकिन किसी देश के उद्योगीकरण के लिए कपड़ा-उद्योग का विकास निर्णायक महत्त्व का नहीं होता। किसी भी देश का औद्योगीकरण तभी सम्भव है जब वहाँ भारी उद्योगों को विकसित किया जाए। लेकिन भारत के तथाकथित उद्योगीकरण मे इसी मौलिक सिद्धान्त की उपेक्षा की गई। इसका कारण यह था कि अंग्रेज शासक भारत का उद्योगीकरण उसी हद तक करना चाहते थे जहाँ तक उनके शोषण के कार्य में लाभ होता था। भारत में सीमित उद्योगीकरण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई उसका रेल लाइनों के निर्माण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारत में साम्राज्यवादी शासन को सुद ढ़ करने के लिए अंग्रेजों ने प्रारम्भ से ही यातायात और आवागमन के साधनों के विकास पर ध्यान दिया। लॉर्ड डलहौजी के शासन काल में देश के बहुत से भागों में रेल लाइनों का निर्माण हुआ। यह भारत में व्यापार फैलाने के लिए भी आवश्यक था। इस प्रकार रेल व्यवस्था से भारत में आधुनिक उद्योग-धन्धों की नींव पड़ी।

उद्योग-धन्धों के विकास के लिए जो साधन जरूरी होते हैं वे काफी बड़ी मात्रा में भारत में विद्यमान थे। 1942 ई० में यह अनुमान लगाया गया था कि भारत में 25 हजार टन बॉक्साइट मौजूद है और केवल बंगाल तथा बिहार में 60 करोड टन कोयला है। जलशक्ति के साधनों में भारत से केवल अमेरिका ही बढ़ा हुआ था। अन्य प्राकृतिक साधनों की खोजबीन के प्रति सरकार सदैव उदासीन रही। अतः उद्योगीकरण के रास्ते में अनेक अड़चने डाली गई। ऐसी स्थिति में बीसवीं शताब्दी में भारत ने जो थोड़ी -बहुत औद्योगिक प्रगति की वह देशी पूँजीपतियों और विदेशी साम्राज्यवादियों के बीच एक अलिखित समझौते का परिणाम था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद अशान्त राजनीतिक काल में भारत पर अपना शोषण जारी रखने के लिए अंग्रेजों ने यह जरूरी समझा कि भारत के पूँजीपति वर्ग का सहयोग प्राप्त किया जाए। बीसवीं सदी में भारत में कल-कारखानों का विकास हुआ उसका उद्देश्य यह नहीं था कि भारत का औद्योगिक विकास हो। इसका मुख्य उद्देश्य शोषण में कुछ लोगों को भागीदार बनाकर शोषण की प्रक्रिया को जारी रखना था।

द्वितीय विश्व युद्ध के शुरू होने पर यह आशा की गई कि युद्ध का मुकाबला कराने के लिए अंग्रेज साम्राज्यवाद भारत के उद्योगीकरण पर कुछ ध्यान देगा, लेकिन इस नाजुक घड़ी में भी साम्राज्यवादियों की औद्योगिक नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया। युद्ध में शामिल दूसरे देशों में जिस तरह नए कारखानें खोलकर उत्पादन बढ़ाया गया उस तरह हमारे यहाँ नहीं हुआ। बीसवीं शताब्दी के शुरू में ही भारत के औद्योगिक विकास के अनेक अवसर मिले थे। दो विश्व युद्धों के समय और उनके बीच के काल में तो इस दिशा में अवश्य ही काम हो सकते थे, लेकिन साम्राज्यवाद ने इस ओर ध्यान देने को कष्ट नहीं कियां कलकत्ता के दैनिक स्टेट्समैन के सम्पादक सर वाटसन ने 1933 ई० में ही 'रायल एम्पायर सोसायटी' की एक बैठक में चेतावानी देते हुए कहा था-"यद्यपि भारत में एक महान् औद्योगिक देश बनने के लिए सभी आवश्यक तत्त्व पर्याप्त रूप से मौजूद हैं, फिर भी आज वह आर्थिक द ष्टि से दुनिया का एक पिछड़ा हुआ देश है और उद्योग-धन्धों की द ष्टि से तो बहुत ही पीछे हैं। भारत में उद्योग-धन्धों का विकास करने की क्षमता असन्दिध रूप से मौजूद हैं, लेकिन हमने इस समस्या को हल करने की कोई गम्भीर कोशिश नहीं की है। यदि आनेवाले वर्षों में भारत अपनी विशाल आबादी की बढ़ी हुई माँग के आधार पर एक अभूतपूर्व ढंग से अपना औद्योगिक विकास नहीं कर सका तो देश के जीवन-निर्वाह का स्तर जो आज भी हर दर्जे से नीचा है, भूखों मरने के स्तर से नीचे गिर जाएगा।" इन शब्दों पर साम्राज्यवाद ने भारत में अपने काले कारनामों पर खुद ही फतवा दे दिया।

भारत का व्यापार

खेती और उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में भारत जिस तरह साम्राज्यवादी शोषण का शिकार हुआ, कुछ वैसी ही दुर्गति व्यापार के क्षेत्र में भी हुई। अंग्रेजों के आने के पहले भारत का विदेशी व्यापार खूब चमका हुआ था। भारत के बने माल मध्यपूर्व और यूरोप

के बाजारों में भरे रहते थे, लेकिन अंग्रेजी राज्य कायम होने के बाद भारत का एक ही उपयोग रह गया वह इंग्लैण्ड के कल-कारखानों के लिए कच्चा माल दे तथा इंगलैण्ड में बने हुए मालों की खपत के लिए बाजार का काम करे। भारत कई शताब्दियों से अपना कपड़ा सारी दुनिया को भेजता आया था, लेकिन 1850 ई० तक यह स्थिति हो गई कि वह उल्टे विदेशी कपड़ा स्वयं मँगाने लगा। इस तरह भारत जो सारी दुनिया को अपना सूती माल भेजा करता था अब खुद सूती माल इंग्लैण्ड से माँगने लगा। व्यापार की स्थिति में यह जो परिवर्तन हुआ उसके कई कारण थे। एक तो इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रांति के कारण उत्पादन के तरीके में आमूल परिवर्तन हो गया था। मशीनों से बननेवाली चीजें काफी सस्ती थी और भारतीय घरेलू उद्योग के माल उसकी प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकते थे, लेकिन इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि ब्रिटिश मालों को सरकारी संरक्षण प्राप्त था। अंग्रेजी माल को तो भारत में आने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी लेकिन ब्रिटेन मे जानेवाले भारतीयों मालों पर भारी चुंगी लगी हुई थी और जहाजी कानूनों के द्वारा भारत और यूरोप अथवा अन्य विदेशी क्षेत्रों के बीच प्रत्यक्ष व्यापार पर रोक लगा दी गई थी। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार की चुंगी सम्बन्धी नीति के कारण भारत का व्यापार कभी नहीं चमक सकता था।

द्वितीय विश्व युद्ध में भारत युद्ध का मैदान बनने से लगभग बच गया और इस कारण उसके विदेशी व्यापार में कुछ तरक्की हो सकती थी। कम-से-कम वह कुछ युद्धोपयोगी सामान बनाकर उन्हें विदेशी मण्डियों में बेच सकता था, लेकिन अंग्रेजों ने ऐसी गतिविधि को कभी प्रोत्साहित नहीं किया। इसके विपरीत विदेशी व्यापार पर जाने-अनजाने कई तरह के प्रतिबन्ध लगा दिए गए। साम्राज्यवादी शासकों ने भारत के डालर कोष को युद्धकाल में ही हड़प लिया। शोषण की इस नीति के कारण युद्धकाल में भारतीय जनता को तरह-तरह की मुसीबतों का सामना करना पड़ा। भुखमरी, तबाही, अकाल देश के जनजीवन के सामान्य अंग बन गए। साम्राज्यवाद के नागफांस ने उसकी कृषि, उद्योग-धन्धों तथा विदेशी व्यापार का गला इस प्रकार घोंट दिया कि आज स्वतन्त्रता प्राप्त होने के 47 वर्ष बाद भी भारत एक अविकसित राष्ट्र ही कहलाता है। किसानों की तरह बागानों और कारखानों के मजदूरों की दशा भी अच्छी नहीं थी। यद्यपि 1881 ई० में काम के घण्टे, नौकरी करनेवाले की न्यूनतम आयु तथा न्यूनतम वेतन के बारे में कानून बनते रहे, परन्तु उन्हें सख्ती से लागू नहीं किया गया। 1920 ई० में 'आखिल भारतीय मजदूर कांग्रेस' की स्थापना हुई। इसने मजदूर आन्दोलन को संगठित करने और मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए कदम उठाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

भारतीय पूँजीपति वर्ग और मध्यम-वर्ग भी प्रभावित हुआ। ब्रिटिश उद्योगपतियों को सरकारी संरक्षण प्राप्त होने के कारण उन उद्योगों के विकास में बाधा पहुँची जिन पर भारतीय पूँजीपतियों का नियन्त्रण था। भारतीय पूँजीपतियों ने राजनीतिक अधिकारों तथा भारत के आर्थिक हितों की रक्षा एवं व द्धि के लिए आवाजें उठानी शुरू कर दी।

अंग्रेजों के कारण भारत के आर्थिक जीवन में तो परिवर्तन हुए उसने भारतीय राष्ट्रीयता के उदय में बड़े महत्त्व की भूमिका अदा की। भारतीय राष्ट्रवादी आरम्भ से ही देश की गरीबी और आर्थिक दुर्गति के बारे में चिन्तित रहे है। वे सरकार की उत्पीड़क भू-राजस्व नीति, भारतीय धन का ब्रिटेन की ओर प्रवाह और भारतीय साधनों को विकसित करने में सरकार की असफलता के खिलाफ लगातार विरोध प्रकट करते रहे।

भारत के आर्थिक जीवन पर अंग्रेजी शासन के प्रभाव के इस विवेचन के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि अंग्रेजों की शोषण नीति के कारण सारा देश भयंकर गरीबी के रोग से ग्रसित हो गया और इसकी बुनियाद इतनी मजबूत हो गई कि स्वतन्त्र भारत में 47 वर्षों के प्रयास के बावजूद इसे नहीं मिटाया जा सका है। विदेशी अंग्रेजी शासन ने जिस आर्थिक नीति का अवलम्बन किया वह पूरी तरह अंग्रेजी हितों के अनुकूल थी और भारत को निरन्तर कंगाल बनानेवाली थी। अंग्रेजी शासन-काल में कृषिप्रधान देश भारत कृषि के क्षेत्र में दयनीय स्थिति में पहुँच गया। हमारे कुटीर उद्योग-धन्धे विनष्ट हो गए जिससे घोर आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ। आत्मनिर्भर भारत विदेशियों का कर्जदार हो गया। भारत की कृषि, उद्योग, आर्थिक संगठन, व्यवसाय व्यवस्था, जो अंग्रेजों के आगमन के पूर्व उन्नत अवस्था में थी, वह अंग्रेजों की पक्षपातपूर्ण तथा अन्यायपूर्ण नीति के कारण विश ंखलित हो गई तथा भारत की मजबूत आर्थिक व्यवस्था पूरी तरह कमजोर हो गई। धन-धान्य से पूर्ण भारत गरीबी और बेकारी का केन्द्र बन गया। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि भारत की अर्थ-व्यवस्था के लिए ब्रिटिशकालीन इतिहास सदैव अंग्रेजों की अन्यायपूर्ण आर्थिक नीतियों का स्मरण दिलाता रहेगा।

अध्याय-16
अफीम युद्ध और पत्तन-संधि प्रणाली का विकास

विषय प्रवेश और भूमिका
(Introduction and Background)

चीन की सभ्यता ज्ञात मानव इतिहास की सबसे अधिक प्राचीन और सम्पन्न सभ्यता थी। चीनी लोग प्राक तिक रूप से अपनी संस्क ति पर सदा से गर्व करते थे वे अपनी मात भूमि को 'chung kuo' कहते थे जिसका अर्थ है ब्रह्माण्ड के केन्द्र में स्थित राज्य वास्तव में प्राचीन चीन ने समय-समय पर विश्व को असंख्य प्रकार के विचार दर्शन और शिक्षाएँ दी हैं जिनमें से कुछ आधुनिक काल तक जीवित और विद्यमान हैं इनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में चुम्बकीय दिशा सूचक सुई, शीशा, चीन की महान दीवार, lunar कैलेंडर, ससिमोग्राह, ग्लेज्ड पोटरी (चमकदार बर्तन), कसीदाकारी, फेस पावडर, पेपर (कागज), Block printing, बारूद इत्यादि की खोज सम्मिलित थी इसके अलावा चीन ने विश्व को महान धार्मिक विचारक, साहित्य, कला, सरकार, विज्ञान, कागज पर इतिहास लिखने की कला, पुस्तकालयों का विचार, विश्वकोष धार्मिक सहिष्णुता नागरिक सेवाओं के लिए प्रतियोगात्मक परीक्षा, कानूनों को विधिवत् लिखना, वास्तु और मूर्ति कला, टीकाकरण का विस्तार इत्यादि क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

ऐसी महान सभ्यता तथा संस्क ति से सम्बन्ध चीन ने 1840 से 1860 ई० के छोटे से समय में ही पश्चिमी उपनिवेशवादी शक्तियों के सामने समर्पण कर दिया यह विजय वास्तव में विश्व की दो महान सभ्यताओं के बीच संघर्ष की कहानी थी। ये महान सभ्यता थी पूर्वी सभ्यता तथा पाश्चात्य सभ्यता मध्यकाल तक चीनीवासी पश्चिम के प्रति दुश्मनी का रूख नहीं अपनाते थे। चीन की सरकार ने 1724 ई० में Jesuit मिशनरियों को अनेक झगड़ालू और आक्रामक व्यवहार के कारण निकाल तो दिया था परन्तु फिर भी 18वीं शताब्दी तक यूरोप में चीन को सांस्क तिक और बौद्धिक स्रोत और प्रेरणा के रूप में मान्यता मिली हुई थी। वास्तव में इस समय तक यूरोप का सभ्य समाज चीन की कला का बड़े आसानी और अपनत्व से जिक्र करता था। यूरोपवासियों के लिए Percelain (चीनी मिट्टी के बर्तन) शब्द का अर्थ चीन माना जाता था और जिसे आज भी यही समझा जाता है यूरोप की बहुत सी विचारधाराएँ चीनी दर्शन से ही प्रभावित थी। परंतु जैसे-जैसे 18वीं शताब्दी अपने अन्त की ओर बढ़ रही थी वैसे-वैसे ही चीन यूरोपवासियों के लिए कला और दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्रोत और प्रेरणा के रूप में लुप्त होने लगा था। यूरोप और चीन के मध्य बौद्धिक पुल जैस्विट मिशनरियों द्वारा बनाया गया था। परन्तु उनके निष्कासन से चीन और यूरोप का यह सम्पर्क समाप्त हो गया और यूरोप में चीन का सांस्क तिक प्रभाव समाप्त हो गया। 1800 ई० तक चीनी कला और दर्शन यूरोपवासियों के मस्तिष्क से लुप्त हो गई। परन्तु यूरोप में आए महत्त्वपूर्ण आर्थिक परिवर्तनों के कारण चीन अब यूरोप के लिए भौतिक आकर्षण का केन्द्र बनने लगा। कला और दर्शनों का चीन आंकड़ों और बाजारों का चीन बन गया। अब विभिन्न पश्चिमी उपनिवेशवादी देश अधिक-से-अधिक मुनाफे की चीन से आशा करने लगे।

चीन के प्रति यूरोपवासियों के व्यवहार और रूख में परिवर्तन के पीछे 18वीं और 19वीं शताब्दी में यूरोप में आए परिवर्तन थे। इस समय तक राष्ट्रीय राज्य अपनी विकसित अवस्था तक पहुँच रहे थे। इन्होंने राज्यों की समानता के विचार पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली का निर्माण कर लिया था। इस अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली में शामिल होने के लिए किसी भी देश को चाहिए कि-

1. वह अपनी शक्ति के स्वरूप तथा स्रोत को परिभाषित करे। अतः उत्तरदायित्व के केन्द्र को बताए।
2. इन राज्यों को दूसरे राज्यों के साथ किए गए समझौतों की पवित्रता के विचार को भी स्वीकार करना चाहिए।
3. इन राज्यों को पश्चिमी कानून की समानता का विचार तथा उसका प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होना भी स्वीकार्य होना

चाहिए। ये कुछ विशेषताएँ नई तथा शक्तिशाली यूरोपीय प्रणाली की थी जिन्हें 19वीं शताब्दी में पूर्वी एशिया में लागू होना था।

प्रथम अफीम युद्ध के मुख्य कारण

Factors Leading to the First Opium War

इस प्रकार हम देखते हैं कि 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप का चीन सी सांस्क तिक सम्बन्ध समाप्त होने लगा था और इसका स्थान व्यापारिक हितों ने ले लिया था और ये व्यापारिक स्वार्थ ब्रिटेन के एकाधिकार में ही थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि यूरोप के दूसरे राज्य चीन के इस तटीय व्यापार से बाहर थे परन्तु उनका हिस्सा उनकी राजनीतिक घटनाओं के कारण कम था।

ब्रिटेन की उपनिवेशिक युद्धों में जीत उसकी भारत में सुद ढ़ स्थिति तथा उसकी औद्योगिक क्रान्ति में पहल ने पूर्वी एशियाई व्यापार को बढ़ाने में अत्यधिक सहायता की। वास्तव में 1750 से 1834 ई० तक चीन का पश्चिमी यूरोप से सम्बन्धों का अर्थ, उसके इंगलिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ सम्बन्ध थे और इस समय तक चीन का विदेश व्यापार चीन के एक दक्षिण बन्दरगाह कैन्टोन तक ही सीमित था। अतः इस व्यापार को कैन्टोन व्यापार के नाम से जाना जाने लगा। इस व्यापार की विशेष परिस्थितियाँ चीनवासियों का विदेशी बर्बरों के प्रति व्यवहार तथा विदेशियों का चीनी लोगों के प्रति रूख आदि ने 1839 ई० में चीन और ग्रेट ब्रिटेन के बीच सम्बन्धों में संकट खड़ा कर दिया। इसी संकट और इसके बाद होने वाले युद्धों में भी आने वाली एक शताब्दी तक चीन तथा पश्चिम के सम्बन्धों का निर्धारण किया।

कैन्टोन में जो व्यापारिक प्रणाली प्रचलित थी वह विदेशियों के लिए अत्यन्त दुःखदायी थी। इसी प्रणाली और दो भिन्न प्रकार की सभ्यताओं के बीच टकराव में ही चीन और ब्रिटेन के बीच हुए प्रथम अफीम युद्ध के कारण निहित थे। 1787 और 1816 ई० के बीच ब्रिटेन ने पीकिंग में अपने राजदूत भेजे ताकि तर्कसंगत व्यापारिक प्रणाली की स्थापना कर सके परन्तु ये सभी प्रयास अपने उद्देश्यों में असफल रहे और ब्रिटेन के पास मात्र तीन विकल्प बचते थे-

1. पूर्णरूप से समर्पण
2. पूर्ण अलगाव या त्याग
3. बल का प्रयोग

चीन की सरकार किसी भी कीमत पर अफीम के व्यापार को समाप्त करना चाहती थी इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए चीनी सरकार ने एक अत्यन्त कर्मठ तथा प्रसिद्ध अधिकारी को 1839 ई० में व्यापार का आयुक्त बनाकर कैन्टोन भेजा। इनका नाम था Lin-Ise-Hsu (1785-1850 ई०) इन्हें कमिश्नर लिन के नाम से भी जाना जाता है। कमिश्नर चाहता था कि कैन्टोन प्रणाली को चीन की अपनी शर्तों पर सुधारा जाए उसे विदेशी शक्तियों की वास्तविक शक्ति का अहसास नहीं था उसने एक सप्ताह के अन्दर ही सभी विदेशी व्यापारियों को बन्दी बना लिया और उनके पास जितनी भी अफीम थी उसे जल्दी से देने की माँग की उसने इस अफीम को अपने अधिकार में लेकर अफीम की नदी बहा दी जिसकी उस समय कीमत 60 लाख डालर थी जिसके परिणामस्वरूप 1840-42 ई० के बीच ब्रिटेन और चीन के बीच युद्ध हुआ जिसे प्रथम अफीम युद्ध भी कहा जाता है यह युद्ध दो अभियानों में लड़ा गया।

1840 ई० अंग्रेजों ने पहले ही आक्रमण में कैन्टोन को प्राप्त कर लिया और यांगतजी नदी की ओर बढ़कर उसे रोक दिया इन प्रारम्भिक पराजयों को देखकर मांचू सरकार ने कमिश्नर लिन को हटा दिया और Chi-Shan को वार्ताओं के लिए नियुक्त किया उसने अंग्रेजों को पुनः दक्षिण की ओर आने के लिए मना लिया और जनवरी 1841 ई० में एक अधूरी सन्धि की इसके अन्तर्गत हांगकांग अंग्रेजों को हस्तांतरित कर दिया गया। कूटनीतिक एकता प्राप्त कर ली गई युद्ध का हरजाना देने के लिए चीन राजी हो गया और अफीम व्यापार को पुनः शुरू करने की इजाजत दे दी गई।

Chi-Shan और Elliort उनकी सम्बन्धित सरकारों के विचार में Chi-Shan बहुत आगे निकल गए और Elliort बहुत पीछे रह गए परिणामस्वरूप युद्ध पुनः आरम्भ होकर दूसरे अभियान में प्रवेश कर गया।

August 1841 to August 1842

मार्च 1842 में युद्ध की स्थिति इस प्रकार हो गई कि मांचू सरकार उसे और लंबा नहीं खींच सकती थी। Sir Bottiuger नेत त्व

में ब्रिटिश जहाजी बेड़ा उत्तर की ओर बढ़ा और अगस्त 1842 ई० में ही चीन के एक सम्पन्न और बड़े प्रांत की राजधानी नानकिंग अंग्रेजों की दया पर थी और अन्ततः इसी समय प्रथम अंग्रेज-चीनी युद्ध समाप्त हो गया।

The Nonking and the Bogue Treaties

प्रथम अंग्रेज-चीन युद्ध की औपचारिक समाप्ति दो सन्धियों में निहित थी।

1. The treaty of Nonking 29 August, 1842 ई०
2. The treaty of Human chai जिसे Bogue नामक स्थान पर 8 Oct., 1843 ई० को किया गया उपरोक्त इन दो सन्धियों में वे आधारभूत सिद्धान्त थे जिन्होंने आने वाली एक शताब्दी तक चीन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को निर्धारित किया। इनके पश्चात् होने वाली चीन तथा विदेशी शक्तियों के बीच सन्धियां इनका विस्त त और परिष्क त रूप थी परन्तु उनके आधारभूत सिद्धान्तों का ढाँचा 1843 ई० तक वही रहा जो इन प्रथम सन्धियों में था 1943 ई० में इस असमान सन्धि प्रणाली को समाप्त कर दिया था। उपरोक्त सन्धियों के मुख्य प्रावधान थे-
   i. चीन ने पाँच बन्दरगाह अंग्रेजी व्यापारियों के व्यापार तथा आवास के लिए खोल दिये ये पांच बन्दरगाह थे (कैन्टीन, एमोय, फूचाओ, निंगपो तथा संघाई)
   ii. हांगकांग ब्रिटेन को दे दिया गया।
   iii. व्यापार से सम्बन्धित एक अधिकारी की नियुक्ति की गई जिसे Counsular Officer कहा जाता था।
   iv. चीन के विदेशी व्यापार में प्रचलित cohang प्रणाली का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। चीन को युद्ध के हरजाने के रूप में 21 मीलियन डालर ब्रिटेन को देने पड़े।
   v. अब ब्रिटेन के साथ होने वाले पत्राचार में प्रार्थना पत्र का स्थान पत्र ने ले लिया वस्तुओं पर एक समान 5 प्रतिशत सन्धि कर दिया गया जिसे परस्पर समझौते से ही परिवर्तित किया जा सकता था।
   vi. फौजेदारी मामलों में बोग सन्धि के अनुसार अतिक्षेत्रीय न्यायिक अधिकार ब्रिटेन को प्राप्त हो गए।
   vii. बोग सन्धि के अनुसार ही ब्रिटेन को सर्वाधिक निकट राष्ट्र का दर्जा प्राप्त हो गया।

ग्रेट ब्रिटेन ने उपरोक्त सन्धियों के प्रावधानों से चीन में जो दर्जा प्राप्त किया उसने अन्य देशों को भी ऐसी ही सन्धियाँ चीन के साथ करने के लिए उकसाया अन्य पश्चिमी देश भी चाहते थे कि उन्हें भी चीन के साथ ब्रिटेन की भाँति ऐसी ही सन्धियों के आधार पर अपने सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए। अतः 1844 से 1847 ई० के बीच चीन के साथ ऐसी ही तीन सन्धियाँ की गई। इनमें अमेरिका के साथ July 3, 1844, को तथा नार्वे, स्वीडन के साथ मार्च 20, 1847 को की गई सन्धियाँ सम्मिलित थी। उपरोक्त सभी सन्धियों ने चीन में एक नई व्यवस्था का नाम था Treaty Port System पत्तन संधि प्रणाली।

द्वितीय अफीम युद्ध
(Second Opium War)

(Introduction)

प्रथम अफीम युद्ध के बाद सन्धियों के अन्तर्गत जो समझौते हुए थे उनका बड़ा गहरा महत्त्व था यह तथ्य भी कि ब्रिटेन के छोटे से जहाजी बेड़े तथा सैनिकों की टुकड़ी ने दबाव डालकर मांचू दरबार से अपनी शर्तें मनवा ली थी, का अर्थ यह नहीं था कि अब सब कुछ ठीक हो गया था। इस युद्ध के पश्चात् की गई सन्धियाँ वास्तव में एक प्रयोग थी। क्या ये व्यावहारिक रूप से किसी भी पक्ष को संतुष्ट कर सकेंगी? क्या चीन का इन सन्धियों पर हस्ताक्षर करने का अर्थ यह था कि उसने अपने अतीत से निश्चित रूप से नाता तोड़ लिया है?

अपनी संस्क ति की महानता और आत्म निर्भरता में विश्वास करते हुए 1844 में भी चीन को यह द ढ़ विश्वास था कि वह इन विदेशी घुसपैठियों को नियंत्रित करके अपनी अखंडता को बचाए रखेगा अफीम युद्ध में तथा सन्धि की शर्तों को अस्थायी और दुर्भाग्यपूर्ण तो माना जाता था परन्तु घातक नहीं इसके परिणामस्वरूप 1845 से 1853 के बीच सन्धि प्रणाली धीरे-धीरे निष्क्रिय होती चली गई।

द्वितीय अफीम युद्ध के मुख्य कारण

(Factors leading to the IInd Opium War)

प्रथम अफीम युद्ध के बाद शुरू होने वाला नया विदेशी व्यापार शंघाई में शीघ्रता से शान्तिपूर्ण परिस्थितियों में बढ़ने लगा परन्तु इसके विपरीत यही विदेशी व्यापार कैन्टोन में तनाव, हिंसा तथा खुले सशस्त्र विद्रोह या झगड़ों के बीच होता रहा। कैन्टीन में विदेशियों की वास्तविक और काल्पनिक शिकायतें बढ़ती रही जिनसे उत्पन्न घ णा ने अन्ततः युद्ध को जन्म दिया। जब ब्रिटेन ने प्रथम युद्ध जीत लिया तब उन्होंने चाहा कि उन्हें जो समानता के आधार पर विशेषाधिकार प्राप्त हुए हैं वे व्यवहार में भी प्राप्त हों परन्तु चीन की जनता और बहुत से अधिकारी इन विशेषाधिकारों को अंग्रेजों को देने के लिए तैयार नहीं थे। 1848 ई० तक चीन के (Chichi-Yiug) ने कैन्टोन में अपने लोगों को सन्धियों की शर्तों की सीमाओं में बाँधे रखा परन्तु उसके उत्तराधिकारी Hsu-Kwang-Ching तथा Yeh-ming-chin ने विदेशियों के विरोधी भावनाओं को बढ़ावा दिया और दूसरा युद्ध शुरू करने में योगदान दिया जिसके लिए पहले ही भूमिका तैयार हो रही थी।

चीन ने सन्धियों द्वारा खोले गए बन्दरगाह, विदेशी शक्तियों के Consuls की नियुक्ति Concessions और Settlements की स्थापना नए सन्धि कर का लागू होना तथा अतिक्षेत्रीयता का विशेष अधिकार प्राप्त होना। वास्तव में इस बात के सतही सबूत थे कि चीन में प्राचीनतंत्र या व्यवस्था समाप्त होकर एक नई व्यवस्था स्थापित होने जा रही थी। इसी नई व्यवस्था की व्यावहारिक कठिनाइयों में 1850-60 ई० के दस वर्षों में बिल्कुल 1839 ई० जैसा ही संकट दोनों पक्षों के बीच उत्पन्न कर दिया था। 1850 ई० तक अधिकतर विदेशी प्रथम सन्धि समझौतों को अपूर्व मानने लगे थे। चीन और पश्चिमी शक्तियों के बची निरन्तर संघर्ष की मुख्य रूप से तीन जड़ें थी-

1. मांचू शक्ति का पतन;
2. नई व्यवस्था के प्रति चीनी अधिकारियों की उदासीनता;
3. पश्चिमी शक्तियों का परस्पर बढ़ता सहयोग तथा शक्ति।

यह ध्यान में रखने की बात है कि बढ़ते हुए संकट के लिए मात्र चीन का प्रतिरोध और उसका राजनैतिक पतन ही उत्तरदायी नहीं थे। पश्चिमी सरकारें भी चीन के प्रति अपने कर्त्तव्यों की अक्सर अनदेखी किया करती थी। द्वितीय अफीम युद्ध के लिए जिन प्रश्नों ने प्रमुख भूमिका निभाई वे थे-

1. **The application of extra territoriality:** प्रथम सन्धियों के इस प्रावधान के अन्तर्गत पश्चिमी शक्तियों को अपने क्षेत्रों में कन्सुलर कोर्टस तथा कारीगारों की स्थापना करनी थी। इस दिशा में ब्रिटेन को छोड़कर 1857 ई० तक किसी भी पश्चिमी शक्ति ने उपयुक्त कदम नहीं उठाए थे। केवल ब्रिटेन ने इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए उपयुक्त व्यवस्था की थी।
2. **अफीम व्यापार (Opium Trade):** उपरोक्त सन्धियों के अंतर्गत होने वाले अफीम व्यापार में 1840-1850 के बीच तीन सौ प्रतिशत की व द्धि हुई जिसमें अवैध व्यापार भी सम्मिलित था। इस व्यापार के चीन की ओर घातक परिणाम हुए।
3. **संधि संशोधन (Treaty Revision):** 1854 ई० तक पश्चिमी शक्तियों के लाभकारी व्यापार में व द्धि के पश्चात् भी चीन और पश्चिमी शक्तियों के सम्बन्ध सद्भावपूर्ण नहीं थे। अमेरिका और फ्रांस के साथ की गई सन्धियों में यह प्रावधान था कि उन्हें 12 वर्ष बाद संशोधित किया जाना था। ब्रिटेन ने भी इस प्रावधान को अपने लिए ही चाहा। ब्रिटेन चाहता था कि उसे चीन के अन्तिम भागों में तथा तटीय नगरों में जाने की इजाजत दी जाए, अफीम के व्यापार को सारे चीन में वैध कर दिया जाए। आन्तरिक करों को समाप्त कर दिया जाए और चीन के सम्राट के साथ प्रत्यक्ष और सम्मानपूर्वक व्यापार की सुविधा हो। इसको मनवाने के लिए ब्रिटेन ने तीन शक्तियों के संघ का प्रस्ताव रखा ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका।

   इस युद्ध के तत्कालीन कारणों में फरवरी 1856 में एक फ्रांसीसी मिशनरी की हत्या तथा लोरचा ऐरो जहाज का मामला था। फ्रांसीसी मिशनरी Auguste Chapelaine को चीनी अधिकारियों ने गिरफ्तार करके हत्या कर दी थी। इस हत्या से फ्रांस को मिले अतिक्षेत्रीयता के अधिकार का उल्लंघन होता था। जिसके परिणामस्वरूप फ्रांस इंग्लैण्ड के साथ मिलकर इस बात के लिए सहमत हो गया कि चीन के विरूद्ध शक्ति का प्रयोग किया जाए। लोरचा ऐरो जहाज का मामला यह था कि चीनी अधिकारियों ने इस जहाज को इसलिए पकड़ लिया था कि उन्हें संदेह था कि ये जहाज विदेशियों के झंडे का प्रयोग करके तस्करी में सम्मिलित है।

War the First Phase

भारत में हुए 1857 ई० में इस युद्ध को दिसम्बर 1857 ई० तक टाल दिया था जबकि ब्रिटेन को फ्रांस की सेनाओं ने कैन्टोन पर बमबारी करके उसे अपने कब्जे में ले लिया और चीन के उच्चायुक्त yeh को गिरफ्तार कर लिया जो 15 मास बाद भारत में एक कैदी के रूप में मर गया। 11 फरवरी, 1858 ई० को ब्रिटेन और फ्रांस के साथ अमेरिका और रूस भी आ मिले और 20 मई, 1858 ई० तक विदेशी शक्तियों ने पीकिंग सरकार को वार्ताओं के लिए बाध्य कर दिया। इन वार्ताओं के परिणामस्वरूप जून 1858 ई० में चारों शक्तियों के साथ नई सन्धियाँ की गई।

The Treaty of Tientsin 1858

Tientsin की सन्धियाँ 1842 और 44 ई० के बीच हुई प्रथम सन्धियों का संशोधित व्यापक रूप थी नए और महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार पश्चिमी शक्तियों ने इन सन्धियों में प्राप्त किए। उनमें निम्न सम्मिलित थे-

1. पीकिंग में स्थाई रूप से मंत्री का अधिकार।
2. पास्पोर्ट प्राप्त करके सारे चीन में घूमने का अधिकार।
3. यांगतजी पर व्यापार व 10 अन्य बन्दरगाह व्यापार के लिए खोलना।
4. इसाई मिशनरियों को चीनी संरक्षण प्राप्त करने का अधिकार।

उपरोक्त सन्धियों को प्रभाव में लाने के लिए यह आवश्यक था कि दोनों पक्ष इन सन्धियों की शर्तों की प्रतियाँ पीकिंग में एक-दूसरे के साथ बदली जाए ऐसा रूस के सम्बन्ध में तो आसानी से हो गया। परन्तु ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका जब अपने सशस्त्र जहाजों के साथ पीकिंग की ओर इस काम के लिए जा रहे थे तब 'Taku' नामक स्थान पर उन्हें चीन के सशस्त्र बलों ने रोक लिया। ब्रिटेन और फ्रांस ने इस प्रतिरोध को खत्म करने का प्रयास किया। परंतु वे असफल होकर शंघाई की ओर दौड़ गए जिससे युद्ध की दूसरी अवस्था शुरू हो गई। अगस्त 1860 ई० में सभी शक्तियों ने 'Taku' में स्थित किलों को जीतकर येत्सिंग और पीकिंग की ओर बढ़ना शुरू किया। तब चीन की राजधानी इन शक्तियों की दया पर थी। चीन का विवश होकर सन्धियाँ करनी पड़ी जिनको पीकिंग कन्वैन्शन्ज 1860 ई० कहा जाता है।

Pieking Conventions 1860

इनके अन्तर्गत मांचू सरकार ने निम्न प्रस्ताव स्वीकार किए।

1. सम्राट ने विदेशियों के साथ विशेषकर ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के साथ पीकिंग तक पहुँचने के मार्ग में किए दुर्व्यवहार के लिए शोक व्यक्त किया।
2. मांचू सरकार ने पश्चिमी शक्तियों के स्थाई रूप से एक मंत्री को पीकिंग में रखा।
3. युद्ध के हरजाने के रूप में अतिरिक्त धन राशि स्वीकार कर ली।
4. Tientsin को Treaty Port के रूप में खोलना स्वीकार कर लिया।
5. चीन ने कुली व्यापार को वैधता प्रदान कर दी।
6. Kowloon ब्रिटेन को दे दिया।
7. फ्रांसीसी मिशनरियों को ये अधिकार दिया गया कि वे चीन में भूमि खरीद सकते हैं और उन पर इमारतें भी बनवा सकते हैं।

उपरोक्त 20 वर्षों के संघर्ष के बाद चीन ने वास्तविक रूप से यह मान लिया कि उसे पश्चिमी शक्तियों के साथ इच्छा या अनिच्छा से व्यापार करना ही विश्व इतिहास का यह वह काल था जब पश्चिमी शक्तियों का उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद अपने चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ रहा था। वे लगभग सारे विश्व में गैर यूरोपीय क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर चुके थे। यह वह समय भी था जब यूरोप का औद्योगिकरण भी अपनी प्रौढ़ अवस्था में था और कुछ देशों में तो यह व्यवस्था अपनी अगली अवस्था में कदम रख रही थी जिसे पूँजीवाद की वित्तीय अवस्था कहा जाता है। उपरोक्त परिस्थितियों में यह पश्चिमी शक्तियों के लिए आवश्यक था कि चीन जैसे विशाल भू भाग और जनसंख्या वाले देश को वे अपने सम्पर्क में लाएं और चीन भी इस प्रक्रिया को रोकने में आर्थिक, सैनिक, सांस्क तिक रूप से रोकने में असमर्थ था। अतः चीन को विवश होकर उसे अपने अतीत और परम्परा से टूटकर विश्व की नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में सम्मिलित होना पड़ा।

अध्याय-17
चीन में साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन

चीन आज एशिया का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र एवं विश्व के प्रमुखतम राष्ट्रों में से एक है। 1949 ई० में च्यांगकाई शेक के पतन एवं साम्यवादी शक्ति के उदय तक यह एक दुर्बल, शोषित एवं जर्जर देश रहा, जो सामन्तवादी, पूँजीवादी और विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा रौंदा जाता रहा था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक चीन का जीवन एकान्तिक जीवन था। पूर्व में समुद्र, पश्चिम तथा उत्तर में रेगिस्तान, और पहाड़ों से घिरा हुआ चीन अपने आप को अजेय समझता था, उसे अपनी सभ्यता पर गर्व था और विदेशियों से वह घ णा करता था किंतु उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य शक्तियों ने उसका एकान्तिक जीवन तोड़ा और उसका शोषण आरम्भ किया। इससे चीन में राष्ट्रवादी आन्दोलन आरम्भ हुआ।

नानकिंग तथा टींटसिन की सन्धियों के पश्चात् 40 वर्षों में चीन पश्चिमी संस्क ति के निकट आया। चीनी क्षेत्रों में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ। शिक्षा, तकनीकी ज्ञान उत्पादन, रेलवे आदि के क्षेत्र में चीन ने पश्चिमी क्षेत्रों से बहुत कुछ सीखा था। किंतु दूसरी ओर इन सन्धियों के द्वारा चीन की आन्तरिक स्थिति कमजोर हो गयी। नानकिंग की संधि के अनुसार करोड़ों रूपयों की जो राशि चीनी सरकार ने ब्रिटेन को प्रदान कर दी थी उसे प्राप्त करने के लिए सरकार ने किसानों पर अधिकाधिक नये कर लगाये। करों को चुकाने के लिए किसानों को अपनी भूमि तक बेचनी पड़ी, किसानों को मजदूरी कर गुजारा करना पड़ता था। इससे किसानों का असंतोष बहुत बढ़ गया। 1842-46 ई० बीच चीन में लगभग सौ किसान विद्रोह हुए थे। इसी प्रकार टींटसिन की सन्धि के द्वारा चीन का द्वार पश्चिमी देशों के लिए पूर्णतः खुल चुका था। साथ ही इन विदेशियों को विशेष राज्य क्षेत्राधिकार भी प्राप्त हुआ, जिससे वे आन्तरिक राजनीति में भी हस्तक्षेप करने लगे। अतः जनता का असंतोष और बढ़ गया और चीन में विदेशियों के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव का विरोध करने के लिए कई क्रान्तिकारी संस्थाएँ बनी। इन संस्थाओं में किसानों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी। कुछ समय बाद यह असंतोष विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ, जो चीन के इतिहास में 'ताइपिंग विद्रोह' के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि ताइपिंग के विद्रोह में कई प्रकार के असंतुष्ट वर्ग भी सम्मिलित थे किंतु मूलतः यह एक क षक विद्रोह था। बढ़ते हुए आर्थिक असंतोष से किसान मांचू राजवंश से नाराज थे। इनके साथ वे लोग भी सम्मिलित थे, जो धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहते थे। चीन में पूर्वज-पूजा के पश्चात् राजा ही धर्माध्यक्ष होता था। सभी के लिए उसके द्वारा निर्धारित धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन करना आवश्यक होता था। ईसाई धर्म के प्रचार से भी वहाँ नई चेतना का उदय हुआ। इतिहासकार क्लाइड पाल की द ष्टि में "ताईपिंग आन्दोलन" एक किसान विद्रोह था, धार्मिक तथा नैतिक आन्दोलन था और उस राजवंश के प्रति विद्रोह था जिसके ईश्वरीय अधिकार छिन गए प्रतीत होते थे।

ताइपिंग विद्रोह

ताइपिंग विद्रोह का प्रधान नेता हुंग-शु-च्यान था। वह क्वांगतुंग का निवासी था। उसने अपने साथियों के सहयोग से एक गुप्त समिति की स्थापना की, जिसका नाम 'शान्गति' अथवा 'ईश्वर-आराधना का संगठन' था। चूँकि यह एक ऐसा कार्य था, जो मान्यता के अनुसार केवल सम्राट ही कर सकता था। अतः इस संगठन पर रोक लगा दी गई। हुंग को एक नये धर्म की प्रेरणा स्वप्न में प्राप्त हुई। अतः उसने घोषणा कर दी कि वह 'ईश्वरीय सम्राट' है और वह एक नये शासन "ताइपिंग" (पूर्ण शान्ति) की स्थापना करेगा। 11 जनवरी, 1851 के दिन हुंग तथा उसके साथियों ने, 'ताइपिंग-तिएन-कुओ' (चिर शान्ति की देवी का राज्य) की घोषणा कर दी। यह एक विद्रोही या क्रान्तिकारी संगठन था, जो मांचू शासन को स्वीक त नहीं था। धीरे-धीरे यह विद्रोह नानकिंग तक बढ़ गया और अन्ततः उसे जीत लिया तथा उसको राजधानी बनाकर अपना शासन आरम्भ किया। इसी बीच दूसरा अफीम युद्ध आरंभ हुआ। विदेशी लोग यह कभी सहन नहीं कर सकते थे कि नानकिंग में एक ऐसी सरकार स्थापित रहे, जो देश की दशा को सुधारने में तत्पर हो और जो विदेशियों के साम्राज्यवाद की विरोधी हो। अतः 1864 ई० में मांचू सरकार की अनुमति पर इस विद्रोह को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया। यद्यपि ताइपिंग विद्रोह सफल नहीं हो सका पर इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि प्रायः 14 वर्षों तक चीन के देशभक्तों ने अपने देश में एक ऐसी सरकार को कायम करने का

प्रयास किया, जो किसानों की दशा सुधारने के लिए प्रयत्नशील थी, साथ ही विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए भी तत्पर थी। इस प्रकार किसानों ने अपनी स्थिति को सुधारने तथा विदेशियों के चंगुल से निकलने केलिए यह विद्रोह किया था किंतु उन्हें इसमें सफलता सफलता प्राप्त नहीं हुई। फिर भी इस विद्रोह से यह भावना प्रबल हो गयी कि विदेशियों के कारण ही उनके प्रयास विफल हुए हैं। अतः सर्वप्रथम इन विदेशियों के विरूद्ध ही संघर्ष करना होगा।

चीन में राजनीतिक चेतना का विकास

सन् 1894-95 में जापान व चीन के बीच युद्ध हुआ। इस युद्ध में जापान ने कोरिया पर अधिकार कर लिया और कुछ प्रयासों के बाद फारमोसा, पीकाडोर तथा लिआओतुंग प्रायद्वीप भी उसने हड़प लिये। इस युद्ध में चीन के लोगों ने अपनी दुर्दशा को अच्छी तरह से अनुभव कर लिया था। अब चीन के बारे में यह कहा जाने लगा कि "एशिया का बीमान मानव" अपनी अन्तिम साँसें ले रहा है। साम्राज्यवादी गिद्ध उसके क्षत-विक्षत शरीर पर अब भी मण्डरा रहे थे। अमेरिकी दबाव से अन्य आक्रान्ताओं ने मुक्त द्वार नीति अपनायी, अर्थात् सभी देशों के लिए चीन के आर्थिक शोषण का द्वार खुला। विदेशी ऋण अनुचित शर्तों के साथ चीन पर लाद दिए गये। इन परिस्थितियों में यह स्वाभाविक ही था कि चीन में ऐसे दलों का प्रादुर्भाव हो, जिनका उद्देश्य देश की राजनीतिक दुर्बलता को दूर कर शक्ति का संचार करना हो। अनेक चीनी युवक विदेशों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त करके पुनः चीन लौटे थे, उनका यह प्रयत्न था कि वे अपने देश की दशा में सुधार करें। इस कार्य में डॉ. सनयात सेन के दल ने विशेष रूचि ली। डॉ. सनयात सेन हवाई द्वीप तथा हांगकांग के विद्यालयों में अध्ययन कर चुके थे। पश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आकर उनका यह विचार बना कि चीन को भी फ्रांस-ब्रिटेन आदि के समान सम द्ध देश होना चाहिए। जापान का उदाहरण उनके सम्मुख था। 1895 ई० में उन्होंने केन्टन में एक विद्रोह का नेत त्व किया किंतु उनका यह प्रयत्न असफल रहा। उन्हें चीन छोड़कर जाना पड़ा। सुधार करने के पक्ष में एक अन्य देशभक्त कांग-यू-वेई था किंतु वह क्रान्तिकारी विचारों को महत्त्व नहीं देता था। उसका विचार था कि सुधारों के आधार पर वैध राजसत्ता की स्थापना की जा सकती है। उसे सम्राट की सार्वभौम सत्ता में पूर्ण विश्वास था। सम्राट कुआंगहुसू की सहानुभूति इन सुधारवादियों के साथ थी। कांग-यू-वेई ने एक सुधार कार्यक्रम सम्राट के पास भेजा, जिसे सम्राट ने स्वीकार कर लिया और 11 जून, 1898 को एक शाही आदेश में सुधारों की आवश्यकता की घोषणा कर दी। उस समय चीन की रोगग्रस्त सभ्यता के लिए प्रशासन के समस्त क्षेत्रों में आधुनिकीकरण की आवश्यकता थी। सम्राट ने जून, 1898 से सितम्बर, 1898 तक अनेक आज्ञाएँ प्रकाशित की, जिनका उद्देश्य चीन के शासन में सुधार करना था। इन राजाज्ञाओं में केवल शासन सम्बन्धी सुधारों का ही आदेश नहीं दिया गया था, अपितु कई अन्य सुधार कार्य भी आरंभ किये गये थे। शिक्षा का विस्तार किया गया और पुरानी शिक्षा व्यवस्था के स्थान पर व्यावहारिक शिक्षा पर जोर दिया गया। आधुनिक स्कूल और कॉलेज खोलने की योजनाएँ बनायी गई। राजनीति और विज्ञान सम्बन्धी पश्चिमी पुस्तकों के अनुवाद की व्यवस्था भी की गई। बहुत से व्यर्थ के सरकारी पदों को समाप्त कर सरकारी खर्च में कटौती की गई। सेना के पुनर्गठन के लिए कुछ नियमों का प्रावधान किया गया। परंतु दुर्भाग्यवश सम्राट के द्वारा आरंभ सुधारों का यह युग केवल 100 दिन चला। उत्तरी चीन के मांचू पदाधिकारी इन सुधारों के पक्ष में नहीं थे, परिणामस्वरूप रूढ़िवादियों ने राजमाता त्जू-ह्जी को भड़काकर सम्राट को बन्दी बना लिया। इस प्रकार चीन में सुधारों का क्षणिक युग बिना किसी उपलब्धियों को प्राप्त किये समाप्त हो गया।

बॉक्सर आन्दोलन

डॉ. सनयात सेन की विचारधारा 1885 ई० से ही स्पष्ट होने लगी थी। 1894 ई० में चीन-जापान युद्ध के समय सनयात सेन के होनोलूलू में हू-सिंग-चुंग-हुई (चीन-पुनर्जागरण संस्था) की स्थापना की, जिसका उद्देश्य मांचू शासन को समाप्त करना था। चीन की जनता भी विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर विद्रोह करना चाहती थी। इस स्थिति में चीन में एक दल का गठन हुआ, जिसे "समरस मुक्कों का संगठन" या "बॉक्सर दल" कहा गया। यह दल विदेशी-विरोधी आंदोलन का सबसे अधिक उग्र संगठन था। यह आन्दोलन शान्तुंग के प्रदेश से आरंभ हुआ। यह बॉक्सर दल शान्तुंग से बढ़कर 1900 ई० में पीकिंग तक पहुँच गया। इस आन्दोलन के जन्म से चीन सरकार का क्या संबंध था यह कभी पूरी तरह सिद्ध नहीं हुआ किंतु यह स्पष्ट है कि बॉक्सर दल को अन्तिम समय तक सरकार का समर्थन प्राप्त होता रहा। इस दल के सदस्यों ने रेल मार्ग और तार के खम्भे उखाड़ दिये, गिरजाघरों को जला दिया, ईसाई मिशनरियों और उनके अनुयायियों की सामूहिक हत्या कर दी। 20 जून तक यह पागलपन मांचू दरबार के केन्द्र में भी पहुँच गया और उन्होंने विदेशी राष्ट्रों के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस आन्दोलन के फलस्वरूप विदेशियों की रक्षा के लिए बाहर से और अधिक सेना लाने का प्रयास किया गया। जब एडमिरल

सीमूर की सेना टींटसिन से आगे बढ़ रही थी, उत्तरी चीन भेजे गये विदेशी सैनिक दलों के सेनापतियों ने निर्णय लिया कि टींटसिन का मार्ग बलात् खोल दिया जाय। इस निर्णय का केवल अमेरिका ने विरोध किया था। अतएव ताकु स्थित दुर्गों पर गोलाबारी की गयी। इससे, वास्तव में चीन व विदेशी सरकारों के बीच युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी और इसी के फलस्वरूप चीनी दरबार व चीनी सैनिकों ने बॉक्सर विद्रोह को खुला सहयोग देना शुरू किया। अधिकांशतः इसी कारण सीमूर अभियान पीकिंग तक पहुँचने में असफल रहा। दूसरी ओर इसकी प्रतिक्रिया दूतावासों के विरूद्ध भी हुई क्योंकि अर्द्ध-घेरे की स्थिति दूतावासों पर खुले आक्रमणों में परिवर्तित हो गयी।

दूतावासों की घेराबन्दी 1900 ई० में जून से अगस्त तक चलती रही। मित्र राष्ट्रों के सैनिक अभियान ने घिरे हुए विदेशियों को मुक्त किया। इससे सारे देश में बॉक्सर आन्दोलन समाप्त हो गया। यांगत्सी क्षेत्र व दक्षिणी प्रांतों के अधिकारियों ने इस आंदोलन में भाग लेने से इंकार कर दिया था और दरबार के "विद्रोहियों को समुद्र में खदेड़ दो" के आदेश के बावजूद विदेशी-विरोध के प्रभाव को कम करने का प्रयास किया गया। अतएव मित्रराष्ट्र अभियान को केवल उत्तर में नियन्त्रण स्थापित करना था। फलतः सन् 1900 ई० के विद्रोह को सही अर्थों में राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं कहा जा सकता था।

असफलता के कारण

बाक्सर विद्रोह की असफलता का मुख्य कारण यह था कि शाही सरकार ने बहुत देर से इसको अपना समर्थन प्रदान किया। यांग्त्शी क्षेत्र तथा दक्षिणी प्रांत के अधिकारियों ने इस आंदोलन में कोई भाग नहीं लिया। अनेक उच्च पदस्थ शाही पदाधिकारी इस प्रकार के विदेशी शक्तियों से युद्ध को राज्य हित के लिए अनिष्टकारी समझते थे और उन्होंने अपने प्रांतों में बाक्सरों की गतिविधियों पर पर्याप्त नियन्त्रण स्थापित किया। इस आंदोलन के सुयोगय नेत त्व भी प्राप्त नहीं हुआ। उनकी द ष्टि से देश की समस्त दुर्दशा का कारण 'विदेशी राक्षस' थे। इसलिए वे उनके विचित्र एवं भ्रष्ट धर्म तथा उच्चता की भावना सहित विदेशियों को नष्ट करना चाहते थे।

परिणामः विदेशियों से छुटकारा पाने के चीन के प्रयास का परिणाम यह हुआ कि चीन को 1901 में एक सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। यह सन्धि चीन के लिए हानिकारक एवं अपमानजनक सिद्ध हुई। इसके कारण चीन में विदेशी राज्यों का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया। इस सन्धि की व्यवस्था इस प्रकार थी-

1. जर्मन राजदूत तथा जापानी दूतावास के अध्यक्ष की हत्या के लिए चीनी सरकार ने क्षमा-प्रार्थना की।
2. विद्रोहियों द्वारा नष्ट किये गये विदेशियों के कब्रिस्तानों का जीर्णोद्धार तथा स्मारकों की स्थापना करने की माँग चीन को स्वीकार करनी पड़ी।
3. चीन ने 45 करोड़ तायल क्षतिपूर्ति के रूप में देना स्वीकार किया। इस राशि को विदेशी शक्तियाँ चीनी सरकार से सीमा शुल्क व नमक के रूप में वसूल करेगी।
4. ताकू की किलेबन्दी पूर्णतः नष्ट कर दी गई। पीकिंग से स्वतंत्र संचार व्यवस्था के लिए मार्ग के 13 स्थानों पर विदेशियों का नियंत्रण चीन को स्वीकार करना पड़ा।
5. पीकिंग में दूतावासों की रक्षा के लिए विदेशी फौजें स्थायी रूप से रखने का निर्णय लिया गया।
6. सीमा-शुल्क की दर 5 प्रतिशत बढ़ा दी गई जिससे क्षतिपूर्ति की राशि शीघ्र वसूल की जा सके।
7. विदेशी नागरिकों एवं चीनी ईसाइयों की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध करने का आश्वासन भी चीन को देना पड़ा।

किंतु बॉक्सर विद्रोह से चीन के राजनीतिक भविष्य पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। इससे मांचू वंश की समाप्ति और गणराज्य की स्थापना का समय निकट आ गया। इस रूप में वह चीन की क्रान्ति की प्रगति में एक महत्त्वपूर्ण कदम था।

1911 की राज्य क्रान्ति

चीनी क्रान्ति की भूमिका पिछले कई वर्षों से बनती आ रही थी। 19वीं शताब्दी में चीनी सरकार ने चार बार यूरोपीय जातियों से पराजित होकर अपमानजनक शर्तों पर समझौता किया था। इसके अतिरिक्त जापान जैसे छोटे से देश से 1894-95 ई० में पराजित हो जाना तो अत्यन्त अपमानजनक बात थी। इन पराजयों से चीनी जनता के मन में कुछ न कर पाने पर भी रोष का भाव अवश्य विद्यमान था। 1911 की क्रान्ति के द्वारा इसी भाव का प्रस्फुटन हुआ।

चीन की क्रान्ति को दो अलग-अलग रूप में देखना होगा। चीन का इतिहास बताता है कि वहाँ अनेक राजवंशों का राज्य चला। वहाँ एक राजवंश कुछ समय के लिए राज्य करता था, उसके बाद उसका पतन हो जाता, फिर कुछ समय के लिए अव्यवस्था और अराजकता फैल जाती और फिर उसका स्थान दूसरा राजवंश ले लेता था। संभवतः 1911 ई० में मांचू राजवंश का जो पतन हुआ, वह मिंग राजवंश (The Mings), युएन राजवंश (Yuens), सुंग राजवंश (The Sungs) और ऐसे ही अनेक राजवंशों के पतन के क्रम के इतिहास की पुनराव त्ति था। इसमें संदेह नहीं है कि मांचू राजवंश पतन की ओर जा रहा था। उसकी अयोग्यता और भ्रष्ट नीति के कारण ही चीन पर कई बार मुसीबतें आयी। यह भी याद रखना चाहिए कि यद्यपि चीन में सम्राट के व्यक्तित्व के प्रति अपार श्रद्धा थी फिर भी उसको इतना दैवी महत्त्व नहीं दिया जाता था कि वह कुशासन करे। केवल विधवा साम्राज्ञी राजमाता, त्से हीसी (Tse Hsi), के व्यक्तित्व के कारण ही मांचू राजवंश का जीवनकाल बढ़ गया था और जैसे ही 1908 ई० में उसकी म त्यु हुई, मांचू वंश का पतन निश्चित हो गया। बॉक्सर विद्रोह के समय उसने प्रतिक्रियावादियों का नेत त्व किया था। 1906 ई० में पुनः उसने देखा कि रूस-जापान युद्ध के कारण देश में असंतोष फैलता जा रहा था, तो उसने सुधारों का मार्ग चुन कर मांचू वंश को बनाया। उसने देश में कई सुधार लागू किये, सैनिक सुधार भी किये गये, मंदिरों का स्कूलों में बदल दिया, नयी शिक्षा प्रणाली को अपनाया। उसने संसदीय शासन प्रणाली आरंभ करने की बात भी स्वीकार की थी।

इसके विपरित यह सर्वविदित है कि चीन की क्रान्ति के कुछ ऐसे कारण भी बन गये थे जिन्होंने चीन के इतिहास की कतिपय मान्यताओं को नष्ट कर दिया था। 1911 ई० के चीन की तुलना अठारहवीं शताब्दी के भारत से की जा सकती थी, जब मुगल साम्राज्य का पतन हुआ या 1867 की जापान की स्थिति से की जा सकती है अर्थात् जिस प्रकार 1867 ई० के संकेत ने जापान को सुषुप्तावस्था से जाग त अवस्था में पहुँचा दिया था; प्रायः उसी प्रकार 1911 ई० की चीन की क्रान्ति ने भी चीन को अफीम के नशे से चेतन कर दिया। चीन में 1911 ई० का वर्ष ऐतिहासिक है। इस वर्ष में सदियों से चले आ रहे राजतंत्र की समाप्ति कर गणतंत्र की स्थापना की गयी, जो चीन के इतिहास की शायद पहली क्रान्तिकारी घटना थी। यद्यपि डॉ. सनयात सेन जैसे ख्याति के राष्ट्र नेता इस गणराज्य के अध्यक्ष बने लेकिन यह राजनीतिक परिवर्तन आर्थिक एवं सामाजिक क्रान्ति के अभाव में प्रभावहीन ही रहा। सामन्तशाही का वर्चस्व नहीं टूटा एवं किसान शोषण मुक्त नहीं हो सके। इस गणतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति के रूप में डॉ. सनयात सेन साम्राज्यवादी शक्तियों के चंगुल से पूर्ण मुक्त नहीं हो सके। इन शक्तियों ने एक वर्ष के भीतर ही सनयात सेन को हटाकर राजवंशीय सेनापति यू-आन-शिकाई को राष्ट्रपति बना दिया। उसने गणतंत्र के प्रति कभी उत्साह नहीं दिखाया। अगले चार वर्ष वह गणतंत्र का अध्यक्ष अवश्य बना रहा परंतु कार्य रूप में चीन पर सैनिक तानाशाही का राज्य था। सैनिक शक्ति के समक्ष सनयात सेन अपने को असहाय महसूस कर रहे थे।

चीनी गणतंत्र के अगले चार वर्ष उथल-पुथल के थे। इन वर्षों में युआनशिकाई तथा क्रान्तिकारियों में निरंतर संघर्ष होता रहा। युआनशिकाई की स्थिति पर्याप्त मजबूत थी क्योंकि चीनी जनता के लिए राजतंत्र या गणतंत्र में कोई अन्तर नहीं था। युआनशिकाई ने अपने विश्वास के व्यक्तियों की नियुक्ति कर प्रशासन में सत्ता को मजबूत बनाया। यही नहीं, नये विधान के निर्माण के समय सदस्यों को विश्वास देकर या डराकर अपने लिए जीवन-पर्यत्न राष्ट्रपति पद भी सुरक्षित कर लिया। 1913 ई० में नये विधान के अनुसार सीनेट और प्रतिनिधि सभा, दोनों सदनों का गठन कर युआनशिकाई ने 10 अक्टूबर को स्थायी राष्ट्रपति के पद की शपथ ग्रहण की और 4 नवम्बर को क्रान्तिकारियों के प्रमुख दल कुओमिंगतांग पर प्रतिबंध लगा दिया। इस दल पर प्रतिबंध लगा देने से संसद में सदस्यों की संख्या इतनी कम हो गई कि दोनों सदनों में कोरम पूरा न होने से वे महत्त्वहीन हो गये। फलस्वरूप राष्ट्रपति ने सदनों का अधिवेशन अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया। 1914 ई० में नये विधान की घोषणा की गई जिसमें सम्पूर्ण सत्ता राष्ट्रपति के हाथ में सौंप दी गयी। युआनशिकाई ने स्वयं को सम्राट बनाकर पुनः राजतंत्र की स्थापना का भी प्रयत्न किया किंतु उसके राज्याभिषेक के पूर्व ही दक्षिण-पश्चिम में विद्रोह हुआ और उसको आश्वासन देना पड़ा कि वह शासक नहीं बनेगा। जून, 1916 में ही उसकी म त्यु हो गयी। इसके बाद चीन में गणतंत्र की स्थायी स्थापना अवश्य हो गई परंतु वहाँ पर गणतंत्रवादी भावना के विकास में कई वर्ष लग गये। युआनशिकाई की म त्यु के पश्चात् डॉ. सनयात सेन ने गणतंत्रीय दल को पुनर्गठित किया। उसके तीन सिद्धान्त थे-"राष्ट्रीयता, लोकतंत्र और समाजवाद।" वे जीवनपर्यत्न गणतंत्र को मजबूर करने में लगे रहे और 1925 ई० में उनकी म त्यु हो गई।

कुओमिंगतांग दल एवं डॉ. सेन की विचारधारा

डॉ. सनयात सेन एक प्रखर राष्ट्रवादी नेता एवं उच्च चरित्र के व्यक्ति थे। उनके चिंतन पर पश्चिमी राजनीतिक प्रजातंत्र का गहरा प्रभाव था। उन्होंने राष्ट्रवाद के साथ प्रजातंत्र के सिद्धान्तों एवं आर्थिक स्वतंत्रता को जोड़ा और आर्थिक स्वतंत्रता के अंतर्गत अनिवार्यतः नागरिकों के जीवकोपार्जन के साधनों को सम्मिलित किया। उन्होंने जनशक्ति को सुद ढ़ करने के लिए जनता का आह्वान किया। हेराल्ड एस. किंगले ने डॉ. सनयात सेन के विचारों का सार प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "उसने राष्ट्रवाद और जातीय एकता में तादात्म्य स्थापित किया। जातीय एकता को नस्ल, भाषा, धर्म एवं रीति-रिवाजों की एकरूपता माना। उसका मत था कि जनतंत्रीय सरकार शासन का एक अन्तिम प्रकार है जो शक्ति, धर्म-सापेक्षता एवं राजतंत्र की अवस्थाओं में से गुजरने के उपरान्त प्राप्त होता है। वे जमीन के समान वितरण एवं पूँजी पर नियंत्रण रखने में विश्वास रखते थे। वे राष्ट्रीय जीवन पर चन्द व्यक्तियों के वर्चस्व के विरूद्ध थे।"

इस प्रकार लगभग अर्द्ध-शताब्दी के प्रयासों के उपरांत चीन के नागरिकों ने राष्ट्रीयता की भावना के आधार पर चीन को संगठित किया।

ताईपिंग विद्रोह (1850-1864 ई०)

दो अफीम युद्धों के फलस्वरूप चीन की राजनीतिक एवं सैनिक शक्ति का पर्दाफाश हो गया और मंचू साम्राज्य की प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी। अब मंचू शासकों में आन्तरिक शान्ति-व्यवस्था की स्थापना तथा विदेशियों से देश की रक्षा करने की क्षमता नहीं रह गयी। सम्राट् **ताओ कुआँग** (1820-75) के शासनकाल में ही अशान्ति तथा अव्यवस्था के लक्षण प्रकट होने लगे। उसका उत्तराधिकारी **सिएन फेंग** और भी दुर्बल एवं अयोग्य सिद्ध हुआ। **द्वितीय अफीम युद्ध** के क्रम में वह राजधानी छोड़कर भाग खड़ा हुआ। इसके बाद उसका नाबालिग पुत्र **तुँग चीह** (1860-75) गद्दी पर बैठा। इस काल में वास्तविक राजसत्ता राजमाता **जू-सी** के हाथों में आ गयी। वह एक द ढ़-निश्चयी तथा बुद्धिमत्ता स्त्री थी, फिर भी शासन-तंत्र ढीला ही रहा। बढ़ते हुए करों से लोग घबरा गए थे। साथ ही, विदेशियों के विरूद्ध मंचू शासकों की असफलता से वे अब सोचने लगे थे कि मंचू राजवंश का अन्त निकट आ गया है, अतः धीरे-धीरे चीन में अराजकता बढ़ती गयी।

मंचू राजवंश चीन में अलोकप्रिय होने लगा। लोग उसके विरोधी हो गये थे, क्योंकि सरकार न तो आन्तरिक शान्ति की स्थापना कर पा रही थी और न विदेशियों से चीनियों की सुरक्षा। अतः 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में मंचू साम्राज्य के विरूद्ध चीन में अनेक भयंकर विद्रोह हुए।

द्वितीय अफीम युद्ध के आठ वर्षों के पश्चात् चीन में 1850 ई० में ताईपिंग विद्रोह शुरु हुआ। यह बड़ा ही उग्र था और भविष्य में चीन में होने वाले अन्य विद्रोहों का इसने दिशा निर्देशन किया। मंचू राजवंश को समाप्त करने का पहला प्रयास इस विद्रोह के नेताओं के द्वारा किया गया। विद्रोहियों की कुछ निश्चित राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताएँ थीं जिन्हें वे पूरा करना चाहते थे। यद्यपि ताईपिंग विद्रोह का प्रारम्भ 1850 ई० में हुआ पर इसकी जड़ें बहुत गहरी थी। मंचू साम्राज्य की कमजोरियाँ, चीन में विदेशियों का बढ़ता हुआ प्रभाव, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, देश में सर्वत्र अशान्ति तथा देश के सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचे में उत्पन्न विक तियों ने एकजुट होकर विद्रोह का अनिवार्य बना दिया।

विद्रोह के कारण

राजनीतिक कारण-विद्रोह के काल में तमाम द ष्टिकोणों से चीन की स्थिति दयनीय हो गयी थी। नानकिंग तथा उसके बाद की सन्धियों ने चीन की राजनीतिक सत्ता को खोखला बना दिया था। चीन ने अपनी सार्वभौम सत्ता खो दी थी और चीन में विदेशियों का प्रभाव तेजी से बढ़ रहा था। देश की ऐसी हालत ने लोगों के हृदय में विद्रोही भावनाओं को जन्म दिया।

मंचू साम्राज्य की निहित कमजोरियों ने भी विद्रोही भावना को जन्म दिया। मंचू राजवंश पर विदेशीपन की छाप थी। 1850 ई० में ताओ कुआंग की म त्यु के पश्चात् **हसीन फेंग** (Hasien Fang) चीन की गद्दी पर बैठा। वह अत्यन्त विलासी और कमजोर शासक था। प्रशासनिक कार्यों में उसे कोई अभिरूचि नहीं थी। समस्त चीन में उसके शासन-काल में भ्रष्टाचार का विस्तार हुआ। अधिकारीगण भी सम्राट् की तरह विलासी एवं भ्रष्ट हो गए थे। देश में चारों ओर अशान्ति और अव्यवस्था फैली हुई थी। तटवर्ती क्षेत्रों में समुद्री डाकू सक्रिय हो उठे थे। सर्व-साधारण वर्ग के लोगों की कमर करों के बोझ से झुक गई थी। देश में अकाल, महामारी आदि दैवी प्रकोप काफी बढ़ गए थे। जनता को जीवन निर्वाह में तरह-तरह की असुविधाओं का सामना करना

पड़ रहा था। अतः लोगों के हृदय में सम्राट् तथा सामन्त-विरोधी भावनाएँ उग्र रूप धारण करती जा रही थी। लोकतन्त्र-विरोधी इन संस्थाओं को उखाड़ फेंकने के लिए जनता ने अनेक गुप्त समितियों की स्थापना कर ली। इनका नारा था, "*मंचू वंश को मार भगाओ तथा निगवंश को पुनः स्थापित करो*।"

भ्रष्ट प्रशासन-मंचू सम्राट की तरह साम्राज्य के अधिकांश अधिकारीगण विलासी एवं भ्रष्ट हो गए थे। प्रशासनिक तंत्र ढीले पड़ गए। चोर, लुटेरे तथा हत्यारों की बन आयी थी। अधिकारी वर्ग के लोग अभियुक्तों के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्रवाई करना नहीं चाहते थे। अयोग्य व्यक्तियों को उच्च प्रशासनिक पदों पर बहाल किया जा रहा था। प्रान्तीय शासक तथा मंत्रीगण नहीं चाहते थे कि सम्राट् को जनता की दुर्दशा एवं देश की पतनोन्मुख स्थिति की जानकारी हो। स्वार्थी अधिकारीगण शोषण, घूस तथा अन्य तरीकों से अपनी जेबें भरने में लगे हुए थे, उनमें जनहित के कार्यों के प्रति किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं थी।

देशव्यापी अराजकता-अफीम युद्धों के बाद से समस्त चीन में अराजकता का साम्राज्य स्थापित हो गया था। 1850 ई० से 1856 ई० तक शायद ही कोई ऐसा वर्ष बीता हो जब कि चीन में विद्रोह न हुआ हो। विद्रोही मंचू वंश की सत्ता समाप्त करने पर तुले हुए थे। इसके पूर्व 1843 ई० में हुनान प्रान्त के लोगों ने अपने प्रान्त से चावल का निर्यात रोक दिया। इन्होंने राज्याधिकारियों को मार डाला और प्रशासन पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया। 1844 ई० में फारमोसा में भी एक विद्रोह हो गया था। इस प्रकार ताईपिंग विद्रोह के पूर्व के दशकों में निरंतर विद्रोह होते रहे। प्रशासन इन विद्रोहों को दबाने में पूर्णतः असफल सिद्ध हुए।

सैनिक दुर्बलता-सैनिक शक्ति मंचू साम्राज्य का आधार था; परन्तु 18वीं सदी के मध्य में प्रशासन ने सैनिकों के अनुशासन में कोई भी दिलचस्पी लेना छोड़ दिया। अनेक सैनिक अधिकारी सैनिकों को दिए जाने वाले वेतन की धन-राशि स्वयं रख लेते थे और निरीक्षण के समय कुलियों और श्रमिकों को भर्ती कर देते थे। सैनिकों के लिए किसी प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी नहीं थी। सैनिक अपने परिवारों की गुजर के लिए अन्य कारोबार करते थे। अतः यह स्वाभाविक था कि सैनिक-शक्ति दिन पर दिन दुर्बल होती गई। अतः प्रथम आँग्ल-चीनी युद्ध के समय आसानी से दुश्मन उन पर विजय प्राप्त कर सका।

गुप्त समितियाँ-केन्द्रीय सरकार के कमजोर हो जाने पर अनेक गुप्त समितियों ने जोर पकड़ लिया। इन्होंने नागरिकों का, उनके डाकुओं से रक्षा करके, सहयोग प्राप्त कर लिया। व्यापारी वर्ग से इन्हें सहायता प्राप्त हो गई। अतः इन्होंने विद्रोह के लिये छोटी-छोटी सशस्त्र टुकड़ियों का संगठन कर लिया। इन समितियों का लक्ष्य विदेशियों को अपने देश से निकालने तथा दिव्य साम्राज्य को मंचू वंश से, जिसे वे साम्राज्यहन्ता कहते थे, मुक्ति दिलाना था। नानकिंग सन्धि की शर्तें उनके राष्ट्र के लिए अपमानयुक्त थी। वे इन समितियों की बार-बार ऐसी सरकार को जो कि देश की रक्षा के लिए, असमर्थ है अन्त कर देने के लिए उत्तेजित कर रहे थे।

विद्रोह की आर्थिक प ष्ठभूमि-अशान्ति के इस काल में देश की अर्थव्यवस्था चौपट हो गयी। चीन की अर्थव्यवस्था क षि पर आधारित थी। किन्तु कुछ खास कारणों के चलते इस काल में भूमि के ऊपर दबाव बढ़ता गया और उत्पादन में कमी आ गई। इसका मुख्य कारण चीन की बढ़ती हुई आबादी था। 1821 ई० तक देश की आबादी साढ़े पैंतीस करोड़ थी जो 1841 ई० में बढ़कर चालीस करोड़ से भी अधिक हो गई। इस बढ़ती हुई आबादी को केवल क षि साधनों से सम्भालना कठिन था। इसने देश में अन्नाभाव, बेगारी और उग्र असंतोष की भावना को जन्म दिया। दुःखद बात यह थी कि जब एक ओर देश की आबादी तेजी से बढ़ रही थी तो दूसरी ओर क षि-योग्य भूमि की मात्रा घट गयी। लोग क षि-कार्यों के लिए अपेक्षाक त कम भूमि का इस्तेमाल कर रहे थे। चीन में उद्योग-धंधों की नितांत कमी थी। देश की भूखी जनता को फैक्ट्रियों में रोजगार दिया जा सकता था; पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ।

किसानों में असंतोष-किसानों में सामन्त प्रथा और मंचू राज्य के प्रति असन्तोष बढ़ता जा रहा था। इसके कारण थे-क षकों पर करों का अत्यधिक बोझ था। क षि करने के साधन पुराने थे, उसमें कोई सुधार नहीं हुआ था। अतः खेती द्वारा जीवन-निर्वाह कठिन हो गया था। वे साहूकारों के बोझ में दब गए थे। आँग्ल-चीन युद्ध का आर्थिक भार भी गरीब किसानों पर पड़ा। करों को चुकाने के लिए बहुत-से किसानों ने अपनी भूमि बेच दी और मजदूरी करके अपना गुजर करने लगे। कुछ लुटेरे हो गए। राजकीय खजानों को लूटना तथा अधिकारी वर्ग को सताना उनका कर्त्तव्य हो गया था। व्यापार में विदेशियों को सुविधाएँ प्राप्त होने से व्यापारी वर्ग का असन्तोष तीव्र होता जा रहा था। विद्यार्थी नौकरी न मिलने के कारण बेचैन थे। शासनतन्त्र में हर

प्रकार की खराबियाँ उत्पन्न हो चुकी थी। पश्चिम से आये लोकतन्त्री विचारों ने सर्वांगीण असन्तोष तथा विद्रोह का रूप धारण करने में बड़ी सहायता दी।

व्यापारियों में असंतोष-किसानों की तरह चीन का व्यापारी वर्ग भी असंतुष्ट था। नानकिंग की सन्धि के बाद चीन के व्यापार पर विदेशियों का नियन्त्रण स्थापित हो गया था। चीन के बाजारो में विदेशी सामानों की भरमार थी। व्यापार का संतुलन विदेशियों के पक्ष में था। इस प्रकार चीन का व्यापार चौपट हो गया था। व्यापारी इसके लिए अपनी सरकार को दोषी मानते थे।

उल्लिखित कारणों के चलते चीन में ताईपिंग विद्रोह का प्रारम्भ हुआ। विद्रोह का नेत त्व **हुंग सियु चुआन** नामक एक व्यक्ति ने किया। चुआन एक पढ़ा-लिखा चीनी ईसाई था और उसके अनुयायी थे किसान और खेत मजदूर। चुआन काँगटन प्रान्त का रहने वाला एक अत्यन्त महत्वाकांक्षी युवक था। वह कैन्टन में तीन बार प्रान्तीय परीक्षाओं में असफल हो चुका था। तत्पश्चात् उसने एक नवीन धर्म स्थापित करने का विचार किया। कैन्टन में एक अमेरिकन ईसाई मिशनरी **ईसाकेर रोबर्टस्** (Mr. Issachar Robers) से उसका सम्पर्क हुआ। ईसाई धर्म में उसका विश्वास बढ़ गया। उसने ईसाई धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया और अपने कुछ अनुयायियों को साथ लेकर **क्वांगसी** प्रान्त में धर्म-प्रचार हेतु शांग तीहुई समिति बनाई। इस आन्दोलन को उत्तरोत्तर जन-सहयोग प्राप्त होने लगा। सरकार ने भयभीत होकर हुंग की समिति पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इससे आन्दोलन में और तीव्रता आ गई। हुंग की समिति एक विशाल संगठन बन गई। प्रारम्भ में यह एक धार्मिक संगठन था परन्तु शीघ्र ही एक राजनीतिक संगठन हो गया। अब इसका उद्देश्य मंचू साम्राज्य का विनाश करके देश में शान्ति स्थापित करना था।

विद्रोह का तात्कालिक कारण-विद्रोह का तात्कालिक कारण क्वांगतुंग का अकाल था। 1849 ई० में क्वांगतुंग में बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा। मंचू साम्राज्य ने इस दुर्भिक्ष में जनता के कष्टों को दूर करने के लिए कोई प्रयत्न न किया। चारों ओर हाहाकार मच गया। राज्य के भ्रष्ट कर्मचारी जनता के कष्टों की अवहेलना करते रहे और अपनी जेब भरते गये। हुंग ने इसे मंचू साम्राज्य का अन्त करने का सुनहरा अवसर समझा। अतः उसने शांगती-हुई संस्था (ईश्वर पूजकों की संस्था) के सदस्यों को दूर-दूर क्षेत्रों से बुलाकर एकत्रित किया। 11 जनवरी, 1851 को समस्त सदस्यों के सामने ताईपिंग तिएन-कुओ (Tai-p'ing-t'ien-Kuo) की स्थापना की। ताईपिंग-तिएन-कुओ का अर्थ है 'महाशान्ति का दैवी साम्राज्य'। 'तिएन-वाँग' ने स्वयं ईश्वरीय सम्राट की उपाधि धारण की। उसने कहा कि परमात्मा ने मुझे प थ्वी पर अत्याचारों को समाप्त करने के लिए भेजा है। अपने जन्म के तीन वर्षों के भीतर यह विद्रोह दानवों की तरह समस्त चीन में फैल गया।

विद्रोह का विस्तार एवं दमन-ताईपिंग आन्दोलन का स्वरूप धीरे-धीरे उग्र होता चला गया। 1854 में हुंग ने नानकिंग पर कब्जा कर लिया तथा उसे अपनी राजधानी बनायी। जल्द ही क्रान्तिकारियों ने याँगत्सी की उर्वर घाटी पर कब्जा कर लिया और वे बढ़ते हुए टिंट्सीन तक जा पहुँचे। यद्यपि उत्तर में विद्रोहियों को विशेष सफलता नहीं मिली, किन्तु दक्षिण में उन्होंने अपनी स्थिति काफी सुद ढ़ बना ली। उनके द्वारा अनेक प्रशासनिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक सुधार लाने के प्रयास भी किए गए।

प्रारम्भ में ईसाइयों ने विद्रोहियों का साथ दिया। चूँकि ताईपिंग के सिद्धान्त प्रोटेस्टेंट धर्म से अधिक मिलते-जुलते थे, अतः बाद में रोमन कैथोलिक ने इस विद्रोह करने तथा दबाने का द ढ़ निश्चय कर लिया। विदेशी शुरू में तटस्थ थे, यह सोचकर विद्रोही उनका समर्थक करेंगे, किन्तु जब उन्हें विश्वास हो गया कि ताईपिंग विद्रोह भी विदेशियों से उतनी ही घ णा करते थे जैसा कि चीन के सामान्य लोग, तब उन्होंने इस विद्रोह को दबाने का द ढ़ संकल्प कर लिया। अपने व्यापारिक स्वार्थों की रक्षा के उद्देश्य से पश्चिम की शक्तियों ने लड़खड़ाते हुए मंचू सम्राट को सहयोग देने की ठानी। इस उद्देश्य से पश्चिम के देशों तथा मंचू सरकार के बीच एक सन्धि हुई। फ्रेड्रिक वार्ड नामक एक अमेरिकी सेनापति ने 'सदा विजयी सेना' (Ever Victorious Army) का संगठन किया तथा इसका संचालन-भार गोर्डन नामक एक अन्य अंग्रेज सेनापति को सौंपा। इस सेना ने ताईपिंग विद्रोह को दबाने में बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। याँगत्सी में विद्रोहियो के पैर उखड़ गए। 1864 ई० तक विद्रोह पूरी तरह से दबा दिया गया। हुंग ने आत्महत्या कर ली।

ताईपिंग सुधार-1853-1864 ई० तक नानकिंग में ताईपिंग का शासन रहा। ताईपिंग प्रशासन छः समितियों द्वारा संचालित होता था। प्रशासन इकाइयाँ 12500 परिवारों, 2500 परिवारों, 500 परिवारों और 100 परिवारों के गुट थे। देहातों में 25-25 परिवारों की सहकारी सभायें थीं, हर सभा का अपना गोदाम तथा मन्दिर था। इसका अध्यक्ष सैनिक नेता, कर अधिकारी, न्यायाधीश और शिक्षक थे। ताईपिंग सरकार के निम्न सुधार थे-

भूमि सम्बन्धी सुधार-1853 ई० में दिव्य राज्य की भूमि-विधान का एलान किया गया। उसके अनुसार समस्त भूमियों को, श्रेणियों में विभक्त किया गया। भूमि का वितरण परिवारों की सदस्य-संख्या की निष्पत्ति में किया गया। सोलह वर्ष से कम उम्र वाले व्यक्ति को बड़े व्यक्ति का आधा भाग मिलता था। फसल पकने पर कटाई के समय 25-25 परिवारों की समिति बना दी जाती थी। कुल उपज में केवल उतना अन्न जो परिवार के साल भर के लिए काफी हो, छोड़कर सब अन्न सरकारी गोदामों में रख लिया जाता था। हर व्यक्ति को काम करना पड़ता था। मनुष्य खेती करता था, स्त्री को कपड़ा बुनने, मुर्गी पालने, रेशम के कीड़े पालने आदि का काम करना पड़ता था। हर परिवार के लिए पाँच मुर्गी और दो सुअर पालना अनिवार्य था। फसल की तरह रेशम, कपड़ा आदि के उत्पादन पर भी सरकारी नियन्त्रण था। यह भी सरकारी गोदामों में पहुँचाया जाता था। इस गोदाम से सब परिवारों के शादी-विवाह, मरने-जीने और तीज-त्यौहार के लिए बराबर स्तर पर धन मिलता था। इस प्रकार छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का कोई भेदभाव न था। व्यक्तिगत सम्पत्ति रखना वर्जित था। सम्पत्ति का पूरा राष्ट्रीयकरण था।

ताईपिंग सामाजिक सुधार-किसानों की हालत बड़ी खराब थी। अतः ताईपिंग सरकार ने उनकी हालत सुधारने के लिए तीन साल का लगान माफ कर दिया। दासता, सट्टेबाजी, टोने-टोटके, अफीम, शराब, तम्बाकू, नशीली वस्तुओं के सेवन को बन्द कर दिया गया। स्त्रियों का दर्जा पुरूषों के बराबर कर दिया गया। उन्हें शिक्षा पाने, सरकारी सेवा करने का समान अवसर दिया गया। बहु-विवाह प्रथा समाप्त कर दी गई। स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र पुरुषों से अलग रखा गया। ताईपिंग समिति के सदस्यों को महिलाओं के प्रति सद्भावना तथा सम्मान रखने का ईश्वरीय आदेश दिया गया।

संक्षेप में ताईपिंग विद्रोह ने चीन के सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने का बीड़ा उठाया। सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण, सामाजिक समानता, कर-नियोजन और भूमि के समान वितरण के पीछे एक क्रान्तिकारी विचारधारा थी जिसने गरीब चीनी जनता को आश्चर्यजनक रूप से आक ष्ट किया। उन्हें इस भाईचारे की व्यवस्था में एक नए जीवन की ज्योति नजर आयी। इतनी अल्प अवधि में विद्रोह की सफलता का यह मुख्य कारण था।

विद्रोह की असफलता के कारण-जैसाकि हमने देखा, अन्ततः यह विद्रोह असफल हो गए। इसकी असफलता के निम्नलिखित कारण थे-

प्रारम्भिक सफलता के बाद ताईपिंग विद्रोह धीरे-धीरे अपने नेताओं की कमजोरियों के कारण प्रभावहीन होता चला गया। विद्रोही नेताओं का चरित्र उन मंचू शासकों की भाँति ही दूषित हो गया जिन्हें उन्होंने विद्रोह के द्वारा विस्थापित करने का प्रयास किया था। अब उनका जीवन भी विलासमय और आमोद-प्रमोद का हो गया था। हुंग के हरम में दो हजार स्त्रियाँ थीं। जनता के साथ हुंग का सम्पर्क टूट गया। विद्रोही नेता अब स्वयं विलासी, आमोदप्रिय तथा भ्रष्ट हो गए। उनके सारे आदर्श जाते रहे। उन्होंने जन-विश्वास खो दिया और वे अलोकप्रिय हो गए।

विद्रोह की असफलता का दूसरा महत्वपूर्ण कारण विदेशियों का विरोध था। प्रारम्भ में विदेशियों ने विद्रोहियों का साथ दिया था क्योंकि वे मंचू सरकार का विरोध कर रहे थे। पर जैसे ही उन्हें इस बात का पता चला कि ताईपिंग विद्रोही भी विदेशियों से उतना ही घ णा करते थे जितना कि चीन की साधारण जनता, तो उन्होंने विद्रोह को दबाने का द ढ़ संकल्प कर लिया। अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए अब उन्होंने मंचू सरकार को सहयोग देने का फैसला किया। इस उद्देश्य से जनरल गोडार्ड के नेत त्व में एक सम्मिलित सेना का संगठन किया गया जिसने 1864 ई० तक सम्पूर्ण चीन से ताईपिंग विद्रोह की जड़ को उखाड़ फेंका।

विद्रोह की असफलता का तीसरा कारण यह था कि हुंग ईसाई धर्मावलम्बी था। अतः साधारण जनता उसके सिद्धान्तों को शक की द ष्टि से देखती थी। गैर-इसाई चीनियों की आस्था उस पर से हटने लगी। मंचू अधिकारियों तथा सेनानायकों ने जन-साधारण को हुंग के विरुद्ध जनता की धार्मिक भावनाओं को उकसाया। अतः वह धीरे-धीरे मंचू वंश का समर्थक हो गयी।

उल्लेखित कारणों के अतिरिक्त ताईपिंग सुधारों की असफलता, विद्रोहियों की सैनिक दुर्बलता तथा सेंग कुओ-फान एवं ली-हंग-चांग जैसे योग्य मंचू अधिकारियों की तत्परता ने विद्रोहियों की लोकप्रियता और शक्ति का नाश कर दिया।

विद्रोह के परिणाम एवं महत्व-यद्यपि ताईपिंग विद्रोह को कुचल दिया गया, परन्तु चीन के उपजाऊ क्षेत्रों में यह प्रचण्ड विनाश की कहानी छोड़ गया, जिससे चीन की आर्थिक रीढ़ टूट गई। इस विद्रोह के क्रम में लाखों लोगों की जाने गईं। चारों ओर बर्बादी और तबाही फैल गई। प्रान्तों से केन्द्रीय सरकार को कर मिलना बन्द हो गया। अतः शासन का व्यवस्थित रूप से चलना कठिन हो गया। इसने मंचू वंश की कमजोरियों का पर्दाफाश कर दिया। इस प्रकार असफल होकर भी ताईपिंग विद्रोह मंचू

राजवंश की समाप्ति का अग्रदूत बना।

मंचू सरकार की शक्तिहीनता विदेशी शक्तियों के सामने स्पष्ट हो गई। इससे चीन में विदेशियों को कालान्तर में साम्राज्य विस्तार का सुनहरा मौका मिल गया। अतः शंघाई में चुंगी वसूल का कार्य ठीक नहीं हो पा रहा था। इस प्रबन्ध के लिए विदेशी शक्ति का आश्रय लिया गया। अंग्रेजों को मिला हुआ यह अधिकार उनके पास 1920 ई० तक रहा। इससे चीन में उनका प्रभाव जम गया।

सरकार को भारी रकमें विदेशियों को देनी पड़ी और विद्रोह का दमन करने के लिए बहुत व्यय करना पड़ा। इससे उसकी आर्थिक दशा बिगड़ गई। उसे ठीक करने के लिए उसने नए टैक्स लगाए जिन्होंने देश में असन्तोष का वातावरण उत्पन्न कर दिया। **लिकिन कर** (प्रान्तीय आयात-निर्यात कर) के लगाने से आधुनिक चीन के विकास में बड़ी अड़चनें पड़ी। उससे व्यापार की उन्नति रूक गई। इसके अलावा चीन को विदेशियों से ऋण भी लेना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप मंचू सरकार विदेशियों पर आर्थिक रूप से निर्भर हो गई। विदेशियों ने इसका लाभ उठाकर उनका खूब शोषण किया और सेना अनुशासन पर भी उसका प्रभाव जम गया।

निःसन्देह विद्रोह की ज्वाला शान्त कर दी गई पर उसके बाद भी देश में सुख, सम द्धि और सन्तोष पैदा न हुआ। कई छोटे-छोटे विद्रोहों के साथ दो बड़े विद्रोह और हुए। ये दोनों चीन की जनता के उस असन्तोष का प्रदर्शन थे जो उनके हृदय में अधिकारी वर्ग के प्रति विद्यमान था। उनमें से एक विद्रोह युन्नान में हुआ और दूसरा उत्तर पश्चिम में। इनके द्वारा भी देश को बड़ी क्षति हुई। अन्य आन्तरिक परिणामों के अतिरिक्त इन विद्रोहों का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि ली का जिला रुस के पास चला गया।

अभी देश आराम की साँस नहीं ले पाया था कि दैविक आपत्तियों के पहाड़ चीन पर टूट पड़े। 1864 ई० के बाद में दक्षिण और मध्य के 5 सूबे भयंकर बाढ़ से जल मग्न हो गए। तीन सूबों की फसल को टिड्डी के प्रकोप ने बर्बाद कर दिया। 9 प्रान्तों की फसलें वर्षा न होने के कारण नष्ट हो गई जन और धन की असीम क्षति हुई। सरकार की अर्थव्यवस्था पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। एक तो उसकी आय कम हो गई दूसरे उसे पीड़ित जनता के सहायतार्थ रूपया खर्च करना पड़ा। इस विषम परिस्थिति के कारण मंचू सरकार को आन्तरिक बाह्य प्रबन्ध कायम रखना मुश्किल हो गया। फलतः मंचू साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हो गया और 40 वर्ष बाद उसका अन्त हो गया।

ताईपिंग विद्रोह की आलोचना-ताईपिंग विद्रोह के नेता वास्तव में आधुनिक राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टों के पूर्वज थे। इस विद्रोह के मूल में चीन की प्राचीन राष्ट्र-परम्परा को नष्ट कर लोकतन्त्र की स्थापना की भावनाएँ काम कर रही थी। इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर 20 शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में क्योमिंगतांग (KuoMingtang) की स्थापना कर आधुनिक चीन के जन्मदाता सनयात सेन ने जनतन्त्र का शंखनाद किया। पर उनकी कमजोरियों को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। चीन की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए विदेशी व्यापारियों पर अनुचित दबाव डाला गया। उसने नानकिंग सन्धि के महत्व को नानकिंग पर तथा उत्तर के अनेक बन्दरगाहों पर सेना का प्रशासन स्थापित कर दिया। उस पाश्चात्य व्यापार की प्रगति के लिए कोई सुविधा नहीं दी। तात्कालिक ब्रिटिश राजदूत फ्रेड्रिग ब्रुश ने 1861 में ब्रिटिश मंत्री को यह रिपोर्ट दी कि चीनियों में शस्त्र और बारूद का क्रय करने के अलावा किसी अन्य प्रकार के व्यापार में रुचि नहीं है। इस विद्रोह से उन्हें सरकार कोई लाभ प्राप्त करने की आशा नहीं थी। इनकी दिनचर्या निर्मम हत्या, गाँवों को लूटना, जलाना और नष्ट करना है। भूमि राजस्व मंचू कर से तीन गुना है, इत्यादि-इत्यादि। इस रिपोर्ट को पाकर ब्रिटेन का रूख ताईपिंग सरकार के प्रति बदल गया। अतः यूरोपियन शक्तियों ने मंचू प्रशासन का साथ दिया और सम्मिलित सेना ने ताईपिंग विद्रोह का अन्त किया।

ताईपिंग विद्रोह ने वर्षों चीन को प्रभावित किया। विद्रोह के क्रम में अनेकों सम्पन्न क्षेत्र उजड़ गए। लोगों की हालत-दीनहीन हो गई। इसने केन्द्रीय सत्ता की कमजोरियों को पूरी तरह से उगाकर कर दिया। यह स्पष्ट हो गया कि मंचू सरकार साम्राज्य में शान्ति-व्यवस्था बनाए रखने में भी असमर्थ थी।[1] इसने साम्राज्य में शक्ति के विकेन्द्रीकरण की भावना को जन्म दिया जो कालान्तर में चीन की राष्ट्रीय एकता एवं स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्ध हुई।

---

1. "The movement was in part a peasant uprising, it also incorporated a few ideas from the occident and was the first formidable, although unintelligent and crude effort to reorganise the Empire to take advantage of what was filtering in from the west." **–K.S. Latourette**
"The Taip'ing rebellion gave an impetus to the study of foreign shipbuilding and manufacture of guns." **–E.R. Hughes**
"The Taip'ing rebellion provides the key to several critical changes in China in subsequent decades." **–Li Chien Nug**

चीन में सुधारों का पहला दौर

1850 ई० में मंचू वंश के सम्राट् ताओ कुआंग की म त्यु के बाद उसका पुत्र हुसिएन फैंग गद्दी पर बैठा। फैंग एक अयोग्य शासक था, वह राज्य के कार्य में कोई ध्यान नहीं देता था। अपना बहुत-सा समय महलों में मजे उड़ाने और विलासितापूर्ण जीवन में बिताता था। अतः भ्रष्टाचार और अशान्ति ने देश में घर कर लिया। फैंग ने शासन में फैले भ्रष्टाचार के रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। विदेशी 'बरबर जन' देश में जबर्दस्ती घुस चुके थे। उन्होंने अपना प्रभाव देश के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन पर काफी जमा लिया था। सन् 1859 ई० में इंग्लैण्ड और फ्रांस ने मिलकर पेकिंग पर अपना अधिकार कर लिया। फैंग ने पेंकिंग छोड़ा और जेहोल भाग लिया। तत्पश्चात् उसने सन् 1860 ई० में एक सन्धि की जिसका नाम पेकिंग सन्धि पड़ा। इस सन्धि के परिणामस्वरूप पाश्चात्य देशों का प्रभुत्व तथा प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया। इस घटना के फलस्वरूप देश में जनता के हृदय में सरकार का भय जागता रहा तथा विद्रोहात्मक भावनाएँ तेजी से फैलने लगी। इस समय सम्राट् फैंग की म त्यु हो गई।

सम्राज्ञी त्जु-शी (Empress Tzu-Hsi)–फैंग का एकमात्र पुत्र तउंगची था। वह सम्राट् घोषित किया गया। उसकी माता त्यु-शी उसकी संरक्षिका बनी। इसी महिला ने राज्य का सारा काम संभाला। यह एक योग्य महिला थी। सन् 1873 ई० में तऊंगची बालिग हुए, लेकिन 1875 ई० में उनकी म त्यु हो गई। महिला त्जु-शी ने एक बालक चिह (Chih) को गोद लिया और उसी को उसने सम्राट् घोषित कराया। वही अब राज्यकर्ता को चलाती रही। उसका यह शासन तीस वर्ष तक चलता रहा। इस महिला के राज्यकाल में राजमहल के कर्मचारियों का प्रभाव राजनीति पर धीरे-धीरे बढ़ गया जिससे साम्राज्य को बहुत हानि पहुँची। शासन शिथिल पड़ गया था। धन के दुरुपयोग से राजकोष रिक्त हो गया। दिन-प्रतिदिन चीन पर विदेशियों का प्रभाव बढ़ रहा था और मंचू शासक उनके अनुचित कार्यों को रोकने में असमर्थ थे।

वस्तुतः सम्राज्ञी की समस्याएँ अत्यन्त गम्भीर थी। विदेशी व्यापारी एवं मिशनरी पेकिंग सन्धि की सीमाओं का उल्लंघन कर रहे थे। चीन के जिन क्षेत्रों में जाने की उन्हें मनाही थी, वहाँ वे जा रहे थे। अतः चीन के लोगों में उनके विरुद्ध रोष की भावना बढ़ने लगी थी। जनता संरक्षण की माँग कर रही थी। पर मंचू सरकार उनकी इच्छा पूरी करने में असमर्थ थी। चीनी व्यापारियों पर विदेशी व्यापारियों का जुल्म बढ़ता जा रहा था। वे क्षेत्रातीत अधिकारों का दुरुपयोग कर चीन में तस्करी, अवैध-व्यापार आदि को फैला रहे थे और समुद्री डाकुओं को संरक्षण देकर चीनी व्यापारियों को तंग कर रहे थे। स्वाभाविक था कि ये बातें चीनियों के लिए असह्य होती गयी।

चीन के लोग केवल विदेशी व्यापारियों के आतंक से ही नहीं छटपटा रहे थे। विदेशी ईसाई मिशनरियाँ भी उनके आतंक और शोषण का कारण बन गई थी। टिंटसीन की सन्धि के बाद उन्हें चीन के क्षेत्रों में आने-जाने की पूरी छूट मिल गई थी। फ्रांसीसी मिशनरियों को तो भूमि खरीद कर मकान बनाने और बसने का भी अधिकार मिल गया था। ये मिशनरियाँ अपने धर्म का प्रचार तो करती ही थीं, साथ ही चीनियों के धार्मिक विश्वासों, विधि-विधानों तथा पूजा-पाठ की परम्परा पर प्रहार भी करती थीं। अतः चीन के ..... उनसे काफी चिढ़ गए थे। पर डर से चीनी अधिकारी मिशनरियों का ही समर्थन करते थे। ऐसी स्थिति में जनता का सरकार विरोधी होना स्वाभाविक था। देश में देसाई पादरियों के विरुद्ध अफवाहें फैलने लगी। जैसे, ईसाइयों के अस्पतालों और अनाथालयों के विरुद्ध यह अफवाह फैली हुई थी कि गरीब माताओं के बच्चे खरीद लिए जाते हैं और उनकी आँखें निकालकर उनसे एक ऐसी दवा बनाई जाती है जिसका सेवन करने वाला देसाई बन जाता है। अतः स्थान-स्थान पर मिशनरियों के विरुद्ध प्रदर्शन हुए। इस क्रम में मिशनरियों, उनके अस्पतालों तथा अनाथालयों पर आक्रमण भी किए गये। बहुतों की जानें भी गयीं। अन्ततः सरकार ने उपद्रवों को शान्त किया, विद्रोहियों को दण्डित किया और क्षति पूर्ति के रूप में दो लाख पचास हजार तायल दिए।

मार्गेरी काण्ड (Margary Incident): अंग्रेज व्यापारी बर्मा के मार्ग से चीन में व्यापार की सुविधा चाहते थे। पर चीन उन्हें इस प्रकार ही सुविधा देने के पक्ष में नहीं था। अंग्रेज अपनी मांग को छोड़ने के पक्ष में नहीं थे। 1874 में पेकिंग स्थिति ब्रिटिश राजदूत ने एक दल बर्मा-चीनी मार्ग की स्थिति का अध्ययन करने के लिए भेजा। यून्नान में सीमावर्ती चीनियों की सेना इस दल पर आक्रमण करने के लिए तैयार थी। जब यह सूचना मिली तो मार्गेरी उसकी उपेक्षा करके पांच चीनी साथियों को लेकर मार्ग का अध्ययन करने चल दिया। उत्तेजित भीड़ ने उस पर आक्रमण किया और समस्त सदस्यों को मार डाला। ब्रिटिश राजदूत ने इस काण्ड का दोष चीनी सरकार पर थोपा। चीनी सरकार का इस कबीले पर कोई नियन्त्रण नहीं था। किन्तु फिर भी

ब्रिटिश सरकार ने चीनी सरकार को विवश किया कि वह इसकी जांच (क) एक कमीशन द्वारा कराये। इस कमीशन में ब्रिटेन का पूरा प्रतिनिधित्व हो। (ख) इस काण्ड की क्षति-पूर्ति की भी मांग की गई। साथ-ही-साथ चीनी सरकार को यह आश्वासन देने को कहा गया कि भविष्य में इस प्रकार की कोई ऐसी घटना नहीं होगी। (ग) भारत में चीन तक मार्ग का अध्ययन करने के लिए दूसरे दल को आने की आज्ञा दी जाये (घ) सम्राट् से मिलने की ब्रिटिश राजदूत को छूट मिले।

चेफू समझौताः मंचू सरकार ने ब्रिटिश धमकी के प्रभाव से इन शर्तों को मान लिया और 13 सितम्बर, 1876 ई० को चेफू समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार सभी अन्य बन्दरगाह ब्रिटिश व्यापार के लिए खोल दिये गये। ब्रिटिश राजदूत की अन्य सभी मांगें भी स्वीकृत हुई; अर्थात् 1842 ई०, 1858 ई० तथा 1860 ई० की संधियों की कमियां पूरी की गई। इसके अन्तर्गत वे सभी सुविधायें मिल गई। जिनकी ब्रिटिश राजदूत दो वर्षों से मांग कर रहे थे।

उपरोक्त वातावरण में चीन में सुधारों का पहला दौर शुरू हुआ। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पाश्चात्य विचारों, व्यवस्थाओं तथा संगठनों का भी इनको व्यापक सहयोग मिला।

वस्तुतः चीन में पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति को लोकप्रिय बनाने में ईसाई मिशनरियों का महत्वपूर्ण योगदान था। मिशनरी पादरियों ने शिक्षा के माध्यम से चीनियों को पाश्चात्य विचारधारा से अवगत कराया। विदेशी पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद कराया। इससे जनता तथा अधिकारियों के बीच सम्बन्ध बढ़े। उन्होंने कई शिक्षालय खोले। 30 छात्रों का एक जत्था अमेरिका शिक्षा अध्ययन करने गया। 120 चीनी विद्यार्थी यूरोप ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करने गये। 1865 ई० में कुछ विदेशी शिक्षकों की सहायता से पेकिंग में दुभाषियों के एक शिक्षालय की स्थापना हुई । कुछ समय पश्चात् ही इसमें भाषा के साथ ज्ञान-विज्ञान पढ़ाना शुरू हो गया। विदेशी शिक्षकों की संख्या बढ़ा दी गई।

राजनीतिक प्रतिनिधि मण्डलः राज्य परिवार का एक प्रगतिशील गुट तथा नई पीढ़ी का शिक्षित समुदाय पश्चिम की सैन्य प्रणाली से प्रभावित था। इस गुट में राजकुमार कुग विशेष व्यक्ति था। 1866 ई० में एक अर्ध-सरकारी प्रतिनिधि मंडल ने यूरोप की यात्रा की। इस पर रानी विक्टोरिया के शासन का बड़ा प्रभाव पड़ा। 1867 ई० में चीन ने बरलिंघम को संगठित प्रदेशों में अपना राजदूत बनाया। वाशिंगटन में चीनी राजदूत बरलिंघम तथा उसके चीनी साथियों की भेंट राष्ट्रपति जॉनसन तथा कांग्रेस के सदस्यों से हुई। इसमें अनेक देशों में चीन के विदेशों से कूटनीतिक संबंध बने। इस प्रतिनिधि मण्डल ने यूरोप की प्रजातंत्रात्मक प्रणाली, निर्वाचन की व्यवस्था तथा न्याय प्रशासन की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसके फलस्वरूप चीन में पश्चिमी राजनीतिक प्रणाली एवं विचारधारा का अनुकरण करने की इच्छा उत्पन्न हुई।

शिक्षा के क्षेत्र में सुधारः जैसाकि उल्लेख किया गया है, चीन में आधुनिक शिक्षा के प्रचार का श्रेय ईसाई मिशनरियों को है। विदेशा में भेजे गए। विदेशें से विशेषज्ञ चीन बुलाए गये। चीनी लोगों को विदेशी राजनीति तथा भाषाओं की शिक्षा देने के लिए 1865 ई० मे पेकिंग में युंन वेन कुआन नामक विद्यालय खोला गया। इसी समय चीन में पत्रकारिता का भी विकास हुआ। प्रारम्भ में चीनी पत्रिकाएं विदेशों में मिशनरियों द्वारा निकाली गयीं। 1845 में हांगकांग से 'चायना मेल' और 1850 में शंघाई से 'नॉर्थ वाइना हेराल्ड' निकलने लगे। धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ती चली गयी।

सेना में सुधारः विदेशों के साथ होने वाले युद्धों ने चीनी सैन्य व्यवस्था की कमजोरियों का पर्दाफाश कर दिया था। अतः इसमें आमूल परिवर्तन की आवश्यकता थी। शासक वर्ग के लोगों ने पश्चिमी हथियार तथा युद्ध प्रणाली को अपनाने का निश्चय किया। 1865 में ली हुंग-चांग तथा शेंग-कुओ-फान (Tseng-Kuo-Fan) के प्रयासों से चीनी सेना को पश्चिमी ढर्रे पर सुसंगठित करने की अनुमति दी गई। 1865 से 1888 ई० के बीच सैन्य संगठन के क्षेत्र में उल्लेखनीय परिवर्तन लाए गए। इसमें विशेष महत्व के थे - टीनसीन में एक मशीन बनाने वाला फैक्ट्री की स्थापना; फूचाऊ मे एक शिपयार्ड का निर्माण, चीनी नेविगेशन कम्पनी की स्थापना; टीनसीन में नेवी तथा सैनिक अकादमी की व्यवस्था आदि। 1876 ई० में फूचाऊ नेवी अकादमी के कुछ छात्रों को यूरोप भेजा गया जहां वे नौ-सेना के उत्कृष्ट तकनीकी एवं युद्ध-प्रणाली की जानकारी हासिल करते। उसी वर्ष कुछ सैनिक अधिकारियों को जर्मनी भी भेजा गया। वहां वे आधुनिक अस्त्र-शास्त्रों एवं सैन्य-संगठन से सम्बन्धित अन्य तत्वों का ज्ञान प्राप्त करते। 1881 में एक नौ-सैनिक विद्यालय खोला गया तथा एक अंग्रेज अधिकारी डब्ल्यू० एम. लैंग की सहायता से पेइयांग जहाजी बेडे की शुरूआत की गयी। 1888 तक इस बेड़े सरकार ने इस दिशा में कोई दिलचस्पी नहीं दिखलाई। फलतः चीनी सेना के संगठन में कोई आमूल परिवर्तन नहीं हो पाया। 1894 तक केवल 60 प्रतिशत चीनी सिपाहियों के पास ही बन्दूक थीं, शेष भाले, बर्छे अथवा तलवार जैसे पुराने अस्त्रों से ही काम चलाते थे। पर जब 1895 ई० में जापान के हाथों चीन की पराजय

हो गयी तो इसके बाद चीन की सरकार ने बड़े स्तर पर और तेजी से अपनी सैन्य व्यवस्था को संगठित करने का प्रयास किया।

औद्योगीकरण: चीन के आर्थिक एवं औद्योगिक जीवन को पाश्चात्य सम्पर्क ने व्यापक रूप से प्रभावित किया। चीन में अनेक प्रगतिशील धनिकों तथा सरकार के सहयोग से आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में प्रगति की प्रक्रिया शुरू हुई। फूचाऊ में एक जहाजी कारखना तथा 'चाइना मर्चेन्टस स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' खोले गए। काईपिन कोयला खान की खुदाई शुरू की गयी। शंघाई से वूसूंग तक रेलवे लाइन चालू की गयी। चीहली प्रांत में योंग-शान रेलवे लाइन बनाई गयी। टींटसीन से शंघाई तक तार लाइन खोलकर संचार-वाहन की प्रगति के लिए मार्ग खोल दिया गा। कल-कारखाने खोलने के लिए अनेक योजनाएं बनायी गयी। ली-हुंग-चांग के प्रयास से 1878 में सबसे पहले कपड़े का एक कारखाना खोला गया। कुछ वर्षों के बाद शंघाई में भी एक कपड़े का कारखाना खुला। 1890 में हाँग-याँग में लोहे का कारखाना खुला। आटा, तेल, नमक आदि के उत्पादन का भी प्रबन्ध किया गया। ये सारे धन्धे और अनुष्ठान सरकारी निरीक्षण और व्यापार-संचालन के सिद्धान्त पर चलते थे जो चीन के आर्थिक प्रशासन के परम्परागत तरीके के अनुकूल थे। इस प्रणाली में व्यापारी पूँजी का कुछ अंश देते थे, किन्तु प्रबन्धक राजकीय पदाधिकारी होते थे। व्यापार के क्षेत्र में भी प्रगति की दिशा में कदम उठाए गये। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अन्त तक यद्यपि आर्थिक खेत्र में मंद गति से प्रगति हुई, परन्तु भविष्य में पश्चिमी सम्पर्क के कारण होने वाले आर्थिक प्रगति के मार्ग का निर्माण हो गया पर इन सुधारों के महत्व को अतिरंजित नहीं किया जा सकता है। ये केवल संकेतमात्र थे और इनकी प्रेरणा एक छोटे से अधिकारी वर्ग और कुलीन शिखित वर्ग से आयी थी। चीन का समाज अब भी रूढ़िवादी और विदेशी प्रभावसे अछूता रहा। आर्थिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन नामपात्र के हुए। सेना अब भी परम्परागत कमजोरियों का प्रतीक बनी रही। सारांश यह है कि राष्ट्रीय जीवन में मौलिक परिवर्तन नगण्य हुए।

यही कारण है कि भविष्य में भी अरसे तक चीन एक पिछड़ा देश रहा और विदेशी शोषण का शिकार बनता गया।

उल्लिखित सुधारों के बावजूद आन्तरिक द ष्टि से चीन एक अत्यन्त दुर्बल देश बना रहा। चीन की अपेक्षा इसी काल में जापान ने व्यापक प्रगति कर ली और वह भी अन्य युरोपीय देशों की तरह चीन को अपनी साम्राज्यवादी नीति का शिकार बनाने के लिए प्रयत्नशील हो उठा। 1875 ई० में उसने चीन के कुरील द्वीप पर अधिकार कर लिया। कालान्तर में उसने रियूक् तथा फारमोसा पर अपना कब्जा कर लिया। कोरिया के प्रश्न को लेकर 1894-1895 ई० में प्रथम चीन-जापान युद्ध हुआ जिसमें चीन की पराजय हुई। जापानी साम्राज्यवाद की प्रगति में यह युद्ध एक नया मोड़ सिद्ध हुआ।

चीन में वित्तीय पूँजीवाद का युग (1895-1914)

साम्राज्य की प ष्ठभूमि-प्रथम चीन-जापान युद्ध के परिणाम चीन के लिए अत्यन्त ही भयंकर सिद्ध हुए। चीन की काल्पनिक सर्वोच्चता तथा स्वर्गिक साम्राज्य की गरिमा को इस पराजय ने अपने प्रचंड आघात से हिला दिया। अब तक चीनी फौजों ने पाश्चात्य देशों की संगठित फौजों से मुँह की खाई थी किन्तु इस युद्ध में चीन को एक क्षुद्र एशियाई देश के सामने झुकना पड़ा जबकि वह देश चीन के सामने एकदम बौना था। अब चीन का खोखलापन, सर्वविदित हो गया और चीन को 'पूरब के बीमार आदमी' के नाम से पुकारा जाने लगा। शिमोनोसेकी की संधि के अनुसार चीन की प्रादेशिक अखण्डता भी नष्ट हो गयी। फारमोसा, पेस्काडोर्स आदि जापान द्वारा हस्तगत कर लिए जाने से चीन की क्षेत्रीय अक्षुण्णता पर भी धक्का पहुँचा। अब तक पाश्चात्य देशों की आपसी स्पर्धा चीन के विभाजन में बाधक थी, किन्तु जापान की सफलता ने पाश्चात्य देशों को भी इस दिशा मे तत्पर कर दिया। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही यूरोपीय देश भी चीन के विभिन्न क्षेत्रों पर अपना दावा पेश करने लगे। विभिन्न पाश्चात्य देश, चीन के विभिन्न भागों में अपना 'प्रभाव क्षेत्र' (Sphere of Influence) कायम करने लगे और इस तरह 'चीनी खरबूजे के काटने' (Cutting of the Chinese melon) की प्रक्रिया का आरम्भ हुआ। जापान को क्षतिपूत्ति देने के लिए चीन को रूपयों की जरूरत हुई। अतः चीन ने पाश्चात्य देशों से कर्ज लेना शुरू किया। इससे चीन पर पाश्चात्य देशों का शिकंजा कसता गया। अब पाश्चात्य देश चीन में नई-नई सुविधाओं की माँग करने लगे और इसके लिए भी उनमें आपसी होड़ आरम्भ हो गई जिसे 'सुविधाओं का युद्ध' (Bitter of concessions) कहते हैं। इस प्रकार पाश्चात्य देशों का साम्राज्यवादी जाल चीन पर फैलने लगा। इसका परिणाम चीन की राजनीतिक एकता तथा शान्ति के लिए अत्यन्त ही घातक सिद्ध हुआ। चीन के हिस्से एक-एक कर केन्द्रीय अधिकार से विदेशियों के आधिपत्य में जाने लगे। इस तरह चीन की दुर्गति शुरू हुई। इसके प्रतिक्रिया के रूप में चीन में सुधारवादियों का आन्दोलन शुरू हुआ किन्तु केन्द्रीय सरकार ने इसका दमन किया। इन्हीं सब

परिस्थितियों पर पाश्चात्य-विरोधी 'बॉक्सर विद्रोह' हुआ जिसके फलस्वरूप चीन पाश्चात्य शिकंजों में ओर भी जकड़ दिया गया। इस प्रकार बीसवीं सदी के प्रारम्भ में चीन विनाश के गर्त में गिर चुका था। चीन में क्रांति की परिस्थितियाँ तैयार हो चुकी थीं और अन्त में उन्हीं परिस्थितियों के फलस्वरूप 1911 ई० में राष्ट्रीय क्रांति हुई जिसने चीन के पुराने राजवंश का अन्त कर दिया तथा गणराज्य कायम किया।

चीनी खरबूजे का काटना - चीन-जापान युद्ध के पश्चात् ही चीन के विभाजन के हेतु पाश्चात्य देशों ने कदम उठाये। शिमोनोसेकी की संधि के पश्चात् -त्रिदलीय-हस्तेक्षप' के कारण लिआओतुंग प्रायद्वीप चीन के हाथ से निकलने से बच गया था। क्षतिपूर्त्ति के लिए कर्ज भी इन्हीं देशों ने दिया। इस प्रकार चीन उन तीनों के प्रति कृतज्ञ हो गया किन्तु इसका मूल्य शीघ्र ही चीन को चुकाना पड़ा।

फ्रांस - सर्वप्रथम फ्रांस ने 1895 ई० में चीन द्वारा वादा करवाया कि हैनान का द्वीप किसी अन्य राज्य को नहीं दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त युनान, क्वांगसी और क्वांगतुंग की खानों को खोदने का एकाधिकार और अनाम रेलवे का दक्षिणी चीन में विस्तार का भी अधिकार फ्रांस को मिला। दक्षिण चीन में फ्रेंच माल पर चुँगी भी कम कर दी गई। इस प्रकार फ्रांस ने प्रथम चीन-जापान युद्ध की समाप्ति के बाद ही सुविधाओं के युद्ध का श्रीगणेश कर दिया। 1897-98 ई० में फ्रांस ने और भी नए अधिकार तथा सुविधाएँ प्राप्त कीं। फ्रांस को क्वांगचाउ खाड़ी पट्टे पर मिली तथा यूनान में फ्रांस को रेलवे लाइन तैयार करने का अधिकार मिला। साथ-साथ चीन ने टौंगकिंग के निकटवर्ती प्रान्तों को किसी भी देश को हस्तांतरित नहीं करने का वादा किया। इस प्रकार फ्रांस ने दक्षिण चीन के इलाकों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने का प्रयास किया तथा इसके लिए पट्टे (Lease) रेलवे निर्माण और हस्तान्तरण प्रतिषेध (non-alienation) का सहारा लिया गया।

रूस - चीन की जापान द्वारा पराजय के बाद अनेक यूरोपीय राष्ट्र चीन का विभाजन कर हड़पने के लिये तैयार हो गये। रूस ने 1896 ई० को रूस-चीन ली-लोवीनोव सन्धि द्वारा अपना प्रभाव चीन में जमा लिया था। उसने रूस-चीन बैंक खोलकर चीन की वित्तीय नीति व रेलवे क्षेत्र में प्रशासनीय अधिकार प्राप्त कर लिये थे। इसके फलस्वरूप रूस का आर्थिक नियन्त्रण उत्तरी मंचूरिया तक हो गया था। चीन की व्यापार सम्बन्धी योजनाओं में रूसी धनिकों ने धन लगाया। रूस को दी हुई सुविधाओं से साम्राज्य का विघटन होता दिखने लगा।

जर्मनी - जर्मनी ने भी अपनी शक्ति द्वारा चीन से एक सन्धि 1898 में कराई। इस सन्धि से (क) जर्मनी को ऊचाऊ की खाड़ी तथा उसके आस-पास के क्षेत्र 99 वर्ष के पट्टे पर मिले, (ख) इस खाड़ी के चारों ओर 50 मील के क्षेत्र में जर्मन सेनाओं की गतिविधियों पर चीन का कोई नियंत्रण नहीं होगा तथा इस क्षेत्र में जर्मन सरकार की सहायता के बिना किसी भी देश करे कार्यवाही करने का अधिकार न होना, (ग) शान्तुंग प्रान्त में जर्मनी एक रेल बनायेगा तथा उसका नियंत्रण जर्मनी-चीनी कम्पनी करेगी, कियाओं प्रदेश को चीन किसी अन्य शक्ति को पट्टे पर नहीं देगा, (घ) जर्मन व्यवसायी रेल क्षेत्र के दस मील तक खानों से कोयला निकाल सकेंगे (ङ) शान्तुंग प्रदेश में विकास के लिये जर्मन सहायता को प्राथमिकता दी जायेगी। अब कियाओचाऊ खाड़ी पर जर्मनी पर पूरा आधिपत्य हो गया।

ब्रिटेन - अब ब्रिटेन की बारी आई। वह इस लूट में पीछे क्यों रहता। अतः उसने भी चीन को फरवरी में आँग्ल-चीनी समझौता करने के लिए बाध्य किया। इस समझौते से ब्रिटेन को (याँगसी नदी के आस-पास के प्रदेश किसी भी अन्य देश को न देने का आश्वासन दिया, (ख) चीनी सीमा-शुल्क सेवा का महानिरीक्षक एक अंग्रेज रहेगा, (ग) वीहाईवी का बन्दरगाह नौ सैनिक अड्डे के रूप में ब्रिटेन के पास रहेगा, तथा (घ) हाँगकाँग के सामने के मुख्य द्वीप के पट्टे में मियाद बढ़ाई गई। अब अंग्रेजों को 2800 मील लम्बे रेल मार्ग बनाने की सुविधा प्राप्त हो गई।

इटली ने भी 1900 ई० के पश्चात् चीन से कुछ सहूलियतें प्राप्त कीं।

जापान की माँग थी कि फारमोसा के सामने वाले फूंकिन प्रान्त किसी को न दिया जाय। चीन ने उसकी इस माँग को भी स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार चीन ने जाहिर कर दिया कि प्रबल शक्ति के आगे झुककर ही इसने सुविधाएँ प्रदान की हैं। फिर भी चीन अब विभिन्न प्रभाव क्षेत्रों में बँट गया तथा इन प्रभाव क्षेत्रों पर चीनी सरकार का प्रभाव ढीला पड़ने लगा। यह चीन के विभाजन की दिशा में प्रारम्भिक कदम था।

चीन-विभाजन में विदेशियों का आपसी सहयोग - पाश्चात्य शक्तियों की आपसी स्पर्धा ही चीन के विभाजन में प्रधान बाधक थी, परन्तु प्रथम चीन-जापान युद्ध के पश्चात् चीन में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी कि इन देशों ने चीन के विभिन्न भागों पर अपनी द ष्टि गड़ा दी। पाश्चात्य देशों ने अपने-अपने क्षेत्र चुन लिए तथा चीन के साथ उपयुक्त समझौते भी कर लिये, किन्तु उनकी आपसी प्रतिद्वन्द्विता उन्हीं लोगों के लिए खतरनाक हो सकती थी। अतः इस दिशा में भी पाश्चात्य शक्तियों ने शांतिपूर्ण तरीकों का सहारा लिया। परिणाम यह हुआ कि प्रभाव-क्षेत्रों के विभाजन पर विभिन्न देशों ने आपसी समझौते की मुहर लगा दी। 1896 ई० में सियान समझौते (Sian convention) के अनुसार फ्रांस तथा इंग्लैण्ड ने युन्नान (Yunnan) और जेचुआन (Szechuan) में प्राप्त किए तो इंग्लैण्ड ने इसे मान लिया और अपना प्रभाव यांगत्सी क्षेत्र में बढ़ाने का प्रयास किया, किन्तु जेचुआन में समझौता कायम रहा। इस प्रकार दक्षिणी चीन में फ्रांस और इंग्लैण्ड में झगड़े की गुंजाइश नहीं रही। 1898 ई० में ब्रिटेन और जर्मनी में भी प्रभाव क्षेत्रों के प्रश्न पर समझौता हुआ और जर्मन तथा अंग्रेज पूँजीपतियों ने रेलवे निर्माण में सहयोग करने का निश्चय किया। इंग्लैण्ड का प्रभाव क्षेत्र यॉंग्त्सी का समीपवर्ती इलाका तथा शॉंसी प्रदेश माल लिया गया किन्तु शांतुंग रेलवे को इस क्षेत्र में प्रसार का अधिकार रहा। इसी तरह इंग्लैण्ड ने भी ह्वांगहो नदी के इलाके और खास कर शांतुंग को जर्मन को जर्मन प्रभाव-क्षेत्र मान लिया और रेलवे लाइनों से सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार रखा। दोनों ने एक दूसरे के क्षेत्र में दखल नहीं देने का वादा किया। इसी प्रकार 1899 ई० में इंग्लैण्ड ने रूस से भी समझौता किया और दोनों देशों ने एक-दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करने का वादा किया। अतः चीन के प्रस्तावित विभाजन पर वैदेशिक शक्तियों ने आपसी समझौते भी कर लिए। इस प्रकार चीन में एक नए ढंग का साम्राज्यवाद कायम हुआ तथा विदेशी प्रभाव क्षेत्र केवल नाम के ही चीनी सरकार के आधिपत्य में बने रहे। 19 वीं सदी के अन्त तक प्रकट होने लगा कि पूरब का बीमार आदमी अब कुछ ही दिनों का मेहमान है।

संयुक्त राज्य अमेरिका और 'खुले दरवाजे की नीति' - चीन की दुर्गति के काल में जब चीनी राजसत्ता छिन्न-भिन्न हो रही थी तो एक अप्रत्याशित स्रोत से चीन के विभाजन में रूकावट आई। संयुक्त राज्य अमेरिका चीन के व्यापार में ब्रिटेन के बाद दूसरा स्थान रखता था। इसकी नीति के मामले में सदा भिन्न रही थी तथा इसके राजनीतिज्ञ चीन को पाश्चात्य साम्राज्य-लिप्सा का शिकार होने से बचाना चाहते थे। अमेरिका चीन की क्षेत्रीय प्रभुसत्ता को नष्ट होने नहीं देना चाहता था किन्तु 19 वीं सदी के मध्य में वह आंतरिक मामलों में फँसा हुआ था। स्वयं 1898 ई० में उसने अन्ततः स्पेन को हराकर फिलीपीन पर कब्जा कर लिया। अब तक संयुक्त राज्य एक व्यवसाय प्रधान देश बन गया था तथा उसे व्यापार और बाजार की तलाश थी। चीन में प्रभाव-क्षेत्र स्थापित होने से संयुक्त राज्य के व्यापार को हानि-ही-हानि थी। फिर संयुक्त राज्य इस होड़ में फँसना भी नहीं चाहता था परन्तु अन्य सभी व्यापारी देश इसमें भागीदार हो चुके थे। ऐसी दशा में संयुक्त राज्य ने अपने व्यापार और परम्परागत नीति के स्वार्थों को देखते हुए चीन में एक नई नीति का अनुसरण किया जिसे 'खुले दरवाजे की नीति' (open door policy) कहते हैं। इस नीति के आधार पर संयुक्त राज्य के राज्य सचिव जॉन हे (John Hay) ने सितम्बर, 1899 ई० में ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी, रूस तथा जापान के पास एक पत्र भेजा। इसमें मुख्यतः तीन बातों पर जोर दिया गया। प्रथमतः इन राज्यों के सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि प्रभाव-क्षेत्रों में अन्य राज्यों के पुराने व्यापारिक एवं अन्य अधिकार पर कोई भी आघात नहीं करे। दूसरा, आयात-निर्यात पर कर की पुरानी दरों में परिवर्तन न किया जाय और प्रभाव-क्षेत्र के बन्दरगाहों में भी जहाजों के आवागमन में रूकावट नहीं डाली जाय और तीसरा प्रभाव-क्षेत्रों के बन्दरगाहों में अन्य देशों के जहाजों से अधिकार-व्यय नहीं लिया जाय। यही शर्त रेलवे के साथ भी लागू रखने को कहा गया। स्पष्ट है कि यह नीति चीन के प्रभुसत्ता की अक्षुणता के लिए निर्धारित नहीं की गयी थी। वस्तुतः इसका उद्देश्य चीन में अमेरिका के व्यापार की स्वतंत्रता को कायम रखना था। फिर भी, यह नीति प्रभाव क्षेत्रों की व्यवस्था के विरूद्ध थी। ब्रिटेन भी नहीं चाहता था कि प्रभाव-क्षेत्रों की व्यवस्था का उसके उन्मुक्त व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। अतः उसने भी *'खुले दरवाजे की नीति'* का समर्थन किया। वस्तुतः रूस को छोड़कर यूरोप के अन्य देशों ने इन प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार नये प्रभाव-क्षेत्रों की स्थापना की प्रक्रिया रूक गयी और चीन अपनी दुर्गति के बावजूद यूरोपीय देशों की राजनीतिक महात्वाकांक्षा एवं राजनीतिक बँटवारे से बच गया।

अब चीन को यह ज्ञात हो गया कि विदेशों से मुक्ति तब प्राप्त हो सकती है जब चीन, सेना का पुनर्गठन कर आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करे तथा देश में विज्ञान, तकनीकी आदि का विकास हो। इसी उद्देश्य से चीन में 'शत् दिवसीय सुधार' की योजना शुरू हुई। इस आन्दोलन के मुख्य प्रणेता थे-डॉ० सनयात सेन, कांग युवे, चॉंग चिह तुंग, लिउ कुन यी, वेंग तुंग हो आदि। सम्राट भी सुधारों का पक्षपाती बन गया। सुधार की अनेक योजनाओं को लागू करने का उसने आदेश दिया।

अनावश्यक राजकीय पदों की समाप्ति की घोषणा की गयी, शिक्षा और परीक्षा में अनेक सुधार लाए गये और पाश्चात्य शिक्षा को मुख्य स्थान दिया गया और रेलवे निर्माण का सेना के पुनर्गठन पर जोर दिया गया। सुधार का यह कार्यक्रम केवल सौ दिनों तक चला। चीन का कुलीन वर्ग इसके विरूद्ध था क्योंकि उसके विशेषाधिकारों पर प्रहार हो रहे थे। साम्राज्ञी त्जू-शी भी इनका विरोध कर रही थी। अन्ततः यह आन्दोलन समाप्त हो गया और देश की शासन-सत्ता पुनः साम्राज्ञी के हाथ में आ गयी। सितम्बर, 1898 में सम्राट को कैद कर लिया गया। सुधारवादी या तो मार डाले गये अथवा उन्हें देश छोड़कर भागना पड़ा। सारे सुधारों की योजना रद्द कर दी गयी।

सत्ता अब पुनः प्रतिक्रियावादियों के हाथों में आ गयी। शीघ्र ही उन्होंने पाश्चात्य शक्तियों के विरूद्ध कदम उठाए। इसका प्रतिफल था, 1899-1900 ई० का 'बॉक्सर विद्रोह'।

बॉक्सर विद्रोह (1899-1900)

1897 ई० में चीन में विदेशियों के विरूद्ध एक भयंकर क्रांति हुई जिसे हम बॉक्सर आन्दोलन के नाम से जानते है। इस आन्दोलन के महत्वपूर्ण कारण निम्नलिखित थे।

1. **विदेशियों के विरूद्ध घ णा की भावना**: चीन के लोग विदेशियों से घ णा करते थे। अब तक की हुई सन्धियों तथा युद्धों में पराजय ने इस भावना को और भी तीव्र कर दिया था। चीनी यह समझ रहे थे कि विदेशियों के कारण ही उनका सम्मान धूल में मिल गया था और उनका राष्ट्र धर्म और संस्कृति सभी कुद खतरे में पड़ गया था। विदेशी भी चीनियों के साथ असभ्य व्यवहार करते थे। इन कारणों से राष्ट्रवादी चीनी विदेशियों के शत्रु बन बैठे और उन्हें चीन से निकालने के लिए व्याकुल हो उठे। उनका नारा था, *'देश की रक्षा और विदेशियों का उन्मूलन'*।

2. **राजनीतिक कारण**: बॉक्सर आन्दोलन सुधारवादियों के कार्यक्रम की असफलता की प्रतिक्रिया था। पाश्चात्य सम्पर्क ने चीन को अपमान तथा अराजकता के सिवा कुछ भी नहीं दिया था। साम्राज्ञी त्जु-शी विदेशियों का कट्टर दुश्मन बन गयी थी। सभी यही सोच रहे थे कि चीन की दुर्दशा का एकमात्र कारण विदेशी ही थे। चीन पर तब पश्चिम के देशों ने प्रभाव क्षेत्रों की स्थापना के द्वारा अपनी साम्राज्यवादी लिप्सा को थोपना चाहा तो वे और भी घ णा के पात्र बन गये। उनके प्रति चीनियों में भयानक विद्वेष फैलने लगा। साम्राज्ञी तथा उसके समर्थकों ने इसे प्रोत्साहन दिया। 'सौ दिवसीय सुधार' की असफलता ने विद्रोह का मार्ग प्रशस्त कर दिया। सत्ता साम्राज्ञी के हाथों में आ गयी और वह विदेशियों को चीन से खदेड़ने के पक्ष में थी।

   इसी समय चीन में अनके समितियाँ तथा संगठन स्थापित किए गये जिनका उद्देश्य विदेशियों को निकाल-बाहर करना था। इनमें *'बॉक्सर समिति'* सबसे महत्वपूर्ण थी। इसके सदस्य बड़े देशभक्त थे और बलपूर्वक विदेशियों को चीन से बाहर निकालने की इच्छा रखते थे।

3. **सामाजिक एवं आर्थिक कारण**: पाश्चात्य सम्पर्क के कारण चीन के समाज में भी अव्यवस्था फैल गयी थी। इसमें ईसाई मिशनरियों ने प्रमुख भूमिका निभाई थी। वे चीन की धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्थाओं की कटु आलोचना करते थे। धर्मपरिवर्तित चीनी ईसाई भी अपनी परम्परागत व्यवस्थाओं की खिल्ली उड़ाने लगे थे। चीनियों में यह प्रचार भी था वे ईसाई मिशनरी उनके बच्चों का अंगभंग कर देते थे। अतः वे मिशनरियों के कट्टर दुश्मन बन गये। विदेशी शोषण तथा सामाजिक अत्याचार बढ़ गये। चारों और असंतोष और अराजकता छायी हुई थी। शासक वर्ग के लोगों ने जनता के असंतोष को विदेशियों की तरफ मोड़ दिया।

4. **आन्दोलन का प्रारम्भ एवं दमन**: उल्लिखित कारणों से सम्पूर्ण चीन में विदेशियों के विरूद्ध घ णा भावना अत्यन्त उग्र हो गयी। शीघ्र ही विदेशियों पर यत्र-तत्र आक्रमण होने लगे। 1899 ई० के अन्तिम चरण में विद्रोह ने भयंकर रूप धारण कर लिया। विद्रोह शासनतंत्र के पक्ष में था और विदेशियों को मार भगाने के उद्देश्य से हुआ था। अतः इसे विद्रोह कहना उचित नहीं जँचता है। आन्दोलनकारियों ने अनेक ईसाई पादरियों, ठेकेदारों, इंजीनियरों तथा अधिकारियों की हत्या कर दी। विद्रोह मुख्यतः उत्तरी चीन में फैला। चिहला, शांसी, मंचूरिया, मंगोलिया आदि के क्षेत्र भी इससे प्रभावित हुए। पेकिंग में भी विद्रोहियों पर आक्रमण करना शुरू किया तथा विदेशी दूतावासों को घेर लिया।

   विद्रोह की उग्रता को देखकर विदेशी भयभीत हो उठे। अन्त में विदेशियों ने सम्मिलित सेना संगठित करके विद्रोहियों का शक्तिशाली ढंग से सामना किया। अब साम्राज्ञी, त्ज -शी ने खुलकर विद्रोहियों का साथ देना शुरू किया। उसने

विदेशियों को पेकिंग छोड़ देने का आदेश दिया। विदेशी फौज ने द ढ़तापूर्वक विद्रोहियों तथा मंचू सेना का सामना किया। उन्होंने चीन में आतंक मचा दिया। बहुत से गाँव जला दिए गये। विद्रोहियों को हजारों की संख्या में मौत के घाट उतार दिया गया। चीन के लोगों की सुरक्षा करना मंचू सरकार के बस में नहीं रह गया। इस प्रकार यूरोपीय देशों ने संगठित होकर बॉक्सर विद्रोह को कुचल दिया।

5. **बॉक्सर समझौता**: 7 सितम्बर, 1901 को विदेशी शक्तियों ने चीन के साथ एक समझौता किया जो बॉक्सर के समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते की शर्तें निम्नलिखित थीं-(i) पेकिंग में जर्मनी तथा जापान के जो राजदूत मारे गये थे, उसके लिए चीन की सरकार को क्षमा-याचना करनी थी। (ii) सरकार को उन अधिकारियों को दण्डित करना था जिन्होंने विदेशियों के साथ बुरे व्यवहार किए थे और उन्हें यातनाएँ दी थीं। (iii) उन शहरों में जहाँ विदेशियों को मारा गया था अथवा उनके साथ अभद्र व्यवहार किया गया था पाँच वर्षों के लिए सरकारी पदों पर नियुक्ति के लिए संचालित की जाने वाली परीक्षा को स्थगित करना था।

   चीन पर क्षतिपूर्त्ति की एक बड़ी रकम लाद दी गयी। 450,000,000 गैलन तेल और जमानत के तौर पर सामुद्रिक व्यापार और नमक-कर को विदेशियों के हाथों गिरवी रखना था। क्षति-पूर्ति की राशि की अदायगी 31 किस्तों में करनी थी। (5) अगले दो वर्षों के लिए चीन में अस्त्र-शस्त्र का निर्माण तथा यातायात बन्द कर दिया गया। (6) विदेशी दूतावासों में सुरक्षा के लिए विदेशी फौजों को रखने की अनुमति मिली तथा पेकिंग के समुद्र तक के रास्ते में सभी किले नष्ट कर दिये गये। विदेशी पुलिस का प्रबन्ध किया गया। (7) टिंट्सीन को विदेशियों के सुपुर्द कर दिया गया। (8) पाश्चात्य देशों से की गयी सन्धियों में संशोधन और एक विदेशी मंत्रालय की स्थापना का वचन भी चीन की सरकार ने दिया। इस प्रकार बॉक्सर विद्रोह के फलस्वरूप चीन की दुर्गति सीमा पर पहुँच गयी।[1]

6. **आन्दोलन की विफलता के कारण**: यह आन्दोलन अनेक कारणों से विफल हुआ-(i) आन्दोलन का स्वरूप स्थानीय था और पश्चिमी एवं दक्षिणी चीन इसके प्रभाव से अछूता रहा। (ii) यद्यपि महारानी त्जू-शी ने विद्रोहियों का साथ दिया, परन्तु उसके संगठित रूप से अपनी सेना तथा शासनतंत्र को इसमें संलग्न नहीं किया। अधिकांश चीनी उच्चाधिकारी इससे तटस्थ रहे। (iii) चीनियों के अस्त्र-शस्त्र पुराने ढंग के थे। सेना में भी अनुशासन एवं संगठन का अभाव था। ऐसी सेना विदेशियों की संगठित सवं शक्तिशाली सेना के सामने कैसे ठहरती? (iv) विद्रोह निर्माण के उद्देश्यों से नहीं हुआ था। इस का जन्म नकारात्मक एवं विध्वंसकारी उद्देश्यों से हुआ था। ऐसे विद्रोहों की सफलता सदा ही संदिग्ध रहती है।

7. **विद्रोह के परिणाम तथा महत्त्व**: इस आन्दोलन के परिणाम चीन के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुए। बॉक्सर समझौते के कारण चीन पर अनेक प्रतिबन्ध लाद दिए गये और वह नई जंजीरों में जकड़ गया। देश की अर्थव्यवस्था धराशायी हो गयी तथा अनेक शहरों में विदेशी फौजें तैनात हो गयीं। वस्तुतः चीन की स्थिति अब एक अधीनस्थ देश-सी हो गयी। देश के विभिन्न क्षेत्रों पर विदेशियों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस प्रकार राष्ट्रीय गौरव एवं सम्प्रभुता जाती रही। मंचू राजवंश का अंत और भी निकट आ गया, किन्तु, इससे चीन को कुछ लाभ भी हुए। चीनियों ने पाश्चात्य आदर्शों के अनुरूप देश में परिवर्तन लाने की ओर ध्यान देना शुरू किया। पश्चिमी आदर्शों पर शिक्षा, सेना आदि का संगठन किया जाने लगा। पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन चीन में किया जाने लगा। अमेरिका-जैसे देशों ने क्षतिपूर्ति की धनराशि को चीन में ही शिक्षा आदि पर विस्तार में लगा दिया। सम्राज्ञी ने भी चीन में 1911 की महान् क्रांति हो गयी।[2]

   बॉक्सर आन्दोलन असफल होते हुए भी चीन की प्रगति के इतिहास में विशेष महत्व रखता है। पाश्चात्य शक्तियों के लिए यह खतरे का संकेत-चिन्ह था। इस समय आन्दोलन के सेक्रेटरी जॉन हे ने अपनी खुला द्वार और समान अवसर वाली नीति को फिर दुहराया और प्रत्यक्ष्य रूप में चीन की स्वतन्त्रता, सार्वभौमिकता तथा अखण्डता को कायम रखने की घोषणा

---

1. "China emerged from Boxer experience with a greatly enchanced debt, added humiliation, and, in effect, the position of subject nation." **Latourette**
2. "The failure of the movement had the further important consequencess of inaugurating an era of conservative reform in the endeavour to strengthen China and preserve the dynasty and of producing a significant redirection of the European impact on the Celestial Empire. **Vinacke**
   "The Boxer uprising was to exert a profound influence upon China's political future. it hastened the end of hte Manchu dynasty and creation of a Repulic...." **Keeton**

की। इसी के अनुकरण में ऐंग्लों-जर्मन-माहदा हुआ जिसके अनुसार दोनों शक्तियों ने चीन की तात्कालिक विषम परिस्थितियों से लाभ न उठाने की घोषणा की। यह भी तय हुआ कि यदि कोई और राष्ट्र चीन की पूर्णता को नष्ट करने का प्रयास करेगा तो दोनों उसका विरोध करेंगे। इस प्रकार बॉक्सर आन्दोलन ने उन शक्तियों को प्रोत्साहन प्रदान किया जिन्होंने चीन की सार्वभौमिकता की रक्षा को अपना कर्त्तव्य समझा। इसके अतिरिक्त चीन के भावी विकास का मार्ग भी इस आन्दोलन द्वारा साफ हो गया। प्रतिक्रियावादियों को भी यह महसूस हो गया कि चीन को शक्तिशाली बनाने के लिए और राज्यवंश की रक्षा के लिए चीन को उन्नत बनाने का प्रयत्न करना अवश्यम्भावी है।

सारांश यह है कि साम्राज्यवादियों की कलुषित चीन विभाजन-योजना कुछ तो विदेशियों को अन्तर्राष्ट्रीय नीति के कारण तथा कुछ देश की आन्तरिक परिस्थितियों और चीनी जनता की राजनीतिक चेतना के नव-जागारण के कारण सफलता को प्राप्त न हो सकी चीनी साम्राज्य इस समय विभाजित होते-होते बच गया।

अध्याय-18
चीन में साम्यवादी क्रांति एवं उसके प्रभाव

डॉ. सनयात सेन के प्रयासों से चीन में 1911 ई० में राज्य क्रान्ति सम्पन्न हुई किन्तु उसके पद त्याग के पश्चात् युआनशिकाई ने स्वेच्छाचारी शासन स्थापित करने का प्रयास किया। डॉ. सनयात सेन ने अपने सिद्धान्तों-राष्ट्रीयता, जनतंत्र और 'समाजवाद' के आधार पर चीन का पुनर्निर्माण करने का प्रयास किया था। किन्तु 12 मार्च, 1925 ई० की उनकी म त्यु हो गई। उनकी म त्यु के दो महत्त्वपूर्ण किन्तु परस्पर विरोधी परिणाम हुए। प्रथम डॉ. सनयात सेन रातों-रात राष्ट्रीय चीन व कुओमिंगतांग दल के जननायक बन गए, उनका वसीयतनामा दल के लिए पवित्र सिद्धान्त बन गया और 'जनता के तीन सिद्धान्त' का धर्म ग्रन्थ हो गया।

किन्तु इन सब के बावजूद दूसरा परिणाम भी प्रकट हुआ, वह यह था कि उनकी म त्यु से दल के नेत त्व के लिए सैद्धान्तिक मतभेद आरम्भ हो गए। इन सैद्धान्तिक मतभेदों का कारण डॉ. सेन द्वारा अपनी बातों को सामान्य या आम ढंग से कहना था, जिससे उन्हें लागू करने में व्याख्या भेद की गुंजाइश रह जाती थी। इस मतभेद में दल का वामपक्ष अधिक सुविधाजनक स्थिति में था और इसे साम्यवादी सदस्यों का समर्थन प्राप्त था और दल के केन्द्रीय संगठन पर इसका नियंत्रण था। क्वांगतुक के कुलीनों व केण्टन के व्यापारियों के विरुद्ध संघर्ष में विजई होने के कारण केण्टन पर इनका कब्जा था। दल के भीतर के संघर्ष की द ष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि रुस के साथ किस तरह के सम्बन्ध रखे जावें? डॉ. सनयातसेन ने 1924 ई. में कोदो में दिए अपने अंतिम सार्वजनिक भाषण में कहा था कि "विश्व के सभी अविकसित देशों के दलित लोगों को रुस के दिशा-निर्देश पर चलने की जरुरत है।" किन्तु चीन में जब साम्यवादी प्रचार आरम्भ हुए तो वहाँ आपसी फूट, संघर्ष और प्रतिक्रिया के दर्शन होने लगे। रुस की सहायता से यद्यपि कुओमिंगतांग दल ने चीन में भारी सफलताएँ प्राप्त की थी किन्तु साथ ही वहाँ आतंकवाद और प्रतिआतंकवाद का दौर आया जिसके कारण चीन की सहानुभूति साम्यवाद से हटने लगी।

दल विभाजन

जब रुस ने स्पष्ट रुप से चीन में साम्यवादी और बोल्शेविक कार्यक्रम चलाने का प्रयास किया तो कुओमिंगतांग दल के नेता रुस के विरुद्ध हो गए। अब चीन के लोग ब्रिटेन तथा अन्य पश्चिमी शक्तियों का सहारा लेने लगे। इससे कुओमिंगतांग दल में विभाजन होने लगा। नवम्बर, 1925 ई० में कुओमिंगतांग दल के व्यापारी तथा जमीदारी वर्ग के लोगों ने पीकिंग की पश्चिमी पहाड़ियों में एक बैठक की और रुसी सलाहकारों तथा साम्यवादी सदस्यों को संस्था से निकालने का कार्यक्रम बनाया और संस्था के दूसरे सम्मेलन में साम्यवादी सदस्यों को दल से अलग कर दिया। फिर भी 1927 ई० तक किसी तरह कुओमिंगतांग और साम्यवादियों में सहयोग रहा किन्तु जब साम्यवादियों ने हैंकाउ सरकार तथा उसके द्वारा कुओमिंगतांग पर भी अपना नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया तो च्यांगकाईशेक ने साम्यवादियों को कुओमिंगतांग दल से निष्कासित कर दिया। जब कम्युनिस्ट लोग कुओमिंगतांग दल से अलग हो गए, तो उन्होंने चीन के अनेक प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। 1931 ई० में उनकी शक्ति का प्रधान केंद्र कियांग्सी था। यह प्रांत क्वाग्तुंग प्रांत के उत्तर में स्थित है जहाँ कम्युनिस्ट लोगों ने अपनी सरकार स्थापित कर ली थी। धीरे-धीरे फ्रूकिएन, हुनान व आन्हुई प्रांतों के अनेक भागों में भी इनकी शक्ति स्थापित हो गई थी। कियांग्सी की कम्युनिस्ट सरकार नानकिंग की कुओमिंगतांग सरकार की सत्ता को स्वीकार नहीं करती थी। इस समय वहाँ च्यांगकाईशेक शक्ति में था। 1932 ई० में चीन की इस कम्युनिस्ट सरकार के अधीनस्थ प्रदेशों का क्षेत्रफल 3,30,000 वर्ग मील के लगभग था और उनमें निवास करनेवाले लोगों की संख्या 9 करोड़ थी। वर्ष 1933 में चीन में तीन प्रमुख सरकारें थी-

1. च्यांग-काई-शेक की अध्यक्षता में नानकिंग में कुओमिंगतांग दल की सरकार।
2. कैण्टन में कुओमिंगतांग दल की ही वामपंथी सरकार। इसके प्रमुख नेता वांग-चिंग-वेहं व चेन-कुंग-पो थे। इस वामपंथी दल के सदस्य च्यांगकाईशेक की नीति को डॉ. सनयात सेन के सिद्धान्तों के विरोध में समझते थे। इस कारण से उन्होंने कैण्टन में प थक् सरकार का निर्माण कर लिया था।
3. कियांग्सी, आन्हुई तथा किएन प्रांतों में साम्यवादी सरकार। यह सरकार अपने को देश की राष्ट्रीय सरकार कहती थी तथा साम्यवादी ढाँचे पर देश में शासन स्थापित करना चाहती थी।

रुस का विरोध

च्यांग-काई-शेक के अधीन नानकिंग सरकार कम्युनिस्ट विरोधी थी। चीन की राष्ट्रीय एकता के लिए यह आवश्यक था कि कियांग्सी की कम्युनिस्ट सरकार को युद्ध द्वारा परास्त कर उसे अधीनता में लाया जाय। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1933 ई० में महासेनापति च्यांगकाईशेक ने चार बार कियांग्सी की कम्युनिस्ट सरकार पर आक्रमण किए किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली। इस समय कम्युनिस्ट लोग निरन्तर अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयास कर रहे थे। च्यांगकाईशेक की सरकार ने 1934 ई० में अपनी सम्पूर्ण कम्युनिस्ट लोगों के दमन में लगा दी। अब कम्युनिस्ट लोगों के लिए यह सम्भव नहीं रह गया कि वे नानकिंग सरकार की शक्ति का मुकाबला कर सके। 1934 ई० में लाखों की संख्या में कम्युनिस्ट लोगों को मौत के घाट उतारा गया। सैन्य शक्ति के अतिरिक्त च्यांगकाईशेक ने फासिस्ट ढंग पर 'नीलीकुर्ती' नाम से एक आतंकवादी दल का गठन किया, जिसका उद्देश्य कुओमिंगतांग दल के विरोधियों का विनाश करना था। कुओमिंगतांग सरकार ने सेना में राजनीतिक शिक्षा का प्रचार भी किया। इसका परिणाम यह हुआ कि च्यांगकाईशेक की सरकार कम्युनिस्टों (साम्यवादियों) को देश का शत्रु समझने लगी। इसके अतिरिक्त जिन प्रदेशों को नानकिंग सरकार साम्यवादियों से विजय करती जाती थी, उनके पुराने जमींदारों व पूँजीपतियों को संगठित किया जाता था, ताकि वे कुओमिंगतांग दल की सहायता कर सके। चीन में एक नए आन्दोलन का सूत्रपात किया गया, जिसे 'नवजीवन आन्दोलन' कहा जाता था। इस आन्दोलन का उद्देश्य था कि चीन के प्राचीन आदर्शों के प्रति निष्ठा की भावना उत्पन्न करना, जिससे लोग मार्क्स की अपेक्षा कन्फ्यूशियस के सिद्धान्तों की ओर अधिक आक ष्ट हों।

साम्यवादियों द्वारा स्थान परिवर्तन या 'महाप्रस्थान'

लाल सेना का महान अभियान

च्यांगकाईशेक जिस ढंग से साम्यवादियों पर अत्याचार कर रहा था उससे अब यह सम्भव नहीं था कि वे कियांग्सी प्रांत व उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर साम्यवादी अपने प्रभाव को स्थापित रख सके। इसी बीच 1931 ई० में चीन पर जापान का आक्रमण हो गया, जो एक लंबे 'युद्ध का प्रारम्भ' था। च्यांगकाईशेक ने इस समय जापानी खतरे से बड़ा साम्यवादी खतरा समझा और अपनी सम्पूर्ण शक्ति साम्यवादियों के दमन में लगा दी। अतः साम्यवादियों ने यही उचित समझा कि वे च्यांगकाईशेक की सेनाओं का मुकाबला करने की अपेक्षा उत्तर में शेन्सी प्रांत की ओर प्रस्थान कर दें और वहाँ जाकर अपनी शक्ति का पुनर्गठन करें। जब च्यांगकाईशेक को माओ के महाप्रस्थान के निर्णय की सूचना मिली तो उसने साम्यवादियों को कुचलने का यह स्वर्णिम अवसर समझा एवं इसको 'म त्यु प्रस्थान' का नाम दिया। कियांग्सी से शेन्सी तक का महान अभियान इतिहास में 'महाप्रस्थान' कहलाता है, जो 16 अक्टूबर, 1934 ई० में आरम्भ हुआ और 20 अक्टूबर, 1935 ई० में पूरे एक वर्ष बाद समाप्त हुआ। विश्व इतिहास के आधुनिक चरण में यह अभियान रोमांचकारी था। इस पूरे यात्रा काल में केवल 100 दिन इस सेना ने विश्राम किया था। शेष समय संघर्ष करते हुए व चलते हुए व्यतीत किए गए। अभियान आरम्भ होने के समय 90 हजार व्यक्ति इस यात्रा में थे, जो येयान पहुँचने तक 20 हजार ही रह गए। लगभग 6 मील की यात्रा अपनी सरकार का पुनर्गठन किया। शेन्सी का उत्तरी भाग और कांगसू प्रांत का उत्तर-पूर्वी भाग उनके अधिकार में था। इस ऐतिहासिक वीरता का समस्त श्रेय माओत्सेतुंग व कमाण्डर सूते को है। अपने इस राज्य में साम्यवादियों ने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की और च्यांगकाईशेक की कुओमिंगतांग सरकार से संघर्ष की तैयारी आरम्भ कर दी।

साम्यवादियों का यह नया राज्य जापान द्वारा अधिक त उत्तरी चीन के निकट था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि साम्यवादियों का ध्यान चीन पर निरन्तर बढ़ते हुए जापानी प्रभुत्व की ओर आक ष्ट होता। वे यह महसूस करते थे कि चीनी लोगों को अपने

आपसी मतभेदों को भुलाकर परस्पर मिलकर जापान के साम्राज्यवाद का मुकाबला करना चाहिए। 1936 ई० में साम्यवादी सरकार ने अपने उद्देश्यों को इस प्रकार प्रकट किया-

1. विदेशी आक्रमणकारी का मिलकर मुकाबला करना,
2. जनता को शासन सम्बन्धी अधिकार प्रदान करना और
3. देश की आर्थिक उन्नति करना।

साम्यवादयों के उक्त उद्देश्यों के कारण चीन की जनता का बहुमत उनके साथ हो गया। इससे साम्यवादियों को अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिला।

चीन में ग ह-युद्ध की स्थिति

किन्तु च्यांगकाईशेक साम्यवादियों के साथ किसी भी प्रकार समझौता नहीं करना चाहिए था। वह शेन्सी प्रांत में भी उन्हें परास्त कर सम्पूर्ण चीन पर कुओमिंगतांग दल का शासन स्थापित करना चाहता था। उसने क्वांगतुंग तथा क्वांर्गसू को साम्यवादियों के स्थानान्तरण के बाद अपने प्रभुत्व में ले लिया था। च्यांगकाईशेक का विचार था कि जापान का मुकाबला करने के लिए यह आवश्यक था कि पहले साम्यवादियों को परास्त किया जाय ताकि चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित हो सके। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने अपनी सीमाएँ साम्यवादियों से संघर्ष हेतु भेजी। इन सेनाओं का प्रधान चांगहसूएहलिआंग था। साम्यवादी अपने चीनी भाइयों से नहीं लड़ना चाहते थे। उन्होंने च्यांगकाईशेक द्वारा भेजी गई सेनाओं को युद्ध न करने के लिए तैयार कर लिया। जब यह बात च्यांगकाईशेक तक पहुँची तो वह स्वयं शेन्सी प्रांत की ओर बढ़ा। उसके इस रुख को देखकर चांगहसुएहलिआंग ने साहस दिखाकर च्यांगकाईशेक को गिरफ्तार कर लिया और च्यांगकाईशेक को अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिए कुछ माँगें रखी जिनमें-'चीन में लोकतंत्र शासन की स्थापना; साम्यवादियों को इस बात के लिए तैयार किया जाए कि आपसी लड़ाई को समाप्त कर जापान के विरुद्ध शीघ्र आरम्भ किया जाए' आदि थी। पर च्यांगकाईशेक किसी भी प्रकार से इन शर्तों को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उसकी गिरफ्तारी के तेरह दिन बाद उसे रिहा किया गया तो साम्यवादियों और नानकिंग सरकार के बीच युद्ध बंद हो गया। इस समय चीन का लोकमत ग हयुद्ध को बंद कर जापान के विरुद्ध संघर्ष को शुरु करने के पक्ष में था। च्यांगकाईशेक के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह लोकमत की उपेक्षा करे। अतः उसने साम्यवादियों के साथ बातचीत आरम्भ की।

कुओमिंगतांग और साम्यवादी दल में समझौता : सह-अस्तित्व का प्रयास

च्यांगकाईशेक साम्यवादियों की इस बात से सहमत था कि चीन के विविध दलों को आपसी मतभेदों को भुलाकर जापान के प्रभुत्व को नष्ट करने के लिए सम्मिलित प्रयास करने चाहिए। उसने अब महसूस किया कि साम्यवादियों के साथ समझौता करने में ही चीन का लाभ है। अतः दोनों पक्षों के बीच 1937 ई० में एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार-

1. उत्तर-पश्चिमी चीन के जिन प्रदेशों (शेन्सी और कांगसू) पर साम्यवादियों का अधिकार है, वहाँ उनका शासन ही स्थापित रहेगा,
2. इन प्रदेशों में साम्यवादियों का अपना स्वतंत्र व प थक् राज्य रहेगा, जो चीन के अन्तर्गत रहता हुआ भी शासन की द ष्टि से साम्यवादियों के अधीन होगा,
3. साम्यवादी सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना का ही एक अंग मान लिया गया और साम्यवादी सेनापति जापान के साथ युद्ध करते हुए महासेनापति च्यांगकाईशेक के आदेशों का पालन करेंगे। साम्यवादी सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना में आठवीं सेना का नाम दिया गया है।

चीन के आधुनिक इतिहास में कुओमिंगतांग और साम्यवादियों का यह समझौता महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस प्रकार 1937 ई० में चीन-जापान युद्ध आरम्भ होने के समय चीन में दो प थक्-प थक् सरकारें विद्यमान थी। दोनों की अपनी-अपनी प थक् सेनाएँ थी और दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में अपने आदर्शों के अनुसार शासन और सामाजिक व्यवस्था के विकास में तत्पर थी।

1937 ई० में चीन-जापान युद्ध हुआ, जिसमें चीन-जापान द्वारा पराजित हुआ। उत्तरी चीन के कुछ प्रदेश जापान के अधीन चले गए। यहाँ जापान के प्रभुत्व में एक चीनी सरकार का गठन किया गया था।

द्वितीय विश्व युद्ध और चीन

जब द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ तो चीन में तीन तेरह की सरकारें थी-मंचूरिया में एक स्वतंत्र व प थक् राज्य था, जिसे 'मंचूकाओ' कहा जाता था। यह राज्य जापान के प्रभाव में था और नानकिंग को राजधानी बनाकर वहाँ एक स्वतंत्र चीनी सरकार की स्थापना कर दी गई थी। दूसरी चीनी सरकार महासेनापति च्यांगकाईशेक के नेत त्व में 'राष्ट्रीय सरकार' कहलाती थी, उसकी राजधानी चुंगकिंग थी। तीसरी सरकार साम्यवादियों की थी जो उत्तर पश्चिमी चीन में स्थित थी, इसकी राजधानी येयान थी। इसका नेत त्व माओत्सेतुंग कर रहे थे। साम्यवादी सरकार चुंगकिंग की सरकार की अधीनता में रहते हुए जापान के विरुद्ध युद्ध में सहयोग देने को तैयार थी पर च्यांगकाईशेक जापान के विरुद्ध संघर्ष की अपेक्षा चीन की आन्तरिक राजनीति को अधिक महत्त्व देता था। चीन के सम्पूर्ण समुद्र तट पर जापान का अधिकार हो जाने के कारण च्यांगकाईशेक की सरकार का अन्य देशों के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रह गया था। अतः अमेरिका और ब्रिटेन ने उसे वायुयान द्वारा सहायता पहुँचाने का प्रयास किया। वे यह नहीं चाहते थे कि जापान या रुस का प्रभाव चीन में बढ़े। हिमालय की उच्च पर्वतमाला को पारकर अमेरिका व ब्रिटेन के हवाई जहाज भारत होते हुए चुंगकिंग जाने लगे। जनवरी, 1944 ई० में 13,399 टन युद्ध सामग्री भारत से चीन पहुँचाई गई। हवाई जहाजों द्वारा इतनी अधिक सामग्री प्रतिमाह पहुँचाना इस बात का प्रमाण है कि अमेरिका और ब्रिटेन च्यांगकाईशेक की सरकार को कितना अधिक महत्त्व देते थे।

इस विकट स्थिति में भी येयान की साम्यवादी सरकार इस बात के लिए प्रयत्नशील थी कि जापान के विरुद्ध लड़ाई में चुंगकिंग सरकार के साथ सहयोग करे। किन्तु च्यांगकाईशेक और कुओमिंगतांग दल के सदस्य साम्यवादियों के साथ सहयोग की अपेक्षा उनके विरुद्ध संघर्ष को अधिक महत्त्व देते थे। यही कारण था कि चुंगकिंग तथा येयान की सरकारों में सहयोग निरन्तर कम होता जा रहा था और च्यांगकाईशेक की सेनाएँ जापान के विरुद्ध लड़ाई में न लगकर साम्यवादियों के विरुद्ध युद्ध करने में भी अपनी शक्ति का उपयोग करने में लगी हुई थी। इस समय ब्रिटेन और अमेरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान के विरुद्ध युद्ध करने में संलग्न थे।

समझौते के प्रयास

अमेरिका और ब्रिटेन ने चुंगकिंग सरकार को अपने पक्ष में करने के लिए 11 जनवरी, 1943 ई० को च्यांगकाईशेक के साथ एक संधि की, जिसके अनुसार एकस्ट्रा-टेरिटोरिएलिटी की पद्धति का चीन में अन्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त इन दोनों देशों को चीन में जो अन्य अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे उन्हें भी समाप्त कर दिया गया। साथ ही यह भी स्वीकार किया गय कि चीन राजनीतिक द ष्टि से पाश्चात्य देशों के समकक्ष है और संसार का एक प्रमुख व शक्तिशाली राज्य है। इसलिए जब संयुक्त राष्ट्रसंघ का गठन किया गया तो, उसकी सुरक्षा परिषद् में चीन को भी स्थाई रुप से सदस्यता प्रदान की गई थी। मित्र राज्य इस बात के लिए बहुत अधिक उत्सुक थे कि च्यांगकाईशेक की सरकार जापान के विरुद्ध युद्ध जारी रखे और किसी भी प्रकार उसके साथ समझौता नहीं करे। अमेरिका की ओर से जो सेनाएँ चीन में विद्यमान थी, वे चाहती थी कि चीन की राष्ट्रीय सेनाएँ येयान की साम्यवादी सरकार के विरुद्ध युद्ध न करके जापान से युद्ध करें तथा साम्यवादी सरकार भी जापान के विरुद्ध च्यांगकाईशेक की सरकार की मदद करे। अमेरिका के प्रधान अधिकारी जनरल स्टिलवल और उसके बाद अमेरिकी राजदूत हर्ले ने बहुत प्रयास किया कि चीन की च्यांगकाईशेक की सेनाओं तथा साम्यवादी सेनाओं में समझौता हो जाये किन्तु अमेरिका के ये समझौता प्रयास असफल रहे।

इसी बीच अगस्त, 1945 ई० में जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया और महायुद्ध का अन्त हो गया। किन्तु महायुद्ध की समाप्ति के साथ ही चीन की समस्या का अन्त नहीं हुआ। जापान की पराजय के कारण नानकिंग की उस सरकार का स्वयंमेव अन्त हो गया, जो वागचिंग वेई के नेत त्व में स्थापित की गई थी। महायुद्ध की समाप्ति पर यह समस्या उत्पन्न हुई कि नानकिंग सरकार द्वारा अधिक त प्रदेशों पर अब किसका आधिपत्य स्थापित हो-चुंगकिंग की कुओमिंगतांग सरकार का या येयान की साम्यवादी सरकार का।

लोकतंत्र की स्थापना के प्रयास

दिसम्बर, 1945 में अमेरिका के राष्ट्रपति टमेन ने जनरल मार्शल को विशेष रुप से चीन इसी उद्देश्य से भेजा था कि वह चीन के दोनों प्रमुख दलों में समझौता कराए। उन्हें यह भी कार्य सौंपा गया कि वे चीन के दोनों दलों को वहाँ लोकतंत्र की स्थापना के लिए तैयार करे। जनरल मार्शल 10 जनवरी, 1946 को एक संधि कराने में सफल हुए, जिसमें यह तय किया गया कि दोनों पक्षों की सेनाएँ आपसी संघर्ष समाप्त कर दे और चीन का जो प्रदेश जिस सेना के अधिकार में है, वह उसी सेना के अधिकार में रहेगा। साम्यवादियों ने संचार साधनों में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया और मंचूरिया पर राष्ट्रीय सरकार द्वारा पुनः कब्जा करने का अधिकार स्वीकार किया। इस प्रकार अमेरिका के प्रयत्न से चीन का ग ह-युद्ध कुछ समय के लिए स्थगित हो गया।

किन्तु 10 जनवरी, 1946 के समझौते से चीन की वास्तविक समस्या का हल नहीं हुआ था। चीन में स्थाई शान्ति के लिए यह आवश्यक था कि वहाँ ऐसी सरकार स्थापित हो, जो लोकतंत्रवाद के सिद्धान्तों पर आधारित हो, राजनीतिक दलों की सेनाओं के स्थान पर एक राष्ट्रीय सेना का पुनर्गठन किया जाए, जिसका किसी भी दल से कोई सम्बन्ध न हो किन्तु इन बातों को क्रियान्वित करना असम्भव था। 7 जनवरी, 1947 ई० को जनरल मार्शल ने अमेरिका लौटने पर एक वक्तव्य में कहा था-"शान्ति स्थापना में सबसे बड़ी कठिनाई यह रही कि कुओमिंगतांग और चीनी साम्यवादी दल एक दूसरे के प्रति बहुत अधिक संदेह करते हैं।"

साम्यवादियों द्वारा सैनिक सत्तारोहण

अमेरिका के अथक प्रयासों के बावजूद भी कुओमिंगतांग और साम्यवादियों के बीच कोई समझौता नहीं हो सका। किन्तु जापान के आत्मसमर्पण करते ही अब उत्तरी व पूर्वी चीन पर पुनः अधिकार स्थापित करने का प्रश्न उत्पन्न हुआ, तो चुंगकिंग और येयान सरकारों के पारस्परिक विरोध ने बहुत उग्र रुप धारण कर लिया। कुछ ही समय बाद दोनों दलों की सेनाओं में ग ह-युद्ध आरम्भ हो गया और इस ग ह-युद्ध में साम्यवादियों को सफलता प्राप्त हुई।

साम्यवादियों की सफलता के कारण

चीन के ग ह-युद्ध में साम्यवादियों की सफलता के कई कारण थे-

1. साम्यवादियों की देश रक्षा की भावना और उनके द्वारा जापान के विस्तार को रोकने का प्रयास करना, उनकी सफलता का मुख्य कारण था। जबकि च्यांगकाईशेक ने सदैव अपनी शक्ति को आन्तरिक शत्रु के दमन में पहले खर्च किया और जापानी विस्तार को गौण समझा। चीन की जनता इस कारण च्यांगकाईशेक से असंतुष्ट होती जा रही थी।
2. साम्यवादी प्रभाव क्षेत्र में जो विकास की तीव्र गति थी, उसने भी जनता को साम्यवाद की ओर प्रेरित किया, जबकि च्यांगकाईशेक की सरकार के अधिकार क्षेत्र में आर्थिक समस्या विकराल रुप में खड़ी थी।
3. साम्यवादियों के सिद्धान्त-जनता की आवाज सुनना व निम्न वर्ग से सहानुभूति रखना, जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने को काफी थे, जबकि कुओमिंगतांग दल वैयक्तिक उन्नति व पूँजीवादी व्यवस्था में मग्न थे।
4. साम्यवादियों की स्थिति ऐसी थी कि उन्हें निरन्तर रुस की सहायता मिलती जा रही थी और उनकी शक्ति का विस्तार हुआ था, जबकि चुंगकिंग की सरकार असहाय स्थिति में थी। पश्चिमी राष्ट्रों की सहानुभूति के बावजूद भी उनकी सहायता के सभी मार्ग बंद थे, अतः उनकी शक्ति का ह्रास हो रहा था।

द्वितीय विश्वयुद्ध में रुस ने मित्रराष्ट्रों का साथ दिया था और जर्मनी की शक्ति को परास्त करने में उसने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इसी कारण उसने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं की थी। अप्रैल, 1941 ई० में जापान और रुस के बीच एक संधि हुई, जिसके अनुसार दोनों देशों ने तटस्थ रहना स्वीकार्य किया। यह संधि पाँच वर्ष के लिए की गई थी। इस संधि से पूर्व फरवरी, 1941 ई० में मित्र राष्ट्रों के प्रमुख नेताओं को एक सम्मेलन याल्टा नामक स्थान पर हुआ। इस सम्मेलन में रुस ने यह स्वीकार किया कि जब जर्मनी युद्ध में परास्त हो जाएगा तो उसके दो या तीन माह बाद रुस जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करेगा ताकि जापान को परास्त करने में वे भी उसकी सहायता कर सके। याल्टा सम्मेलन में ही ब्रिटेन और अमेरिका ने रुस के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार उन्होंने यह स्वीकार किया था कि जापान की पराजय के बाद पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में नई व्यवस्था स्थापित करते हुए रुस की निम्नलिखित बातों को स्वीकार किया जाएगा-

1. मंगोलिया पीपुल्स रिपब्लिक को एक स्वतंत्र राज्य के रुप में स्वीक त किया जाएगा।
2. 1904-05 ई० में रुस-जापान युद्ध के कारण रुस से जो प्रदेश जापान को मिले थे, वे पुनः रुस को सौंप दिए जाएँगे।
3. सखालीन द्वीप का दक्षिणी भाग और उसके समीपवर्ती द्वीप रुस को पुनः प्राप्त होंगे।
4. पोर्ट आर्थर रुस को पट्टे पर दे दिया जाएगा ताकि वहाँ रुस अपनी जल-शक्ति का केन्द्र बना सके।
5. मंचूरिया पर चीनी सरकार का अधिकार होगा, पर उसकी दो प्रमुख रेलवे लाइनों का संचालन एक ऐसी कम्पनी द्वारा किया जाए, जिस पर चीन और रुस दोनों का सम्मिलित आधिपत्य हो।

जापान की पराजय के पश्चात् चीन की स्थिति

याल्टा सम्मेलन में इंग्लैण्ड और अमेरिका के साथ उपर्युक्त समझौता करके रुस ने यह तय कर लिया था कि जर्मनी की पराजय के कुछ माह बाद वह भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देगा। 7 मई, 1945 को जर्मनी ने आत्मसमर्पण किया और उसके ठीक तीन माह के बाद 8 अगस्त, 1945 ई० को रुस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। रुस की सेनाओं ने उत्तर की ओर से मंचूरिया में प्रवेश किया। कुछ ही समय बाद 15 अगस्त, 1945 को जापान ने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया। अब रुस को और अधिक युद्ध करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु जापान के साथ संधि 2 सितम्बर, 1945 को की गई। इस बीच के तीन सप्ताह तक रुसी सेनाएँ जापान द्वारा अधिक त प्रदेशों में निरन्तर आगे बढ़ती गई।

यद्यपि जापान युद्ध में परास्त हो गया था, पर मंचूरिया और पूर्वी चीन पर उसका ही आधिपत्य स्थापित रहा। इस समय मंचूरिया और कोरिया में रुसी सेनाएँ आगे बढ़ रही थी, पर मंचूकाओं और नानकिंग की सरकारें अभी पूर्ववत स्थापित थी। जापान के आत्मसमर्पण का यह परिणाम अवश्यम्भावी था कि मंचूरिया और पूर्वी चीन में उन सरकारों का अन्त हो जाता, जो जापान को अपना संरक्षक मानती थी। मंचूरिया और उत्तरी कोरिया में रुसी सेनाएँ प्रवेश कर चुकी थी। अब समस्या यह थी कि पूर्वी चीन पर अब किसका अधिकार हो और जापानी सेनाएँ किसके सम्मुख आत्मसमर्पण करे। मित्रराष्ट्रों ने इस बात का तो फैसला कर लिया था कि पूर्वी चीन पर चीन की स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार का अधिकार स्थापित होगा, पर चीन की स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार की सेनाएँ दो प्रकार की थी-कुओमिंगतांग और साम्यवादी। इन दोनों सेनाओं में किसी प्रकार का समझौता अब तक नहीं हो पाया था। चीन में साम्यवादी सेनाएँ अधिक संगठित तथा व्यवस्थित थी। उत्तर-पश्चिमी चीन पर तो उनका अधिकार था ही, साथ ही जापान द्वारा अधिक त चीन में भी अनेक स्थानों पर साम्यवादी सेनाएँ छापामार युद्ध प्रणाली से युद्ध में व्यस्त थी। इस स्थिति में उनके लिए यह आसान था कि वे पूर्वी चीन के बड़े हिस्से पर अपना अधिकार स्थापित कर ले। किन्तु च्यांगकाईशेक इस बात को कभी सहन नहीं कर सकता था। परिणामस्वरुप सितम्बर, 1945 में कुओमिंगतांग और साम्यवादी सरकारों में युद्ध आरम्भ हो गया। जापान की पराजय के बाद भी चीन में शांति स्थापित नहीं हो सकी।

अमेरिका नहीं चाहता था कि चीन में ग ह-युद्ध जारी रहे। सितम्बर, 1945 ई० में जनरल मार्शल इसी उद्देश्य से चीन गए, उनका उद्देश्य चीन के दोनों दलों में समझौता कराके लोकतंत्र की स्थापना करना था। किन्तु मार्शल को अपने उद्देश्य मे कोई सफलता नहीं मिली। नवम्बर, 1946 में च्यांगकाईशेक ने देश के लिए नये शासन का निर्माण करने के लिए एक राष्ट्रीय महासभा का आयोजन किया किन्तु साम्यवादी दल ने इसका बहिष्कार किया। इसी बीच साम्यवादी सेनाएँ उत्तरी व पूर्वी चीन के अनेक प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर चुकी थी। जिन स्थानों को रुसी सेनाओं ने मंचूरिया और कोरिया में खाली किया था, उन स्थानों पर अब साम्यवादी सेनाओं ने अधिकार कर लिया था। इस प्रकार चीन के एक विस्त त भू-भाग साम्यवादी सेनाओं का अधिकार था। अब चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिए च्यांगकाईशेक के सम्मुख दो ही उपाय बचे थे-प्रथम तो यह कि वह साम्यवादियों से समझौता कर चीन में लोकतंत्र स्थापित करने का प्रयास करे-दूसरा यह कि साम्यवादियों को युद्ध में परास्त कर उनके अधीनस्थ स्थानों पर अपना अधिकार कर ले।

1948-49 ई० में दोनों दलों के बीच समझौते का प्रयास चलता रहा। अन्ततः 14 फरवरी, 1949 ई० को साम्यवादियों ने समझौते की निम्न शर्तें प्रस्तुत की-

1. च्यांगकाईशेक और लीत्सुंग येन को अपने पदों से हटा दिया जाय।
2. कुओमिंगतांग और साम्यवादी सरकारें एक साथ अपनी-अपनी सेनाओं को युद्ध बन्द करने का आदेश दे।
3. देश के लिए एक नया संविधान बनाया जाय जिसे बनाने का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि करे।

4. जब तक नया संविधान तैयार न हो, शासन के संचालन के लिए एक ऐसी सरकार का गठन किया जाय जिसमें सभी प्रमुख दलों के प्रतिनिधि हो।
5. सेना को नए ढंग से संगठित किया जाय।
6. युद्ध के लिए दोषी चीनी नेताओं को दण्डित किया जाय।

यह बात स्पष्ट थी कि च्यांगकाईशेक इन शर्तों को स्वीकार नहीं कर सकता था किन्तु इस समय चीन में च्यांगकाईशेक की स्थिति बहुत कमजोर हो चुकी थी। साम्यवादियों के विरुद्ध संघर्ष में वह अमेरिका से पूर्ण सहायता प्राप्त करने में सफल नहीं हुआ। अमेरिका भी इस समय इस स्थिति में नहीं था कि चीन के ग ह-युद्ध में खुले रुप में सहायता दे सके क्योंकि उसे रुस द्वारा साम्यवादियों का पक्ष लेने का भय था। इस दशा में अमेरिका ने प्रायः तटस्थता की नीति का अनुसरण किया और इस कारण च्यांगकाईशेक की राजनीतिक स्थिति बहुत कुछ डावांडोल हो गई। इन विकट परिस्थितियों में च्यांगकाईशेक ने 12 जनवरी, 1949 ई० को अपनी सरकार का कार्यभार उपराष्ट्रपति लीत्सुंग येन को सौंप दिया। वह अब नाममात्र का राष्ट्रपति बना रहा। नानकिंग की सरकार का संचालन जनरल ली के पास आ गया था। इस समय नानकिंग सरकार का प्रधानमंत्री सन-फ्रो साम्यवादियों से समझौते के पक्ष में था, पर उसे अपने उद्देश्यों में सफलता नहीं मिली। युद्ध यथावत् चलता रहा।

जनवरी, 1949 में समझौते की बातचीत शुरु होने से पहले साम्यवादी सेनाएँ टिंटसिन और पीकिंग पर अधिकार स्थापित कर चुकी थीं। समझौते की असफलता पर अप्रैल, 1949 में साम्यवादी नेताओं ने यांग्त्से नदी को पार कर लिया था और नानकिंग और शंघाई पर साम्यवादियों का अधिकार स्थापित हो गया था। अक्टूबर, 1949 तक हेन्को तथा केन्टन पर भी उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया था। अब कुओमिंगतांग सरकार के पास केवल श्जेचुआन, क्वांग्सी, फार्मूसा द्वीप तथा हैनान द्वीप बचे थे।

कुओमिंगतांग दल की घटती हुई लोकप्रियता

17 सितम्बर, 1949 ई० को ब्रिटेन, फ्रांस तथा अमेरिका के विदेश मंत्रियों ने अलग-अलग किन्तु एक ही प्रकार की प्रेस-विज्ञप्ति जारी की कि चीन में ऐसा कोई राष्ट्रवादी दल दिखाई नहीं दे रहा, जिसे मित्रराष्ट्र समर्थन दे सके। यह प्रतिक्रिया केवल सैनिक स्थिति के संदर्भ में ही नहीं व्यक्त की गई, वरन् कुओमिंगतांग दल के राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के संदर्भ में भी कही गई थी क्योंकि युद्ध की समाप्ति के तत्काल बाद के वर्षों में कुओमिंगतांग दल ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पुनःनिर्माण करने की समस्या की ओर ध्यान नहीं दिया। उसे कम-से-कम देश के भूतपूर्व संचार-साधनों को पुनःस्थापित करना था और नगर तथा गाँवों के बीच सम्बन्ध स्थिर करने का प्रयास करना था। इनका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय सरकार की सैनिक शक्ति कम हो गई और राष्ट्रीय साधनों का पूरा लाभ नहीं हुआ। अब वे केवल अपनी उच्च सैनिक शक्ति के आधार पर ही शासन चला सकते थे और वह सैनिक शक्ति भी देश की प्रगतिशील आन्तरिक अर्थव्यवस्था पर आधारित न होकर, उसकी क्षीणतर हो रही अर्थव्यवस्था पर आधारित थी। सैनिक तंत्र को बराबर बनाए रखने के लिए देश की आर्थिक पुनः स्थापना से अधिक जोर अमेरिकी सहायता पर दिया गया था।

किन्तु कुओमिंगतांग दल की मौलिक कमजोरी यह थी कि उसके विरोध में यह भावना फैल गई थी कि उसका शीर्षस्थ सरकारी कार्य-कलाप बहुत अधिक भ्रष्ट और अक्षम है और यह भ्रष्टाचार और अक्षमता धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। मुद्रा-स्फीति बढ़ने पर सम्भवतः ईमानदार सरकारी कर्मचारी भी अपनी सरकारी आय से अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियाँ नहीं निभा सकते थे। इस कारण सहपूर्ति सामग्री, जो जनता के उपयोग के लिए थी, वे भी निजी व्यापार साधनों में प्रयुक्त होने लगी थी।

साम्यवादियों की बढ़ती हुई लोकप्रियता

साम्यवादियों की सफलता का कारण उनकी बढ़ती शक्ति और साथ ही साथ कुओमिंगतांग दल की शक्ति का उसी के अनुपात में निरन्तर क्षीण होते जाना था। यह पार्टी, युद्ध के बाद नेताओं का समर्थ नेत त्व प्राप्त करने का सम्मान अर्जित कर चुकी थी। वास्तव में इस द ष्टिकोण का भी काफी प्रचार हो गया था कि साम्यवादी नेताओं द्वारा अपने अधिकारों का प्रयोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए न होकर सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है। यह तथ्य उनके द्वारा क षकों के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों में परिलक्षित हुआ था। इसके अनुसार भू-स्वामित्व में विशेषतः उन भू-स्वामी जमींदारों के मामले में संशोधन किया जो जमीन की खुद काश्त नहीं करते थे। क षि कार्य में पहले से प्रयुक्त न होने वाली भूमि का क षि कार्यों के लिए प्रयोग किया गया और खेतिहरों द्वारा भूमि का प्रयोग करने पर दी जानेवाली लगान की दर और पैदावार के हिस्से में कमी की गई। इसके

अतिरिक्त कुओमिंगतांग सैनिकों या उनके प्रान्तीय कर-अधिकारियों की अपेक्षा साम्यवादियों ने अपने तत्कालीन आदेशों के अनुसार क षकों का सम्बन्ध पारस्परिक सहयोग के रुप में स्थापित हुआ था, जबकि कुओमिंगतांग की सेनाओं का उनके साथ व्यवहार कुछ विशिष्ट मामलों में ही, सामान्यतया युद्ध पूर्व सामन्तों के व्यवहार से, अलग था। स्वाभाविक रुप से साम्यवादियों ने देश का भीतरी और बाहरी समर्थन प्राप्त करने के लिए एक 'नए लोकतंत्र' और भूमि सुधार की विनम्र विधि का प्रचार किया। इस प्रकार चीन की जनता का समर्थन साम्यवादी सरकार के साथ अधिक था। चीन में कुओमिंगतांग दल की लोकप्रियता धीरे-धीरे कम होती जा रही थी। इस स्थिति में साम्यवादियों के लिए यह आसान था कि सम्पूर्ण चीन पर अधिकार स्थापित कर सके।

1945 ई० के बाद के वर्षों में चीनी साम्यवादी दल और सोवियत संघ के बीच स्थापित सम्बन्ध स्पष्ट रुप से द ष्टिगत हुए। 1949 ई० तक इसे केवल भूमि सुधार करनेवाली पार्टी मानते हुए मात्र चीनी राष्ट्रीय आन्दोलन के एक उपकरण के रुप में स्थित साम्यवादी पार्टी के बजाय, इसे रुसी साम्यवादी पार्टी के साथ सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आंदोलन का हिस्सा मानना अधिक उपयुक्त समझा गया। इसके कारण और कूओमिंगतांग को अमेरिका द्वारा बराबर हर सम्भव सहायता दिए जाने के कारण चीन के ग ह-युद्ध को एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हुआ।

फिर भी 1949 ई० तक यांगत्जे का उत्तर स्थित चीन, कम्युनिस्ट सेनाओं द्वारा कुओमिंगतांग के नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया था और इसे चीनी साम्यवादी पार्टी के अन्तर्गत स्थित समझ लिया गया था। साम्यवादियों को कुछ सफलता भूतपूर्व कुओमिंगतांग कमाण्डरों को अपने भीतर आत्मसात कर लेने से भी प्राप्त हुई थी। अतः उत्तर चीन में भी प्रशासकीय अधिकार कुछ स्थानों पर उन लोगों द्वारा प्रयुक्त हो रहा था, जो विचार परिवर्तन के कारण नहीं बल्कि परिस्थितियों से बाध्य होकर साम्यवादियों से आ मिले थे।

साम्यवादियों द्वारा स्थापित मौलिक संगठन विधि प्रादेशिक प्रारुप पर स्थित थी। सितम्बर, 1949 ई० तक उन्होंने छः पूर्णतया मुक्त क्षेत्रों-उत्तर-पूर्वी चीन (मंजूरिया), उत्तरी-पश्चिमी चीन, उत्तरी चीन, मध्य चीन, पूर्वी चीन और दक्षिणी चीन का निर्माण कर लिया था। इस नई विधि के प्रयोग के साथ मुख्य चीन के इन प्रदेशों के विशिष्ट प्रशासकीय जिलों को पुरानी प्रान्तीय पद्धति के आधार पर स्थित किया गया। प्रादेशिक सरकार की सामान्य योजना उत्तरी चीन में कार्यान्वित की गई थी, जो साम्यवादी पार्टी द्वारा कुओमिंगतांग दल के नियंत्रण से पूर्णतः मुक्त किया गया प्रथम क्षेत्र था। इसमें एक व हद् 'प्रतिनिधि सभा' की स्थापना करने की व्यवस्था की गई थी, जिसका प्रधान कार्य उत्तरी चीन के लिए 'अस्थाई सरकारी आयोग' का निर्वाचन करना था, जो वास्तविक शासनाधिकार का पूर्ण अंग था। अतः प्रादेशिक सरकार स्थापित करने की योजना इस प्रकार बनाई गई थी, जिसमें सरकारी नियंत्रण की बागडोर शीर्षस्थ अधिकार में रखते हुए, उस अधिकार को क्रमशः निचले स्तरों तक फैलाया जा सके। फिर भी मुख्य चीन में निर्देशन का अधिकार औपचारिक सरकार के हाथों में न रहकर साम्यवादी पार्टी संगठन के हाथों में ही था।

इन राजनीतिक और प्रशासकीय व्यवस्थाओं के अन्तर्गत चीन में किसी ऐसी साम्यवादी सरकार की स्थापना नहीं हो सकी थी जो विदेशी शक्तियों से अपनी मान्यता की माँग करे या आशा करे। 19 जून को 'नव चीनी केन्द्रीय समाचार' ऐजेन्सी द्वारा चीन के लिए एक 'लोकतांत्रिक सम्मिलित सरकार' का गठन करने के लिए जनता के 'नए सलाहकार सम्मेलन' की रुपरेखा के सम्बन्ध में घोषणा कर, इस दिशा में अभियान शुरु करने का संकेत मिला। इसके प्रतिनिधियों में कुओमिंगतांग दल के प्रतिक्रियावादियों का स्थान न देने का निर्णय किया गया था। जिसका तात्पर्य यह था कि कोई व्यक्ति या दल, जो अपने द ष्टिकोण के कारण साम्यवादी नेताओं को स्वीकार न हो, उसे इसमें सहयोजित नहीं किया जाय। इस प्रकार 'जनता के नए साम्यवादी सलाहकार सम्मेलन' का उद्देश्य साम्यवादियों के साथ सहृदय व्यवहार रखनेवालों को मिलाकर एक ऐसी केन्द्रीय सरकार की स्थापना करने का था, जो एक पार्टी की सरकार के बजाय एक सम्मिलित सरकार की तरह प्रतीत हो।

लोक गणराज्य की स्थापना

जनता के 'नए साम्यवादी सलाहकार सम्मेलन' द्वारा किए गए निर्णयों की घोषणा 1 अक्टूबर, 1949 ई० को की गई। इस घोषणा के द्वारा साम्यवादियों ने पीकिंग में लोक गणराज्य की घोषणा कर दी। 2 अक्टूबर को सोवियत संघ ने इस नए तंत्र को चीन की सरकार के रुप में मान्यता दी और इसके बाद सोवियत संघ के निर्देश पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कार्यवाही करनेवाले अन्य राजाओं ने भी इसे ऐसी ही मान्यता प्रदान की और 1950 ई० के अन्त तक 25 देशों ने इसे मान्यता दे दी। इस प्रकार

चीन साम्यवादी हो गया। लोगों ने साम्यवाद को इसलिए स्वीकार नहीं किया कि वे इसके सिद्धान्तों को विशेष रुप से पसन्द करते थे बल्कि इसलिए कि वे कुओमिंगतांग के शासन से तंग आ चुके थे और इससे बचने के लिए उनके पास उस समय साम्यवाद के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था।

मार्च, 1950 ई० तक चीन के सभी भागों पर साम्यवादी सरकार की स्थापना हो चुकी थी। केवल फारमोसा द्वीप च्यांगकाईशेक के अधिकार में था। संयुक्त राज्य ने साम्यवादी सरकार को मान्यता देना अस्वीकार करते हुए चीन की सरकार के रुप में फारमोसा स्थित राष्ट्रवादी सरकार से अपना सम्बन्ध बनाये रखा।

साम्यवादी क्रान्ति का प्रभाव

साम्यवादी नेत त्व में एकीक त राष्ट्रीय शक्ति के रुप में चीन का उदय आधुनिक वर्षों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस घटना के परिणामस्वरुप विश्व राजनीति में अनेक मोड़ आये तथा अनेक नई परिस्थितियों का जन्म हुआ। माओत्सेतुंग ने सम्पूर्ण चीन में एक सत्ता की घोषणा की। साम्यवाद ने एशिया महाद्वीप के विशाल क्षेत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। इससे पश्चिमी शक्तियों एवं साम्वादियों के बीच एक नया शक्ति सन्तुलन स्थापित हुआ। चीन में साम्यवाद की स्थापना से ऐसा अनुमान लगाया गया था कि वह सोवियत रुस का नेत त्व स्वीकार करेगा किन्तु कुछ ही वर्षों बाद चीन साम्यवादी देशों के नेत त्व के लिए रुस का प्रतिद्वन्द्वी बन गया। इस सम्बन्ध में पामर एवं परकिन्स ने लिखा है कि-"चीन की साम्यवादी क्रान्ति का सम्पूर्ण एशिया पर प्रभाव पड़ना निश्चित है।" चीन की इस क्रान्ति ने अफ्रीका में भी राष्ट्रवादी शक्तियों को प्रोत्साहित किया किन्तु उसकी दोहरी नीति के कारण उसे अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। पश्चिम की महान् शक्ति अमेरिका ने भी चीन में साम्यवाद की स्थापना के बाद शंकित हो जापान के लोकतंत्र को द ढ़ता प्रदान करने वाली नीति अपनाई ताकि जापान अपने पड़ोसी साम्यवादी देशों से बचा रह सके। वर्षों का सुषुप्त चीनी दैत्य जाग उठा है और अब वह सम्पूर्ण विश्व को कम्पित करने का प्रयत्न कर रहा है।

अध्याय-19
उपनिवेशवाद का अंत

उपनिवेशवाद का अंत एवं उसके पश्चात्

शीतयुद्ध का वैचारिक आधार

द्वितीय विश्व युद्ध के शीघ्र बाद यूरोपीय साम्राज्यवाद का अंत होना आरंभ हो गया था। जब 1945 ई० में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई, तो उस समय उसके सदस्य देशों की संख्या मात्र 51 थी। 1995 ई० में संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के 50 वर्ष पूरे होने पर इसकी सदस्य संख्या बढ़कर 185 हो गई थी। संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों की यह तीन गुणा से भी अधिक की व द्धि इसलिए संभव हो सकी कि इस अवधि में बहुत बड़ी संख्या में स्वतंत्र सम्प्रभु राज्यों का उदय हुआ। इसका मूल कारण उपनिवेशवाद का अन्त था। दूसरे विश्व युद्ध के अंत के साथ-साथ ही नवोदित राज्य अस्तित्व में आते गए। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों की दासता की समाप्ति के साथ ही एक नये युग का आरम्भ हुआ। परिवर्तन की इस प्रक्रिया को उपनिवेशवाद उन्मूलन (Decolonisation) का नाम दिया गया। एशिया के अधिकांश देश चालीस के दशक के अंत तक स्वतन्त्र हो गए थे। अमेरिका के उपनिवेश फिलीपीन्स ने 1946 ई० में स्वतन्त्रता प्राप्त की थी परंतु उपनिवेशवाद के अंत की प्रक्रिया को अगस्त 1747 में भारत कीर स्वतन्त्रता के साथ गति मिली। उधर अफ्रीका में, 1940 ई० के दशक के अन्त में केवल चार स्वतंत्र देश थे-मिस्त्र, दक्षिण अफ्रीका, अबीसीनिया (इथियोपिया) तथा लाइबेरिया। जब 1995 ई० में उपनिवेशवाद उन्मूलन लगभग पूरा हो गया था, तब अफ्रीका के स्वतन्त्र देशों की संख्या बढ़कर 55 हो गई थी। अफ्रीका के अंतिम उपनिवेश नामीबिया को दक्षिण अफ्रीका से 1990 ई० में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। प्रशान्त महासागर स्थित दो द्वीप राज्य-माइक्रोनेशिया तथा मार्शल द्वीप समूह 1991 ई० में स्वतन्त्र हुए।

उपनिवेशवाद उन्मूलन अथवा पश्चिमी औपनिवेशिक साम्राज्य के विघटन के दो घटक थे। प्रथम, उपनिवेशों के पराधीन लोगोंकी स्वतंत्रता की माँग, जिसे स्वाधीनता आंदोलनों से बल मिला था। द्वितीय, औपनिवेशिक शक्तियों के उपनिवेशों को अपने नियंत्रण में रखने में असमर्थता। उपनिवेशवाद उन्मूलन अधिकतर उपनिवेशों के लोगों के संघर्ष का परिणाम था किंतु द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश में जो परिवर्तन हुआ, उसने भी औपनिवेशिक शक्तियों को कमजोर करके औपनिवेशिक व्यवस्था के उन्मूलन की प्रक्रिया को गति प्रदान की।

राजनीतिक रूप से विभाजित विश्व में सबसे बड़ा परिवर्तन सम्प्रभु राज्यों की संख्या में व द्धि का होता है। यह कार्य 1918 ई० में हैप्सबर्ग तथा ऑटोमन साम्राज्यों के भंग होने के पश्चात् भी, बहुत छोटे पैमाने पर हुआ था। एक पीढ़ी के पश्चात् यही प्रक्रिया, यूरोपीय साम्राज्य के भंग होने होने के साथ ही, विश्व-व्यापी स्तर पर विकसित हुई। यह प्रक्रिया काफी हद तक 25 वर्ष में पूरी हो गई थी। यद्यपि नामीबिया जैसे कुछ देशों को कुछ और समय तक संघर्ष करना पड़ा था। उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया का काल शीत युद्ध से प्रभावित था। अतः यह स्वाभाविक था कि नए राज्यों पर नए अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश का प्रभाव पड़ता। शीतयुद्ध का आधार विश्व का दो शक्ति गुटों में विभाजित होना था। इसलिए नवोदित देशों से यह अपेक्षा थी कि वे दोनों में से किसी एक गुट में अवश्य शामिल होंगे; परंतु जवाहरलाल नेहरू की पहल पर, भारत की भांति, अनेक नवोदित देशों ने स्वतंत्र विदेश नीतियाँ अपनाने तथा दोनों शक्ति गुटों में से किसी में भी शामिल न होकर गुट-निरपेक्ष नीति पर चलने का निर्णय लिया। इन नवोदित देशों को त तीय विश्व इसलिए कहा गया क्योंकि इन्होंने दोनों गुटों अथवा दो विश्वों से स्वयं को अलग रखा। अतः उपनिवेशवाद उन्मूलन प्रक्रिया ने त तीय विश्व के उदय में प्रत्यक्ष भूमिका निभाई थी।

एशिया और अफ्रीका में औपनिवेशिक राज्यों में उपनिवेशों के विकास के लिए कोई प्रयास नहीं किया, इसका परिणाम यह

हुआ कि ये उपनिवेश अविकसित या अल्पविकसित अवस्था में ही रहे। उनके विकास की गति धीमी रहने के लिए हमें केवल औपनिवेशिक देशों को ही दोषी नहीं मानना चाहिए। इसके लिए स्वयं कुछ उपनिवेश भी जिम्मेदार थे, या उनकी स्थिति ऐसी थी कि वे तीव्र गति से विकास नहीं कर पाये। अफ्रीका में कबीलावाद, राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। कबीलावाद और परम्परागत मान्यताएँ, जिनको उपनिवेशवादी शक्तियाँ प्रोत्साहित करती रही, न केवल अफ्रीकी राष्ट्रवाद के मार्ग में रूकावट बन जाती है बल्कि क्षेत्रीय व विभिन्न राज्यों की आन्तरिक अस्थिरता और फूट का भी यह कारण है। आर्थिक पिछड़ापन और विदेशी कम्पनियों द्वारा आर्थिक शोषण भी यहाँ विकास में बाधक है। अफ्रीकी राष्ट्र उस समय तक प्रगति नहीं कर सकते, जब तक अफ्रीकी अर्थव्यवस्था पर विदेशी प्रभुत्व कायम है।

उपनिवेशवाद की समाप्ति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक क्रान्ति की संज्ञा दी गई है। इस क्रान्ति के अनेक कारण थे। रोनल्ड़ रोबिन्सन तथा रोजन लुई द्वारा विकसित एक प्रतिमान के आधार पर लुन्देस्ताद ने सभी कारणों की तीन विभिन्न स्तरों पर समीक्षा की है। ये तीन स्तर हैं-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर, राष्ट्रीय स्तर (औपनिवेशिक शक्तियाँ) तथा स्थानीय स्तर (उपनिवेश)। इन तीनों ही स्तरों पर विभिन्न कारणों ने उपनिवेशवाद उन्मूलन को योगदान दिया।

1. **अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर परिवर्तन (Change at the International Level):** परम्परागत औपनिवेशिक देशों के प्रभाव में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् तेजी से कमी आई। ब्रिटेन, फ्रांस, हॉलैण्ड तथा अन्य छोटे औपनिवेशिक देशों के हाथों से शक्ति निकलने लगी है। विश्व युद्ध के उपरांत जो दो देश महाशक्तियों के रूप में उभरे थे, वे सामान्यतया उपनिवेशवाद विरोधी थे। यद्यपि अतीत में संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी कुछ उपनिवेश प्राप्त किये थे, फिर भी सिद्धान्त रूप से औपनिवेशिक व्यवस्था बनाये रखने के विरूद्ध था। वर्ष 1898 ई० में अमरीकी-स्पेनिश युद्ध के परिणामस्वरूप, अमेरिका ने फिलीपीन्स द्वीपसमूह को उपनिवेश के रूप में प्राप्त किया था। यही अमेरिका का सबसे प्रमुख उपनिवेश था। राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट निश्चित रूप से उपनिवेशवाद के तीव्र आलोचक थे। उन्होंने 1935 ई० में ही फिलीपीन्स को स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया था। किंतु 1939 ई० में युद्ध आरंभ हो जाने पर अमेरिका ने फिलीपीन्स की स्वाधीनता के लिए कोई कदम नहीं उठाए। आत्मनिर्णय के सिद्धान्त में अमरीकी विश्वास उसके द्वारा उपनिवेशों को अपने कब्जे में रखने से मेल नहीं खाता था। वह मूल रूप से उपनिवेशवाद के विरूद्ध था। जिस प्रकार अठारहवीं शताब्दी में अमेरिका ने स्वयं को ब्रिटिश साम्राज्य से स्वतंत्र कर लिया था, उसी प्रकार अन्य उपनिवेश भी स्वतंत्र होने चाहिए थे। सोवियत गुट द्वारा अमेरिका के विरूद्ध साम्राज्यवादी होने के आरोप लगाने के बावजूद अमेरिका उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया को तेज करना अपना कर्त्तव्य मानता था।

   फिलीपीन्स की स्वतंत्रता के संबंध में तो अमेरिका ने उस उपनिवेश के नेताओं से भी अधिक प्रगतिशील द ष्टिकोण अपनाया। फिलीपीन्स 1946 ई० में स्वतन्त्र हो गया। इस प्रकार, संयुक्त राज्य अमेरिका पहला देश था, जिसने द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् एक अश्वेत उपनिवेश को स्वतन्त्रता प्रदान की। इस उदाहरण के कई अच्छे प्रभाव हुए। अमरीकी प्रशासन ने यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों पर उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया को तेज करने के लिए दबाव डालना जारी रखा। रूजवेल्ट तो युद्ध के दौरान ही ब्रिटेन पर ऐसे सुधार लागू करने के लिए दबाव डाल रहा था, जिससे भारत के शीघ्र स्वाधीन होने में सहायता मिली। संयुक्त राज्य अमेरिका उन औपनिवेशिक शक्तियों पर विशेष दबाव डाल रहा था, जो अधिक शक्तिशाली देश नहीं थे। फिर भी अमेरिका ने हॉलैण्ड की सरकार पर उनके उपनिवेश इण्डोनेशिया की स्वतंत्रता के लिए 1948-49 ई० से पूर्व दबाव नहीं डाला।

   सोवियत संघ की नीति भी स्पष्ट रूप से उपनिवेशवाद विरोधी था। सोवियत संघ इस बात पर बल दे रहा था कि सभी उपनिवेशों को शीघ्र स्वतन्त्र किया जाए किंतु सोवियत संघ के वे गणराज्य, जो एशिया में थे, कभी भी सोवियत नियंत्रण से मुक्ति की आशा नहीं करते थे। वैसे भी गणराज्य औपचारिक अर्थ में तो उपनिवेश थे ही नहीं। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अन्तिम चरण था। इसलिए वैचारिक आधार पर भी सोवियत संघ की उपनिवेशवाद उन्मूलन के प्रति वचनबद्धता थी। इसके लिए वह स्वतन्त्रता संघर्षों को समर्थन देने के वास्ते प्रतिबद्ध था। परंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सोवियत संघ विभिन्न उपनिवेशों के अनेक स्वतंत्रता-संघर्षरत नेताओं को पश्चिम का अनुचर (Western lackeys) कहने लगा था। भारत के स्वतंत्रता संग्राम के अनेक नेताओं को भी इसी श्रेणी में रखा गया था। इस द ष्टिकोण के कारण बहुधा स्थानीय साम्यवादियों तथा स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं के मध्य संघर्ष उत्पन्न हुए। उन उपनिवेशों को सोवियत संघ ने अधिक समर्थन दिया, जिसमें स्वतन्त्रता आंदोलन का नेत त्व साम्यवादियों अथवा अन्य

वामपंथियों के हाथों में था। उसने उन देशों के राष्ट्रीय आंदोलनों में विशेष रूचि नहीं दिखाई, जहाँ गैर-साम्यवादी इन आन्दोलनों का नेत त्व कर रहे थे। इस द ष्टिकोण का औपनिवेशिक शक्तियों की नीतियों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। कई औपनिवेशिक देशों ने अपने उपनिवेशों में ऐसे सुधार लागू किए, जिनसे उनके स्वतंत्रता आन्दोलन साम्यवादियों के प्रभाव में न आ जाएँ। अतः लुन्देस्ताद के अनुसार, "सोवियत संघ ने नीतियों और मात्र अपने अस्तित्व, दोनों के द्वारा औपनिवेशिक शक्तियों की गतिविधियों को प्रभावित किया।" यदि किसी उपनिवेश में स्वतंत्रता आन्दोलन साम्यवादियों के नियंत्रण में आ गया, तो औपनिवेशिक देशों ने वहाँ उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया की गति धीमी कर दी। यही हिन्दचीन में फ्रांस के द ष्टिकोण के विषय में हुआ क्योंकि हिन्दचीन साम्यवादियों के प्रत्यक्ष नियंत्रण में आ गया था।

लैटिन ने मैण्डेट प्रदेशों की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन दिया था। इराक को ब्रिटेन ने 1932 ई० में ही स्वतंत्र कर दिया था। वह ब्रिटेन का एक मैन्डेट थी। उसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र ने उपनिवेशों तथा इसकी न्यास व्यवस्था के अधीन न्यास प्रदेशों की स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करवाने में प्रशंसनीय भूमिका निभाई।

2. **औपनिवेशिक शक्तियों के आन्तरिक परिवर्तन (Change within the Colonial Powers):** ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, पुर्तगाल तथा हॉलैण्ड यूरोप के प्रमुख औपनिवशिक देश थे। ब्रिटिश साम्राज्य संसार में सबसे बड़ा था और विश्व के विभिन्न भागों में फैला हुआ था। इसीलिए यह कहा जाता था कि ब्रिटिश साम्राज्य में कहीं सूर्य अस्त ही नहीं होता था। वर्ष 1945 ई० के पश्चात् विभिन्न औपनिवेशिक देशों की क्षमता और इच्छा में, उपनिवेशों को अपने-अपने साम्राज्य में बनाए रखने के संबंध में, महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यद्यपि ब्रिटेन और फ्रांस द्वितीय विश्व युद्ध में विजयी अवश्य रहे थे, फिर भी उपनिवेशों पर शासन करते रहने की उनकी क्षमता में निश्चित तौर पर कमी हुई थी। इस पर इन देशों की कमजोर हुई अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का प्रभाव पड़ा। उनकी आर्थिक समस्याएँ गंभीर हो गई थी तथा उनको शक्तिहीन बनाने में अन्य अनेक कारणों ने भी योगदान किया था। इन देशों के संसाधनों में तो कोई विशेष कमी नहीं हुई थी, फिर भी उपनिवेशवाद के विरूद्ध शक्तिशाली जनमत ने उनकी इच्छा शक्ति को अवश्य निर्बल बना दिया था। उपनिवेशों को अपने अधीन रखने के लिए बल प्रयोग को अब उचित नहीं माना जाता था परंतु बल प्रयोग के बिना उपनिवेशों को अधिक समय तक दासता में नहीं रखा जा सकता था, चाहे कुछ उपनिवेशों की जनता का एक भाग शासकों का समर्थन ही क्यों न करता हो।

i. **ब्रिटिश उपनिवेश** (British Colonies): उपनिवेशवाद उन्मूलन का एक सिद्धान्त यह था कि औपनिवेशिक साम्राज्यों के विघटन की तर्क संगत प्रक्रिया स्वतन्त्रता आन्दोलनों की सफलता के लिए उत्तरदायी थी। यह तर्क दिया गया कि ब्रिटिश साम्राज्य के समापन की प्रक्रिया तो उसी समय आरंभ हो गई थी, जब 1776 ई० में ब्रिटेन के 13 अमरीकी उपनिवेशों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। अमेरिकी की स्वाधीनता के पश्चात् स्वतन्त्रता की इस प्रक्रिया में ब्रिटिश साम्राज्य के श्वेत उपनिवेशों अर्थात् कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड एवं दक्षिण अफ्रीका को आन्तरिक स्वाधीनता प्राप्त हुई, जो 1931 ई० में पूर्ण स्वतन्त्रता में परिवर्तित हो गई। दक्षिण अफ्रीका को श्वेत उपनिवेश इसलिए कहा गया क्योंकि वहाँ पर श्वेत अल्पसंख्यकों का शासन था। स्पेन का साम्राज्य तो नेपोलियन युद्धों के पश्चात् बिखरना आरंभ हो गया था। भारत की स्वतन्त्रता को 'इतिहास की सीढ़ी का अगला कदम' कहा गया है। भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही अश्वेत उपनिवेशों की स्वतन्त्रता की कड़ी बन गयी। 1947 ई० में भारत की स्वतन्त्रता और दो राज्यों में विभाजन के कुछ ही महीने पश्चात् 1948 ई० के आरम्भिक महीनों में श्रीलंका और बर्मा (म्यांमार) भी स्वतंत्र हो गए। उसके पश्चात् स्वतन्त्रता की लहर अफ्रीका पहुँची। ब्रिटेन ने जिस प्रक्रिया को आरंभ किया था, उसे फ्रांस, हॉलैण्ड, बेल्जियम और अन्ततः और पुर्तगाल ने पूरा किया।

ब्रिटेन के एशिया और अफ्रीका के उपनिवेशों को निम्न कालक्रमानुसार उपनिवेशवाद से मुक्ति प्राप्त हुई-

क्र.स.	नाम देश	स्वतंत्र होने की तिथि
1.	कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड एवं दक्षिण अफ्रीका 1931 में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुके थे।	
2.	**एशिया के देश**	
	1. पाकिस्तान	14 अगस्त, 1947
	2. भारत	15 अगस्त, 1947

contd...

3.	बर्मा (म्यांमार)	4 जनवरी, 1948
4.	लंका	फरवरी, 1948
5.	मलय	31 अगस्त, 1957

3. अफ्रीकी देश

1.	अबीसीनिया, साइबेरिया, मिस्र और दक्षिण अफ्रीका संघ	द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व स्वतन्त्र हो चुके थे
2.	सूडान	1 जनवरी, 1956
3.	घाना	6 मार्च, 1957
4.	संयुक्त राज्य अमेरिका	1959
5.	सोमालिया	1 जुलाई, 1960
6.	नाइजीरिया	1 अक्टूबर, 1960
7.	तंजानिया	दिसम्बर, 1961
8.	युगाण्डा	अक्टूबर, 1962
9.	केन्या	दिसम्बर, 1963
10.	जंजीबार	दिसम्बर, 1963
11.	न्यासालैण्ड	1964
12.	जाम्बिया (उत्तरी रोडेशिया)	1964
13.	गाम्बिया	1964
14.	मॉरिशस	मार्च, 1958
15.	गुयाना	मई, 1966
16.	बोत्सवाना (बचुआनालैण्ड)	सितम्बर, 1966
17.	लिसोथो (वसूतोलैण्ड)	अक्टूबर, 1966
18.	बारबाडोस	नवम्बर, 1966
19.	ग्रिनाडा	फरवरी, 1974
20.	रोशेल्स	जून, 1976
21.	जिम्बाब्वे (रोडेशिया)	अप्रैल, 1980
22.	वेलीज	सितम्बर, 1981
23.	एण्टिगुआ	अक्टूबर, 1982

इन उपनिवेशों के अतिरिक्त हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर में अनेक द्वीपों पर ब्रिटेन ने अपना आधिपत्य स्थापित कर रखा है, जिसमें बरूनी, वेलीज, जिब्राटर, बरमूदा, फॉकलैण्ड, पिटकैरन द्वीप, ब्रिटिश वर्जिन द्वीप, टर्क्स और कायकोस द्वीप, कैमान द्वीप, मांटसेराट, सेन्ट हैलिना आदि मुख्य हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन की शक्ति में अपेक्षाक त कमी होने पर भी वह राष्ट्रकुल का केन्द्र बना रहा और उसके द्वारा वह विश्व के मामलों में काफी प्रभाव रखता था। फिर भी राष्ट्रकुल में एकता बनाये रखने के लिए ये सम्बन्ध कितने सुद ढ़ थे, इसका अनुमान लगाना कठिन है। 1945 ई० के बाद ये सम्बन्ध परिवर्तित एवं शिथिल होते प्रतीत हुए। स्वायत्तशासी राज्य पूर्णतया स्वायत्तशासी है; यह स्पष्ट करने के लिए ब्रिटेन की सरकार को "संयुक्त राज्य में सम्राट की सरकार" की संज्ञा दी है। 1886 ई० के बाद कनाडा के निवासी ब्रिटिश प्रजा न होकर

कनाडा के नागरिक थे। 1949 ई० में न्यूफाउण्डलैण्ड (जहाँ पर 1933 ई० से ही ब्रिटेन द्वारा नियुक्त एक शाही-आयोग शासन करता था) कनाडा का 10वां प्रान्त बन गया। 1948 ई० में बर्मा राष्ट्रकुल से पूरी तरह अलग हो गया और आयरलैण्ड जनतंत्र ने 1949 ई० में ब्रिटेन से अन्तिम रिश्ता तोड़ लिया। भारतीय संघ राज्य, जो 1947 ई० में स्वतंत्र हुआ, 1950 ई० में सार्वभौम जनतान्त्रिक गणराज्य बन गया। लेकिन वह राष्ट्रकुल में बना रहा तथा उसने ब्रिटेन के सम्राट को राष्ट्रकुल के स्वतंत्र सदस्य राष्ट्रों का प्रतीक एवं अध्यक्ष माना। पाकिस्तान, जो 1956 ई० में इस्लामी-गणतंत्र बना, राष्ट्रकुल में बना रहा तथा उसने ब्रिटेन को अपने नौ-सैनिक एवं वैमानिक अड्डों का प्रयोग करने दिया। लेकिन बाद में 1957 के एक समझौते के अनुसार ये अड्डे 3 से 5 वर्ष में खत्म कर दिये जाने थे।

इसलिए ब्रिटेन अपनी सुरक्षा के लिए आंशिक रूप में इंग्लैण्ड और उसकी भूतपूर्व बस्तियों के वर्तमान असंगठित सम्बन्धों पर आधारित रहा। इन संबंधों की परीक्षा की एक घड़ी 1956 ई० में सामने आई, जब इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री सर एन्थोनी ईडन ने (जो 1955 ई० में चर्चिल के बाद प्रधानमंत्री बने) स्वेज नहर पर कब्जा करने के लिए मिस्त्र के विरूद्ध सशस्त्र कार्यवाही करने का खतरा उठाया। ब्रिटेन और फ्रांस की सेना ने नहर पर कब्जा करने का प्रयास किया था। लेकिन अमेरिका, रूस तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकांश सदस्यों के विरोध के कारण उन्हें पीछे हटना पड़ा। राष्ट्रकुल की द ढ़ता के परीक्षण की इस घड़ी में स्वशासित सदस्य राज्यों में जनमत विभाजित था तथा आंग्ल-फ्रांसीसी आक्रमण को एक ऐसी भूल माना गया, जिसका प्रारम्भ और जिसकी क्रियान्विति दोनों ही दोषपूर्ण थे। इससे स्पष्ट है कि औपनिवेशिक शक्तियों ने एक-दूसरे की नीतियों को अवश्य प्रभावित किया था, फिर भी उनमें मूल भेद थे। उदाहरण के लिए, जिस प्रकार के सुधार अंग्रेजों ने भारत में लागू किए थे, वैसे सुधार किसी अन्य उपनिवेश में किसी अन्य औपनिवेशिक देश ने लागू नहीं किए। इसके अतिरिक्त, इसमें भी संदेह है कि सुधार लागू करते समय क्या ब्रिटेन का इरादा सचमुच में भारत को स्वतंत्रता देने का था, या नहीं। शायद उनका मन्तव्य ऐसी आधारशिला तैयार करना था, जिसके द्वारा वे भारत तथा अन्य उपनिवेशों पर अपना नियंत्रण और भी मजबूत कर सके।

द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व तथा उसके दौरान औपनिवेशिक देशों के अधिकांश नेताओं ने अनुमान भी नहीं लगाया था कि युद्ध के बाद इतनी तेजी से उपनिवेशवाद का अन्त होगा। ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने 1942 ई० में घोषणा की थी कि वह इसलिए प्रधानमंत्री नहीं बने थे कि ब्रिटिश साम्राज्य के समापन की अध्यक्षता करें। फिर भी, अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के कारण ब्रिटेन ने अगले पाँच वर्षों में ही भारत को स्वतंत्र कर दिया। इस बीच ब्रिटेन में सत्ता परिवर्तन ही नहीं हुआ था, बल्कि उसकी क्षमता में भी कमी हो गई थी। यहाँ तक की अफ्रीका के संबंध में लेबर पार्टी के उप-नेता हर्बट मारीसन ने कहा था कि ब्रिटेन के अफ्रीकी उपनिवेशों को स्वतंत्रता देने का अर्थ होगा, "जैसे कि एक दस वर्ष के बालक को ताले की चाबी, बैंक का खाता और एक बन्दूक दे देना।" फ्रांस और पुर्तगाल तो विश्व युद्ध के काफी बाद तक यह आशा कर रहे थे कि उनके उपनिवेशों के, उनके साथ स्थायी सम्बन्ध बने रहेंगे।

ब्रिटेन के लेबर प्रधानमंत्री एटली ने यह घोषणा (1947 ई० के आरम्भ में) कर दी थी कि भारत को जून, 1948 तक स्वतंत्र कर दिया जायेगा परंतु घटनाक्रम इतनी तीव्र गति से चला कि भारत का विभाजन करके भारत और पाकिस्तान को अगस्त, 1947 में ही स्वतंत्र कर दिया गया। उस समय भी ब्रिटेन के औपनिवेशिक प्रशासन ने यह उपेक्षा नहीं की थी कि शीघ्र ही अफ्रीका में भी उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया आरम्भ हो जायेगी। यह आशा की जा रही थी कि उपनिवेशवाद का अंत होने में कई दशक लग सकते हैं। सन् 1945 में ब्रिटेन के किसी भी अफ्रीकी उपनिवेश में किसी भी एक राजनीतिक दल का उद्देश्य पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना नहीं था। फिर भी घटनाएँ इस प्रकार घटित हुई कि पश्चिमी अफ्रीका में गोल्ड कोस्ट, (घाना के नए नाम से) 1958 ई० में स्वतंत्र हो गया। दो वर्ष पश्चात् 1960 ई० में नाईजीरिया को भी स्वाधीनता प्राप्त हो गई।

पूर्वी तथा पश्चिमी अफ्रीका में अनेक भिन्नताएँ पूर्वी अफ्रीका के उपनिवेश कीनिया तथा टांगानिका (आधुनिक तन्जानिया) में श्वेत अल्पसंख्यकों की संख्या काफी अधिक थी परंतु विकास का स्तर उतना विकसित नहीं था, जितना पश्चिमी अफ्रीकी उपनिवेशों में था। इन देशों में विदेशियों की संख्या में भी व द्धि हो रही थी। ब्रिटिश सरकार के उपनिवेश मंत्री बायड ने कहा था कि वह "उस समय का अनुमान भी नहीं लगा सकता था, वह ब्रिटिश सरकार के लिए यह संभव हो सकेगा कि वह कीनिया के भविष्य और उसकी कुशलता के उत्तरदायित्व का त्याग कर सके।" ब्रिटेन की अनुसार दल की सरकार चाहती थी कि पूर्वी और केन्द्रीय अफ्रीका में ऐसे संघ राज्यों की रचना की जाये, जिनमें नियंत्रण का आंशिक अधिकार श्वेतों के पास भी हो। स्वतंत्रता आंदोलनों ने अचानक गति पकड़ी और 1961 ई० में तन्जानिया स्वतंत्र हो गया। इसके पश्चात् 1962 ई० में युगाण्डा, तथा 1963 ई० में कीनिया को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। मलावी और जाम्बिया 1964 ई० में स्वाधीन हो गए। उस समय केवल दक्षिणी रोडेशिया ब्रिटेन का एकमात्र शेष उपनिवेश रह गया। उस देश की इयान स्मिथ के नेत त्व वाली श्वेत अल्पसंख्यक सरकार ने 1965 ई० में स्वतंत्रता की एक तरफा घोषणा कर दी। इसका उद्देश्य यह प्रतीत हुआ कि सत्ता को बहुसंख्यक अश्वेतों के हाथों में न जाने दिया जाए। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आन्दोलन में तेजी आई, वैसे-वैसे पश्चिमी देशों ने श्वेत अल्पसंख्यक सरकार पर दबात बढ़ाना शुरू कर दिया। अन्ततः अल्पसंख्यक सरकार को सत्ता छोड़नी पड़ी और 1979-80 ई० में दक्षिण रोडेशिया ने, जिम्बाब्वे के नाम से पूर्ण और वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका नामक भूतपूर्व जर्मनी उपनिवेश को 1919 ई० में दक्षिण अफ्रीका का मैण्डेट घोषित किया गया था। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के पश्चात् महासभा के बार-बार कहने पर तथा सशक्त विश्व-व्यापी जनमत के बावजूद दक्षिण अफ्रीका की श्वेत अल्पसंख्यक सरकार उसको स्वतंत्र करने के लिए सहमत ही नहीं हो रही थी। दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका के लोगों ने अपने देश को नामीबिया नाम दे दिया था। नामीबिया के लोगों को अपनी स्वतंत्रता के लिए लम्बा और कठिन संघर्ष करना पड़ा। अन्ततः 1990 ई० में संघर्ष और जनमत के समक्ष झुककर दक्षिण अफ्रीका ने नामीबिया को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। इसके साथ उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया लगभग समाप्त हो गई। इस बीच जाति भेद की कठोर नीति पर चलते रहने के कारण दक्षिण अफ्रीका पर अधिकांश देशों ने आर्थिक प्रतिबंध लगाए हुए थे। वर्ष 1985 ई० तक दक्षिण अफ्रीका की श्वेत सरकार ने सर्वदलीय और सर्वजातीय चुनाव करवाने का निर्णय लिया। इन चुनावों के फलस्वरूप 1993 ई० में दक्षिण अफ्रीका के बहुसंख्यक लोगों के लोकप्रिय राष्ट्रवादी नेता नेल्सन मण्डेला देश के राष्ट्रपति बने। इसके साथ ही 1993 ई० में उपनिवेशवाद उन्मूलन तथा जातिभेद उन्मूलन की प्रक्रिया सम्पन्न हुई।

ii. **फ्रांसीसी उपनिवेश** (French Colonies): द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व पूर्वी एशिया में फ्रांस का विस्त त साम्राज्य विद्यमान था, जिसे इण्डोचायना या हिन्दचीन कहते थे। इण्डोचायना फ्रांस के उसी प्रकार अधीन था, जैसे कि भारत और बर्मा ब्रिटेन के। जून, 1940 में फ्रांस जर्मनी द्वारा परास्त कर दिया गया था और पेरिस नाजी सेनाओं के कब्जे में आ गया था। फ्रांस में कतिपय ऐसे राजनीतिक नेता मौजूद थे, जो दिल से नाजी विचारधारा के साथ सहानुभूति रखते थे। मार्शल पेतां और श्रीलवाल इन लोगों के प्रधान नेता थे। इन्होंने फ्रांस में एक नई सरकार का गठन किया और विशी को अपनी राजधानी बनाया। फ्रांस की इस नई सरकार ने 21 जून, 1940 को हिटलर के प्रतिनिधियों से संधि कर ली। फ्रांस जर्मनी के अधिकार में आ गया था, पर उसका विशाल साम्राज्य अभी जर्मनी की पहुँच से बहुत दूर था। जो फ्रेंच लोग मार्शल पेतां की नीति से असंतुष्ट थे, उनका नेता जनरल द-गाल था। ये लोग ब्रिटेन में एकत्र हुए और वहाँ इन्होंने आजाद फ्रेंच सरकार का गठन किया। द-गाल ने प्रयत्न किया कि फ्रांस के विशाल साम्राज्य के विविध प्रदेश आजाद फ्रेंच सरकार का साथ दें। पर मार्शल पेता की सरकार यह नहीं चाहती थी। उसका विचार था कि अब फ्रेंच लोगों को महायुद्ध में पूर्णतया तटस्थ रहना चाहिए और जर्मनी के साथ जो संधि हुई है, उसका अविकल रूप से पालन करना चाहिए। इण्डोचाइना के गर्वनर जनरल श्री कार्तू ने जनरल द-गाल का साथ देने का निर्णय किया। इस पर विशी सरकार ने उसे पदच्युत कर दिया और श्रीदेकू का इण्डोचाइना का नया गर्वनरजनरल नियुक्त किया। इण्डोचायना में देकू के शासन की सत्ता अब जापान की क पा व सहयोग पर ही निर्भर थी।

फ्रांस के एशिया और अफ्रीका के उपनिवेशों को निम्न कालक्रमानुसार स्वतंत्रता प्राप्त हुई-

क्र.स.	नाम देश	स्वतंत्र होने की तिथि
एशियाई देश		
इण्डोचायना		
1.	वियतनाम (दक्षिण एवं उत्तरी)	21 जुलाई, 1954
2.	लाओस	21 जुलाई, 1954
3.	कम्बोडिया	9 नवम्बर, 1953
अफ्रीकी देश		
1.	मोरक्को	मार्च, 1956
2.	ट्यूनिशिया	मार्च, 1956
3.	गिनी	अक्टूबर, 1958
4.	कैमरून	जनवरी, 1960
5.	टोगोलैण्ड	अप्रैल, 1960
6.	माली संघ	जुलाई, 1960
7.	मेलागासी गणराज्य	जुलाई, 1960
8.	चाड़	अगस्त, 1960
9.	नाइजर	अगस्त, 1960
10.	आइवर कोस्ट	अगस्त, 1960
11.	बोल्टाई गणराज्य	अगस्त, 1960
12.	गेबोन	अगस्त, 1960
13.	दहोगील	अगस्त, 1960
14.	मारिटारिया	नवम्बर, 1960
15.	सियरा लियोन	अप्रैल, 1961
16.	अल्जीरिया	सितम्बर, 1962

इण्डोचायना के संबंध में फ्रांस की नीतिः फ्रांस की औपनिवेशिक नीति ब्रिटिश नीति से बिल्कुल भिन्न थी। ब्रिटिश संसद ने भारत जैसे उपनिवेशों में निचले स्तर पर कुछ सुधार लागू किये थे ताकि उन्हें स्वशासन का अनुभव प्राप्त हो सके। दूसरी ओर, फ्रांस ने उपनिवेशों की जनता के फ्रांसीसी संस्क ति में समांगीकरण (assimilation) का प्रयास किया। फ्रांसी की नीति पेरिस को केन्द्र मानकर बनाई गई थी। फ्रांस ऐसा संघ बनाना चाहता था, जिसमें स्थानीय जनता राष्ट्रीय सभा के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करेगी और जिसका नियन्त्रण एवं निर्देशन पेरिस से होगा। फ्रांस के संघ में उपनिवेशों की जनता के समांगीकरण के लिए फ्रांस बल प्रयोग करने के लिए भी तैयार था। फ्रांस ने 1946 ई० में वियतनाम के हैफांग नगर से वियतमिन्ह सैनिकों को बाहर निकालने के लिए जब बमबारी की, तो उसके परिणामस्वरूप कई हजार वियतनामी मारे गये। 1947 ई० में मैडागास्कर में एक राष्ट्रवादी विद्रोह को दबाने के लिए फ्रांसीसी सैन्य बलों ने 80 हजार नागरिकों को मौत के घाट उतार दिया था। फ्रांस का विचार था कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अन्त का उनके उपनिवेशों पर कोई विशेष प्रभाव पड़ने वाला नहीं था। फ्रांस को विश्वास था कि ब्रिटिश उपनिवेशों के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् भी वह अपना औपनिवेशिक शासन बनाए रख सकेगा। फ्रांस ने इण्डोचायना के संबंध में जिस नीति का निर्धारण किया, उसके मूल तत्त्व इस प्रकार हैं-

a. फ्रांस के विशाल साम्राज्य को एक यूनियन के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए, जिसमें फ्रांस के अतिरिक्त उसके अधीनस्थ देश शामिल हो।

b. इण्डोचायना इस फ्रेंच यूनियन का एक अंग हो।

c. इण्डोचायना के चार संक्षिप्त राज्यों और कोचीन-चायना को मिलाकर एक फेडरेशन बनाया जाए और इस फेडरेशन में राजकीय पदों को प्राप्त करने का इण्डोचायना के सब नागरिकों को समान रूप से अवसर प्रदान किया जाए।

d. इण्डोचायना फेडरेशन की विदेश नीति और सेना का संचालन फ्रेंच सरकार के हाथों में रहे। राज्यों के आन्तरिक शासन के संबंध में इण्डोचायनीज फेडरेशन को स्वतंत्रता प्राप्त रहे।

e. फ्रेंच यूनियन में सर्वत्र सरकारी नौकरी प्राप्त करने का यूनियन के सब नागरिकों को समान रूप से अवसर हो।

फ्रांसीसी यूनियन की यह योजना ब्रिटिश कॉमन-वेल्थ की योजना से अनेक अंशों में मिलती थी। विश्व युद्ध के बाद फ्रांस के लिए यह संभव नहीं रहा था कि वह इण्डोचायना आदि साम्राज्यान्तर्गत देशों पर पहले के समान अपना आधिपत्य स्थापित रख सके। अतः उसने फ्रेंच यूनियन की योजना तैयार की थी, जिसके द्वारा इण्डोचायना आदि देशों को अपने आन्तरिक शासन के संबंध में बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती थी; पर विदेशी मामलों और सेना पर उनका नियन्त्रण नहीं होता था। यह संभव नहीं था कि इण्डोचायना के राष्ट्रवादी नेता फ्रेंच यूनियन की योजना को स्वीक त कर सकते। वे पूर्ण स्वतंत्रता चाहते थे। उनमें राष्ट्रीय स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद की भावना इस हद तक विकसित हो चुकी थी कि वे फ्रांस के आधिपत्य को आंशिक रूप में भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे।

फ्रांस के आधिपत्य की पुनःस्थापना: 1945 ई० में जापान ने अपनी सेनाओं को धीरे-धीरे दक्षिण-पूर्वी एशिया से हटाना शुरू किया, तो मार्च में इण्डोचायना से भी उसने अपनी सेनाएँ वापस बुला ली। जापानी सेनाओं के वापस चले जाने पर श्री देकू के लिए यह संभव नहीं रहा कि वह इण्डोचायना में फ्रांस के प्रभुत्व को स्थापित रख सके। इस स्थिति में राष्ट्रवादी देशभक्तों ने इण्डोचायना की राष्ट्रीय स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और 'विएतमिन्ह' नाम से अपनी स्वतंत्र सरकार का गठन कर लिया। इस सरकार का नेता हो-ची-मिन्ह थी, जो कट्टर राष्ट्रवादी होने के साथ-साथ साम्यवाद का पक्षधर था।

हो-ची-मिन्ह ने अनाम के राजा बाओदाई की उपेक्षा कर इण्डोचायना में 'विएतनाम' नाम से रिपब्लिकन राज्य की घोषणा कर दी और अपने को फ्रांसीसी आधिपत्य से पूर्णतः मुक्त कर लिया। लम्बे संघर्ष के पश्चात् 1954 के जिनेवा सम्मेलन में फ्रांस ने हिन्दचीन या इण्डोचायना की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली। इस सम्मेलन को फ्रांस की राजनीतिक और सैनिक पराजय माना गया। हिन्दचीन के घटनाचक्र ने फ्रांस को अपने फ्रांसीसी उपनिवेशों पर अधिकार बनाए रखने के लिए और भी द ढ़ संकल्प कर दिया। ब्रिटिश उपनिवेशवाद उन्मूलन के उदाहरण की अवहेलना नहीं की जा सकती थी। शक्तिशाली स्वतंत्रता संघर्ष के फलस्वरूप फ्रांस को, 1956 ई० में उत्तर अफ्रीका के दो उपनिवेशों ट्यूनीसिया तथा मोरक्को को स्वतंत्रता प्रदान करनी ही पड़ी। सहारा के उत्तर और दक्षिण के उपनिवेशों के विकास स्तर में भारी अन्तर के बावजूद टोगो नामक फ्रांसीसी न्यास प्रदेश में अनेक रियायतें देनी पड़ी। फ्रांस को 1956 ई० में भी यह आशा थी कि वह अफ्रीका में अन्य उपनिवेशों को अपने अधीन रख सकेगा। फ्रांस के शेष उपनिवेशों में सुधार लागू किए गए, फ्रांस की संसद में उन्हें अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया तथा स्थानीय विधान सभाओं को अधिक शक्तियाँ प्रदान की गयी। लेकिन अन्ततः फ्रांस को औपनिवेशिक जनता के समांगीकरण की नीति त्यागनी पड़ी।

फ्रांस को सबसे अधिक समस्या अल्जीरिया में हुई। उस उपनिवेश में लगभग दस प्रतिशत फ्रांसीसी लोग रहते थे परंतु इन फ्रांसीसियों के अधिकार में अल्जीरिया की सर्वश्रेष्ठ क षि योग्य भूमि थी तथा अर्थव्यवस्था के सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों पर भी उनका नियंत्रण था। अल्जीरिया की अरब जनसंख्या के फ्रांसीसी संस्क ति में समांगीकरण के सभी प्रयास विफल हो गए थे। 1954 ई० में जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन प्रारंभ हुआ था, यह 1956 ई० में

उस समय और भी शक्तिशाली हो गया, जब 1956 ई० के स्वेज संकट में फ्रांस की सैनिक कार्यवाही असफल रही और उसे विश्व-व्यापी आलोचना का सामना करना पड़ा। जिस प्रकार स्वेज में फ्रांस असफल रहा था, वैसे ही अल्जीरिया में भी अवश्य विफलता होनी थी। 1958 ई० में जब जनरल द-गाल फ्रांस के राष्ट्रपति बने, तब यह निर्णय किया गया कि 'फ्रांस के संघ' (French Union) को 'फ्रांसीसी समुदाय' (French community) में परिवर्तित कर दिया जाए। उपनिवेशों को दो विकल्प दिये गए-वे चाहें तो स्वतंत्र हो सकते थे अन्यथा फ्रांसीसी समुदाय में रहकर अधिकतम स्वायत्तता का लाभ उठा सकते थे। उस समय केवल गिनी (Guinea) ने स्वतंत्रता का विकल्प चुना। नए फ्रांसीसी समुदाय ने समान विदेश, रक्षा तथा आर्थिक नीतियाँ अपनाने का निर्णय किया। नीति निर्धारण करने वाले निकाय में सदस्य देशों के राष्ट्रपति शामिल किए गए परंतु फ्रेंच सरकारी भाषा बनी रही, फ्रांस की राष्ट्र धुन Marseillaise समुदाय की राष्ट्र धुन मानी गई तथा फ्रांस का तिरंगा झण्डा समुदाय का राष्ट्र ध्वज स्वीकार किया गया परंतु दो वर्ष की अवधि में ही उपनिवेशों में स्वतंत्रता की प्रक्रिया आरंभ हो गई। गिनी की स्वतंत्रता के उदाहरण तथा ब्रिटिश उपनिवेशवाद उन्मूलन ने पश्चिमी अफ्रीका के फ्रांसीसी उपनिवेशों को स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। अल्जीरिया में बहुत रक्तपात हुआ और बड़ी संख्या में लोग हताहत हुए। अन्ततः 1962 ई० में राष्ट्रपति द-गाल को अल्जीरिया की स्वतंत्रता की माँग स्वीकार करनी पड़ी। ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशों की स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रक्रिया की अपेक्षा फ्रांसीसी उपनिवेशवाद उन्मूलन की प्रक्रिया में कहीं अधिक हिंसा और रक्तपात का सहारा लिया गया।

ii. **डच उपनिवेश** (Dutch Colonies): जिस प्रकार ब्रिटिश और फ्रांसीसी उपनिवेश द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्वतंत्र होने लगे थे, उसी प्रकार हॉलैण्ड के उपनिवेशों में भी स्वतंत्रता की भावना पैदा हो चुकी थी। इण्डोनेशिया के विविध द्वीप हॉलैण्ड के अधीन थे। दूसरे विश्व युद्ध के समय वहाँ भी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए उत्कृट अभिलाषा विकसित हो रही थी। मई, 1940 में यूरोप के रणक्षेत्र में हॉलैण्ड जर्मनी द्वारा परास्त कर दिया गया था और वहाँ की रानी विल्हल्मिना अपनी सरकार के साथ हॉलैण्ड छोड़कर ब्रिटेन चली आई थी। इस समय तक जापान महायुद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था, फिर भी हॉलैण्ड की पराजय का उसके साम्राज्य पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। इण्डोनेशिया में स्वाधीनता का आंदोलन अब अधिक प्रबल हो गया था। इस समय चाहिए तो यह था कि हॉलैण्ड इण्डोनेशिया के राष्ट्रवादी देशभक्तों के साथ सहानुभूति प्रकट करता और उनकी स्वाधीनता की आकांक्षा को पूर्ण कर उनकी सहायता मित्र राज्यों के लिए प्राप्त करता। किंतु हॉलैण्ड की साम्राज्यवादी सरकार (Indonasian Dutch government) ने स्वाधीनता के आंदोलन को कुचलने के लिए उग्र उपायों का अवलम्बन किया। पुलिस की शक्ति बढ़ा दी गई, अनेक देश भक्त नेताओं को गिरफ्तार किया गया और अनेक ऐसे कानून बनाये, जिसका उद्देश्य जनता को भाषण देने व अन्य प्रकार से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने से रोकना था। पह यह संभव नहीं था। अन्ततोगत्वा डच सरकार ने यह आवश्यक समझा कि इण्डोनेशिया की जनता को संतुष्ट रखने के लिए शासन में सुधार किये जाए। इस उद्देश्य से एक कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसके अध्यक्ष श्री विस्मान थे। विस्मान कमीशन का कार्य यह था कि वे पता लगाए कि ऐसे कौन-कौन से सुधार किये जा सकते हैं, जिससे जनता को संतुष्ट किया जा सके। लेकिन इण्डोनेशिया में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन प्रबल हो चुका था, वे विस्मान कमीशन के सुधारों की योजना से संतुष्ट होने वाले नहीं थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय निम्नलिखित देश डच औपनिवेशिक शासन के अधीन थे-

क्र.स.	नाम देश	जनसंख्या	स्वतंत्र होने की तिथि
1.	इण्डोनेशिया (क्षेत्रफल 7,35,865 वर्ग मील)		
	i. जावा	9,75,00,000	27 दिसम्बर, 1949
	ii. सुमात्रा		
	iii. बोर्नियो		
	iv. बाली		
	v. मदुरा		
	vi. अन्य द्वीप		

दिसम्बर, 1941 में जापान भी मित्र राज्यों के खिलाफ युद्ध में सम्मिलित हो गया। जापान का दावा था कि महायुद्ध में वह इस उद्देश्य से शामिल हुआ है ताकि पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी-एशिया से पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का अन्त कर इस क्षेत्र के सब देशों में स्वतंत्र सरकारों की स्थापना की जाए।

इण्डोनेशिया के राष्ट्रवादी देशभक्तों को जापान से बहुत आशा थी। वे अनुभव करते थे कि इस स्थिति में डच साम्राज्यवाद का अन्त किया जा सकता है। उनका मानना था कि जापान की सेनाएँ इण्डोनेशिया पर आक्रमण करके डच सेनाओं को परास्त करेंगी और उनके देश को स्वतंत्रता प्राप्त हो जायेगी।

जापानी सेनाएँ विद्युतगति से दक्षिण-पूर्वी एशिया में आगे बढ़ रही थी। इस समय प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जापान का मुकाबला कर सकने की शक्ति किसी देश में नहीं थी। डच लोगों के लिए यह संभव नहीं था कि वे जापान आक्रमण से अपने साम्राज्य की रक्षा कर सकते। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि जो विविध द्वीप हॉलैण्ड के अधीन थे, उन पर एक-एक करके हमला किया गया। जल और वायु मार्गों से जापानी सेनाएँ इन द्वीपों में प्रविष्ट हो गई और मार्च, 1942 तक सम्पूर्ण इण्डोनेशिया डच आधिपत्य से मुक्त होकर जापानी सेनाओं के कब्जे में आ गया। दक्षिण पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान इण्डोनेशिया में भी शुरू में जापान ने अपना सैनिक शासन स्थापित किया, ताकि देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रहे सके।

महायुद्ध में परास्त होकर भी हॉलैण्ड के राजनीतिक नेताओं को यह सुबुद्धि नहीं आई थी कि अब इण्डोनेशिया को अपनी अधीनता में रख सकना संभव नहीं रहा है। 6 दिसम्बर, 1942 को (जब इण्डोनेशिया हॉलैण्ड की अधीनता से मुक्त हो चुका था और वहाँ स्वतंत्र रिपब्लिक की स्थापना की जा चुकी थी)। ब्रिटेन में स्थित डच सरकार की ओर से एक घोषणा प्रकाशित की गई, जिसमें उस नीति का प्रतिपादन किया गया, जिसका अनुसरण हॉलैण्ड विश्व युद्ध की समाप्ति पर इण्डोनेशिया के संबंध में करेगा। इस घोषणा में कहा गया कि विश्व युद्ध की समाप्ति पर डच साम्राज्य की नई व्यवस्था करने के लिए एक कॉन्फ्रेंस का आयोजन किया जायेगा। इस कॉन्फ्रेंस में इस प्रश्न पर विचार होगा कि हॉलैण्ड और उसके साम्राज्य के देशों के शासन का क्या रूप हो। डच सरकार का विचार यह था कि डच साम्राज्य को एक कामनवेल्थ के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए, जिसके अंतर्गत राज्य अपने आंतरिक मामलों में पूर्णतया स्वतंत्र हों। डच कॉमनवेल्थ की इस कल्पना के अनुसार इण्डोनेशिया को अपने आन्तरिक शासन में तो स्वतंत्रता मिल जाती थी, पर अब इण्डोनेशिया के देशभक्त पूर्ण स्वतंत्रता के बिना किसी भी प्रकार संतुष्ट नहीं हो सकते थे। 1943 ई० के अन्त से पूर्व ही इण्डोनेशिया में स्वतंत्र रिपब्लिक की सुचारू रूप से स्थापना हो चुकी थी। उसके शासन विधान का निर्माण हो चुका था और नई रिपब्लिकन सरकार ने देश का शासन-कार्य भलीभांति संभाल लिया था।

विश्व युद्ध में जापान की पराजय के बाद इण्डोनेशिया पर कब्जा करने का कार्य ब्रिटिश सेनाओं के सुपुर्द किया गया। मित्र राज्यों की ओर से दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान के विरूद्ध संघर्ष के लिए 'दक्षिण-पूर्वी-एशिया कमाण्ड' संगठित की गई थी और इसी कमाण्ड द्वारा ब्रिटिश सेनाओं को यह कार्य सौंपा गया था कि वे इण्डोनेशिया से जापानी सेनाओं को परास्त कर इस देश पर अपना सैनिक आधिपत्य स्थापित करे। यह भी व्यवस्था की गई थी कि इण्डोनेशिया के जो-जो द्वीप मित्र सेनाओं के कब्जे में आते जाएँ उन्हें पुनः डच सरकार को शासन के लिए सौंप दिये जाएँ। इस कार्य के लिए हॉलैण्ड की ओर से "नीदरलैण्ड इन्डीज सिविल एडमिनिस्ट्रेशन" नामक संगठन का निर्माण किया गया था। लेकिन जावा, मदुरा और सुमात्रा द्वीपों पर इण्डोनेशियन रिपब्लिक का शासन सुव्यवस्थित रूप से चल रहा था। अतः मित्र राष्ट्रों की सेना ने यह उचित नहीं समझा कि इन द्वीपों में स्थापित रिपब्लिक सरकार का प्रतिरोध करे। यहाँ डॉ. सुकर्ण का शासन सुव्यवस्थित रूप से चल रहा था। इस प्रकार 1946 ई० के मध्य में इण्डोनेशिया की राजनीतिक स्थिति यह थी कि जावा, मदुरा और सुमात्रा द्वीपों में स्वतंत्र रिपब्लिक की सत्ता थी, जो किसी भी प्रकार डच लोगों के आधिपत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। अन्य द्वीपों पर "नीदरलैण्ड इण्डीज सिविल एडमिनिस्ट्रशन" का शासन था और इस संस्था ने अपने अधिक त प्रदेशों पर 1942 ई० से पूर्व जिस ढंग का डच शासन विद्यमान था, उसी प्रकार का शासन फिर से स्थापित कर दिया था।

इण्डोनेशिया के 1946 ई० से पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने का वर्णन हम पूर्व अध्याय V-1 एवं IX-4 में विस्त त रूप से कर चुके हैं, अतः पुनः यहाँ पर विस्त त वर्णन नहीं दिया जा रहा है। इण्डोनेशिया डच प्रभुत्व से अन्ततः 1949 ई० में पूर्ण स्वतंत्र हुआ।

बेल्जियम और पुर्तगाल ने भी औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किया था। जब ब्रिटिश, फ्रांसीसी तथा डच उपनिवेश स्वतंत्र होने लगे, तो स्वतंत्रता की बाढ़ को अब रोकना कठिन था। बेल्जियम से कांगो 1960 ई० में स्वतंत्र हो गया। 1974 ई० में पुर्तगाल का उपनिवेश गिनी-बिसाऊ स्वतंत्र हो गया। अंगोला तथा मोजाम्बिक ने 1975 ई० में स्वतंत्रता प्राप्त की। इस प्रकार सलाजार के पतन के साथ ही पुर्तगाल के औपनिवेशिक साम्राज्य का भी अन्त हो गया।

3. **स्थानीय स्तर पर परिवर्तन : उपनिवेशों में स्वतंत्रता आन्दोलन (Changes at Local Level : Freedom Movement in the Colonies):** उपनिवेशों की स्वतंत्रता का निर्णय केवल औपनिवेशिक शक्तियों के द्वारा स्वेच्छा से नहीं किया जा सका। इन शक्तियों की नीतियों और द ष्टिकोणों में बहुत अंतर थे। कई उपनिवेशों ने तो स्वतंत्रता को छीन लिया था। विभिन्न उपनिवेशों के स्वतंत्रता आन्दोलनों का भी एक जैसा आधार या उनकी एक जैसी प्रक ति नहीं थी। उनकी प्रक ति में बहुधा भारी अन्तर था। किस उपनिवेश के स्वतंत्रता आन्दोलन की सफलता में कितना समय लगा, यह अनेक कारणों से निर्धारित हुआ।

इन निर्धारक तत्त्वों में कुछ प्रमुख थे-स्थानीय नेताओं की प्रतिबद्धता, जनसाधारण का समर्थन तथा सम्बद्ध औपनिवेशिक शक्ति का द ष्टिकोण। कुछ ऐसे उपनिवेश थे, जिनमें औपनिवेशिक शासन का विरोध लगभग उसी समय आरम्भ हो गया था, जब शासकों ने सम्बद्ध उपनिवेश पर कब्जा किया था। दूसरे किनारे पर घाना, नाईजीरिया, कांगो, अंगोला इत्यादि ऐसे उपनिवेश भी थे, जहाँ तब तक स्वतंत्रता आन्दोलन आरंभ ही नहीं हुए, जब तक एशिया के उपनिवेश स्वतंत्र नहीं हो गए।

साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन प्रायः दो प्रकार के थे। पहली श्रेणी के आन्दोलन को हम राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन (National Independence Movement) की संज्ञा दे सकते हैं। दूसरी श्रेणी में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन (National Liberation Movement) को रखा जा सकता है। अधिकांश उपनिवेशों में पहली श्रेणी के स्वतन्त्रता संघर्ष चलाए गए। इन राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलनों का उद्देश्य विदेशी सत्ता के स्थान पर स्वदेशी सरकार की स्थापना करवाना तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सशक्त राज्यों की स्थापना करना था। इन स्वाधीनता आन्दोलनों का उद्देश्य औपनिवेशिक समाज की संरचना में तुरन्त कोई परिवर्तन करना नहीं था। वामपंथी विद्वान् इन आंदोलन की प्रक ति से संतुष्ट नहीं थे। वे इन्हें पूँजीवादी, व्यावसायिक अथवा नौकरशाही आन्दोलन कहते थे। उनके अनुसार इनका उद्देश्य केवल राजनीतिक परिवर्तन करना था। दूसरी श्रेणी में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन आते हैं। ये आन्दोलन अपेक्षाक त देरी से शुरू हुए और इनका संचालन एवं समर्थन वर्ग-संघर्ष में विश्वास करने वाले वामपंथियों के द्वारा किया गया। उनका उद्देश्य विदेशी शासन समाप्त करने के साथ-साथ सामाजिक-आर्थिक संरचना में भी मूलभूत परिवर्तन करना था। दोनों प्रकार के आन्दोलनों के साझा उद्देश्य विदेशी औपनिवेशिक शासन को समाप्त करना था। स्वतंत्रता आन्दोलन मूल रूप से राजनीतिक थे, उनका संचालन देशभक्ति की भावना से प्रेरित नेताओं ने किया और उनका उद्देश्य स्वराज्य अथवा स्व-शासन था किंतु मुक्ति आंदोलन मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा से प्रेरित और संचालित थे। उनका उद्देश्य राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति लाना भी था। इस प्रकार भारत में चलाए गए राष्ट्रीय आन्दोलन का ध्येय राजनीतिक स्वतंत्रता था। दूसरी ओर हिन्दचीन, अंगोला आदि में मुक्ति आंदोलन चलाए गए। संक्षेप में जिन देशों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के द्वारा स्वाधीनता प्राप्त की उनमें प्रायः उदार लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था स्थापित की गई परंतु मुक्ति आन्दोलनों ने समाजवादी राज्यों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।

शीत युद्ध का वैचारिक आधार

दो महाशक्तियों का अभ्युदयः युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य गहरा और भयंकर मतभेद रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ये ही दो राज्य प्रथम कोटि की विश्व की महान् शक्तियाँ रह गयी थी। जर्मनी, इटली और जापान युद्ध में पराजित होकर जमीन पर लोट रहे थे और फ्रांस और ब्रिटेन भी युद्ध की चोट से बुरी तरह घायल थे। वैसे युद्ध में सोवियत संघ को भी अपार बर्बादी हुई थी, लेकिन जर्मनी को पराजित करने के कारण सारे यूरोप में उसका दबदबा कायम हो गया था। युद्ध की समाप्ति के समय सोवियत लाल सेना मध्य यूरोप तक के क्षेत्र पर अपना अधिकार किये बैठी थी। आर्थिक दुर्दशा के कारण पश्चिम यूरोप के राष्ट्रों में घोर असंतोष व्याप्त था। राजनीतिक अस्थिरता के कारण इन राष्ट्रों में साम्यवाद के प्रसार की बड़ी संभावना उत्पन्न हो गयी थी। एशिया

और अफ्रीका में यूरोपीय साम्राज्यवाद अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था। साम्यवाद के प्रबल विरोधी पश्चिम के पूँजीवादी-साम्राज्यवादी राष्ट्र युद्ध में ध्वस्त और घरेलू समस्याओं से ग्रस्त, निर्बल और असहाय हो गये थे। सोवियत संघ के लिए यूरोप में अपने प्रभाव-व द्धि का यह स्वर्ण अवसर था।

दूसरी ओर युद्ध के दौरान ब्रिटेन, फ्रांस और चीन आदि राष्ट्रों की विपुल सैनिक और आर्थिक सहायता करने के कारण संयुक्त राष्ट्र अमेरिका इन सभी राष्ट्रों पर हावी हो गया था। युद्ध के बाद भी सैनिक और आर्थिक द ष्टि से वे पूर्णतया अमेरिका पर आश्रित थे। युद्ध के अंतिम दिनों में जापान पर अणुबम गिराकर संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह प्रदर्शित कर दिया कि शस्त्रास्त्रों की द ष्टि से वह संसार का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र है।

इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध ने सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका को दो नयी शक्तियों के रूप में पैदा किया। दोनों महाशक्तियाँ युद्ध से प्राप्त लाभ की स्थिति को बनाये रखना चाहती थी और अपने प्रभाव के विस्तार के लिए उत्सुक थी। उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति के मार्ग में एक शक्ति दूसरी के लिए बाधक थी और दोनों इन बाधाओं को हटाना चाहते थे। लेकिन इसके लिए युद्ध का सहारा नहीं लिया जा सकता था। द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने के बाद ऐसी हो गयी थी कि अब एक त तीय युद्ध का बोझ नहीं उठाया जा सकता था। अतः उन्होंने अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए "राजनीतिक प्रचार का मार्ग पकड़ा, जिसे 'शीतयुद्ध' (Cold War) कहते हैं।" पश्चिम राष्ट्रों ने संयुक्त राज्य अमेरिका के नेत त्व में सोवियत संघ की निन्दा करनी आरम्भ की और सोवियत संघ ने दूसरी तरफ उन राष्ट्रों पर गोलियों की बौछार शुरू की।

शीत युद्ध का अर्थ

इन्हीं परिस्थितियों में शीतयुद्ध की उत्पत्ति हुई। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यदि हम शीतयुद्ध को परिभाषित करे तो कहना पड़ेगा कि "शीतयुद्ध राष्ट्रों के मध्य व्याप्त तनाव की ऐसी स्थिति को कहते हैं जिसे प्रत्येक राष्ट्र अपने को शक्तिशाली और दूसरे को कमजोर बनाने की चेष्टा करता है। इसमें बारूदों के गोलों या हथियारों से लड़ा जाने वाला युद्ध तो नहीं होता, परंतु युद्ध की-सी स्थिति और तनाव बना रहता है। यह शब्द अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 1946 से प्रयुक्त होता चला आ रहा है और सामान्यतः पूर्वी एवं पश्चिमी शक्तियों के मध्य सम्बन्धों की व्याख्या करने में प्रयोग किया जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ परस्पर सहयोगी और मित्र थे, लेकिन युद्ध के खत्म होते ही वे एक-दूसरे के लिए अजनबी बन गये और सभी प्रश्नों पर उनके बीच तीव्र मतभेद शुरू हुए। उनकी पुरानी शत्रुता, वैमनस्य और शंकाएँ पुनः जाग उठी और 'शांति समझौते' के प्रश्न को लेकर उन राष्ट्रों के मध्य तनाव की ऐसी स्थिति पैदा हो गयी कि टैंकों एवं बन्दूकों से लड़े जाने वाले युद्ध के न होते हुए भी कागज के गोलों, अखबारों और राजनीतिक प्रचार से लड़ा जाने वाला भयानक वाक् युद्ध छिड़ गया। यही युद्धोत्तर काल की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'शीतयुद्ध' के नाम से विख्यात है।

शीत युद्ध के कारण

द्वितीय विश्व युद्ध में अमेरिका, सोवियत संघ तथा ब्रिटेन एक साथ थे, लेकिन युद्ध के खत्म होने के पहले ही सोवियत संघ का अमेरिका और ब्रिटेन से मतभेद शुरू हो गया था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गहराई से अध्ययन करने पर पता चलेगा कि सोवियत संघ तथा ब्रिटेन और अमेरिका का युद्धकालीन सहयोग अस्थायी था, किन्तु उनके पारस्परिक मतभेद मूलभूत एवं ऐतिहासिक था। इस मतभेद का सूत्रपात 1917 में ही हुआ था जब रूस में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना हुई। 1919-1939 के वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत संघ के साथ कैसा व्यवहार किया यह सर्वविदित है। लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के समय हिटलर के आतंक ने सोवियत संघ को पश्चिमी राज्यों का मित्र बना दिया, और 26 मई, 1942 को सोवियत संघ तथा ब्रिटेन ने जर्मनी के विरूद्ध पारस्परिक सहायता की एक बीस वर्षीय संधि पर हस्ताक्षर किये। पाश्चात्य देशों के अविश्वास को दूर करने के लिए 2 मई, 1944 को सोवियत संघ ने पश्चिम विरोधी प्रचार की एक प्रमुख संस्था 'कामिन्टर्न' के विघटन की घोषणा की। 1942 के बाद मित्रराज्यों के केसाब्लाँका, हाट स्प्रिंग, मास्को कहिरा, तेहरान, ब्रिटेन-बुड्स, डम्बटेनओक्स, याल्टा या सनफ्रांसिस्को में कई सम्मेलन हुए और इनमें सोवियत संघ ने पश्चिमी राष्ट्रों के साथ मिल-जुलकर काम किया। 27 फरवरी 1945 को चर्चिल ने कहा कि "सोवियत संघ के नेतागण पश्चिमी लोकतंत्रों के साथ समान तथा सम्मानपूर्ण मैत्री का जीवन बसर करना चाहते हैं। उनके शब्द ही उनकी प्रतिज्ञाएँ हैं। चार दिन बाद राष्ट्रपति **रूजवेल्ट** ने बतलाया कि "मुझे विश्वास है कि याल्टा समझौते के फलस्वरूप यूरोप की राजनीतिक स्थिति में स्थिरता आयेगी।"

इन विचारों से ऐसा प्रतीत होने लगा कि लन्दन और वाशिंगटन युद्धोत्तर काल की समस्याओं के समाधान में मास्को से सहयोग लेंगे, लेकिन सोवियत नेताओं की सारी आशाएँ व्यर्थ हुई और विजय के उपरांत उनका संबंध पश्चिमी राष्ट्रों की उग्र नीति के कारण खराब होने लगा तथा उनका 'अनोखा गठबंधन' अस्त-व्यस्त होने लगा। युद्ध-काल के साथी ही युद्धोपरान्त एक-दूसरे के लिए अजनबी बन गये तथा आने वाले वर्षों में वे एक दूसरे के प्राणों के प्यासे हो गये। उनकी पुरानी शत्रुता तथा संदेह पुनः जाग उठे जिसने शीत-युद्ध को जन्म दिया। इस शीत-युद्ध की उत्पत्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे-

1. **द्वितीय मोर्चा का प्रश्नः** शीत युद्ध की उत्पत्ति का पहला कारण युद्ध-काल के दोनों पक्षों को एक-दूसरे के प्रति बढ़ता हुआ संदेह और अविश्वास था। ऐसा देखा गया है कि प्रायः सभी युद्धों के बीच युद्धकालीन मित्र-राज्य एक दूसरे के विरोधी या कट्टर दुश्मन बन जाते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद फ्रांस और ब्रिटेन के बीच इसी प्रकार का मतभेद हो गया था, पर इस बार संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ में युद्ध के समय से ही संदेह ओर मतभेद शुरू हो गया। इसका एक प्रबल कारण "द्वितीय मोर्चे" से सम्बन्धित था। जिस समय युद्ध चल रहा था और हिटलर सोवियत संघ को दबोचे हुए था, उस समय स्टालिन अपने मित्र-राज्यों से पश्चिम यूरोप में हिटलर के विरूद्ध एक दूसरा युद्ध मोर्चा खोलने के लिए बराबर अनुरोध करता था। उसके इस अनुरोध का उद्देश्य यह था कि यदि पश्चिम मोर्चा खुल गया तो सोवियत संघ पर जर्मनी के प्रहार में बहुत बड़ी कमी आ जायेगी (क्योंकि उस हालत में जर्मनी को दो मोर्चों पर लड़ना पड़ता) और सोवियत संघ को सांस लेने का मौका मिल जायेगा पर महीनों तक रूजवेल्ट और चर्चिल इस अनुरोध को टालते रहे। इसी समय से स्टालिन को अपने मित्र-राज्यों की नेकनियती में शंका होने लगी। सोवियत इतिहासकारों का कहना है कि अमेरिका और ब्रिटेन में खूब सोच समझकर तथा जान बूझकर यह देर की थी ताकि जर्मनी किसी तरह सोवियत संघ की साम्यवादी व्यवस्था का काम तमाम कर दे।

   1944 के प्रारंभ में जब दूसरा मोर्चा खोलने की योजना बनने लगी तब स्टालिन की शंका और पुष्ट होने लगी। जिस धोखेबाजी से हिटलर ने सोवियत संघ पर चढ़ाई की थी उसको ध्यान में रखकर मास्को के नीति-निर्धारक इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि यदि सोवियत संघ को भावी खतरे से बचाना हो तो उसे जर्मनी और सोवियत संघ के बीच के देशों पर अपना प्रभुत्व कायम कर लेना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, स्टालिन पूर्वी यूरोप के देशों को सोवियत प्रभाव क्षेत्र में परिवर्तित कर लेना चाहता था। चर्चिल इस रहस्य को भली-भांति समझता था। अतएव जब दूसरा मोर्चा खोलने की बात होने लगी तो उसने यह योजना रखी कि ब्रिटेन और अमेरिका की सेना फ्रांस की तरह से नहीं वरन् प्रायद्वीप से यूरोप में उत्तर की ओर बढ़े ताकि सोवियत संघ की सेना पूर्वी यूरोप में बहुत आगे न बढ़ सके। इस योजना से रूजवेल्ट सहमत नहीं हुआ, लेकिन इसने पूँजीवादी देशों के मनोभाव को स्पष्ट कर दिया। स्टालिन भली-भांति समझ गया कि ब्रिटेन और अमेरिका उसके कैसे शुभचिंतक हैं।

2. **पुरातन-व्यवस्था की स्थापना का प्रयासः** इस प्रकार पूर्वी यूरोप पर प्रभुत्व कायम करने की प्रतिद्वन्द्विता युद्ध-काल में शुरू हो गयी। इसलिए दोनों पक्ष जर्मनी से जीते गये प्रदेशों में उसके विरूद्ध स्वातन्त्र्य संघर्ष करने वाले विभिन्न दलों में अपना समर्थन करने वाले दलों को समर्थन तथा मान्यता देने लगे। उधर इटली पूरी तरह परास्त भी नहीं हुआ था कि इधर कम्युनिस्टों को समाप्त करने के लिए ब्रिटेन और अमेरिका मुसोलिनी के फासिस्ट दल से सहयोग करने लगे। यूगोस्लाविया ने कम्युनिस्ट नेता मार्शल टीटो को सोवियत संघ का जबर्दस्त समर्थन प्राप्त होने लगा और दूसरी ओर ब्रिटेन और अमेरिका वहाँ पुनः राजतंत्र और पुरातन-व्यवस्था कायम करने की योजना बनाने लगे। चुनाव में भी ब्रिटेन कम्युनिस्ट विरोधी राजसत्तावादी दल का समर्थन कर रहा था। इन कारणों से सोवियत संघ के मन में सन्देह की धारणा दिन-प्रतिदिन पुष्ट होने लगी।

3. **सोवियत संघ द्वारा याल्टा और बाल्कन समझौते का अतिक्रमणः** सोवियत संघ की ओर से भी ऐसी ही कार्रवाईयाँ होने लगी। सोवियत संघ की विजयी लाल सेना जहाँ भी पहुंचती कम्युनिस्टों को प्रोत्साहित और उसके विरोधी तत्वों का सफाया करती। इससे ब्रिटेन और अमेरिका का चिन्तित होना स्वाभाविक था। सोवियत संघ के प्रति ब्रिटेन का संदेह तो इतना बढ़ गया था कि अक्टूबर 1944 में उसने सोवियत संघ के साथ समझौता करके यह तय कर लिया कि लाल सेना का प्रभाव-क्षेत्र रूमानिया और बुल्गेरिया समझा जाय, यूनान आंग्ल-अमेरिकी अधिकार में रहे तथा युगोस्लाविया

तथा हंगरी पर दोनों का प्रभुत्व स्वीकार किया जाय। लेकिन इस समझौते से संदेह का अंत नहीं वरन् उसमें और व द्धि हुई। "राजनयिक दाव-पेंच लगते रहे और युद्ध खत्म होते ही सोवियत संघ पूर्वी यूरोप के प्रायः सभी देशों में साम्यवादी व्यवस्था कायम करने में सफल हो गया।" यह कार्रवाई अमेरिका और ब्रिटेन को एकदम पसन्द नहीं आयी। 1945 के याल्टा सम्मेलन में मित्र-राष्ट्रों ने फैसला किया था कि "नात्सियों के मुक्त किए राष्ट्र अपने इच्छानुसार लोकतंत्रीय संस्था चुनेंगे तथा इसके मित्र-राज्यों के बीच सम्मिलित विचार-विनिमय किया जाएगा।" अतएव उन लोगों ने अब यह दोषारोपण किया कि सोवियत संघ के ये कार्य याल्टा के विरूद्ध हैं।

4. **ईरान से सोवियत सेना का न हटाया जानाः** युद्ध के दौरान सोवियत सेना ने ब्रिटेन की सहमति से उत्तरी ईरान पर कब्जा कर लिया था, किंतु युद्ध के बाद "आंग्ल अमेरिकी सेना तो दक्षिणी ईरान से शीघ्र ही हटा ली गयी।" पर सोवियत सेना अपने स्थान पर ज्यों-की-त्यों जमी रही। काफी समय के बाद अमेरिका और इंग्लैण्ड द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ की सहायता से सोवियत संघ पर संयुक्त दबाव डालने के परिणामस्वरूप ही सोवियत सेना वहाँ से हटने के लिए तैयार हुई।

5. **तुर्की पर सोवियत दबावः** युद्ध के बाद सोवियत संघ तुर्की पर दबाव डालकर उसकी कुछ भूमि और बोसफोरस में नौ-सैनिक अड्डे बनाने का अधिकार माँग रहा था। पश्चिमी राष्ट्रों ने उसका बड़ा कड़ा विरोध किया।

6. **यूनान में सोवियत संघ का दबावः** जर्मनी के आत्म-समर्पण से पूर्व ही सोवियत सेना ने "यूनान के उत्तर में पूर्वी और दक्षिणी-पूर्व यूरोप के अधिकांश भाग पर कब्जा कर लिया तथा वहाँ साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना कर दी गयी।" इस क्षेत्र के अधिकांश देशों में साम्यवादी दल बहुत छोटे-छोटे तथा अपेक्षाक त नगण्य अनुयायियों वाले थे। फिर भी, सोवियत सेना ने इन साम्यवादी दलों को खुली और पूर्ण सहायता दी। कुछ ही वर्षों में यूनान तथा बाल्टिक समुद्र के मध्य बसे हुए सभी राज्यों में 'सर्वहारा की तानाशाही' स्थापित कर दी गयी।

7. **सोवियत संघ द्वारा अमेरिका विरोधी प्रचार अभियानः** युद्ध के खत्म होते ही रूस के समाचार-पत्रों ने अमेरिकी नीतियों तथा नीति-निर्धारकों पर प्रहार करना शुरू कर दिया। इससे अमेरिका बड़ा क्रुध हुआ। अमेरिकी समाचार-पत्रों ने ऐसा ही रूख अपनाया और सोवियत संघ तथा सोवियत सेना पर गोलियों की बौछार होने लगी। इस हालत में दोनों देशों का सम्बन्ध बिगड़ना अनिवार्य था।

8. **अणुबम का आविष्कारः** शीत-युद्ध के सूत्रपात का एक और प्रमुख कारण अणुबम का आविष्कार था। यह कहा जाता है कि अणुबम ने हिरोशिमा को ही विध्वंस नहीं किया, अपितु युद्धकालीन मित्रराज्यों की मित्रता का भी अंत कर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका में अणुबम पर अनुसंधान-कार्य और उसका परीक्षण बहुत पहले से चल रहा था। अमेरिका ने इस अनुसंधान की प्रगति से ब्रिटेन को तो पूरा परिचित रखा, लेकिन सोवियत संघ से इसका रहस्य जान-बूझकर गुप्त रखा गया। सोवियत संघ को इससे जबर्दस्त सदमा पहुँचा और उसने इसे एक घोर विश्वासघात माना। उधर अमेरिका और ब्रिटेन को अणुबम के कारण यह अभिमान हो गया कि अब उन्हें सोवियत सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है। अतएव इस कारण भी दोनों पक्षों में मनमुटाव बढ़ा।

9. **सोवियत विरोधी प्रचार अभियानः** इस समय पश्चिमी देशों के समाचार-पत्र साम्यवादी देशों के प्रति खुलेआम घ णा-प्रचार में संलग्न थे। साम्यवादी खतरे को खूब तूल देकर और बढ़ा-चढ़कर प्रदर्शित किया गया तथा मास्को के भावी इरादों के प्रति जनता में भय की भावना पैदा की गयी। "ज्यों हि सोवियत सेना बर्लिन के निकट पहुँची अमेरिकी समाचार पत्रों ने अनर्गल शीर्षकों से अपने पन्ने रंगने शुरू कर दिये। सोवियत अधिकारियों के लिए एक ऐसे देश, जिसके प्रति, उनके हृदय में पहले से ही काफी अविश्वास था, के समाचार-पत्रों की इन घोषणओं पर क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था।"

इन कारणों से युद्ध समाप्त होते-होते दोनों पक्षों में घोर मतभेद उत्पन्न हो गया और समय के साथ-साथ इसकी उग्रता भी बढ़ती गयी। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं, सम्मेलनों आदि में मतभेद प्रकट होने लगे। इसके बाद समाचार पत्रों और रेडियो द्वारा भाषण, वाक-युद्ध और प्रचार का युद्ध आरंभ हुआ। शीघ्र ही सारी दुनिया दो गुटों में बँट गयी। अमेरिका के नेत त्व में पश्चिम गुट (western block) और सोवियत संघ के नेत त्व में कम्युनिस्ट गुट। "पश्चिमी गुट अपने को 'स्वतंत्र विश्व' (free world) कहने लगा। सोवियत गुट को 'लौह परदे' (iron curtain) की उपाधि दी गयी।" फिर संसार के लोगों के सामने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का हौवा उपस्थित किया गया। अमेरिकी की ओर से यह प्रचार किया जाने लगा कि सोवियत संघ के 'नये साम्राज्यवादी' सारे संसार पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं। इससे संसार को बचाना आवश्यक है। उधर सोवियत

संघ ने डालर साम्राज्यवाद और बाल स्ट्रीट के पूँजीपतियों का भंडाफोड़ करना शुरू किया। अमेरिका ने इस युद्ध को एक सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया कि तांत्रिक स्वतंत्रता का संघर्ष है। "इन आरोपों और प्रत्यारोपों में युद्धोत्तर विश्व की समस्याएँ गौण पड़ गयी।"

शीत-युद्ध की प्रगति

एक बार जब शीत-युद्ध शुरू हो गया तो उसमें कोई कमी आयेगी इसकी परवाह किसी को भी न रही। संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन संघर्ष के अखाड़े बन गये। सुरक्षा-परिषद की पहली बैठक में ही सोवियत प्रतिनिधि ने पश्चिमी गुट पर बड़े कड़े और उग्र आक्षेप किये। फिर उनको जवाब भी वैसे स्पष्ट मिले। उसके बार शायद ही ऐसी कोई बैठक या अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ हो जिसमें दोनों ने एक-दूसरे पर भीषण आरोप-प्रत्यारोप न लगायें हों। एक के बाद दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय घटना घट गयी और शीत-युद्ध का इतिहास बढ़ता गया। "फारस से सोवियत सेना या यूनान से ब्रिटिश सेना हटाने का प्रश्न हो या कोई दूसरा प्रश्न सब शीत-युद्ध के इतिहास के ही भाग हैं। शीत-युद्ध का सबसे भीषण अखाड़ा संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद साबित हुआ।" आरंभ में साधारण सभा में सोवियत संघ को केवल पाँच और पश्चिमी गुट के बत्तीय वोट थे, लेकिन सुरक्षा-परिषद में सोवियत संघ ने अपने वीटों के अधिकार का पूरा लाभ उठाया। उसके लिए इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह गया था।

शीत-युद्ध के भयानक बनाने का असल श्रेय कुटील और घोर साम्राज्यवादी राजनेता **विन्सअन चर्चिल** को है। 1946 ई० में अमेरिका का फुल्टन नामक नगर में भाषण करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में उसने एक नयी पद्धति का सूत्रपात किया। "हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर" चर्चिल ने 5 मार्च 1946 को राष्ट्रपति ट्रूमैन की उपस्थिति में कहा "उसके दूसरे स्वरूप संस्थापना को रोकना चाहिए।" उसने स्वतंत्रता की दीपाशिखा प्रज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए एक आंग्ल-अमेरिकी गठबंधन की मांग की। उसका सुझाव था कि साम्यवाद के प्रसार को सीमित रखने के लिए (Containment of Communism) हर सम्भव एवं नैतिक-अनैतिक उपायों का अवलम्बन किया जाय। अमेरिका में चर्चिल के विचारों का सबसे बड़ा समर्थक अमेरिकी सिनेट का एक सदस्य वैण्डनवर्ग था। इसके बाद समूचे अमेरिका में सोवियत विरोधी भावना का तूफान फूट पड़ा। 29 दिसम्बर, 1946 को 'राष्ट्रपति ट्रूमैन' ने भूतपूर्व उपराष्ट्रपति तथा तत्कालीन वाणिज्य सचिव हेनरी ए० वेलेस से त्याग-पत्र देने को कहा, क्योंकि उसने 12 सितम्बर को न्यूयार्क में एक सार्वजनिक भाषण में सोवियत संघ तथा अमेरिका के बीच मैत्री स्थापना की थी। राज्य सचिव डीन एचिसन ने 19 फरवरी, 1947 को सिनेट के सम्मुख कहा कि 'सोवियत संघ की विदेश-नीति आक्रामक तथा विस्तारवादी है।' अप्रैल 1946 के बाद दोनों पक्षों में मतभेद का खुलेआम उगलना शुरू किया तथा पूर्व और पश्चिम की शत्रुता का नग्न तथ्य बन गया। 5 जून 1947 को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 'सोवियत विस्तार को रोकने के लिए ट्रूमैन सिद्धांत का प्रतिपादन किया। 5 जून, 1947 को साम्यवाद के विरोध के नाम पर प्रसिद्ध मार्शल योजना का सूत्रपात हुआ। सोवियत गुट के देशों ने इसमें भाग लेने से इंकार कर दिया और सारी योजना को अमेरिकी साम्राज्यवाद की योजना कहकर उसकी निंदा की। 25 अक्टूबर को मार्शल-योजना के जवाब में यूरोप के नौ कम्युनिस्ट देशों ने कोमिनफार्म स्थापित किया। अब बात-बात पर झगड़ा होने लगा। पराजित राज्यों के साथ कैसा व्यवहार किया जाय इसके संबंध में दोनों पक्षों में उग्र मतभेद था।

1949 में चीन में साम्यवादी व्यवस्था कायम होने पर शीत-युद्ध की भयंकरता बढ़ी। चार्टर के अनुसार चीन सुरक्षा-परिषद का एक स्थायी सदस्य था। जब च्यांग-काई शेक की सरकार भाग कर फारमोसा चली गयी तो कम्युनिस्ट चीन ने सुरक्षा-परिषद में अपनी जगह की माँग की, लेकिन पश्चिम गुट नहीं चाहता था कि सुरक्षा-परिषद में सोवियत संघ का एक और समर्थक बढ़ जाय। अतएव संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीन की नयी सरकार को मान्यता देने से इंकार कर दिया और संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसको स्थान मिलने का विरोध किया। इस कारण 1971 तक चीन को संयुक्त राज्य राष्ट्र संघ में अपना स्थान नहीं मिल सका। इसके मूल में शीत-युद्ध ही विद्यमान था।

"बर्लिन का घेरा और कोरिया युद्ध के समय शीत-युद्ध अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया।" बर्लिन के घेरे के समय ही दोनों पक्षों को ताकत आजमाने का मौका पहले-पहल मिला और शीत-युद्ध में अमेरिका का रूख कड़ा हो गया। अब सोवियत संघ का विरोध करने के लिए अमेरिका तरह-तरह के सैनिक संगठनों की स्थापना करने लगा। कोरिया का युद्ध वास्तव में पश्चिमी गुट और कम्युनिस्ट गुट के बीच युद्ध था। इस अवसर पर शीत-युद्ध सशस्त्र युद्ध में परिणत हो गया। "अमेरिका ने सुरक्षा-परिषद से सोवियत संघ की अनुपस्थिति का खूब नाजायज फायदा उठाया। उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित

करवाना और उसके विरूद्ध सैनिक कार्रवाई का प्रस्ताव पास करवाया। यद्यपि 1953 में कोरिया का युद्ध बन्द हो गया लेकिन दोनों गुटों के बीच शीत-युद्ध चलता रहा।

1953 में शीत-युद्ध की तीव्रता में कुछ परिवर्तन आया। इस युद्ध के महान उन्नायक राष्ट्रपति ट्रूमैन और स्टालिन थे। जनवरी, 1953 में आइसनहावर अमेरिका के राष्ट्रपति बने। उनके विदेश सचिव डलेश अब संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश-नीति के मुख्य निर्धारक हुए। इसी समय पाँच मार्च, 1953 को स्टालिन की म त्यु हो गयी। अगस्त 1953 में सोवियत संघ का प्रथम आणविक परीक्षण हुआ। हथियार क्षेत्रों में दोनों गुटों के मध्य जो खाई थी अब वह धीरे-धीरे कम होने लगी।

इसके बाद आया हिन्द चीन का प्रश्न। "फ्रांसीसी साम्राज्य के विरूद्ध वहाँ चलने वाले युद्ध में दोनों गुटों ने अलग-अलग पक्षों का समर्थन किया।" शीत-युद्ध के कारण हिन्द चीन का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बन गया। फिर अमेरिका ने साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सैनिक समझौतों और सैन्य संगठनों को स्थापित करने की नीति अपनायी तथा नाटो, सीटो और बगदाद पैक्ट बनाये। सोवियत संघ ने इनकी बड़ी आलोचना की और इनके जवाब में "बारसा पैक्ट" कायम कर लिया। इन संगठनों के विषय में हम आगे चलकर अध्ययन करेंगे। इसी तरह संसार के सबसे प्रमुख प्रश्न निरस्त्रीकरण कर दोनों देशों में घोर मतभेद चला। अन्तर्राष्ट्रीय के प्रश्न पर शीत-युद्ध के प ष्ठाधार में दोनों के द ष्टिकोण निर्धारित होने लगे। अमेरिका स्वभावतः पूँजीवादी और साम्राज्यवाद का समर्थक था। उसके मित्र देश साम्राज्यवादी थे। इस हालत में सोवियत संघ ने ब्रिटेन और फ्रांस के उपनिवेशवाद का उग्र विरोध किया। उसने खुले शब्दों में पराधीन देशों की आजादी का समर्थन किया। इस द ष्टिकोण से अध्ययन करने पर शीत-युद्ध का कम-से-कम एक लाभ अवश्य प्रतीत होता है। ऐसे तो सोवियत संघ शुरू से ही उपनिवेशवाद का विरोधी रहा है, लेकिन शीत-युद्ध के कारण इस विरोध में और उग्रता आयी। सोवियत संघ दिन-रात उपनिवेशवाद पर हमला करता रहा और इस प्रकार साम्राज्यवादियों को अपना औपनिवेशिक अधिकार हटाने पर बाध्य किया।

"1955 से 1958 तक पश्चिमी एशिया शीत-युद्ध का भयंकर अखाड़ा बना रहा। इस क्षेत्र के सामरिक महत्त्व और कूपों पर प्रभुता कायम करने के लिए दोनों में घोर संघर्ष होता रहा। फारस का तेल-विवाद स्वेज नहर का संकट, लेबनान में अमेरिकी फौज का उतरना, इराक की क्रान्ति" आदि अवसरों पर दोनों पक्ष ताल ठोककर मैदान में डट गये। जब राष्ट्रपति आइसनहावर ने अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त आइसवनहावर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो दोनों पक्षों का संघर्ष और भी उग्र हो गया। इस तरह के सैकड़ों द ष्टान्त दिये जा सकते हैं। संघर्ष में कोई भी ऐसी घटना नहीं घटी जो शीत-युद्ध का परिणाम न हो या उससे प्रभावित न रहा हो।

खुश्चेव की अमेरिकी यात्रा : 1959 के मध्य में कुछ कारणों से शीत-युद्ध में कुछ कमी पड़ी। अगस्त में बीसवीं शताब्दी का सबसे महान राजनयिक चमत्कार हुआ। उस दिन मास्को में विदेश मंत्रालय के प्रवक्ता और वाशिंगटन में स्वयं राष्ट्रपति आइसनहावर ने एक समय में यह घोषणा की कि कुछ ही दिनों में सोवियत संघ के प्रधानमंत्री निकेता खुश्वेच संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके बाद राष्ट्रपति आइसनहावर सोवियत संघ का भ्रमण करेंगे। सारे संसार में इस समाचार का स्वागत हुआ। अब प्रतीत होने लगा कि शीत-युद्ध सदा के लिए बन्द हो जायेगा और दोनों देश मिलकर संसार में स्थायी शांति की नींव डाल देंगे। इसके पूर्व मिकोयान अमेरिका और उप-राष्ट्रपति निक्सन रूस की यात्रा कर चुके थे। इन यात्राओं का महत्त्व अब सबको ज्ञात होने लगा। बहुत दिनों से दुनिया में एक शिखर-सम्मेलन (summit conference) की मांग हो रही थी। इसका तात्पर्य यह था कि महाशक्तियों के शासनाध्यक्ष एक जगह मिले और संसार की कठिन समस्याओं का समाधान कर लें। 3 अगस्त की घोषणा ने इस सम्मेलन के मार्ग को प्रशस्त कर दिया।

"15 सितम्बर को खुश्चेव अमेरिका पहुँचा। लगभग एक महीने तक वह अमेरिका के विविध स्थानों का भ्रमण करता रहा।" एक ही अपवाद को छोड़कर कहीं कोई अप्रिय घटना नहीं घटी। सर्वत्र उसका स्वागत हुआ। इस यात्रा के फलस्वरूप यह आशा जमने लगी कि अब शीत-युद्ध में कमी आयेगी और अन्ततः उसका अंत हो जाएगा। खुश्चेव के अमेरिका भ्रमण का परिणाम अच्छा ही निकला। "यह तय हुआ कि मई, 1960 में पेरिस में शिखर-सम्मेलन हो, और उसके बाद वहीं से राष्ट्रपति आइसनहावन सोवियत संघ की यात्रा करे।" सरकारी तौर पर सोवियत संघ ने उन्हें निमंत्रण भी भेज दिया, लेकिन इसी समय अमेरिका के पागलपन ने सारी आशाओं पर पानी फेर दिया। इसका कारण था यू-2 जासूसी विमान-कांड।

यू-2 जासूसी विमान कांडः 1 मई 1960 को अमेरिका का एक वायुयान सोवियत सीमा का अतिक्रमण करके दो हजार किलोमीटर अन्दर घुस गया। जब उसके अक्रामक इरादों का पता स्पष्ट रूप से चल गया तो स्वर्डलोवास्क के निकट उसे राकेट के द्वारा नीचे गिरा दिया गया। विमान के निरीक्षण से पता चला कि यह एक जासूसी विमान था क्योंकि इसमें जासूसी के अनेक

यन्त्र और उपकरण पकड़े गये। सौभाग्यवश इस विमान का चालक पावर्स बच गया और पकड़ लिया गया। उसने इस बात को कबूल किया कि उसे सोवियत संघ के आकाश में सैनिक निरीक्षण तथा सैनिक अड्डों की सूचना प्राप्त करने के लिए भेजा गया था। विमान में विशेष यन्त्र लगे हुए थे जो सोवियत सैनिक प्रदेश पर उड़ते-उड़ते विभिन्न स्थानों का फोटो ले रहे थे। ख्रुश्चेव ने इस पर बहुत हल्ला मचाया। शुरू में तो अमेरिकी सरकार ने ऐसी उड़ान का खण्डन किया लेकिन बाद में यह समझ कर कि पावर्स सम्भवतः मर चुका है, यह कहा कि तुर्की में सोवियत सीमान्त के पास एक विमान ऋतु के वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए उड़ रहा था, किन्तु जब पावर्स के जीवित रहने और दोष स्वीकार करने का पता चला तो उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि यह विमान सोवियत आकाश में सैनिक अड्डों की जानकारी प्राप्त करने के लिए भेजा गया था।

"यदि बात इतनी ही तक रहती तो सम्भवतः मामला नहीं बढ़ता लेकिन राष्ट्रपति आइसनहावर ने कहा कि अमेरिका इस तरह की कार्यवाही जान-बूझकर करता है और भविष्य में भी करेगा। उसका कहना था कि सोवियत संघ की सामरिक कार्यवाहीयाँ गुप्त रहती है और पर्ल हार्बर जैसे आकस्मिक आक्रमणों की पुनराव त्ति को रोकने के लिए स्वतंत्र विश्व के लिए ऐसा करना आवश्यक है। इस वक्तव्य के बाद ख्रुश्चेव गुस्सा से आगबबूला हो गया। उसने इस जासूसी उड़ान को एक अत्यन्त उत्तेजनात्मक कार्य और सोवियत राष्ट्र का घोर अपमान बतलाया। उसने गर्जन करते हुए अमेरिका से स्थिति को बिगाड़ने वाली तथा शांति को संकट में डालने वाली ऐसी घटनाओं को बन्द करने की माँग की और साथ-ही-साथ यह धमकी दी कि यदि भविष्य में इस प्रकार की कोई घटना हुई और युद्ध छिड़ा तो उसके लिए एकमात्र संयुक्त राज्य अमेरिका जिम्मेवार होगा। संसार में सब जगह अमेरिकी कार्यवाही की निन्दा हुई। जब अमेरिका ने क्षतिपूर्ति करने और माफी माँगने से इनकार कर दिया तो सोवियत संघ ने सुरक्षा-परिषद् में इस घटना की शिकायत की। परिषद् में सोवियत प्रतिनिधि ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें अमेरिका के इस जासूसी कारनामे की निन्दा की गयी थी और इसको चार्टर के सिद्धान्तों के प्रतिकूल बतलाया था। प्रस्ताव में अमेरिका से अनुरोध किया था कि वह ऐसे कार्य को शीघ्र बन्द कर दे।

अमेरिकी प्रतिनिधि हेनरी कैवट लॉज ने कहा, कि जासूसी उड़ान को 'आक्रमण' नहीं कहा जा सकता। उसने अमेरिका और अन्य देशों में सोवियत जासूसी का द ष्टान्त देना शुरू कियाः उसने कहा कि सोवियत प्रतिनिधि का कथन सत्य नहीं है कि सोवियत प्रदेश पर ऐसी उड़ानें निरन्तर करते रहना अमेरिकी सरकार की नीति है। राष्ट्रपति आइसनहावर ने यह आश्वासन दे दिया है कि ऐसी उड़ानें बन्द कर दी गयी है। सुरक्षा-परिषद् में प्रस्ताव पर खूब गरमागरम और नाटकीय ढंग से बहस हुई, लेकिन अन्त में प्रस्ताव रद्द हो गया। इसके पक्ष में केवल सोवियत संघ और पोलैंड के वोट आये।

इस बीच ख्रुश्चेव ने अपने भाषणों और वक्तव्यों से अमेरिका पर प्रबल आक्षेप किये और भविष्य में ऐसी जासूसी के विरुद्ध राकेटों द्वारा कड़ी कार्यवाही करने की चेतावनी दी। यू-2 विमान पाकिस्तान, तुर्की और नार्वे में स्थित अमेरिकी हवाई अड्डे से उड़ते थे। ख्रुश्चेव ने इन देशों को भी चेतावनी दी कि वे अपने यहाँ से ऐसे अड्डे हटा लें। इन देशों को उसने कहा आग से मत खेलिये। यदि भविष्य में कोई विमान इन देशों के अड्डों से आया तो सोवियत संघ अपने प्रक्षेपणास्त्रों (Missila) द्वारा उसको नष्ट कर देगा। सोवियत संघ में पावर्स पर मुकद्दमा चला और उसे जासूसी कार्य करने के अभियोग पर दस वर्ष की सख्त सजा दी गयी।

यू-2 कांड ने शीत-युद्ध में तूफान ला दिया। सोवियत संघ ने इसका खूब प्रचार किया और उसने खूब लाभ उठाया। ख्रुश्चेव ने यह सिद्ध करने में कोई कसर नहीं उठायी कि सोवियत संघ शान्ति का सबसे बड़ा समर्थक और अमेरिका उसका सबसे बड़ा दुश्मन है तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के लिए यही एकमात्र जिम्मेवार है। अमेरिका के सैन्य-संगठन सोवियत संघ पर आक्रमण करने के लिए बनाये गये हैं। यू-2 विमान इन सैन्य-संगठन के देश- तुर्की एवं पाकिस्तान से लेकर आया था और इसका लक्ष्य नाटो के सदस्य राज्य नार्वे पहुँचाना था। अतएव सोवियत संघ को इन देशों को चेतावनी देने का अवसर मिल गया। अब अमेरिकी अड्डों की इजाजत देने वाले देश यह अनुभव करने लगे कि यू-2 विमानों को अपने देश में ठहराना भयंकर खतरों को मोल लेना है, लेकिन यू-2 कांड का सर्वाधिक घातक प्रभाव पेरिस के शिखर-सम्मेलन पर पड़ा।

पेरिस का शिखर-सम्मेलनः शिखर-सम्मेलन की माँग बहुत दिनों से हो रही थी। जब सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव अमेरिका गये तो कैम्पाडेविड में राष्ट्रपति आइसनहावर से मुलाकात करने के समय यह निश्चय हुआ कि पेरिस में एक शिखर-सम्मेलन हो। इस निश्चय के बाद 'शीत-युद्ध के बर्फ में पहली दरार' दीखने लगी। पर्याप्त-विमर्श के बाद यह निश्चय हुआ कि 16 मई, 1960 को यह सम्मेलन पेरिस में शुरू हो। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के शासनाध्यक्ष सम्मिलित हो

तथा बर्लिन, जर्मनी, निरस्त्रीकरण आदि जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार तथा उनके समाधान का प्रयास किया जाए।

लेकिन शिखर-सम्मेलन शुरू होने के दो सप्ताह पूर्व (1 मई) यू-2 विमानकाण्ड हो गया। इसको लेकर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव फिर बढ़ गया। फिर भी यह सम्भावना नहीं प्रतीत हो रही थी कि शिखर-सम्मेलन असफल हो जायेगा। 11 मई को सुप्रिम सोवियत में बोलते हुए खुश्चेव ने इस आशय का आश्वासन भी दिया था। 'संयुक्त राज्य अमेरिका के इस उत्तेजनापूर्ण कार्य से' खुश्चेव ने कहा ' हमें अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने के प्रयत्नों में शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए। पेरिस में यू-2 का विषय नहीं उठाया जायेगा। लेकिन जब पेरिस में शिखर-सम्मेलन शुरू हुआ तो खुश्चेव ने यू-2 का प्रश्न उठा ही दिया। अमेरिका की जासूसी कार्यवाही की तीव्र भर्त्सना करते हुए उसने बड़े ही नाटकीय ढंग से कुछ माँगें रखीं। उसने कहा कि अमेरिका को अपने जासूसी काम की निन्दा करनी चाहिए, उसके लिए माफी माँगनी चाहिए, भविष्य में ऐसे उत्तेजनात्मक कार्य को बन्द करना चाहिए तथा घटना के उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिए, यदि ऐसा नहीं किया जाता, खुश्चेव ने कहा, "तो सोवियत संघ शिखर-सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ वार्ता करना एकदम बेकार समझता है और वह उसमें भाग नहीं ले सकता। इस सम्मेलन को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया जाय ताकि अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनाव के बाद जनवरी में हो सके।" खुश्चेव ने राष्ट्रपति आइसनहावर को अपमानित भी किया। आइसनहावर शिखर-सम्मेलन के बाद सोवियत संघ जाने वाले थे। सारा कार्यक्रम बन चुका था। खुश्चेव ने कहा कि सोवियत संघ इस निमंत्रण को वापस लेता है और अमेरिकी राष्ट्रपति को अब सोवियत संघ जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

खुश्चेव के इस आचरण से आइसनहावर स्तब्ध रह गया। उसने आश्वासन दिया कि यू-2 की घटना के बाद जासूसी उड़ानों को स्थगित कर दिया गया है और भविष्य में शुरू करने का कोई इरादा नहीं है। इसलिए सम्मेलन का कार्य बन्द करने के लिए इस घटना को बहाना बनाना अनुचित है। खुश्चेव ने कहा कि भविष्य में इन उड़ानों को शुरू करने का इरादा हो या नहीं, यदि फिर कोई जासूसी विमान आया तो उसकी भी वही दुर्गति होगी जो यू-2 का हुआ है। उसको आइसनहावर के आश्वासन से सन्तोष नहीं हुआ और अपनी माँगों पर डटा रहा। दगाल और मैकमिलन ने गतिरोध को दूर करने का यत्न किया पर वे विफल रहे। सम्मेलन के दूसरे सत्र में खुश्चेव नहीं आया और इसलिए सम्मेलन की कार्यवाही बन्द कर देनी पड़ी।

शिखर-सम्मेलन की असफलता शीत-युद्ध के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसके लिए दोनों पक्षों ने एक-दूसरे को दोषी ठहराया। खुश्चेव सम्मेलन में एक ऐसे आक्रामक देश के राष्ट्रपति के साथ बातचीत करने को तैयार न था जिसने अपना अपनाध ही स्वीकार नहीं किया था। दूसरी ओर आइसनहावर का कहना था कि खुश्चेव ने जान-बूझकर तिल का ताड़ बनाया है। अमेरिका ने जासूसी उड़ानों को बन्द कर देने का आश्वासन दे दिया है। इस पर भी यदि सोवियत प्रधानमन्त्री नहीं मानते हैं तो इसकी असफलता का सारा उत्तरदायित्व उन पर है। सोवियत प्रधानमंत्री का व्यवहार, आइसनहावर का कहना था, यह व्यक्त करता है कि वे मास्को से केवल पेरिस सम्मेलन को विफल बनाने के लिए आये थे।

शिखर-सम्मेलन की असफलता से सारे संसार में गहरी निराशा छा गयी। जो लोग सोचते थे कि शीत-युद्ध का अन्त हो जायेगा। उनकी आशाओं पर पानी फिर गया। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव फिर बढ़ गया। अपराधी ने तो अपना अपराध स्वीकार नहीं किया और वह हँसते-गाते वाशिंगटन वापस लौट आया लेकिन पेरिस की घटना से खुश्चेव को ग्लानि अवश्य हुई। अतएव कुछ दिनों के बाद उसे कहना पड़ा कि "सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बिगाड़ने का कोई कार्य नहीं करेगा।" 10 नवम्बर, 1960 को खुश्चेव का एक और महत्त्वपूर्ण वक्तव्य हुआ। उसमें उसने कहाः "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सब प्रकार के तनाव उत्पन्न होते हैं, किन्तु समय बीतने के साथ ऐसे सम्बन्धों की कटुता दूर हो जाती है। इसकी परवाह न कीजिए कि समुद्र कितना तूफानी है। तूफान के बाद हमेशा शांति आती है। यही अन्ततः यू-2 विमान की घटना के सम्बन्ध में होगा। इसकी जासूसी उड़ान एक शत्रुतापूर्ण कार्य थी, किन्तु कुछ समय बाद वह तूफान भी शान्त हो जायेगा।"

इसके बाद संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का चुनाव हुआ और इसमें **जॉन फिट्जैरल्ड कैनेडी** निर्वाचित हुए। नये राष्ट्रपति से यह आशा की जाने लगी कि वह शीत-युद्ध में कमी करने के लिए अवश्य ही प्रयास करेगा। बधाई देते हुए खुश्चेव ने ऐसी आशा व्यक्त की थी और कैनेडी ने अत्यन्त ही आशावादी जवाब दिया था। लेकिन नया राष्ट्रपति पुराने से भी एक कदम आगे बढ़ गया। क्यूबा में उनकी जो करतूतें हुईं उससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि अमेरिका की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। नया प्रशासन भी शीत-युद्ध का उतना ही बड़ा समर्थक बना रहा।

क्यूबा की घटनाः 1958 में क्यूबा में डा० फिडेल कैस्ट्रो के नेत त्व में एक नयी क्रान्तिकारी जनवादी सरकार की स्थापना हुई।

इस घटना ने शीत-युद्ध के इतिहास में एक नया अध्याय खोला। वर्षों से क्यूबा संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्राज्यवाद का घोर शिकार बना हुआ था। उसके आर्थिक जीवन पर अमेरिकी पूँजीपतियों का एकाधिकार था। कैस्ट्रो के हाथ में क्यूबा की सत्ता आने के बाद इस स्थिति में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी हो गया। समाजवादी व्यवस्था में विश्वास करने वाला यह क्रान्तिकारी व्यक्ति संयुक्त राज्य के डालर साम्राज्यवाद का घोर विरोधी था। उसने तुरंत ही अपने देश के आर्थिक साधनों का राष्ट्रीयकरण शुरू कर दिया। इससे सर्वाधिक घाटा संयुक्त राज्य के उन पूँजीपतियों को पहुँचा जो अमेरिका के प्रशासन पर प्रभाव रखते थे। तत्कालीन विदेश सचिव जॉन फास्टर डलेस का भी क्यूबा में अपना व्यक्तिगत आर्थिक स्वार्थ था। अतएव संयुक्त राज्य के निति-निर्धारकों के क्षेत्र में खलबली का मचना स्वाभाविक था।

कैस्ट्रो ने अपने देश में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना शुरू कर दी। साथ ही, कम्युनिस्ट गुट के साथ भी उसका सम्बन्ध निरन्तर बढ़ने लगा। सोवियत संघ के साथ उसका बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध कायम हुआ। कैस्ट्रो के समाजवादी प्रयत्नों से चिढ़कर संयुक्त राज्य अमेरिका उसका बहिष्कार करने लगा और उसके प्रभाव में आकर अन्य अमेरिकी गणराज्य भी क्यूबा के साथ अछूत-सा व्यवहार करने लगे। उसे अमेरिकी राज्यों के संगठन से निकाल दिया गया। इस हालत में क्यूबा अधिकाधिक मात्रा में सोवियत संघ के मैत्री और सद्भावना पर आश्रित होने लगा। उधर संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए यह बड़ी चिन्ता का विषय बन रही थी। अमेरिकी महाद्वीप के बीच में लाल झण्डा फहराये यह कैसे सह्य हो सकता था। "स्वस्थ अमेरिकी शरीर में क्यूबा एक कोढ़" माना जाने लगा। इस हालत में संयुक्त राज्य अमेरिका कैस्ट्रो की सरकार को उलट कर उसकी जगह पर कुछ पिछलगुओं एवं प्रतिक्रियावादियों की सरकार कायम करने का षड्यन्त्र करने लगा। विदेश-नीति के क्षेत्र में राष्ट्रपति कैनेडी का यह पहला महत्त्वपूर्ण कार्य था।

क्यूबा में जब कैस्ट्रो की सरकार कायम हुई तो उस समय कुछ लोग क्यूबा से भागकर संयुक्त राज्य अमेरिका चले गये। इन्हीं शरणार्थियों के नाम पर संयुक्त राज्य अमेरिका में एक "क्यूबा मुक्ति सेना" संगठित की जाने लगी। लेकिन वास्तव में इस 'सेना' के सैनिक संयुक्त राज्य अमेरिका के सैनिक थे। इस सेना द्वारा क्यूबा पर आक्रमण करने की तैयारी होने लगी। क्यूबा का अपराध था समाजवादी व्यवस्था को अपनाना तथा सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध बढ़ाना। 1961 के अप्रैल में क्यूबा पर आक्रमण करने की जब पूरी तैयारी हो गयी तो 17 तारीख को तथाकथित क्यूबा निवासियों ने एक अस्थायी सरकार कायम कर सैनिक आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। सोवियत सरकार ने इस आक्रमण के पीछे संयुक्त राज्य अमेरिका का हाथ बतलाया, लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस आरोप को स्वीकार नहीं किया। इस पर सोवियत संघ ने धमकी दी कि यदि क्यूबा पर बहुत बड़ा आक्रमण हुआ तो सोवियत संघ चुपचाप नहीं बैठा रहेगा। सारी दुनिया में संयुक्त राज्य अमेरिका की इस कार्यवाही की निन्दा की गयी। इस कारण क्यूबा में अमेरिका का षड्यन्त्र पूरा नहीं हो सका और आक्रमणकारियों को कैस्ट्रो सरकार की सेना ने बुरी तरह पराजित कर दिया। वह राष्ट्रपति कैनेडी की बहुत बड़ी पराजय और कैस्ट्रो की बहुत बड़ी विजय थी। आक्रमण में भाग लेने वाले बहुतेरे अमेरिकी पकड़ लिये गये और जब कैस्ट्रो ने संयुक्त राज्य अमेरिका से युद्ध-हरजाना वसूल लिया सभी कैदियों को मुक्त किया।

अमेरिका की इस कार्यवाही के परिणामस्वरूप क्यूबा और सोवियत संघ का सम्बन्ध बहुत घनिष्ट होने लगा। कैस्ट्रों की सरकार को सोवियत संघ से बड़ी मात्रा में आर्थिक और सैनिक सहायता मिलने लगी। क्यूबा के वायुयान चालक रूसी मींग विमान को चलाने का प्रशिक्षण चेकोस्लोवाकिया में पाने लगे। अमेरिकी महादेश में अपना एक समर्थक पा लेना समाजवादी जगत की एक बहुत बड़ी सफलता थी। इसलिए क्यूबा अमेरिका की आँखों का काँटा बन रहा था।

अक्टूबर, 1962 में क्यूबा की समस्या ने अत्यन्त ही गम्भीर रूप धारण कर लिया। सोवियत संघ ने वहाँ नये-नये अड्डे कायम कर लिये थे। इन अड्डों में राकेट प्रक्षेपणास्त्र (Rocket missile) रखे जाने लगे। संयुक्त राज्य अमेरिका ने कहा कि वह इस स्थिति को किसी हालत में कबूल नहीं कर सकता कि सोवियत संघ के आक्रामक हथियार अमेरिका के इतने नजदीक रखे जायें। राष्ट्रपति कैनेडी ने इसका विरोध किया और कुछ ऐसा कदम उठाया जिससे विश्व-शांति पर खतरा उपस्थित हो गया। शीत-युद्ध अपनी चरम सीमा पर आ गया।

22 अक्टूबर, 1962 को राष्ट्रपति कैनेडी ने क्यूबा के नाकेबन्दी (blockade) की घोषणा की। अमेरिका नौ-सेना को आदेश दिया गया कि वह ऐसे सभी जहाजों को आक्रामक हथियार लादकर क्यूबा जा रहे हों उनको रोका जाए ताकि वे क्यूबा नहीं पहुँच सकें। इसी समय सोवियत संघ के कुछ जहाज क्यूबा जा रहे थे। अब प्रश्न यह था कि सोवियत जहाजों को अमेरिकी नौ-सेना

रोकेगी, सोवियत संघ इसका विरोध करेगा और जब अमेरिका नहीं मानेगा तो दोनों महान् शक्तियों में युद्ध शुरू हो जायेगा जिसका मतलब था- त तीय विश्वयुद्ध। लेकिन यह एक सन्देहजनक बात है कि राष्ट्रपति कैनेडी विश्वयुद्ध की जोखिम मोल लेने को तैयार था। उसका इरादा सम्भवतः क्यूबा कैस्ट्रो-शासन का अन्त करना था। लेकिन उसकी कार्यवाही से सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच प्रत्यक्ष तनाव तो उत्पन्न हो ही गया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव यू-थान्त ने देखा कि स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी है और इससे युद्ध छिड़ सकता है। अतएव उन्होंने एक सुझाव रखा कि एक निश्चित काल तक अमेरिका नाकेबन्दी को लागू नहीं करे और इस काल में सोवियत संघ कैरेवियन समुद्र में अपना जहाज न भेजे तथा इस बीच में बातचीत करके इस समस्या के समाधान का प्रयत्न किया जाय। खुश्चेव ने क्यूबा समस्या पर विचार करने के लिए शिखर-सम्मेलन की माँग की, लेकिन राष्ट्रपति कैनेडी इस पर राजी नहीं हुए। उन्होंने इन दोनों सुझावों को नामंजूर कर दिया। विश्वयुद्ध के काले बादल मंडराने लगे।

खुश्चेव शीत-युद्ध की इस राजनीति को भली-भाँति समझ रहा था। विश्व-युद्ध का तो उसे भय नहीं था, लेकिन इस संकट में क्यूबा की कैस्ट्रो सरकार का अन्त अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा था। अतएव काफी सोच-समझकर वह क्यूबा में स्थित सभी सोवियत अड्डों को हटा लेने पर राजी हो गये। यह तय हुआ कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की देख-रेख में सारे सोवियत यन्त्र क्यूबा से हटा लिये जायेंगे।

क्यूबा की यह घटना शीत-युद्ध के इतिहास में सोवियत संघ की सबसे बड़ी पराजय और संयुक्त राज्य अमेरिका की सबसे बड़ी सफलता मानी जाती है। यह कहा जाता है कि सोवियत संघ को अमेरिका ने चुनौती दी, लेकिन सोवियत संघ युद्ध के डर से दबकर पीछे हट गया। ऊपर से देखने से तो प्रतीत होता है, लेकिन कुछ लोग इस घटना को अमेरिका की विजय नहीं मानते। उनका कहना है कि 1962 से क्यूबा-संकट में असल प्रश्न विश्वयुद्ध का नहीं वरन् कैस्ट्रो सरकार के कायम रहने का था और खुश्चेव ने क्यूबा से सैनिक अड्डा हटाकर कैस्ट्रो सरकार को पतन से बचा लिया। इस द ष्टि से वास्तविक विजय सोवियत संघ की हुई। इस तर्क में कुछ तथ्य अवश्य है। कहा जाता है कि जब संघ ने अड्डे हटाने की बात मान ली तो वाशिंगटन के सरकारी हलकों में घोर निराशा छा गयी थी। यह निराशा इसलिए हुई कि अमेरिका की मनोकामना पूरी नहीं हो सकी।

शीत-युद्ध में शिथिलता

क्यूबा-संकट के बाद शीत-युद्ध में कुछ शिथिलता आयी और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में बहुत सुधार हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ दोनों ने अनुभव किया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तनावपूर्ण वातावरण बनाये रखना व्यर्थ है और कैनेडी तथा खुश्चेव दोनों ने पारस्परिक सम्बन्ध में सुधार के लिए कई सराहनीय कार्य किये। क्रेमलिन तथा ह्वाइट हाउस दोनों के बीच सीधा सम्पर्क कायम करने के लिए सीधा टेलीफोन की लाईन (hot line) की व्यवस्था की गयी ताकि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संकट के समय दोनों के शासनाध्यक्ष प्रत्यक्ष वार्ता कर सकें। इस नये वातावरण में निरस्त्रीकरण की दिशा में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। 25 जुलाई, 1963 को अमेरिका, ब्रिटेन और सोवियत संघ के मध्य वायुमंडल के बाह्य अन्तरिक्ष तथा समुद्र में अणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाने वाली एक सन्धि हुई। 1955 की आस्ट्रिया की शांति सन्धि के बाद पूर्व और पश्चिम का यह सबसे बड़ा समझौता था। सन्धि पर हस्ताक्षर करते समय यह घोषणा की गयी कि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव घटाने तथा शांति को सुद ढ़ करने की दिशा में यह पहला बड़ा पग है।

सोवियत संघ तथा चीन का वैचारिक विवाद और शीत-युद्धः सोवियत संघ और चीन के मध्य वैचारिक विवाद के कारण भी शीत-युद्ध में शिथिलता आयी। क्यूबा-संकट के समय खुश्चेव ने बड़े संयम से काम लिया था। यह इस बात का प्रमाण था कि सोवियत संघ शीत-युद्ध की राजनीति में विश्वास नहीं करता और विश्व-शान्ति को कायम रखने के लिए वह बहुत कुछ त्याग कर सकता है। नहीं तो यदि खुश्चेव डट जाता तो त तीय विश्वयुद्ध को रोकना असम्भव था। सारे संसार में खुश्चेव ने अपने शांतिपूर्ण सहजीवन की नीति की नेकनीयती को साबित कर दिया। इनमें संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी पीछे चलकर बड़े संयम से काम लिया। क्यूबा में अमेरिकी माँगों को सोवियत संघ द्वारा स्वीकार कर लेने का अर्थ सोवियत संघ की पराजय नहीं लगाया गया। राष्ट्रपति कैनेडी ने खुश्चेव की बड़ी तारीफ की और उसे संसार का सबसे महान् राजनेता कहा। निःसन्देह यह शीत-युद्ध की भाषा नहीं थी।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत हुआ कि दोनों देशों की नीति में कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। सोवियत संघ की नीति में तो अवश्य ही परिवर्तन हो चुका था। ख्रुश्चेव के नेत त्व में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी स्टालिनवादी नीति को छोड़कर राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण सहजीवन की नीति अपना रही थी। ख्रुश्चेव का कहना था कि विश्व में समाजवाद का प्रचार युद्ध के द्वारा नहीं हो सकता। युद्ध होने पर सारे संसार का विनाश हो जायेगा। "लेकिन हमने एक नयी दुनिया- समाजवादी दुनिया बसायी है और हम शांतिपूर्ण वातावरण में इसका पूर्ण उपभोग करना चाहते हैं।" अतएव पूँजीवाद के साथ ख्रुश्चेव शांतिपूर्ण प्रतिद्वन्द्विता चाहता था। उसका अटल विश्वास था कि साम्यवादी व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था से करोड़ गुना श्रेष्ठ है और अन्त में इसकी विजय निश्चित है। इस विजय को शांतिपूर्वक हासिल किया जा सकता है।

साम्यवादी दुनिया में ठीक इसके विपरीत एक दूसरी विचारधारा थी जिसका नेत त्व चीन की कम्युनिस्ट पार्टी करती थी। चीन के कम्युनिस्टों का कहना है कि पूँजीवाद के साथ समाजवाद का अस्तित्व एक बेतुकी बात है। देवता और दानव एक साथ अगल-बगल में नहीं रह सकते। दानव रूपी पूँजीवाद का विनाश करना प्रत्येक कम्युनिस्ट का कर्त्तव्य है। "शांतिपूर्ण सहजीवन की बात करने वाले असल मार्क्सवादी नहीं हो सकते।"

इस प्रकार साम्यवादी दुनिया में भयंकर वैचारिक मतभेद (ideological differences) उत्पन्न हो गया और दोनों विचारधाराओं में जमकर संघर्ष शुरू हुआ। इसको लेकर सोवियत संघ और जनवादी चीन का सम्बन्ध बहुत खराब हो गया। सोवियत संघ की पार्टी में भी इस प्रश्न पर मतभेद था। वहाँ अभी कुछ ऐसे व्यक्ति थे जिनको स्टालिनवादी कहा जाता था और वे ख्रुश्चेव की नीति के प्रबल विरोधी थे। कहा जाता है कि क्रेमलिन में स्टालिनवादियों और ख्रुश्चेवादियों में निरन्तर संघर्ष चल रहा था। स्टालिनवादी इस ताक में लगे हुए थे कि मौका पाकर ख्रुश्चेव के तख्ता को पलट दिया जाय।

कम्युनिस्ट दुनिया के इस संघर्ष का प्रभाव शीत-युद्ध पर पड़ा। पश्चिमी गुट के देश इस हालत में तो ऐसा काम नहीं करना चाहते थे कि जिसमें ख्रुश्चेव की पराजय और बदनामी हो तथा उससे लाभ उठाकर क्रेमलिन में स्टालिनवादी सत्तारूढ़ हो जाये। "ख्रुश्चेव के बने रहने से अमेरिका को कुछ लाभ दीखता हो या नहीं पर अमेरिकी गुट के अन्य प्रमुख देश; जिनका कल्याण शांति बने रहने में ही था, अवश्य ही ख्रुश्चेव की शांतिपूर्ण सहजीवन की नीति से प्रभावित थे।" अतएव संयुक्त राज्य पर उसका दबाव था कि वह कोई ऐसा उत्तेजनात्मक कार्य न करे जिससे ख्रुश्चेव की बदनामी हो और उसका पलड़ा कमजोर पड़ जाय। पश्चिमी गुट समझता था कि उसका हित इसी में है कि सोवियत संघ और जनवादी चीन का मतभेद और गहरा हो। चीन की उग्र नीति से सब-के-सब त्रस्त थे। इस हालत में चीन को संसार में अकेला करने में उनका भी हित निहित था। इस नये तथ्य के सामने आने से अब इस बात की चर्चा चल पड़ी कि एक ऐसा दिन भी आ सकता है जब चीन के विरुद्ध अमेरिका और सोवियत संघ का एक संयुक्त मोर्चा बने। ख्रुश्चेव के पतन के बाद भी सोवियत संघ और चीन के मतभेदों का अन्त नहीं हुआ। इस कारण, अर्थात् सोवियत संघ और चीन के सैद्धान्तिक मतभेद के कारण, शीत-युद्ध में कुछ शिथिलता आ गयी इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस प्रकार ख्रुश्चेव और कैनेडी दोनों के प्रयत्नों तथा नयी परिस्थिति के फलस्वरूप शीत-युद्ध में कुछ शिथिलता आयी और शान्तिप्रिय देशों की जनता यह अनुभव करने लगी कि ये दोनों महान् नेता संसार में शीघ्र ही विश्वास और शांति का वातावरण प्रस्तुत कर देंगे। क्यूबा की घटना के बाद राष्ट्रपति कैनेडी ने अधिक संयम से काम लिया और ऐसी किसी उग्र नीति का अवलम्बन नहीं किया जिससे शीत-युद्ध पुनः प्रारम्भ हो जाय। सम्भवतः अमेरिकी प्रशासन सोवियत संध और चीन के झगड़े के परिणाम देखने के लिए उत्सुक था और उसके बाद ही वह इस संबंध में कोई फैसला करना चाहता था। इस तथ्य के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि राष्ट्रपति कैनेडी कुछ उदारवादी प्रव त्ति के नेता थे और शीत-युद्ध को रोकना चाहते थे, लेकिन दुर्भाग्यवश "23 नवम्बर, 1963 को अमेरिका के प्रतिक्रियावादी तत्वों के षड्यन्त्र के फलस्वरूप डालस नगर में उसकी हत्या कर दी गयी। इसके लगभग एक वर्ष बाद 15 अक्टूबर, 1964 को सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी ने ख्रुश्चेव को प्रधानमंत्री के पद से मुक्त कर दिया।"

जॉनसन प्रशासन की नीतिः कैनेडी की म त्यु के बाद उपराष्ट्रपति लिडन जॉनसन ने संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति का पद सम्भाला। नये राष्ट्रपति ने आश्वासन दिया कि वे भूतपूर्व राष्ट्रपति की नीतियों को ही कार्यान्वित करेंगे और शीत-युद्ध को फैलाने की कोई चेष्टा नहीं करेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रपति जॉनसन ने अपने शासन के प्रारम्भिक दिनों में अपने दिये गये वचनों का पालन किया और अमेरिका की ओर से तत्काल कोई कार्यवाही नहीं की गयी जिसके आधार पर यह कहा जाय कि अमेरिकी प्रशासन शीत-युद्ध के फैलाव के लिए चेष्टा कर रहा हो।

उधर ख्रुश्चेव के पतन के बाद अक्टूबर, 1964 में सोवियत संघ का नेत त्व दो व्यक्तियों **कोसिजिन** और **ब्रेजनेव** के हाथों में आया। तत्काल बहुत-से देशों में यह आशंका फैली कि सोवियत संघ का नया नेत त्व स्टालिनवादी होगा और इसलिए सोवियत संघ की विदेश-नीति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आयेगा। लेकिन यह आशंका शीघ्र ही जाती रही। सोवियत संघ के नेताओं ने तुरंत ही यह घोषणा की कि वे भूतपूर्व प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव की विदेश-नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं करेंगे। उन्होंने कहा कि सोवियत संघ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्तों में विश्वास करता रहेगा; निरस्त्रीकरण के लिए प्रयास करेगा तथा शीत-युद्ध में तीव्रता नहीं आने देगा।

कैनेडी और ख्रुश्चेव के उत्तराधिकारियों ने यद्यपि उन्हीं की नीतियों का अनुसरण करते हुए शीत-युद्ध को शिथिल करने का आश्वासन दिया, लेकिन दुर्भाग्यवश कई कारणों से ऐसा नहीं हो सका और संसार को इससे पूर्ण मुक्ति नहीं मिल सकी। इसके लिए अमेरिकी प्रशासन की जिम्मेवारी सबसे अधिक है "जिसने वियतनाम की राजनीति में जबरदस्ती हस्तक्षेप करके शीत-युद्ध की दबती हुई आग खोदकर भड़काने का प्रयास किया।" राष्ट्रपति पद को सम्भालने के कुछ दिनों के बाद जॉनसन ने वियतनाम के प्रति एक अति उग्र और आक्रामक नीति का अवलम्बन किया। "उत्तरी वियतनाम की सीमा में बार-बार घुसकर अमेरिका के वायुयानों ने बम बरसाना शुरू किया और वियतनाम युद्ध को अधिकाधिक फैलाने की कोशिश की गयी। सोवियत संघ ने अमेरिका की इस आक्रमक कार्यवाही का कड़ा विरोध किया और इस समस्या को लेकर दोनों के बीच शीत-युद्ध फिर शुरू हो गया।

वियतनाम-युद्ध के अलावा समय-समय पर अनेक अन्य घटनाएँ भी घटीं जिनसे शीत-युद्ध में उतार-चढ़ाव चलता रहा। 1964 में सोवियत संघ द्वारा काँगों आदि में संयुक्त राष्ट्र के शांतिस्थापक कार्यों के व्यय के अपने अंश की अदायगी से इन्कार करने और अमेरिका की इस माँग ने कि यदि सोवियत संघ अपना अंश अदा नहीं करे तो चार्टर के अनुसार उसे साधारण सभा में मताधिकार से वंचित कर दिया जाय, शीत-युद्ध को अत्याधिक उग्र करके एक बड़ी संकटापूर्ण स्थिति उत्पन्न कर दी। इस प्रश्न पर अमेरिका और सोवियत संघ दोनों ने बड़ा कड़ा रुख अपनाया और ऐसा प्रतीत हुआ कि इनके विवाद के चलते विश्व-संस्था टूट जायगी, लेकिन बाद में इस समस्या का एक सर्वमान्य समाधान निकल आया और इस प्रकार शीत-युद्ध का अध्याय समाप्त हुआ।

अरब-इजरायल संघर्ष और शीत-युद्धः मई, 1967 में अरब-इजरायल सम्बन्ध में पुनः तनाव आया और पश्चिम एशिया में युद्ध की स्थिति पैदा हो गयी। सोवियत संघ ने इजरायल के विरुद्ध अरब राज्यों का पक्ष लिया और अमेरिका पर यह आरोप लगाया कि वह इजरायल को आक्रामक कार्यवाही के लिए प्रोत्साहित कर रहा है। इसके जवाब में अमेरिका ने तनाव की व द्धि के लिए सोवियत कूटनीति को दोषी ठहराया। "जब राष्ट्रपति नासिर ने अकाबा की खाड़ी की नाकेबन्दी की घोषणा की तो अमेरिका और ब्रिटेन ने इसे गलत बताया। सोवियत संघ ने अरब राज्यों का पुनः जोरदार शब्दों में समर्थन किया। उसने पश्चिम राष्ट्रों को चेतावनी दी कि वे पश्चिम एशिया की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करें। इस प्रकार पश्चिम एशिया के संकट को लेकर दोनों के बीच तनाव बढ़ गया और दोनों के जहाजी बेड़े भूमध्यसागर में चक्कर काटने लगे। स्थिति बड़ी नाजुक हो गयी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के बीच इजरायल और अरब जगत की आड़ में सीधी टक्कर हो जायेगी।

अरब इजरायल संघर्ष के समय शीत-युद्ध का अनोखा नाटक सुरक्षा परिषद् की प्रत्येक बैठकों में देखने को मिला जहाँ अमेरिका और सोवियत संघ एक-दूसरे पर आरोप तथा प्रत्यारोप करते रहे और एक-दूसरे को अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में व द्धि तथा पश्चिम एशिया में युद्ध के विस्फोट के लिए जिम्मेवार ठहराते रहे।

अरब-इजरायल युद्ध का परिणाम सोवियत संघ के मनोनुकूल नहीं हो सका। उसके जबरदस्त समर्थन के बावजूद अरब राष्ट्र इजरायल से युद्ध में बुरी तरह पराजित हुए। इजरायल को अमेरिका और ब्रिटेन दोनों से प्रत्यक्ष और परोक्ष सहायता मिली थी, लेकिन सोवियत संघ ने अरबों को युद्ध में कोई सक्रिय सहायता नहीं की। इस कारण अरब जगत तथा अन्य क्षेत्रों में सोवियत संघ को बदनाम करने की कोशिश की गयी। सोवियत संघ पर आक्षेप किया गया कि किसी मित्र राष्ट्र को उस पर भरोसा नहीं करना चाहिए। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए सोवियत संघ ने अरब जगत में अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए अरब राज्यों का पक्ष लेते हुए यह माँग की कि अरब-इजरायल संघर्ष का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में पेश किया जाय। शुरू में अमेरिका ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, लेकिन बाद में वह राजी हो गया। और 18 जून, 1967 को अरब-इजरायल संघर्ष से उत्पन्न विवाद साधारण-सभा में पेश हुआ। सोवियत प्रधानमंत्री कोसिजिन स्वयं इस

आपातकालीन अधिवेशन में भाग लेने के लिए न्यूयार्क पहुँचे। कोसिजिन ने साधारण सभा में स्वयं एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। यह प्रस्ताव अरब भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता था, लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका और इसके सहयोगी राज्य इसको मानने के लिए तैयार नहीं थे। अतः 9 जून की बैठक में सोवियत प्रतिनिधिमण्डल ने सभा से वाकआउट करके अपने गुस्से का इजहार किया। कोसिजिन ने अमेरिकी प्रशासन पर कड़वे प्रहार किये। अरब-इजरायल संघर्ष के सन्दर्भ में यह शीत-युद्ध का चरम विकास था।

ग्लासबरो का शिखर-सम्मेलनः संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा के अधिवेशन में आये हुए सोवियत प्रधानमंत्री कोसिजिन ने राष्ट्रपति जॉनसन से ग्लासबरो में मुलाकात की। शुरू में दिली ख्वाहिश होने के बावजूद जॉनसन और कासिजिन में से कोई भी शिखर वार्ता के लिए उत्सुकता नहीं दिखाना चाहता था। पश्चिमी साम्राज्यवादियों से साँठ-गाँठ करके चीन और अल्बेनिया के प्रकट आरोपों-टीटो जैसे नेताओं द्वारा "मुलायमियत" की शिकायत और सशक अरब देशों की भावनाओं को देखते हुए कोसिजिन ने शुरू में ही यह बताया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में वह अपनी बात मनवाने आये हैं; अमेरिका से कोई लेन-देन समझौता करने नहीं। जॉनसन की ओर से भी कुछ ऐसा ही द ष्टिकोण अपनाया गया, लेकिन एकाएक यह निश्चय हुआ कि ग्लासबरो नगर में दोनों शासनाध्यक्ष मिलें तथा वर्तमान समस्या पर विचार-विमर्श करें।

सोवियत संघ और अमेरिका के शासनाध्यक्षों का यह शिखर सम्मेलन ग्लासबरो में 23 जून से 26 जून (1967) तक चला। 1961 के जेनेवा सम्मेलन के बाद यह दोनों देशों के शासनाध्यक्षों का प्रथम सम्मेलन था। इस सम्मेलन के सम्बन्ध में संसार के समाचार-पत्रों ने तरह-तरह की अटकलबाजियाँ लगायी गयी। यह कहा गया कि सोवियत संघ और अमेरिका के मध्य एक गुप्त समझौता हो गया है जिसमें सोवियत संघ ने पश्चिम एशिया में इस शर्त पर अपना रूख नरम करने का दावा किया है कि अमेरिका वियतनाम के युद्ध को सीमित कर देगा, लेकिन इस तरह की कोई बात नहीं हुई। दोनों नेताओं ने घंटों एकान्त में मंत्रणा की। वियतनाम तथा पश्चिमी एशिया पर मुख्य रूप से वैचारिक आदान-प्रदान हुए और निरस्त्रीकरण तथा परमाणु शक्ति के विस्तार के सवाल भी अछूते नहीं रहें।

शिखर-सम्मेलन पर चीन के हाइड्रोजन बम परीक्षण का साया पड़ रहा था। चीन की उग्रवादी नीतियों और हर क्षेत्र में अन्तरविरोधों का फायदा उठाकर मतभेदों की दरार में अपनी टाँग अड़ाने की कोशिशें दोनों महती शक्तियों को समय-समय पर असमंजस में डालकर एक-दूसरे के नजदीक लाती रहीं। ग्लासबरो में निश्चित ही कोई सौदेबाजी नहीं हुई, लेकिन इस सम्मेलन के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी अवश्य आयी। महती शक्तियों के बीच पश्चिम एशिया के सम्बन्ध में सहमत का दायरा बढ़ता दिखायी पड़ा। इस शिखर-सम्मेलन के बाद शीत-युद्ध की उग्रता में कमी अवश्य आयी और दोनों देश कुछ अधिक संयम से भाषा का प्रयोग करने लगे।

वियतनाम युद्धः पश्चिम एशिया के संकट के अतिरिक्त 1967-68 में वियतनाम के प्रश्न ने शीत-युद्ध में अग्नि का काम किया है। वियतनाम में चलने वाला संघर्ष शीत-युद्ध में उत्तरोतर व द्धि करता गया। इस प्रश्न को लेकर पश्चिम और पूर्व एक-दूसरे पर आरोपों-प्रत्यारोपों की झड़ी लगाते रहें और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में व द्धि होती रही। लेकिन अप्रैल, 1968 में राष्ट्रपति जॉनसन द्वारा पुनः अमेरिकी राष्ट्रपति के लिए उम्मीदवार न होने तथा उत्तरी वियतनाम पर बमबारी रोकने की घोषणा से तनाव में बहुत कमी आयी।

मार्च, 1969 का बर्लिन संकटः शीत-युद्ध के इतिहास में एक उभार तब आया जब पश्चिमी जर्मनी की सरकार ने निश्चय किया कि मार्च, 1969 का फेडरेल जर्मनी के राष्ट्रपति का चुनाव पश्चिम बर्लिन में सम्पन्न किया जाय। पूर्वी-जर्मनी की सरकार ने इसका विरोध किया। उसका कहना था कि पश्चिम बर्लिन अब भी 1945 के पोर्ट्सडाम समझौते के अधीन है। इसलिए पश्चिम जर्मनी के शासकों को इस तरह के समारोह करके उसे पश्चिम जर्मनी का ही एक भाग सिद्ध करने का कोई अधिकार नहीं है। पूर्व जर्मनी का यह भी कहना था कि पश्चिमी जर्मनी के राष्ट्रपति के चुनाव बर्लिन में कराने का निर्णय पूर्वी जर्मनी के दावे के खण्डन के लिए किया है।

अतएव पूर्व जर्मनी सरकार ने पश्चिम बर्लिन जाने वाले मार्ग पर प्रतिबन्ध लगा दिया ताकि राष्ट्रपति के चुनाव में हिस्सा लेने वाला निर्वाचक मण्डल बर्लिन नहीं पहुँच सके। पूर्व जर्मनी के इस प्रतिबन्ध की प्रतिक्रिया पश्चिम जर्मनी पर यह हुई कि पश्चिम बर्लिन में ही यह चुनाव कराने का उसका निश्चय और भी द ढ़ हो गया। हवाई यातायात चूँकि इस प्रतिबन्ध से मुक्त था, इसलिए चुनाव मण्डल के अधिकांश सदस्य और उनके लगभग तीन सौ कर्मचारियों को पूर्व जर्मनी के एक सौ दस मील के प्रदेश पर से उड़ान करके पश्चिम बर्लिन में पहुँचाने का निश्चय किया गया। पश्चिम जर्मनी की इस कार्यवाही को पश्चिम राष्ट्रों का पूरा-पूरा समर्थन प्राप्त था। बताया जाता है कि पश्चिम बर्लिन में राष्ट्रपति के चुनाव कराने के निर्णय से पहले बोन की सरकार

ने अपने पश्चिम मित्र देशों से अच्छी तरह सलाह-मशविरा कर लिया था, क्योंकि पश्चिम बर्लिन की रक्षा की जिम्मेवारी अन्ततः उन्हीं पर थी।

पूर्व जर्मनी के उग्र विरोध को सोवियत संघ का समर्थन मिलना स्वाभाविक ही था। अतएव सोवियत संघ की ओर से विरोध प्रकट किया गया और पश्चिम जर्मनी को यह चेतावनी दी गयी कि चुनाव कार्य को बर्लिन में सम्पन्न कर वह स्थिति को भड़काने का कार्य नहीं करे। सोवियत संघ के इस रूख से ऐसा प्रतीत होने लगा था कि बर्लिन को लेकर एक बार पुनः शीत-युद्ध अपने पुराने स्वरूप को धारण कर लेगा, लेकिन ऐसा नहीं हुआ और राष्ट्रपति के चुनाव का कार्य पश्चिम बर्लिन में ही सम्पन्न हुआ।

वस्तुतः बात यह थी कि इस प्रश्न को लेकर सोवियत संघ कोई पूर्व-पश्चिम संकट खड़ा करने के पक्ष में नहीं था। राजनैतिक प्रेक्षकों को ख्याल था कि इस तरह के संकट को खड़ा करने से सोवियत संघ का कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं हो रहा था। उलटे अमेरिका के साथ प्रक्षेपणास्त्रों के बारे में सोवियत संघ की प्रस्तावित बातचीत पर बुरा असर पड़ता। नये अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन के साथ सोवियत संघ के शिखर-सम्मेलन की जो योजना थी; उस पर भी इसका विपरीत असर पड़ सकता था। अतएव इस संकट के समय सोवियत संघ ने बड़े संयम से काम लिया। पूर्व जर्मनी को खुश करने के लिए उसे विरोध प्रकट करना था लेकिन उसने शीतयुद्ध को पुनः शुरू होने से रोक दिया। इस अवसर पर सोवियत संघ ने जो अत्यंत संयम से काम लिया उसके मूल में एक और बात थी। बर्लिन में चुनाव सम्पन्न होने के तीन दिन पहले (2 मार्च, 1969) चीन के साथ पूर्वी एशिया में एक मामूली सैनिक झड़प हो गयी। इस घटना के कारण भी बर्लिन संकट पर सोवियत संघ इतना अधिक ध्यान नहीं दे सका, अन्यथा शीतयुद्ध को उभाड़ने के लिए इस संकट ने एक अच्छा अवसर प्रदान किया था।

मास्को-बोन समझौता (1970) और शीत-युद्धः द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से यूरोप में शीत-युद्ध के मूल में जर्मनी की समस्या रही है। विश्वयुद्ध के बाद से पश्चिम जर्मनी और सोवियत संघ में कभी भी सामान्य सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ और दोनों के बीच निरन्तर तनातनी बनी रही। इस तनातनी में पश्चिम जर्मनी को हमेशा पश्चिम गुट का समर्थन मिलता रहा। इस परिस्थिति का अन्त करने के लिए 10 अगस्त, 1970 को पश्चिम जर्मनी और सोवियत संघ के बीच एक सन्धि हुई। इस सन्धि को फ्रांस के समाचार-पत्र लामों ने यूरोपिय इतिहास का एक वर्तन बिन्दु माना था। इस समझौते से यूरोप में आशा का एक नया वातावरण पैदा हुआ। दोनों ने वस्तुस्थिति को मान कर एक-दूसरे के खिलाफ शक्ति का प्रयोग न करने का फैसला किया। सारी दुनिया में इस समझौते का स्वागत किया गया और यह आशा व्यक्त की गयी कि अब यूरोप में युद्ध नहीं होगा, पूरब पश्चिम में सुरक्षा की भावना बढ़ेगी और नाटो तथा वारसा सन्धि संगठन की जरूरत नहीं रह जायगी। वस्तुतः सन्धि से न केवल उस शीत-युद्ध की समाप्ति के आसार दिखाई पड़े अपितु व्यापक रूप से दोनों गुटों के बीच शांति का पथ प्रशस्त हुआ। यूरोप के इतिहास में यह कदम हमेशा एक विजय स्तम्भ के रूप में याद किया जायेगा।

इस सन्धि की सबसे बड़ी विशेषता दो रूपों में प्रकट हुई- एक तो यह कि सोवियत संघ और पश्चिम जर्मनी एक-दूसरे के खिलाफ शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे और दूसरे यह कि पूर्व और पश्चिम जर्मनी की सीमाओं सहित यूरोप में जो वर्तमान राष्ट्रीय सीमाएँ हैं उन्हें दोनों देशों ने स्वीकार कर लिया। यह स्मरणीय है कि झगड़ा अथवा तनाव मुख्यतः जर्मनी के वर्तमान स्वरूप और युद्ध के बाद की राष्ट्रीय सीमाओं का आधार बनाकर ही था। इसलिए जब इन्हें सन्धि द्वारा स्वीकार कर लिया गया तो तनाव से पैदा हो सकने वाली लड़ाई का कोई आधार नहीं रह गया। इसका मतलब यह नहीं कि आपसी मतभेद के सब मुद्दे खत्म हो गये; किन्तु एक दूसरे पर अनाक्रमण की जो बात सन्धि में है उसका अभिप्राय यही है कि वे शान्तिपूर्वक वार्ता द्वारा हल किये जा सकेंगे। यद्यपि सोवियत संघ ने जर्मनी के एकीकरण की बात इस सन्धि में शामिल नहीं होने दी फिर भी इस बात की गुन्जाइश रखी गयी कि यदि दोनों जर्मनी चाहें तो वैसा कर सकते हैं। इसी प्रकार जहाँ तक पश्चिम यूरोप के सभी देशों के साथ पश्चिम जर्मनी की राजनीतिक वार्ता और सम्बन्धों की बात थी, ऐसा कोई बन्धन सन्धि में नहीं है जो उसमें बाधक बने। यही कारण है कि दोनों देशों के बीच वर्षों का झगड़ा केवल ग्यारह दिन की उस वार्ता में सुलझा दिया गया।

बर्लिन पर समझौताः अठारह मास तक बातचीत करने के बाद अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ के प्रतिनिधियों के बीच पश्चिम बर्लिन के बारे में भी अगस्त 1971 में एक समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार अब पश्चिम बर्लिन के लोग पूर्व बर्लिन जा सकेंगे। इस तरह पश्चिम जर्मनी से पूर्व बर्लिन जाने पर भी रूकावट नहीं रहेगी।

बर्लिन समझौता शांति की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। गत पच्चीस वर्षों में बर्लिन के प्रश्न ने सोवियत संघ तथा पश्चिमी राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध सुधार में बड़ी रूकावट डाली। विभाजित जर्मनी ने एक विचित्र तथा दुःखद स्थिति पैदा कर दी। पूर्वी

जर्मनी के 175 किलोमीटर भीतर पश्चिमी बर्लिन बड़ी असुविधाजनक स्थिति में थी। 1948 में जब बर्लिन की नाकेबन्दी कर दी गयी तब युद्ध की सी स्थिति पैदा हो गयी थी और अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने सैनिकों को विमानों द्वारा भेजा था। अब इस समझौते से पश्चिम बर्लिन के लोग पूर्वी बर्लिन जा सकेंगे। सोवियत संघ कुछ और रियायतें देने को तैयार हो गया। इस समझौते के सम्पन्न होने पर ही उन अनाक्रमण सन्धियों की सम्पुष्टि निर्भर थी जो पश्चिम जर्मनी ने सोवियत संघ तथा पोलैंड के साथ की थी। अब आशा भी हुई कि यूरोपीय सुरक्षा के सम्बन्ध में विचार के लिए वह सम्मेलन बुलाया जा सकेगा जिसके लिए सोवियत संघ बहुत दिनों से प्रयत्न कर रहा था। बर्लिन के सम्बन्ध में यह समझौता शीत-युद्ध का अन्त करने में एक महत्त्वपूर्ण कदम था।

पूर्वी जर्मनी और पश्चिम जर्मनी के बीच समझौता: बड़े राष्ट्रों के बीच बर्लिन पर जो समझौता हुआ उसके कारण शीत-युद्ध की उग्रता में कमी नहीं आयी; इससे पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के मध्य सामान्य सम्बन्ध कायम करने के लिए दिशा-निर्देश किया। 8 नवम्बर, 1972 को पश्चिम जर्मनी की राजधानी बोन में इन दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये जिसके फलस्वरूप इन दोनों जर्मन राज्यों के बीच पिछले तेईस वर्षों से चली आ रही तनातनी समाप्त हो गयी। दोनों जर्मन राज्यों ने एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया और अनेक मानवीय क्षेत्रों में सहयोग करने का वादा किया। सन्धि की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि जर्मन समस्या के समाधान के लिए दोनों जर्मन राज्यों ने एक-दूसरे के विरुद्ध धमकी अथवा बल प्रयोग के उपायों को हमेशा के लिए तिलांजलि दे दी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह एक ऐतिहासिक सन्धि थी क्योंकि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दोनों जर्मन राज्यों का एक-दूसरे के प्रति शत्रुता का भाव यूरोपीय शांति के लिए स्थायी खतरा बना हुआ था तथा शीत-युद्ध का एक प्रमुख कारण था।

कोरिया का समझौता: लगभग इसी समय एशिया में शीतयुद्ध का एक प्रमुख कारण- कोरिया की समस्या के समाधान का यत्न हुआ। उत्तर कोरिया और दक्षिण कोरिया का सम्बन्ध शीत-युद्ध को प्रारम्भ कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। लेकिन, 1972 में कोरिया के इन दोनों राज्यों में भी स्थिति को सामान्य करने के लिए अनेक कदम उठाये गये। यद्यपि पिछले तीन दशकों से कोरिया के दोनों राज्यों के बीच गहरी वैचारिक खाई पैदा हो गयी थी और उसको पाटना बहुत कठिन था। फिर भी एकीकरण के प्रश्न पर दोनों के बीच अरसे से गुप्त मन्त्रणाएँ हो रही थीं। 20 अगस्त, 1971 को उत्तर कोरिया और दक्षिण कोरिया की रेड क्रास सोसाइटी की एक बैठक हुई जिसमें तय हुआ कि कोरिया युद्ध के दौरान जो एक करोड़ कोरियाई के रिश्तेदार, सम्बन्धी और मित्र बिछुड़ गये थे उनकी अदला-बदली की जाय। इस निर्णय के बाद दोनों पक्षों के बीच एकीकरण के प्रश्न पर वार्ताएँ शुरू हुईं और 4 जुलाई, 1972 को इस संबंध में एक समझौता हो गया। समझौता के अनुसार उत्तर कोरिया और दक्षिण कोरिया दोनों ने वादा किया कि वे एक-दूसरे को कमजोर करने का कोई प्रयास नहीं करेंगे। एकीकरण को सम्पन्न कराने के लिए एक समन्वय समिति भी गठित की गयी। जुलाई, 1973 में एक-दूसरे के बीच सहयोग में व द्धि करने के लिए एक आयोग स्थापित किया गया। इस आयोग ने सैनिक तनाव को कम करने के लिए अनेक सुझाव दिये।

इस प्रकार कोरिया के दोनों राज्यों के एकीकरण की गति को तेज करने के लिए अनेक कदम उठाये गये। इसके फलस्वरूप एशिया में तनाव का एक क्षेत्र कम और साथ-ही-साथ शीत-युद्ध का एक बड़ा कारण लुप्त हुआ।

महान् राष्ट्रों के सम्बन्धों में परिवर्तन: कोरिया और जर्मनी में समझौता होने के साथ-साथ महान् राष्ट्रों के सम्बन्धों में भी पिछले वर्षों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। चीन और अमेरिका के सम्बन्ध सामान्य हुए और जापान के साथ भी चीन का समझौता हो गया। इसी तरह कई प्रश्नों पर तीव्र मतभेदों के बावजूद अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य भी पिछले वर्षों में कई समझौते हुए। फरवरी, 1972 में अमेरिकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने चीन की राजकीय यात्रा की और उसी वर्ष मई में उनकी मास्को की ऐतिहासिक यात्रा हुई। इस अवसर पर दोनों देशों के बीच कई सन्धि समझौतों पर हस्ताक्षर हुए जिनमें भीषण शस्त्रास्त्र परिसीमन सन्धि भी एक थी। दोनों देशों ने आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रों में सहयोग करने का वादा किया। इस तरह मई, 1973 में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव ब्रेजनेव ने पश्चिम जर्मनी की यात्रा की। इस अवसर पर पश्चिम जर्मनी के चान्सलर विलियम ब्रॉट को ब्रेजनेव से यह आश्वासन मिला; कि पश्चिम बर्लिन के बारे में चार राष्ट्रों में समझौते को पूरी तरह पालन किया जायेगा। सोवियत संघ ने पश्चिम जर्मनी के इस आग्रह को भी मान लिया कि विदेशों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों एवं संस्थाओं में पश्चिम बर्लिन का प्रतिनिधित्व पश्चिम जर्मनी करेगा। इस प्रकार पश्चिम जर्मनी के इस आग्रह को मानकर सोवियत संघ ने मध्य यूरोप में तनातनी कम करने की प्रक्रिया को और भी बढ़ाया।

राजकीय यात्राओं के इस क्रम में जून, 1973 में ब्रेजनेव की नव दिवसीय (18-27 जून) अमेरिकी यात्रा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। इस यात्रा के फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के सम्बन्धों में एक नया अध्याय शुरू हुआ। ब्रेजनेव और

निक्सन के बीच कई दिनों तक संसार की विविध समस्याओं पर विचार-विनिमय हुआ और परमाणु अस्त्र निषेध संधि के साथ-साथ अन्य समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। दोनों नेताओं के इस मिलन से पिछले सत्ताईस वर्षों से चले आ रहे शीत-युद्ध का एक प्रकार से अन्त हो गया। जैसा कि ब्रेजनेव ने अपनी यात्रा समाप्ति पर कहा था: "दोनों बड़ी शक्तियों के इस मिलन से समूचे विश्व शीत-युद्ध के दुर्भाग्यपूर्ण युग से निकल गया।" ब्रेजनेव के अन्य वक्तव्यों से यह भी स्पष्ट हुआ कि विश्व के प्रश्नों के संदर्भ में अमेरिका पर आरोप लगाने की पुरानी लीक से सोवियत संघ हट गया है। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त की सराहना करते हुए ब्रेजनेव ने यह पुराना सोवियत तर्क नहीं दुहराया कि अटलांटिक सन्धि संगठन तथा अमेरिका के वजह से यूरोप में तनातनी बनी रही। तनावपूर्ण सम्बन्धों के लिए उन्होंने अमेरिका के साथ-साथ सोवियत संघ को भी दोषी ठहराया।

यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन: विश्व की परिवर्तित राजनयिक स्थिति में यूरोपीय राज्यों ने 1972 में ही एक यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन आयोजित करने के प्रश्न पर विचार किया था और यह निश्चय किया था कि जुलाई, 1973 में इस प्रकार का एक सम्मेलन फिनलैंड की राजधानी हैलसिंकी में बुलाया जाय। इस निश्चय के अनुसार यूरोप के पैंतीस राज्यों के विदेश मन्त्री 3 से 5 जुलाई, 1973 तक हैलसिंकी में मिले। यूरोपीय राज्यों के इस सुरक्षा सम्मेलन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को समाप्त करके शीत-युद्ध का अन्त करना तथा सुरक्षा की नयी भावना पैदा करना था। कई द ष्टियों से यह ऐतिहासिक सम्मेलन था। यूरोपीय महाद्वीप में यह अपनी किस्म का एक अनूठा सम्मेलन था। सम्मेलन से यही उम्मीद की गयी कि इससे बड़े और छोटे राष्ट्रों में संतुलन स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त होगा; बड़ी शक्तियों के हितों को सम्मान और राष्ट्रों के राष्ट्रीय गरिमा के बीच एक विशेष प्रकार का तालमेल बैठाने का माहौल पैदा होगा। यह भी कहा गया है कि इस सम्मेलन से यूरोपीय राष्ट्रों में अधिक गरीबी आयेगी। सम्मेलन में सोवियत संघ की ओर से एक छ: प ष्ठों का दस्तावेज प्रस्तुत किया गया जिसमें यह माँग की गयी थी कि सभी यूरोपीय देशों के लोग खुलकर एक-दूसरे से मिलें और विचारों का आदान-प्रदान करें तथा इस बात पर भी ध्यान दें कि कोई भी देश एक-दूसरे पर हमला करने की कोशिश नहीं करें। इससे यूरोप अधिक सशक्त तथा सम्पन्न होगा और उसमें सुरक्षा की भावना पैदा होगी। सम्मेलन में चार समितियों का गठन किया गया और बाद के शिखर-सम्मेलन में विचार करने के लिए विविध प्रश्नों पर मसविदा तैयार करने की जिम्मेवारी उन्हें सौंपी गयी। यह शिखर-सम्मेलन दिसम्बर, 1973 में होने वाला था, लेकिन चतुर्थ अरब-इजरायल युद्ध और तेल-संकट के कारण इसे स्थगित करना पड़ा। फिर भी हैलसिंकी सम्मेलन के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता है। यह बात अपने आप में महत्त्वपूर्ण थी कि यूरोप के राज्य पहले-पहल एक सम्मेलन में मिले और अपनी सामान्य समस्याओं पर विचार-विमर्श किया। ऐसी घटना शीत-युद्ध के युग की नहीं हो सकती थी। निश्चय ही यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रूप में परिवर्तन का द्योतक था। यह पुराने शीत-युद्ध की समाप्ति की घोषणा भी थी।

द्वितीय यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन: अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा तनाव कम करने के प्रयास निरन्तर होते रहे। नवम्बर 1974 का ब्लादीवास्तोक शिखर सम्मेलन इसी प्रयास का परिणाम था। 23-24 नवम्बर को राष्ट्रपति फोर्ड और सोवियत नेता ब्रेजनेव की यह मुलाकात तथा उससे सामरिक अस्त्र परिसीमन समझौता की रूपरेखा तैयार करना शीतयुद्ध को समाप्त करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। 1975 में भी यह प्रयास जारी रहा जिसके फलस्वरूप दोनों देशों के बीच अन्तरिक्ष में सहयोग करने का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। 17 जुलाई, 1975 को अमेरिका के अपोलो और सोवियत संघ के सोयुज अन्तरिक्ष यात्रियों ने एक-दूसरे का अभिवादन किया। यह एक ऐतिहासिक घटना थी। इस अन्तरिक्ष परियोजना का वैज्ञानिक महत्त्व तो था ही, पर इसका राजनीतिक महत्त्व भी कम नहीं था। इस तरह का सहयोग इस बात का प्रबल प्रमाण था कि अमेरिका और सोवियत संघ एक-दूसरे के अत्यन्त निकट जाना चाहते थे।

सहयोग के इसी वातावरण में फिनलैंड की राजधानी हैलसिंकी में 30 जुलाई से 1 अगस्त तक पैंतीस देशों का यूरोपीय सुरक्षा शिखर सम्मेलन हुआ। यह दूसरा शिखर सम्मेलन था जिसमें एक लम्बे-चोड़े दस्तावेज पर हस्ताक्षर हुए। यह दस्तावेज उस फिजाँ की अभिव्यक्ति है जो पिछले वर्षों से पश्चिमी दुनिया में पनप रही थी जिसको तनाव शैथिल्य (detente) की संज्ञा दी गयी है। पूरे सम्मेलन में सौहार्द और सहयोग का वातावरण दिखायी दिया और इसी वातावरण में सम्बद्ध राज्यों ने संकल्प लिया कि सभी राज्यों की प्रभुसत्ता को स्वीकार करेंगे, बल-प्रयोग से विरत रहेंगे, राष्ट्रों के बीच बराबरी के सम्बन्ध कायम रखेंगे, विवादों का निपटारा शान्तिमय उपायों से करेंगे, एक-दूसरे की सीमा का उल्लंघन नहीं करेंगे तथा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त में विश्वास रखते हुए मानव के मूलभूत अधिकारों का आदर करेंगे। सम्मेलन में सम्मिलित राष्ट्रों ने यह वादा भी किया कि वे जब भी अपनी सीमाओं पर कोई विशेष सैनिक चहलकदमी करेंगे तो इसकी पूर्व सूचना अन्य राज्य को देंगे।

यह ठीक है कि सम्मेलन का दस्तावेज सदस्य देशों पर कोई कानूनी बंधन नहीं लगा पाया (नैतिक बंधन को ही पर्याप्त माना गया)। फिर भी यह शीतयुद्ध को समाप्त करने का एक बहुत बड़ा आश्वासन था। अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड ने तनावों को कम

करने के लिए अमेरिका द्वारा कोई कसर न उठा रखने की बात की। सोवियत नेता ब्रेजनेव ने मध्य यूरोप में और अधिक 'सैनिक नरमी' का आग्रह किया। इस प्रकार शीतयुद्ध को समाप्त करने और नरमी का वातावरण लाने में इस सुरक्षा सम्मेलन ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

त तीय यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलनः पूर्व यूरोपीय तथा पश्चिम देशों के बीच तनातनी कम करने के प्रयासों के सिलसिले में हैलसिंकी के बाद यूरोपीय सहयोग और सुरक्षा सम्मेलन बेलग्रेड में जून, 1977 में हुआ। सम्मेलन में पूर्व और पश्चिम के बीच सुरक्षा तथा सद्भाव स्थापित करने के लिए यूरोपीय सहयोग को और द ढ़ बनाने के प्रश्न पर विचार हुआ। यह विचार व्यक्त किया गया कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए रचनात्मक रवैया अपनाया जाना जरूरी है। सम्मेलन में लगभग पचीस यूरोपीय देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। दो वर्ष पहले हैलसिंकी में जो सम्मेलन हुआ था इसमें 'अन्तिम दस्तावेज' नामक एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर हुए थे। यूरोपीय सुरक्षा व्यवस्था को मजबूत करने के लिए भी अनेक सुझाव दिये गये। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और पश्चिम जर्मनी के नेताओं ने पश्चिम देशों की ओर यह आशा व्यक्त की कि पूर्व-पश्चिम देशों के बीच तनातनी कम करने और यूरोपीय देशों में शांति तथा सद्भावना बढ़ाने के प्रयत्नों का लाभ पश्चिम बर्लिन को भी मिलना चाहिए। सोवियत संघ ने इस द ष्टिकोण का अनुमोदन किया। तनाव-शैथिल्य के सन्दर्भ में यूरोपीय सुरक्षा और सहयोग को प्रयास भी महत्त्वपूर्ण था।

शीत-युद्ध में शिथिलता के कारणः शीत-युद्ध के इतिहास के संक्षिप्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शताब्दी के सातवें दशक में इसकी उग्रता में बड़ी कमी आयी है। इसके क्या कारण हो सकते हैं? इसका एक प्रबल कारण यह है कि इस समय तक अमेरिका शासन क्षेत्र में अपनी फौजी शक्ति के बल पर समस्या हल करने की नीति की विफलता का पूरा अहसास हो गया। स्वयं हेनरी किसिंगर ने यह स्वीकार किया कि फौजी शक्ति को राजनीतिक प्रभाव में रूपांतरित करना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। वियतनाम युद्ध में अमेरिका को प्रत्येक वर्ष तीन हजार करोड़ डालर खर्च करना पड़ा जिसके कारण अमेरिका का अर्थतन्त्र संकट में फँस गया और राजनीतिक परिणाम कुछ भी नहीं निकला। इस युद्ध के फलस्वरूप 1894 के बाद पहली बार 1970 में अमेरिकी व्यापार का संतुलन बिगड़ गया और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में डालर की कीमत गिरने लगी। इससे अमेरिकी पूँजीपतियों के समक्ष भयावह रूप से आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। यह सब एक ऐसे समय में हो रहा था जबकि अमेरिका के अन्य मित्रराष्ट्र शीत-युद्ध की राजनीति से अपने को अलग कर चुके थे और कम्युनिस्ट देशों से भारी व्यापार करने लगे थे। 1970 में यूरोपीय साझा बाजार के देशों ने कम्युनिस्ट देशों से दो सौ तीस करोड़ डालर का सामान निर्यात किया और जापान का एक सौ करोड़ से अधिक था। इससे अमेरिकी पूँजीपति क्षेत्रों में पुनर्विचार और हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया तेज हो गयी।

सोवियत संघ की ओर से भी शीत-युद्ध की उग्रता में कमी लाने के लिए अनेक प्रयास हुए हैं। नवम्बर, 1973 में भारतीय संसद् को सम्बोधित करते हुए ब्रेजनेव ने सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्धों में सुधार की विस्तार से चर्चा करते हुए कहा था कि सोवियत संघ एक समाजवादी देश है जबकि अमेरिका पूँजीवादी है। दोनों देशों की राज्य-पद्धतियाँ और विचारधाराएँ परस्पर विरोधी हैं। इसके बाद भी हमने अमेरिका के साथ सम्बन्धों में सुधार के लिए जरूरी कदम उठाये हैं। यह स्वीकार करना चाहिए कि अमेरिकी नेत त्व ने इस मामले में बहुत कोताही नहीं की। उन्होंने भी अपने हाथ आगे बढ़ाये। ब्रेजनेव का आशय यह था कि विचारधाराओं के परस्पर विरोधी होने के बावजूद दो देशों के सम्बन्ध शान्तिपूर्ण रह सकते हैं। ब्रेजनेव ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सद्भाव को जरूरी बताते हुए कहा कि दुनिया में अब भी परमाणु युद्ध का खतरा नहीं टला है। इस खतरे को समाप्त करने के लिए विभिन्न देशों के बीच सम्बन्धों में सुधार, मैत्री और सहयोग आवश्यक है। यूरोप में पिछले कुछ समय में इस सम्बन्ध में काफी सुधार हुआ है पूर्वी यूरोप के देशों और पश्चिम यूरोप के देशों के बीच सम्बन्ध बेहतर हुए हैं और तनाव कम हुआ है। एशिया में भी स्थिति बदली है।

इस तरह दोनों पक्षों के बीच युद्ध की सम्भावनाएँ लगभग समाप्त हो चुकी हैं। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों के अन्तविरोध समाप्त हो गये। 9 फरवरी, 1972 को निक्सन ने आठवें दशक की विदेश-नीति की व्याख्या करते हुए कहाः "कई गहरी बातें हमें विभाजित करती रहेंगी। हम विचारधारा के मामले में विरोधी हैं और बने रहेंगे। हम राजनीतिक और फौजी प्रतियोगी है और इनमें से किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रगति के प्रति दूसरा पक्ष उदासीन नहीं रह सकता।" ब्रेजनेव ने भी कहा था कि "आर्थिक विचारात्मक और राजनीतिक क्षेत्र में वर्ग संघर्ष चलता रहेगा क्योंकि समाजवादी और पूँजीवादी व्यवस्थाएँ परम्परा-विरोधी और अनमेल है।" किन्तु उन्होंने कहा कि ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य इस संघर्ष को वे 'युद्ध के खतरे, भयानक टक्करों और अनियंत्रित हथियारबन्दी की दौड़ से मुक्त रास्ते पर ले जाना चाहते हैं।" इसी तरह १ नवम्बर 1974 के ब्लदीवास्तोक शिखर-सम्मेलन में अमेरिका और सोवियत संघ के बीच सामरिक अस्त्र परिसीमन समझौते की जो रूपरेखा तैयार

हुई उसकी अमेरिका में जब आलोचना हुई तो राष्ट्रपति फोर्ड ने उसका जोरदार समर्थन करते हुए सोवियत नेता की भूमिका की सराहना की और कहा कि उन्होंने अस्त्रों की दोड़ समाप्त करके अस्त्रों पर होने वाले खर्चों पर रोक लगाने के बारे में व्यापारिक द ष्टिकोण अपनाया। सोवियत नेता के सम्बन्ध में इस तरह के उद्‌गार निश्चय की शीत-युद्ध नहीं मानी जा सकती।

कार्टर प्रशासन और शीत-युद्धः 20 जनवरी, 1977 को सत्ताभार संभालने के बाद राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने अमरिकी विदेश नीति को एक नया मोड़ देने का यत्न किया। अपने चुनाव-अभियान के दौरान जिम्मी कार्टर ने सोवियत संघ के प्रति कठोर रवैया अपनाने की बात कही थी। चुनाव-अभियानों में तनाव-शैथिल्य की भावना की अपेक्षा और रूस के प्रति अविश्वास की भावना पैदा की गयी थी। यह एक भारी क्षति थी और इसका असर रूस-अमेरिका के संबंध-सुधार की प्रक्रिया पर पड़ सकता था क्योंकि सोवियत संघ की ओर से साल्ट-2 समझौते पर जोर दिया जा रहा था। डा० किर्सीगर और सोवियत नेताओं के बीच इस समझौते पर व्यापक विचार-विमर्श हो चुका था और उसका प्रारूप भी तैयार कर लिया गया था। अब समस्या यह थी कि राष्ट्रपति कार्टर इसको मानने के लिए तैयार होंगे अथवा नहीं। सोवियत नेताओं का कहना था कि यदि साल्ट-2 समझौता नहीं हो पाया तो एक नयी और अधिक खतरनाक शस्त्र-दौड़ शुरू हो सकती है जिसका असर तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया पर पड़ेगा। इस प्रक्रिया पर असर तब पड़ा जब कार्टर प्रशासन ने क्यूबा के प्रति आक्रामक रवैया अपनाया। 1979 के मध्य में क्यूबा में सोवियत संघ के सैनिकों की उपस्थिति को लेकर अमेरिका और क्यूबा के बीच गम्भीर तनातनी हो गयी। राष्ट्रपति कार्टर ने कैरेबियन में एक अग्रिम सेना (टास्क फोर्स) तैनात करने की घोषणा की। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति कार्टर ने कुछ नये "रक्षा उपायों" की भी घोषणा की। इस घोषणा में कहा गया था कि क्यूबा में सोवियत सेनाओं की ठीक-ठीक संख्या पता लगाने के लिए क्यूबा पर निगाह रखने की अमेरिकी उपग्रह व्यवस्था को पुनर्गठित किया जायेगा। सोवियत संघ से आश्वासन प्राप्त करने की कोशिश की जायगी कि क्यूबा में तैनात किसी भी सैनिक इकाई से अमेरिका के लिए या उसके आस-पास के किसी अन्य देश के लिए आक्रमण का कोई खतरा नहीं होगा। अमेरिका ने भी यह आश्वासन दे दिया कि क्यूबा में तैनात सोवियत सैनिकों से आक्रमण के खतरे की स्थिति में अगर कोई देश उससे सहायता मांगेगा तो उसे तुरंत यह सहायता पहुँचायी जायगी। पश्चिम फ्लोरिडा के मुख्य सैनिक प्रधान कार्यालय में पूरे समय की एक कैरेबियाई संयुक्त सैनिक टुकड़ी तैनात की जायगी जो इस क्षेत्र के किसी भी हिस्से पर सोवियत आक्रमण का खतरा होने पर सक्रिय हो जायगी। कैरेबियन क्षेत्र में अमेरिकी सैनिक अभ्यास तेज किये जायेंगे जिससे कि यहाँ का सैनिक समुद्री अड्डा आवश्यकता पड़ने पर तैयार रहे। इन सैनिक अभ्यासों का मुख्य केन्द्र क्यूबा के दक्षिण का समुद्री किनारा होगा।

संकट के गम्भीर रूप धारण करने से पहले क्यूबा के राष्ट्रपति फिदेड काट्रो ने घोषणा की कि क्यूबा में सोवियत संघ के सैनिकों की उपस्थिति को लेकर अमेरिका के साथ हमारे जो भी विवाद हैं हम उन्हीं पर बातचीत करने को तैयार हैं। लेकिन उन्होंने साथ ही यह भी कहा कि यदि राष्ट्रपति कार्टर ने कैरेबियन क्षेत्र में अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने की कोशिश की तो मामला बहुत नाजूक हो जायेगा। क्योंकि क्यूबा में जो सोवियत सैनिक हैं उसकी जानकारी अमेरिका को पिछले सतरह वर्षों से है। सोवियत संघ ने भी अमेरिका को चेतावनी दी कि क्यूबा की बात को अनावश्यक रूप से उठाकर राष्ट्रपति कार्टर आग से खेलने की जोखिम मोल ले रहे हैं।

राष्ट्रपति कार्टर की इस अनावश्यक घोषणा से क्यूबा और अमेरिका के बीच 1962 जैसा ही गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि युद्ध का विस्फोट नहीं तो शीत-युद्ध का विस्फोट अवश्य हो जायेगा। इस अमेरिकी घोषणा के खिलाफ विश्वभर में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। स्वयं अमेरिका में कई जगह विरोध के स्तर उठे। इस पर राष्ट्रपति कार्टर को नम्र रूख अपनाना पड़ा। उन्होंने स्वीकार किया कि सोवियत संघ और अमेरिका के बीच टकराव की स्थिति दोनों देशों को सुरक्षा के लिए जबरदस्त खतरा है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि क्यूबा में दो से लेकर तीन हजार सैनिकों की उपस्थिति अमेरिका की सुरक्षा के लिए कोई खतरा नहीं बन सकती। अपनी घोषणा में राष्ट्रपति कार्टर ने स्पष्ट कर दिया कि हम "साल्ट द्वितीय" समझौते को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हैं। निश्चय ही हमारे सोवियत संघ के साथ मतभेद और संघर्ष हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि हम दोनों देशों के बीच परमाणु युद्ध की आशंकाओं को दूर करने के अपने प्रयत्न छोड़ दें। इस वक्तव्य के बाद ही क्यूबा की विस्फोटक स्थिति शांत हो गयी।

अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप और शीत-युद्ध में व द्धिः दिसम्बर 1979 में अफगानिस्तान में एक तीसरी क्रान्ति हो गयी जिसके फलस्वरूप राष्ट्रपति अमीन का तख्ता पलट गया और बबराल कारमाल अफगानिस्तान के राष्ट्रपति बने। अफगान-क्रान्ति के आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए अफगानिस्तान की नयी सरकार ने तुरंत ही सोवियत संघ से सैनिक सहायता माँगी जो तुरंत प्रदान की गयी। संयुक्त राज्य अमेरिका के उन सारे इरादों पर पानी फिर गया जिसकी पूर्ति के लिए पिछले वर्ष से प्रयास हो रहा था। इस पर अमेरिका का बौखलाना स्वाभाविक था। ईरान में अमेरिकी दूतावास के कर्मचारियों

को बन्धक बना लिया गया था और उन्हें छुड़ाने के सारे प्रयत्न बेकार हो गये थे। इस घटना से अमेरिका काफी अपमानित हो चुका था। अतः जैसे ही अफगानिस्तान में सोवियत सेना पहुँची, राष्ट्रपति कार्टर ने अपनी छवि को चमकाने के लिए अफगानिस्तान की घटना को तिल का ताड़ बनाना शुरू किया जिसके फलस्वरूप शीत-युद्ध ने एक बार फिर उग्ररूप धारण कर लिया। अमेरिका ने पाकिस्तान को सोवियत खतरे का मुकाबला करने के लिए बीस करोड़ डालर के हथियार देने की घोषणा की। अमेरिकी रक्षा मन्त्री हेल्डर ब्राउन को पेकिंग भेजा गया ताकि चीनी नेताओं से मिलकर सोवियत विस्तार को रोकने की योजना बनायी जा सके। राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने अमेरिकी कांग्रेस में साल्ट-द्वितीय पर बहस रुकवा दी। उन्होंने सोवियत संघ को अनाज देने तथा आधुनिक प्राविधि से जानकारी देने के फैसले को बदल दिया। मास्को में होने वाले ओलिम्पिक के बहिष्कार करने की धमकी दी तथा पश्चिम यूरोपीय मित्र राज्यों से अनुरोध किया कि वे सोवियत संघ के साथ अब किसी तरह का सहयोग नहीं करें। सोवियत कार्यवाही की निन्दा करने के उद्देश्य से सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलवायी गई। थोड़े शब्दों में, अमेरिका ने जल्दी-जल्दी वे सारे कार्य कर डाले जो सोवियत संघ को नीचा दिखाने के लिए आवश्यक थे। अमेरिका ने अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की उपस्थिति का हौवा जिस तरह खड़ा किया उससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि वह एक ही झटके में तनाव-शैथिल्य की अपनी केंचुल उतार फेंकना और शीत-युद्ध वाले जमाने की तू-तू मैं-मैं के अपने वास्तविक रूप में उतर आना चाहता था।

अमेरिका ने पाकिस्तान के जरिये अफगानिस्तान में सोवियत उपलब्धि को नाकामयाब करने की पूरी कोशिश की। लेकिन इस कार्य में उसे कोई सफलता नहीं मिली और स्थिति धीरे-धीरे सामान्य होने लगी। पश्चिम देशों में कनाडा और ब्रिटेन को छोड़कर किसी देश ने अमेरिका का पूरा समर्थन नहीं किया। पाकिस्तान ने भी उछल-कूद मचाना बन्द कर दिया और चीन का उत्साह भी कम हो गया। इस प्रकार अफगानिस्तान की स्थिति सामान्य होती गयी और शीत-युद्ध का उग्र रूप समाप्त हो गया।

रोनाल्ड रीगन की नीति और शीत-युद्ध का नया दौरः नवम्बर 1980 के चुनाव में अमेरिका के राष्ट्रपति पद के लिए रोनाल्ड रीगन चुने गये। चुनाव-अभियानों के दौरान उन्होंने जिस भाषा और जिस तरीके से बातें कीं उससे यह स्पष्ट हो गया कि यदि वे चुनाव में जीतेंगे तो शीत-युद्ध का एक नया दौर शुरू हो जायेगा और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक विषम परिस्थिति से गुजरना पड़ेगा। राष्ट्रपति का पद सम्भालते ही रीगन अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुए। अपने प्रारम्भिक भाषणों में उन्होंने सोवियत नेताओं को डकैतों की संज्ञा से विभूषित किया और "सोवियत आक्रमण के प्रतिरोध" करने के अपने संकल्प को दुहराया। उन्होंने पश्चिम अटलांटिक संधि संगठन के देशों को तीन प्रतिशत सामरिक व्यय उठाने का प्रस्ताव किया, नैटो को परमाणु अस्त्रों से लैस करने का सुझाव दिया और रूस साल्ट-द्वितीय समझौते को रद्द करने की धमकी दी। अगस्त 1981 में उन्होंने यह घोषणा की कि संयुक्त राज्य अमेरिका न्युट्रन बम का उत्पादन जारी करेगा तथा कुछ मित्रराज्यों को नये-नये हथियारों से लैस करेगा। रीगन की ये सारी उत्तेजनात्मक कार्यवाही के कारण शीत-युद्ध के इतिहास में एक नया मोड़ प्रारम्भ हो गया।

पोलैंड में सोवियत संघ की नीति का संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा घोर विरोध किया गया और पूरे 1981 के वर्ष में इस मुद्दे को लेकर तनाव बना रहा। 1982 के प्रारम्भ में सोवियत संघ की नीति के विरोध में अमेरिका ने उसके खिलाफ सात व्यापार प्रतिबन्ध लगाने की घोषणा की। राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने अपने इस निर्णय की घोषणा करते हुए यह चेतावनी भी दी कि यदि पोलैंड में दमन बन्द नहीं हुआ तो भविष्य में कुछ और भी कदम उठाये जायेंगे। 1983 में दक्षिण कोरिया के विमान को सोवियत संघ द्वारा मार गिराये जाने की घटना ने भी शीत-युद्ध की उग्रता में व द्धि की।

अपने कार्यकाल के अन्तिम दिनों में रीगन ने शांति की दिशा में अनेक ऐसी पहलें कीं जिन्होंने शीत-युद्ध की समाप्ति की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। परमाणु परीक्षण तथा अस्त्र-शस्त्र सीमन जैसी गम्भीर समस्याओं पर आपस में वार्त्ताएँ आरम्भ हुईं। 11-12 अक्टूबर, 1986 में आइसलैंड की राजधानी रिक्याविक में दोनों नेताओं (रीगन एवं गोर्बाचोव) का शिखर-सम्मेलन हुआ। नवम्बर, 1986 को जेनेवा में अमेरिकी विदेश मंत्री जार्ज शुल्ज और सोवियत विदेश मंत्री शेवर्दनात्जे ने हथियारों की कटौती पर फिर बातचीत शुरू की।

11 दिसम्बर, 1986 को सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव गोर्बाचोव ने अमेरिका से साल्ट-2 में बने रहने का आग्रह किया। 17 दिसम्बर, 1986 को अमेरिकी कांग्रेस ने साल्ट-2 समझौते का समर्थन किया। 1987 के आगमन के साथ दोनों देशों ने इस दिशा में पुनः प्रयास शुरू किया। 21 जनवरी, 1987 को एटमी हथियारों पर रोक लगाने के लिए जेनेवा में सोवियत प्रतिनिधि पूरी कांटोत्स्गेव की अमेरिकी प्रतिनिधि मैक्स कैंपलमैन से बातचीत हुई। 16 फरवरी, 1987 को रूसी नेता गोर्बाचोव ने कहा कि अगर अमेरिका अंतरिक्ष हथियारों पर पाबंदी लगाने पर राजी हो जाये जो सोवियत संघ अपनी अंतरिक्ष अनुसंधान

प्रयोगशालाओं पर मुआयना कराने को तैयार है। 21 फरवरी, 1987 को एटमी हथियारों में कटौती करने के लिए वाशिंगटन में अमेरिका और सोवियत प्रतिनिधि मंडल में बातचीत शुरू हुई। 19 मई, 1987 को सोवियत संघ ने पुनः हथियारों पर रोक लगाने के लिए अमेरिका से जेनेवा में बातचीत के लिए पहल की।

एक ओर हथियारों पर रोक के लिए दोनों देश वार्त्ता के लिए तत्पर होते थे तो दूसरी ओर दोनों देश परमाणु परीक्षण में बुरी तरह जुटे हुए थे। जहाँ अमेरिका ने 3 फरवरी, 1987 को पहला एटमी परीक्षण नेवादा में किया, वहाँ सोवियत संघ ने 3 अप्रैल, 1987 तक तीसरा एटमी परीक्षण कर लिया। 14 मई, 1988 को अमेरिका ने नेवादा में एक परमाणु परीक्षण किया।

फिर भी इस दिशा में सबसे महत्त्वूपर्ण प्रयास दिसम्बर, 1987 में किया गया। सोवियत नेता गोर्बाचोव ने अमेरिका की यात्रा की और वहाँ अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन के साथ तीन दिनों की शिखर वार्ता के बाद 11 दिसम्बर, 1987 को कम और मध्य दूरी तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करने के बारे में एक समझौते पर हस्ताक्षर किया। अपने आप में यह एक ऐतिहासिक कदम था जिसे शीत-युद्ध समाप्त करने की दिशा में की नई महत्त्वपूर्ण कोशिश कही जा सकती है। इसके अतिरिक्त अफगानिस्तान से सोवियत सैनिकों की वापसी, ईरान इराक युद्ध की समाप्ति, पूर्व जर्मनी और पश्चिम जर्मनी का एकीकरण, खाड़ी संकट के दौरान संयुक्त राष्ट्र की सफल सैनिक कार्यवाही, फिलिस्तीन और इजरायल के बीच बढ़ती हुई शांति की सम्भावनायें आदि अनेक घटनाक्रमों को शीत-युद्ध की समाप्ति का संकेत माना जा सकता है।

शीत-युद्ध का अन्त

द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् विश्व दो गुटों में विभक्त हो गया। एक का नेत त्व अमेरिका कर रहा था तथा दूसरे का सोवियत संघ। दोनों महाशक्तियों के बीच श्रेष्ठता को लेकर हमेशा तनाव बना रहता था। युद्ध की स्थिति आते-आते थम जाती थी। ऐसी स्थिति को गरमहाट भरी शान्ति कहा जा सकता है। न पूर्ण शान्ति होती है न खुलकर युद्ध ही होता है। वस्तुतः दोनों गुटों में कूटनीतिक युद्ध प्रारम्भ था।

1962 के अन्त में क्यूबा प्रक्षेपास्त्र संकट के भयानक परिणाम के बाद दोनों महाशक्तियों के बीच तनाव में कुछ कमी आई। इसके पश्चात् दोनों के बीच कई महत्त्वपूर्ण सन्धियां और समझौते हुए। 1963 में आंशिक परीक्षण प्रतिबन्ध संधि, 1968 में परमाणु अप्रसाह संधि इत्यादि। लेकिन ऐसी स्थिति कायम नहीं रह सकी। 1978 के अंत में दोनों महाशक्तियों के बीच पुनः तनाव बढ़ने लगा। 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप ने तो आग में आहुति का कार्य किया और दोनों महाशक्तियों में रही-सही सद्भावना भी समाप्त हो गयी। 1981 में रीगन अमेरिका के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उन्होंने क्यूबा, अंगोला और अफगानिस्तान में सोवियत कार्यवाही की घोर भर्त्सना की। 1985 के प्रारम्भ तक यूरोपीय विश्व के कई भागों में लगभग ढाई हजार प्रक्षेपास्त्र तैनात कर दिये गये थे जिससे यूरोप के दोनों भागों तथा सोवियत संघ की सुरक्षा को खतरा पैदा हो गया था। ऐसी स्थिति में सोवियत संघ इन्टरमिडिएट परमाणु शक्ति वार्ता से अपने को बाहर कर लिया। 1982 से चल रही हथियारों में कमी की वार्ता को भी उसने बहिष्कार कर दिया। शीत-युद्ध अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गया।

शीत-युद्ध की समाप्ति- कुछ प्रमुख समझौते एवं घटनाएँ: विश्व में जो कुछ भी शुरू होता है उसका अन्त भी आवश्यक ही है। शीत-युद्ध भी शुरू हुआ, अपने चरम पर पहुँचा और अंततः उसका अन्त भी हो गया। शीत-युद्ध के अंत में निम्नांकित तत्व सहायक रहे।

19 एवं 20 नवम्बर, 1985 को रीगन और गोर्बाचोव में जेनेवा वार्ता, 11-12 अक्टूबर 1986 को रीगन-गोर्बाचोव शिखर वार्ता, सितम्बर 1987 अमेरिका और सोवियत संघ सैन्य जानकारी देने को सहमत, 8-10 दिसम्बर 1987 सोवियत संघ अमेरिका शिखर वार्ता, रीगन-गोर्बाचोव शिखर वार्ता 1 जून, 1988, 24 से 27 अक्टूबर, 1988 जर्मनी के चांसलर की मास्को यात्रा, 8 दिसम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र महासभा में गोर्बाचोव की घोषणा, 2-3 दिसम्बर, 1989 को बुश-गोर्बायोव शिखरवार्ता, दिसम्बर, 1989 में सोवियत संघ और यूरोपीय आर्थिक समुदाय में समझौता, 9 नवम्बर, 1989 को बर्लिन की दीवार को गिराया जाना, 1 जुलाई 1990 को जर्मनी का एकीकरण, 5-6 जुलाई, 1990 को नाटो द्वारा शीत-युद्ध समाप्ति की घोषणा, 8-9 सितम्बर 1990 को हेलसिंकी में बुश-गोर्बाचोव वार्ता, 9 नवम्बर, 1990 को सोवियत संघ और जर्मनी के बीच मैत्री संधि, 19 नवम्बर, 1990 को वारसा और नाटो में संधि पर हस्ताक्षर, 1 जुलाई, 1991 को वारसा पैक्ट समाप्ति की घोषणा, 31 जुलाई, 1991 को 'सामरिक हथियारों में कटौती' से संबंधित सन्धि पर मास्को शिखर सम्मेलन में गोर्बाचोव और बुश द्वारा हस्ताक्षर,

12 दिसम्बर, 1991 को युद्ध निषेध संबंधित कारियाई समझौता, अफगान समझौता-12 सितम्बर, 1991 जिसमें सोवियत संघ 1 जनवरी 1992 से अफगानों को सैन्य-सामग्री नहीं आपूर्ति करने पर राजी हो गया।

शीत-युद्ध की समाप्ति के कारण

मिखाइल गोर्बाचोव का व्यक्तित्त्वः स्टालिन शीत-युद्ध का सूत्रधार था और मिखाइल गोर्बाचोव ने अपने अर्थ प्रयासों के द्वारा शीत-युद्ध का अन्त कर दिया। उनकी 'ग्लास्नोस्त' और 'पेरेस्त्रोइका' की नीतियों ने विश्व राजनीति ने आमूल परिवर्तन ला दिया। पूर्वी यूरोप के देशों की स्वतंत्रता का समर्थन, संयुक्त जर्मनी को नाटो की स्वतन्त्रता जारी रखने, वारसापैक्ट को भंग करने का निर्णय लेकर गोर्बाचोव ने विश्व समुदाय का दिल जीत लिया। जर्मन देशवासी तो अभिभूत हो गए। इन्हीं शन्ति प्रयासों का राजनयिक उपलब्धियों के चलते उन्हें नोबेल शान्ति पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

सोवियत संघ की आर्थिक विवशताएँः अमेरिका से परिस्पर्द्धा के चलते सोवियत संघ ने अन्तरिक्ष अनुसंधान और शस्त्र निर्माण पर अपने सामर्थ्य से बहुत अधिक धन व्यय किया जिससे उसकी आर्थिक स्थिति जर्जर हो गयी। सोवियत संघ के निर्यात में विगत 15 वर्षों में (1970-1985) 10 प्रतिशत का ह्रास हुआ। कृषि उत्पादन में भी गिरावट आई। खान श्रमिकों की हड़ताल ने सोवियत संघ की आर्थिक स्थिति और भी जर्जर कर दी।

जो देश कल तक महाशक्ति के नाम से जाना जाता था उसकी आर्थिक स्थिति इतनी क्षीण हो गई थी कि उपभोग वस्तुओं के लिए लोगों को लम्बी-लम्बी लाईनें लगानी पड़ती थीं। वहां के लोगों का जीवनस्तर बहुत नीचे आ गया। ऐसी परिस्थिति में शीत-युद्ध का अन्त होना निश्चित ही था।

सोवियत संघ का विघटन

11 मार्च, 1985 को चेरेंकोव की म त्यु के बाद गोर्बाचोव को सोवियत साम्यवादी दल का महासचिव नियुक्त किया गया। गोर्बाचोव ने सावधानीपूर्वक सुधार की प्रक्रिया की शुरूआत की। उसने फरवरी, 1986 में पार्टी की 27वीं कांग्रेस में सोवियत समाज के पुनर्गठन यानि पेरेस्त्रोइका की घोषणा की। इसी बीच बोरिस एल्तसिन का उदय हुआ। वह पोलिटब्यूरों का सदस्य चुना गया। लेकिन उसकी गोर्बाचोव से पटी नहीं जिस कारण उसने दल के उच्च पदों से त्याग-पत्र दे दिया।

1988 में गोर्बाचोव ने संविधान में अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन लाये। उसी वर्ष पार्टी की 19वीं कांग्रेस से बहुप्रत्याशी (multicandidate) चुनावों और पूर्णकालिक संसद की स्वीकृति प्राप्त की। दल की सत्ता में ह्रास होने लगा। अक्टूबर, 1988 को गोर्बाचोव को एण्ड्री ग्रोमिको के स्थान पर सर्वोच्च सोवियत के प्रेजिडियम का अध्यक्ष चुना गया।

1989 में जनप्रतिनिधि कांग्रेस के प्रतिनिधियों का चुनाव हुआ। पहली बार साम्यवादी दल के अनधिकृत प्रत्याशी चुनाव में खड़ा हुए और विजयी भी हुए। साम्यवादी दल के कई उच्च कोटि के नेता पराजित भी हुए। येल्तसिन मास्को से 89 प्रतिशत मतों से विजयी हुआ। 25 मई, 1989 को जनप्रतिनिधि कांग्रेस ने गोर्बाचोव को सर्वोच्च सोवियत का अध्यक्ष चुना।

1990 में वर्ष राजनीतिक सुधारों की द ष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण रहा, फरवरी में गोर्बाचोव ने अधिकारिक तौर पर बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था और कार्यकारी राष्ट्रपति पद के स जन का प्रस्ताव लाया। 15 मार्च को जनप्रतिनिधि कांग्रेस द्वारा गोर्बाचोव सोवियत संघ का प्रथम राष्ट्रपति चुना गया। साम्यवादी दल के शासन करने के अधिकार को समाप्त कर दिया गया। गोर्बाचोव की नीतियों के विरुद्ध अनुदारवादियों ने विरोध का झंडा उठाया, दल की 28वीं कांग्रेस इस द ष्टि से उल्लेखनीय रही। दूसरी ओर येल्तसिन और अन्य सुधारवादियों ने गोर्बाचोव के सुधारों को असफल बताया और पार्टी छोड़ दिया। दूसरी ओर कट्टरपंथियों गोर्बाचोव के प्रबल आलोचक इवान पोलाज्कोव के नेत त्व में रूसी साम्यवादी दल का अलग से गठन किया। केन्द्रीय सरकार की कमजोर स्थिति और बाल्टिक राज्यों की स्वतंत्रता की एकतरफा घोषणा के कारण केंद्र तथा राज्यों के संबंधों को परिभाषित करने की जरूरत पड़ी। 17 नवम्बर को उसने नई संघीय संधि (New Union Treaty) का प्रस्ताव लाया जिसमें क्रेमलिन और गणराज्यों के नए संबंधों की चर्चा की गई थी।

1991 सोवियत संघ के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्व का वर्ष रहा। राष्ट्रव्यापी जनमत संग्रह में संघीय संधि को स्वीकृति मिली। जून माह में बारिस येल्तसिन का रूसी संघ का प्रथम राष्ट्रपति चुना गया। सोवियत साम्यवादी दल के इतिहास में नया अध्याय

जुड़ा। 26 जुलाई को साम्यवादी दल की समाप्ति की घोषणा गोर्बाचोव ने की और उसके स्थान पर नया राजनैतिक दल बनाने की घोषणा की। इस प्रकार लगभग 70 वर्ष पुराने साम्यवादी शासन का अंत हो गया।

19 अगस्त, 1991 के दिन सोवियत रूस के इतिहास में एकाएक नया मोड़ ला दिया। राष्ट्रपति गोर्बाचोव को, जो काला सागर के किनारे सीम्फरपूल (क्रिमिया) में छुट्टियां मना रहे थे, सुरक्षा गार्डों ने बंदी बना लिया। तास ने घोषणा की कि खराब स्वास्थ्य के कारण गोर्बाचोव शासन करने में असमर्थ हो गए हैं इसलिए उनके स्थान पर उपराष्ट्रपति यानाएव (Yanayev) को राष्ट्रपति बनाया जाता है। आठ कट्टरपंथियों की एक समिति बनाई गई। इसने आपातकालीन स्थिति की घोषणा की। रैलियों व प्रदर्शनों पर रोक लगा दी गई, राजनीतिक दलों पर प्रतिबंध लगा दिया गया, प्रेस पर सेंसर लगा दिया गया और सशस्त्र सेना व टैंक सड़कों पर निकल गए। येल्तसिन के नेत त्व में जनता ने विद्रोह का कड़ा विरोध किया। इसके विरोध में बड़ा जनप्रदर्शन हुआ, सेना को बैरक में वापस लौट जाने को कहा गया, सेना ने गोली चलाने से इंकार कर दिया, टैंक आगे बढ़ने में असमर्थ रहे, इस्टोनिया और लाटिविया ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी, अधिकांश गणराज्यों ने विद्रोहियों को मान्यता देने से इंकार कर दिया। विद्रोही नेता देश छोड़कर भाग खड़े हुए। साम्यवादी दल ने सत्ता-ग्रहण को असंवैधानिक बताया। सर्वोच्च सोवियत ने आपातकालीन आज्ञाप्तियों को गैर-कानूनी करार कर दिया और गोर्बाचोव को पुनः देश का राष्ट्रपति घोषित किया। विद्रोह असफल रहा।

लेकिन, इसके परिणामस्वरूप घटनाएँ इतनी तेजी से घटनें लगीं कि सोवियत संघ के भविष्य के बारे में प्रश्न-चिन्ह खड़ा हो गया। गोर्बाचोव आमूल परिवर्तन की दिशा में तेजी से कदम उठाने लगा। राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाए गए। पुरानी सर्वोच्च सोवियत को समाप्त कर दिया गया। उसके स्थान पर नई द्विसदनात्मक सर्वोच्च सोवियत की स्थापना की गई। राज्य परिषद् में गणराज्यों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया। अंतर-गणराज्यिक आर्थिक समिति की स्थापना पूरे देश की आर्थिक व्यवस्था को दिन-प्रतिदिन के संचालन के लिए की गई। के जी बी (K G B) के खिलाफ जनता में तीव्र प्रतिक्रिया के कारण इसे शक्तिहीन बना दिया गया। बिगड़ती आर्थिक व्यवस्था को सुधारने के लिए बाजार अर्थव्यवस्था को पुर्णरूपेण अपनाया गया और बाजार विरोधी सभी आदेशों को रद्द कर दिया गया। सोवियत रूस ने लिथुआनिया, लेटविया और एस्टोनिया नामक बाल्टिक राज्यों की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान कर दी। शेष 12 सोवियत गणराज्यों के अध्यक्षों ने नये आर्थिक संघ के निर्माण की स्वीकृति दी। 18 अक्टूबर को गोर्बाचोव और आठ सोवियत गणराज्यों के अध्यक्षों ने नये आर्थिक संघ के लिए संधि पर हस्ताक्षर किये। यूक्रेन भी इसमें शामिल होने के लिए राजी हो गया। सात सोवियत गणराज्यों ने सिद्धान्त में नई संघीय संधि को स्वीकृति प्रदान की। लेकिन यूक्रेन का जनमत संग्रह स्वतंत्रता के पक्ष में रहा। गोर्बाचोव ने शेष गणराज्यों से राजनीतिक संधि पर हस्ताक्षर के लिए आग्रह किया। रूस, यूक्रेन और बायलोरूस के रूख के कारण यह संधि नहीं हो पाई। उन्होंने 8 दिसंबर को सोवियत संधि की समाप्ति की घोषणा की और 'स्वतंत्र राज्यों के राष्ट्रकूल' (Commonwealth of Independent States) के निर्माण पर अपनी रजामंदी दी। 17 दिसंबर को गोर्बाचोव और येलस्तिन सोवियत संघ के विघटन पर सहमत हुए। 21 दिसंबर को आल्मा-आटा में 12 गणराज्यों ने 'स्वतंत्र राष्ट्रों के राष्ट्रकूल' की स्थापना की। 25 दिसंबर को गोर्बाचोव ने राष्ट्रपति पद से इस्तीफा दे दिया। इस प्रकार विश्व के महान शक्तिशाली राष्ट्र सोवियत संघ सदा के लिए समाप्त हो गया और साथ ही शीत-युद्ध भी समाप्त हो गया।

अध्याय-20
गुट निरपेक्ष आन्दोलन एवं त तीय विश्व

सैकड़ों वर्षों तक एशिया और अफ्रीका के देश यूरोपीय देशों के गुलाम रहे। इन दो महादेशों पर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक यूरोपीय देशों का पूरा कब्जा हो गया। "एशिया के देशों में चेतना का संचार नहीं हो, इसके लिए साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा कई तरह के प्रयास किए गए, लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के बाद कई कारणों से एशिया के देशों में जाग ति आई और उनमें राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।" रूस की बोल्शेविक क्रांति के बाद इन आन्दोलनों ने बड़ा उग्र रूप धारण कर लिया। "1927 ई० में साम्यवादियों तथा कुछ प्रगतिशील तत्त्वों ने पहले-पहल अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर संसार के पराधी देशों के एक सम्मेलन का आयोजन बेल्जियम के नगर ब्रुसेल्स में किया। इस सम्मेलन में संसार के पराधीन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों के नेता सम्मिलित हुए" और पहले-पहल उनके बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हुआ। उसके बाद एशिया के पराधीन देशों ने अपना संगठन कायम करने का प्रयास किया ताकि पाश्चात्य साम्राज्यवाद का विरोध संगठित रूप से किया जा सके। भारत की कांग्रेस पार्टी ने पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेत त्व में इस कार्य में सक्रिय भाग लिया, लेकिन पराधीनता के कारण इस दिशा में कोई विशेष सफलता नहीं मिली।

प्रथम एशियाई सम्मेलन - स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व एशियाई देशों को संगठित करने के आन्दोलन में भारत की रुचि बहुत बढ़ गई थी और इसलिए अभी देश स्वतंत्र भी नहीं हुआ था कि पंडित नेहरू की प्रेरणा से 'इंडियन कौंसिल ऑफ वर्ल्ड एफेयर्स' (Indian Council of World Affairs) ने मार्च-अप्रैल 1947 में एशियाई देशों के एक सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें अट्ठाईस देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। यद्यपि इस सम्मेलन को किसी सरकार का समर्थन प्राप्त नहीं था, लेकिन इसका महत्त्व इस बात में है कि एशिया के विभिन्न देशों के नेता इसमें शामिल हुए थे। इस सम्मेलन में एशियाई देशों की राष्ट्रीय राजनीतिक स्वतंत्रता, आर्थिक विकास, प्रजातीय विभेद आदि विविध समस्याओं और एक स्थायी संगठन कायम करने के प्रस्ताव पर विचार हुआ। एशियाई देशों के सम्मेलन से यह आशा करना कि वह कोई युगान्तकारी निर्णय कर पाएगा, बेकार था। सम्मेलन में यह भी स्पष्ट हो गया कि यद्यपि एशियाई देशों की कई समस्याएँ एक-सी नहीं हैं और उनका समाधान संयुक्त प्रयास से ही सम्भव हो सकेगा, फिर भी कई मतभेद स्पष्ट हो गए, लेकिन ये सारे मतभेद महत्त्वपूर्ण न थे। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि एशिया के देश एक सम्मेलन में एक जगह मिले और अपनी-अपनी समस्याओं पर विचार-विनिमय कर सकें। दूसरे, इसने इस बात की ओर भी संकेत किया कि एशिया के देश अब जागरूक हो चुके हैं और उनका साम्राज्यादी शोषण नहीं हो सकता है। प्रथम एशियाई सम्मेलन ने यह स्पष्ट कर दिया कि एशिया के देश अब यूरोपीय साम्राज्य का विरोध करने के लिए पूरी तरह तैयार हैं। कुछ ही दिनों में डच-इंडोनेशिया संघर्ष के समय एशियाई देशों के संगठन के महत्त्व का पता चल गया।

द्वितीय एशियाई सम्मेलन - एश्याई देशों का द्वितीय सम्मेलन दिल्ली में ही 20-23 जनवरी, 1949 ई० को हुआ। इस सम्मेलन का उद्देश्य इंडोनेशिया पर डच आक्रमण से उत्पन्न परिस्थिति पर विचार करना था। सम्मेलन में डच कार्यवाही की जोरदार निंदा की गई। डच आक्रमण को विफल बनाने के लिए कई तरह के कार्यक्रम बनाए गए और संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् को ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड का सहयोग प्राप्त कर हॉलैंड के प्रति कड़ा रुख अपनाने को बाध्य किया गया। संगठित एशिया की उपेक्षा करना अब सरल काम नहीं रहा। 1949 ई० के सम्मेलन ने यह स्पष्ट कर दिया कि एशिया के देशों पर यूरोपीय साम्राज्यवाद को लादे रखना अब असम्भव है।

'तीसरी शक्ति' का अभ्युदय - इस समय तक संसार दो विरोधी गुटों-सोवियत और अमेरिका में विभक्त हो चुका था और अमेरिकी गुट एशिया के इन नवोदित राष्ट्रों पर तरह-तरह का दबाव डाल रहा था ताकि वे उसके गुट में शामिल हो जाएँ, लेकिन एशिया के अधिकांश राष्ट्र पश्चिम देशों की भांति गुटबंदी में विश्वास नहीं रखते थे। वे सोवियत साम्यवाद और अमेरिकी पूंजीवाद दोनों को अस्वीकार करते थे। वे अपने आपको किसी 'वाद' के साथ सम्बद्ध करना नहीं चाहते थे और उनका विश्वास

था कि उसके प्रदेश 'तीसरी शक्ति' (Third force) हो सकते थे जो दो गुटों के विभाजन को अधिक जटिल संतुलन में परिणत करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में सहायक हो सकते थे। गुटों से अलग रहने की नीति अर्थात् गुटनिरपेक्षवाद एशिया के नवजागरण की प्रमुख विशेषता थी। 1947 ई० में स्वतंत्र होने के उपरान्त भारत ने इस नीति का पालन करना शुरू कर दिया। उसके बाद एशिया के अनेक देशों ने इस नीति में अपनी आस्था व्यक्त की। जैसे-जैसे अफ्रीका के देश स्वतंत्र होते गए, वैसे-वैसे उन्होंने भी इस नीति का अवलम्बन करना शुरू किया। भारत के जवाहरलाल नेहरू, मिस्त्र के नासिर और युगोस्लाविया के टीटो के सम्मिलित प्रयासों ने तीसरी शक्ति की धारणा को काफी मजबूत बनाया।

बांडुंग सम्मेलन - 28-29 दिसम्बर, 1956 ई० को भारत, लंका, इंडोनेशिया तथा पाकिस्तान के प्रधानमंत्री को एक सम्मेलन इंडोनेशिया के एक नगर बोगोट में हुआ। बोगोट ने वार्त्ता करने के पश्चात् एशिया और अफ्रीका के महादेशों के राष्ट्रों में सद्भावना और सहयोग विकसित करने के लिए और पारस्परिक आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्क तिक समस्याओं एवं शान्ति तथा सहयोग में अपने योगदान पर विचार करने के लिए एशियाई अफ्रीकी राष्ट्रों का एक सम्मेलन आयोजित करने का निश्चय किया गया।

इस निश्चय के अनुसार, 1955 ई० में 18 अप्रैल से 24 अप्रैल तक इंडोनेशिया के नगर बांडुंग में एशिया और अफ्रीका के उनतीस राष्ट्रों के प्रतिनिधि एक सम्मेलन में शामिल हुए।

बांडुंग सम्मेलन में निम्नलिखित देश सम्मिलित हुए थे- भारत, पाकिस्तान, बर्मा, लंका, इंडोनेशिया, चीन, जापान, तुर्की, अफगानिस्तान, वियतनाम, वितमिन्ह, कंबोडिया, लाओस, मिस्त्र, सुडान, गोल्डकोस्ट, साइबेरिया, ईराक, लीबिया, फारस, सीरिया, लेबनान, जोर्डन, अफ्रीकी मध्य संघ, सऊदी अरेबिया, यमन और नेपाल। थाईलैंड और फिलीपींस ने निमंत्रण स्वीकार नहीं किया था।

सम्मेलन का उद्घाटन इंडोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने किया। अपने स्वागत भाषण में उन्होंने कहा कि "मुझे आशा है, यह सम्मेलन मानव-समाज का मार्ग निर्देशन करेगा। मुझे आशा है कि यह इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करेगा कि एशिया और अफ्रीका का पुनर्जन्म हो चुका है।"

सम्मेलन की वास्तविक उपलब्धियों का सबसे अच्छा तथा विस्तारपूर्वक उल्लेख अंतिम दिन प्रकाशित एक विज्ञप्ति में किया गया। "इसने विदेशी सहयता, एक राष्ट्रसंघ फंड (U.N. Fund), तकनीकी ज्ञान तथा बहुपक्षी-व्यापार के आदान-प्रदान एवं भिन्न-भिन्न प्रकार के निर्यात द्वारा विश्व के एशियाई एवं अफ्रीकी क्षेत्र के आर्थिक विकास की आवश्यकता" पर जोर दिया। इसने एशियाई व अफ्रीकी देशों के पर्याप्त प्रतिनिधित्व से युक्त एक "अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति संस्था" (International Atomic Energy Agency) की स्थापना की माँग की; "प्रजाति भेदभाव तथा उपनिवेशवाद के प्रत्येक स्वरूप-विशेषकर उत्तर तथा दक्षिण अफ्रीका-के प्रजाति भेदभाव-को उनकी मानवीय सम्मान के विरुद्ध" कहकर निंदा की, "फिलिस्तीन ने अरबों के अधिकार का समर्थन" किया; "फिलिस्तीन-समस्या के शान्तिपूर्ण हल तथा राष्ट्रसंघीय प्रस्ताव को क्रियान्वित करने" का अपील की "वेस्ट इंडियन पर इंडोनीशियाई दावे का समर्थन" किया; "राष्ट्र-संघ की सदस्य संख्या में व द्धि तथा अफ्रीका एवं एशिया को अधिक प्रतिनिधित्व देने" की माँग की, "निरस्त्रीकरण, प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण में आणविक शस्त्रों के निषेध तथा ऐसे शस्त्रों के परीक्षणों को बंद करने" का पुकार की तथा "शान्ति, स्वतंत्रता, मानवीय अधिकारों के प्रति आदर-प्रदर्शन द्वारा सहिष्णुता, सभी राज्यों के ऐक्य तथा सम्प्रभुता, प्रत्येक राज्य और जाति की समानता, अहस्तक्षेप, राष्ट्रसंघ के चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्तिगत अथवा सामूहिक सुरक्षा के अधिकार, शक्ति-राजनीति एवं आक्रमणकारी प्रपंचों से प थकत्व और झगड़ों के "शान्तिपूर्ण हल" का समर्थन किया।

27 अप्रैल, 1955 ई० को जब यह सम्मेलन खत्म हुआ तो समस्त संसार को यह विश्वास हो गया कि एशिया और अफ्रीका एक नयी आवाज और एक नये संदेश के साथ जाग उठा है। यह आवाज विद्रोह और सशस्त्र क्रांति तथा शीतयुद्ध की नहीं, बल्कि शान्ति, मैत्री, सद्भावना तथा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की थी। इस नयी आवाज और इस नये संदेश को बुलंद करने वालों में प्रमुख थे भारत के जवाहरलाल नेहरू, चीन के चाऊ-एन-लाई, इंडोनेशिया के मिड्जोजो तथा मिस्त्र के कर्नल नासिर।

बांडुंग सम्मेलन में भाग लेने वाले एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों के जीवन में एक नये आत्म-विश्वास और आशा का उदय हुआ। एक नयी आवाज एशिया के पूर्वी छोर से उठ कर अ फ्रीका तक के विशाल भूखण्ड में गूँज उठी। वह आवाज यह थी कि एशियावासी और अफ्रीका के लाखों-करोड़ों शोषित नर-नारी पराधीन न रहेंगे। वे अपने हाथों अपने भविष्य का निर्णय करेंगे।

उनको बहकाया अथवा लुभाया नहीं जा सकेगा। उन्होंने यह भी भली प्रकार समझ लिया कि स्वतंत्रता और शान्ति परस्पर आश्रित है और संसार के किसी भी भाग में पराधीनता का अस्तित्व शान्ति के लिए खतरा है। ठीक उसी प्रकार जैसे शान्ति के अभाव में संसार के हर कोने में स्वतंत्रता के विकास में बाधाएँ पड़ती हैं, और इसी बात को द ष्टि में रखकर सम्मेलन में निरस्त्रीकरण, आणविक शस्त्रास्त्रों के पूर्ण बहिष्कार और शस्त्रास्त्रों के अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण का पूरा समर्थन किया और संयुक्त राष्ट्रसंघ और उसकी एजेंसियों में एशियाई प्रदेशों का प्रतिनिधित्व अपर्याप्त है। सम्मेलन में प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा करने के अधिकार को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया गया। यह भी माना गया कि उन्हें व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा करने का संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार स्पष्टतः अधिकार है। परंतु इसके साथ ही यह चेतावनी भी दी गई कि इस प्रकार की सामूहिक सुरक्षा-प्रणाली को बड़े राष्ट्रों के स्वार्थ साधन के उपकरणों के रूप में परिणत न होने दिया जाए।

एशिया की राजनीति के द ष्टिकोण से बांडुंग सम्मेलन के दो महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। इसने विश्व-राजनीति की समस्याओं के प्रति एशिया और अफ्रीका में एक समान द ष्टिकोण का जन्म दिया तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक ऐसी एशियाई अफ्रीकी ग्रुप की आधारशीला रखी जिसने बाद में पूर्व-पश्चिम संघर्ष में संतुलन पैदा करने का काम किया। पांच वर्ष के अंदर (1960 तक) संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा में अफ्रीका तथा एशिया के राज्यों की संख्या पैंतालीस हो गई। अब दो-तिहाई बहुमत से पास होने वाले प्रस्ताव के लिए इस गुट का समर्थन आवश्यक हो गया।

बांडुंग सम्मेलन के परिणामस्वरूप साम्यवादी चीन को एशिया के देश के मध्य अपनी स्थिति को प्रकट करने का मौका मिला। अभी तक चीन के सम्बन्ध में संसार में कई तरह की धारणाएँ थी, लेकिन बांडुंग सम्मेलन में चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया जिसके फलस्वरूप चीन की नई सरकार एशियाई देशों में लोकप्रियता हासिल करने लगी। चाऊ-एन-लाई ने सम्मेलन में लाऐ गए प्रस्तावों का जोरदार समर्थन किया और बार-बार कहा कि- "हम एशियावासी एक ही प्रकार के अत्याचार से पीड़ित रहे हैं और हमारा लक्ष्य भी एक है।" हम एशिया और अफ्रीकावासी सदैव ही एक दूसरे के प्रति सहानूभुति और हमदर्दी रखते हैं। एशिया और अफ्रीका से हम लोग उपनिवेशवाद की लूट और अत्याचारों के शिकार हुए हैं और इस प्रकार गरीबी और पिछड़ेपन की स्थिति में रहने के लिए मजबूत किए गए हैं। हमारी आवाज जबरन दबाई गई है। हमारी महत्त्वकांक्षा को कुचला गया है और हमारा भाग्य दूसरों की दशा पर निर्भर रहा है। अतएव, इस दासता के विरुद्ध विद्रोह करने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई विकल्प शेष नहीं।

चीन के प्रधानमंत्री ने एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय आन्दोलन का जोरदार समर्थन किया। एशियाई तथा अफ्रीकी देशों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली। चीन जो अभी तक अछूत देश था, एशियाई देशों की मण्डली में प्रवेश पा गया, यद्यपि बाद में जाकर यह प्रगट हो गया कि चाऊ-एन-लाई के इस नम्र और अत्यधिक विनयशील एवं सहयोगात्मक रुख के पीछे वास्तविक रहस्य क्या था। बाद में चीन की नीति ने इसे स्पष्ट कर दिया कि उसने बांडुंग के प्लेटफार्म को केवल प्रचार के लिए प्रयोग किया था।

बांडुंग सम्मेलन के प्रारंभ होने से पूर्व पश्चिमी देशों को उसके उद्देश्यों और लाक्ष्यों के सम्बन्ध में बहुत संदेह था। उन्हें भय था कि पश्चिम के विरोधी तत्त्व सम्मेलन का उपयोग एशिया और अफ्रीका में पश्चिम विरोधी भावना को और अधिक उग्र बनाने और सम्भवतः पश्चिमी देशों की कटु आलोचना करने के लिए करेंगे, परंतु सम्मेलन की कार्यवाही जिस ढंग पर हुई और जिस धैर्य, विवेक और दूरदर्शिता का परिचय अनेक एशियाई देशों के नेताओं ने सम्मेलन के मंच पर दिया, उसने इन देशों के भय का निराकरण ही नहीं कर दिया, बल्कि उनमें यह विश्वास भी पैदा कर दिया कि एशिया के देश उनसे शान्तिपूर्ण और रचनात्मक सहयोग करने के लिए उपयुक्त हैं और पुरानी दुश्मनी और वैमनस्य भूलकर विश्व-शान्ति और सम द्धि के हित में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं।

बेलग्रेड सम्मेलन - एशिया और अफ्रीका के गुटनिरपेक्ष देशों का प्रथम सम्मेलन 1961 ई० में युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में हुआ। इसको तटस्थ राज्यों का सम्मेलन कहना अधिक उचित है; क्योंकि इसमें एशिया और अफ्रीका महादेशों के अतिरिक्त अन्य महादेशों के देश भी शामिल हुए थे। बेलग्रेड सम्मेलन के पहले राष्ट्रपति सुकर्ण ने एक-दूसरे बांडुंग सम्मेलन को बुलाने का प्रस्ताव रखा। कम्युनिस्ट चीन ने इस प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया और इस कारण द्वितीय बांडुंग सम्मेलन की योजना सफल नहीं नहीं हो सकी; क्योंकि युगोस्लाविया, संयुक्त अरब गणराज्य तथा भारत तीनों चीन के विरोधी हो गए थे। इसी बीच

अप्रैल, 1961 ई० में राष्ट्रपति टीटो संयुक्त अरब गणराज्य गए और वहीं बेलग्रेड सम्मेलन का निर्णय किया। 26 अप्रैल, 1961 ई० को राष्ट्रपति नासिर और टीटो ने अट्ठाईस तटस्थ राज्यों को पत्र भेजा और उन्हें इस सम्मेलन में शामिल हाने के लिए नियंत्रित किया। सम्मेलन की तैयारी करने के लिए पहले काहिरा ने तटस्थ राज्यों के विदेश मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ (5-12 जून)। तदुपरान्त 1 सितंबर, 1961 ई० को बेलग्रेड में अट्ठाईस तटस्थ राज्यों के शासनाध्यक्षों का सम्मेलन शुरू हुआ। सम्मेलन को बुलाने के निम्नलिखित उद्देश्य थे-

उस समय जर्मनी की समस्या को लेकर शीत-युद्ध उग्र हो गया था और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध निरंतर खराब हो रहे थे। संसार की शान्ति के लिए बड़ा ही खतरनाक वातावरण उत्पन्न हो गया था। सम्मेलन ने संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ से अनुरोध किया कि वे शीत-युद्ध की उग्रता कम करें तथा जर्मनी की समस्या का समाधान ढूँढ़ निकालें। हथियारबंदी की होड़ और अमेरिका द्वारा परमाणविक परीक्षण भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। सम्मेलन ने इस ओर भी संबद्ध राष्ट्रों का ध्यान आक ष्ट कराया, लेकिन सम्मेलन का यह दुर्भाग्य था कि जिस दिन उसकी कार्यवाही शुरू हुई उसी दिन सोवियत संघ ने पुनः परमाणविक परीक्षण शुरू कर दिया। फिर भी, सम्मेलन ने निश्चय किया कि तटस्थ राज्यों की ओर से एक प्रतिनिधिमंडल संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ भेजा जाय और राष्ट्रपति कैनेडी तथा प्रधानमंत्री खुश्चेव से अनुरोध किया जाय कि प्रत्यक्ष वार्त्ता करके निरस्त्रीकरण, परमाणविक परीक्षण तथा शीत-युद्ध की समस्याओं का समाधान करें। सम्मेलन ने शान्ति की समस्या पर विशेष जोर दिया, यद्यपि उपनिवेशवाद का विरोध भी इसकी कार्यवाही का मुख्य विषय रहा। सम्मेलन ने यह विचार व्यक्त किया कि हर तरह का उपनिवेशवाद तथा प्रजातीय विभेदवाद संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के सिद्धान्तों का उल्लंघन है और संसार के पराधीन देशों को तुरंत ही मुक्त किया जाय।

बेलग्रेड सम्मेलन में एशियाई देशों के कई मतभेद भी स्पष्ट हुए। इंडोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने उपनिवेशवाद को समकालीन विश्व की सभी बुराईयों की जड़ बताया। उनका कहना था कि विश्व की एकमात्र समस्या उपनिवेशवाद है और संसार के तटस्थ राज्यों को उपनिवेशवाद के अन्त के लिए प्रयास करना चाहिए। इसके विपरीत भारत के प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने विश्व-शान्ति की समस्या को मुख्य स्थान दिया और इस बात पर इन्हें राष्ट्रपति टीटो तथा कर्नल नासिर का पूरा समर्थन प्राप्त हुआ। इस प्रकार सम्मेलन में दो द ष्टिकोण में परस्पर टक्कर हो गया और सम्मेलन विफल होते-होते बचा। अन्त में, निश्चित हुआ कि सम्मेलन प्रस्ताव को लेकर राष्ट्रपति सुकर्ण तथा टीटो अमेरिका जायें और वहां राष्ट्रपति कैनेडी से मिलकर उन्हे सम्मेलन के निर्णयों से अवगत कराए। उसी तरह का दायित्व पंडित नेहरू और एन्क्रूमा को दिया गया जो खुश्चेच से मिलने मास्को गए। वाशिंगटन और मास्को में शान्ति के उन दूतों का यथोचित सत्कार हुआ, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

पश्चिमी राष्ट्र बेलग्रेड सम्मेलन से बहुत नाराज थे, क्योंकि इसके द्वारा सोवियत संघ की नीति पर उतना जोरदार प्रहार नहीं किया गया था जितना अमेरिकी गुट की नीति पर। सम्मेलन के महत्त्व को संसार के हर देश में समझा गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि दुनिया में, एक नयी शक्ति का आविर्भाव हो रहा है, लेकिन सम्मेलन की कार्यवाही ने एशियाई देशों के आपसी मतभेद और फूट को भी स्पष्ट कर दिया। उसी समय यह भी स्पष्ट हो गया कि एशियाई-अफ्रीकी देशों को एक शक्तिशाली गुट में संगठित करने का प्रयास अनेक कठिनाइयों से भरा पड़ा है और उनके बीच जो दरार है उसको भरा नहीं जा सकता है। कम्युनिस्ट चीन की नीति ने इन मतभेदों का और भी गहरा कर दिया। यद्यपि चीन का इन सम्मेलन में प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त हुआ था (क्योंकि वह तटस्थ राज्य नहीं था)। फिर भी, इंडोनेशिया के जरिये चीन का प्रभाव सम्मेलन पर काम करता रहा। चीन की विश्वव्यापी महत्त्वकांक्षा ने एशियाई-अफ्रीकी संगठन और एकता की आशा पर पानी फेर दिया।

काहिरा सम्मेलन - तटस्थ राज्यों का दूसरा सम्मेलन 6 अक्टूबर, 1964 ई० को काहिरा में शुरू हुआ और 11 अक्टूबर को यह खत्म हुआ। इस सम्मेलन का उद्देश्य तटस्थतावादी क्षेत्र को विस्त त करना तथा इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को खत्म करना था। इस सम्मेलन में भी पुनः दो विचारधाराओं के बीच संघर्ष उत्पन्न हो गया और सम्मेलन विफल होते-होते बचा। सम्मेलन के अन्त में एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई जिसमें उपनिवेशवाद के पूर्ण अन्त की बात कही गई। विज्ञप्ति में हर तरह के उपनिवेशवाद की निंदा की गई। यह कहा गया कि स्वाधीन होना प्रत्येक राष्ट्र का अधिकार है और पराधीन राष्ट्र अपनी स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए उपनिवेशवादी राज्यों के खिलाफ शस्त्र का प्रयोग कर सकते हैं। सम्मेलन ने संसार की मुख्य समस्याओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफारिशें भी कीं-

1. राष्ट्रों को अपनी आपसी झगड़े शान्तिपूर्ण ढंग से तय करना चाहिए और उन्हें शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में पूरी आस्था रखनी चाहिए।
2. पूर्ण निरस्त्रीकरण का होना अत्यंत आवश्यक है। सम्मेलन में शामिल होने वाले देशों ने यह निश्चय किया कि वे कभी परमाणविक परीक्षण नहीं करेंगे और अन्य राष्ट्रों से भी ऐसा ही निश्चय करने का अनुरोध किया गया। सम्मेलन ने यूरोप और अफ्रीका के कुछ भागों तथा महासागरों को 'परमाणुरहित क्षेत्र' घोषित करने की सिफारिश भी की।
3. यदि दक्षिण रोडेशिया की सरकार एकतरफी स्वतंत्रता की घोषणा करे तो उसको मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। ब्रिटेन को चाहिए कि दक्षिण रोडेशिया की समस्या के समाधान के लिए एक वैधानिक सम्मेलन बुलाए और रोडेशिया के लिए एक संविधान का निर्माण करे जिसमें वहां के मूल निवासियों को न्यायोचित अधिकार मिले।
4. सम्मेलन ने यह सिफारिश की कि सभी देश रंग-भेद की नीति बरतने वाली दक्षिण अफ्रीकी सरकार के साथ अपने सारे राजनयिक सम्बन्ध तोड़ लें और उसके विरुद्ध तब तक आर्थिक प्रतिबंध लगाये रखें जब तक वह रंग-भेद की नीति का परित्याग नहीं कर देता। सम्मेलन ने स्पष्ट कर दिया कि दक्षिण अफ्रीका की सरकार के साथ तब तक कोई सम्बन्ध नहीं किया जाय जब तक वह अपनी रंग-भेद को नहीं छोड़ देती।
5. सम्मेलन ने संसार के पराधीन देशों को अविलम्ब स्वतंत्र किए जाने की सिफारिश की। इसने कांगो, क्यूबा, साइप्रश, अदन तथा अफ्रीका के पराधीन देशों से साम्राज्यवादियों को निकल जाने का अनुरोध किया और लैटिन अमेरिका के देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका की उपनिवेशवादी नीति की निंदा की।
6. सम्मेलन ने यह माँग की कि कंबोडिया तथा वियतनाम में विदेशी हस्तक्षेप का अन्त हो और फिलिस्तीन में अरबों के अधिकारों को मान्यता मिले।
7. अन्त में, सम्मेलन द्वारा राष्ट्रसंघ में चीन के प्रवेश का समर्थन किया गया।

लुसाका सम्मेलन

बेलग्रेड और दारेस्सलाम सम्मेलन - गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का पिछला सम्मेलन 1964 में हुआ था। तब तक संसार की राजनीतिक मंडी में निरपेक्ष राष्ट्रों की थोड़ी बहुत साख बची हुई थी। लेकिन पिछले पाँच-छह वर्षों में अनेक गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का राजनीतिक और सामरिक पराभव हुआ और वे अपनी भीतरी समस्याओं में उलझ गए। अनेक छोटे-छोटे राष्ट्रों ने अपने पड़ोसी देशों से समर और शत्रुता में स्वयं को जिस तरह उलझा लिया उससे सिआटो और सेन्टो जैसी सैनिक संधियों से मुक्त रहने का बहुत अर्थ नहीं रह गया। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों, विशेष रूप से युगोस्लाविया और संयुक्त अरब गणराज्य की, इस बीच बराबर यह इच्छा रही कि तटस्थता को फिर से एक नियामक शक्ति के रूप में संगठित किया जाय। गुटनिरपेक्षता किस हद तक विश्व राजनीति में आज भी नियामक हो सकती है, इस पर विचार करने के लिए जुलाई, 1969 ई० में बेलग्रेड में तटस्थ राष्ट्रों की एक बैठक हुई जिसमें पचास निरपेक्ष राष्ट्रों ने भाग लिया। इस सम्मेलन का उद्देश्य केवल मंत्रणा करना था। निरपेक्ष राष्ट्रों के राजदूत और प्रतिनिधियों के इस सम्मेलन में मुख्य रूप से विश्व-स्थिति तथा निरपेक्ष राष्ट्रों में उसका असर, निरपेक्ष राष्ट्रों के बीच सहयोग और विचार-विमर्श की सम्भावना पर विचार किया गया। वियतनाम और पश्चिम एशिया निरपेक्ष राष्ट्रों की चिंता के दो केंद्र रहे हैं। यद्यपि दोनों की स्थिति में पहले से कुछ सुधार हुआ है लेकिन अब भी इन समस्याओं का कोई स्पष्ट हल प्राप्त नहीं हो सका है। वियतनाम और पश्चिम एशिया दोनों का दबाव सबसे पहले अधिकतर निरपेक्ष राष्ट्रों ने ही अनुभव किया था, क्योंकि दोनों में विस्फोट से उनकी विदेश-नीति में अपेक्षाक त असंतुलन की सम्भावनाएँ लगातार बढ़ती गई हैं। इसी संदर्भ में निरपेक्ष राष्ट्रों की परिभाषा को बदलने का भी प्रयत्न किया गया, लेकिन निरपेक्षता के बुनियादी सिद्धांतों में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है जिससे कि निरपेक्षता का स्वरूप ही बदल दिया जाय। भारत ने निरपेक्षता की पहचान के लिए पांच आधारभूत सिद्धान्त सम्मेलन को भेजे-

1. निरपेक्ष राष्ट्र की विदेश-नीति स्वतंत्र होनी चाहिए और उसे सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। उसे विभिन्न राज्य-व्यवस्थाओं के प्रति सहिष्णुता बरतनी चाहिए और निरपेक्षता की ओर उसकी प्रव त्ति होनी चाहिए।
2. निरपेक्ष राष्ट्र को राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दालेन का निरंतर समर्थन करना चाहिए।

3. निरपेक्ष राष्ट्र को किसी बहु-सैनिक संघ का सदस्य नहीं होना चाहिए।
4. अगर कोई देश किसी बड़ी सत्ता के साथ द्विपक्षीय सैनिक संधि करता है या किसी क्षेत्रीय सैनिक संधि का सदस्य है तो यह संधि-बड़े राष्ट्रों के सत्ता-संघर्ष के संदर्भ में नहीं होना चाहिए।
5. अगर कोई देश किसी विदेशी सत्ता को सैनिक अड्डा बनाने की इजाजत देता है तो यह रियासत सत्ता-संघर्ष में नहीं होनी चाहिए।

भारत द्वारा निर्धारित इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर पाकिस्तान अब तक निरपेक्ष राष्ट्रों के सम्मेलन की सदस्यता प्राप्त करने की योग्यता नहीं हासिल कर सका है। पाकिस्तान की ओर से कोशिश की गई थी कि उसे निरपेक्षता सम्मेलन में भाग लेने की इजाजत दी जाय, लेकिन पाकिस्तान अब तक सीआटो और सेंटो सैनिक संधियों का सदस्य है इसलिए उसे अब तक सदस्यता प्रदान नहीं की गई। जब पाकिस्तान ने निरपेक्ष सम्मेलन में हिस्सा लेने की इच्छा व्यक्त की तब उसे यह संकेत दिया गया था कि अगर वह सम्मेलन में शामिल होना चाहता हे तो उसका स्वागत है, लेकिन इसके लिए पहले उसे सीआटो और सेंटों सैनिक संधि से अलग होना पड़ेगा। पाकिस्तान की ओर से ये तर्क दिया गया कि सैनिक संधि में उसकी उपस्थिति सहज प्रतीकात्मक है। अगर सचमुच ही ऐसा हे तो पाकिस्तान के लिये इन संधियों से अलग होना और भी आसान होना चाहिए। जिस आधारों पर पाकिस्तान को अब तक शामिल नहीं किया गया है उन्हीं आधारों पर सोवियत संघ और चीन को भी निरपेक्ष राष्ट्र नहीं माना गया।

सम्मेलन में कुछ राष्ट्र चेकोस्लोवाकिया का मामला भी उठाने की इच्छा रखते थे। अपनी ओर से युगोस्लाविया को इस पर कोई आपत्ति नहीं होती, विशेष रूप से इसलिए कि चेकोस्लोवाकिया में सोवियत हस्तक्षेप पर सबसे पहले युगोस्लाविया ने ही प्रतिक्रिया व्यक्त की थी, लेकिन युगोस्लाविया निरपेक्ष सम्मेलन की मेजबानी कर रहा है और वह चेकोस्लोवाकिया पर बहस को प्रोत्साहन देकर कुछ अन्य निरपेक्ष राष्ट्रों को जिनका सोवियत संघ से अन्तरंग सम्बन्ध है, उलझन में नहीं डालना चाहता था।

शिखर सम्मेलन - सम्मेलन में पारित प्रस्तावों को भारत, अल्जीरिया, युगोस्लाविया, नाइजीरिया, जांबिया, केन्या और संयुक्त अरब गणराज्य ने ध्यानपूर्वक जाँच-पड़ताल के बाद प्रकाशनार्थ भेज दिया। प्रस्ताव मे इज़रायल, दक्षिण अफ्रीका, पुर्तगाल और रोडेशिया की कार्यवाहियों पर निंदा की गई और उसके साथ-साथ वियतनामी जनता का भी समर्थन किया गया। वास्तव में, एशिया महाद्वीप में चल रहे विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में बड़ी शक्तियों के कार्यों की भी दबे शब्दों में निंदा की गई। वियतनाम के मामले में सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका के हस्तक्षेप को सम्मेलन ने बुरी नजर से देखा। वास्तव में, अधिसंख्य सदस्यों को इस बात का एहसास हो गया कि बड़े-बड़े अन्तर्राष्ट्रीय सदस्यों की अपेक्षा तटस्थ राष्ट्रों की समस्याएं ही इतनी जटिल हैं कि सभी का ध्यान पहले इन्हीं और जाना चाहिए। भारतीय प्रतिनिधि श्री कौल के अनुसार, "हम यहां दूसरे प्रतिनिधियों के साथ बैठ कर विश्व की वर्तमान स्थिति पर विचार-विमर्श करने आए थे, किंतु हमें मालूम हुआ कि विश्व की समस्याओं की अपेक्षा तटस्थ राष्ट्रों की वर्तमान स्थिति और उनके भविष्य की ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।"

दारेस्सलाम सम्मेलन की तैयारी - गुटनिरपेक्ष राज्यों का एक दूसरा सम्मेलन अप्रैल, 1970 में दारेस्सलाम में शुरू हुआ जिसका उद्देश्य एक व हत शिखर सम्मेलन की तैयारी करना था। इसमें 25 राज्य सम्मिलित हुए।

सम्मेलन शुरू होने के पहले से ही यह स्पष्ट था कि कंबोडिया के प्रतिनिधिमंडल के सवाल को लेकर गतिरोध उत्पन्न होगा; क्योंकि कंबोडिया के दो प्रतिनिधिमंडल सम्मेलन में भाग लेने के लिए पहुँच चुके थे। इधर तो राजकुमार सिंहनुक के समर्थक सम्मेलन में बैठने को उत्सुक थे और उधर कंबोडिया की नयी सरकार का प्रतिनिधिमंडल उस स्थान पर आधिपत्य चाहता था। आखिर दोनों में से कोई भी स्थान न ले सका। इस प्रकार सम्मेलन की शुरूआत गतिरोध से ही हुई, बाद में सम्मेलन की कार्यवाही से लग रहा था कि भाग लेने वाले सभी देश पूर्णरूप से उद्देश्य और नीति की भावना व्यक्त नहीं कर पा रहे हैं। वैसे दिखाने को भारत ने तटस्थता के अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और गुटनिरपेक्षता को आज की स्थिति के संदर्भ में उचित ठहराने की भी कोशिश की, लेकिन उपस्थिति प्रतिनिधि इस बार गुटनिरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन के लिए उत्साहित दिखाई नहीं पड़े। भारत शायद अपनी इस सफलता पर खुशी का एहसास कर सकता है कि गुटनिरपेक्ष देशों में स्थान पाने के पाकिस्तान के प्रयत्नों को उसने असफल कर दिया। इन प्रयत्नों का असफल होना कुछ इसलिए स्वाभविक भी था कि पाकिस्तान को प्रवेश कराने का मामला जोर्डान बहुत अच्छी तरह सम्मेलन के सामने पेश नहीं कर सकता। तंजानिया और

युगोस्लाविया दोनों ने भारत का ही पक्ष लिया। वैसे पाकिस्तान गुटनिरपेक्षता की कोई शर्त भी पूरी नहीं करता। इस प्रश्न पर भारत की गुटनिरपेक्ष देशों में से प्रमुख का समर्थन मिलना अपने-आप में एक बहुत बड़ी सफलता थी। पाकिस्तान के स्थान पाने का प्रश्न सम्भवतः प्रस्तावित शिखर सम्मेलन में भी आवे, लेकिन तैयारी सम्मेलन में इस प्रश्न पर पाकिस्तान की पराजय को जाने से उस समय उसकी सफलता की सम्भावना बहुत कम हो जाएगी।

सम्मेलन में कई बार तो कुछ प्रश्नों पर ऐसा गतिरोध दिखायी पड़ा मानो सम्मेलन असफलता की ओर बढ़ रहा है, परंतु किसी-न-किसी तरह गतिरोध को दूर कर सम्मेलन में अपना रास्ता साफ कर लिया गया और आखिर उसी वर्ष (1970) गुटनिरपेक्ष देशो को शिखर सम्मेलन के आयोजन की घोषणा कर सम्मेलन ने अपनी सार्थकता सिद्ध कर दी। अंतिम दिन के 'विचार-विमर्श में फिर मतभेद हुए और भारत, संयुक्त अरब गणराज्य और युगोस्लाविया- जैसे देशों के लिए मध्यस्थता करने का काम भी बहुत कठिन दिखायी पड़ा। जब संयुक्त विज्ञप्ति का मसौदा तैयार हो गया तो पश्चिमी एशिया संकट में निहित कई पचीदे प्रश्नों पर मतभेद की छाया पड़ रही थी।

पश्चिम एशिया की स्थिति पर चिंता व्यक्त करने के साथ-साथ दक्षिण-पूर्व एशिया में विदेशी हस्तक्षेप की निंदा की गई। सम्मेलन में एक सप्ताह की बहस सुनने के बाद स्पष्टतः इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि गुटनिरपेक्ष देशों के अपने मतभेद, नीति और उद्देश्यों के बारे में विचार काफी गहरे हैं, इथिओपिया के विदेशमंत्री के भाषण में यह बात स्पष्ट नजर आ रही थी। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया कि सैनिक गठबंधनों का विरोध करने के लिए गुटनिरपेक्ष देशों के पास कोई ऐसा कार्यक्रम नहीं है जिस पर वे स्वयं सहमत हों। 1961 और 1961 ई० के सम्मेलनों में इन देशों के जो मतभेद सामने आए थे अभी बराबर बने हुए हैं। तांजानिया के राष्ट्रपति ने अपने भाषण में गुटनिरपेक्ष देशों को अल्पविकसित देशों का मात्र प्रवक्ता बनाने अथवा इस सम्मेलन को इन देशों के संगठित आन्दोलन का रूप देने की जो बात कही उसे भी बहुत अधिक समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। आर्थिक प्रश्नों पर विचार के समय भी राजनीति ही सम्मेलन पर छाई रही और गुटनिरपेक्ष देशों में उद्देश्य की जो एकता स्थपित होनी चाहिए थी वह नहीं हो सकी। राजनीति से इस तरह के प्रश्नों का सिलसिला कुछ आगे बढ़ता ही था कि कोई-न-कोई राजनीतिक प्रश्न इस सिलसिले में बाधक बन जाता था। स्पष्ट है कि गुटनिरपेक्ष देश अपनी तटस्थता को कायम रखने के साथ-साथ अल्प-विकसित देशों के लिए कार्य करने की जो भूमिका निभा सकते हैं वह भी वे नहीं निभा पा रहे हैं।

अनेक पेचीदे प्रश्नों पर विचार-विमर्श के बाद मुख्य गतिरोध उस समय उत्पन्न हुआ जब गुटनिरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन के लिए जांबिया की राजधानी लुसाका को चुना गया। ख्याल है कि संयुक्त राष्ट्र महासभा की रजत जयंती से पहले ही शिखर सम्मेलन हो जाएगा। शिखर सम्मेलन के स्थान के बारे में इधर तो अल्जीरिया और उधर जांबिया का नियंत्रण अफ्रीकी राष्ट्रों और काले अफ्रीका के बीच प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया। इस प्रश्न पर विचार-विनिमय के दौरान वातावरण में कुछ तनाव भी दिखायी पड़ा, लेकिन अन्त में अगला शिखर सम्मेलन लुसाका में होने का निश्चय हुआ। दक्षिण अफ्रीका के बिल्कुल निकट होने के कारण लुसाका सम्मेलन संसार का ध्यान दक्षिण अफ्रीका जैसे औपनिवेशिक देशों और उनकी दकियानूसी नीतियों पर दिला सकेगा और यह गुटनिरपेक्ष देशों के अनेक उद्देश्यों में से एक था। जिन प्रश्नों पर तैयारी सम्मेलन में विचार हुआ था और जिनका उल्लेख संयुक्त विज्ञप्ति में किया गया उन्हीं पर शिखर सम्मेलन में भी विचार होना स्वाभाविक था। इससे स्पष्ट था कि जिस तरह का मतभेद इस प्रश्नों पर विचार के दौरान तैयारी सम्मेलन में दिखाई पड़े ठीक वही शिखर-सम्मेलन में भी उभर कर आएंगे।

लुसाका सम्मेलन - तटस्थ राष्ट्रों का तीसरा सम्मेलन अफ्रीकी देश जांबिया की राजधानी लुसाका में सितंबर, 1970 ई० को प्रारंभ हुआ। इस सम्मेलन में 63 राज्यों ने भाग लिया। सम्मेलन के आरंभ होने से पूर्व कई तरह की आशंकाएं व्यक्त की गई थीं। कुछ प्रेक्षकों का कहना था कि 1970 की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में विश्व तटस्थ राष्ट्रों को इस सम्मेलन की ओर अधिक ध्यान नहीं देगा और न सम्मेलन के निर्णयों का अधिक समय तक ध्यान मे रखा जाएगा। इस तीसरी दुनिया का आज इतना प्रभाव नहीं जितना पहले था। तटस्थता आन्दोलन की प्रतिष्ठा को सबसे अधिक धक्का तो इस बात से लगा कि बड़े राष्ट्रों से आपसी सम्बन्ध बदलने लगे हैं और तीसरी दुनिया पर प्रभाव जमाने की बजाय अपने क्षेत्र से बहार की अनेक बातों पर वे एक-दूसरे से सहयोग करने लगे हैं। ऐसी स्थिति में तटस्थता की भावना का अब कोई महत्त्व नहीं रहा।

इन आशंकाओं के बावजूद लुसाका सम्मेलन हुआ ओर कई द ष्टियों से यह सफल भी रहा। 63 राष्ट्रों के इस सम्मेलन में कई महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गए और पिछले दो सम्मेलनों (बेलग्रेड 1961 तथा काहिरा 1964) की अपेक्षा इस बार का विचार-विमर्श और वक्तव्य अधिक स्पष्ट था।

तटस्थ राष्ट्रों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाला सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पश्चिम एशिया का था जिस पर सम्मेलन ने स्पष्ट और निश्चित निर्णय लिया। पश्चिम एशिया के प्रस्ताव के बारे में केवल अरबों के पक्ष का समर्थन ही नहीं, हमलावार इजरायल को आवश्यकता पड़ने पर बायकाट करने तथा नाकेबंदी तक करने की बात थी। इजरायल से उन क्षेत्रों से तुरंत अपनी फौज हटा लेने का आग्रह किया गया जिस पर उसने 1967 ई० के युद्ध के दौरान कब्जा किया था। पश्चिमी एशिया में शान्ति-प्रयत्नों का स्वागत करते हुए सम्मेलन ने प्रयत्न को जारी रखने का अनुरोध किया और साथ ही हिन्द-चीन में भी ऐसे प्रयत्न करने की सिफारिश की। भले ही संघर्ष और विवादों में फँसे हुए सम्मेलन की सिफारिशों पर ध्यान न दें, पर विचार-विमर्श और इन प्रश्नों पर तटस्थ राष्ट्रों की अनदेखी नहीं की जा सकती।

इस प्रकार वियतनाम के बारे में लुसाका सम्मेलन एक कदम पहले से अवश्य बढ़ा। वियतनाम से अमेरिकी फौजों तथा अन्य सभी देशों का फौजें हटाने की माँग की गई। इस मामले पर हुई बहस में यह स्पष्ट हो गया कि गुटनिरपेक्ष देशों में आम राय यह है कि अमेरिकी फौजों ने वहां जाकर स्थिति बिगाड़ दी। अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की परराष्ट्रमंत्री श्रीमती विन्ह को सम्मेलन में प्रेक्षक बताकर यह सिद्ध करा दिया कि गुटनिरपेक्ष देश राष्ट्रीय स्वातांत्र्य मोर्चे के साथ था।

कंबोडिया के बारे में सम्मेलन में भारी बहुमत राजकुमार सिंहनुक के पक्ष में था। फिर भी, व्यावहारिकता को ध्यान में रखकर राजकुमार की सरकार और लोन नोल की सरकार में से किसी को भी सम्मेलन में शामिल नहीं किया गया। वक्ताओं ने यह साफ कह दिया था कि जनरल लोन नोल की सरकार ने राजकुमार सिंहनुक का अपदस्थ करके विदेशी हस्तक्षेप के लिए मार्ग खोल दिया है।

उपनिवेशवाद और आर्थिक प्रश्नों पर तटस्थ राष्ट्रों के परस्पर सहयोग के प्रश्न पर अधिकाधिक सहमति थी और ये दोनों बातें सम्मेलन की सफलता का आधार बनीं। उपनिवेशवाद के संदर्भ में दक्षिण अफ्रीका की चर्चा स्वाभाविक थी और इस सम्बन्ध में सम्मेलन ने सदस्य देशों से स्पष्ट शब्दों में अनुरोध किया कि दक्षिण अफ्रीका की हवाई कम्पनी के विमानों को वह अपने ऊपर से होकर जाने की अनुमति न दे। यह अफ्रीका में स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने वाली जनता को एक प्रकार का नैतिक समर्थन देने के समान है। निस्संदेह तटस्थ राष्ट्रों द्वारा इस तरह कार्रवाई से दक्षिण अफ्रीका पर दबाव जरूर पड़ेगा, परन्तु यह कार्रवाई कहां तक कारगर होगी यह तो अन्य बहुत-सी बातों पर निर्भर करेगा, परन्तु औपनिवेशिक दासता में जकड़े अफ्रीकियों के लिए मात्र नैतिक समर्थन देना ही काफी नहीं था। सम्मेलन ने अफ्रीकी जनता के स्वाधीनता-संघर्ष के लिए धनराशि एकत्र करने का प्रस्ताव भी किया, परन्तु इसकी निश्चित व्यवस्था नहीं की गई जिससे कि इस तरक की कार्यवाही का लाभ सीधे संघर्षरत अफ्रीकी जनता को पहुंच सके।

गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों को एक सूत्र में रखने वाले आर्थिक सहयोग के प्रश्न पर भारत में हमेशा से ही जोर दिया है। इस बार भी आर्थिक सहयोग पर भारत की ओर से ही जोर दिया गया। विकास तथा आर्थिक उन्नति के कार्यों में सदस्य देशों द्वारा आर्थिक सहयोग की बात 'अंकटाड' के त तीय सम्मेलन से भी बहुत पहले निश्चित की गई थी। इस सम्बन्ध में मंत्रियों की एक बैठक में कुछ निर्णय किए गए जिन पर अमल करते रहने का अनुरोध लुसाका सम्मेलन में भी किया गया।

गुटनिरपेक्ष देश गुटबंदी के खिलाफ चले थे और यदि वे स्वयं की अपना संगठन बना लें तो वह भी एक गुट का रूप लेगा। इसलिए लुसाका में स्थायी संगठन बनाने और उसका कार्यालय स्थापित करने के प्रस्ताव को अस्वीकार किया गया। इस मामले में कुछ अफ्रीकी देश आए थे और वे चाहते थे कि लुसाका में ही संगठन का स्थायी कार्यालय खोल दिया जाय। भारत ने कड़ा विरोध किया और संगठन नहीं बन पाया।

सम्मेलन की समाप्ति पर प्रतिनिधिमंडल को अपने-अपने देशों को लौटते समय उपलब्धि का एहसास हो रहा था और सभी की यह धारणा थी कि तीसरा तटस्थ राष्ट्र सम्मेलन केवल सफल ही नहीं रहा, बल्कि उसका संचालन भी पिछले सभी सम्मेलनों की अपेक्षा कुशल और निर्बाध था। सबसे बड़ी बात तो सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों का यह विश्वास था कि तटस्थता आज भी उनके लिए सार्थक है और आज की बाकी दुनिया के लिए भी तटस्थता ने अपना अर्थ खोया नहीं है। भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाधी का विचार था कि इस सम्मेलन में सहयोग की जो भावना देखी गई उसका पूरा-पूरा लाभ उठाया जाना चाहिए। प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी और युगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो दोनों ने ही सम्मेलन को सफल माना और उसकी उपलब्धियों पर हर्ष व्यक्त किया। स्वदेश रवाना होने से पहले श्रीमती इंदिरा गांधी ने संवाददाताओं से बातचीत करते हुए सम्मेलन की सफलता पर संतोष व्यक्त किया, पर उनका कहना था कि सफलता सम्मेलन के बाद की गतिविधियों पर बहुत

कुछ निर्भर करता है। पुर्तगाल और दक्षिण अफ्रीका से उनकी औपनिवेशिक नीतियों के कारण सम्मेलन के सदस्य देशों ने राजनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद करने का जो फैसला किया वह एक ठोस निर्णय था।

चतुर्थ अल्जीयर्स सम्मेलन

गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का तीसरा सम्मेलन जांबिया की राजधानी लुसाका में 1970 ई० में हुआ था। इस कड़ी में तटस्थ राष्ट्रों का चौथा सम्मेलन 4 से 8 सितंबर 1973 ई० को अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स में हुआ। तटस्थ राष्ट्रों के पिछले लुसाका सम्मेलन से लेकर अल्जीयर्स सम्मेलन तक संसार की राजनीति में अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिर्वतन हो चुके थे। एशियाई-अफ्रीकी देशों के परस्पर सम्बन्धों का नया रूप सामने आ चुका था और कुछ देशों की आन्तरिक स्थिति भी पिछले सम्मेलन के बाद से काफी बदल चुकी थी। इन बदलती हुई परिस्थितियों में अल्जीयर्स सम्मेलन अत्यंत महत्त्वपूर्ण था।

अल्जीयर्स सम्मेलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि पिछले तीन सम्मेलनों की अपेक्षा कहीं अधिक राष्ट्रों ने (इनमें 36 सदस्य-देशों ने) इसमें भाग लिया। 76 राष्ट्रों के नेताओं, जिसमें से कुछ अपने देशों के मुक्ति आन्दोलनों के अगुवा रहे थे, क्यूबा के फिडेल कास्ट्रो, लीबिया के कर्नल गाद्याफी, कंबोडिया के राजकुमार सिंहनुक, भारत की इंदिरा गांधी और अल्जीरिया के बुमैदीएन इस सम्मेलन में विशेष रूप से सक्रिय दिखायी पड़े। सम्मेलन में तटस्थ राष्ट्रों की एकता के जनक और एक सूत्रधार मार्शल टीटो भी थे।

सम्मेलन का प्रमुख उद्देश्य यह था कि विश्व की मुख्य समस्याओं पर विचार और उन पर एक सर्वसम्मत निर्णय के माध्यम से उनके सुलझाने में अपने प्रभाव का उपयोग किया जा सके। यहाँ उन सभी मसलों पर विचार किया गया जो विश्व में अस्थिरता के कारण बने हुए हैं। सम्मेलन में जो घोषणापत्र जारी किया गया उसमें सब तटस्थ राष्ट्रों से सिफारिश की गई कि वे राजकुमार सिंहनुक की निर्वासित सरकार को मान्यता दें, वियतनाम की क्रांतिकारी सरकार को समर्थन दें और मिस्त्र, सीरिया तथा जोर्डन अपने प्रदेशों को इजरायल से मुक्त कराने के लिए जो प्रयत्न कर रहे थे, उनमें मदद दें। लेकिन इन सभी प्रश्नों पर जो विचार-विनिमय हुआ उससे यह प्रकट हो गया कि कुछ तटस्थ राष्ट्र ही ऐसे थे जो इसके पक्ष में नहीं थे। क्यूबा के फिडेल कास्ट्रो और राजकुमार सिंहनुक के बीच जो झड़प हुई उससे इसकी पुष्टि हो गई। कास्ट्रो ने सम्मेलन में एक समय सोवियत संघ की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि सोवियत संघ न केवल तटस्थ राष्ट्रों का हिमायती रहा है, बल्कि उसकी जनता ने दूसरे देशों के विकास और मुक्ति के लिए कई त्याग भी किए हैं। लैटिन अमेरिकी देशों, विशेष रूप से ब्राजील, पर उन्होंने यह आरोप लगाया कि वे अमेरिकी साम्राज्यवाद को प्रश्रय देनेवाले गढ़ बन गए हैं। इस वक्तव्य को लेकर लीबिया के राष्ट्रपति कर्नल गद्याफी और कास्ट्रो के बीच दूसरी झड़प हो गई। ट्यूनीशिया के राष्ट्रपति हबीब बोर्गीवा ने कहा कि तटस्थ राष्ट्रों को 'कोकाकोला साम्राज्यवाद' (अमेरिकी) और "बोडका साम्राज्यवाद" (सोवियत) दोनों से ही सतर्क रहना चाहिए। इस प्रकार यह पहला मौका था कि तटस्थ राष्ट्रों के सम्मेलन में नाम लेकर बड़ी ताकतों के बारे में बातचीत हुई।

सम्मेलन में इजरायल द्वारा अधिक त अरब क्षेत्र तथा ईरान की खाड़ी में तनाव को कम करने के प्रश्नों पर भी विचार हुआ। जहाँ तक इजरायल की बात थी उसके खिलाफ भी सब तटस्थ राष्ट्र एक जैसा कदम उठाने के पक्ष में नहीं थे। कई तटस्थ राष्ट्रों के इजरायल से अच्छे सम्बन्ध थे और वे कोई ऐसा कदम उठाने के पक्ष में नहीं थे जिससे कि उनके आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों को चोट पहुंचे। यही कारण था कि उसके खिलाफ आर्थिक बहिष्कार की खुली घोषणा नहीं हो सकी। केवल इतना ही कहा गया कि इजरायल संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को जो निरंतर चुनौती दे रहा है उसके परिणामस्वरूप तटस्थ राष्ट्रों को उसके खिलाफ व्यष्टि तथा समष्टि रूप से संयुक्त राष्ट्रीय घोषणापत्र के आठवें अध्याय के अन्तर्गत कदम उठाने पड़ेंगे।

जहाँ तक ईरान की खाड़ी में तनाव को कम करने का सवाल था उस विषय में भी कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो सका और होना भी संभव नहीं था। एक तो अरब राष्ट्रों के ही पारस्परिक हितों में इस प्रकार का टकराव था जो इस निर्णय तक पहुंचने में बाधक रहा और दूसरे बहुत से अन्य तटस्थ देश भी ऐसे थे जिनके ईरान, सोवियत संघ और अमेरिका से अच्छे सम्बन्ध थे और वे ऐसे किसी निर्णय में साथ देना नहीं चाहते थे जिसके परिणामस्वरूप उनके आर्थिक एवं राजनीतिक हितों को आघात पहुंचे। यही कारण है कि घोषणापत्र इस विषय में सर्वथा मौन रहा।

तटस्थता की धारणा को मजबूत करने के लिए सम्मेलन में कई अन्य तरह के प्रस्ताव और सुझाव आऐ। सम्मेलन की राजनीतिक

समिति में लीबिया और अल्जीरिया ने यह प्रस्ताव रखा कि तटस्थता की नयी परिभाषा की जाए और तटस्थ राष्ट्रों के लिए एक नया विधान तैयार किया जाय। सम्मेलन के लिए एक स्थायी सचिवालय के निर्माण के लिए भी सुझाव रखा गया लेकिन ये प्रस्ताव सम्मेलन को मान्य नहीं हुए। जमायका के प्रधानमंत्री ने यह सुझाव सम्मेलन के सामने रखा कि तटस्थ राष्ट्रों का एक अपना विकासकोष होना चाहिए। अफ्रीकी मुक्ति आन्दोलन का सहयोग दिए जाने की बात भी सम्मेलन में कई बार उठायी गई, लेकिन इन सारे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर कोई निर्णय नहीं हुआ।

इन सबके बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि सम्मेलन से कोई लाभ नहीं हुआ। पहली बात तो यह है कि उसमें तटस्थ देशों के बीच सद्भाव और सूझबूझ को गति मिली। दूसरे, उसके निर्णयों से यह भी स्पष्ट है कि बड़े राष्ट्रों के बीच जो शान्ति हुई है उसका लाभ वे तटस्थ राष्ट्रों या तीसरे संसार तक पहुँचाने के लिए क तसंकल्प थे। सम्मेलन ने अपने घोषणापत्र में बड़े स्पष्ट रूप से यह कहा कि विश्व की राजनीतिक एवं आर्थिक नीतियों के गठन में विकासशील देशों की आवाज सुनी जाने के लिए तटस्थ राष्ट्र सम्मिलित रूप से विकसित देशों पर दबाव डालेंगे। तटस्थ राष्ट्र सम्मेलन की यह चेतावनी विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है कि बड़े राष्ट्रों के बीच शान्ति से सैनिक गठबंधनों का अन्त नहीं हुआ है- आवश्यकता इस बात की है कि सब सैनिक अड्डे खत्म कर दिए जायें और विश्व के सब भागों से विदेशी सेनाएं लौटा ली जायं। यदि ऐसा नहीं हुआ और तीसरे संसार के हितों की उपेक्षा की जाती रही तो वह शान्ति एक स्थायी शान्ति का रूप धारण नहीं कर सकती। आर्थिक मोर्चे के सम्बन्ध में सम्मेलन में जो निर्णय किया वह इस बात का सबूत है कि तटस्थ राष्ट्र अपने प्राक तिक साधनों पर अपनी एकमात्र प्रभुता को बहुत आवश्यक समझते हैं।

सम्मेलन का एक प्रमुख निश्चय यह था कि विश्व की मुख्य समस्याओं पर विचार और उन पर एक सर्वसम्मत निर्णय के माध्यम से उनके सुलझाने में अपने प्रभाव का उपयोग किया जा सके। संदेह नहीं कि उन सब मुद्दों पर विचार किया गया जो विश्व में अशान्ति और अस्थिरता के कारण बने हुए थे, किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि उन सब पर कोई ऐसा सर्वसम्मत निर्णय हो सका जो उनके हल में सहायक हो सके। सम्मेलन में भाग लेने वाले तो सब तटस्थ राष्ट्र थे, परंतु राजनीतिक स्वार्थों और विचारधारा की द ष्टि से वे कुछ इस तरह से बंटे हुए थे कि सब मुद्दों पर समान निर्णय पर पहुंचना आसान भी नहीं था। सम्मेलन की गतिविधियों से यह भी जाहिर हुआ कि जिन देशों में मुक्ति आन्दोलन चल रहा है उन मुक्ति आन्दोलनों के सूत्रधार तटस्थ राष्ट्रों से इस बात की अपेक्षा रखते हैं कि वे उनकी हर सम्भव मदद करेंगे। ऐसे मुक्ति आन्दोलनों के चौदह प्रतिनिधि प्रेक्षक के रूप में इस सम्मेलन में शामिल भी हुए थे।

एशिया के कुछ देश बड़े देशों द्वारा तनातनी कम करने के नवीनतम वातावरण में तटस्थता की धारणा को कम महत्त्व देने लगे। उनका कहना था कि एक ओर तो सोवियत संघ और अमेरिका और दूसरी ओर अमेरिका और चीन के बीच नये सम्बन्धों की स्थापना के संदर्भ में तटस्थता की नयी परिभाषा होनी चाहिए। तटस्थ देशों को अब नए सिरे से निश्चित करना चाहिए कि सोवियत संघ, चीन और अमेरिका-जैसे बड़े देशों के प्रभाव-क्षेत्रों में आए बिना उनके साथ किस प्रकार सहयोग किया जाए। इस बात पर जोर दिया गया कि तटस्थ राष्ट्रों को अपनी तटस्थता की परिभाषा बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के संदर्भ में करानी चाहिए। अल्जीयर्स सम्मेलन में यह प्रश्न भी उठा और उस पर जो वाद-विवाद हुए उससे स्पष्ट हो गया कि "तीसरी दुनिया" की इच्छा मरी नहीं है और न तटस्थ राष्ट्रों ने अपने संगठन में विश्वास खोया है।

गुटनिरपेक्ष राज्यों का कोलंबो सम्मेलन

अगस्त, 1976 ई० में गुटनिरपेक्ष राज्यों का पाँचवां शिखर सम्मेलन श्रीलंका की राजधानी कोलंबो में हुआ। इसमें सम्मिलित होने वाले राज्यों की संख्या 86 थी। इसकी कार्यसूची सतरह देशों के गुटनिरपेक्ष ब्यूरों ने जनू, 1976 में अपने अल्जीयर्स सम्मेलन में तैयार की थी। गुटनिरपेक्ष देशों का यह सम्मेलन एक विशेष परिस्थिति में हुआ था। हाल के वर्षों में तीसरी दुनिया की समस्याएं कई कारणों से उलझ गई। जनसंख्या की व द्धि, पश्चिम के सामंती अर्थतंत्र और "विदेशी सहायता पर आधारित विकासवाद" के खोखलेपन का एहसास, पश्चिमी देशों द्वारा दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया के अल्पमत गोरी सरकारों का समर्थन; चीले तथा अंगोला में खुला हस्तक्षेप, इन सभी बातों ने गुटनिरपेक्ष देशों को यह अनुभव करा दिया कि जब तक वे एकजुट नहीं होंगे तब तक वे उद्योग प्रधान देश के पिछलगू ही बने रहेंगे। यह अनुभव कोई नया नहीं था। संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन, संयुक्त राष्ट्र महासभा, अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री कानून सम्मेलन आदि कई जगह पिछड़े देशों ने अपने अधिकारों

को घोषित किया। कोलंबो सम्मेलन इसी श ंखला का, इसी मोर्चेबंदी की दिशा में एक निर्णायक बिंदु था। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर सम्मेलन में एक घोषणा पत्र जारी किया गया जिसमें नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था विकसित करने का आग्रह किया गया। इस घोषणा-पत्र मे निम्नलिखित बातें कहीं गई थी।

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्यवस्था को इस तरह से पुनर्गठित किया जाय कि विकासशील देशों को बेहतर शर्तों पर व्यापार का मौका मिले और उनके अपने निर्यात का उचित मूल्य प्राप्त हो।
2. श्रम के नये अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन के आधार पर उत्पादन को नये सिरे से पुनर्गठित किया जाए।
3. मौजूदा विश्व मुद्रा प्रणाली में आमूल परिवर्तन करके नयी व्यवस्था बनायी जाय जिससे मौजूदा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं का वर्चस्व समाप्त हो और मुद्रा सम्बन्धी निर्णयों में विकासशील देशों की राय को वही आदर मिले जो विकसित देशों को मिलता है।
4. विकासशील देशों को यथेष्ट मात्रा में और नियमित रूप से आर्थिक साधन हस्तांतरित किए जायं और उनकी स्वाधीनता का सम्मान किया जाय। इस तरह का भेदभाव न बरता जाय जिससे विकासशील देशों में फूट पड़े।
5. बहुत कम विकसित देशों और विशेष रूप से प्रभावित देशों के विदेशी कर्जों को समस्या का तत्काल उपाय खोजा जाय।
6. विकासशील देशों में अन्न की पैदावार बढ़ाने के लिए अनुकूल शर्तों पर प्रचुर प्रबल साधन और समुचित तकनीक प्रदान की जाय।
7. 1975 में डाकार घोषणापत्र के अनुरूप भूवेष्ठित देशों को समुद्र तक पहुंचाने का अधिकार हर जगह स्वीकार किया जाय।

इस घोषणापत्र में समता पर आधारित राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्धों के विकास की जिम्मेवारी उन्नत देशों की मानी गई; क्योंकि उनके पास आर्थिक सामर्थ्य अधिक हैं। घोषणापत्र में यह चिंता भी व्यक्त की गई थी कि संयुक्त राष्ट्र महासभा के छठे और सातवें विशेष अधिवेशनों में नयी आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने के बारे में जो प्रस्ताव पारित किए गए थे और परिपालन कार्यक्रम बनाए गए थे उनका विरोध विकसित देश कर रहे हैं। इस संदर्भ में यह भी कहा गया कि दुनिया के बहुमूल्य साधन अनुत्पादक अर्थ-संग्रह पर खर्च किए जा रहे हैं। इसके मुकाबले में विकसित देशों को बहुत कम वित्तीय साधन दिए जा रहे हैं। 1975 में विकासशील देशों को बीस अरब डालर के साधन हस्तांतरित किए गए जब कि इससे कोई पंद्रह गुना साधन शस्त्रों के विकास और संचय पर खर्च किय गए। विश्व-शान्ति और आर्थिक सम द्धि की अविभाज्यता का नारा तो विकसित देश देते हैं, मगर व्यवहार में इसका इस्तेमाल अपने स्वार्थ के लिए करते हैं जो अनुचित है।

पांचवे-सम्मेलन की घोषणा में अर्थशक्ति सम्पन्न देशों से तो अपेक्षाएं की ही गई हैं परस्पर सहयोग एवं स्वावलम्बन पर भी जोर दिया गया है। यह साफ महसूस किया और कहा गया कि गुटनिरपेक्ष देशों को उत्पादन, वितरण और तकनीकी जानकारी के आदान-प्रदान के मामलों में अधिकतम आपसी सहयोग करना होगा जिसके अभाव में वे सम्पन्न देशों से सौदेबाजी में सफल नहीं हो पायेंगे। गुटनिरपेक्ष देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना और नई विश्व मुद्रा प्रचलित करने का विचार इसी स्वावलम्बन संकल्प की अभिव्यक्ति है। तकनीकी जानकारी के आपसी आदान-प्रदान के लिए एक अलग समिति बनायी गई।

सम्मेलन की राजनीतिक घोषणा में भी समता के आधार पर नयी राजनीतिक व्यवस्था निरूपित करने का आग्रह किया गया है और 'शक्ति संतुलन', 'प्रभाव-क्षेत्र' जैसे सिद्धान्तों को शान्ति-विरोधी बताया गया। "जब तक अस्त्र-संग्रह की होड़, सैनिक संधियों और उपरोक्त धारणाओं का परित्याग नहीं किया जाता तब तक अन्तर्राष्ट्रीय तनाव न तो कम हो सकता है और न तनाव शून्यता स्थायी प्रवत्ति बन सकती है।" इस कारण सम्मेलन ने आग्रह किया कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सभी देशों का समता के आधार पर राजनीतिक अधिकार प्राप्त होना चाहिए। इस संदर्भ में लीबिया के राष्ट्रपति ने यह सुझाव दिया कि संयुक्त राष्ट्र परिषद में 'वीटो' के अधिकार को समाप्त किया जाना चाहिए। यह विषमता कुछ देशों को इतना अधिकार दे देती है कि पचार देशों का एकमत भी अनसुना कर दिया जाता है। कोलंबो सम्मेलन में साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी, नवउपनिवेशवादी, जियोनवादी ताकतों के अलावा विदेशी प्रभुत्व के अन्य साधनों को अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का कारण माना और एक स्वर मे इसका विरोध किया। सम्मेलन ने पश्चिम एशिया, साइप्रस, फिलिस्तीनी-समस्या, दोनों कोरियाओं का एकीकरण आदि की समस्याओं को विश्लेषण किया और मुक्ति आन्दोलनों का समर्थन किया। इजरायल, रोडेशिया, नामीबिया और दक्षिण अफ्रीका की सरकारों को एक जैसे बताते हुए कहा कि ये सब बाहर से आए लोगों की सरकारें हैं और स्थानीय जनता के हितों के विरुद्ध हैं। इसके

विरूद्ध संघर्षरत आन्दोलनों को समर्थन देने का संकल्प व्यक्त किया गया। सम्मेलन में हिंद-महासागर में विदेशी अड्डों के प्रश्न को भी उठाया गया और इस तनावमुक्त क्षेत्र बनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया। दियाओ गार्सिया से नौ-सैनिक अड्डा हटाने की जोरदार माँग की गई।

अन्य गुटनिरपेक्ष सम्मेलनों की तरह कोलंबो सम्मेलन में भी भारत ने प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। सम्मेलन में मुख्य स्वर भारत का ही रहा। आरंभ में गुटनिरपेक्ष देशों के ब्यूरों में भारत को जगह दिए जाने का बंगलादेश ने विरोध किया था, लेकिन उसे इसमें कामयाबी नहीं मिली। भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधिदल का नेत त्व किया। कोलंबो घोषणापत्र का प्रारूप तैयार करने में भारतीय प्रतिनिधिदल का प्रमुख था। तकनीकी जानकारी के आपसी आदान-प्रदान के लिए सम्मेलन ने जिस समिति का निर्माण किया उसमें भारत का विशेष भूमिका निभाने का अवसर मिला।

गुटनिरपेक्ष राज्यों का हवाना सम्मेलन

25-30 जलाई, 1978 ई० में 86 गुटनिरपेक्ष देशों के विदेशमंत्रियों का सम्मेलन बेलग्रेड में हुआ। सम्मेलन में सम्मिलित सदस्यों के गुटनिरपेक्षता आन्दोलन के सम्बन्ध में वैचारिक मतभेद देखने को मिला। गुटनिरपेक्षता के उद्देश्यों को पारिभाषित करते हुए मार्शल टीटो ने कहा कि "यह नीति साम्राज्यवाद नव-उपनिवेशवाद, प्रजातिवाद और सभी प्रकार के विदेशी प्रभुत्व एवं शोषण का विरोध करती है।" भारतीय विदेश मंत्री ने अन्य देशों के गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को सही दिशा देने की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा कि "हमारे आन्दोलन को शक्ति और नैतिक अधिकार प्राप्त होने पर हममें इतना आत्म-विश्वास आ जाना चाहिए कि हम हर प्रकार के बाह्य हस्तक्षेप तथा प्रभुत्व की आशंका का सामना कर सकें।"

इस बेलग्रेड सम्मेलन में अफ्रीका में क्यूबा की भूमिका को लेकर तेज झड़पें हुईं। कंबोडिया और सोमालिया ने क्यूबा को सोवियत समर्थक भूमिका और अफ्रीका मे उसके हस्तक्षेप के कारण गुटनिरपेक्ष आन्दोलन से बहिष्क त करने की जोरदार माँग की। मिस्त्र और मोरक्कों ने माँग की कि छठा गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन अगले वर्ष क्यूबा की राजधानी हवाना में होना चाहिए। अन्ततः 3-7 सितंबर, 1979 ई० को यह सम्मेलन हवाना में करने की सहमति हुई। क्यूबा ने जेयरे में फ्रांस के हस्तक्षेप के प्रति अपना रोष प्रकट किया और घोषणा की कि अफ्रीका के मुक्ति आन्दोलन संगठन को सैनिक सहायता देना अपना कर्त्तव्य मानता है। भारत ने अपना मत स्पष्ट करते हुए कहा कि वह मुक्ति संघर्षों का हिमायती जरूर है पर यह समर्थन एक मर्यादा में होना चाहिए। सैनिक हस्तक्षेप क्यूबा की ओर से हो या फ्रांस से, वह सैनिक हस्तक्षेप होता है, उसको वह पसंद नहीं करता। पश्चिम सहारा और कंबोडिया-वियतनाम सीमा विवाद को लेकर भी सम्मेलन में अच्छी खींचातानी हुई। यहां तक कि कुछ देश अपने-अपने गुट बनाकर अलग बैठे।

सदस्यों के पारस्परिक मतभेदों के बावजूद यह सम्मेलन अस्सी प ष्ठीय सर्वसम्मत घोषणापत्र पारित करने में सफल हुआ। घोषणा-पत्र में यह निश्चय व्यक्त किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में गुटनिरपेक्षता आन्दोलन की भूमिका को शिथिल करने वाले सभी प्रयासों को रोका जायेगा। आन्दोलन के विश्वव्यापी, स्वाधीन चरित्र और एकता को सुद ढ़ बनाए रखने के समुचित प्रयार किए जायेंगें विकासशील देशों की आर्थिक समस्याओं के लिए विकसित देशों को जिम्मेदार ठहराया गया। विकसित देशों का विकासशील देश की समस्याओं के समाधान के प्रति ध्यान नहीं, बड़ी शक्तियों के बिगड़ते सम्बन्ध, हथियारों की दौड़ तथा नये प्रकार के प्रभुत्ववाद, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के लिए जिम्मेदार हैं। अफ्रीका में विदेशी सैनिक अड्डों और बाह्य शक्तियों के साथ समझौतों की निंदा की गई और अफ्रीका को युद्ध क्षेत्र या शीतयुद्ध का अखाड़ा बनाए जाने के प्रयासों का विरोध किया गया। घोषणा-पत्र में यह सिफारिश की गई कि अफ्रीका एकता संगठन के तत्वाधान में एक ऐसी अफ्रीकी सेना का संगठन किया जाय तो उस महाद्वीप की सुरक्षा और एकता बनाए रख सके।

घोषणा-पत्र में माँग की गई कि परमाणु प्राद्योगिकी को स्वतंत्र रूप से हस्तांतरित किया जाय। साथ ही, परमाणु-शक्ति सम्पन्न देशों की 'अस्वीकार्य एकाधिकारिक' नीति पर खेद प्रकट किया गया।

मानवाधिकार के बारे में यह कहा गया कि व्यक्ति की गरिमा को बनाए रखा जाय। आदिम अल्पसंख्यकों के अधिकार का पूरी तरह सम्मान हो और नरसंहार तथा अन्य मूलभूत अधिकारों के अतिक्रमण को रोका जाए। अप्रवासी कर्मचारी बिना भेदभाव के अपने मौलिक अधिकारों का उपयोग करने को अधिक त हों।

हिंद महासागर में स्थित विदेशी अड्डों का अन्त किया जाय। इसके अतिरिक्त घोषणा-पत्र में अफ्रीका जातिवादी शासकों को आर्थिक और सैनिक सहायता देने वालों की निंदा, पूर्वी तिमोर के आत्मनिर्णय के अधिकारों का समर्थन, इजरायल पर परमाणु प्रतिबन्ध लगाने की माँग, सायप्रस से सभी विदेशी सैनिक को हटाने की माँग, फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को गुटनिरपेक्ष देशों में राजनयिक दर्जा देने की माँग, गुटनिरपेक्ष समाचार एजेंसी संगठन के प्रावधानों को भी सम्मिलित किया गया था। घोषणा-पत्र में निरस्त्रीकरण समझौते में सभी देशों के भाग लेने की आवश्यकता पर बल दिया गया। आक्रमण, कब्जा और विस्तार की नीतियों की भी आलोचना की गई।

सितंबर, 1979 ई० का हवाना सम्मेलन इसी प ष्ठभूमि में हुआ जिसमें 94 गुटनिरपेक्ष देशों ने भाग लिया। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए क्यूबा के राष्ट्रपति फिडेल कास्ट्रो ने स्पष्ट किया कि यद्यपि उनका देश मार्क्सवादी सिद्धांतों में विश्वास करता है, पर वह कभी अपने विचार और नीतियों को गुटनिरपेक्ष देशों पर थोपने का यत्न नहीं करेगा। साथ ही, अपने देश की ओर से डॉ० कास्ट्रो ने सम्मेलन में उपस्थित प्रतिनिधियों को यह भी आश्वासन दिया कि महत्त्वपूर्ण विवादग्रस्त प्रश्नों के हल करने में क्यूबा गुटनिरपेक्ष देशों की भरपूर सहायता करेगा और सम्मेलन में जो भी निर्णय लिए जाएगें उनका वह पूरी तरह पालन करेगा। उन्होंने विश्व के सभी राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के लिए साम्राज्यवाद को दोषी ठहराया। अपने भाषण मे डॉ० कास्ट्रों ने सम-सामयिक सभी राजनीतिक समस्याओं का उल्लेख किया और साथ ही गुटनिरपेक्ष देशों को चेतावनी भी दी कि वह फूट डालने वाली शक्ति से सावधान रहें। उन्होंने पाकिस्तान के दक्षिण-पूर्व एशिया संधि संगठन से हट जाने के निर्णय का स्वागत किया और इस बात पर खुशी जाहिर की कि आखिर पाकिस्तान गुटनिरपेक्ष देशों की बिरादरी में आ गया।

इस सम्मेलन में ऊर्जा, विशेषकर तेल निर्यात करने वाले विकासशील देशों की ऊर्जा सम्बन्धी समस्याओं पर बहुत गंभीरतापूर्वक विचार हुआ। विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था को लेकर भी विचार-विमर्श हुआ। इस बात पर सभी सहमत थे कि विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था बहुत खराब हो चली है और इसमें सुधार के लिए विकासशील देशों का आर्थिक क्षेत्र में परस्पर सहयोग बहुत आवश्यक है। इसी सिलसिले में अल्प-विकसित देशों की सहायता के लिए एवं अन्तर्राष्ट्रीय कोष बनाने के सुझाव पर विचार हुआ। इससे पहले के गुटनिरपेक्ष देशों के सम्मेलनों में विश्व समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया जाता था, लेकिन इस बार विदेश मंत्रियों ने गुटनिरपेक्ष देशों की ऐसी अनेक आपसी समस्याओं पर पहले ध्यान दिया जो इस आन्दोलन के लिए तात्कालिक मानी गई। सम्मेलन का अधिक समय कंपुचिया के प्रश्नों पर खर्च हुआ। मिस्त्र-इजरायल संधि की भी आलोचना हुई। लेकिन यह एक उत्साहवर्द्धक बात थी कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में दो नये सदस्य शामिल हुए- पाकिस्तान और ईरान।

सम्मेलन में भारत गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का जन्मदाता होने के नाते महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने में सफल रहा। उसका कहना था कि सभी गुटनिरपेक्ष देशों को इस आन्दोलन के उद्देश्यों के प्रति अपनी आस्था नए सिरे से व्यक्त करना चाहिए। भारत की द ष्टि में हवाना सम्मेलन गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। अनेक विवादास्पद प्रश्नों पर भारत ने बीच का रास्ता अपनाने की सलाह दी।

नयी दिल्ली का सातवां गुटनिरपेक्ष सम्मेलन

1961 ई० में जब बेलग्रेड के प्रथम गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन का आयोजन हुआ था तब किसी ने यह कल्पना भी न की थी कि यह कभी इतने शक्तिशाली आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लेगा। 7-11 मार्च, 1983 ई० दिल्ली में हुए सातवें गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में सौ से अधिक देशों के शासनाध्यक्षों, राष्ट्राध्यक्षों, मंत्रियों और प्रतिनिधियों ने भाग लिया। कहा जाता है कि यह संयुक्त राष्ट्र संघ के बैठक के बाहर संसार के विभिन्न राष्ट्रों का सबसे बड़ा और सबसे महत्त्वपूर्ण सम्मेलन था। इस सम्मेलन का आयोजन बगदाद में होना था। लेकिन ईरान-इराक युद्ध के कारण वहां जब इस सम्मेलन का आयोजन किया जाना संभव नहीं हो सकता तब गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की सर्वसम्मति से यह दायित्व भारत को सौंपा गया।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का सबसे बड़ा शिखर सम्मेलन ऐसे समय में हुआ जब विश्व एक बार फिर शीतयुद्ध और आर्थिक शोषण-उत्पीड़न के चपेट में आ पड़ा था। नव स्वतंत्र देशों को गरीबी की परवाह किए बिना सम द्ध देश परमाणु अस्त्रों के जमाव में एक-दूसरे से होड़ ले रहे थे। गहरी निराशा के इस वातावरण में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने स्वतंत्र चेतना, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा रचनात्मक आर्थिक सहयोग की आवाज बुलंद किया। उसकी यह आवाज खो न जाय यह सुनिश्चित करने का दायित्व

नयी दिल्ली शिखर-सम्मेलन पर था। नयी दिल्ली सम्मेलन इतिहास का सबसे बड़ा शान्ति-आन्दोलन बताया गया था। जैसा कि सम्मेलन की अध्यक्षा श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा था- "हम गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने शान्ति का मार्ग अपनाया है जो निश्चय ही एक सही और अनिवार्य रास्ता है। इस शान्ति-आन्दोलन के महत्त्व को विश्व के अधिकाधिक राष्ट्र स्वीकार करते जा रहे हैं तथा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की ओर आक ष्ट होते जा रहे हैं। इसका प्रबल प्रमाण यह था कि गुटनिरपेक्ष सदस्यों की संख्या बेलग्रेड में पचीस से बढ़कर नई दिल्ली में सौ तक पहुँच गई और आज मानव-जाति एक ऐसे कगार पर खड़ी है जहाँ विश्व की आर्थिक-व्यवस्था कभी भी ढह सकता है और परमाणविक युद्ध के लपटों में मनुष्य जाति का कभी भी सर्वनाश हो सकता है।" सातवें गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर श्रीमती इंदिरा गांधी ने ऐसे विचार व्यक्त किए थे। आज विश्व में शान्ति को जितना बड़ा खतरा है उतना मानव-जाति के इतिहास में कभी नहीं रहा। ऐसे में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अस्पष्ट, नकारात्मक या तटस्थ नहीं रह सकता। न केवल अत्यंत घातक परमाणविक हथियारों की होड़ जारी है, बल्कि विश्व के अनेक स्थल खतरनाक सम्भावनाओं के केंद्र बने हुए हैं जहां जरा-सी चिनगारी महाविस्फोट का कारण बन सकती हैं। ऐसी हालत में गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में शान्ति का पक्ष मजबूत करने की दिशा में ठोस कदम उठाया। कई अन्य द ष्टियों से भी इस सम्मेलन को पूर्ण सफल कहा जा सकता है। सम्मेलन के समापन के बाद वे लोग भी जो शुरू में इसकी सफलता के प्रति शंकालु थे, इसकी पूर्ण सफलता को स्वीकार किए। इस सम्मेलन के फलस्वरूप गुटनिरपेक्ष देशों की राजनीति में एक नया मोड़ आया जिसका प्रभाव अन्ततः बड़ी शक्तियों की राजनीतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के फलस्वरूप इस सम्मेलन का महत्त्व पूर्व के सभी सम्मेलनों में अधिक था और इसके परिणाम भी आशातीत चमत्कारी रहे। सौ राष्ट्रों के प्रतिनिधि, जो विश्व के आधी से भी अधिक जनसंख्या का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, यदि एक स्थान पर एकत्र होकर एक स्वर में बोलें तो यह अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण बात थी। संयुक्त राष्ट्र के बाहर यह अब तक का बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था। इस चमत्कार के पीछे श्रीमती इंदिरा गांधी का व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण था। अगले शिखर सम्मेलन तक वह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की अध्यक्षा रहेंगी और सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्राध्यक्षों तथा उसमें भाग न ले पाने वाले अन्य राष्ट्रों ने भी आशा प्रकट की कि उनके नेत त्व में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में नई गति आएगी। इस प्रकार न केवल उक्त आन्दोलन की शक्ति ही परिलक्षित हुई, वरन् भारत को भी उसकी पुरानी गरिमा जो नेहरू के काल में उसे प्राप्त थी, पुनः प्राप्त हो गई। दरअसल गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के तीनों आध ाार-स्तंभ नेहरू, नासिर तथा टीटो के विश्वमंच से विदा हो जाने पर वह एक प्रकार से नेत त्व-विहीन हो चला था और यह आशंका भी प्रकट की जाने लगी थी कि वह कहीं छिन्न-भिन्न न हो जाए। इंदिरा गांधी ने उसका नेत त्व हाथ में लेकर सभी आशंकाओं का निर्मूल कर दिया। अब वह सौ राष्ट्रों की सम्मिलित आवाज का बल पाकर संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसकी ओर से अधिक प्रभावी ढंग से बोल सकती।

जैसा स्वाभाविक था, सम्मेलन में मुख्य विचारणीय प्रश्न राजनीतिक और आर्थिक ही थे। राजनीतिक पटल पर उसने अपने सभी सदस्यों का आह्वान किया कि वे सैनिक गठबंधनों से अलग रहने और महाशक्तियों को सैनिक अड्डे प्रदान ने करने या उनकी सुविधा न देने के सदस्यता के मानदंड का कठोरता से पालन करेंगे। शिखर सम्मेलन ने पुनः आन्दोलन के सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों के कठोर पालन के लिए अपनी वचनबद्धता को दोहराया। यह आह्वान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सर्वविदित है कि सम्मेलन के अनेक सदस्यों ने, जिनकी संख्या एक दर्जन से अधिक है, या एक या दूसरी महाशक्ति का सैनिक अड्डे या उनके इस्तेमाल की सुविधाएँ प्रदान करने के बारे में पुनर्चिंतन शुरू होगा। कुछ नए देश भी जो इसका विचार कर रहे बताये जाते थे, अब उससे रुकेंगे। हिंद महासागर को शान्ति-क्षेत्र बनाए रखने का निर्णय भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह ठीक है कि केवल प्रस्ताव पास करने से या आह्वान करने से वह शान्ति-क्षेत्र नहीं बनेगा किंतु सौ राष्ट्रों की सम्मिलित आवाज से उसके लिए मार्ग अवश्य प्रशस्त होगा। गुटनिरपेक्ष देशों के कुछ आपसी विवाद अनसुलझे रह गए हैं। लेकिन आशा करनी चाहिए कि सम्मेलन में जिस प्रकार की भावना सभी राष्ट्रों की ओर से व्यक्त की गई, उसे देखते हुए संघर्षरत पक्ष अपने संघर्ष को शान्ति से हल करने के प्रयास की आवश्यकता महसूस करेंगे।

आर्थिक पटल पर सभी राष्ट्रों ने अर्थव्यवस्था की वर्तमान दशा पर चिंता प्रकट करते हुए एक नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकता महसूस की। उन्होंने एक-दूसरे के विकास में योगदान के लिए परस्पर अधिक सहयोग का भी निश्चय किया। आज विश्व विकास की उस मंजिल पर पहुंच चुका है जिसमें, कोई भी देश शेष विश्व से कटकर नहीं रह सकता। न नई अर्थव्यवस्था के लिए कुछ राष्ट्र या राष्ट्रों का एक गुट मिलकर कोई एकतरफा निर्णय ले सकता है। इसके लिए तो कानकुन जैसे एक या अनेक सम्मेलनों की जरूरत है जिससे विकसित देशों की समझ में आ सके कि विकासशील तथा अविकसित देशों

के विकास में ही उनका भविष्य सुरक्षित है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सभी देश विकासशील या अविकसित श्रेणी के हैं। यदि उनकी अर्थव्यवस्था लड़खड़ाती है तो विकसित देश भी कहर से बचेंगे नहीं। यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन इसी प्रकार संगठित रहा और मिलकर अपनी आवाज उठाता रहा तो विकसित देशों को यह बात शीघ्र समझनी ही होगी।

सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में श्रीमती इंदिरा गांधी ने जो भाषण दिए उसे सम्मेलन के दस्तावेजों में शामिल कर लिया गया। और उस पर खुलकर विचार हुआ। उनके इन शब्दों पर विशेष ध्यान दिया गया है- "वस्तुतः औपनिवेशिक युग समाप्त हो चुका है, लेकिन प्रभुत्व की इच्छा आज भी बनी है। तरह-तरह के आवरणों से लिपटा नव-उपनिवेशवाद हमें देखने को मिलता है- कभी प्रोद्योगिकी और संचार के रूप में तो कभी वाणिज्य और संस्क ति के रूप में।" इसका उदाहरण देखने के लिए हमें अन्यत्र खोज की जरूरत नहीं है। हमारी आँखों से यह छिपा हुआ नहीं है कि न केवल हमारी अर्थव्यवस्था पर बाहरी दबाव पड़ रहे हैं, बल्कि हमारी संस्क ति पर भी अंदर और बाहर से निरंतर प्रहार हो रहे हैं। फलस्वरूप जो संस्क ति कई हजार वर्षों के विदेशी आक्रमणों के बावजूद सुरक्षित रह पाई उसके अब तिरोहित होने के लक्षण प्रकट होने लगे। इसके मूल में प्रधान कारण आर्थिक हो सकते हैं। जब हमारा देश, जिसको अर्थव्यवस्था अपेक्षाक त अधिक सुद ढ़ समझी जाती है इन दबावों को महसूस कर रहा है तो कमजोर और असुरक्षित राष्ट्रों के बारे में क्या कहा जा सकता है? इंदिराजी ने नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के लिए कदम उठाने की माँग कर और सामूहिक आत्मनिर्भरता के प्रति अपनी वचनबद्धता पर पुनः बल देने की बात कह सही दिशा-निर्देश किया।

इन सारी उपलब्धियों के बावजूद सम्मेलन की कई कमजोरियाँ भी स्पष्टतः सामने आई। राजनीतिक विवादों में कम्पुचिया के प्रतिनिधित्व का प्रश्न था जिस पर सदस्य देशों में तीव्र मतभेद था। विदेश मंत्रियों की बैठक में सबसे अधिक समय इसी समस्या को हल करने के प्रयास पर खर्च हुआ। फिर भी इसका कोई हल नहीं निकलने पर उसे 1985 तक के लिए टाल दिया गया। ईरान-इराक युद्ध को चलते हुए दो वर्ष से अधिक हो गए थे और सभी प्रयत्नों के बावजूद उसे रुकवाने के सभी प्रयास निष्फल रहे। हिंद महासागर में महाशक्तियों का बढ़ता हुआ सैनिक जमाव, डिएगो गार्सिया का मारिशस को वापस दिलाने की समस्या, अंगोला प दक्षिण-अफ्रीका के आक्रमण, लैटिन अमेरिकी देशों की समस्याओं, अफगान-विवाद आदि अनेकानेक विषयों पर गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में विचार-विमर्श हुआ लेकिन कोई समाधान नहीं निकल पाया। कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों से ही था। उनमें ईरान-इराक युद्ध भी था। यदि गुटनिरपेक्ष राष्ट्र अपने इतने महत्त्वपूर्ण सम्मेलन में भी आपसी समस्याएं हल नहीं कर सकते तो उनका एक जगह इकट्ठा होना ही निरर्थक हो जाता है, और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उनकी आवाज कमजोर पड़ती है। दुर्भाग्य से ये गुटनिरपेक्ष राष्ट्र किसी एक सिद्धांत या द ष्टिकोण से नहीं बंधे हुए हैं। उनमे आपस में भारी मतभेद है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर उनकी आवाज को अपेक्षित सम्मान नहीं मिलता। कम्पुचिया की सीट के बारे में जो निर्णय किया गया, उससे ऐसा आभास मिला कि समस्याओं का साहस के साथ सामना करने के बजाय उन पर पर्दा डालने का प्रयास ही अधिक था।

आर्थिक द ष्टि से भी गुटनिरपेक्ष राष्ट्र सुखद स्थिति में नहीं है। वे सभी विकासशील या अल्प-विकसित-अविकसित श्रेणी के राष्ट्र हैं। कानकुन सम्मेलन से स्पष्ट है कि विकसित राष्ट्रों को अपनी समस्याओं की ही चिंता है और वे कमजोर राष्ट्रों की सहायता के मूड में नहीं हैं। ऐसी स्थिति में गुटनिरपेक्ष देशों को आपस में सहयोग द्वारा विकास के लिए नया अर्थतंत्र विकसित करना होगा। 77 देशों के गुट में एक विकासशील देशों के बैंक का सुझाव दिया था। वह प्रस्ताव सम्मेलन के सामने था। लेकिन उसमे अधिक प्रगति नहीं हो सकी। गुटनिरपेक्ष देशों में जो उक्त बैंक में पैसा लगा सकते थे, तेल उत्पादक देश, वे हाल मे तेल के मूल्यों में आयी मंदी से बेहद परेशान थे जिससे बैंक की योजना फिलहाल कठिनाई में पड़ गई। देखना है आगे कि दिनों में सौ से अधिक देशों के नेता इन कठिनाइयों से कितना जूझते हैं और उन्हें कहां तक हल कर पाते हैं।

31 अक्टूबर, 1984 ई० को श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या कर दी गई। अतः गुट निरपेक्ष आन्दोलन का भार भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी के ऊपर आ गया।

हरारे का आठवाँ गुटनिरपेक्ष सम्मेलन

श्रीमती इंदिरा गांधी की म त्यु के बाद गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का सम्मेलन हरारे में 1 सितंबर से 7 सितंबर, 1986 ई० को हुआ। हफ्ते भर की बहस के बाद, हरारे में निर्गुटों का सम्मेलन बिना कुछ खास प्राप्ति के ही समाप्त हो गया। न तो वहाँ नई दिल्ली

जैसी लकदक थी और न बेवाकी। वही नपे-तुले मुद्दे तीन साल बाद भी उठे। फर्क सिर्फ इतना था कि सम्मेलन अफ्रीकी देश जिंबाब्वे में हुआ था, लिहाजा अफ्रीकी मुद्दों और मसलों पर ज्यादा जोर और गौर रहा। नामीबिया के मसले पर स्वापो नेता सैम नुजोमा जैसे नई दिल्ली अधिवेशन में बोले थे वैसे ही हरारे सम्मेलन में भी बोले, लेकिन नजदीक से बुलंद की गई पड़ोस की इस आवाज से दक्षिण अफ्रीका की बोथा सरकार के कानों पर जूँ तक न रेंगी। आजाद फिलिस्तीन की बात तो फिलिस्तीन मुक्ति मोर्चे (पी० एल० ओ०) के नेता यासिर अराफात ने यहाँ भी कही, लेकिन सम्मेलन खत्म होते-होते कराची में पैन एम विमान के अपहरण में फिलिस्तीनियों का हाथ होने के शक में उनकी बात का वजन कम हो गया। अराफात ने तो मसलों को सुलटाने के लिए मेलमिलाप की बात कही थी।

लेकिन अचानक हरारे आ धमकने वाले लीबियाई नेता मुअब्बर गद्याफी ने न सिर्फ अमेरिकी विस्तारवाद के परखचे उड़ाए बल्कि 'नाम' को भी आड़े हाथों लिया। उन्होंने 'नाम' को 'ढोंगी' बताते हुए कहा कि आज इस आन्दोलन मे 'जासूस' घुस आए हैं, जो तीसरी दुनिया के इस आन्दोलन की जड़ें कमजोर कर रहे हैं। जब तक 'नाम' को साम्राज्यवाद के खिलाफ एक सामूहिक प्रतिरक्षा का खेमा नहीं बनाया जाएगा तब तक इस आन्दोलन का कोई मतलब नहीं होगा। आज दुनिया को दो हिस्सों में बँटना चाहिए- साम्राज्यवादी गुट और साम्राज्यवाद विरोधी गुट, तटस्थता की आज कोई जगह नहीं, 'क्या हम नस्लवाद, उपनिवेशवाद, हमले या दबाने-डराने के खिलाफ तटस्थ हो सकते हैं?' गद्दाफी ने अपने डेढ़ घंटे के जोशीले भाषण मे कहा, नाम के सभी सदस्यों को अमेरिका और ब्रिटेन से राजनयिक सम्बन्ध तोड़ देने चाहिए, क्योंकि ये दोनों नस्लवाद को बढ़ावा दे रहे हैं।

गद्दाफी तो अपनी भड़ास निकालकर चलते बने लेकिन दक्षिण अफ्रीका की आंखों की किरकिरी बने अफ्रीकी देशों की जबान तालू के साथ लग रही थी। अपने नस्ल विरोधी भाषणों को सबसे पहला नजला गिरा मेजबान जिंबाब्वे पर। अभी 'नाम' अधिवेशन चल ही रहा था कि अमेरिका ने जिंबाब्वे को दी जाने वाली आर्थिक मदद में कटौती का ऐलान कर दिया। इस डर को ध्यान में रखते हुए 'नाम' ने भारत की अध्यक्षता में 'अफ्रीकी कोष' बनाया है। इसे बाकी सदस्य हैं- जांबिया, जिंबाब्वे, नाइजीरिया, अल्जीरिया, कांगो, युगोस्लाविया और अर्जेंटीना।

लीबियाई नेता की तर्ज पर ईरान के राष्ट्रपति अली खुमैनी भी बोले। उन्होंने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को दकियानूसी और बेअसर मंच बताते हुए कहा कि इराक ने ईरान पर हमला किया और 'नाम' ने इसका निंदा नहीं की। ईरान-इराक युद्ध पिछले छह साल से चल रहा है। माना जाता है इस लड़ाई में छह से सात लाख बेशकीमती जानें जा चुकी हैं। दोनों देश अपने-अपने अहम पर अड़े हुए हैं इसलिए 'नाम' और संयुक्तराष्ट्र दोनों की ही कोशिश के बावजूद अभी तक लड़ाई बंद नहीं हो पा रही है। दिलचस्प बात है कि इराक और ईरान दोनों ही गुटनिरपेक्ष हैं और दोनों ही बात करना तो दूर एक-दूसरे की परछाई से भागते हैं। गद्दाफी और खुमैनी दोनों ने नई दिल्ली सम्मेलन में शिरकत नहीं की थी।

नये अध्यक्ष मुगाबे ने हरारे सम्मेलन को बहुत कामयाब सम्मेलन बताया। उन्होंने एक स्थायी समिति बनाने पर जोर देते हुए कहा कि 'ऐसा होने से सभी फैसलों पर अमल करने मे आसानी होगी और दूसरे देशों के साथ मानीटर करने मे भी'। पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल जिया उल हक ने जब कश्मीर का मुद्दा उठाते हुए कहा, "हम जानते हैं कि शिमला भावना से जम्मू-कश्मीर मुद्दा शान्ति पूर्ण ढंग से सुलट सकता है और हमें यह कहते हुए भारत के साथ दोस्ती के रिश्ते पुख्ता करने चाहिए" तो भारतीय प्रतिनिधि ने देशों के मसलों को बहुदेशीय सम्मेलन में उठाने पर एतराज किया।

जिस 'नाम' को मुगाबे ने कामयाब सम्मेलन करार दिया उसकी विज्ञप्ति तैयार करने में तमाम अड़चनें सामने आई, अन्तिम अधिवेशन को तीन बार मुल्तबी करना पड़ा, वजह 1989 के शिखर सम्मेलन के लिए जगह चुनने में आने वाली दिक्कत थी। नाम तो लातीनी अमेरिकी देश निकारगुआ का भी चलाया गया था, लेकिन लगता है उस पर आम सहमति नहीं थी।

संयुक्त विज्ञप्ति को 'हरारे अपील' कहा गया। सोवियत संघ के एटमी हथियारों पर रोक लगाने के फैसले का 'नाम' में स्वागत करते हुए कहा गया कि अमेरिका को भी इसी तरह शान्ति के लिए कदम उठाने चाहिए। 'नाम' पिछले 25 सालों में दोनों महाशक्तियों से ऐसी अपील करता आ रहा है। इस अपील को सोवियत संघ ने मान लिया है लेकिन अमेरिका ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की, 'नाम' ने लीबियाई नेता गद्दाफी की यह राय भी नामंजूर कर दी कि वह आन्दोलन बेकार हो गया है। 'नाम' नेताओं के मुताबिक आन्दोलन ने शान्ति और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व, स्वाधीनता निरस्त्रीकरण, विकासशील देशों की प्रगति और

समानता की भावना पैदा करने, न्याय और शान्ति पर आधारित नई विश्व व्यवस्था के लिए संघर्ष में महत्त्वपूर्ण योगदान का दावा किया है।

इस सम्मेलन ने पहले सम्मेलनों की अपेक्षा कुछ हट कर काम किया। इस बार उपलब्धियों को नहीं गिनाया गया, बल्कि उन बुराइयों को चिन्हित किया गया था जो दुनिया को तबाही की कगार पर ले जा रही हैं। ये दस अन्तराष्ट्रीय बुराइयां थीं- साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, नवउपनिवेशवाद, नस्ली जातिवाद, यहूदीवाद, सभी तरह का अस्थिरीकरण, विदेशी कब्जे का फैलाव प्रभुत्व और चौधराहट। यह फैसला हुआ कि 101 देशों का 'नाम' दक्षिण अफ्रीका में मुक्ति आन्दोलन और अगली पंक्ति वाले देशों की हथियारों के अलावा सभी तरह से मदद करेगा, 'अफ्रीकी कोष' उसी दिशा में एक कदम है।

बेलग्रेड का नवाँ गुटनिरपेक्ष सम्मेलन

युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में नवाँ गुटनिरपेक्ष सम्मेलन 4 से 7 सितंबर, 1989 ई० को संपन्न हुआ। जानेज ड्रग्नोवस्क तीन वर्षों के लिए (1989-1992) गुट निरपेक्ष आन्दोलन के नए अध्यक्ष चुने गए। सम्प्रति वे युगोस्लाविया के राष्ट्रपति भी हैं। इस सम्मेलन में वेनेजुएला को सदस्यता प्रदान की गई। अब गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्यों की संख्या 102 हो गई। बेलग्रेड सम्मेलन में 98 सदस्य देशों ने भाग लिया। पोलैंड, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, बुल्गारिया, नार्वे, कनाडा तथा न्यूजीलैंड अतिथि के रूप में सम्मेलन में उपस्थित थे।

बेलग्रेड घोषणा पत्र में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय रूप प्रदान करने की बात कही गई और यह निश्चय किया गय कि अब आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय-राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था में बदलाव लाने का कार्य करेगा तथा विश्व की समस्याएं सुलझाने में भी अपनी सक्रिय भूमिका अदा करेगा। इस सम्मेलन में नाभिकीय, रासायनिक आदि हथियारों को कैसे नष्ट किया जाय इस पर भी विचार किया गया। विश्व बाजार व्यवस्था गरीब और अमीर दुनिया के बीच व्यापार एवं बाजार संतुलन, कर्ज एवं पूँजी निवेश पर भी इस सम्मेलन में चर्चा की गई। नवें सम्मेलन में भाषण करते हुए भारतीय प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने कहा कि अब खतरा उपनिवेशवाद नहीं बल्कि आर्थिक गुलामी का है।

बेलग्रेड घोषणा पत्र में निम्नांकित बातें कही गई-

1. सभी राष्ट्रों को आत्म निर्णय के अधिकार की पुष्टि।
2. उपनिवेशवाद का खात्मा।
3. तीसरी दुनिया के देशों को विदेशी कर्ज से मुक्ति दिलाने के लिए बाधाओं का हटाया जाना।
4. भारतीय प्रधानमंत्री राजीव गांधी के 'धरती रक्षाकोष' प्रस्ताव की पुष्टि करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय जगत से पर्यावरण सम्बन्धी सहयोग के लिए वित्तीय संसधान जुटाने का अनुरोध किया गया।
5. पर्यावरण समस्याओं से संबंधित अपनी निर्धारित नीतियों में परमाणु कचरे को ठिकाने लगाने के सवाल को भी सम्मेलन में पहली बार शामिल किया गया।
6. मादक द्रव्यों और उसके सेवन से विश्व समुदाय को बचाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय जगत के देशों से प्रभावी कदम उठाने का अनुरोध किया गया।
7. परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण प्रयोग से सम्बन्धित एक प्रस्ताव पारित किया गया और कहा गया कि परमाणु हथियारों के अप्रसार को मुद्दा बनाकर उन देशों को परमाणु शक्ति हासिल करने पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए जो शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए परमाणु शक्ति हासिल करना चाहते हैं।
8. आपसी सहयोग और समन्वय बढ़ाने के लिए 12 विकासशील सदस्य देशों का एक दल गठन किया गया।

गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में अमेरिका, इजरायल तथा दक्षिण अफ्रीका की आलोचना की गई। अमेरिका से क्यूबा के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्यवाही खत्म करने तथा निकारागुआ के कोन्ट्रा विद्रोहियों के नए सिरे से स्थान तय करने की लैटिन अमेरिकी पहल का समर्थन करने को कहा गया। इजरायल से कहा गया कि वह अपनी सेना लेबनान से हटा ले। दक्षिण अफ्रीकी रंगभेद नीति का कड़े शब्दों में निंदा की गई और नेल्सन मंडेला सहित अन्य राजनीतिक बंदियों की बिना शर्त रिहाई की माँग की गई। नवें गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का लक्ष्य स्वाधीनता, समानता, भ्रात त्व, सामाजिक न्याय की स्थापना घोषित किया गया।

जकार्ता का दसवां गुटनिरपेक्ष सम्मेलन

दसवाँ गुटनिरपेक्ष सम्मेलन शुरू होने के पूर्व इसके अस्तित्व के भविष्य पर प्रश्न चिन्ह लगा हुआ था लेकिन सम्मेलन में 1 से 6 सितंबर, 1922 ई० तक इंडोनेशिया की राजधानी जकार्ता में सम्पन्न हुआ। इसमें 108 देशों के शासनाध्यक्षों ने भाग लिया।

एक प्रस्ताव द्वारा 'जकार्ता संदेश' तथा अंतिम दस्तावेज पारित किए गए। 5 सितंबर, 1992 को सम्मेलन में कुछ विवादास्पद मुद्दे उभरे और इस्लामी देशों द्वारा माँग की गई कि सर्बिया की निंदा की जाय क्योंकि बोस्निया लगातार उस पर आक्रमण करता आ रहा है। इराक ने माँग किया कि अमेरिका की निंदा की जाय क्योंकि उसने इाक के दक्षिण भाग में 'सुरक्षित विमान क्षेत्र' योजना लागू कर दिया है।

सम्मेलन में आह्वान किया गया कि विश्व व्यवस्था समानता पर आधारित हो; सम्पूर्ण विश्व को हथियारों से मुक्ति मिले और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाया जाय। अन्तिम घोषणा में गुटनिरपेक्ष देशों के बीच एकता को बढ़ावा देने पर जोर दिया गया। दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किए गए जिसमें विकसित देशों से माँग की गई कि वे विकासशील देशों को बेहतर सहायता शर्तों पर बेहतर व्यापार की स्थिति का स जन करें। दूसरा प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र के पुनर्गठन तथा सुरक्षा परिषद् के विस्तार के विषय में था।

दसवाँ गुटनिरपेक्ष सम्मेलन बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाएगा क्योंकि 6 महीने पहले साइप्रस के लारकाना नगर में गुटनिरपेक्ष देशों के विदेश मंत्रियों की एक बैठक हुई थी जिसमे कई प्रतिनिधियों ने प्रस्ताव किया था कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को समाप्त कर देना चाहिए। प्रस्तावकों में मिस्र में विदेश मंत्री अमरे मूसा मुख्य थे। कुछ लोगों की ऐसी धारणा थी कि शीत-युद्ध की समाप्ति के बाद अब गुट निरपेक्ष आन्दोलन का कोई औचित्य नही रह गया है।

लेकिन यह कहना अप्रासंगिक होगा कि इस आन्दोलन को समाप्त कर देना चाहिए। 12 वर्षों के पश्चात म्यामार (बर्मा) ने पुनः इसकी सदस्यता ग्रहण की है। पर्यवेक्षक के रूप में चीन भी दसवें गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में उपस्थित था। सम्भव है भविष्य में चीन भी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का सदस्य बन जाय।